सस्ता साहित्य मण्डल

चौहत्तरवाँ ग्रन्थ

[पहला खण्ड]

[७४ : १]

विश्व-इतिहास की झलक

[पहला खण्ड]

लेखक
पण्डित जवाहरलाल नेहरू

प्रकाशक
सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली

प्रकाशक,
मार्तण्ड उपाध्याय,
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली ।

पहली बार : ३०००
दिसम्बर, सन् १९३७
मूल्य, दोनों खण्डों का
आठ रुपये

मुद्रक,
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस,
कनाट सर्कस,
नई दिल्ली ।

प्रकाशक की ओर से

हम बड़े हर्ष और साथ ही बड़ी विनय के साथ पण्डित जवाहलाल नेहरू की दूसरी महान् रचना 'विश्व-इतिहास की झलक' हिन्दी-जनता के सामने रख रहे हैं। अंग्रेज़ी में यह ग्रंथ सन् १९३४ में ही प्रकाशित होगया था। उसी समय हम इसे अपने यहाँसे प्रकाशित करना चाहते थे। लेकिन उन दिनों एक तो पण्डितजी जेल में थे, दूसरे लखनऊ से इसके हिन्दी में प्रकाशन का आयोजन पण्डित वेंकटेश नारायण तिवारी की देख-रेख में शुरू भी होगया था; इसलिए हमारा विचार अमल में न आसका। मगर इसके बाद मण्डल अजमेर से दिल्ली आया और लखनऊ से 'झलक' का प्रकाशन अनियमित होकर सन् १९३५ के अन्त में लगभग बंद ही होगया।

सन् १९३६ में जब पण्डितजी विलायत से लौटे और कांग्रेस-कार्य-समिति के सिलसिले में दिल्ली आये, तो उस समय उनकी 'आत्म-कहानी' के अंग्रेज़ी में प्रकाशित होने की धूम थी। हमने पण्डितजी से 'आत्म-कहानी' और 'विश्व-इतिहास की झलक' दोनों को मण्डल से प्रकाशित करने की इजाज़त माँगी, और पण्डितजी ने कृपापूर्वक हमें इजाज़त देदी। फलतः आज, लगभग १। वर्ष बाद, 'मेरी कहानी' के दो संस्करण प्रकाशित करके 'झलक' को हम हिन्दी-जनता के सामने रख रहे हैं।

'झलक' में पण्डितजी के भिन्न-भिन्न जेलों से अपनी प्यारी पुत्री इन्दिरा प्रियदर्शिनी के नाम लिखे पत्रों का संग्रह है। इन पत्रों में पण्डितजी ने दुनिया के इतिहास और साम्राज्यों के उत्थान-पतन की कहानी बड़ी ख़ूबी के साथ लिखी है। असल में पण्डितजी ने बहुत दिन हुए कुछ पत्र इन्दिरा के नाम लिखे थे, जो 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' से सन् १९२९ में प्रकाशित हुए थे। उसमें पण्डितजी ने सृष्टि के आरम्भ से प्राणि की उत्पत्ति और इतिहास-काल के शुरू तक का हाल बताया है। 'झलक' की कथा उसके बाद से शुरू होती है। लेकिन फिर भी दोनों पुस्तकें ऐसी जगह ख़त्म और शुरू होती हैं कि दोनों अलग-अलग ही मालूम पड़ती हैं।

अभीतक हम पण्डित जवाहरलाल को देश के एक महान् नेता और आन्दोलनकारी के रूप में देखते आये हैं। लेकिन 'मेरी कहानी' और 'विश्व-इतिहास की झलक' ने दुनिया को बता दिया है कि पण्डितजी केवल एक सफल नेता ही नहीं बल्कि एक अच्छे साहित्य-मर्मज्ञ और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के ऊँचे विद्वान भी हैं। उनकी 'मेरी कहानी' जहाँ साहित्यिक प्रतिभा का नमूना है, वहाँ 'झलक' उनके अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तथा इतिहास के गहरे ज्ञान का सागर है।

अंग्रेज़ी में मूल पुस्तक दो खण्डों में है और हम भी उसे दो खण्डों में प्रकाशित

कर रहे हैं। अंग्रेज़ी में पहला खण्ड एक काल (Period) के समाप्त होने पर ख़त्म किया गया है और दूसरे काल के शुरू होने पर दूसरा खण्ड शुरू हुआ है। इससे पहला भाग छोटा और दूसरा बहुत बड़ा होगया है। लेकिन हिन्दी में हमने पहला खण्ड समाप्त करने और दूसरा शुरू करने में समय का ख़याल नहीं किया है। यह ख़ासकर इस ख़याल से भी कि हमारा इरादा दोनों खण्डों को एकसाथ ही प्रकाशित करने का था। इसके अलावा, अंग्रेज़ी में जो १० चार्ट अलग दिये हैं, उन्हें हमने पुस्तक में ही लगा दिया है। मूल पुस्तक सन् १९३३ के मध्य में ख़त्म हुई और सन् १९३४ में प्रकाशित हुई। इसलिए इसमें सन् १९३३ के मध्य तक की घटनाओं का ही ज़िक्र है। हमनें पण्डितजी से निवेदन किया था कि वह एक-दो अध्याय और लिखकर पुस्तक को अप-टू-डेट बनादेने की कृपा करें। लेकिन राष्ट्रपति के नाते हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के संचालन का जो गुरुतर भार उनके कन्धों पर है उसके कारण वह हमारी इस प्रार्थना को, उनकी इच्छा होते हुए भी, पूरा न कर सके। फिर भी, उनकी सूचना के अनुसार, पुस्तक के अन्त में, परिशिष्ट-रूप में, सन् १९३३ के मध्य से अबतक की घटनाओं का देशवार और तारीख़वार विवरण हम दे रहे हैं। इसको खुद पण्डितजी ने भी देख लिया है। आशा है, इससे पुस्तक की उपयोगिता कुछ बढ़ ही जायगी।

इतनें महत्वपूर्ण और भारी ग्रन्थ का अनुवाद, सम्पादन और प्रकाशन कोई सरल काम नहीं है। फिर इसके संपादन और अनुवाद की व्यवस्था की सारी ज़िम्मेदारी इस बार हमींपर आपड़ी। 'काँग्रेस-इतिहास' और 'मेरी कहानी' के अनुवाद व सम्पादन के लिए पण्डित हरिभाऊ उपाध्याय की सेवायें हमें आसानी से मिल गई थीं। लेकिन 'झलक' के समय में श्री हरिभाऊजी के दूसरे महत्पूर्ण कामों में लगे रहने और अस्वास्थ्य के कारण हम उनकी सेवाओं को प्राप्त नहीं कर सके। मगर सर्वश्री सीतलासहाय (बी० ए०), शंकरलाल वर्मा, रामनाथ 'सुमन,' गोपीकृष्ण विजयवर्गीय, चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय (बी-एस० सी०), मुकुटबिहारी वर्मा आदि माननीय मित्रों, साथियों और मण्डल के हितैपियों का पूरा और हार्दिक सहयोग व सहायता न होती तो यह ग्रन्थ इतने कम समय में और इतनी अच्छी तरह प्रकाशित हो पाता इसमें पूरा सन्देह है। अतः हम मण्डल की तरफ़ से इन सब महानुभावों का हृदय से आभार मानते हैं।

पुस्तक की भापा के बारे में दो शब्द कहना ज़रूरी मालूम होता है। 'मेरी कहानी' की भाषा को लेकर पिछले दिनों पत्रों में और हिन्दी-साहित्यिकों में भाषा-सम्बन्धी एक विवाद ही उठ खड़ा हुआ। 'मेरी कहानी' में उर्दू शब्दों का बहुतायत से प्रयोग हुआ देखकर कुछ साहित्यिक लोग बहुत ही नाराज़ हुए। 'मेरी कहानी' के कुछ अंशों का हवाला देकर उन्होंने कुछ लोगों का और हिन्दी-हिन्दुस्तानी का मज़ाक़

भी उड़ाया। हम मानते हैं कि 'मेरी कहानी' की भाषा को हिन्दी-हिन्दुस्तानी का नमूना नहीं माना जासकता, न आज ही उसका कोई अन्तिम रूप निश्चित किया जा सकता है। वह तो उस दिशा में एक प्रयत्न-मात्र है। उसकी कमियाँ हमारी निगाह में हैं। हिन्दी में इस प्रकार की भाषा के, जिसमें न हिन्दी के कठिन शब्द हों और न उर्दू के, हिमायती और लेखक दोनों कम हैं। हमें 'मेरी कहानी' और 'झलक' के अनुवाद और सम्पादन के प्रबन्ध में इसका क़दम-क़दम पर अनुभव हुआ। हमने अनुवादकों को अपना आशय बताया और उनको इस प्रकार की भाषा में लिखने और अनुवाद करने के लिए राज़ी तो किया, लेकिन कहीं-कहीं तो वे उर्दू-फ़ारसी के प्रवाह में बह गये और कहीं संस्कृत के। शुरू-शुरू में यह स्वाभाविक भी है। इसमें ग़लतियाँ भी होंगी, और वह भाषा आँखों व कानों को खटकेगी भी। लेकिन धीरे-धीरे जब रफ्त पड़ जायगा और हमारे कानों को ऐसी भाषा सुनने की आदत पड़ जायगी, तब यही हमें स्वाभाविक मालूम होने लगेगी। मगर कमियों के होते हुए भी, हमारा ऐसा विश्वास है कि, 'मेरी कहानी' की अपेक्षा हम 'झलक' में इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करने में ज्यादा सफल हुए हैं।

फिर भी आलोचक बन्धुओं से हमारा नम्र निवेदन है कि यह अभी प्रयोग मात्र है। हम इसे भी हिन्दी-हिन्दुस्तानी का नमूना नहीं कहेंगे। यह तो उस सरल भाषा की ओर पहुँचने का प्रयत्न भर है जिसमें न उर्दू-फ़ारसी के कठिन शब्द हों और न संस्कृत के। वह तो आम जनता की भाषा होगी। लेकिन किसी दिशा की ओर जाने के प्रयत्न को 'पूर्णता' या 'सफलता' मानकर उसपर टीका-टिप्पणी करना और उसका मज़ाक उड़ाना हमारी नम्र राय में न्याय्य नहीं है और न वह समालोचना ही है। अस्तु।

हमने अपनी ओर से अनुवाद को शुद्ध और सही कराने का भरपूर प्रयत्न किया है। लेकिन मूल अंग्रेज़ी के प्रवाह को हिन्दी में उतारना, और फिर भाषा सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण को सामने रखते हुए, एक बहुत कठिन बात है। इसमें भूलें और मतभेद रहजाना स्वाभाविक है। अतः पाठकों से प्रार्थना है कि अगर कोई भूल उनकी निगाह में आवे तो उसपर हमारा ध्यान दिलाने की कृपा करें।

—मंत्री

सस्ता साहित्य मण्डल
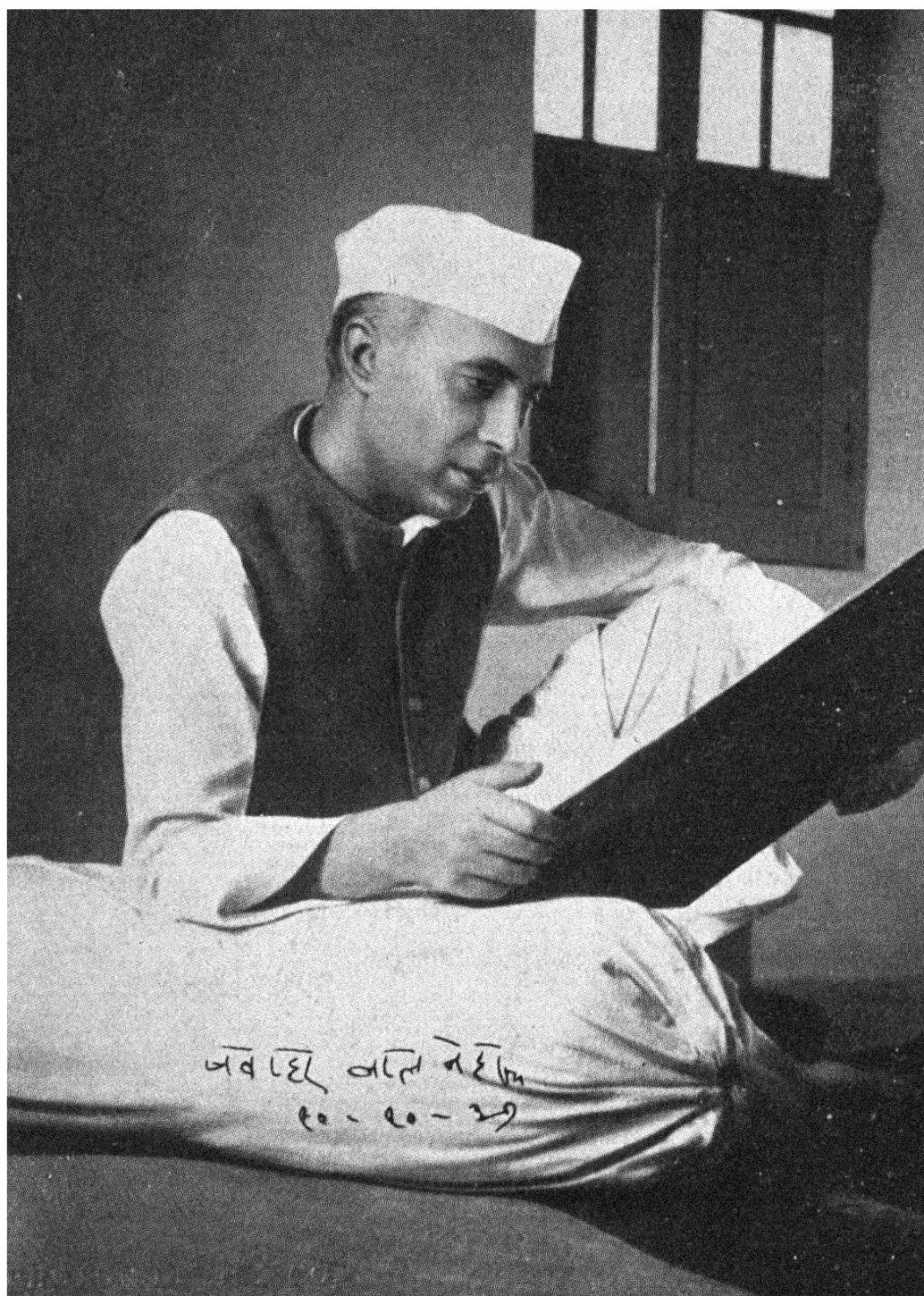
पण्डित जवाहरलाल नेहरू

श्री गुलाबचंद जैन के सौजन्य से]

भूमिका

चार बरस हुए मैंने, इस किताब का लिखना देहरादून-जेल में ख़त्म किया था। उसके कुछ दिन बाद यह अँग्रेज़ी में छपी थी। मेरी इच्छा थी कि यह हिन्दी और उर्दू में भी निकले। उसका कुछ प्रबन्ध किया भी, लेकिन दुर्भाग्य से उसमें उस समय कामयाबी नहीं हुई। मैं फिर जेल चला गया।

अब मुझे खुशी है कि ये मेरे पत्र इन्दिरा के नाम हमारे देश की पोशाक में निकल रहे हैं। क़सूर तो मेरा है कि मैंने इनको शुरू में विदेशी लिबास पहनाया। मुझे कुछ आसानी हुई अंग्रेज़ी में लिखनें में; क्योंकि उसमें लिखनें का अभ्यास अधिक था और विषय भी ऐसा था जिसमें ज्यादातर किताबें योरप की भाषाओं में हैं और उन्हींको मैंनें पढ़ा था।

दुनिया के इतिहास पर किसीका भी कुछ लिखना हिम्मत का काम है। मेरे लिए यह जुर्रत करना तो एक अजीब बात थी, क्योंकि मैं न लेखक हूँ और न इतिहास के जाननेवालों में गिना जाता हूँ। कोई बडी पुस्तक लिखनें का तो मेरा ख़याल भी नहीं था। लेकिन जेल के लम्बे और अकेले दिनों में मैं कुछ करना चाहता था और मेरा ध्यान आजकल की दुनिया और उसके कठिन सवालों से भटककर पुरानें ज़माने में दौड़ता और फिरता था। क्या-क्या सबक़ यह पुराना इतिहास हमें सिखाता है? क्या रोशनी आजकल के अँधेरे में डालता है ? क्या यह सब कोई सिलसिला है, कोई मानें रखता है, या एक यह बेमाने खेल है जिसमें कोई क़ायदा-क़ानून नहीं, कोई मतलब नहीं, और सब बातें योंही इत्तेफ़ाक़ से होती हैं ? ये ख़याल मेरे दिमाग़ को परेशान करते थे, और इस परेशानी को दूर करने के लिए इतिहास को मैंने पढ़ा और आजकल की हालत को समझने की कोशिश की। दिमाग़ में बहते हुए विचारों को पकड़कर काग़ज पर लिखने से सोचने में भी आसानी होती है और उनके नये-नये पहलू निकलते हैं। इसलिए मैंने लिखना शुरू किया। फिर इन्दिरा की याद ने मुझे उसकी तरफ़ खींचा और इस लिखने में उसके नाम पत्रों का रूप धारण किया।

महीने गुज़रे--कुछ दिनों के लिए जेल से निकला, फिर वापस गया। सर्दी का मौसम ख़त्म हुआ, बसन्त आया, फिर गर्मी और बरसात। एक साल पूरा हुआ, दूसरा शुरू हुआ और फिर वही सर्दी, बसन्त, गर्मी और चौमासा। लिखनें का सिलसिला जारी रहा और हलके-हलके मेरे लिखे हुए पत्रों का एक पहाड़-सा होगया। उसको देखकर मैं भी हैरान होगया। इस तरह से, क़रीब-क़रीब इत्तेफ़ाक़ से, यह मोटी पुस्तक बनी। इसमें हजार ऐब हैं, हज़ार कमियाँ; लेकिन फिर भी मैं समझता हूँ कि इससे कुछ फ़ायदा भी हो

सक्ता है। जो अंग्रेज़ों ने या यूरप के लोगों ने ऐसी पुस्तकें लिखी हैं उनमें यूरपीय दुनिया का अधिकतर हाल है, एशिया और पुराने इतिहास की चर्चा कम है। मैंने कोशिश की है कि एशिया का हाल ज्यादा दूँ। दोनों को सामने रखकर ही पूरी तस्वीर सामने आती है। वह तस्वीर चाहे कितनी ही नामुकम्मिल हो और उसमें ऐब और ख़राबियाँ हों, फिर भी वह पूरी तस्वीर है। मुझे इस बात का विश्वास है कि हम किसी एक देश का हाल नहीं समझ सकते, जबतक कि और देशों का हाल नहीं जानते। कोई एक देश औरों से अलग होकर न रहा है और न रह सकता है। आजकल की दुनिया में तो यह बात बिलकुल ज़ाहिर है और हम सब एक-दूसरे के सहारे खडे रहते हैं या गिरते हैं।

यूरप की भाषाओं में बहुत सारी पुस्तकें दुनिया के इतिहास पर हैं, लेकिन हमारे देश की भाषाओं में इनकी बहुत कमी है। इसलिए मैं ख़ासतौर से यह चाहता था कि यह मेरी पुस्तक हिन्दी और उर्दू में निकले। गोकि इसमें ऐब और ख़राबियाँ हैं, और वे बहुत हैं, फिर भी यह इस कमी को कुछ पूरा करती है। हिन्दी में अब यह निकल रही है और मैं आशा करता हूँ कि जल्दी ही उर्दू में भी निकलेगी।

इसको लिखे कोई चार बरस हुए। दुनिया के इतिहास के लिए चार बरस क्या चीज़ हैं? लेकिन हम एक ऐसे अजीब ज़माने में पैदा हुए जबकि दुनिया की रफ़्तार तेज़ है और हम सब उसकी धारा में बहते जाते हैं। कोई कह नहीं सकता कि यह कहाँ पहुँचायगी। इन बरसों में क्रान्ति और इन्क़िलाब कितने देशों में होगये! अबिसिनिया की हत्या हुई। स्पेन में बढ़ती हुई आज़ादी को एक भयानक मुक़ाबिला करना पड़ा और अभीतक यह एक ज़िन्दगी और मौत की कुश्ती जारी है। फ़लस्तीन में हमारे अरब भाइयों का गला घोंटा जा रहा है। चीन के मशहूर शहर, जहाँ लाखों लोग रहते थे, मिट्टी के ढेर होगये और उस मिट्टी में बेशुमार पुरुष और स्त्री, लड़के और लड़कियाँ और बच्चे दबे पडे हैं। साम्राज्यवाद और फेसिस्टवाद हर जगह हमला कर रहे हैं और दुनिया की नई उमंगों को कुचलने की कोशिश कर रहे हैं। उसीके साथ समाजवाद और राष्ट्रीयता के विचार फैलते जाते हैं और वह इस मुक़ाबिले से हटते नहीं।

इस पुस्तक के आख़िर में मैंने लड़ाई के साये का ज़िक्र किया है। इस चार बरसों में यह साया सारे में फैल गया है और एक भयानक घटा हमें घेरे हुए है। दिन और रात इस लड़ाई की तैयारी सब देश कर रहे हैं और एक सवाल हरेक की ज़बान पर और चेहरे पर है। यह तूफ़ान कब दुनिया पर छायगा और क्या-क्या मुसीबतें लावेगा? क्या इसका नतीजा होगा—हमें लाभ या हानि?

मैं चाहता था कि इन चार बरसों का कुछ हाल लिखकर इस किताब के अन्त में जोड़ दूँ। लेकिन और कामों में इतना फँसा हूँ कि समय नहीं मिलता।

एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करना कठिन काम है। कभी पूरा मतलब इस तरह से अदा नहीं होसकता। फिर भी यह काम तो करना ही होता है। इस अनुवाद में एक और कठिनाई हुई। हम सबकी इच्छा थी कि यह बीच की हिन्दुस्तानी भाषा में हो, जो न कठिन हिन्दी हो न कठिन उर्दू। हमें अपने देश में ऐसी हिन्दुस्तानी भाषा को चालू करना है। शुरू-शुरू में इसमें काफ़ी दिक़्क़तों का सामना करना पड़ता है और दोनों तरफ के साहित्यकार नाराज़ होजाते हैं। ऐतराज़ होता है कि यह क्या दोग़ली चीज़ है——न हिन्दी न उर्दू। साहित्य के प्रेमियों से मैं माफी माँगता हूँ, लेकिन मैं समझता हूँ कि बीच के रास्ते पर चलकर हम एक मज़बूत और जानदार साहित्य बना सकेंगे। इस कोशिश में ग़लतियाँ होंगी और कभी-कभी आँखों को और कानों को चोट लगेगी। लेकिन जलदी ही समय आयगा जब हम इस नई चीज़ की, जो आम जनता से पैदा हो और उसीकी तरफ देखे, शक्ति पहचानेंगे और उसके बढ़ाने में लगेंगे।

रेल में ——
२१-११-३७

विषय-सूची

ज़िला जेल देहरादून से—

— पहला खण्ड समाप्त —

विश्व-इतिहास की झलक

इन्दिरा प्रियदर्शिनी

सालगिरह की चिट्ठी

इन्दिरा प्रियदर्शिनी के नाम
उसके तेरहवें जन्मदिन पर—

सेण्ट्रल जेल, नैनी
२६ अक्तूबर, १९३०[1]

अपनी सालगिरह के दिन तुम बराबर उपहार और शुभ-कामनायें पाती रही हो। शुभ-कामनायें तो तुम्हें अब भी बहुत-सी मिलेंगी। लेकिन नैनी-जेल से मैं तुम्हारे लिए कौन-सा उपहार भेज सकता हूँ ? फिर मेरे उपहार बहुत स्थूल नहीं हो सकते। वे तो हवा के समान सूक्ष्म ही होंगे, जिनका मन और आत्मा से सम्बन्ध हो—जैसा उपहार नेक परियाँ दिया करती हैं और जिन्हें जेल की ऊँची दीवारें भी नहीं रोक सकतीं।

प्यारी बेटी, तुम जानती हो कि लोगों को उपदेश देना और नेक सलाह बाँटना मुझे कितना नापसन्द है। जब कभी ऐसा करने को मेरा जी ललचाता है तो मुझे हमेशा एक 'बहुत अक़लमन्द आदमी' की कहानी याद आ जाती है, जो मैंने एक बार पढ़ी थी। कभी शायद तुम ख़ुद उस पुस्तक को पढ़ोगी, जिसमें यह कहानी लिखी है। तेरह सौ बरस हुए, एक मशहूर यात्री ज्ञान और इल्म की खोज में चीन से हिन्दुस्तान आया था। उसका नाम ह्यूएनत्सांग[2] था। उसकी ज्ञान की प्यास इतनी तेज़ थी कि वह अनेक ख़तरों का सामना करता, अनेक मुसीबतों और बाधाओं को झेलता और जीतता हुआ, उत्तर के रेगिस्तानों और पहाड़ों को पार करके इस देश में आया था।

१. इन्दिरा का जन्मदिन ईसाई पंचांग के हिसाब से १९ नवम्बर को पड़ता है, लेकिन विक्रमी संवत के अनुसार २६ अक्तूबर को मनाया गया था।

२. **ह्यूएनत्सांग**—यह एक प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षुक और चीनी यात्री था। इसका समय सन् ६०५ से ६६४ के लगभग माना जाता है। ६२९ में यह हिन्दुस्तान के लिए रवाना हुआ। उन दिनों चीन में शाही हुक्म के अनुसार विदेश-यात्रा मना थी, इसलिए इसकी रवानगी का पता लगने पर इसकी गिरफ्तारी की बड़ी कोशिश की गई; लेकिन बड़ी कठिनाइयों से यह वहाँ से निकल भागा और रास्ते में भी बहुत मुसीबतें झेलीं, यहाँतक कि चार-पाँच दिन पानी तक को तरसता रहा। मगर यह घबराया नहीं और हिन्दुस्तान आ पहुँचा। इसने यहाँ से लौटने के बाद चीन, मध्य-एशिया और भारत की तत्कालीन स्थिति का बड़ा ही दिलचस्प वर्णन लिखा है।

यहाँ नालन्द[१] के महान् विश्व-विद्यालय में, जो उस समय के पाटलिपुत्र (जो अब पटना कहलाता है) के नज़दीक था, इसनें ख़ुद पढ़ने और दूसरों को पढ़ाने में कई बरस बिताये। ह्यूएनत्सांग पढ़-लिखकर बहुत बड़ा विद्वान् हो गया और उसे आचार्य (Master of the Law) की उपाधि दी गई। यह शख़्स सारे हिन्दुस्तान में फिरा और इस महान् देश के उस ज़माने के लोगों का और उनके रस्म-रिवाजों का अध्ययन करता रहा। बाद को इसने अपनी यात्रा के बारे में एक किताब लिखी। इसी किताब में यह 'बहुत अक़लमन्द आदमी' वाली कहानी है। कहानी यों है कि दक्षिण हिन्दुस्तान का रहनेवाला एक आदमी कर्णसुवर्ण नाम के नगर में गया। यह कर्णसुवर्ण शहर उस ज़माने में बिहार के आजकल के भागलपुर शहर के आस-पास कहीं बसा हुआ था। इस किताब में लिखा है कि यह आदमी अपने पेट और कमर के चारों ओर ताँबे का पत्तर लपेटे रहता था और अपने सिर पर जलती हुई मशाल बाँधकर चलता था। इस विचित्र भेष और इस अजीब पोशाक में, हाथ में डंडा लिये, अकड़ के साथ लम्बे-लम्बे डग रखता हुआ यह शख़्स इधर-उधर घूमा करता था। जब कोई उससे पूछता कि तुमने यह स्वांग क्यों बना रक्खा है, तो वह जवाब देता कि "मुझमें इतनी ज्यादा अक्ल है कि अगर मैं अपने पेट के चारों तरफ़ यह ताम्र-पत्र न बाँधे रहूँ तो डर है कि कहीं मेरा पेट फट न जाय। और क्योंकि मुझे अज्ञान आदमियों पर, जो अंधेरे में भटकते रहते हैं, दया आती है, इसलिए मैं अपने सिर पर मशाल बाँधकर चलता हूँ।"

मुझे पूरा भरोसा है कि अक्ल की ज्यादती के कारण मेरे पेट के फट जाने का कोई अन्देशा नहीं है; इसलिए मुझे इस बात की कोई ज़रूरत नहीं कि मैं ताँबे के पतरे या ज़िरह-बख़्तर पहनूँ। और बहरहाल, मुझे उम्मीद है कि मुझमें जो-कुछ भी अक्ल है, वह मेरे पेट में नहीं रहती। मेरी अक्ल चाहे जहाँ रहती हो, वहाँ और ज्यादा के लिए अब भी काफ़ी जगह बाक़ी है, और इस बात का कोई अन्देशा नहीं कि अधिक के लिए वहाँ जगह ही न बचे। फिर जब मेरी अक्ल इतनी परिमित और महदूद है तो मैं दूसरों के सामनें अक्लमन्द होनें की शान कैसे गाँठ सकता हूँ और सबको नेक सलाहें कैसे बाँट सकता हूँ? इसलिए मेरा हमेशा से यह विश्वास रहा है कि इस

१. **नालन्द**—यह मगध, आजकल के बिहार, के अन्तर्गत एक पुराना बौद्ध मठ और मशहूर विद्यापीठ था। ज्ञान और धर्म का उपदेश देने के लिए यहाँ १०० विद्वान् बौद्ध पण्डित रहते थे। उनके अलावा लगभग दस हज़ार से ज्यादा याजक और शिष्य यहाँ पर रहा करते थे। इसके जोड़ का विश्व-विद्यालय उस वक़्त दुनिया में दूसरा कोई न था।

बात को जानने के लिए, कि क्या सही है और क्या नहीं, क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए, सबसे अच्छा तरीक़ा यह नहीं है कि उपदेश दिया जाय; बल्कि यह है कि बात-चीत और बहस-मुबाहिसा किया जाय और अक्सर ऐसी चर्चाओं में से थोडी-सी सचाई निकल आती है। मुझे तो तुमसे बातचीत करना ही पसन्द रहा है और हमनें आपस में बहुत-सी बातों पर बहसें की भी हैं। लेकिन दुनिया बहुत लम्बी-चौडी है और हमारी इस दुनिया के परे भी बहुत-सी आश्चर्यजनक और रहस्यपूर्ण या अजीबोग़रीब दुनिया पाई ज़ाती है। इसलिए हममें से किसीको भी ह्यूएनत्सांग की कहानी में बताये हुए बेवकूफ़ और घमण्डी आदमी की तरह इस बात से उकताना नहीं चाहिए और न यह ख़याल ही करना चाहिए कि जितना सीखने लायक़ था वह सब हमने सीख लिया और अब हम बहुत अक़्लमन्द हो गये। और शायद इसी बात में अपनी भलाई भी है कि हम बहुत अक़्लमन्द नहीं बन जाते, क्योंकि 'बहुत ही अक़्ल-मन्द लोग' (अगर इस क़िस्म के लोग कहीं भी पाये जाते हों) ज़रूर इस बात को सोचकर उदास हो जाते होंगे कि अब सीखने को कुछ भी बाक़ी नहीं रहा। नई चीज़ों के सीखने और नई बातों के खोज निकालने के आनन्द से——उस महान् साहस-पूर्ण कार्य के आनन्द से जिसे हममें से जो चाहे प्राप्त कर सकता है——महरूम हो जाने के कारण उनका दिल दुखी रहता होगा।

इसलिए उपदेश देना तो मेरा काम नहीं। तब फिर मैं करूँ क्या? चिट्ठी से बात-चीत का काम तो मुश्किल से ही निकल सकता है। चिट्ठी के ज़रिये ज्यादा-से-ज्यादा एक तरफ़ की बात प्रकट की जासकती है। इसलिए अगर मैं कोई ऐसी बात कहूँ जो तुम्हें उपदेश-सी जान पडे, तो तुम उसे कड़वा घूँट न समझना। तुम यही समझना कि मानों हम दोनों सचमुच बातचीत ही कर रहे हैं और इस बातचीत में मैंने तुम्हारे ध्यान देने को तुम्हारे सामने सिर्फ़ एक तजवीज़ रक्खी है।

इतिहास की अपनी किताबों में तुमने राष्ट्रों के जीवन में बीतनेवाले बडे-बडे ज़मानों का हाल पढ़ा होगा। हम उनके बडे-बडे महान् पुरुषों और वीर महिलाओं का हाल और उनके शानदार कारनामों की कहानियाँ पढ़ते ही रहते हैं। कभी-कभी हम उसी पुराने ज़माने में पहुँच जाते हैं और अपनी ख़याली दुनिया में उसी वक़्त का सपना देखने लगते हैं, और यह ख़याल करने लगते हैं कि मानों पुराने ज़माने के वीर पुरुषों और वीर स्त्रियों के समान हम भी बहादुरी के काम कर रहे हैं। क्या तुम्हें याद है कि जब तुमनें पहले पहल 'जीन द आर्क'[१] की कहानी पढ़ी थी, तो तुम किस

१. **जीन द आर्क**—इसका जन्म सन १४१२ ई० में फ्रांस देश के एक किसान-ज़मींदार के घर में हुआ था। कहते हैं कि बचपन से ही इसके हृदय में 'दैवी संदेश' आया करते

तरह मुग्ध हो गई थीं और किस तरह तुम्हारे दिल में यह हौसला पैदा हुआ था कि तुम भी उसीकी तरह कुछ काम करो ? साधारण मर्द और औरतें आमतौर पर साहसी भावना के नहीं होते। ये लोग अपनी रोज़ाना की दाल-रोटी की चिन्ता में, अपने बाल-बच्चों की फ़िक्र में, घर-गिरिस्ती की झंझटों में और इसी तरह की चीज़ों के ख़याल में फंसे रहते हैं। लेकिन एक समय आता है जब किसी बड़े उद्देश्य के लिए सारी जनता में उत्साह भर जाता है और उस वक़्त मामूली मर्द और औरतें शूरवीर हो जाते हैं, और इतिहास दिल को थर्रा देनेवाला और इन्क़िलाब पैदा करनेवाला बन जाता है। बड़े नेताओं में कुछ ऐसी बातें होती हैं जिनसे वे सारी जाति में जान पैदा कर देते हैं और उससे बड़े-बड़े काम करवा लेते हैं।

वह वर्ष, जिसमें तुम पैदा हुई हो, अर्थात् सन् १९१७, इतिहास में बहुत प्रसिद्ध वर्ष है। इसी वर्ष एक महान् नेता ने, जिसके हृदय में ग़रीबों और दुखियों के लिए बहुत प्रेम और हमदर्दी थी, अपनी क़ौम के हाथों से ऐसा उच्च और महान् काम करवा लिया जो इतिहास में अमर रहेगा। उसी महीने में, जिसमें तुम पैदा हुई, लेनिन ने उस महान् क्रान्ति को, उस बड़े इन्क़िलाब को शुरू किया था, जिससे रूस और साइबेरिया की काया पलट गई। और आज हिन्दुस्तान में एक दूसरे महान् नेता ने, जिसके हृदय में मुसीबत के मारे और दुखी लोगों के लिए दर्द है और जो उनकी सहायता के लिए बेताब हो रहा है, हमारी क़ौम में महान् प्रयत्न और उच्च बलिदान करने के लिए नई जान डाल दी है, जिससे हमारी क़ौम फिर आज़ाद हो जाय, और भूखे, ग़रीब और पीड़ित लोग अपने पर लदे हुए बोझ से छुटकारा पा जायँ। बापू जी,[1] जेल में पड़े हैं, लेकिन हिन्दुस्तान की करोड़ों जनता के दिलों में उनके संदेश का जादू पैठ गया है और मर्द और औरतें और छोटे-छोटे

थे और इसे विश्वास हो गया था कि फ़्रांस का उद्धार इसीके हाथों होगा। उस वक़्त फ़्रांस अंग्रेज़ों के आधीन था। एक बार जीन फ़्रांस के बादशाह चार्ल्स के पास जा पहुँची और उसे प्रभावित करके ४-५ हज़ार सेना के साथ मर्दाने लिबास में अंग्रेज़ों से लड़ने चल पड़ी। आर्लियंस की लड़ाई में इसने अंग्रेज़ों को मार भगाया और चार्ल्स को फ़्रांस की गद्दी पर बिठाया। पर चार्ल्स ने इसका साथ न दिया और बर्गण्डी के ड्यूक ने इसे युद्ध में पकड़कर अंग्रेज़ों के हाथ बेच दिया। अंग्रेज़ों ने इसे इन्क्वीज़िशन (देखो फुटनोट अध्याय ३५) के हवाले कर दिया और इन्क्विजिशन ने इसे काफ़िर और जादूगरनी क़रार देकर रून नगर में ज़िन्दा जलवा डाला। उस वक़्त इसकी उम्र ३० साल की थी। इसके २५ वर्ष बाद पोप ने इसे बेक़सूर बतलाया और बाद को यह जादूगरनी के बजाय साध्वी क़रार दी गई।

१. महात्मा गाँधी

बच्चे भी अपने-अपने छोटे-छोटे और तंग दायरों से निकलकर हिन्दुस्तान की आज़ादी के सिपाही बन रहे हैं। हिन्दुस्तान में आज हम इतिहास निर्माण कर रहे हैं। हम और तुम आज बड़े खुशक़िस्मत हैं कि ये सब बातें हमारी आँखों के सामने हो रही हैं, और इस महान् नाटक में हम भी कुछ हिस्सा ले रहे हैं।

इस महान् आन्दोलन में हमारा रुख़ क्या रहेगा ? इसमें हम क्या भाग लेंगे ? हम नहीं जानते कि हम लोगों के ज़िम्मे कौन-सा काम आयगा। लेकिन हमारे ज़िम्मे चाहे जो काम आ पड़े, हमें यह याद रखना चाहिए कि हम कोई ऐसी बात नहीं करेंगे जिससे हमारे उद्देश्यों पर कलंक लगे और हमारे राष्ट्र की बदनामी हो। अगर हमें हिन्दुस्तान का सिपाही होना है, तो हमको उसके गौरव का, उसकी इज़्ज़त का रक्षक और निगहबान बनना होगा। उसका यह गौरव, यह इज़्ज़त, हमारे पास पवित्र धरोहर होगी।

कभी-कभी हमें यह दुविधा हो सकती है, कि इस समय हमें क्या करना चाहिए ? सही क्या है और ग़लत क्या है, यह तय करना आसान काम नहीं होता। इसलिए जब कभी तुम्हें शक हो तो ऐसे समय काम में लाने के लिए मैं एक छोटी-सी कसौटी तुम्हें बताता हूँ। शायद इससे तुम्हें मदद मिलेगी। वह यह है कि कोई काम खुफिया तौर पर न करो, कोई काम ऐसा न करो जिसे तुम्हें दूसरों से छिपाने की इच्छा हो। क्योंकि छिपाने की इच्छा का मतलब यह होता है कि तुम डरती हो; और डरना बुरी बात है। तुम्हारे अयोग्य है और शान के ख़िलाफ़ है। तुम बहादुर बनो और बाक़ी चीज़ें तुम्हारे पास आप-ही-आप आती जायँगी। अगर तुम बहादुर हो तो तुम डरोगी नहीं, और कभी ऐसा काम न करोगी जिसके लिए दूसरों के सामने तुम्हें शर्म मालूम हो। तुम्हें मालूम है कि हमारी आज़ादी के आन्दोलन में, जो बापूजी की रहनुमाई और नेतृत्व में चल रहा है, गुप्त तरीक़ों या लुक-छिपकर काम करने की बात को कोई स्थान नहीं है। हमें तो कोई चीज़ छिपानी ही नहीं है। जो कुछ हम कहते हैं या करते हैं उससे हम डरते नहीं। हम तो उजाले में और दिन-दहाड़े काम करते हैं। इसी तरह अपनी निज़ी ज़िन्दगी में भी हमें सूरज को अपना दोस्त बनाना चाहिए और रोशनी और उजाले में काम करना चाहिए। कोई बात छिपाकर या आँख बचाकर न करनी चाहिए। एकान्त तो अलबत्ता हमें चाहिए और वह स्वाभाविक भी है। लेकिन एकान्त और चीज़ है और गुप्तता या पोशीदगी दूसरी चीज़ है। इसलिए, प्यारी बेटी, अगर तुम इस कसौटी को सामने रखकर काम करती रहोगी तो एक प्रकाशमान् बालिका बनोगी और चाहे जो वाक़यात तुम्हारे सामने आयें तुम निर्भय और शान्त रहोगी और तुम्हारे चेहरे पर शिकन तक न आयगी।

मैंने तुम्हें यह एक बडी लम्बी चिट्ठी लिख डाली और फिर भी बहुत-सी बातें रह गईं, जो मैं तुम्हें लिखना चाहता हूँ । एक ख़त में इतनी सब बातें कहाँ समा सकती हैं ?

मैंने तुम्हें बताया है कि तुम बडी ख़ुशक़िस्मत हो कि आज़ादी की बडी लड़ाई, जो हमारे देश में इस वक़्त हो रही है, तुम्हारी आँखों के सामने हो रही है । तुम्हारी एक बडी ख़ुशक़िस्मती यह भी है कि एक बहुत बहादुर और दिलेर स्त्री 'ममी'[१] के रूप में तुम्हें मिली है । जब कभी तुम्हें कोई शक-शुबह हो, या कोई परेशानी सामने आये, तो उनसे बेहतर मित्र तुम्हें दूसरा नहीं मिल सकता ।

प्यारी नन्हीं, अब मैं तुमसे बिदा लेता हूँ, और मेरी यह कामना है कि तुम बडी होकर हिन्दुस्तान की सेवा के लिए एक बहादुर सिपाही बनो ।

मेरा प्रेम और आशीर्वाद तुम्हें पहुँचे ।

: १ :

नये साल की सौग़ात

१ जनवरी, १९३१

क्या तुम्हें उन ख़तों की याद है, जो दो साल से ज्यादा हुए मैंने तुम्हें लिखे थे ? तब तुम मसूरी में थी और मैं इलाहाबाद में । उस समय तुमने मुझे बताया था कि मेरे वे ख़त तुम्हें पसन्द आये थे । इसलिए, मैं अक्सर यह सोचता रहता हूँ कि ख़तों के इस सिलसिले को मैं क्यों न जारी रक्खूँ और अपनी इस दुनिया के बारे में कुछ और बातें क्यों न बताऊँ ? लेकिन मै हिचकता रहा । संसार के अतीत और बीते हुए ज़माने की कहानी और उसके महापुरुषों और वीरांगनाओं और उनके महान् कार्यों का मनन करना बहुत दिलचस्प चीज़ है । इतिहास का पढ़ना अच्छा है, लेकिन उससे ज्यादा दिलचस्प और दिल लुभानेवाली चीज़ इतिहास के निर्माण में मदद देना है । और तुम जानती ही हो कि हमारे देश में आज इतिहास का निर्माण हो रहा है । हिन्दुस्तान का पिछला इतिहास बहुत ही पुराना है और प्राचीनता के कुहरे में खो गया है । इसमें अनेक दुःखद और अप्रिय युग भी पाये जाते हैं, जिनकी याद करके हमें शर्म आती है और ग्लानि होती है, लेकिन सभी बातों का लिहाज़ करते हुए हमारा पिछला ज़माना बहुत उज्ज्वल है, जिसपर हम सही गर्व कर सकते हैं ।

१. इन्दिरा की मा श्रीमती कमला नेहरू

इस प्राचीन युग की याद करके हम आनन्द अनुभव कर सकते हैं। लेकिन आज हमें इतनी फ़ुरसत नहीं कि हम अतीत की याद करने बैठें। हमारे दिमाग़ में तो वह भविष्य, जिसका हम निर्माण कर रहे हैं, भरा पड़ा है, और वह वर्तमान है, जिसमें हमारा पूरा समय लग रहा है।

यहाँ नैनी-जेल में मुझे इस बात का काफ़ी समय मिल गया है कि मैं जो कुछ चाहूँ लिख-पढ़ सकूँ। लेकिन मेरा मन भटकता रहता है और मैं उस महान् संघर्ष के बारे में सोचता रहता हूँ, जो बाहर चल रहा है। मैं यह सोचता रहता हूँ कि दूसरे लोग क्या कर रहे हैं, और अगर मैं उनके बीच में होता तो क्या करता ? वर्त्तमान और भविष्य के विचारों में मैं इतना डूबा रहता हूँ कि अतीत या बीते हुए ज़माने पर ध्यान देने की फ़ुरसत ही नहीं होती। लेकिन, साथ ही साथ, मैं यह भी महसूस करता रहा हूँ कि ऐसा सोचना मेरे लिए मुनासिब नहीं है। जब मैं बाहर के कामों में कोई हिस्सा ले नहीं सकता, तो मैं उसकी फ़िक्र क्यों करूँ ?

लेकिन असल वजह तो, जिससे मैं तुम्हें ख़त लिखना टालता रहा हूँ, दूसरी ही है। क्या चुपके से मैं तुम्हारे कान में बता दूँ ? तो लो सुनो। मुझे यह शक होने लगा है कि मैं इतना जानता भी हूँ या नहीं कि जो तुम्हें पढ़ा सकूँ। तुम इतनी तेज़ी से बढ़ रही हो और इतनी अक्लमन्द लड़की साबित हो रही हो, कि जो कुछ मैंने स्कूल या कालेज में और उसके बाद पढ़ा-लिखा है, मुमकिन है वह तुम्हारे लिए काफ़ी न हो और तुम्हें नीरस जँचे। यह भी हो सकता है कि कुछ दिन के बाद तुम शिक्षक का स्थान लेलो और मुझे कई नई-नई बातें सिखाओ। जैसा मैंने तुम्हारे पिछले जन्मदिन वाले खत में तुम्हें लिखा था, मैं उस 'बहुत अक़्लमन्द आदमी' की तरह बिलकुल नहीं हूँ जो अपने पेट के चारों तरफ़ ताँबे के पत्तर बांधे फिरता रहता था, ताकि कहीं अक़्ल की ज्यादती से उसका पेट न फट जाय।

जब तुम मसूरी में थीं, दुनिया की शुरुआत के दिनों के बारे में कुछ लिखना मेरे लिए आसान था। उस ज़माने के सम्बन्ध में जो कुछ ज्ञान पाया जाता है वह अनिश्चित और धुंधला-सा है। लेकिन जब हम उस बहुत पुराने ज़माने से इस पार निकल आते हैं, तो इतिहास का धीरे-धीरे पता लगने लगता है और दुनिया के अनेक हिस्सों के मनुष्य-समाज के विचित्र कारनामों का परिचय मिलने लगता है। लेकिन मनुष्य-समाज के इन कारनामों का, जो कभी-कभी तो अक़्लमन्दी लिये हुए लेकिन ज्यादातर पागलपन और बेवकूफी से भरे होते थे, सिलसिलेवार परिचय दे सकना आसान काम नहीं है। किताबों की मदद से कोशिश-भर की जा सकती है। लेकिन नैनी-जेल में कोई पुस्तकालय नहीं है। इसलिए, मेरे बहुत चाहने पर भी, मुझे

अन्देशा है कि मैं तुम्हें शायद दुनिया के इतिहास का सिलसिलेवार हाल न बता सकूँगा।

मुझे यह बहुत नापसन्द है कि लड़के और लड़कियाँ सिर्फ़ एक देश का हाल पढ़ें और उसमें भी सिर्फ़ कुछ तारीखें और चन्द घटनायें रटलें। इतिहास तो एक सिल-सिलेवार मुकम्मिल चीज है, और जबतक तुम्हें यह मालूम न हो कि दुनिया के दूसरे हिस्सों में क्या हुआ तुम किसी देश का इतिहास समझ ही नहीं सकतीं। मुझे उम्मीद है कि इस संकीर्णता और तंग-ख़याली के साथ तुम इतिहास को एक या दो देशों में ही परिमित करके न पढ़ोगी, बल्कि सारी दुनिया का निरीक्षण करोगी और उसपर व्यापक तौर पर नज़र डालोगी। हमेशा याद रक्खो कि भिन्न-भिन्न जातियों या मुख़्तलिफ़ क़ौमों में इतना ज्यादा अन्तर नहीं होता जितना लोग समझते हैं। नक़शों और एटलसों में मुल्क अलग-अलग रंगों से रंगकर दिखाये जाते हैं। इसमें शक नहीं कि मुख़्तलिफ देश के रहनेवालों में कुछ अन्तर ज़रूर होता है, लेकिन उनमें समानता भी बहुत ज्यादा पाई जाती है। इसलिए अच्छा हो अगर हम ऊपर कही हुई बात याद रक्खें और नक़शों के रंग या मुल्कों की सरहदी रेखा देखकर बहक न जायें।

मैं तुम्हारे लिए अपनी पसन्द का इतिहास नहीं लिख सकता। इसके लिए तुम्हें दूसरी किताबें पढ़नी पडेंगी। लेकिन मैं तुम्हें बीते हुए ज़माने के बारे में, उस ज़माने के लोगों के तथा उन लोगों के सम्बन्ध में कि जिन्होंने दुनिया के रंग-मंच पर बडे-बडे काम किये हैं, समम-समय पर थोड़ा-बहुत लिखता रहूँगा।

मैं नहीं कह सकता कि मेरी चिट्ठियाँ तुम्हारे लिए मनोरंजक होंगी और तुम्हारे दिल में कुतूहल पैदा करेंगी या नहीं। सच तो यह है कि मैं यह भी नहीं जानता कि ये चिट्ठियाँ तुम्हें कभी मिलेंगी भी या नहीं। कितनी विचित्र बात है कि हम एक-दूसरे से इतने नज़दीक होते हुए भी इतनी दूर हैं! जब तुम मसूरी में थीं, मुझसे कई सौ मील के फासले पर थीं; लेकिन तब मैं जितनी दफ़ा चाहता था तुम्हें ख़त लिख सकता था, और जब कभी तुम्हें देखने को बहुत तबीयत चाहती थी तब जाकर मिल लेता था। लेकिन आजकल तुम जमना नदी के उसपार हो, और मैं इसपार हूँ; एक-दूसरे से बहुत दूरी पर नहीं। फिर भी नैनी-जेल की ऊँची दीवारों ने हमें एक-दूसरे से एकदम अलग कर रक्खा है। पन्द्रह दिन में मैं एक ख़त लिख सकता हूँ और एक पा सकता हूँ; और १५ दिन में २० मिनट की मुलाकात भी मुझे मिल सकती है। फिर भी मैं इन बन्दिशों को अच्छा समझता हूँ। क्योंकि जो चीज़ हमें सस्ती मिल जाती है हम अक्सर उसकी क़दर नहीं करते, और मैं यह विश्वास करने लग गया हूँ कि कुछ दिन जेल में बिताना आदमी की शिक्षा का बहुत

मुनासिब और जरूरी हिस्सा है। खुशकिस्मती की बात है कि हमारे देश के बीसों हजार आदमी आज इस तरह की शिक्षा पा रहे हैं।

मैं नहीं जानता कि जब तुम्हें मेरे ये ख़त मिलेंगे तुम इन्हें पसन्द करोगी या नहीं। लेकिन मैंने अपनी ही खुशी के लिए इनका लिखना तय कर लिया है। इन ख़तों से हम-तुम बहुत नजदीक आजाते हैं, और मैं तो यहाँतक महसूस करने लगता हूँ कि मानों मेरी-तुम्हारी बातें हो गईं। वैसे तो मैं तुम्हें अक्सर याद करता रहता हूँ, लेकिन आज तो सारे दिन तुम शायद ही मेरे चित से हटी होगी। आज साल का पहला दिन है। आज बडे सवेरे जब मैं बिस्तर पर लेटे-लेटे तारों को देख रहा था, तो मेरे दिल में इस बीते हुए पिछले महत्वपूर्ण वर्ष का ख़याल हो आया। मुझे वे सब आशायें, आनन्द और क्लेश याद आगये और वे सारे बडे-बडे बहादुरी के काम आँखों के सामने घूम गये जो इस साल में हुए। मुझे बापूजी का भी ख़याल आया, जिन्होंने यरवदा-जेल की कोठरी में बैठे-बैठे अपने जादू से हमारे बूढ़े देश को जवान और ताक़तवर बना दिया। और मुझे दादू[१] की भी याद आई, और दूसरों की भी। मुझे ख़ास तौर से तुम्हारी ममी का साथ ही तुम्हारा ख़याल तो आया ही, और इसके बाद सुबह होने पर ख़बर आई कि तुम्हारी ममी गिरफ्तार करली गईं और जेल पहुँचा दी गई। मेरे लिए यह नये साल की एक बेशक़ीमत सौग़ात थी। इसकी उम्मीद तो बहुत दिन से की जा रही थी और मुझे पूरा यक़ीन है कि ममी बिलकुल प्रसन्न और सन्तुष्ट होगी।

लेकिन तुम अकेली रह गई होगी। पन्द्रह दिन में तुम एक दफ़ा मुझसे और एक दफ़ा अपनी ममी से मिल सकोगी और हम दोनों के संदेसे एक-दूसरे को पहुँचाया करोगी। लेकिन मैं तो क़लम और क़ाग़ज लेकर बैठ जाया करूँगा और तुम्हारा ख़याल करूँगा। तब तुम चुपके से मेरे पास आ बैठोगी और हम एक-दूसरे से बहुत-सी बातों के बारे में बातचीत करेंगे। हम गुजरे हुए जमाने का स्वप्न देखेंगे और भविष्य को बीते हुए जमाने से ज्यादा शानदार बनाने की तरकीब सोचेंगे। इसलिए आओ, आज नये साल के पहले दिन को हम लोग इस बात का पक्का इरादा करें, कि इसके पहले कि यह वर्ष भी बूढ़ा होकर चल बसे, हम भविष्य के सम्बन्ध के अपने ज्वलन्त स्वप्न को वर्तमान के नजदीक ले आयँगे, और हिन्दुस्तान के प्राचीन इतिहास में एक और शानदार सफ़ा बढ़ा लेंगे।

१. इन्दिरा के बाबा पं० मोतीलाल नेहरू

: २ :

इतिहास की शिक्षा

५ जनवरी, १९३१

प्यारी बेटी, मैं तुम्हें क्या लिखूँ और किस जगह से शुरू करूँ ? जब मैं पुराने ज़माने का ख़याल करता हूँ तो मेरी आँखों के सामने बहुत-सी तस्वीरें तेजी के साथ घूम जाती हैं। कुछ तस्वीरें ज्यादा देर तक ठहरती हैं, तो कुछ थोडी ही देर तक। वे मेरी पसन्द की चीजें हैं, और उनके बारे में विचार करते-करते मैं उन्हीं में डूब जाता हूँ। बिलकुल अनजान में ही मैं पिछली घटनाओं से आजकल की घटनाओं का मुक़ाबिला करने लगता हूँ, और उनसे अपनी शिक्षा के लिए सबक़ लेने की कोशिश करता हूँ। लेकिन आदमी का मन भी क्या अजीब खिचडी है, जिसमें ऐसे ख़यालात भरे रहते हैं जिनका एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं होता और ऐसी तस्वीरें मौजूद रहती हैं जिनमें कोई तरतीब नहीं पाई जाती--जैसे कोई ऐसी चित्रशाला हो, जहाँ तस्वीरों की सजावट में कोई व्यवस्था न रक्खी गई हो। लेकिन इसमें हमीं लोगों का सारा दोष नहीं है। हममें बहुतसे आदमी अपने दिमाग़ में घटनाओं के क्रम को बेहतर तरीक़े से तरतीब दे सकते हैं। लेकिन कभी-कभी ख़ुद घटनायें इतनी अजीब होती हैं कि उन्हें किसी भी योजना के ढाँचे में ठीक तरह बिठा सकना मुश्किल हो जाता है।

मुझे ख़याल पड़ता है कि मैंने तुम्हें एक दफ़ा लिखा था कि इतिहास के पढ़ने से हमें यह शिक्षा मिलनी चाहिए कि दुनिया ने कैसे आहिस्ता-आहिस्ता लेकिन निश्चित रूप से तरक्क़ी की है। दुनिया के आरम्भ के सरल जीवों की जगह पर अधिक उन्नत और पेचीदा जीव कैसे आगये और कैसे सबसे अख़ीर में जीवों का सिरताज आदमी पैदा हुआ और अपनी बुद्धि के ज़ोर पर उसने कैसे दूसरों पर विजय पाई। बर्बरता और जंगलीपन से निकलकर सभ्यता की ओर मनुष्य की प्रगति का हाल बताना इतिहास का विषय माना गया है। मैंने अपने कुछ ख़तों में तुम्हें यह बताने की कोशिश की है कि सहयोग का यानी मिल-जुलकर काम करने का ख़याल कैसे बढ़ा और सबकी भलाई अर्थात् सार्वजनिक हित के लिए मिल-जुलकर काम करना हमारा आदर्श क्यों होना चाहिए ? लेकिन कभी-कभी जब हम इतिहास की व्यापकता पर ग़ौर करते हैं, तो हमें यह बात बहुत साफ़ नहीं दिखाई देती कि इस आदर्श ने बहुत ज्यादा तरक़्क़ी की हो, और यह कि हम लोग बहुत सभ्य या उन्नत होगये हों। मनुष्यों में सहयोग का अभाव आज भी बहुत काफ़ी पाया जाता है। एक मुल्क या

एक क़ौम दूसरे मुल्क और दूसरी क़ौम पर स्वार्थ और ख़ुदग़रज़ी से आक्रमण करते हैं और उसे सताते हैं। एक आदमी दूसरे आदमी के साथ इसी तरह का व्यवहार करता है। अगर लाखों बरस की तरक़्क़ी के बाद भी हम इतने पिछडे और अपूर्ण हैं, तो न जाने समझदार आदमी की तरह व्यवहार कर सकने के लिए हमें और कितने दिन लग जायँगे! जब कभी हम इतिहास के उन पुराने ज़मानों के बारे में पढ़ते हैं, जो आजकल के ज़माने से बेहतर मालूम होते हैं और अधिक सभ्य और संस्कृत भी जान पड़ते हैं, तो हमें यह शक होने लगता है कि हमारी दुनिया आगे बढ़ रही है या पीछे हट रही है? ख़ुद हमारे अपने देश के पुराने युग वर्तमान युग की बनिस्बत यक़ीनन हर हालत में कहीं ज्यादा बेहतर और शानदार थे।

यह सच है कि हिन्दुस्तान, मिस्र, चीन, यूनान जैसे अनेक देशों, के पुरानें इतिहास में उज्ज्वल युग हुए हैं और इन मुल्कों में से बहुत से बाद में पिछड़ गये और गिर गये हैं। लेकिन इसकी वजह से हमें हिम्मत न हारनी चाहिए। दुनिया एक बहुत बडी जगह है, और थोडे वक़्त के लिए किसी मुल्क के ऊपर उठ जाने या नीचे गिर जाने से सारी दुनिया में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

आजकल बहुत-से लोग हमारी महान् सभ्यता की और विज्ञान के चमत्कार की डींग मारते रहते हैं। इसमें शक नहीं कि विज्ञान ने बहुत चमत्कार कर दिया है, और जो बडे-बडे वैज्ञानिक हुए है वे हर तरह से इज्जत के क़ाबिल हैं। लेकिन जो डींग मारते है वे मुश्किल से ही बडे हुआ करते हैं। दूसरे, हमें यह बात भी याद रखनी चाहिए कि बहुत-सी बातों में आदमी ने दूसरे जीवों की बनिस्बत बहुत ज्यादा उन्नति नहीं की है। यह भी कहा जा सकता है कि कुछ जीव ऐसे भी हैं जो कुछ बातों में आदमी से अब भी श्रेष्ठ हैं। सुनने में यह बात बेवक़ूफ़ी की मालूम पड़ सकती है, और जो लोग नहीं जानते, वे इसकी हँसी भी उड़ा सकते हैं। लेकिन तुमने अभी मैटरलिंक की बनाई हुई 'Life of the Bee, the White Ant and the Ant' (शहद की मक्खी, दीमक और चींटी की ज़िन्दगी) नाम की किताब पढ़ी ही है। इन जन्तुओं के सामाजिक संगठन का हाल पढ़कर तुम्हें जरूर ताज्जुब हुआ होगा। हम लोग इन जन्तुओं को सबसे हलके दरजे का जीव समझकर हिक़ारत की नज़र से देखते हैं। लेकिन इन छोटे-छोटे जन्तुओं ने सहयोग की कला और सार्वजनिक हित के लिए बलिदान का सबक़ आदमी की अपेक्षा कहीं ज्यादा सीख रक्खा है। जबसे मैंने दीमक का वर्णन देखा और अपने साथी के लिए उसके बलिदान का हाल पढ़ा, मेरे दिल में इस जन्तु के लिए आदर का भाव पैदा हो गई है। अगर आपस के सहयोग को और समाज की भलाई के लिए बलिदान को सभ्यता के परखने की कसौटी मानें,

तो इस लिहाज़ से चीटियाँ और दीमक आदमी से ऊँचे दरजे की साबित होती हैं।

संस्कृत की हमारी एक पुरानी पुस्तक में एक श्लोक[१] है, जिसका अर्थ है कि, "कुल के लिए व्यक्ति को, समाज के लिए कुल को, देश के लिए समाज को और आत्मा के लिए सारी दुनिया को छोड़ देना चाहिए।" आत्मा क्या चीज़ है इसे हममें से कोई नहीं समझता, और हरेक आदमी आत्मा का अर्थ अपने-अपने ख़याल के मुताबिक अलग-अलग किया करता है। लेकिन संस्कृत का यह श्लोक जो सबक़ हमें सिखाता है, वह सबक़ है सहयोग का और सार्वजनिक हित के लिए बलिदान करने का। हिन्दुस्तान के हम लोग असल महानता के इस राजमार्ग को बहुत दिनों तक भूले रहे, इसीलिए हमारा पतन हुआ। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि अब फिर हमें उसकी हलकी-सी झलक दिखाई देने लगी है और सारे मुल्क में एक तहलका-सा मचा हुआ है। कितनी अद्भुत बात है कि मर्द और औरतें, लड़के और लड़कियाँ हँसते-हँसते हिन्दुस्तान के हित के लिए आगे बढ़ रहे हैं और तकलीफ़ या कष्ट की ज़रा भी परवा नहीं करते! उनका हँसना और खुश होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि एक महान् उद्देश के लिए सेवा करने का आनन्द उनको मिला है, और जो खुशकिस्मत हैं उन्हें बलिदान करने का भी आनन्द प्राप्त हुआ है। आज हम हिन्दुस्तान को आज़ाद करने की कोशिश कर रहे हैं। यह एक बडी बात है। लेकिन मनुष्य मात्र के हित का प्रश्न इससे भी ऊँचा है। और क्योंकि हम यह महसूस करते हैं कि हमारा संग्राम मनुष्य-मात्र की तकलीफ़ों और मुसीबतों को मिटाने के महान् संग्राम का एक हिस्सा है, हम भी इस बात पर ख़ुशी मना सकते हैं कि हम दुनिया की प्रगति में मदद करके थोड़ा-बहुत अपना फ़र्ज़ अदा कर रहे हैं।

तुम आनन्द-भवन में बैठी हो, ममी मलाका-जेल में पडी हैं, और मैं नैनी-जेल में हूँ। यहाँ हमें कभी-कभी एक-दूसरे का ख़याल आता है और बहुत ज़ोर के साथ। लेकिन उस दिन की याद करो, जब हम तीनों फिर मिलेंगे। मैं उस दिन का उत्सुकता से इन्तज़ार करूँगा और उसका ख़याल मेरे दिल के बोझ को हलका और हृदय को प्रसन्न कर देगा।

१. त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥—पञ्चतंत्र

: ३ :

'इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद'

७ जनवरी, १९३७

प्रियदर्शिनी, आँखों को प्यारी, लेकिन जब आँखों से ओझल हो तो और भी प्यारी ! आज, जब मैं यहाँ तुम्हें ख़त लिखने बैठा तो दूर के बादल की गरज का-सा कुछ हलका-सा शोर मुझे सुनाई दिया। पहले तो मुझे पता न चला कि यह आवाज़ कैसी है। लेकिन इसकी गूंज से मेरे कान परिचित थे और इसके स्वागत के लिए मेरे दिल में प्रतिध्वनि उठती थी। धीरे-धीरे यह आवाज़ नज़दीक आती हुई मालूम हुई और ज़ोर से सुनाई देने लगी। फिर तो कोई शक बाक़ी नहीं रह गया। 'इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद !' 'इकिलाब ज़िन्दाबाद !' इस जोश से भरी हुई ललकार से सारा कैदख़ाना गूंज उठा; और इसे सुनकर हम सब लोगों के दिल प्रसन्न हो गये। मैं नहीं जानता कि ये कौन लोग थे, जो हमारे इस जंगी नारे को हमसे इतनी नज़दीक जेल के बाहर से बुलन्द कर रहे थे—शहर के मर्द और औरतें थीं या गाँव के किसान लोग ? और न मैं यह जानता हूँ कि आज इसका कौन-सा मौक़ा था ? लेकिन ये लोग चाहे जहाँ के रहे हों, इन्होंने हमारे दिलों को खुश कर दिया और इनके अभिवादन का हम लोगों ने ख़ामोश जवाब भेज दिया, जिसके साथ-साथ हमारी बहुत-बहुत शुभकामनायें भी थीं।

सवाल यह होता है कि हम 'इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद' की आवाज़ क्यों लगाते हैं ? क्रान्ति और परिवर्तन या तब्दीली हम क्यों चाहते हैं ? इसमें शक नहीं कि हिन्दुस्तान में आज बहुत परिवर्तन होने की ज़रूरत है। लेकिन वे सारी बडी-बडी तब्दीलियाँ, जो हम चाहते है, हो भी जायॅं, और हिन्दुस्तान को आज़ादी भी मिल जाय, तो भी हम चुपचाप नहीं बैठ सकते। दुनिया की कोई भी चीज़, जो ज़िन्दा है, बिना परिवर्तन के नहीं रहती। सारी प्रकृति रोज़-ब-रोज़ और मिनट-मिनट पर बदलती रहती है। केवल मुर्दों की ही बढ़ती और तरक़्क़ी रुकी रहती है, और वे शान्त और स्थिर हो जाते हैं। ताज़ा पानी बहता रहता है और अगर कोई उसे रोक दे तो वह स्थिर होकर गन्दला हो जाता है। आदमी की और क़ौम की ज़िन्दगी का भी यही हाल होता है। हम चाहें या न चाहें, हम बूढ़े होते जाते है। नन्ही-नन्ही बच्चियाँ छोटी-छोटी लड़कियाँ हो जाती हैं; छोटी-छोटी लड़कियाँ बडी लड़कियाँ हो जाती हैं; वही बाद में स्त्रियाँ और फिर बुढ़िया हो जाती हैं। हमें इन सब तब्दीलियों को बर्दाश्त करना पड़ता है। लेकिन हममें से बहुतसे आदमी इस

बात को मानने के लिए तैयार नहीं कि दुनिया बदलती रहती है। वे लोग अपने दिमाग़ को बन्द रखते हैं और उसपर ताला लगा देते हैं और उसमें किसी नये ख़याल को घुसने की इजाज़त नहीं देते। सोच-विचार करने में उन्हें जितना डर लगता है, उतना शायद किसी दूसरी चीज़ में नहीं लगता। नतीजा क्या होता है? दुनिया तो इतने पर भी आगे-आगे बढ़ती ही जाती है, और चूंकि वे और उन्हींके क़िस्म के दूसरे लोग बदलती हुई परिस्थितियों के मुताबिक अपनेको नहीं ढालते, इस-लिए समय-समय पर बडे-बडे विस्फोट या भड़ाके होते हैं; बडी-बडी क्रान्तियाँ हो जाती हैं--जैसे कि १४० बरस पहले फ्रान्स में और आज से तेरह बरस पहले रूस में हुई थी। इसी तरह अपने देश में भी आज हम एक क्रान्ति के बीच में से गुज़र रहे हैं। बेशक हम आज़ादी चाहते हैं, लेकिन हम इससे कुछ और भी ज्यादा चाहते हैं। हम तमाम बदबूदार गड्ढों और नालियों को साफ़ कर डालना चाहते हैं और हरेक जगह पर ताज़ा और साफ़ पानी की लहर पहुँचा देना चाहते हैं। हमारा फ़र्ज़ है कि हम अपने देश की गन्दगी, ग़रीबी और मुसीबतों को निकाल फेंकें और जहाँतक हो सके बहुतसे आदमियों के दिमाग़ों में भरे हुए कूडे को भी साफ़ कर दें, जिसकी वजह से कि वे लोग सोच-समझ नहीं पाते और उस महान् काम में, जो हमारे सामने है, सहयोग नहीं करते। हमारे सामने जो काम है वह महान् है और मुमकिन है कि उसके पूरा होने में देर लगे। आओ, कम-से-कम एक धक्का लगाकर इसे आगे तो बढ़ा दें! 'इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद!'

हम क्रान्ति के दरवाज़े तक पहुँच गये हैं और यह नहीं जानते कि आगे भविष्य में क्या होनेवाला है। लेकिन हमारी मेहनतों का फल बहुत काफ़ी मात्रा में वर्तमान ने भी हमारे सामने ला रक्खा है। हिन्दुस्तान की स्त्रियों को देखो कि किस तरह अभि-मान के साथ वे लडाई में सबसे आगे बढ़ती जा रही हैं! नम्र लेकिन बहादुर और किसीसे न दबनेवाली अपनी प्रगति से कैसे दूसरों को आगे बढ़ने का रास्ता दिखा रही हैं? और कहाँ गया आज वह परदा, जिसने हमारी बहादुर और ख़ूबसूरत स्त्रियों को अपने में छिपा रक्खा था, और जो उनके और उनपर देश पर एक लानत--एक अभिशाप था? वह अब तेज़ी के साथ मिट रहा है और अजायबघरों की आलमारियों में, जिनमें पुराने ज़माने की चीज़ों के नमूने रक्खे रहते हैं, जाकर अपने लिए जगह ढूँढ रहा है।

बच्चों को, लड़के और लड़कियों को, बानर-सेना और बाल-बालिका-सभाओं को देखो। इनमें बहुतसे बच्चे ऐसे होंगे, जिनके माता-पिता सम्भव है पहले डरपोक रहे हों और गुलामों की तरह आचरण करते रहे हों। लेकिन अब किसको

शक हो सकता है कि हमारी पीढ़ी के बच्चे गुलामी या कायरता को कभी भी बरदाश्त करेंगे ?

और इस तरह क्रांति का चक्र चल रहा है और जो नीचे थे वे ऊपर आ रहे हैं और जो ऊपर थे वे नीचे जा रहे हैं। हमारे देश में भी इस चक्र के चलने का समय आगया था। लेकिन इसके पहिये को इस दफ़ा हम लोगों ने ऐसा धक्का दिया है कि अब कोई भी इसे रोक नहीं सकता।

"इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद!"

: ४ :

एशिया और योरप

८ जनवरी, १९३१

मैंने अपने पिछले ख़त में बताया था कि हरेक चीज़ बराबर तब्दील होती रहती है। इन तब्दीलियों की कहानी के सिवा दरअसल इतिहास और है भी क्या ? अगर पुराने ज़माने में बहुत कम तब्दीलियाँ हुई होतीं, तो इतिहास लिखने के लिए कुछ मसाला ही न मिलता।

स्कूल और कॉलेजों में जो इतिहास पढ़ाया जाता है वह साधारणतः बहुत सन्तोषजनक और मतलब का नहीं होता। दूसरों की बाबत तो मैं जानता नहीं, अपने बारे में यह ज़रूर कह सकता हूँ कि स्कूल में मैं बहुत कम इतिहास सीख पाया था। हिन्दुस्तान के इतिहास के बारे में थोड़ा-बहुत पढ़ा था, और कुछ इंग्लैण्ड का इतिहास पढ़ा था। हिन्दुस्तान का इतिहास जो-कुछ मैंने पढ़ा, वह ज्यादातर ग़लत या तोड़ा-मरोड़ा हुआ और ऐसे लोगों का लिखा हुआ था जो हमारे देश को नफ़रत की नज़र से देखते थे। और देशों के इतिहास के बारे में तो मेरा ज्ञान बहुत ही अनिश्चित और धुँधला था। कॉलेज छोड़ने के बाद मैंने कुछ वास्तविक इतिहास पढ़ा। ख़ुशक़िस्मती से जेल की यात्राओं ने मुझे अपना ज्ञान बढ़ाने का ख़ासा मौक़ा दे दिया।

मैंने तुम्हें अपनी कुछ पुरानी चिट्ठियों में हिन्दुस्तान की प्राचीन सभ्यता के बारे में, द्रविडों के बारे में, और आर्यों के आगमन के सम्बन्ध में लिखा था। मैंने आर्यों के आने के पहले के ज़माने का कोई हाल इन ख़तों में नहीं लिखा था, क्योंकि मुझे उसके बारे में ज्यादा मालूम नहीं है। लेकिन तुम्हें यह जानकर दिलचस्पी होगी कि हिन्दुस्तान में इन पिछले बरसों में एक बहुत प्राचीन सभ्यता के चिन्ह मिले हैं। ये चिन्ह उत्तर-पश्चिम भारत में मोहेन जो दारो नाम की जगह के आस-पास

पाये गये हैं। क़रीब पाँच हज़ार बरस पुराने इन खण्डहरों को लोगों ने खोदा और उसमें प्राचीन मिस्र की-सी मोमियाई--मसाला लगाकर रक्षित रक्खे गये मुर्दे--मिली हैं। ज़रा ख़याल तो करो। ये सब बातें हज़ारों बरस पुरानी, आर्यों के आने से बहुत पहले की हैं। योरप उस समय वीरान रहा होगा।

आज योरप मज़बूत और ताक़तवर है और वहाँके रहनेवाले अपनेको दुनियाभर में सबसे ज्यादा सभ्य और तहज़ीबदार समझते हैं। वे एशिया और उसके निवासियों को तिरस्कार की नज़र से देखते हैं, और एशिया के मुल्कों में आकर जो कुछ यहाँ मिलता है, उसे झपट ले जाते हैं। ज़माना कैसा बदल गया है! आओ, हम एशिया और योरप पर ज़रा ग़ौर से नज़र डालें। एटलस खोलो, देखो, छोटासा योरप एशिया के विशाल महाद्वीप में किस तरह चिपक रहा है। मालूम होता है मानों यह एशिया का ही छोटासा हिस्सा हो। अगर तुम इतिहास पढ़ोगी तो तुम्हें मालूम होगा कि कई युगों तक एशिया उसपर हावी रह चुका है। एशियाई लोगों की बाढ़-की-बाढ़ योरप जाती रही है और उसे फ़तह करती रही है। इन लोगों ने योरप को उजाड़ा भी और उसे सभ्यता या तहज़ीब भी सिखाई। आर्य, शक, हूण, अरब, मंगोल और तुर्क ये सब एशिया के किसी-न-किसी हिस्से से आये थे, और योरप और एशिया के चारों ओर फैल गये थे। वे एशिया में टिड्डी-दल की तरह बेशुमार तादाद में पैदा होते रहे। सच तो यह है कि योरप बहुत दिनों तक एशिया का उपनिवेश रहा है और उसकी बहुत-सी जातियाँ एशिया से गये हुए हमला करनेवालों की सन्तानें हैं।

एशिया एक बेडौल दानव की तरह नक़्शे में एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैला हुआ है। योरप छोटा-सा है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि एशिया इसलिए बड़ा है कि उसकी लम्बाई-चौड़ाई बहुत है, या यह कि अपनी छुटाई के कारण योरप किसी ध्यान दिये जाने के क़ाबिल नहीं है। किसी आदमी या देश की बड़ाई उसकी लम्बाई-चौड़ाई से नहीं परखी जाती। हम सब अच्छी तरह जानते हैं कि योरप हालांकि महाद्वीपों में सबसे छोटा है, मगर आज वह महान् बना हुआ है। हम यह भी जानते हैं कि योरप के अनेक देशों के इतिहास में शानदार युग हुए हैं। इन देशों ने विज्ञान के बडे-बडे पण्डित पैदा किये, जिन्होंने अपनी खोज और आविष्कारों से मानवी सभ्यता को बहुत ज्यादा तरक़्क़ी दे दी और लाखों आदमियों और औरतों के लिए जिन्दगी आसान बना दी। इन देशों में बडे-बडे लेखक, विचारक, कला-कुशल, संगीतज्ञ और कर्मवीर पैदा हुए हैं। योरप की महानता को स्वीकार न करना बेवक़ूफ़ी होगी।

लेकिन एशिया की महानता को स्वीकार न करना भी उसी तरह की बेवक़ूफ़ी होगी। कभी-कभी हम योरप की तड़क-भड़क से धोखे में आ जाते हैं और अपने पुराने ज़माने को भूल जाते हैं। हमें यह याद रखना चाहिए कि एशिया ने ही बड़े-बड़े विचारक पैदा किये हैं, जिन्होंने दुनियाभर में इतना प्रभाव डाला कि शायद ही कोई दूसरे आदमी या कोई दूसरी चीज़ इतना असर डाल पाये हों। ख़ास-ख़ास धर्मों के प्रवर्त्तक भी यहीं हुए। हिन्दू धर्म जो मौजूदा बड़े-से-बड़े मज़हबों में सबसे पुराना है, हिन्दुस्तान की उपज है। इसी तरह उसका भाई बौद्ध धर्म भी एशिया का ही है, जो आज तमाम चीन, जापान, बरमा, तिब्बत और लंका में फैला हुआ है। यहूदियों और ईसाइयों का धर्म भी एशियाई ही है, क्योंकि यह एशिया के पश्चिम किनारे पर फ़िलस्तीन[1] में पैदा हुआ था। ज़ोरास्ट्रियन धर्म, जो पारसियों का मज़हब है, ईरान[2] में उत्पन्न हुआ। और तुम यह तो जानती ही हो कि इस्लाम के पैग़म्बर मुहम्मद अरब के मक्का में पैदा हुए थे। कृष्ण, बुद्ध, जरथुस्त,[3] ईसा, मुहम्मद,

१. **फ़िलस्तीन**—इसे पेलस्टाइन भी कहते हैं। एशिया का एक प्राचीन देश है। पश्चिम देश के आधीन रहने के बाद ईसा से पहले सन् ११०० में फ़िलस्तीन जाति के अधिकार में आया। ईसा से पहले की नवीं सदी से छठी सदी तक असीरिया और बेबिलोनिया के साम्राज्य इसे जीतते और फिर इससे हारते रहे। एक ज़माने में यहूदियों ने यहाँ अपना स्वतन्त्र राज्य क़ायम किया था और कभी यह मुसलमानों के ताबे में रहा। सन् १९१७–१८ से यह अंग्रेज़ों के अधिकार में है और अब वहाँ अरब और यहूदियों में झगड़ा चल रहा है। यह ईसाइयों और मुसलमानों दोनों की पवित्र भूमि है।

२. **ईरान**—एशिया का एक देश है, जो फ़ारस भी कहलाता है। ईसा से पूर्व सन् ५५९ से ३३१ तक ईरानी सभ्यता बहुत उन्नत दशा में थी और सम्राट् डेरियस या दारा के ज़माने से इसका साम्राज्य इतना विस्तृत और शक्तिशाली होगया था कि यूनानियों को इसके डर के मारे नींद नहीं आती थी और योरप, अफ्रीका और एशिया ईरानी सम्राट् के नाम से काँपते थे। लेकिन बाद में धीरे-धीरे इसका पतन होने लगा, और यूनानी विजेता सिकन्दर ने इस साम्राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला।

३. **जरथुस्त**—यह प्राचीन ईरानी मज़हब के प्रवर्त्तक या पैग़म्बर थे। यह किस ज़माने में हुए, इसका कुछ ठीक-ठीक पता नहीं लगता, लेकिन कुछ लोगों के ख़याल में इनका समय ईसा से १००० वर्ष पहले का है। ईरानी शाहंशाह सीरियस के ज़माने में इनका धर्म ईरान का ख़ास धर्म हो गया था। यह भी एक आर्य-धर्म ही था। हिन्दुस्तान के पारसी अब भी इसी मज़हब को मानते हैं। इनके सिवा इस मज़हब का माननेवाला दुनिया में अब कोई नहीं है। इनकी मुख्य धर्म-पुस्तक ज़ेन्दावस्ता है।

कनफ्यूशस[१], लाओ-ज़े[२] वग़ैरा, जो चीन के महान् दार्शनिक थे, एशिया के बड़े-बड़े विचारकों के नाम से तुम सफ़े-के सफ़े भर सकती हो। इसी तरह एशिया के कर्म-वीरों के नामों से भी पन्ने-के-पन्ने रंगे जा सकते हैं, । यही नहीं कई और बातों में भी मैं तुम्हें दिखा सकता हूँ कि हमारा यह बूढ़ा महाद्वीप प्राचीनकाल में कितना महान् और सजीव रहा है।

लेकिन देखो, ज़माना कैसा बदल गया है, और एक बार फिर हमारी आँखों के सामने भी वह बदलता जारहा है। इतिहास आम तौर पर धीरे-धीरे सदियों में अपना प्रभाव दिखाता है, हालांकि उसमें तूफ़ानी और धड़ाके के भी युग होते हैं। आज तो एशिया में ज़माना बहुत तेज़ी से आगे बढ़ रहा है और यह बूढ़ा महाद्वीप अपनी लम्बी नींद के बाद जाग उठा है। दुनिया की आँखें इसपर लगी हैं, क्योंकि सभी जानते हैं कि भविष्य के विकास में यह बहुत बड़ा हिस्सा लेने जारहा है।

: ५ :

पुरानी सभ्यतायें और हमारा उत्तराधिकार

९ जनवरी, १९३१

हिन्दी अख़बार 'भारत' में, जो हमें हफ़्ते में दो बार बाहरी दुनिया की कुछ ख़बरें पहुँचा देता है, कल मैंने पढ़ा कि तुम्हारी ममी के साथ मलाका-जेल में ठीक व्यवहार नहीं किया जा रहा है और वह लखनऊ जेल भेजी जानेवाली है। यह पढ़कर मैं कुछ परेशान-सा होगया और चिन्ता करने लगा। फिर सोचा कि शायद 'भारत' में छपी अफ़वाह सही न हो। लेकिन इस सम्बन्ध में शक भी बनाये रखना ठीक नहीं। अपनी परेशानियों और मुसीबतों को सहना काफ़ी आसान है। इससे हरेक को फ़ायदा होता है, नहीं तो बिना इसके हम लोग बहुत नाज़ुक बन जा सकते हैं। लेकिन जो हमें प्रिय हैं, उनकी मुसीबतों का ख़याल, ख़ासकर उस वक़्त जबकि हम उनकी कोई

१. **कनफ्यूशस**—यह मशहूर चीनी दार्शनिक और धर्म-प्रवर्त्तक या पैग़म्बर थे। ईसा से ५५१ वर्ष पहले इनका जन्म हुआ था और इन्होंने अपना सारा जीवन अपने मुल्क को प्राचीन या पुरानी किताबों के इकट्ठा करने, सम्पादन करने और छपाने में बिताया। ईसा से ४७८ वरस पहले इनकी मृत्यु हुई। चीन में अब भी इनका मज़हब माननेवाले बहुत पाये जाते हैं।

२. **लाओ-ज़े**—मशहूर चीनी वेदान्ती और पैगम्बर था। यह कनफ्यूशस के ज़माने में ही हुआ, और उसका विरोधी था।

मदद नहीं कर सकते, कोई आसान या तसल्ली देनेवाली चीज नहीं है। इसलिए उस सन्देह के कारण, जो 'भारत' ने मेरे मन में पैदा कर दिया था, मैं ममी के बारे में चिन्ता करने लगा। वह बहादुर है और शेरनी का-सा उसका दिल है; लेकिन वह शरीर से कमज़ोर है, और मैं नहीं चाहता कि वह और कमज़ोर होजाय। हम दिल के चाहे कितने ही मज़बूत क्यों न हों, अगर हमारे शरीर हमें जवाब दे बैठें तो हम क्या कर सकते हैं? अगर हम कोई काम अच्छी तरह करना चाहते हैं तो तन्दुरुस्ती, ताक़त और मज़बूत शरीर होना ज़रूरी है।

शायद यह अच्छा ही है कि ममी लखनऊ भेजी जा रही है। सम्भव है वह वहाँ ज्यादा आराम से और ख़ुश रहे। लखनऊ-जेल में उसे कुछ संगी-साथी भी मिल जायँगे। मलाका में वह शायद अकेली ही हो। फिर भी यहाँ इतना इतमीनान ज़रूर था कि वह दूर नहीं है; हमारी जेल से सिर्फ चार-पाँच मील पर ही है। लेकिन यह सोचना बेवक़ूफ़ी ही तो है। जब दो जेलों की ऊँची-ऊँची दीवारें एक-दूसरे को जुदा कर रही हैं, तब क्या पाँच मील और क्या एक सौ पचास मील, दोनों बराबर हैं।

आज यह जानकर ख़ुशी हुई कि दादू इलाहाबाद वापस आ गये हैं और पहले से अच्छे हैं। यह जानकर और भी ख़ुशी हुई कि वह ममी से मिलने मलाका-जेल गये थे। मुमकिन है तक़दीर से कल तुम सब लोगों से मुलाक़ात हो जाय, क्योंकि कल मेरा 'मुलाक़ात का दिन' है और जेल में मुलाक़ात का दिन बड़ा दिन माना जाता है। क़रीब दो महीने से मैंने दादू को नहीं देखा है। उम्मीद है कल मुलाक़ात हो जायगी और मैं इतमीनान कर सकूँगा कि दरअसल वह अब पहले से अच्छे हैं। तुमसे तो मैं एक बड़े लम्बे पखवाड़े के बाद मिलूँगा, जब कि तुम मुझे अपना और अपनी ममी का हाल सुनाओगी।

क्या ख़ूब! लिखने तो बैठा था पुराने इतिहास पर, लेकिन लिख रहा हूँ बेवक़ूफ़ी की बातें। अच्छा, अब थोड़ी देर के लिए हम वर्त्तमान को भूल जायँ और दो-तीन हज़ार वर्ष पीछे लौट चलें।

मिस्र के और क्रीट[1] के पुराने नोसास[2] के बारे में मैंने तुम्हें अपनी पहली चिट्ठियों में लिखा था, और तुम्हें बताया था कि पुरानी सभ्यता ने इन दोनों

१. **क्रीट**—यह भूमध्यसागर के सबसे बड़े टापुओं में से एक है। प्राचीन सभ्यता में इसका स्थान बहुत ऊँचा है। कला-कौशल में कुशलता पानेवाला यह सबसे पहला यूरोपीय देश है। यहाँका राजा माइनास बड़ा मशहूर शासक था और इतिहास का सबसे पहला राजा था, जिसके पास अपनी जल-सेना थी

२. **नोसास**—राजा माइनास के वक्त में भूमध्यसागर के क्रीट नामक टापू

देशों में और उस मुल्क में, जो आज इराक़[1] या मैसोपोटामिया कहलाता है तथा चीन, हिन्दुस्तान और यूनान में पहले-पहल जड़ पकडी, यूनान औरों से कुछ देर में सामने आया। इसलिए प्राचीनता के लिहाज से हिन्दुस्तान की सभ्यता मिस्र, चीन और इराक़ की सभ्यताओं की बराबरी की है। प्राचीन यूनान की सभ्यता भी इनके मुक़ाबिले कम उम्र की कही जा सकती है। इन पुरानी सभ्यताओं का क्या हाल हुआ ? नोसास[1] ख़तम होगया। सच तो यह है कि क़रीब तीन हजार बरस से उसका कोई अस्तित्व नहीं रहा है। यूनान के नई सभ्यता के लोग आये और उन्होंने इसे नष्ट कर दिया। मिस्र की पुरानी सभ्यता कई हजार बरस के शानदार इतिहास के बाद समाप्त होगई, और पिरेमिड[2], स्फिंक्स[3], बडे-बडे मन्दिरों के खंडहरों, मोमियाइयों और इसी तरह की दूसरी चीजों के अलावा वह अपना कोई निशान नहीं छोड़ गई। मिस्र का देश तो अब भी है और नील नदी पहले की तरह अब भी वहाँ बहती है, और दूसरे देशों की तरह वहाँ भी स्त्री और पुरुष, रहते हैं; लेकिन इन नये आदमियों का इनके देश की पुरानी सभ्यता से कोई ताल्लुक़ नहीं है।

इराक़ और ईरान ! इन देशों में कितने साम्राज्य फूले-फले, एक-दूसरे के बाद अस्त होते गये और उनका कोई नाम लेनेवाला नहीं रह गया। इन साम्राज्यों में से अगर

की राजधानी था। यह बड़ा सम्पन्न और ख़ुशहाल शहर था। मिट्टी का काम तो यहाँ खास तौर पर सुन्दर होता ही था, सोने-चाँदी का काम भी बहुत अच्छा होता था। यहाँके हथियार भी बहुत मशहूर थे।

१. **इराक़**—यूफ्रेटीज़ और टाइग्रस नदियों के बीच के पूरे प्रान्त का नाम इराक़ है। यह देश प्राचीन सभ्यताओं में से कईयों का क्रीड़ा-क्षेत्र रहा है।

२. **पिरेमिड**—मिस्र देश के पत्थर के विशाल स्तूप या मीनार, जिनके नीचे मिस्र के प्राचीन सम्राटों की क़ब्रें हैं। सबसे बड़ा पिरेमिड गिज़ेह नामक स्थान पर है। इसमें पत्थर की तेईस लाख चट्टानें लगी हैं, और एक-एक चट्टान का वज़न ढाई-ढाई टन है। जिस ज़माने में मशीनों का नाम तक न था, उस ज़माने में लोगों ने कैसे ढाई-ढाई टन के तेईस लाख पत्थर एक-दूसरे पर चुनकर रख दिये, इस बात के समझने में बुद्धि चकरा जाती है।

३. **स्फिंक्स**—यूनान की कहानियों के अनुसार यह एक दानवी है, जिसका सिर स्त्री का-सा और धड़ पर लगे हुए शेर का-सा है। गिज़ेह नामक जगह पर पिरेमिडों के पास इसकी एक बड़ी भारी मूर्ति है, जिसकी लम्बाई १८७ फीट और ऊँचाई ६६ फीट है। उसका केवल सिर ही ३० फीट लम्बा है, और मुँह की चौड़ाई १४ फीट है।

सबसे पुरानें साम्राज्यों के ही कुछ नाम लें तो वे हैं—बेबीलोनियन,[१] असीरियन[२] और केल्डियन[३]। बेबीलन[४] और निनीवे[५] इनके विशाल नगर थे। बाइबिल का पुराना अहदनामा (Old Testament) **इन नगरों के लोगों के जिक्र से भरा पड़ा है। इसके बाद भी प्राचीन इतिहास की इस भूमि में दूसरे साम्राज्य फूले-फले और मुरझा गये। अलिफ़लैला की मायानगरी बग़दाद यहीं है। साम्राज्य पैदा होते हैं और ख़तम हो जाते हैं; बडे-से-बडे और अभिमानी-से-अभिमानी बादशाह दुनिया के रंग-मंच पर सिर्फ़ थोडे ही अरसे के लिए ऐंठ और अंकड़कर चल पाते हैं और फिर चल बसते हैं।**

१. **बैबीलोनियन**—इराक के एक प्राचीन साम्राज्य का नाम है। प्रथम बैबोलियन राजवंश की स्थापना ईसा से क़रीब २३०० साल पहले हुई थी। कई बार इसका उत्थान और पतन हुआ। ईसा से क़रीब ६२५ साल पहले, नाबोपोलासार नाम के केल्डिया के सम्राट होने पर यह फिर आगे बढ़ने लगा, और उसके उत्तराधिकारी दूसरे नेबूचड्नेजर ने ईसा से पूर्व करीब ६०४ और ५६५ साल के बीच इस साम्राज्य को गौरव की सबसे ऊँची चोटी तक पहुँचा दिया था। लेकिन उसके वाद फिर उसका ऐसा पतन हुआ कि आगे कभी न उठा।

२. **असीरियन**—एशिया के एक प्राचीन साम्राज्य का नाम है। इसका विशाल साम्राज्य उन सबसे पहले साम्राज्यों में से एक है, जिनके ऐतिहासिक लेख मिलते हैं। अपने गौरव-काल में यह मिस्र से ईरान तक फैला हुआ था।

३. **केल्डिया**—एक अर्थ में यह बैबीलोनिया का एक प्रान्त था। ईरान की खाड़ी के ऊपर की तरफ़ अरब के रेगिस्तान से मिला हुआ यूफ्रेटीज़ नदी के निचले हिस्से के किनारों पर आबाद था। यहाँका निवासी नाबोपोलासार मीड जाति की मदद से बैबीलोनिया का सम्राट हुआ और उसीके उत्तराधिकारियों के ज़माने में बैबीलोनियन सम्राट अपने गौरव की सबसे ऊँची चोटी पर पहुँचा। इसलिए वह ज़माना केल्डियन-बैबीलोनियन ज़माना कहलाता है।

४. **बेबीलन**—एशिया का बहुत पुराना शहर था। आजकल के बग़दाद से क़रीब ६० मील दक्षिण की तरफ़, यूफ्रेटीज़ नदी के दोनों किनारों पर यह आबाद था। यहीं पर बैबीलोनियन, असीरियन और ईरानी साम्राज्यों की राजधानियाँ के थीं। यहाँ के 'लटकते हुए उद्यान' संसार का एक आश्चर्य माने जाते थे।

५. **निनीवे**—इसका दूसरा नाम नाइनस भी है। यह पुराने ज़माने का एक मशहूर शहर है और असीरियन साम्राज्य की राजधानी था। सम्राट् सेनकेरिव के ज़माने में इस शहर ने बड़ी तरक़्क़ी की थी और क़रीब दो सौ साल तक बहुत बड़ा व्यापारिक केन्द्र बना रहा। यहाँका पुस्तकालय अपने ज़माने में दुनियाभर में मशहूर था। ईसा से पहले सन् ६१२ में मीड़ों और बैबीलोनियनों ने मिलकर हमला किया और इस फलते-फूलते शहर को तहस-नहस कर डाला।

पर सभ्यतायें क़ायम रह जाती है। लेकिन इराक़ और ईरान की पुरानी सभ्यतायें मिस्र की पुरानी सभ्यता की तरह बिलकुल ख़त्म होगई।

यूनान पुराने जमाने में सचमुच महान् था और आज भी लोग उसके वैभव, उसकी शान-शौक़त का हाल पढ़कर अचरज करते हैं। आज भी हम उसकी संगमर-मर की मूर्तियों की खूबसूरती देखकर चकित हो जाते हैं, और उसके पुराने साहित्य के उस अंश को, जो बच गया है श्रद्धा और आश्चर्य के साथ पढ़ते हैं। कहा जाता है, और ठीक ही कहा जाता है, कि मौजूदा योरप कई दृष्टि से यूनान का बच्चा है। योरप पर यूनानी विचार और यूनानी तरीकों का गहरा असर पड़ा है; लेकिन वह वैभव और शान जो यूनान की थी, अब कहाँ है ? इस पुरानी सभ्यता को ग़ायब हुए अनेक युग बीत गये। उसकी जगह पर दूसरी तरह के आचार-विचार या तौर-तरीक़े प्रचलित होगये और यूनान आज योरप के दक्षिण-पूरब में एक छोटा-सा मुल्कभर रह गया है।

मिस्र नोसास, इराक़ और यूनान ये सब खत्म होगये। इनकी सभ्यता का भी बैबीलन और निनीवे की तरह अस्तित्व मिट गया। ऐसी हालत में इन पुरानी सभ्यताओं की साथी बाक़ी दो, चीन और हिन्दुस्तान की, सभ्यताओं का क्या हुआ ? और देशों या मुल्कों की तरह इन दोनों देशों में भी साम्राज्य के बाद साम्राज्य क़ायम होते रहे। यहाँ भी भारी तादाद में हमले हुए, बरबादी और लूटमार हुई। बादशाहों के खा़नदान सैकडों बरसों तक राज करते रहे और फिर इनकी जगह पर दूसरे आगये। हिन्दुस्तान और चीन में ये सब बातें वैसे ही हुईं, जैसे दूसरे देशों में। लेकिन सिवाय चीन और हिन्दुस्तान के, किसी भी दूसरे देश में सभ्यता का असली सिलसिला क़ायम नहीं रहा। सारे परिवर्तनों, लड़ाइयों और हमलों के बावजूद इन देशों में पुरानी सभ्यता की धारा अटूट बहती आई है। यह सच है कि ये दोनों अपनी पुरानी हालत से बहुत नीचे गिर गये हैं और इनकी प्राचीन सभ्यता के ऊपर गर्द व ग़ुबार का ढेर जमा होगया है। कहीं-कहीं इसे गन्दगी ने ढक लिया है, जो लम्बे अरसे से जमा होती चली आई है। लेकिन यह सभ्यता अभीतक क़ायम है और आज भी हिन्दुस्तानी ज़िन्दगी की बुनियाद बनी हुई है। अब दुनिया में नई सभ्यता का दौरदौरा है। भाफ से चलने-वाले जहाज़, रेलवे और बडे-बडे कारखानों के बन जाने से दुनिया की सूरत ही बदल गई है। ऐसा हो सकता है, बल्कि यह बहुत सम्भव है, कि वे हिन्दुस्तान की भी काया-पलट करदें, जैसा कि वे कर भी रही हैं, लेकिन भारतीय सभ्यता और संस्कृति के, जो इतिहास के उदयकाल से लेकर लम्बे-लम्बे युगों को पार करती हुई वर्तमान

युग तक चली आई है, इस विस्तृत विस्तार और सिलसिले का ख़याल तक दिलचस्प और आश्चर्यजनक है। एक अर्थ में हम लोग हिन्दुस्तान के इन हज़ारों बरसों के उत्तराधिकारी हैं। यह हो सकता है कि हम लोग पुराने ज़माने के उन लोगों के ठेठ वंशज हों, जो उत्तर-पश्चिम के पुराने देशों से होकर उस लहलहाते हुए मैदान में आये थे, जो ब्रह्मावर्त, आर्यावर्त, भारतवर्ष और बाद में हिन्दुस्तान कहलाया। क्या तुम्हें अपनी कल्पना में ये लोग पहाडी दर्रों से होकर नीचे के अनजान मुल्क में उतरते हुए नहीं दिखाई देते? बहादुरी और साहस की भावना से भरे हुए ये लोग, परिणामों की परवा न करते हुए, आगे बढ़ते चले गये। अगर मौत आई तो उन्होंने उसकी परवा नहीं की। हँसते-हँसते उसे गले लगाया। लेकिन उन्हें जीवन से प्रेम था और वे यह जानते थे कि जिन्दगी का सुख भोगने का एकमात्र तरीक़ा यह है कि आदमी निडर हो जाय। हार और मुसीबतों की फ़िक्र न करे। क्योंकि हार और मुसीबत में एक बात यह होती है कि वह निडर लोगों के पास नहीं फटकती। अपने उन प्राचीन पूर्वजों का ख़याल तो करो, जो आगे बढ़ते-बढ़ते एकदम से शान के साथ समुद्र की ओर बहनेवाली गंगा के किनारे आ पहुँचे। यह दृश्य देखकर उनका हृदय कितना आनन्दित होगया होगा! और इसमें आश्चर्य और ताज्जुब की क्या बात है कि इन लोगों ने इसके सामने आदर से अपना सिर झुका दिया हो और अपनी मीठी और रसीली भाषा में उसकी स्तुति की हो?

और यह सोचकर सचमुच ताज्जुब होता है कि हम इन सब युगों के उत्तराधिकारी हैं। लेकिन इससे हमें गर्व से फूल न जाना चाहिए। अगर हम युग-युगान्तरों के उत्तराधिकारी हैं तो उसकी अच्छाई और बुराई दोनों के हैं, और हिन्दुस्तान को अपनी मौजूदा विरासत में हमें जो कुछ मिला, उसका बहुत-कुछ हिस्सा बुरा है, बहुत-कुछ ऐसा है जिसने हमें दुनिया में दबाये रक्खा और हमारे महान् देश को सख़्त ग़रीबी के गड्ढे में गिराकर उसे दूसरों के हाथ का खिलौना बना दिया। लेकिन हमने यह निश्चय कर लिया है कि यह हालत अब न रहने देंगे।

: ६ :

यूनानी या हेलन्स

१० जनवरी, १९३१

तुम लोगों में से कोई भी आज हमसे मिलने नहीं आया और 'मुलाक़ात का दिन' कोरा ही रहा। इससे निराशा हुई। मुलाक़ात टलने की जो वजह बताई गई, वह और भी चिन्ताजनक थी। हमें बताया गया कि दादू की तबीयत अच्छी नहीं है।

बस इतनें से ज्यादा हमें कुछ और पता न चला। ख़ैर, जब मुझे यह मालूम हुआ कि आज मुलाक़ात न होगी, तो मैं अपना चरखा कातने लगा। मेरा अनुभव है कि चरखा कातने और निवाड़ के बुनने में मजा भी आता है और दिल को तस्कीन और शान्ति मिलती है। इसलिए तुम जब कभी किसी असमंजस में हो, या कोई शक-शुबह हो, तो कातने लगो।

अपने पिछले पत्र में मैंने योरप और एशिया का मुक़ाबिला किया था और यह देखा था, कि इन दोनों में कितनी बातें एक-दूसरे के ख़िलाफ़ हैं और कितनी एक-दूसरे से मिलती-जुलती हैं। आओ, अब हम प्राचीन योरप की उस समय की हालत पर थोडी सीनजर डालें। बहुत दिनों तक भूमध्यसागर के चारों तरफ़ के देश ही योरप समझे जाते थे। हमें उस जमाने के योरप के उत्तरीय देशों का कोई हाल नहीं मिलता। भूमध्यसागर के आस-पास के रहनेवाले लोगों का ख़याल था कि जर्मनी, इंग्लैण्ड और फ्रान्स में वहशी और जंगली जातियाँ रहा करती हैं। यहाँतक कि लोगों का ख़याल है कि शुरू जमाने में सभ्यता भूमध्यसागर के पूर्वीय हिस्से तक ही महदूद थी। तुम जानती हो कि मिस्र (जो अफ्रीका में है, योरप में नहीं) और नोसास, ही पहले देश थे, जो आगे बढ़े। धीरे-धीरे आर्य लोग एशिया से पश्चिम की ओर बढ़ने लगे और यूनान तथा आसपास के मुल्कों पर हमला किया। यह आर्य वही यूनानी हैं जिन्हें हम प्राचीन यूनानी कहते हैं और जिनकी तारीफ़ करते हैं। पहली बात तो यह है, और मेरा ख़याल है कि ये लोग उन आर्यों से बहुत भिन्न नहीं थे जो शायद इसके पहले हिन्दुस्तान में उतर चुके थे। लेकिन बाद में तब्दीलियां आगई होंगी और धीरे-धीरे आर्य-जाति की इन दोनों शाखाओं में दिन-ब-दिन ज्यादा फ़र्क होता गया। भारतीय आर्यों के ऊपर उससे भी पुरानी यानी द्रविड-सभ्यता का और उस सभ्यता के बचे-खुचे हिस्से का बहुत असर पड़ा, जिसके चिन्ह आज हमें मोहेनजेदारो में मिलते हैं। आर्यों और द्रविडों ने एक-दूसरे से बहुत-कुछ लिया और एक-दूसरे को बहुत कुछ दिया भी, और इस तरह इन्होंने मिलजुल कर हिन्दुस्तान की एक संयुक्त संस्कृति बनाई।

इसी प्रकार यूनानी आर्यों पर भी नोसास की उस पुरानी सभ्यता का बहुत ज्यादा असर पड़ा होगा जो कि यूनान की भूमि पर इनके आने के समय ख़ूब जोरों से लहरा रही थी। इनके ऊपर इसका असर जरूर पड़ा, लेकिन इन्होंने नोसास को और उसकी सभ्यता के बाहरी रूप को नष्ट कर दिया और उसकी चिता पर अपनी सभ्यता रची। हमें यह हर्गिज न भूलना चाहिए कि यूनानी आर्य और भारतीय आर्य, दोनों उस पुराने जमाने में बडे जवांमर्द और अनगढ़ योद्धा थे। ये बड़े जीवट

के लोग थे, और जिन नाजुक या अधिक सभ्य लोगों से इनका सामना हुआ उन्हें या तो इन्होंने हज़म कर लिया या नष्ट कर डाला।

इसी तरह नोसास ईसा के पैदा होने के क़रीब एक हज़ार बरस पहले नष्ट हो चुका था, और नये यूनानियों ने यूनान में और आसपास के टापुओं में अपना अधिकार जमा लिया था। ये लोग समुद्र के रास्ते से एशिया माइनर के पश्चिमी किनारे तथा दक्षिण-इटली और सिसली तक और दक्षिण-फ्रांस तक भी जा पहुंचे। फ्रांस में मारसाई या मारसेलोज़ नाम के शहर को इन्होंने ही बसाया था। लेकिन शायद इनके जाने के पहले ही वहाँ फ्यूनीशियन लोगों की आबादी थी। तुम्हें याद होगा कि फ्यनीशियन एशिया माइनर की मशहूर समुद्र-यात्री क़ौम थी, जो व्यापार की तलाश में दूर-दूर तक धावा मारा करते थे। उस पुराने ज़माने में भी ये लोग इंग्लैण्ड तक पहुँच गये थे, जब कि वह बिलकुल वहशी था और जब जिब्राल्टर के जलडमरूमध्य का जहाज़ी सफ़र ज़रूर ख़तरनाक रहा होगा।

यूनान के मुख्य प्रदेशों में एथेन्स, स्पारटा, थीब्स और कारिन्थ जैसे मशहूर शहर आबाद हो गये। यूनानियों के या, अगर तुम उन्हें उनके उस वक्त के नाम से पुकारना चाहती हो तो, हेलेन लोगों के, पुराने ज़माने का हाल 'ईलियड' और 'औडेसी' नाम के दो महाकाव्यों में बयान किया गया है। तुम्हें इन दोनों प्रसिद्ध महाकाव्यों का कुछ हाल मालूम ही है। ये दोनों महाकाव्य हमारे देश की रामायण और महाभारत की तरह के ग्रन्थ हैं। कहते हैं कि होमर ने, जो अन्धा था, ये काव्य लिखे हैं। 'ईलियड' में यह क़िस्सा बयान किया गया है कि किस तरह सुन्दरी हेलन को पेरिस अपने शहर ट्राय में भगा ले गया और किस तरह यूनान के राजाओं और सरदारों ने उसे छुड़ाने के लिए ट्राय के चारों तरफ घेरा डाला। और 'ओडेसी' ट्राय के घेरे से लौटते वक्त औडेसियस या यूलीसस के भ्रमण की कहानी है। एशिया माइनर में, समुद्र-तट से बहुत नज़दीक, ट्राय का यह छोटा शहर बसा था। अब यह नहीं पाया जाता और बहुत ज़माने से इसका पता नहीं चलता। लेकिन कवि की प्रतिभा ने इसे अमर कर दिया है।

(इधर हेलन्स या यूनानी क़ौम तेज़ी के साथ, चन्द रोज़ के लिए लेकिन शानदार ढंग से, जवान हो रही थी। उधर एक दूसरी ताक़त चुपके से पैदा हो रही थी, जो यूनान को जीतकर खुद उसकी जगह क़ायम-मुक़ाम हो जानेवाली थी। कहा जाता है कि इसी ज़माने में रोम की बुनियाद पडी।) कईसौ बरसों तक इसने दुनिया के रंगमंच पर कोई महत्व का काम करके नहीं दिखाया। लेकिन ऐसे महान् शहर की स्थापना अवश्य ही उल्लेखनीय है, जो सदियों तक यूरोपीय संसार

पर हावी रहा हो और जिसे 'संसार की स्वामिनी' और 'अमरपुरी' को पदवी मिली हो। रोम की स्थापना के बारे में अजीब-अजीब क़िस्से कहे जाते हैं। कहते हैं कि 'रेमस' और 'रोमुलस'[१] को, जिन्होंने इस शहर को बुनियाद डाली थी, एक मादा भेड़िया उठा ले गई थी। उसीने उन्हें पाला था। शायद तुम्हें यह क़िस्सा मालूम है।

(जिस ज़माने में रोम की बुनियाद पड़ी, उसी ज़माने में या कुछ अरसे पहले पुरानी दुनिया का एक दूसरा बड़ा शहर भी बसाया गया। इसका नाम कारथेज था और यह अफ्रीका के उत्तरी समुद्र-तट पर बसा था। फ्यूनीशियन लोगों ने इसे बसाया था। यह शहर बढ़ते-बढ़ते जहाज़ी ताक़तवाला एक बहुत ताक़तवर शहर बन गया। रोम के साथ इसकी गहरी लाग-डाँट चली और बहुतसी लड़ाइयाँ हुई। अन्त में रोम ने विजय पाई और कारथेज को बिलकुल मिटा दिया।)

आज की कहानी ख़त्म करने के पहले पैलस्टाइन या फिलस्तीन के ऊपर अगर सरसरी नज़र डाल लें तो अच्छा होगा। फिलस्तीन योरप में नहीं है और न इसका कोई ऐतिहासिक महत्व ही इतना ज्यादा है। लेकिन बहुतसे लोग इसके प्राचीन इतिहास में दिलचस्पी रखते हैं, क्योंकि इसका जिक्र बाइबिल के पुराने अहदनामों में पाया जाता है। इस कहानी का सम्बन्ध यहूदियों को कुछ जातियों से है, जो इस छोटेसे देश में रहती थीं, और इसमें बताया गया है कि यहूदियों को अपने दोनों तरफ़ बसे हुए शक्तिशाली पड़ौसियों, बेबीलोनिया, असीरिया और मिस्रवालों से क्या-क्या मुसीबतें झेलनी पड़ीं। अगर यह कहानी यहूदी और ईसाई लोगों के मज़हब का हिस्सा न बन गई होती, तो शायद ही किसीको इसका पता चलता।

१. **रोमुलस**—रोम का संस्थापक और पहला सम्राट् था। रोमुलस और रेमस दो जुड़वां भाई थे। इन दोनों को उनके नाना एम्यूलियस ने एक डोंगी में रखकर टाइबर नदी में बहा दिया। डोंगी उस दलदल में जाकर रुक गई, जहाँ कि बाद को रोम आबाद हुआ। कहा जाता है कि यहाँसे एक मादा भेड़िया इनको उठाकर ले गई और इन्हें अपना दूध पिलाया और बाद को फोस्च्यूलस नामक गडरिये की स्त्री ने परवरिश की। बड़े होकर ये पेलेस्टाइन के युद्धप्रिय गड़रियों के एक गिरोह के सरदार बन गये। कुछ समय बीतने पर इनके बाबा ने इन्हें पहचान लिया, जिसने अन्यायी एम्यूलियस को क़त्ल कर अल्बस के तख़्त पर इनको वापस बैठा दिया था। इन्होंने अब इस भूमिपर, जहाँकि इनका पालन-पोषण हुआ था, एक शहर बनाने का इरादा किया लेकिन कौन पहले शुरू करे इसपर झगड़ा हो गया, जिसमें रेमस मारा गया। रोमुलस ने रोम आबाद किया और अपनी शक्ति बढ़ाकर और अपने शत्रुओं को हरा कर एक छत्र राज्य करने लगा। बाद में वह एकाएक एक तूफ़ान में गायब हो गया और अन्त में एक देवता की तरह से पूजा जाने लगा।

जिस समय नोसास नष्ट किया जा रहा था, पेलस्टाइन के इसराइल प्रदेश पर साल[1] या सालूस नाम के बादशाह का राज्य था। इसके बाद दाऊद[2] और फिर सुलेमान[3] हुआ जो अपनी बुद्धिमत्ता और अक़्लमन्दी के लिए बहुत मशहूर है। मैं इन तीन नामों का इसलिए ज़िक्र कर रहा हूँ कि तुमने इनके बारे में जरूर पढ़ा या सुना होगा।

: ७ :

यूनान के नगर-राज्य

११ जनवरी, १९३१

मैंने अपने पिछले पत्र में यूनानियों या हेलेन्स का कुछ हाल लिखा था। आओ, हम फिर इनपर एक नज़र डालें और इस बात के समझने की कोशिश करें कि ये लोग किस तरह के थे। जिन लोगों को या जिन चीज़ों को हमने कभी नहीं देखा उनके बारे में सही और सच्चा ख़याल बनाना बहुत मुश्किल होता है। हम लोग अपनी आजकल की हालत के, रहन-सहन और रंग-ढंग के, इतने आदी हो गये हैं कि एक बिलकुल दूसरी क़िस्म की दुनिया की कल्पना भी हमारे लिए मुश्किल है। लेकिन पुरानी दुनिया, चाहे वह हिन्दुस्तान की हो, चीन की हो, या मिस्र की, आजकल की दुनिया से बिलकुल निराली थी। ज्यादा-से-ज्यादा हम जो कुछ-कर

१. **साल**—यहूदियों के देश इसराइल का पहला बादशाह था। इसका समय ईसा से क़रीब १०१० साल पहले है। इसने फिलस्तीन जाति को हराया और अमालेकाइट जाति का दमन किया। लेकिन अन्त में फिर फिलस्तीनों से हार गया और इसलिए आत्मग्लानि से अपनी ही तलवार पर गिरकर आत्म-हत्या करली।

२. **दाऊद**—इसे डेविड भी कहते हैं। यह इसराइल का दूसरा बादशाह था। इसका समय ईसा से १०३० से लगाकर ९९० साल पहले तक है। जब बादशाह साल ने ख़ुदकशी करली और फ़िलस्तीनों ने राजकुमार को मार डाला, तब यह राजा बनाया गया। कहा जाता है कि बाइबिल के पुराना अहदनामे का बहुत-सा हिस्सा इसीका लिखा है।

३. **सुलेमान**—इसे सालोमन भी कहते हैं। इसराइल का यह तीसरा बादशाह था। इसके पास बहुत धन था इसलिए पुराने इतिहास में इसका राज्य शान-शौक़त के लिए मशहूर है। इसके गीत और कवितायें भी प्रसिद्ध हैं और कहा जाता है कि यह बड़ा बुद्धिमान और इन्साफ़-पसन्द बादशाह था।

सकते हैं वह यही कि उनकी किताबों, इमारतों और बचे हुए निशानों की मदद से अन्दाज़ा लगायें कि उस ज़माने के लोग किस तरह के थे।

यूनान के बारे में एक बात बडी दिलचस्प है। वह यह कि जैसा ऊपरी तौर से देखने से मालूम होता है, यूनानी लोग बडी-बडी सल्तनतें या बडे-बडे साम्राज्य पसन्द नहीं करते थे। उन्हें छोटे-छोटे नगर-राज्य पसन्द थे। इसका मतलब यह हुआ कि उनका हरेक शहर एक स्वतंत्र राज्य हुआ करता था। ये राज्य छोटे-छोटे प्रजातन्त्र होते थे। बीच में शहर होता था और चारों तरफ़ खेत होते थे, जिनसे शहर के लोगों के लिए खाने की सामग्री पहुँचा करती थी। प्रजातंत्र में, तुम जानती ही हो, कोई राजा नहीं होता। यूनान के ये नगर-राज्य बिना राजा के थे, और धनी नागरिक इनपर राज्य करते थे। साधारण आदमी को राज्य के मामलों में बोलने का कोई हक़ नहीं था। बहुत से गुलाम थे, जिन्हें राजकाज में कोई अधिकार नहीं होता था, और औरतों को भी इस प्रकार का कोई हक़ नहीं था। इस तरह आबादी के सिर्फ़ एक हिस्से को इन शहरी राज्यों में नागरिकता का हक़ मिला हुआ था। और यही हिस्सा सार्वजनिक मामलों पर राय दे सकता था। इन नागरिकों के लिए वोट देना कोई मुश्किल काम नहीं था, क्योंकि सब-के-सब एक ही जगह पेर इकट्ठे किये जा सकते थे। यह बात सिर्फ़ इसलिए मुमकिन थी, क्योंकि ये राज्य छोटेसे शहर में ही परिमित होते थे; किसी एक राज्य की मातहती में किसी बडे भारी प्रदेश का इन्तजाम नहीं करना पड़ता था। हिन्दुस्तानभर के, या बंगाल या युक्तप्रान्त जैसे सिर्फ़ एक प्रान्त के ही वोटरों के एकसाथ एक जगह इकट्ठा होने की ज़रा कल्पना तो करो! ऐसा हो सकना बिलकुल ही नामुमकिन है। बाद को दूसरे देशों को भी इस कठिनाई का सामना करना पड़ा। तब इसको हल करने के लिए प्रतिनिधि सरकार बनाई गई। इसका मतलब यह हुआ कि किसी मामले का फैसला करने के लिए देशभर के सारे वोटरों को इकट्ठा करने के बजाय लोग अपने प्रतिनिधि या नुमाइन्दे चुन देते हैं, जो इकट्ठे होकर देश से सम्बन्ध रखनेवाले सार्वजनिक मामलों पर विचार करते हैं और देश के लिए क़ानून बनाते हैं। यह समझा जाता है कि साधारण वोटर इस तरह से अपने देश की हुकूमत चलाने में अप्रत्यक्ष रूप से सहायता देता है।

लेकिन यूनान में इस क़िस्म की कोई बात नहीं हुई। यूनान ने कभी नगर-राज्य से बडी कोई राजनैतिक संस्था बनाई ही नहीं। और इस तरह वह इस मुश्किल सवाल को टाल गया। हालाँकि यूनानी लोग, जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ, यूनानभर में, और दक्षिण-इटली, सिसिली और भूमध्यसागर के दूसरे किनारों तक

फैल गये थे । लेकिन इन लोगों ने इन सबका अपनी अधीनता में एक साम्राज्य या सबके लिए एक शासन-तंत्र बनाने की कोशिश कभी नहीं की । जहाँ कहीं भी ये गये, वहीं इन्होंने अपना स्वतंत्र नगर-राज्य ही क़ायम किया ।

हिन्दुस्तान में भी, तुम देखोगी कि पुराने ज़माने में, यूनान के नगर-राज्यों की तरह छोटे-छोटे प्रजातंत्र और छोटे-छोटे राज्य हुआ करते थे । लेकिन वे बहुत दिनों तक क़ायम नहीं रहे और बडे राज्यों में समा गये । इसपर भी, बहुत समय तक, हमारी गाँवों की पंचायतों के हाथों में बहुत बडी ताक़त बनी रही । शायद पुराने आर्यों की पहली प्रेरणा यह होती थी, कि जहाँ-जहाँ जायँ वहीं छोटे-छोटे नगर-राज्य बनायें । लेकिन अपने से पुरानी सभ्यता के सम्पर्क ने और भौगोलिक परिस्थिति ने, इन्हें अपने इन विचारों को, उन देशों में, जहाँ जाकर ये बसे, धीरे-धीरे छोड़ने पर मजबूर कर दिया । ईरान में खासतौर से हम देखते हैं कि बडी-बडी सल्तनतें और साम्राज्य क़ायम हुए । हिन्दुस्तान में भी बडे-बडे राज्यों की ओर झुकाव रहा है । लेकिन यूनान में नगर-राज्य बहुत दिनों तक क़ायम रहे, और उस वक्त तक बने रहे, जब तक कि इतिहास में प्रसिद्ध एक यूनानी ने, जिसके बारे में हम जानते हैं, दुनिया को जीतने की पहली कोशिश नहीं की । इसका नाम था महान् सिकन्दर । इसके बारे में बाद को कुछ कहूँगा ।

इस तरह यूनानी लोगों ने अपने छोटे-छोटे नगर-राज्यों को मिलाकर एक बड़ा राज्य या प्रजातंत्र बनाना पसन्द नहीं किया । यही नहीं कि ये लोग एक-दूसरे से अलग या स्वतंत्र रहे हों, बल्कि ये लोग क़रीब-करीब हमेशा एक-दूसरे से लड़ते रहे । इन लोगों में आपस में बडी-बडी लाग-डाँट रहा करती थी, जिसका नतीजा अक्सर यह होता था कि इनमें लड़ाई छिड़ जाया करती थी ।

फिर भी इन नगर-राज्यों को आपस में बाँधे रखने के लिए बहुत-सी समान-कड़ियाँ थी । इनकी भाषा एक थी, संस्कृति एक थी और मज़हब एक था । इनके धर्म में अनेक देवी और देवता माने जाते थे और इनकी पौराणिक कथायें हिन्दुओं की पुरानी पौराणिक कथाओं की तरह बडी सुन्दर और प्रचुर थीं । ये लोग सौन्दर्य के पुजारी थे । आज भी इनकी बनाई हुई संगमरमर और पत्थर की कुछ पुरानी मूर्त्तियाँ पाई जाती हैं, जो बडी सुन्दर हैं । शरीर को स्वस्थ और सुन्दर बनाये रखने में इनकी बहुत रुचि थी और इसके लिए ये लोग खेल-कूद और दंगलों की व्यवस्था करते रहते थे । यूनान में औलम्पस पहाड़ पर समय-समय पर इस तरह के खेल बडे पैमाने पर हुआ करते थे और यूनान भर के लोग वहाँ जमा होते थे । तुमने सुना होगा कि औलम्पिक खेल आजकल भी होते

हैं। यह नाम औलम्पस पहाड़ पर होनेवाले पुराने यूनानी खेलों से लिया हुआ है, और अब उन खेलों के लिए इस्तैमाल किया जाता है जो मुख़्तलिफ़ मुल्कों के दर्मियान होते हैं।

इस तरह यूनान के नगर-राज्य एक-दूसरे से अलग रहे। खेलों में या किसी दूसरी जगह यूनानी एक-दूसरे से मिलते थे और अक्सर आपस में लड़ते थे। लेकिन जब बाहर से एक बड़ा ख़तरा आता दिखाई दिया तो उसका मुक़ाबिला करने के लिए वे सब एक हो गये। यह ख़तरा ईरानियों का हमला था, जिसके बारे में आगे चलकर लिखूंगा।

: ८ :

पश्चिमी एशिया के साम्राज्य

१३ जनवरी, १९३१

कल तुम सब लोगों से मुलाक़ात हो गई, यह अच्छा हुआ। लेकिन दादू को देखकर मुझे धक्का लगा। वह बहुत कमज़ोर और बीमार मालूम पड़ते थे। उनकी देखरेख अच्छी तरह करना और उन्हें मज़बूत और तन्दुरुस्त बना देना। कल तुमसे तो मैं बात ही न कर सका। थोड़ी देर की मुलाक़ात में कोई क्या कर सकता है? मुलाक़ात और बातचीत की इस कमी को मैं इन ख़तों को लिखकर पूरी करने की कोशिश करता हूँ। लेकिन ये ख़त मुलाक़ात और बातचीत की बराबरी नहीं कर सकते और दिल को इस तरह बहलाने से बहुत दिन तक काम नहीं चल सकता। फिर भी कभी-कभी दिल को फुसलाने का खेल भी अच्छा ही होता है।

अच्छा, तो अब पुराने ज़माने के लोगों की चर्चा शुरू की जाय। हाल में हम पुराने यूनानियों का ज़िक्र कर रहे थे। उस समय दूसरे मुल्कों की क्या हालत थी? हमें योरप के दूसरे देशों के लिए परेशान होने की ज़रूरत नहीं। हमें, कम-से-कम मुझको, इन देशों के बारे में कोई दिलचस्प बात नहीं मालूम। उस समय उत्तरी योरप की आबोहवा सम्भवतः बदल रही थी, जिसकी वजह से नई परिस्थिति ज़रूर पैदा होगई होगी। शायद तुम्हें याद हो, मैंने बताया था कि बहुत समय बीता, उत्तरी योरप और उत्तरी एशिया में बहुत सख़्त सरदी पड़ती थी। उस ज़माने को 'हिम-युग'[1] या बरफ का युग कहते थे, और उस ज़माने में बड़े-बड़े ग्लेशियर यानी

१. **हिम-युग**—हिम का मतलब बर्फ़ है, इसलिए इसे बर्फ़-युग भी कह सकते हैं। सृष्टि का यह सबसे पुराना युग है, और बर्फ़-युग इसलिए कहलाता है कि उस समय दुनिया के बहुतसे हिस्से बर्फ़ से ढके हुए थे। इस युग के चार काल हुए हैं, और चौथा काल ईसा से पचास हज़ार साल पहले का है।

बर्फ़ीली चट्टानें मध्य-योरप तक फैली हुई थीं। ग़ालिबन उस वक्त वहाँ आदमी नहीं रहते थे, और अगर थे भी तो वे आदमी की बनिस्बत जानवर ही अधिक रहे होंगे। तुम्हें अचरज होगा कि आख़िर हम यह कैसे कह सकते हैं कि उस ज़माने में वहाँ बरफ़ की चट्टानें हुआ करती थीं। किताबों में तो उनका कोई ज़िक्र हो नहीं सकता, क्योंकि उस ज़माने में न तो किताबें थीं और न किताबों के लिखने वाले। लेकिन मैं उम्मीद करता हूँ कि तुम यह न भूली होगी कि प्रकृति की भी अपनी एक किताब होती है। वह अपना इतिहास अपने तरीक़े से पत्थरों और टीलों में लिखा करती है। जो चाहे, इसे वहाँ पढ़ सकता है। इसे एक तरह की आत्म-कथा यानी अपनी कहानी कहना चाहिए। ग्लेशियरों में एक ख़ास बात यह होती है कि वे अपनी हस्ती के ख़ास निशान छोड़ जाते हैं। अगर एक दफ़ा तुम इन निशानों को पहचान लो, तो फिर इनके पहचानने में तुमसे कभी भी गलती नहीं हो सकती। अगर तुम इन निशानों का अध्ययन करना चाहती हो, तो सिर्फ़ इतना जरूरी है कि तुम आजकल के किसी ग्लेशियर को देख आओ, जो हिमालय में, आल्प्स पर और दूसरी जगहों पर भी पाये जाते हैं। आल्प्स पर तुमने "माऊन्ट ब्लैंक" के आसपास बहुत से ग्लेशियर देखे होंगे। लेकिन उस समय तुम्हें शायद किसीने इनके खास निशान नहीं पहचनवाये। कश्मीर में और हिमालय के दूसरे हिस्सों में भी अनेक अच्छे-अच्छे ग्लेशियर पाये जाते हैं। हम लोगों के लिए सबसे नजदीक पिंडारी ग्लेशियर है, जो अलमोडे से हफ्ते भर की मंजिल पर है। छुटपन में, जितनी उम्र तुम्हारी आज कल है इससे भी कम उम्र में, मैं इस ग्लेशियर को एक दफा देखने गया था और आज भी मुझे उसकी अच्छी तरह से याद बनी है।

इतिहास और भूतकाल को छोडकर मैं ग्लेशियर और पिन्डारी में बह गया। मन के लड्डू खाने का यही नतीजा होता है। मैं यह चाहता हूँ कि अगर होसके तो तुमसे इस ढंग से बात करूँ, मानो तुम यहीं हो। और जब मैं इस ढंग से बातचीत करूँगा तो कभी ग्लेशियर की, और कभी इसी क़िस्म की दूसरी चीज़ों की चर्चा बीच में आ ही जायगी।

मैंने ग्लेशियर के सम्बन्ध में इतनी चर्चा इसलिए करदी कि बीच में 'हिम-युग' अर्थात् 'बरफ़ीले युग' का जिक्र आगया था। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि मध्य योरप और इंग्लैण्ड तक ग्लेशियर आगये थे, क्योंकि इन देशों में अभी तक इनके ख़ास निशान पाये जाते हैं। पुराने टीलों में ये निशान हमें आज भी दिखाई देते हैं और इस बिना पर हम कहते हैं कि उस वक्त मध्य और ऊपरी योरप में

बहुत सरदी रही होगी। बाद को कुछ गरमी बढ़ी और ग्लेशियर धीरे-धीरे कम पड़ गये। धरातल के इतिहास का अध्ययन करनेवाले अर्थात् भूगर्भ-शास्त्री हमें बताते हैं कि सरदी की इस लहर के बाद गरमी की लहर आई और तब योरप आज से भी ज्यादा गरम हो गया था। इस गरमी की वजह से योरप में घने जंगल उग आये। आर्य लोग घूमते-घूमते मध्य योरप भी जा पहुँचे। उस वक्त उन्होंने कोई खास उल्लेखनीय काम नहीं किया। इसलिए हम थोड़ी देर के लिए उन्हें भुला सकते हैं। यूनान और भूमध्यसागर के सभ्य लोग उत्तर और मध्य योरप के इन लोगों को बर्बर यानी वहशी और जंगली ही समझते रहे। लेकिन ये बर्बर लोग अपने गाँवों में और जंगलों में स्वस्थ और योद्धाओं की जिन्दगी गुजारते थे, और अनजान में अपने को उस दिन के लिए तैयार कर रहे थे, जब इन्हें दक्षिण की अधिक सभ्य जातियों पर टूट पड़ना था और उनकी गवर्नमेन्ट को ढहा देना था। लेकिन यह बात इसके बहुत अरसे बाद हुई और हमें उसका ज़िक्र वक्त से पहले न करना चाहिए।

अगर हमें उत्तरी-योरप के बारे में ज्यादा नहीं मालूम है, तो विशाल महाद्वीपों और विस्तृत भू-भागों या ज़मीन के लम्बे-चौड़े प्रदेशों के बारे में तो हम बिलकुल ही नहीं जानते। कहते हैं कि कोलम्बस ने अमरीका का पता लगाया, लेकिन इसका यह मतलब नहीं, जैसा अब हमें पता लगता जा रहा है, कि कोलम्बस के पहले इस देश में सभ्य लोग थे ही नहीं। कुछ भी हो, जिस ज़माने की इस समय हम बात कर रहे हैं, उस समय के अमरीका के महाद्वीप के बारे में हम कुछ नहीं जानते, और न अफ्रीका के बारे में ही। हाँ, मिस्र का और भूमध्यसागर के किनारों का भी इसमें अपवाद करना होगा। इस ज़माने में शायद मिस्र की प्राचीन और महान् सभ्यता पतन की तरफ़ झुक रही थी। लेकिन, फिर भी यह उस ज़माने का बहुत आगे बढ़ा हुआ मुल्क था।

अब हमें यह देखना है कि एशिया में क्या हो रहा था। इस महाद्वीप में, जैसा कि तुम जानती होगी, प्राचीन सभ्यता के तीन केन्द्र थे, मेसोपोटामिया, हिन्दुस्तान और चीन।

मेसोपोटामिया, ईरान और एशिया माइनर[1] में, उन प्राचीन युगों में, भी एक

१. **एशिया माइनर**—एशिया महाद्वीप के अखीर पश्चिम पर तुर्क साम्राज्य का एक प्रायद्वीप, जिसके उत्तर में कालासागर, पश्चिम में ईजियन समुद्र और दक्षिण में भूमध्यसागर है। उत्तर-पश्चिम की अन्तिम सीमा पर बॉस्फरस और दर्रेदानियाल के मुहाने इसे योरप से जुदा करते हैं।

साम्राज्य के बाद दूसरा साम्राज्य बनता और बिगड़ता रहा। पहले असीरियन साम्राज्य हुआ, फिर मीडियन[१], फिर बैबीलोनियन और बाद को ईरानी। हमें इस बात की तफ़सील में जाने की जरूरत नहीं कि यह साम्राज्य आपस में कैसे लड़े या कुछ दिनों के लिये वह शान्तिपूर्वक साथ-साथ कैसे रहे, या एक दूसरे का इन्होंने नाश कैसे किया। पश्चिमी एशिया के साम्राज्यों और यूनान के नगर-राज्यों का अन्तर तुमने देखा होगा। इन लोगों में बहुत शुरू के जमाने से ही बड़ी-सल्तनत या साम्राज्य के लिए जबर्दस्त ख्वाहिश पाई जाती थी। शायद इसकी वजह यह थी कि इनकी सभ्यता ज्यादा पुरानी थी, या शायद दूसरी वजह भी हो सकती है।

एक नाम में तुम्हें जरूर दिलचस्पी होगी; वह क़ारूँ या क्रीसस का नाम है। तुमने यह नाम सुना होगा। अंग्रेज़ी में मशहूर कहावत है--'इतना अमीर होना जैसे कि क़ारूँ।' तुमने इस क़ारूँ के किस्से भी सुने होंगे कि यह कितना अभिमानी था और आखिरकार किस तरह ज़लील किया गया। क़ारूँ लिडिया देश का राजा था, जोकि एशिया के पश्चिमी तट पर था, जहाँ आज एशिया माइनर है। सम्भवतः समुद्र के किनारे होने की वजह से यहाँ व्यापार खूब बढ़ा हुआ था। कहते हैं, क़ारूँ बहुत अमीर था। उसके ज़माने में साइरस[२] की मातहती में ईरानी साम्राज्य तरक्क़ी कर रहा था और ताक़तवर होता जाता था। साइरस और क़ारूँ में मुठभेड़ होगई और साइरस ने क़ारूँ को हरा दिया। यूनानी इतिहास-लेखक हेरोडोटस[३] ने इस पराजय की कहानी लिखी है और बताया है कि किस तरह मुसीबत पड़ने और हार होने पर अभिमानी क़ारूँ को अक्ल और समझ आई।

साइरस के पास बहुत बड़ा साम्राज्य था जो ग़ालिबन पूर्व में हिन्दुस्तान तक

१. **मीडियन**—ईसा के ७०० वरस पहले का एशिया का एक पुराना साम्राज्य जो कैस्पियन सागर के दक्षिण और ईरान के उत्तर था। ई० पू० ३३१ में सिकन्दर ने इसे अपने साम्राज्य में मिला लिया। बाद में यूनानी लोगों के पतन के अनन्तर ईरानी साम्राज्य में मिला लिया गया और उसके बाद छिन्न-भिन्न हो गया।

२. **साइरस**—यह ईरानी साम्राज्य का प्रवर्त्तक सम्राट था। इसका समय ईसा से ६०० से लगाकर करीब ५२९ साल पहले तक है। यह बड़ा प्रतापी सम्राट था, इसीलिए इसे 'महान्' की उपाधि मिली थी।

३. **हेरोडोटस**—मशहूर यूनानी इतिहास-लेखक। इसका समय ईसा से क़रीब ४८४ से ४२४ साल पहले था। इसके इतिहास का मुख्य विषय ईरान और यूनान की लड़ाई थी, और उसमें उस ज़माने का अच्छा वर्णन है। इसे इतिहास का जन्मदाता अथवा पिता कहा जाता है।

फैला हुआ था । लेकिन इससे भी बड़ा साम्राज्य उसके एक उत्तराधिकारी डेरियस (दारा) के पास था जिसमें मिस्र, मध्य-एशिया का कुछ भाग और सिन्ध नदी के पास का हिन्दुस्तान का भी छोटा-सा हिस्सा शामिल था । कहा जाता है कि इस हिन्दुस्तानी प्रान्त से बहुत भारी तादाद में सोने के रवे उसके पास ख़िराज़ की तौर पर भेजे जाते थे । उस ज़माने में सिन्ध नदी के आसपास सोने के रवे मिलते रहे होंगे । अब तो वहाँ यह चीज़ ज़रा भी नहीं पाई जाती । सच तो यह है कि यह प्रान्त इस वक़्त ज्यादातर उजड़ा हुआ है । इससे ज़ाहिर होता है कि इसकी आबो-हवा में ज़रूर फ़र्क़ आया है ।

जब तुम इतिहास पढ़ोगी और पुराने ज़माने की हालत का आजकल की हालत से मुक़ाबिला करोगी, तो एक बात जो तुम्हें सबसे ज्यादा दिलचस्प मालूम होगी वह है मध्य-एशिया में होनेवाले परिवर्त्तन । यह वही प्रदेश है जहाँसे बेशुमार जातियाँ—स्त्री और पुरुषों के झुंड-के-झुंड बाहर निकले और दूर-दूर महाद्वीपों में जाकर बस गये । यही जगह है जहाँ पुराने ज़माने में बडे-बडे शक्तिशाली शहर थे--खूब आबाद, घने बसे हुए और मालामाल, जिनकी तुलना आजकल की यूरोपीय राजधानियों से की जा सकती है और जो आजकल के कलकत्ते और बम्बई से कहीं बडे थे । इन शहरों में हर जगह हरियाली थी, बग़ीचे थे, और आबोहवा सदा आनन्दजनक और सम अर्थात् न बहुत गर्म न बहुत सर्द होती थी । ये सब बातें यहाँ थीं । लेकिन अब हज़ारों बरसों से वही मुल्क वीरान, रेगिस्तान की तरह बिलकुल उजाड़ और सुनसान होगया है । उस ज़माने के विशाल नगरों में से कुछ नगर--जैसे समरक़न्द[१] और बुख़ारा--अब भी अपने दिन गिन रहे हैं, जिनके नाम लेने से ही हज़ारों स्मृतियाँ जग उठती हैं । लेकिन अब तो ये शहर अपने पुराने रूप की छाया-मात्र रह गये है ।

लेकिन मैं फिर आगे की बात कहने लगा । उस पुराने ज़माने में, जिसकी चरचा हम कर रहे हैं, न समरक़न्द था और न बुख़ारा । ये सब बाद में होनेवाली बातें थीं । भविष्य ने अपने परदे के पीछे इन्हें छिपा रक्खा था और मध्य-एशिया की महानता और उसका पतन भी भविष्य में होनेवाली चीज़ थी ।

१. **समरकन्द**—मध्यएशिया का एक मशहूर शहर है । इसका पुराना नाम माराकण्डा है । चौदहवीं सदी में यह मुस्लिम-एशिया का सांस्कृतिक केन्द्र था ।

: ६ :

पुरानी परम्परा का बोझ

१४ जनवरी, १९३१

जेल में मैंने अजीब-अजीब आदतें पैदा करली हैं। उनमें से एक है बहुत सुबह, पौ फटने से भी पहले, उठना। यह आदत मैंने पिछली गरमियों से शुरू की। मुझे यह देखना भला मालूम होता था कि सवेरा कैसे होता है और सितारे कैसे धीरे-धीरे ग़ायब हो जाते हैं। क्या तुमने कभी तड़के के पहले की चाँदनी देखी है और यह देखा है कि धीरे-धीरे यह तड़का दिन में कैसे बदल जाता है। मैंने चाँदनी और सुबह के इस संग्राम को अक्सर देखा है, जिसमें सुबह की हमेशा जीत रहती है। इस विचित्र मन्द-रोशनी में कभी-कभी यह बताना मुश्किल होजाता है कि यह चाँदनी है या आनेवाले दिन की रोशनी है। थोडी ही देर के बाद कोई सन्देह बाक़ी नहीं रह जाता; दिन हो जाता है और पीला चन्द्रमा लड़ाई में हारकर पीछे हट जाता है।

अपनी आदत के मुताबिक़ मैं आज जब उठा तो तारे चमक रहे थे और उस अजीब कैफ़ियत को देखकर जो, तड़के के पहले हवा में रहती है, कोई भी अन्दाज़ा लगा सकता था कि सुबह होनेवाली है। और ज्योंही मै पढ़ने बैठा कि दूर से आनेवाली आवाज़ों ने, जो बढ़ती ही जाती थीं, प्रातःकाल की शान्ति को भंग कर दिया। मुझे याद आगया कि आज संक्रान्ति यानी माघ मेले का पहला दिन है, और यात्री लोग हज़ारों की तादाद में संगम में--जहाँ गंगा जमना और अदृश्य सरस्वती मिलती हैं--अपनी सुबह की डुबकी लगाने जा रहे हैं। ये चलते-चलते कभी गाते थे, और कभी गंगा-माता की जय पुकारते थे। 'गंगा माई की जय!' इनकी यह आवाज़ नैनी-जेल की दीवारों के ऊपर होकर मेरे पास तक पहुँचती थी। इनकी इस जय-ध्वनि को सुनते-सुनते मुझे यह खयाल आगया कि देखो श्रद्धा और भक्ति में कितनी ताक़त है, जिसने इन बेशुमार लोगों को नदी के किनारे खींच बुलाया है और जिसकी वजह से ये लोग थोडी देर के लिए अपनी ग़रीबी और मुसीबतों को भूल गये हैं! और मैं यह सोचने लगा कि देखो कितने सौ और हज़ार बरसों से हरसाल यात्री लोग त्रिवेणी के किनारे आते हैं। आदमी पैदा हों और मर जायँ, गवर्नमेण्ट और साम्राज्य कुछ दिनों के लिए शान जमालें और फिर अतीत में गायब हो जायँ, लेकिन पुरानी परम्परा बराबर जारी रहती है और एक पुश्त

के बाद दूसरी पुश्त, उसके सामने सिर झुकाती रहती है। परम्परा में बहुत भलाई छिपी होती है; लेकिन बाज़ वक़्त वही परम्परा भयंकर बोझ बन जाती है, जिसकी वजह से हम लोगों का हिलना-डुलना मुश्किल हो जाता है। जो क्रमबद्ध शृंखला धुंधले और अति प्राचीन भविष्य से हमारा सम्बन्ध जोड़ती है, उसका विचार करना और तेरहसौ बरस पहले के लिखे हुए इन मेलों के, जो उस समय भी पुराने ज़माने से चले आ रहे थे, वृत्तान्त पढ़ना बड़ा रोचक मालूम होता है। लेकिन इन शृंखलाओं में एक बात यह भी है कि जब हम आगे बढ़ना चाहते हैं तो ये हमारे पैरों में लिपट जाती हैं और हमें परम्परा के शिकंजे में कसकर बिलकुल क़ैदी बना देती हैं। यह सच है कि हमें अपने अतीत की बहुतसी लड़ियों को क़ायम रखना पड़ेगा। लेकिन जब ये परम्परायें हमें आगे बढ़ने से रोकने लगें तो हमें उनके क़ैदखाने को तोड़कर बाहर भी निकलना होगा।

पिछले तीन ख़तों में हम इस कोशिश में थे कि तीन हज़ार और ढाई हज़ार बरस के बीच की दुनिया किस तरह की थी, इसकी एक तस्वीर हमारे सामने खिंच जाय। मैंने तारीख़ों का ज़िक्र नहीं किया है। मुझे यह पसन्द नहीं है और न मैं यह चाहता हूँ कि तुम तारीख़ों के लिए परेशान हो। अलावा इसके इस पुराने ज़माने की घटनाओं की सही तारीख़ जानना आसान भी नहीं है। बाद को कभी-कभी यह ज़रूरी हो सकता है कि कुछ तारीख़ें भी देदी जायँ और उन्हें याद रक्खा जाय, ताकि हमें घटनाओं को सिलसिलेवार याद रखने में मदद मिल सके। अभी तो हम प्राचीन संसार की रूप-रेखा ही खींचने की कोशिश कर रहे हैं।

यूनान, भूमध्यसागर, मिस्र, एशिया माइनर और ईरान की एक झलक हम देख चुके हैं। अब हम अपने देश की तरफ आते हैं। हिन्दुस्तान का प्रारम्भिक इतिहास पढ़ने में हमारे सामने एक बड़ी कठिनाई आजाती है। आदि-आर्य लोगों ने, जिन्हें अंग्रेज़ी में इण्डो-एरियन कहते हैं, इतिहास लिखने की तरफ ध्यान ही नहीं दिया। हम अपने पहले ख़तों में देख चुके हैं कि ये लोग बहुत-सी बातों में कितने बढ़े-चढ़े थे। इन लोगों ने जो ग्रन्थ बनाये—जैसे वेद, उपनिषद्, रामायण और महाभारत——वे ऐसे हैं जिन्हें महान पुरुषों के सिवा साधा-रण आदमी लिख ही नहीं सकते। इन ग्रन्थों से तथा दूसरी सामग्रियों की मदद से हमें पुराने इतिहास का अध्ययन करने में मदद मिल सकती है। इनसे हमें अपने पूर्वजों के आचार-विचार, रस्म-रिवाज, रहन-सहन और विचार करने की शैली का पता लग जाता है। लेकिन ये ग्रन्थ दरअसल इति-

हास नहीं है। संस्कृत में वास्तविक इतिहास की किताब कश्मीर के इतिहास पर है, लेकिन वह बहुत बाद के जमाने की है। उसका नाम है राजतरंगिणी। उसमें कश्मीर के राजाओं का हाल है और कल्हण ने उसे लिखा था। तुम्हें यह जानकर ख़ुशी होगी कि जिस प्रकार मैं तुम्हारे लिए ये पत्र लिख रहा हूँ, तुम्हारे रंजीत फूफा[१] कश्मीर के इस बडे इतिहास का संस्कृत से अंग्रेजी में अनुवाद कर रहे हैं। क़रीब आधी किताब ख़तम कर चुके हैं। यह किताब बहुत बडी है। जब पूरा अनुवाद तैयार हो जायगा और यह किताब छप जायगी तब हम सब बहुत चाव के साथ इसे पढ़ेंगे, क्योंकि बदक़िस्मती से हममें से बहुतसे लोग इतनी संस्कृत नहीं जानते कि राजतरंगिणी को मूल में पढ़ सकें। हम इस पुस्तक को सिर्फ़ इसलिए नहीं पढ़ेंगे कि यह बहुत अच्छी किताब है, बल्कि इसलिए भी कि इससे हमें पुराने जमाने का बहुत-कुछ हाल मालूम होगा—ख़ासकर कश्मीर का, जो जैसा तुम्हें मालूम है, हम लोगों का पुराना वतन है।

जब आर्य लोग हिन्दुस्तान में आये, हिन्दुस्तान सभ्य हो चुका था। उत्तर-पश्चिम में मोहेनजोदारो के भग्नावशेषों को देखकर अब तो यह निश्चय-पूर्वक मालूम पड़ता है कि आर्यों के आने के बहुत दिन पहले से इस देश में एक महान् सभ्यता मौजूद थी। लेकिन उसकी बात अभीतक हमें बहुत ज्यादा मालूम नहीं हो सकी है। सम्भवतः कुछ बरसों के अन्दर ही जब हमारे पुरातत्ववेत्ता वहाँ और जो कुछ मिल सकता है उसे खोद निकालेंगे, तब, हमें उसका कुछ अधिक ज्ञान हो जायगा।

लेकिन इसके अलावा भी यह स्पष्ट है कि उस समय दक्षिण-हिन्दुस्तान में, और शायद उत्तरी हिन्दुस्तान में भी, द्रविडों की सभ्यता ख़ूब उन्नत थी। इनकी भाषायें, जो आर्यों की संस्कृत से पैदा नहीं हुई है, बहुत पुरानी हैं और इनमें बड़ा सुन्दर साहित्य पाया जाता है। इन भाषाओं के नाम हैं तमिल, तेलगू, कन्नड़ और मलयालम। ये भाषायें अभीतक दक्षिण-भारत में अंग्रेज़ सरकार के बनाये हुए मद्रास और बम्बई के प्रान्तों में बोली जाती है। शायद तुम्हें मालूम होगा कि हमारी राष्ट्रीय महासभा (काँग्रेस) ने ज्यादा अकलमन्दी की है और हिन्दुस्तान के प्रान्त भाषाओं के आधार पर बनाये हैं। यही ढंग ठीक है; क्योंकि इससे एक किस्म के लोग जो एक ही भाषा बोलते हैं, और जिनके रस्म-रिवाज आम तौर से एक ही प्रकार के हैं, एक प्रान्तीय क्षेत्र में आजाते हैं। दक्षिण में काँग्रेस के बनाये हुए सूबे ये हैं—उत्तरी मद्रास में आन्ध्र देश जहाँ तेलगू बोली जाती है; दक्षिणी-मद्रास में तमिलनाड़ जहाँ तमिल

१. श्री रणजीत एस. पण्डित

भाषा बोली जाती है; बम्बई के दक्षिण में कर्नाटक, जहाँ कन्नड़ भाषा बोली जाती है; और केरल, जो क़रीब-क़रीब मलाबार है, जहाँ मलयालम भाषा बोली जाती है। इसमें कोई शक नहीं कि हिन्दुस्तान में आगे चलकर प्रान्तों की जो सीमा क़ायम की जायगी, उसमें प्रदेश की भाषा पर बहुत ध्यान दिया जायगा।

यहाँपर मैं हिन्दुस्तान की भाषाओं के बारे में ज़रा कुछ और कहदूं। योरप के और दूसरे स्थानों के कुछ लोग समझते हैं कि हिन्दुस्तान में सैकडों भाषायें बोली जाती हैं। यह बिलकुल ग़लत ख़याल है। जो लोग ऐसा कहते हैं वे महज़ अपना अज्ञान ज़ाहिर करते हैं। यह सच है कि हिन्दुस्तान जैसे बडे मुल्क में बहुतसी बोलियों अर्थात् एक ही भाषा में बहुतसे स्थानिक और मुल्की भेदों का होना ज़रूरी है। यहाँके पहाडी और दूसरे हिस्सों में भी कई छोटी-मोटी जातियाँ हैं जिनकी अपनी-अपनी ख़ास ज़बानें हैं। लेकन जब तुम सारे हिन्दुस्तान की बात कर रही हो तो इन सब बातों का महत्व नहीं रह जाता। मर्दुमशुमारी के ख़याल से ही यह बात महत्वपूर्ण हो सकती है। जैसा कि मेरा ख़याल है, मैंने अपने पहले पत्रों में लिखा है कि हिन्दुस्तान की असली भाषायें दो श्रेणियों में बाँटी जा सकती हैं—एक द्रविड जिसका ऊपर ज़िक्र आ चुका है, और दूसरी आर्य यानी भारतीय आर्य-जाति की ख़ास भाषा संस्कृत। हिन्दुस्तान में जितनी आर्य भाषायें पाई जाती हैं—जैसे हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी आदि—वे सब संस्कृत से निकली हैं। कछ और भी भेद हैं। आसाम में आसामी है, उडीसा या उत्कल में उड़िया बोली जाती है। उर्दू हिन्दी का रूपान्तर है। हिन्दुस्तानी शब्द का मतलब हिन्दी और उर्दू दोनों से है। इस तरह हिन्दुस्तान की ख़ास-ख़ास भाषायें दस हैं—हिन्दुस्तानी, बंगला, गुजराती, मराठी, तमिल तेलगू, कन्नड़, मलयालम, उड़िया और आसामी। इनमें से हिन्दुस्तानी जो हमारी मातृ-भाषा है, सारे उत्तर-भारत में—पंजाब, युक्तप्रान्त, बिहार, मध्यप्रान्त, राजपूताना, दिल्ली और मध्यभारत में—बोली जाती है। यह बहुत बड़ा हिस्सा है, जिसमें १३ करोड़ आदमी बसते हैं। इस प्रकार तुम देखोगी कि अभी भी १३ करोड़ आदमी कुछ छोटे-मोटे परिवर्त्तन के साथ हिन्दुस्तानी बोलते हैं। और तुम यह जानती ही हो कि हिन्दुस्तान के ज्यादातर हिस्सों के लोग हिन्दुस्तानी समझते हैं। इसीके हिन्दुस्तान की राष्ट्र-भाषा होने की सम्भावना है। लेकिन इसका यह मतलब हर्गिज़ नहीं है कि दूसरी ख़ास-खास भाषाओं को, जिनका मैंने ऊपर ज़िक्र किया है, ग़ायब होजाना चाहिए। निस्सन्देह ये भाषायें प्रान्तीय भाषा की हैसियत से क़ायम रहेंगी। क्योंकि इनमें सुन्दर साहित्य पाया जाता है और किसी जाति से उसकी तरक़्क़ी पर पहुँची हुई भाषा को छीन लेने की कोशिश किसी भी हालत में नहीं की जानी चाहिए। किसी

क़ौम के विकास और उसके बच्चों की शिक्षा का एकमात्र साधन उसकी अपनी भाषा ही है। हिन्दुस्तान में आज हरेक चीज़ गड़बडी की हालत में है और हम आपस में भी अंग्रेज़ी का ही बहुत ज्यादा इस्तैमाल करते हैं। मेरा तुम्हें अंग्रेज़ी में ख़त लिखना भी एक हँसी की बात है--फिर भी मैं वही कर रहा हूँ। लेकिन मुझे उम्मीद है कि हम लोग जल्दी ही इस आदत से छुटकारा पाजायँगे।

: १० :

प्राचीन भारत के ग्राम-प्रजातंत्र

१५ जनवरी, १९३१

प्राचीन इतिहास का अपना निरीक्षण हम कैसे आगे बढ़ावें? मैं हमेशा राजमार्ग छोड़ देता हूँ और इधर-उधर की पगडंडियों पर भटक जाता हूँ। पिछले खत में मैं अपने विषय तक पहुँच ही रहा था कि मैंने हिन्दुस्तान की भाषाओं का मसला छेड़ दिया।

अच्छा, प्राचीन भारत पर अब हम फिर आजायँ। तुम जानती हो कि जो देश आज अफ़गानिस्तान कहलाता है वह उस समय, और बाद में भी, बहुत दिनों तक हिन्दुस्तान का एक हिस्सा था। हिन्दुस्तान का यह उत्तर-पश्चिमी हिस्सा गान्धार कहलाता था। सारे उत्तर में, सिन्ध और गंगा के मैदानों में, आर्यों की बडी-बडी बस्तियाँ थीं। बाहर से आये हुए ये आर्य लोग गृह-निर्माण-कला--इमारत बनाने के हुनर--को सम्भवतः अच्छी तरह जानते थे। क्योंकि इनमें से बहुतसे इरान और ईराक़ की आर्यों की बस्तियों से आये हुए होंगे, जहाँ उस समय भी बडे-बडे शहर बस गये थे। इन आर्य-बस्तियों के दर्मियान बहुतसे जंगल थे। ख़ासकर उत्तरी और दक्षिणी भारत के बीच में तो एक बहुत बड़ा जंगल था। यह सम्भव नहीं मालूम होता कि आर्य लोगों की कोई बडी तादाद इन जंगलों को पार करके दक्षिण में बसने गई हो। हाँ, बहुतसे लोग खोज और व्यापार करने तथा आर्य-सभ्यता और संस्कृति को फैलाने के लिए दक्षिण जरूर गये होंगे। पौराणिक कथा यह है कि अगस्त्य ऋषि पहले आर्य थे जो दक्षिण गये और आर्य-धर्म तथा आर्य-संस्कृति का सन्देश दक्षिण तक ले गये।

उस समय हिन्दुस्तान और विदेशों के बीच काफ़ी व्यापार पाया जाता था। विदेशी व्यापारी दक्षिण की मिर्च, मोतियों और सोने के लालच से समुद्र पार करके यहाँ आते थे। चावल भी बाहर जाता था। बेबीलोनिया के पुराने राजमहलों में मलाबार की सागवान की लकडी पाई गई है।

आर्यों ने हिन्दुस्तान में धीरे-धीरे अपनी ग्रामीण प्रणाली की उन्नति की। इस

प्रणाली में कुछ पुरानी द्रविड़-ग्राम-प्रथा का और कुछ आर्य विचारों का मेल-जोल पाया जाता था।

ये गाँव क़रीब-क़रीब आजाद होते थे और चुनी हुई पंचायत इनपर शासन करती थी। कई गाँवों या छोटे क़स्बों को मिलाकर उनपर एक राजा या सरदार राज करता था, जो कभी तो चुना हुआ होता था और कभी पुश्तैनी। अक्सर गाँवों के अनेक गिरोह एक-दूसरे से सहयोग करके सडकें, धर्मशालायें, सिंचाई के लिए नहरें या इस प्रकार की पंचायती चीजें, जिनसे सार्वजनिक फ़ायदा हो सकता था, बनाया करते थे। यह भी मालूम होता है कि राजा यद्यपि राज्य का प्रमुख होता था लेकिन वह मनमानी नहीं कर सकता था। उसे आर्यों के क़ानून और प्रथा यानी रस्म-रिवाज के मुताबिक़ चलना पडता था। उसकी रिआया उसपर जुरमाना कर सकती थी और उसे गद्दी तक से उतार सकती थी। 'राजा ही राष्ट्र है' यह सिद्धान्त, जिसका मैंने पहले पत्रों में जिक्र किया है, यहाँ नहीं माना जाता था। इस तरह आर्य बस्तियों में एक क़िस्म का लोकतंत्र पाया जाता था, यानी आर्य-प्रजा शासन पर कुछ हद तक नियन्त्रण रखती थी।

इन भारतीय आर्यों का यूनानी आर्यों से जरा मुक़ाबिला करो। इन दोनों में बहुतसे अन्तर मिलेंगे। लेकिन कितनी ही बातों में समानता भी बहुत पाई जाती है। दोनों देशों में किसी-न-किसी रूप में लोकतंत्र पाया जाता है। लेकिन हमें यह न भूलना चाहिए कि यह लोकतंत्र सिर्फ़ आर्य-वंश के लोगों के ही हाथों में था। इनके दासों या उन लोगों के लिए जिन्हें इन्होंने नीच जाति का ठहरा दिया था न लोकतंत्र था, न आजादी। जाति-पाँति की प्रणाली और उसके आजकल जैसे बेशुमार भेद उस जमाने में नहीं थे। उस समय तो भारतीय आर्यों में समाज के चार भेद या वर्ण माने जाते थे। ब्राह्मण, जो विद्वान्, पढ़े-लिखे, पुरोहित और ऋषि-मुनि होते थे; क्षत्रिय जो राज्य करते थे; वैश्य, जो व्यापार करते थे; और शूद्र, जो मेहनत-मजदूरी करते थे और श्रमजीवी थे। इस तरह यह जाति-भेद पेशे के आधार पर था। सम्भव है, जाति-पाँति की प्रणाली एक हद तक इसलिए रक्खी गई हो कि आर्य लोग हारी हुई क़ौम से अपनेको अलग रखना चाहते हों। आर्य लोग काफ़ी अभिमानी और घमण्डी थे और दूसरों को वे नीची निगाह से देखते थे। वे नहीं चाहते थे कि उनकी जाति के आदमी दूसरी जाति से मिल-जुल जायँ। जाति के लिए संस्कृत में वर्ण शब्द आता है, जिसका अर्थ रंग है। इससे यह भी जाहिर होता है कि बाहर से आनेवाले आर्यों का रंग हिन्दुस्तान के असली बाशिन्दों से कुछ उजला यानी गोरा था।

इस प्रकार हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि एक तरफ़ तो आर्य लोगों ने मेहनत-मजदूरी करनेवाली श्रेणी को दबा रक्खा था और उसे अपने लोकतंत्र में कोई हिस्सा नहीं दिया था; दूसरी तरफ़ आर्यों ने अपने लिए बहुत ज्यादा आज़ादी रक्खी थी। ये लोग इस बात को बिलकुल गवारा नहीं करते थे कि उनके राजे-महाराजे बेजा हरकतें करें। अगर कोई शासक बेजा हरकत करता था तो हटा दिया जाता था। आम तौर पर राजा क्षत्रिय होते थे, लेकिन कभी-कभी लडाई के ज़माने में या संकट के समय शूद्र या नीच-से-नीच जाति का आदमी भी, अगर उसमें इतनी योग्यता होती, तो राजगद्दी पा सकता था। इसके बाद आर्य लोगों का पतन हो गया और उनकी जाति-प्रणाली कठोर और पेचीदा हो गई। आपस में बहुतसे विभाग हो जाने की वजह से मुल्क कमज़ोर पड गया और नीचे गिर गया। ये लोग आज़ादी का अपना पुराना सिद्धान्त भी भूल गये, क्योंकि पुराने ज़माने में यह कहा जाता था कि आर्य कभी भी दास नहीं बनाया जा सकता। आर्य नाम को कलंकित करने की बजाय आर्य के लिए मर जाना कहीं ज्यादा अच्छा समझा जाता था।

आर्यों की बस्तियाँ, उनके क़स्बे और गाँव बेतुके ढंग से नहीं बसाये जाते थे। वे नक्शों के मुताबिक़ या तरतीब से बसाये जाते थे, और तुम्हें यह बात दिलचस्प मालूम होगी कि इन नक्शों के तैयार करने में रेखागणित से बहुत मदद ली जाती थी। सच तो यह है कि वैदिक पूजाओं में रेखागणित की शक्लें भी काम में आती थीं। आज भी कई हिन्दू घरों में बहुतसी पूजाओं में ये शक्लें बनती हैं, और तुम जानती हो कि मकान और शहरों के बनाने की कला से रेखागणित का बहुत ज्यादा सम्बन्ध है।

ग़ालिबन शुरू में पुराने आर्यों के गाँव एक किसान के क़िलाबन्दी किये हुए कैम्प या सुरक्षित गढ़ के समान हुआ करते थे। उस ज़माने में दुश्मन के हमले का हमेशा डर रहा करता था। जब दुश्मन के हमले का डर नहीं रहा तब भी वही ढर्रा जारी रहा। यह नक़्शा इस तरह का होता था कि चारों तरफ़ चतुर्भुज आकार की एक दीवार बनाई जाती थी, जिसमें चार बडे और चार छोटे फाटक रक्खे जाते थे। इन दीवारों के अन्दर एक ख़ास तरतीब में सड़कें होती थीं और मकान बनाये जाते थे। गाँव के बीच में पंचायत-घर होता था जहाँपर गाँव के बडे-बूढ़े या बुज़ुर्ग लोग इकट्ठे होते थे। छोटे गाँव में पंचायत-घर के बजाय कोई एक बड़ा पेड़ हुआ करता था। हर साल गाँव के सब स्वाधीन आदमी इकट्ठे होकर अपनी पंचायत चुनते थे।

बहुतसे विद्वान् आदमी सादा जीवन बिताने और एकान्त में अध्ययन या

शान्तिपूर्वक नित्यकर्म करने के लिए कस्बों या शहर के आस-पास के जंगलों में चले जाते थे। इनके पास विद्यार्थी लोग इकट्ठे हो जाते थे और धीरे-धीरे इन गुरु और विद्यार्थियों की एक नई बस्ती बस जाती थी। हम इन बस्तियों को आजकल की यूनिवर्सिटी कह सकते हैं। इन जगहों पर कोई सुन्दर इमारतें नहीं हुआ करती थीं, लेकिन जिनको ज्ञान की तलाश होती थी वे बडी-बडी दूर से ज्ञान के इन केन्द्रों में आ पहुँचते थे।

आनन्द-भवन के सामने भारद्वाज-आश्रम है। तुम इसे अच्छी तरह से जानती हो। शायद तुम्हें यह भी मालूम है कि भारद्वाज रामायण के पुराने ज़माने के बहुत विद्वान् ऋषि माने गये हैं। कहा जाता है कि रामचन्द्र अपने वनवास के समय में इनके यहाँ आये थे। यह भी कहा जाता है कि भारद्वाज के साथ हज़ारों शिष्य और विद्यार्थी रहा करते थे। यह हो सकता है कि यहाँ एक विश्वविद्यालय रहा हो, जिसके आचार्य भारद्वाज हों। उस ज़माने में इनका आश्रम गंगा के किनारे था यह बात ठीक हो सकती है, हालाँकि अब गंगा यहाँ से क़रीब एक मील की दूरी पर चली गई हैं। हमारे बग़ीचे की ज़मीन कहीं-कहीं बहुत रेतीली है और मुमकिन है कि उस ज़माने में यहाँ गंगा बहती रही हों।

ये प्रारम्भकाल के दिन हिन्दुस्तान में आर्यों के महान् दिन थे। बदक़िस्मती से इस ज़माने का हमें कोई इतिहास नहीं मिलता। और उस समय की जो बातें हमें मालूम हैं उनके हालात जानने के लिए हमें ग़ैर-ऐतिहासिक किताबों पर ही भरोसा करना पड़ता है। उस ज़माने के राज्य और प्रजातन्त्र ये हैं—दक्षिण-बिहार में मगध; उत्तर-बिहार में विदेह; काशी; कोशल (जिसकी राजधानी अयोध्या थी); पांचाल (जो गंगा और जमना के बीच में था)। पांचालों के इस देश में मथुरा और कान्यकुब्ज दो ख़ास शहर थे। बाद के इतिहास में भी ये शहर मशहूर रहे हैं और आज भी ये दोनों शहर मौजूद हैं। कान्यकुब्ज अब कन्नौज कहलाता है और कानपुर के नज़दीक है। उज्जैन भी प्राचीन शहरों में से है। हालांकि अब शहर छोटा होगया है। आजकल यह ग्वालियर रियासत में है। पाटलिपुत्र या पटना के नज़दीक वैशाली नाम का शहर था। यह लिच्छवी वंश के लोगों की राजधानी थी, जो हिन्दुस्तान के शुरू-शुरू के इतिहास में बड़ा वंश होगया है। यह राज्य प्रजातन्त्र था, इसमें प्रमुख आदमियों की एक सभा शासन करती थी। इनका एक चुना हुआ सभापति हुआ करता था, जिसे नायक कहते थे।

ज्यों-ज्यों ज़माना गुज़रा, बडे-बडे क़स्बे और शहर बनते गये। व्यापार बढ़ा और कारीगरों की कला और हुनर ने भी उन्नति की। शहर बडे-बडे व्यापारिक केन्द्र

होगये। जंगल के आश्रम, जहाँ विद्वान् ब्राह्मण अपने शिष्यों के साथ रहा करते थे, बढ़कर बडे-बडे विश्व-विद्यालय बन गये, और विद्या के इन केन्द्रों में वे सब विषय पढ़ाये जाते थे जिनका उस समय तक मनुष्य को ज्ञान हो सका था। ब्राह्मण युद्धकला भी सिखलाते थे। तुम्हें याद होगा कि महाभारत में पाण्डवों के गुरु द्रोणाचार्य थे। वह ब्राह्मण थे और अन्य विषयों के अलावा युद्धकला की भी शिक्षा देते थे।

: ११ :

चीन के हज़ार बरस

१६ जनवरी, १९३१

बाहरी दुनिया से एक ऐसी ख़बर मिली है जिससे तबियत में परेशानी और दुःख होता है; लेकिन साथ ही उसे सुनकर हृदय गर्व और आनन्द से फूल उठता है। हम लोगों ने शोलापुरवालों की क़िस्मत का फैसला सुन लिया। इस खेदजनक समाचार के फैलने पर देशभर में जो-कुछ हुआ उसका भी थोड़ा-बहुत हाल हमें मालूम होगया। जबकि हमारे नौजवान अपनी जान पर खेल रहे हैं और हज़ारों मर्द और औरतें निर्दय लाठी का मुक़ाबिला कर रहे हैं, मेरे लिए यहाँ चुपचाप बैठे रहना मुश्किल होगया। लेकिन इससे भी हमें अच्छी ट्रेनिंग मिल रही है। मेरा ख़याल है कि हममें से हरेक स्त्री और पुरुष को अपनी कठिन-से-कठिन परीक्षा करने के बहुत मौक़े मिलेंगे। इस समय तो यह जानकर दिल को ख़ुशी होती है कि हमारे लोग तकलीफ़ों और मुसीबतों का सामना करने के लिए कैसी हिम्मत से आगे बढ़ रहे हैं और कैसे दुश्मन का हरेक नया हथियार और प्रहार इन लोगों को ज्यादा-से-ज्यादा ताक़तवर और मुक़ाबिला करने के लिए अधिक-से-अधिक दृढ़ बना रहा है।

जब किसीका दिमाग़ रोज़मर्रा की ख़बरों से भरा हो, तो उसके लिए दूसरी बातों का ख़याल करना मुश्किल हो जाता है। लेकिन कोरी उधेड़बुन से भी कोई ख़ास फ़ायदा नहीं होता, इसलिए, और अगर कोई ठोस काम करना हो तो, हमें अपने मन पर क़ाबू करना ही चाहिए। इसलिए आओ, हम पुराने ज़माने को लौट चलें और अपनी मौजूदा परेशानियों से दूर हटकर डेरा डालें।

चलो, अब हम प्राचीन इतिहास में हिन्दुस्तान के भाई चीन के पास चलें। चीन में और पूर्वी एशिया के जापान, कोरिया, इण्डोचाइना, स्याम, बरमा जैसे और मुल्कों में हमारा आर्य जाति से कोई सरोकार नहीं। यहाँ तो मंगोल जातियों से परिचय करना पड़ेगा।

पाँच हज़ार या कुछ ज्यादा बरस गुज़रे होंगे, जब कि एकबार पश्चिम से चीन पर हमला हुआ था। हमला करनेवाली ये जातियाँ भी मध्य-एशिया से आई थीं और अपनी सभ्यता में ये अच्छी-ख़ासी आगे बढ़ी हुई थीं। वे लोग खेती करना जानते थे और झुण्ड-के-झुण्ड मवेशियाँ पाला करते थे। ये लोग अच्छे-अच्छे मकान बना सकते थे और इनका समाज ख़ूब तरक़्क़ी पर पहुँचा हुआ था। ये लोग ह्वाँगहू नदी के पास, जिसे पीली नदी भी कहते हैं, बस गये। यहाँपर इन्होंने अपने राज्य का संगठन किया। कईसौ बरसों तक ये चीनभर में फैलते रहे और अपना कला-कौशल और कारीगरी बढ़ाते रहे। चीनी लोग ज्यादातर किसान थे और उनके सरदार लोग असल में उसी तरह के नायक या कुलपति (Patriarch) थे, जिनका मैं अपने पुराने ख़तों में ज़िक्र कर चुका हूँ। छः या सात सौ बरस बाद, यानी आजकल से चार हज़ार से भी अधिक बरस पहले, याओ नाम का एक आदमी हुआ, जिसने अपनेको सम्राट् कहना शुरू किया। लेकिन इस उपाधि के होने पर भी उसकी स्थिति अधिकतर नायक या कुलपति की-सी ही थी, इराक़ या मिस्र के सम्राटों की-सी नहीं। चीनी लोग किसानों की तरह ही रहते रहे, और वहाँ कोई ख़ास केन्द्रीय शासन नहीं पाया जाता था।

मैंने तुम्हें बताया है कि पहले किस तरह लोग अपने नायक या सरदार चुना करते थे और आगे चलकर किस तरह ये नायक उसे अपना पैतृक या मौरूसी अधिकार बना बैठे। चीन से हम इसकी शुरुआत होती देखते हैं। याओ का उत्तराधिकारी उसका लड़का नहीं हुआ, बल्कि उसने एक दूसरे आदमी को नामज़द कर दिया, जो उस समय मुल्क में सबसे ज्यादा क़ाबिल आदमी समझा जाता था।

लेकिन जल्दी ही यह पद मौरूसी होगया और कहा जाता है कि चारसौ बरस से ज्यादा तक 'हसिया' नाम के राजवंश ने चीन पर हुकूमत की। हसिया वंश का आख़िरी राजा बहुत ज़ालिम था। नतीजा यह हुआ कि उसके ख़िलाफ़ एक क्रान्ति हुई, जिसने उसे उखाड़ फेंका। इसके बाद शँग या इसन नामका दूसरा राजवंश शासन करने लगा। इसका राज्य क़रीब ६५० बरस तक चला।

एक छोटेसे पैराग्राफ में, दो या तीन छोटे-छोटे जुमलों में, मैंने चीन का एक हज़ार बरस से ज्यादा इतिहास ख़तम कर लिया। क्या यह ताज्जुब की बात नहीं है? इतिहास के इतने विस्तृत युगों के बारे में आख़िर कोई करे तो क्या करे? लेकिन तुमको यह न भूलना चाहिए कि मेरे छोटेसे पैराग्राफ़ की वजह से इन हज़ार या ग्यारहसौ बरसों की लम्बाई कम नहीं होती। हम दिन और महीने और सालों के पैमाने पर सोचने के आदी होगये हैं। तुम्हारे लिए तो सौ साल की भी

स्पष्ट कल्पना कर सकना मुश्किल है । तुम्हें तो अपने तेरह बरस ही बहुत मालूम होते होंगे । है न यह बात सच ? और हरसाल तुम और भी बडी होती जाओगी । तब फिर तुम अपने दिमाग़ में इतिहास के एक हज़ार बरसों की कल्पना किस तरह कर सकती हो ? यह एक बहुत लम्बा ज़माना है । एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी आती है और चली जाती है । क़स्बे बढ़कर बडे-बडे शहर हो जाते हैं और फिर उजड़कर मिट्टी में मिल जाते हैं और उनकी जगह दूसरे शहर बस जाते हैं ।

इतिहास के पिछले एक हज़ार बरसों का ख़याल करो, तब शायद तुम्हें इस अरसे का कुछ बोध हो सके । पिछले एक हज़ार बरस में इस दुनिया में कितनी आश्चर्यजनक तब्दीलियां होगई है !

चीन का इतिहास, उसकी परम्परागत प्राचीन संस्कृति और उसके एक-एक राजवंश, जो पाँचसौ से लेकर आठ-आठसौ वर्ष तक राज्य करते रहे, कितनी अद्भुत चीज़ें है !

इन ग्यारहसौ बरसों की, जिन्हें मैंने एक पैराग्राफ़ में ही ख़तम कर दिया है, आहिस्ता-आहिस्ता होनेवाली तरक्क़ी पर ज़रा ग़ौर तो करो । धीरे-धीरे कुलपति या नायक की प्रथा टूटती गई और उसकी जगह केन्द्रीय शासन क़ायम होता गया तथा एक अच्छा-ख़ासा संगठित राज्य सामने आगया । उस पुराने ज़माने में भी चीन के लोग लिखना जानते थे । लेकिन, जैसा कि तुम जानती ही हो, चीनी लिपि हमारी या अंग्रेज़ी या फ्रेञ्च लिपि से बिलकुल भिन्न है । लिपि में अक्षर नहीं हैं, संकेत या चित्रों द्वारा वह लिखी जाती है ।

शैंग का राज्यवंश ६४० बरस राज्य करने के बाद एक क्रान्ति द्वारा ख़तम हो गया और चाऊ नामक एक नया राज्यवंश राज करने लगा । इसने शैंगों से ज्यादा दिनों तक राज्य किया । इसकी हुकूमत ८३७ बरस तक क़ायम रही । चाऊ वंश के ज़माने में ही चीन का राज्य अच्छी तरह से संगठित हुआ, और इसी ज़माने में चीन में दो बडे-बडे फिलासफर कनफ्यूशस और लाओ-ज़े पैदा हुए । इनके बारे में हम बाद में कुछ लिखेंगे ।

जब शैंग राज्यवंश का अन्त हो रहा था, तब इसके कि-त्से नामक एक उच्च अधिकारी ने चाल चली । उसने चाऊ लोगों की नौकरी करने से देश छोड़कर चले जाना अच्छा समझा, इसलिए वह अपने पाँच हजार अनुयायियों को साथ लेकर चीन से बाहर कोरिया को कूच कर गया । उसने इस मुल्क का नाम चौसन अर्थात् 'प्रातः-कालीन शान्ति का देश' रक्खा । कोरिया या चोसन चीन के पूर्व में है । इसलिए कि-त्से पूर्व दिशा में उगते हुए सूर्य की ओर गया । शायद उसने यह समझा

जिनकी चर्चा का यहाँ मौक़ा नहीं है। मालूम होता है कि, जिस शुरू ज़माने की हम चर्चा कर रहे हैं, उसमें भी यह महान् सभ्यता अपने गौरव के दिन देख चुकी थी और पतन की ओर जा रही थी। नोसास भी अपनी आख़िरी घड़ियाँ गिन रहा था। चीन के उन लम्बे युगों का चित्र भी हम खींच चुके हैं, जिनमें कि वह बढ़ते-बढ़ते एक विशाल साम्राज्य बन गया और वहाँ लिखने, रेशम बनाने और बहुत-सी दूसरी सुन्दर-सुन्दर कलाओं का विकास हुआ। कोरिया और जापान की भी हमने एक झलक देखली। हिन्दुस्तान में हमने उसकी उस पुरानी सभ्यता की ओर अभी संकेत किया ही है, जिसके चिन्ह सिन्ध-नदी की तलहटी के मोहेनजेदारो वाले खण्डहरों में मिलते हैं। द्रविडों की सभ्यता की चर्चा करते हुए विदेशों के साथ के इनके व्यापार की चर्चा भी हम कर चुके हैं और सबके बाद आर्यों का हाल बता आये हैं। उस ज़माने के आर्यों के बनाये हुए वेद, उपनिषद आदि कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थ और रामायण, महाभारत आदि महाकाव्यों का उल्लेख भी हम कर चुके हैं। यह भी हम बता चुके कि आर्य लोग उत्तर-भारत में कैसे फैल गये, दक्षिण में उनका प्रवेश कैसे हुआ और पुराने द्रविडों के सम्पर्क में आकर किस तरह उन्होंने एक नई सभ्यता और संस्कृति का निर्माण किया, जिसका कुछ अंश तो द्रविडों से लिया गया था और बाक़ी का अधिकतर उनकी अपनी देन थी। ख़ास तौर से हमने इनके ग्राम-संघों को लोकतंत्र की प्रणाली पर विकसित होते और गाँवों को क़स्बों और शहरों के रूप में बढ़ते देखा। हमने यह भी देखा कि किस तरह जंगलों में स्थापित आश्रम विश्वविद्यालय बन गये। इराक़ और ईरान में हमने संक्षेप में केवल यह देखा कि किस तरह एक के बाद एक साम्राज्य उन्नति करता गया। इन साम्राज्यों में से एक, सबसे पिछला, दारा का साम्राज्य हिन्दुस्तान में सिन्ध नदी तक फैला हुआ था। फ़िलस्तीन में हमें यहूदियों की एक झलक दिखाई दी। ये लोग यद्यपि तादाद में बहुत कम थे और दुनिया के एक छोटेसे कोने में आबाद थे, फिर भी इन्होंने दुनिया का बहुत काफ़ी ध्यान अपनी ओर आर्कषित किया है। दूसरे देशों के बडे-बडे राजा-महाराजाओं का नाम मिट गया, लेकिन इनके राजा दाऊद और सुलेमान का नाम आजतक लिया जाता है, क्योंकि बाइबिल में उनका ज़िक्र आया है। फिर हमने यूनान में नोसास की पुरानी सभ्यता की चिता पर बनी हुई आर्यों की नई सभ्यता को पनपते और फूलते-फलते देखा। नगर-राज्य पैदा हुए और भूमध्यसागर के किनारों पर यूनानी उपनिवेश बन गये। रोम, जो आगे चलकर महान् होनेवाला था, और कारथेज, जो उसका कट्टर विरोधी था, इसी समय इतिहास के क्षितिज पर उदय हो रहे थे।

इन सबकी हमने मामूली-सी झलक देखी है। उत्तरी-योरप और दक्षिण पूर्व-
शिया के मुल्कों का भी थोड़ा-बहुत हाल मैं तुमसे कह सकता था, लेकिन मैं उन्हें
ड़ गया हूँ। उस बहुत पुराने--शुरू के--जमाने में भी दक्षिण-हिन्दुस्तान के
ल्लाह बंगाल की खाडी के उसपार मलाया द्वीप और उसके दक्षिण के टापुओं
क जाया-आया करते थे। लेकिन हमें अपने विषय की कोई सीमा निश्चित कर
नी चाहिए, नहीं तो हमारा आगे बढ़ना मुश्किल होजायगा।

जिन देशों की हमने चर्चा की है, पुरानी दुनिया उतनी ही समझी जाती है।
किन हमें यह याद रखना चाहिए कि उन दिनों दूर-दूर के मुल्कों में आपस में
मदरफ़्त ज्यादा नहीं थी। व्यापार करने या दूसरे मतलब से साहसी मल्लाह
ुद्र के ज़रिये तथा दूसरे लोग ज़मीन के रास्ते लम्बे-लम्बे सफ़र किया करते थे।
किन ये बातें कभी-कभी ही हुआ करती थीं और थोडे ही लोग ऐसा करते थे;
ोंकि उस समय की यात्राओं में ख़तरा बहुत रहता था। उस समय लोगों को
गोल की जानकारी बहुत कम थी। उन दिनों ज़मीन गोल नहीं बल्कि चपटी मानी
ती थी। मतलब यह कि अपने देश से नज़दीक के मुल्कों के सिवा दूसरे मुल्कों के
रे में कोई कुछ नहीं जानता था। यूनान के रहनेवाले चीन और हिन्दुस्तान से
रीब-क़रीब बिलकुल नावाक़िफ़ थे, और चीन और हिन्दुस्तानवालों को भूमध्यसागर
देशों का बहुत कम पता था।

अगर तुम्हें पुरानी दुनिया का नक़्शा मिल सके तो उसे एक नज़र देखो। पुराने
माने के लेखकों ने दुनिया के जो वर्णन लिखे और नक़्शे बनाये उनमें के कुछ तो
ड़े मज़े के हैं। उन नक़्शों में कई मुल्कों की अजीब शक्लें कर दी गई हैं। उस समय
जो नक्शे आजकल बनाये गये हैं वे कहीं ज्यादा कामके हैं, और इसलिए तुम
नके बारे में पढ़ते वक़्त अक्सर उनको देख लिया करना। नक़्शे से बहुत मदद
मिलती है। बिना इसके इतिहास का असली चित्र हमारे ख़याल में नहीं आ सकता।
च तो यह है कि अगर किसीको इतिहास पढ़ना है, तो जितनें भी ज्यादा-से-ज्यादा
क़्शे या पुरानी इमारतें, खण्डहर और उस जमाने की बची-बचाई और भी
री चीज़ें हैं, उन सबके जितने भी अधिक-से-अधिक चित्र मिल सकें, अपने
स रखने चाहिएँ। इन चित्रों से इतिहास की सूखी ठठरी पर मांस और चमड़ा
ढ़ जाता है, और इस तरह वे हमारे लिए एक ज़िन्दा चीज़ बन जाता है।
तिहास से अगर हम कुछ सीखना चाहते हैं तो यह ज़रूरी है कि उस वक़्त के
चित्रों का सिलसिला साफ़-साफ़ हमारी नज़रों के सामने रहे, जिससे कि जब हम उसे
ढ़ने बैठें तो यह जान पड़ने लगे कि उस वक़्त की वे घटनायें मानों बिलकुल हमारी

आंखों के सामने ही हो रही है। इतिहास को तो एक दिलचस्प नाटक समझना चाहिए जो हमारे दिल को मुट्ठी में कर लेता है—ऐसा नाटक, जो कभी-कभी सुखान्त, लेकिन ज्यादातर दुःखान्त रहा है। दुनिया जिसका रंगमंच और भूतकालीन महान् पुरुष और वीरांगनायें जिसके पात्र हैं।

तसवीरों और नकशों की मदद से इस इतिहास-नाटक की झलक हमारी आंखों के सामने आजाती है इसलिए ऐसा इन्तिजाम होना चाहिए कि हरेक लड़के और लड़की को ये आसानी से मिल सकें। लेकिन तसवीरों और नकशों से भी ज्यादा अच्छी चीज यह है कि पुराने इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाले खण्डहरों और चिन्हों को खुद जाकर देखा जाय। परन्तु इन सबको जाकर देख सकना मुमकिन नहीं क्योंकि ये सारी दुनिया में फैले हुए है। लेकिन अगर हम अपनी आँखें खुली रखें तो प्राचीन समय के कोई-न-कोई चिन्ह या खण्डहर ऐसे जरूर पा सकेंगे, जहाँ हम आसानी से पहुँच सकें। बडे-बडे अजायबघरों में पुराने जमाने की ये छोटी-छोटी निशानियाँ और यादगारें संग्रह करके रक्खी जाती हैं। हिन्दुस्तान में पुराने इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत काफी निशानियाँ पाई जाती हैं, और बहुत प्राचीन समय की निशानियाँ तो बहुत ही कम है। मोहनजेदारो और हरप्पा[१] ही शायद ऐसे दो पुराने जमाने के निशानों के उदाहरण है, जो अभी तक मिले हैं। सम्भव है कि पुराने ज़माने की बहुत सी इमारतें मौसम की गरमी की वजह से धीरे-धीरे मिट्टी में मिल गई हों। लेकिन यह और भी ज्यादा मुमकिन है कि पुराने जमाने की बहुत सी इमारतें अब भी ज़मीन के नीचे दबी पडी हों, और उनके खोदे जाने की जरूरत हो। जैसे-जैसे हम इन्हें खोदते जायेंगे, और पुराने चिन्ह और शिलालेख हमें मिलते जायेंगे, वैसे वैसे हमारे देश के पुराने इतिहास के पन्ने धीरे-धीरे हमारे सामने खुलते जायंगे और पुराने--अत्यन्त पुराने जमाने में हमारे पूर्वजों ने जो कुछ किया है, उसका हाल पत्थर ईट और चूने के इन पन्नों में पढ़ सकेंगे।

तुम दिल्ली गई हो और उसके मौजूदा शहर के आस-पास कुछ पुरानी इमारतें और खण्डहर तुमने देखे हैं। जब कभी फिर तुम्हें इन इमारतों और खण्डहरों के देखने का मौक़ा मिले, तुम पुराने जमाने की कल्पना करना और ये तुम्हें उस

१. हरप्पा—मांटगोमरी ज़िला (पंजाब) का एक अति प्राचीन गाँव है जो रावी नदी के दक्षिण किनारे पर कोट-कमालिया से १६ मील दक्षिण पूर्व में है। अभी हाल में यहाँ से बहुत पुराने ज़माने के खण्डार खोदकर निकाले गये हैं, जिनसे पता चलता है कि उस पुराने ज़माने में भी हिन्दुस्तान की सभ्यता कितनी बढ़ी-चढ़ी थी।

तक पहुँचा देगी और तुम्हें इतना ज्यादा इतिहास बता देंगी जितना कोई किताब नहीं बता सकती। महाभारत के ज़माने से लेकर आजतक लोग दिल्ली शहर में या इसके आस-पास रहते आये है। उन्होंने इसके बहुत से नाम रक्खे, जैसे इन्द्रप्रस्थ, हस्तिनापुर, तुग़लकाबाद और शाहजहाँनाबाद। मुझे तो सब नाम याद भी नहीं। पुराने ज़माने से यह कहावत चली आ रही है कि दिल्ली का शहर सात बार, सात जुदी-जुदी जगहों पर आबाद हुआ। और जमना नदी की धारा की वजह से हमेशा अपनी जगह बदलता रहा। और अब हम इस देश के वर्त्तमान शासकों के हुक्म से रायसीना या नई दिल्ली नामका उसका आठवाँ शहर आबाद होते देख रहे हैं। दिल्ली में एक के बाद एक, यों अनेक साम्राज्य पैदा हुए और ख़त्म हो गये।

या फिर तुम सबसे पुराने शहर बनारस अथवा काशी चली जाओ, और कान लगाकर उसकी गुनगुनाहट सुनो। वह तुम्हें अपने प्राचीनतम अतीत की कथा सुनायगा और बतायगा कि किस तरह साम्राज्यों के बाद साम्राज्यों के पतन होने पर भी वह अभी तक क़ायम चला आ रहा है, किस तरह गौतमबुद्ध अपना नया सन्देश लेकर वहाँ आये, और किस तरह युगों से लाखों और करोड़ों स्त्री-पुरुष शान्ति और तसल्ली पाने के लिए इसकी शरण में आते रहे! अति प्राचीन, बूढ़ा, जर्जर, गन्दा, बदबूदार और फिर भी अत्यन्त सजीव और युगों की शक्ति से यह बनारस भरपूर है। काशी की यह नगरी अद्भुत और दिल को लुभानेवाली है, क्योंकि इसकी आँखों में तुम भारत के अतीत को देख सकती हो, इसकी जलधारा की कलकल में तुम्हें सुदूर युगों की ध्वनि सुनाई देगी।

या, इससे भी नज़दीक हम अपने ही शहर इलाहाबाद या प्रयाग के प्राचीन अशोक-स्तम्भ को देखने चलें। अशोक की आज्ञा से उसपर खुदे हुए लेख को देखो, तो दो हज़ार बरसों की दूरी को पार करती हुई उसकी आवाज़ इसमें तुम्हें सुनाई देगी।

: १३ :

दौलत कहाँ जाती है?

१८ जनवरी, १९३१

मैंने जो पत्र तुम्हें मसूरी भेजे थे, उनमें यह बताने की कोशिश की थी कि किस तरह मनुष्य समाज की उन्नति के साथ-साथ उसमें भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ या वर्ग बनते गये। शुरू में मनुष्यों को भोजन सामग्री तक बडी मुश्किल से मिलती थी। वे हररोज शिकार करते, कन्द-मूल जमा करते और खाने-पीने चीजों की तलाश में एक

जगह से दूसरी जगह दूर-दूर तक भटकते फिरते थे। धीरे-धीरे इनकी जातियां बनने लगीं। असल में ये बडे-बडे कुटुम्ब थे, जो साथ रहते और साथ-साथ शिकार करने जाते थे, क्योंकि अकेले रहने से एक साथ रहने में ख़तरा कम रहता था। इसके बाद एक बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ,—खेती के उद्योग का आविष्कार हुआ। इसके कारण मनुष्य-समाज में बड़ा ज़बर्दस्त अन्तर होगया। लोगों को हमेशा शिकार करते रहने की बनिस्बत ज़मीन पर खेती करके खाने का समान पैदा कर लेना कहीं ज्यादा आसान मालूम हुआ। जोतने, बोने और फ़सल काटने के लिए उसी जगह पर बने रहना ज़रूरी था, इसलिए पहले की तरह वे इधर-उधर भाग नहीं सकते थे; उन्हें अपने खेतों के पास बसने को मजबूर होना पड़ता था। इस तरह गाँव और क़स्बों की बुनियाद पडी।

खेती की वजह से और भी तब्दीलियां आ गईं। खेती से जो अनाज पैदा होता था, वह उस समय की ज़रूरत से कहीं ज्यादा होता था। इसलिए बचा हुआ अनाज जमा किया जाने लगा। पुराने ज़माने की शिकारी ज़िन्दगी की बनिस्बत लोगों की ज़िन्दगी ज्यादा पेचीदा हो गई। एक वर्ग तो खेतों पर तथा दूसरी जगह खेतीबाडी और मेहनत-मज़दूरी करने लगा, और दूसरे ने प्रबन्ध और संगठन का काम अपने जिम्मे ले लिया। प्रबन्ध करनेवाले और संगठन-कर्ता लोग धीरे-धीरे अधिक शक्तिशाली होगये और मुखिया, शासक, राजा और सरदार बन बैठे और क्योंकि अपने पास शक्ति होने के कारण बाक़ी बचे हुए अधिक अनाज में से ये अधिकतर हिस्सा अपने लिए रख लेने लगे। इस तरह ये लोग ज्यादा अमीर होगये और खेतों में काम करनेवाले सिर्फ़ गुज़ारे भर के लिए पाने लगे। एक ऐसा भी वक्त आया, जब प्रबन्धक और संगठनकर्ता इतने आलसी और अयोग्य हो गये कि संगठन का भी काम नहीं कर सके। ये लोग कुछ भी काम नहीं करते थे लेकिन इस बात की पूरी निगरानी रखते थे, कि काम करनेवालों ने जो कुछ अनाज पैदा किया है, उसका बहुत काफ़ी हिस्सा अपने लिए लेलें। और इन्होंने यह अपनो धारणा बना ली, कि बिना खुद काम काज किये इस तरीक़े से दूसरों की मेहनत पर रहने का इन्हें पूरा-पूरा हक़ है। इस प्रकार तुम देखोगी कि खेती का हुनर मिल जाने से आदमियों के जीवन में बहुत बडा फरक़ आ गया। भोजन उपजाने के साधनों में तरक्क़ी करके, और इसकी प्राप्ति को आसान बनाकर, खेती ने समाज की सारी बुनियाद बदल दी। लोगों को इसकी वजह से फ़ुरसत मिलने लगी, अनेक श्रेणियाँ और वर्ग पैदा होगये, पर सभी भोजन उपजाने की कोशिश में नहीं लगे रहते थे। कई क़िस्म की कारीगरियां पैदा हो गईं और नये-नये पेशे बन गये। लेकिन शक्ति और अधिकार संगठन करनेवाले वर्ग के हाथों में ही रहा।

इस जमाने के बाद का इतिहास पढ़ने से भी तुम्हें पता चलेगा, कि खाद्यपदार्थ और दूसरी चीजों के पैदा करने के ढँग में नवीनता हो जाने की वजह से मनुष्य समाज में बडी-बडी तब्दीलियां हो गई हैं। आदमियों को बहुत-सी और चीजों की उतनी ही जरूरत पड़ने लगी जितनी खाने की चीजों की होती थी। इसलिए जब-जब किसी चीज के पैदा करने के ढँग में तब्दीली आई, समाज में भी उसीके साथ-साथ तब्दीली पैदा हुई। सिर्फ़ एक उदाहरण मैं तुम्हें देता हूँ। जब कारखानों में, रेलवे में और जहाजों में भाफ़ का इस्तेमाल होने लगा, सम्पत्ति की उत्पत्ति और वितरण में भी बहुत फ़रक़ आ गया। भाफ़ के कारख़ाने चीजों को इतनी अधिक तेज़ी से बना लेते थे कि कारीगर या मिस्त्री लोग अपनें हाथों से या अपने छोटे-छोटे औजारों से, इतनी तेज़ी से बना ही नहीं सकते थे। बडी मशीन को असल में बड़ा-सा औज़ार समझना चाहिए। रेल और भाफ़ के जहाज़ अनाज को और कारखानों में बनी हुई चीज़ों को दूर-दूर देशों तक पहुँचाने में मदद देते थे। तुम कल्पना कर सकती हो कि इसकी वजह से सारी दुनिया में कितना परिवर्तन हो गया होगा।

समय-समय पर इतिहास में खाद्य-पदार्थ और दूसरी चीज़ों को पैदा करने के लिए नये और तेज़ तरीक़ों के आविष्कार होते रहे हैं और इस बात से तुम ज़रूर यह ख़याल करोगी कि अगर उत्पत्ति के लिए उन्नत साधनों को काम में लाया जाता है तो माल भी उतना ही ज्यादा पैदा होगा। दुनिया ज्यादा मालदार होगी और हरेक आदमी के हिस्से में भी पहले से ज्यादा रक़म आती होगी। तुम्हारा ऐसा ख़याल करना एक हद तक तो ठीक होगा। लेकिन एक हद तक ग़लत भी। उत्पत्ति के उन्नत साधनों ने संसार को ज़रूर ज्यादा सम्पत्तिशाली या दौलतमन्द बना दिया है। लेकिन सवाल यह है कि यह सम्पत्ति दुनिया के किस हिस्से में आई है? यह तो बिलकुल ज़ाहिर है कि हमारे देश में अभी तक काफ़ी ग़रीबी और मुसीबत पाई जाती है। इतना ही नहीं, इंग्लैण्ड जैसे सम्पत्तिशाली देश में भी ग़रीबी है। इसकी क्या वजह है? दौलत आख़िर कहाँ चली जाती है? यह अजीब-सी बात है कि दौलत दिन-ब-दिन ज्यादा पैदा की जा रही है, लेकिन ग़रीब लोग ग़रीब ही बने रहते हैं। बहुत से देशों में इन ग़रीब लोगों ने कुछ थोडी-सी तरक्की की है। लेकिन जो नई सम्पत्ति पैदा हुई उसके लिहाज़ से यह तरक्की न कुछ के बराबर है। हम आसानी से इस बात का पता चला सकते हैं कि यह दौलत ज्यादातर कहाँ जाती है। यह उन लोगों के पास जाती है, जो ज्यादातर प्रबन्धक और संगठनकर्त्ता होने के कारण इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं कि हरेक अच्छी चीज़ का ज्यादातर हिस्सा इन्हें मिलता रहे। और इससे भी ज्यादा आश्चर्य की बात तो यह है कि समाज में ऐसे वर्ग पैदा

हो गये हैं जो दिखावे भर तक के लिए कोई काम नहीं करते। और फिर भी दूसरे आदमियों की मेहनत के फल का बडे-से-बड़ा हिस्सा हजम कर जाते हैं! और क्या तुम इस पर विश्वास करोगी कि ऐसा होने पर भी इज्जत इन्हीं वर्गों की होती है; और कुछ बेवकूफ़ लोग समझते हैं कि अपनी जीविका या रोजी के लिए काम करना जलालत है! ऐसी उलटी-सीधी दशा है कि हमारी दुनिया की। कितने आश्चर्य की बात है कि खेत में मेहनत करनेवाला किसान, और कारखाने में मजदूरी करनेवाला मजदूर ग़रीब हो, जब कि दुनिया भर के खाद्य-पदार्थ और दौलत के पैदा करनेवाले यही लोग हैं! हम अपने देश की आजादी की बातें करते हैं, लेकिन जबतक इस गड़बडी का अन्त नहीं होता और मेहनत करनेवाले को उसकी मेहनत का फल नहीं मिलता, इस आजादी की क्या क़ीमत हो सकती है? राजनीति पर, शासन-कला पर, अर्थशास्त्र पर और राष्ट्रीय सम्पत्ति के वितरण के विषय पर बडी-बडी मोटी किताबें लिखी गई हैं। आलिम-फ़ाजिल प्रोफ़ेसर लोग इन विषयों पर लेक्चर देते हैं। लेकिन ये लोग तो जबानी बात-चीत और बहस-मुबाहिसों में लगे रहते हैं और उधर मेहनत करनेवाले मुसीबत झेलते रहते हैं। दो सौ बरस हुए वालटेयर नाम के एक प्रसिद्ध फ्रांसीसी ने राजनीतिज्ञों और इन्हींके से दूसरे लोगों के बारे में कहा था कि "इन राजनीतिज्ञों ने अपनी सुन्दर राजनीति को, उन लोगों को भूखों मरवा डालने का एक साधन बना लिया है, जो जमीन को जोतकर दूसरों को जिन्दा रखने की सामग्री पहुँचाते हैं।"

इसके होते हुए भी प्राचीन काल का मनुष्य उन्नति करता गया और अनियन्त्रित प्रकृति पर अपना अधिकार जमाने लगा। उसने जंगल काटे, मकान बनाये और जमीन जोती। यह समझा जाता है कि मनुष्य ने किसी हद तक प्रकृति पर विजय पाई है। यह अस्पष्ट बात है, और बिलकुल सही नहीं कही जा सकती। अगर हम यह कहें तो ज्यादा सही है कि आदमी ने प्रकृति को समझना शुरू किया और जितना वह उसे समझता जाता है उतना ही वह उससे सहयोग करने के क़ाबिल बन गया है और उसे अपने मतलब के लिए काम में ला सका है। पुराने जमाने में आदमी प्रकृति से और उसकी विचित्रताओं से डरता था। इनको समझने के बजाय यह उनकी पूजा करता था और शान्ति के लिए उन पर चढ़ावा चढ़ाता था, मानों प्रकृति कोई जंगली जानवर है जिसे खुश करने और फुसलाने की जरूरत हो। इस लिए उन लोगों को बादल की गरज, बिजली की कड़कड़ाहट और महामारियाँ भयभीत कर देती थीं। और ये लोग समझते थे कि सिर्फ़ चढ़ावे से ही इन उत्पातों को शान्त किया जा सकेगा। बहुत से सीधे-सादे लोग समझते हैं कि चन्द्र या सूर्य-ग्रहण कोई

भयंकर आफ़त है। बजाय इसके कि वे यह समझते कि यह एक सीधी-साधी प्राकृतिक घटना है, व्यर्थ में अपनेको उत्तेजित कर लेते हैं, उपवास करते है और सूरज या चाँद की रक्षा के लिए स्नान-जप वग़ैरा करते हैं। लेकिन सूरज और चाँद अपनी रक्षा के लिए काफ़ी समर्थ हैं। उनके बारे में हमें चिन्ता करने की कोई जरूरत नहीं।

हमने सभ्यता और संस्कृति की उन्नति की भी कुछ चरचा की है और हमने देखा है कि इसकी शुरुआत उस समय से हुई, जब लोग गाँवों और क़स्बों में रहने के लिए बस गये, खाने का काफ़ी सामान पा जाने की वजह से लोगों को कुछ फ़ुरसत मिल गई और खाने और शिकार करने के अलावा और भी बातों पर ध्यान देने का इन्हें अवकाश मिल गया। विचार की उन्नति के साथ आमतौर पर कला-कौशल और संस्कृति की भी उन्नति होने लगी। आबादी बढ़ने के कारण लोग एक दूसरे से नजदीक भी रहने लगे और जब लोग पास-पास रहने लगे, तो उन्हें एक दूसरे का लिहाज भी रखना जरूरी होगया। ये एक दूसरे से बराबर मिलते-जुलते थे और इनका आपस में व्यापार व्यवहार चलने लगा। जब लोग एक-दूसरे से नजदीक रहते हैं तो उन्हें एक दूसरे का ध्यान रखना भी जरूरी हो जाता है। इसके लिए यह जरूरी हो जाता है कि कोई बात ऐसी न करें जो इनके साथियों या पडोसियों को बुरी लगे। इसके बिना सामाजिक जीवन सम्भव ही नहीं हो सकता। किसी कुटुम्ब का उदाहरण लेलो। कुटुम्ब एक छोटा सा समाज है। इसके व्यक्ति आनन्द से तभी रह सकते हैं, जब कुटुम्ब के प्राणी एक-दूसरे का लिहाज़ रक्खें। साधारणतः यह कोई मुश्किल बात नहीं होती, क्योंकि कुटुम्ब के लोगों में प्रेम का सम्बन्ध होता है। फिर भी कभी-कभी हम एक दूसरे का लिहाज़ करना भूल जाते है और यह बता देते हैं कि कुछ भी हो हम अभी तक बहुत सभ्य या सुसंस्कृत नहीं हो पाये हैं। कुटुम्ब से आगे बढ़कर बडे समुदाय में भी यही हाल होता है। चाहे हम अपने पडोसियों की बात लें, या अपने शहर के रहनेवालों की, या दूसरे मुल्क के लोगों की। इस तरह आबादी के बढ़ जाने की वजह से सामाजिक जीवन बढ़ा, और दूसरों का ध्यान और अपने पर संयम रखने का ख़याल तरक़्क़ी कर गया। सभ्यता और संस्कृति की परिभाषा मुश्किल है और मैं इसकी परिभाषा करने की कोशिश करूँगा भी नहीं। लेकिन संस्कृति के अन्दर पाई जानेवाली अनेक बातों में से निस्सन्देह एक चीज यह भी है—अपने ऊपर संयम, और दूसरों की सुविधा का लिहाज़। अगर किसी आदमी में अपने पर संयम नहीं पाया जाता और वह दूसरों की सुविधा का कोई ख़याल नहीं करता, तो हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि वह आदमी असभ्य और बदतमीज़ है।

: १४ :

ईसा के पूर्व छठी सदी और मत-मतान्तर

२० जनवरी, १९३१

आओ, अब हम इतिहास की लम्बी सड़क पर आगे बढ़ें। हम एक मंजिल तक तो आपहुँचे हैं--आज से ढाई हजार बरस पहले यानी ईसा से क़रीब छः सौ बरस पहले तक। लेकिन यह न समझना कि यह कोई निश्चित तारीख है। मैं तो तुम्हें उस ज़माने का एक मोटा अन्दाज दे रहा हूँ। हम देखते हैं कि हिन्दुस्तान और चीन से लेकर ईरान और यूनान तक भिन्न-भिन्न देशों में अनेक महापुरुष, बडे-बडे विचारक और धर्म-प्रवर्तक इसी युग में मिलते हैं। वे सब बिलकुल एक ही समय में नहीं हुए। लेकिन अपने जन्म-काल के लिहाज़ से वे एक-दूसरे के इतने नज़दीक़ थे कि ईसा से पहले की छठी सदी का यह ज़माना एक बड़ा रोचक युग बन गया है। ऐसा मालूम होता है, उस समय सारी दुनिया में विचारों की एक लहर उठ रही थी--लोगों के दिलों में मौजूदा परिस्थिति से असन्तोष और उससे बेहतर किसी चीज़ की प्राप्ति की ख्वाहिश थी। याद रक्खो कि मजहबों के चलानेवाले हमेशा बेहतर चीज की खोज करने, अपने भाइयों को सुधारने और ऊँचा उठाने, उनकी मुसीबतों को दूर करने की चिन्ता में लीन रहे हैं। ऐसे लोग हमेशा क्रान्तिकारी रहे हैं और समाज में फैली हुई बुराइयों पर हमला करने में ज़रा भी नहीं डरे हैं। जहाँ कहीं पुरानी परम्परा ग़लत रास्ते पर जाती हुई दिखाई दी, या उसके कारण आगे की उन्नति को रुकते हुए देखा, कि उन्होंने निडर होकर उसपर हमला किया और उसे मिटा दिया। और सबसे बडी बात उन्होंने यह की कि अपने आचरणों से उच्च जीवन का एक नमूना पेश किया, जो असंख्य लोगों के लिए अनेक पीढ़ियों तक एक आदर्श और प्रेरणा बना रहा। हिन्दुस्तान में ईसा से पहले की उस छठी सदी में बुद्ध और महावीर पैदा हुए; चीन में कनफ्यूशस और लाओ-जे, ईरान में जरथुस्त या जोरेस्टर और सामोस के यूनानी टापू में पाइथागोरस पैदा हुए। तुमने पहले भी इनका नाम तो सुना होगा, लेकिन शायद किसी दूसरे सिलसिले में। स्कूल के साधारण लड़के-लड़की पाइथागोरस को एक महज़ निठल्ला आदमी समझते हैं, जिसने रेखागणित का एक प्रमेय (Theorem) सिद्ध कर दिया, जो अब इन बेचारों को सीखना पड़ता है। इस प्रमेय का सम्बन्ध एक समकोण त्रिभुज (Right-angled triangle) की भुजाओं पर के समकोण चतुर्भुज (Squares) से है। रेखागणित (ज्यामेट्री) की किसी भी किताब में यह प्रमेय मिल सकता है। लेकिन रेखागणित सम्बन्धी खोज करने के अलावा वह एक

बड़ा विचारक भी माना गया है। हमें उसके बारे में बहुत कम मालूम है। कुछ लोगों को तो इसमें भी शक है कि इस नाम का कोई आदमी हुआ भी था या नहीं ?

ईरान का जरथुस्त पारसी-धर्म चलानेवाला कहा जाता है। लेकिन मुझे यह निश्चय नहीं है कि उसे उस धर्म का चलानेवाला कहना कहाँतक ठीक होगा ? शायद यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि उसने ईरान के पुराने मज़हब और विचारों को नई दिशा की ओर झुकाया और उनमें नई जान डाल दी। बहुत अर्से से यह धर्म ईरान से बिलकुल उठ-सा गया है। जो पारसी लोग बहुत अरसे पहले ईरान से हिन्दुस्तान चले आये, वे अपने साथ इस धर्म को भी लेते आये और तबसे बराबर उसीको मानते चले आते हैं।

चीन में इसी ज़माने में दो महापुरुष हुए--कनफ्यूशस और लाओ-ज़े। धर्म के साधारण अर्थ को ध्यान में रखते हुए, इन दोनों में से किसीको धर्म-प्रवर्तक नहीं कह सकते। इन्होंने तो सामाजिक व्यवहार और नीति के नियम बनाये और यह बताया कि आदमी को क्या करना चाहिए। लेकिन इनकी मृत्यु के बाद चीन में इनकी यादगार में बहुत से मन्दिर बने और इनके लिखे ग्रन्थों का चीनी लोग वैसा ही आदर करते हैं जैसा हिन्दू वेदों का और ईसाई बाइबिल का। कनफ्यूशस की शिक्षा का एक परिणाम यह हुआ कि उसने चीनियों को ज्यादा सुशील, शिष्ट और सभ्य बना दिया।

हिन्दुस्तान में बुद्ध और महावीर हुए। महावीर ने आजकल का प्रचलित जैन-धर्म चलाया। इनका असली नाम वर्द्धमान था। महावीर तो महानता की एक पदवी है। जैन लोग ज्यादातर पश्चिमी हिन्दुस्तान और काठियावाड़ में रहते हैं। काठियावाड़ और राजपूताना में आबू पहाड़ पर, इनके बड़े सुन्दर मन्दिर पाये जाते हैं। जैन लोग आजकल आमतौर पर हिन्दू समझे जाते हैं। अहिंसा में इनकी बड़ी श्रद्धा है, और ऐसा काम करने के ये बिलकुल ख़िलाफ़ हैं जिसमें किसी भी जीव को तकलीफ़ पहुँचे। हाँ, इसी सिलसिले में तुमको यह जानकर दिलचस्पी होगी कि पाइथागोरस मांस नहीं खाता था। उसने अपने शिष्यों और अनुयायियों के लिए यह नियम बना दिया था कि कोई भी मांस न खाय।

अब गौतम बुद्ध के हाल सुनो। जैसा कि तुम जानती हो, गौतम बुद्ध क्षत्रिय थे और एक शाही ख़ानदान के राजकुमार थे। सिद्धार्थ उनका नाम था। उनकी माता का नाम महारानी माया था। इनके बारे में प्राचीन ग्रन्थों में लिखा है कि नये चन्द्रमा की तरह उल्लास के साथ पूजने योग्य, पृथ्वी के समान दृढ़ और स्थिर-निश्चयवाली और कमल के जैसा पवित्र हृदय रखनेवाली थी वह महारानी माया।

माता-पिता ने गौतम को हर तरह के ऐश-आराम में रक्खा, और यहाँ तक कोशिश की कि दुःख-दर्द और रोग-शोक के किसी भी दृश्य पर उनकी नज़र न जाय। लेकिन यह संभव नहीं हो सका—और, कहा जाता है कि, एक कंगाल, एक रोगी और एक मुर्दा उन्हें दिखाई दिये। इन दृश्यों का उनपर बहुत असर हुआ, और राजमहल में उन्हें ज़रा भी शान्ति नहीं मिलने लगी। ऐश-आराम के सारे साधन, जिनसे वह चारों ओर घिरे रहते थे, और उनकी सुन्दर पत्नी, जिसे वह प्यार करते थे, कोई भी मुसीबत में फँसी हुई दुनिया की चिन्ता से उनका चित्त न हटा सके। उलटे उनकी यह चिन्ता दिन-पर-दिन बढ़ती ही गई, और इन बुराइयों को दूर करने के उपाय खोजने की उनकी इच्छा ज्यादा-से-ज्यादा तीव्र होने लगी। यहाँतक कि वह इस हालत को बर्दाश्त न कर सके और अन्त में एक शान्त और नीरव रात में अपने राजमहल और प्यारे सगे-सम्बन्धियों को सोता हुआ छोड़कर, जंगल में निकल गये। इसके बाद जिन प्रश्नों ने उन्हें परेशान कर रक्खा था उनके समाधान की खोज में, इस लम्बी-चौडी दुनिया में भटकने लगे। समाधान की खोज में उन्हें बहुत वक़्त लगा और बहुत तकलीफ़ें उठानी पडीं। आख़िर, बहुत बरसों के बाद, गया में एक बट-वृक्ष के नीचे बैठे हुए उन्हें 'सम्यक्-ज्ञान' प्राप्त हुआ और वह बुद्ध हो गये। जिस पेड़ के नीचे वह उस दिन बैठे थे वह 'बोधि-वृक्ष' के नाम से मशहूर हो गया। प्राचीन काशी की छाया तले बसे हुए सारनाथ के, जो उस ज़माने में इसिपत्तन या ऋषिपत्तन कहलाता था, 'डीयर पार्क' में बुद्ध ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार शुरू किया। उन्होंने 'सद्जीवन' का रास्ता बताया। देवताओं के नाम पर की जानेवाली हिंसा और पशु-बलि की उन्होंने निन्दा की और उन्हें निषिद्ध ठहराया। उनका कहना था कि इन बलिदानों के बजाय अपना ग़ुस्सा, द्वेष, घृणा और बुरे विचारों का बलिदान करना चाहिए। जब बुद्ध का जन्म हुआ था, हिन्दुस्तान में पुराना वैदिक धर्म प्रचलित था। लेकिन वह बहुत बदल गया था और अपने ऊँचेपन से बहुत नीचे गिर चुका था। ब्राह्मणों और पुरोहितों ने तरह-तरह के पूजा-पाठ, अन्ध विश्वास और पाखण्ड चला दिये थे। क्योंकि पूजायें जितनी ज्यादा बढ़तीं पुरोहित लोगों को पैसा उतना ही ज्यादा मिलता। जाति का बन्धन बहुत ज्यादा कड़ा हो रहा था और आम लोग मंत्र-तंत्र और जादू-टोने से डरते रहते थे। इन बातों से पुरोहितों ने जनता को अपनी मुट्ठी में कर लिया था और क्षत्रिय राजाओं की सत्ता को चुनौती देने लगे थे। इस तरह क्षत्रिय और ब्राह्मणों में संघर्ष चल रहा था। उसी समय बुद्ध एक बहुत बडे सुधारक के रूप में दुनिया के सामने आये और उन्होंने ब्राह्मणों के इन अत्याचारों पर और पुराने वैदिक धर्म में जो खराबियाँ आगईं थीं उन पर जोरों से

हमला किया। उन्होंने शुद्ध जीवन बिताने और भले काम करने पर ज़ोर दिया। और बुद्ध-धर्म को माननेवाले भिक्षु और भिक्षुणियों की संस्था 'बौद्ध-संघ' का भी संगठन किया।

कुछ दिनों तक धर्म के रूप में बुद्ध-धर्म का फैलाव हिन्दुस्तान में बहुत नहीं हुआ। आगे चलकर हम यह देखेंगे कि यह कैसे फैला? और बाद को खुद इसकी हस्ती यहाँ से कैसे मिट गई। लंका से लेकर चीन तक दूर-दूर के मुल्कों में यह धर्म खूब फैला। लेकिन अपनी जन्मभूमि हिन्दुस्तान में यह ब्राह्मण-धर्म या हिन्दू-धर्म में समा गया। ब्राह्मण-धर्म पर इसका बहुत बड़ा असर हुआ। इसकी वजह से हिन्दू-धर्म में से बहुत से बुरे रीति-रिवाज और अन्ध-विश्वास निकल गये।

इस वक़्त दुनिया में बुद्ध-धर्म के माननेवालों की तादाद सबसे ज्यादा है। ईसाई, इस्लाम और हिंदू-धर्म भी ऐसे धर्म हैं जिनके माननेवाले दुनिया में बहुत ज्यादा हैं। इनके अलावा यहूदी, सिख, पारसी वग़ैरा बहुत से दूसरे धर्म भी हैं। इन सारे धर्मों और इनके प्रवर्त्तकों ने दुनिया के इतिहास को बनाने में बहुत हिस्सा लिया है, इसलिए इतिहास पर ग़ौर करते समय इनकी उपेक्षा हर्गिज़ नहीं की जा सकती। लेकिन धर्म के बारे में अपनी राय ज़ाहिर करते हुए मुझे कुछ संकोच होता है। इसमें शक नहीं कि बडे-बडे धर्मों के चलानेवाले दुनिया के बडे-से-बडे और अच्छे-से-अच्छे पुरुष हुए है। लेकिन उनके शिष्य और अनुयायी न तो बडे ही निकले और न भले ही। इतिहास में हम अक्सर देखते है जिस धर्म का मक़सद हमें ऊँचा उठाना और सात्त्विक तथा भला और बेहतर बनाना था उसीने हमसे जानवर जैसा व्यवहार कराया। लोगों में ज्ञान की रोशनी फैलाने के बजाय इसने लोगों को अंधेरे में रक्खा; उदारचित्त बनाने के बजाय उन्हें संकुचित हृदय बना दिया; दूसरों के प्रति सहिष्णु बनाने के बजाय असहिष्णु बना दिया। धर्म के नाम पर बहुत बढ़े-चढ़े और बढ़िया काम हुए हैं, लेकिन धर्मके ही नाम पर लाखों हत्यायें और सब तरह के अनर्थ भी हुए हैं।

ऐसी हालत में यह सवाल उठता है, कि धर्म के मामले में हमारा व्यवहार क्या हो? कुछ लोगों के लिए धर्म का मतलब है परलोक। फिर उसे स्वर्ग, वैकुण्ठ या बहिश्त चाहे जो कहलो। स्वर्ग में जाने की लालसा में लोग धार्मिक आचरण करते हैं, यह देखकर मुझे ऐसे बालकों का ख़याल आता है जो जलेबी पाने के लालच से कोई अच्छा काम करते हैं। अगर कोई बच्चा हमेशा जलेबी या मिठाई की ही बात सोचा करे, तो तुम यह हर्गिज़ न समझोगी कि उसकी शिक्षा ठीक ढंग से हुई है। और उस लड़के या लड़की को तो तुम और भी कम पसन्द करोगी जो अपने सारे काम जलेबी या मिठाई के लालच में ही करे।

तब फिर हम ऐसे बडे-बूढ़ों के लिए क्या राय क़ायम करें, जो इन बच्चों की तरह काम करते हैं ? क्योंकि जलेबी के लालच और स्वर्ग के लालच के ख़याल में कोई ज्यादा फ़र्क़ नहीं है। यह माना कि हम सब लोगों में थोडी-बहुत ख़ुदगर्ज़ी रहती है; लेकिन फिर भी हम कोशिश इसी बात की करते हैं कि हमारे बच्चे इस तरह से शिक्षा पावें कि वे जहाँतक हो सके निस्वार्थ बनें। कुछ भी हो, हमारे आदर्श बिलकुल स्वार्थ-रहित होने चाहिएँ कि जिनकी वजह से हम अपने जीवन में उन तक पहुँचने की कोशिश करते रहें। हम सब अपने मक़सद तक पहुँचने और अपने कर्मों के फल को देखने की ख़्वाहिश रखते हैं। यह स्वाभाविक ही है। लेकिन हमारा लक्ष्य क्या है ? क्या हमें सिर्फ़ अपनी ही फ़िक्र करनी चाहिए, या समाज, देश और मनुष्य-जाति की भलाई की चिन्ता करनी चाहिए ? कुछ भी हो, इस सार्वजनिक हित में ही हमारी अपनी भलाई छिपी हुई है। मेरा ख़याल है कि कुछ दिन हुए मैंने अपने एक पत्र में संस्कृत के एक श्लोक का ज़िक्र किया था, जिसका मतलब यह था कि व्यक्ति को कुटुम्ब के लिए, कुटुम्ब को जाति के लिए और जाति को देश के लिए छोड़ देना चाहिए। यहाँ मै संस्कृत के एक और श्लोक का भी अर्थ तुमको बताना चाहता हूँ, जो भागवत् में आया है। उसका अर्थ यह है :—

"मुझे न तो अष्टसिद्धियों[1] के साथ स्वर्ग की इच्छा है और न जन्म और मृत्यु से छुटकारा पाकर मोक्ष पाने की ही कामना है। मेरी इच्छा तो यह है कि दुःखी जनों के दिलों में पैठ जाऊँ और उनका दुःख-दर्द अपने ऊपर लेलूँ, जिससे वे पीड़ा से मुक्त हो जायँ।"[2]

एक धर्मवाला एक बात कहता है, दूसरे धर्मवाला दूसरी। और ज्यादातर ये लोग एक-दूसरे को मूर्ख या धूर्त समझते है। इनमें से सच्चा कौन है ? चूंकि ये लोग एक ऐसे विषय के बारे में बात-चीत करते हैं, जो न आँख से देखा जा सकता

१. **सिद्धियाँ**—आठ प्रकार की होती हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व।

२. इस सम्बन्ध में भागवत के ये दो श्लोक ध्यान में रखने योग्य हैं:—

कोनु सस्यादुपायोऽत्र येनाहम् दुःखितात्मनाम्।
अन्तःप्रविश्य भूतानाम् भवेयं दुःखभाक् सदा !!
अपहृत्यार्त्तिमार्त्तानाम् सुखं यदुपजायते।
तस्य स्वर्गोऽपवर्गो वा कलां नाऽर्हति षोड़शीम् !! —च्यवन ऋषि

× × × ×

नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्ग नाऽपुनर्भवम्।
प्राणिनाम् दुःखतप्तानाम् कामये दुःखनाशनम्॥ —रंतिदेव

है और न बहस-मुबाहिसे से साबित ही किया जा सकता है, इसलिए दलीलों से ऐसे मामलों को तय करना बहुत मुश्किल हो जाता है। भला दोनों पक्षवालों के लिए क्या यह हिमाक़त की बात नहीं है जो ऐसे मामलों पर इतने यक़ीन के साथ अपनी राय ज़ाहिर करते हैं और आपस में एक-दूसरे का सिर फोड़ने को तैयार रहते हैं? हममें से ज़्यादातर संकीर्ण विचारों के होते हैं और बुद्धि के एकदम शून्य रहते हैं। तब हम यह कैसे मान लें कि जितनी भी सचाई है वह सब हमींको मालूम है। और इस सचाई को अपने पड़ोसी के गले के नीचे ज़बरदस्ती उतारने की कोशिश भी कैसे करें? यह मुमकिन हो सकता है कि हम सचाई पर हों, और यह भी मुमकिन है कि हमारा पड़ोसी भी सचाई पर हो। अगर तुम किसी पेड़ पर एक फूल देखो, तो उस फूल को तो पेड़ नहीं कहोगी न? उसी तरह एक आदमी ने उस पेड़ की पत्तियाँ ही देखीं और दूसरे ने सिर्फ़ उसका तना ही देखा, तो निस्सन्देह हरेक ने उस पेड़ का एक-एक हिस्सा ही देखा है। लेकिन उन हरेक आदमी के लिए यह कैसी बेवक़ूफ़ी की बात होगी, कि वे इस बात का दावा करने लगें कि सिर्फ़ फूल, पत्ती या अकेला तना ही पेड़ है और अपनी इस बात को मनवाने के लिए एक-दूसरे से लड़ पड़ें?

मुझे परलोक में कोई दिलचस्पी नहीं है। मेरा दिमाग़ तो इन बातों से भरा हुआ है कि इस लोक में—इस दुनिया में—मैं क्या करूँ। और अगर इसमें अपना रास्ता साफ़-साफ़ दिखाई दे गया तो मैं सन्तुष्ट हूँ। अगर इस लोक में मेरा फ़र्ज़ साफ़-साफ़ दीख जाता है, तो मुझे दूसरे लोक की बिलकुल फ़िकर नहीं है।

ज्यों-ज्यों तुम बड़ी होती जाओगी, हर तरह के लोगों से तुम्हारा सम्पर्क बढ़ता जायगा। तुम्हें धार्मिक लोग भी मिलेंगे और धर्म को न माननेवाले भी मिलेंगे। ऐसे भी लोग तुम्हें मिलेंगे जिन्हें न धर्म की परवाह है और न अधर्म की। तुम देखोगी कि बहुत से बड़े-बड़े गिरजे, धर्म-मठ और मन्दिर ऐसे हैं जिनके पास बेहद धन और ताक़त है। वे उनका कभी अच्छा उपयोग करते हैं और कभी बुरा। तुम्हें बहुतसे धार्मिक आदमी ऐसे मिलेंगे जो बहुत शरीफ़ और भले हैं, और ऐसे भी मिलेंगे जो धर्म की आड़ में दूसरों को लूटते और धोखा देते हैं। तुम्हें इन सब बातों पर ख़ुद सोचना होगा और अपने लिए ख़ुद ही फ़ैसला करना होगा। आदमी दूसरों से बहुत-कुछ सीख सकता है, लेकिन बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें ऐसी होती हैं जिनको आदमी अपनी खोज और अपने अनुभव से ही प्राप्त कर सकता है। कुछ सवाल ऐसे हैं जिनपर हरेक स्त्री-पुरुष को ख़ुद अपनी ही राय क़ायम करनी पड़ती है।

लेकिन निर्णय करने में जल्दबाज़ी नहीं करनी चाहिए। किसी भी महत्वपूर्ण विषय पर अपनी राय देने से पहले तुम्हें उसके लिए अपने को उसके योग्य बनाना

होगा। यह ठीक है कि आदमी को खुद ही सोचना चाहिए और हर सवाल का जवाब भी देना चाहिए; लेकिन इसके लिए उसमें उतनी ही योग्यता की भी जरूरत है। तुम किसी दुध-मुँहे बच्चे से यों हरेक बात का निर्णय करने की उम्मीद कैसे रख सकती हो? इसी तरह बहुत से आदमी ऐसे हैं जो उम्र में तो बड़े हो गये हैं लेकिन जहाँतक उनके मानसिक विकास का सवाल है वे दुध-मुँहे बच्चे से कम नहीं होते।

मेरा पत्र, आज, साधारण से कुछ बढ़ गया। मुमकिन है तुम्हें यह नीरस भी लगे। लेकिन इस बारे में मैं तुम्हें कुछ बताना चाहता था, इसलिए इतना लिख मारा। अगर तुम्हें इसमें से कोई बात समझ में न आये तो कोई बात नहीं। आगे जाकर जल्दी ही तुम सब बातें समझने लगोगी।

: १५ :

ईरान और यूनान

२१ जनवरी, १९३१

आज तुम्हारा ख़त आया और यह जानकर खुशी हुई कि ममी और तुम अच्छी तरह से हो। मेरी कामना है कि दादू का बुख़ार भी उतर जाय और उनकी परेशानियाँ दूर हो जायें। उन्होंने सारी जिन्दगी बहुत सख़्त मेहनत की है और आज भी उन्हें आराम और शान्ति नहीं मिल पाती है।

मालूम होता है, तुमने पुस्तकालय से लेकर कई किताबें पढ़ डाली हैं। और चाहती हो कि मैं दो-चार नाम और सुझा दूं। लेकिन तुमने यह नहीं बताया कि तुमने कौन-कौन सी किताब पढ़ी है। लेकिन जो लोग बहुतसी किताबें जल्द-जल्द पढ़ डालते हैं उन्हें मैं ज़रा सन्देह की नजर से देखता हूँ। उनपर यह शक होने लगता है कि ये लोग ठीक तौर से किताबें नहीं पढ़ते। सिर्फ़ उनपर सरसरी नज़र डाल जाते हैं और फिर दूसरे दिन सब कुछ भूल जाते हैं। अगर कोई किताब पढ़ने के क़ाबिल है तो उसे सावधानी से और अच्छी तरह पूरी-पूरी पढ़नी चाहिए। लेकिन बहुतसी किताबें ऐसी भी हैं जो पढ़ने के क़ाबिल ही नहीं हैं। अच्छी किताबों का चुनना कोई आसान काम नहीं है। तुम कह सकती हो कि तुमने जब अपनी लाइब्रेरी से किताबें चुनी हैं तो वे ज़रूर अच्छी होंगी। नहीं तो हम उन्हें मंगाते ही क्यों? ख़ैर, अभी तो पढ़ती रहो। नैनी जेल से जो कुछ मदद मैं कर सकता हूँ, करता रहूँगा। कभी-कभी मैं यह सोचता हूँ कि तुम्हारा शारीरिक और मानसिक विकास कितनी तेज़ी के साथ हो रहा है। मेरी कितनी प्रबल इच्छा है कि मैं तुम्हारे पास होता! शायद

जब तक ये चिट्ठियाँ तुम्हारे पास तक पहुँचेंगी, तुम इतनी आगे बढ़ जाओगी कि तुम्हें इनकी ज़रूरत ही न रहे। मैं समझता हूँ कि उस वक्त तक चाँद[1] इनको पढ़ने के क़ाबिल हो जायगी और इस तरह कोई-न-कोई तो ऐसा रहेगा ही जो इनकी क़द्र करे।

आओ, अब हम प्राचीन ईरान और यूनान को लौटे चलें और थोडी देर के लिए उनकी आपस की लड़ाइयों पर विचार करें। अपने पिछले एक पत्र में हमने यूनान के नगर-राज्यों और ईरान के उस बडे साम्राज्य का जिक्र किया था जिसके सम्राट को यूनानी लोग डेरियस या दारा कहते हैं। दारा का यह साम्राज्य बहुत बड़ा था—खाली विस्तार में ही नहीं बल्कि संगठन में भी। ठेठ एशिया-माइनर से लगाकर सिन्ध नदी तक यह फैला हुआ था। मिस्र और एशिया माइनर के कुछ यूनानी शहर भी इसके अन्तर्गत थे। इस विस्तृत साम्राज्य में एक ओर से दूसरी ओर तक अच्छी-अच्छी सड़कें बनी हुई थीं, जिनपर शाही डाक बराबर चलती रहती थी। दारा ने किसी न किसी वजह से यूनान के नगर-राज्यों को जीतने का निश्चय किया। इन लड़ाइयों में कई इतिहास में प्रसिद्ध हैं। इन लड़ाइयों का जो कुछ वर्णन हमें मिलता है वह यूनान के इतिहास-लेखक हेरोडोटस का लिखा हुआ है। वह इन घटनाओं के थोड़े ही दिन बाद पैदा हुआ था। जरूर ही अपने वर्णन में उसने यूनानियों के साथ पक्षपात किया है। लेकिन उसका विवरण बहुत दिल-चस्प है और इन पत्रों में मैं तुम्हारे लिए उसके इतिहास के कुछ हिस्से जरूर देना चाहूँगा।

यूनान पर ईरानियों का पहला हमला नाकामयाब रहा। क्योंकि ईरानियों की फ़ौज, कूच के समय, रास्ते में बीमारी और रसद की कमी की वजह से बहुत मुसीबत में फँस गई थी। वह यूनान तक पहुँच भी न सकी और उसे वापस लौट आना पड़ा। ईसा से ४९० बरस पहले ईरानियों का दूसरा हमला हुआ। इस बार ईरानी सेना खुश्की का रास्ता छोड़कर समुद्री रास्ते से आई और एथेन्स के नज़दीक ही उसने अपना लंगर डाला। एथेन्स के निवासी इससे बहुत घबड़ा गये, क्योंकि ईरानी साम्राज्य की ताक़त की प्रसिद्धि उन दिनों बहुत ज्यादा थी। उन्होंने डरकर अपने पुराने दुश्मन स्पार्टावालों से सुलह करनी चाही और दोनों ही के एक से दुश्मन के ख़िलाफ़ उनसे मदद माँगी। लेकिन स्पार्टावालों के पहुँचने के पहले ही एथेन्सवालों नें ईरानी सेना को मार भगाया। यही मेरेथान की प्रसिद्ध लड़ाई है जोकि ईसा से ४९० बरस पहले हुई थी।

१. इन्दिरा की छोटी फुफेरी बहन चन्द्रलेखा पण्डित

यह एक अजीब सी बात मालूम होती है कि एक छोटा सा यूनानी नगर-राज्य एक बड़े साम्राज्य की सेना को हरा दे। लेकिन दरअसल यह जितनी आश्चर्यजनक मालूम पड़ती है उतनी है नहीं। यूनानी लोग जहाँ अपने घर के नज़दीक अपने देश के लिए लड़ रहे थे; तहाँ ईरानी सेना अपने देश से बहुत दूर थी और फिर वह साम्राज्य भर के दूर-दूर के हिस्सों के सैनिकों से बनी हुई थी। वे लोग लड़ते जरूर थे, लेकिन इसलिए कि उन्हें तनख़्वाहें मिलती थीं। यूनान को जीतने में उनको कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं थी। दूसरी तरफ़ एथेन्सवाले अपनी आज़ादी के लिए लड़ रहे थे। उन्हें अपनी आज़ादी खो देने से मरजाना कहीं ज्यादा पसन्द था। और जो लोग किसी उद्देश के लिए मरने को तैयार रहते हैं वे शायद ही कभी हराये जा सकते हैं।

इस तरह दारा मैरेथान में हार गया। इसके बाद ईरान पहुँचने पर वह मर गया, और उसकी जगह ज़ैरैक्सीज़ तख़्त पर बैठा। उसे भी यूनान फतह करने की धुन सवार थी। इसके लिए उसने सेना का संगठन करना शुरू किया। यहाँ मैं तुम्हें हेरोडोटस की लिखी एक दिलचस्प कहानी सुनाऊँगा।

आरटाबानस ज़ैरैक्सीज़ का चाचा था। उसका खयाल था कि ईरानी सेना को यूनान ले जाने में ख़तरा है, इसलिए उसने अपने भतीजे जैरैक्सीज़ को यह समझाने की कोशिश की कि वह यूनान से लड़ाई न छेड़े। हैरोडोटस का कहना है कि जैरैक्सीज़ ने उसे नीचे लिखा जवाब दिया--

"जो कुछ आप कहते हैं उसमें कुछ सचाई तो है, लेकिन आपको हर जगह ख़तरे का डर न करना चाहिए, और न हरेक जोखिम का ख़याल ही करना ठीक है। अगर आप हरेक घटना को एक ही तराजू से तौलेंगे तो कुछ भी न कर पावेंगे। भावी आशंकाओं से अपने दिल को व्यथित रखकर किसी ख़तरे का मुक़ाबिला न करने के बजाय आशावादी होकर आधी आपदाओं को सहलेना कहीं अच्छा है। अगर आप हर तजवीज़ पर एतराज़ तो करेंगे, लेकिन यह न बतलावेंगे कि कौन-सा रास्ता इख़्तियार करना चाहिए, तो आपको उतनी ही ज्यादा मुसीबत सहनी होगी, जितनी कि उन लोगों को, जिनका आप विरोध कर रहे हैं। तराजू के दोनों पलड़े बराबर हैं। कोई आदमी निश्चयपूर्वक यह कैसे जान सकता है कि कौन-सा पलड़ा किधर झुकेगा। मनुष्य तो इसे नहीं जान सकता। लेकिन कामयाबी आमतौर पर उन्हीं लोगों के साथ रहती है जो अपने निश्चयों पर अमल करते हैं; उनके साथ नहीं जो बुज़दिल होते हैं और फूँक-फूँक कर क़दम रखते हैं। ईरान की सल्तनत कितनी बड़ी और ताक़तवर हो गई है यह आप देखते हैं। अगर मेरे पूर्वाधिकारी आप ही की सी राय के होते या आप जैसे उनके सलाहकार होते। तो आज हमारी सल्तनत जो इतनी बढ़ी-चढ़ी है, वैसी आप कभी न देख पाते, ख़तरे उठाकर ही उन लोगों ने हम लोगों की आज यह शान बना दी है। जितनी

बड़ी चीज़ होगी उतने ही बड़े ख़तरों का सामना करने से ही वह हासिल होती है।"

मैंने यह लम्बा उद्धरण इसलिए दिया है, कि इससे इस ईरानी बादशाह का चरित्र जितना स्पष्ट हमारे सामने आ जाता है, उतना किसी दूसरे वर्णन से नहीं। आरटाबानस की सलाह अख़ीर में सच निकली और ईरानी सेना यूनान में हार गई। जैरैक्सीज हार जरूर गया, लेकिन उसके शब्दों में जो सचाई थी उसकी प्रतिध्वनि अभी तक सुनाई देती है और उससे हम सबको शिक्षा मिलती है। आज जब हम बडी-बडी चीज़ों के लिए कोशिश कर रहे हैं, हमें यह याद रखना चाहिए कि हमें बडे-बडे ख़तरों के बीच से भी गुज़रना पडेगा। तभी हम अपने उद्देश तक पहुँच सकेंगे।

बादशाह जैरैक्सीज़ अपनी बडी सेना लेकर एशिया माइनर पार कर गया और दरेंदानियाल या डार्डेनल्स से उतरकर (जो उस वक्त हैलैस्पोण्ड कहलाता था) योरप पहुँचा। कहते हैं, रास्ते में जैरैक्सीज ट्राय नगर के खंडहरों को देखने गया था, जहाँ यूनान के शूर-वीरों ने पुराने ज़माने में हेलन के लिए लड़ाई लडी थी। फ़ौज को दरेंदानियाल के उस पार भेजने के लिए दरेंदानियाल के ऊपर पुल बनाया गया। और जब ईरान की सेना पार उतर रही थी तो पास की एक पहाडी की चोटी पर से संगमरमर के तख़्त पर बैठकर, जैरैक्सीज ने उसपर नज़र डाली।

"और," हैरोडोटस ने लिखा है, "सारे दर्रे को जहाज़ों से भरा हुआ देखकर और एबीडोस के मैदान की ओर समुद्र के किनारे को, आदमियों से खचाखच भरा पाकर पहले तो जैरैक्सीज़ ने खुशी ज़ाहिर की और फिर वह रोने लगा। उसके चाचा आरटाबानस ने, जिसने कि पहले यूनानियों पर चढ़ाई करने का विरोध किया था, जब जैरैक्सीज़ को रोता हुआ देखा, तो उससे पूछा, 'बादशाह तू जो कुछ अभी कर रहा है और जो कुछ कर चुका, इन दोनों में कितना फ़र्क़ है? अभी तू ने खुशी ज़ाहिर की थी और अब तू आँसू गिरा रहा है।' जैरैक्सीज़ ने जवाब दिया, 'तुम्हारा कहना ठीक है। लेकिन मैं क्या करूँ? जब मैं गिनती कर चुका तो, यह देखकर कि जिन झुण्ड-के-झुण्ड आदमियों को हम यहाँ देख रहे हैं सौ साल के बाद उनमें से एक भी जिन्दा न रहेगा, मेरे हृदय में करुणा का समुद्र उमड़ आया और मन में यह विचार उठा कि इन्सान की जिन्दगी कितनी छोटी सी है?"

इस तरह यह बडी सेना खुश्की के रास्ते आगे बढ़ी और जहाज़ी बेड़ा समुद्र के रास्ते इसके साथ-साथ चला। लेकिन समुद्र ने यूनानियों का साथ दिया। एक बड़ा तूफान आया, जिससे ईरानियों के बहुत से जहाज़ नष्ट हो गये। यनानी लोग ईरान की बडी फौज देखकर डर गये थे; इसलिए उन्होंने फौरन अपने-

आपसी झगडों को भुला दिया, और हमला करनेवालों के ख़िलाफ़ एक हो गये। नतीजा यह हुआ कि यूनानी लोग पीछे हटते गये और थर्मापली में उन्होंने ईरानियों को रोकने की कोशिश की। थर्मापली एक बहुत तंग रास्ता था,। उसके एक तरफ़ पहाड़ था और दूसरी तरफ़ समुद्र, जिससे थोडे से आदमी भी दुश्मन से मोरचा ले सकते थे। लियोनीडस को तीन सौ स्पार्टा-निवासियों के साथ इस दर्रे की हिफ़ाजत के लिए मुकर्रर किया गया। दूसरे ग्यारह सौ यूनानी भी उसके साथ थे। मैरेथॉन की लड़ाई से ठीक दस वर्ष बाद भाग्य-निर्णय के इस दिन, इन वीरों ने अपने मुल्क की बख़ूबी सेवा की। इन्होंने ईरानियों की फौज को रोक दिया और यूनान की बाक़ी सेना पीछे हटती गई। इस तंग घाटी में एक के बाद दूसरा योद्धा काम आता था, लेकिन जैसे ही एक मरता कि दूसरा उसकी जगह ले लेता था। इस तरह ईरानी सेना आगे नहीं बढ़ सकी। लियोनीडस और उसके चौदह सौ साथी जब एक-एक करके थर्मापली में काम आचुके तब कहीं ईरानी सेना आगे बढ़ पाई। यह बात ईसा के ४८० बरस पहले की है। यानी आज से २४१० बरस हुए। मगर आज भी इन लोगों की अजेय वीरता याद करके हृदय काँप उठता है। आज भी थर्मापली जानेवाले मुसाफिर डबडबाती हुई आँखों से लियोनीडस और उसके साथियों के सन्देश को पत्थर पर खुदा हुआ पढ़ सकते हैं। सन्देसा यह है—

"ओ राहगीर! स्पार्टा को जाकर बताना कि उसका हुक्म माननेवाले हम लोग यहाँ पड़े हुए हैं।"[१]

मौत पर विजय पानेवाली हिम्मत अद्भुत होती है। लियोनीडस और थर्मापली अमर हो गये, और सुदूर हिन्दुस्तान में भी जब हम लोग इनकी याद करते हैं तो रोमाञ्च हो आता है। तब भला हमारे दिल और हमारी भावना का क्या कहना, जब हम अपने देशवासियों के बारे में सोचते हैं और अपने पूर्वजों का स्मरण करते हैं, जिन्होंने कि हमारे लम्बे इतिहास के एक सिरे से दूसरे सिरे तक मौत को हिक़ारत की नज़र से देखा है और मुस्कराते हुए उसे गले लगाया है; जिन्होंने अपमान और ग़ुलामी को मौत से बेहतर समझा है, पर ज़ुल्म के सामने सिर झुकाने के बजाय उसको मिटाना ज्यादा अच्छा माना है। चित्तौड़ और उसकी अनुपम कहानी का, राजपूत स्त्री और पुरुषों की बहादुरी के क़िस्सों का ज़रा ख़याल तो करो, और आजकल के ज़माने पर भी नज़र डालो। हमारे उन साथियों का भी ख़याल करो जिनका ख़ून हमारे ख़ून की ही तरह गरम है, और जिन्होंने हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिए मौत का सामना करने से भी मुँह नहीं मोड़ा है।

१. "Go tell to sparta, thou that passest by'
That here obedient to their words we lie."

थर्मापली ने ईरानी सेना को थोडी देर के लिए रोक जरूर लिया, लेकिन वह रुकावट बहुत देर के लिए क़ायम नहीं रही। यूनानी लोग ईरानी सेना के सामने से हट गये और कुछ यूनानी शहरों ने हार भी मानली। लेकिन गर्वीले एथेन्स-वासियों ने आत्म-समर्पण के बजाय यह ठीक समझा कि अपने प्यारे शहर को बरबाद होने के लिए छोड़कर वहाँ से चले जायँ। इसलिए सारी जनता ज्यादातर जहाजों के ज़रिये शहर से बाहर निकल गई। ईरानी लोग जब शहर में घुसे तो उसे निर्जन पाया और उन्होंने उसे जला दिया। मगर यूनानी जल-सेना अभीतक हारी नहीं थी। इसलिए सैलेमिस[१] टापू के पास बहुत बडी लड़ाई हुई। ईरानी जाहाज़ नष्ट कर दिये गये और इस आफ़त से बिलकुल निराश होकर जैरैक्सीज़ ईरान वापस लौट गया।

ईरान इसके बाद भी कुछ दिनों तक एक बड़ा साम्राज्य बना रहा। लेकिन मैरेथान और सैलेमिस की लड़ाई के बाद उसके पतन की शुरूआत हो गई थी। बाद में यह कैसे नष्ट हुआ, इस पर हम फिर विचार करेंगे। उस ज़माने में जो लोग रहे होंगे, उन्हें इस बडे साम्राज्य को डगमगाते देखकर जरूर ताज्जुब हुआ होगा। हैरोडोटस ने इस पर विचार करके बताया है कि उससे हमें क्या नसीहत मिलती है। उसका कहना है कि :—

"किसी भी राष्ट्र को तीन मंजिलों में से होकर गुज़रना पड़ता है। पहले उसको सफलता मिलती है, फिर उस सफलता के अभिमान में अन्याय और उद्दण्डता शुरू होती है और तब इन बुराइयों के फलस्वरूप उसका पतन हो जाता है।"

: १६ :

यूनानियों का वैभव

२३ जनवरी, १९३१

ईरानियों पर यूनानियों की विजय के दो परिणाम हुए। ईरानी साम्राज्य धीरे-धीरे गिरने लगा और ज्यादा से ज्यादा कमज़ोर होता गया। दूसरी तरफ़ यूनानी लोगों ने अपने इतिहास के शानदार युग में क़दम रक्खा। राष्ट्र के जीवन की यह शान कुछ दिनों तक ही रही। कुल मिलाकर उसका यह दबदबा २०० बरस से ज्यादा नहीं ठहरा। उस का यह वैभव ईरान के या उसके पहले के दूसरे विशाल साम्राज्यों के वैभव के जैसा नहीं था। बाद में महान् सिकन्दर पैदा हुआ। और

१. **सैलेमिस**—यूनान का प्रसिद्ध टापू। ५८० ई० पूर्व में इसके पास यूनानी और ईरानी जल-सेना की प्रसिद्ध लड़ाई हुई थी।

उसने कुछ दिनों के लिए अपनी विजयों से दुनिया को हैरत में डाल दिया। लेकिन इस समय हम उसकी चर्चा नहीं कर रहे हैं। हम तो ईरान की लड़ाइयों और सिकन्दर के आगमन के बीच के ज़माने का ज़िक्र कर रहे हैं--उस ज़माने का, जो थर्मापली और सैलेमिस से १५० बरस तक रहा।

ईरान से जो ख़तरा था उसकी वजह से तमाम यूनानी एक हो गये थे। लेकिन जब यह ख़तरा जाता रहा तो उनमें फिर फूट पैदा हो गई और वे थोड़े ही दिनों बाद आपस में झगड़ने लगे। ख़ासकर एथेन्स और स्पार्टा के नगर-राज्य एक-दूसरे के घोर प्रतिद्वन्द्वी थे। लेकिन हम उनके झगड़ों की चर्चा की झंझट में न पड़ेंगे। उनका कोई महत्व नहीं है। हमें सिर्फ़ इसलिए उनकी याद आती है कि उन दिनों दूसरी बातों में यूनान की महानता बहुत बढ़ी हुई थी। उस ज़माने से सम्बन्ध रखनेवाली सिर्फ़ थोड़ी सी किताबें, कुछ मूर्तियां और कुछ खण्डहर ही अब हमें मिलते हैं। लेकिन ये थोड़ी-सी चीज़ें भी ऐसी हैं कि उन्हें देखकर हमारा दिल ख़ुशी से भर जाता है, और यूनानी लोगों की अनेकांगी महानता पर हम ताज्जुब करने लगते हैं। इन सुन्दर मूर्तियों और इमारतों के बनाने में इनके दिमाग़ कितने उन्नत और हाथ कितने कुशल रहे होंगे। फीडियास उस ज़माने का मशहूर मूर्त्ति बनानेवाला था। उसके अलावा और भी कई मशहूर लोग थे। इनके दुःखान्त और सुखान्त दोनों ही तरह के नाटक, अभी भी अपने ज़माने के सब से उत्तम नाटक माने जाते हैं। इस वक्त तो तुम्हारे लिए सोफोक्लीज़[१], ऐस्किलस[२], यूरिपिडीज़[३] एरिस्टोफेनीज़[४],

१. **साफ़ोक्लीज़**--यूनान का प्रसिद्ध दुखान्त नाटककार और कवि। इसका समय ४९५ से ४०५ ई० पू० है। ४६८ ई० पू० में इसने अपने प्रतिद्वन्द्वी एस्किलस को हराकर इनाम पाया। तबसे ४९१ ई० पू० तक वह यूनान का कवि सम्राट् रहा।

२. **एस्किलस**--एक प्रसिद्ध ग्रीक नाटककार। इसका जन्म ईसा से पहले ५२५ साल में हुआ था। मैरेथान, सेलेमिस और लिटिपो की लड़ाइयों में इसने हिस्सा लिया और दो बार इसे अपनी दो नाटकों पर, सर्वोत्तम दुःखान्त नाटक पर दिया जानेवाला पुरस्कार मिला। कहा जाता है कि इसने कुल ७० दुखान्त नाटक लिखे, जिनमें ७ अब भी मौजूद हैं। क़रीब ७० बरस की उम्र में उसकी मृत्यु हुई।

३. **यूरीपिडीज़**--यूनान का प्रसिद्ध दुखान्त नाटककार और कवि। इसका जन्म ईसा से ४८० वर्ष पूर्व हुआ था। यह नाटकों में आदर्श के बजाय वास्तविकता के वर्णन पर ज़ोर देता था। इसे अपने नाटकों पर इनाम मिला था इसकी कविता बड़ी अच्छी है। यह उस समय के धर्म का मजाक उड़ाया करता था।

४. **एरिस्टोफ़ेनीज़**--यह एथेन्स का प्रसिद्ध हंसोड़ कवि और नाटककार था। इसका समय क़रीब ४४५ से ३८० ईसा से पहले तक का है। इसके सुखान्त नाटकों

मैनेण्डर[१], पिण्डार[२], सैफो[३], और कुछ दूसरों के सिर्फ़ नाम ही दिये जा सकते हैं। लेकिन बडी होने पर तुम उन्हें पढ़ोगी और मुझे आशा है, कि तब यूनान के उस वैभव का कुछ अन्दाज लगा सकोगी।

यूनानी इतिहास का यह जमाना हमें यह चेतावनी देता है कि किसी देश के इतिहास को हम किस तरह से पढ़ें। अगर हम यूनानी राज्यों में होनेवाली टुच्ची लड़ाइयों और ओछेपन की दूसरी बातों पर ही ध्यान देते रहें तो हमें यूनानियों के बारे में क्या मालूम हो सकता है ? अगर हम उनको समझना चाहते हैं, तो हमें उनके विचारों की तहतक पहुँचना पडेगा और समझना होगा कि वे क्या सोचा-विचारा करते थे और उन्होंने क्या-क्या किया है ? असल में जो चीज महत्व की है, वह तो है, किसी जाति के मानसिक विकास का इतिहास। और यही वह चीज है, जिसने मौजूदा योरप को बहुत-सी बातों में पुरानी यूनानी सभ्यता का बच्चा बना दिया है।

यह बात भी अजीब और बडी दिलचस्प मालूम होती है कि किस तरह क़ौमों की ज़िन्दगी में ऐसे शानदार युग आते हैं और चले जाते हैं। थोडी देर के लिए वे हरेक चीज को चमका देते हैं और उस ज़माने और उस देश के पुरुषों और स्त्रियों में सौन्दर्य और कलापूर्ण वस्तुयें बनाने की योग्यता पैदा कर देते हैं। सारी जाति में एक नई ज़िन्दगी पैदा हो जाती है। हमारे देश में भी ऐसे युग हुए हैं। हमारे यहाँ इस तरह का सबसे पुराना युग, जो हम जानते हैं, वह था, जब उपनिषद् और दूसरे ग्रन्थ लिखे गये। दुर्भाग्य से हमारे पास उस ज़माने का कोई लिखित इतिहास नहीं है। मुमकिन है, बहुत-सी सुन्दर और महान् रचनायें नष्ट हो गई हों या कहीं छिपी पडी हों और खोज करके निकाले जाने की राह देख रही हों। लेकिन फिर भी हमारे पास इतना मसाला ज़रूर है, जिससे यह बात साफ़ हो जाती है कि

से उस ज़माने की बहुत-सी बातों का पता चलता है और इसके शाब्दिक व्यंग चित्रों मे उस समय के प्रधान व्यक्तियों का व्यक्तित्व आँखों के सामने खिंच जाता है।

१. **मैनेण्डर**—यूनान के एथेन्स नगर-राज्य का सुखान्त नाटकों का प्रसिद्ध नाटककार और कवि। ई० पू० ३४२ में इसका जन्म हुआ और २९१ ई० पू० में पाइरियम के बन्दरगाह के पास के समुद्र में तैरता हुआ डूब गया।

२. **पिण्डार**—यूनान का लिरिक कविता का सर्वोत्तम कवि। क़रीब ५५२ ई० पू० में इसका जन्म हुआ था। यूनानी राष्ट्रों और राजाओं में इसकी कविता की बड़ी मांग रहती थी। इसकी इपिस्नियया नामक कविता ही अब बाक़ी बची है, जो चार जिल्दों में है।

३. **सैफ़ो**—यूनान की प्रसिद्ध कवियत्री। यह ५८० ई० पू० में हुई। कविता, फ़ैशन और प्रेम की यह अपने समय की रानी थी।

उस पुराने जमाने के भारतीय बुद्धि और विचार में कितने बढ़े-चढ़े थे। बाद के भारतीय इतिहास में भी इस तरह के शानदार युग पाये जाते हैं और सम्भव है, अपने युग-युगान्तरों में घूमते-घामते शायद हमारी किसी शानदार युग से फिर भेंट हो जाय।

एथेन्स उस जमाने में ख़ास तौर से मशहूर हो गया था। उसका नेता एक बड़ा भारी राजनीतिज्ञ था, जिसका नाम पैरिक्लीज़ था। ३० बरस तक वह एथेन्स में हुक़ूमत करता रहा। उस जमाने में एथेन्स बहुत ऊँचे दरजे का शहर बन गया था। सुन्दर-सुन्दर इमारतों से वह भरपूर था और बडे-बडे कलाकार और विचारक वहाँ रहते थे। आज भी वह पैरिक्लीज़ का एथेन्स कहा जाता है और पैरिक्लीज़ के जमाने की हम चर्चा किया करते हैं।

हमारे इतिहास-लेखक मित्र हेरोडोटस ने, जो क़रीब-क़रीब इन्हीं दिनों एथेन्स में रहता था, एथेन्स की इस उन्नति पर विचार किया था और हरेक बात का नैतिक परिणाम निकालने की उसे ख़्वाहिश रहा करती थी। इसलिए उसने एक नैतिक परिणाम निकाला था। अपने इतिहास में वह लिखता है :--

> "एथेन्स की ताक़त बढ़ी यह इस बात का प्रमाण है--और ये प्रमाण आपको सब जगह मिल सकते हैं--कि आज़ादी एक अच्छी चीज़ है। जबतक एथेन्सवासियों पर निरंकुश शासन होता था, वे अपने किसी भी पड़ोसियों से लड़ाई में या और किसी बात में नहीं बढ़ पाते थे। लेकिन जबसे उन्होंने अपने यहाँ के निरंकुश शासकों को ख़त्म कर डाला, तबसे वे अपने पड़ोसियों से बहुत आगे बढ़ गये। इससे यह ज़ाहिर होता है कि गुलामी में वे अपनी इच्छा से कोशिश नहीं करते थे, बल्कि अपने मालिक के स्वार्थ का काम समझकर मज़दूरी-सी करते थे। लेकिन जब वे आज़ाद हो गये तो हरेक व्यक्ति अपनी इच्छा से, बड़ी लगन से, ज्यादा-से-ज्यादा काम करने लगा।"

मैंने इस ख़त के शुरू में उस जमाने के कुछ बडे-बडे आदमियों के नाम बताये हैं। लेकिन मैंने अभी तक एक ऐसे बडे आदमी का नाम नहीं बताया, जो उस वक़्त का ही नहीं, उस सारे युग का सबसे बड़ा आदमी हुआ है। उसका नाम है सुक़रात'

१. **सुक़रात**--इसे सॉक्रेटीज़ भी कहते हैं। यह यूनान देश के एथेन्स नगर-राज्य का मशहूर वेदान्ती था। इसका जन्म ४७९ ई० पू० में हुआ था। ३९९ ई० पू० में उस पर नौजवानों को बिगाड़ने और दूसरे देवताओं में विश्वास करने का जुर्म लगाया गया। लेकिन यह तो बहाना था। असली कारण तो राजनैतिक था। उसे मौत की सज़ा दी गई, और ज़हर का प्याला उसके पास भेजा गया, जिसे वह ख़ुशी से पी गया। आख़िरी दम तक वह अफ़लातून और अपने दूसरे शिष्यों से आत्मा की अमरता की चर्चा करता रहा। वह बड़ा विद्वान् था।

या सॉक्रेटीज । यह फ़िलासफर था और हमेशा सत्य की तलाश में रहता था। उसके लिए सच्चा ज्ञान ही एक ऐसी चीज थी, जिसे वह प्राप्त करने योग्य समझता था। वह अपने मित्रों और जान-पहचान के लोगों से अक्सर कठिन समस्याओं पर विचार और चर्चा करता रहता था, जिससे बहस-मुबाहिसे में शायद कोई सचाई निकल आये। उसके कई शिष्य थे, उनमें सबसे बड़ा प्लेटो[1] या अफ़लातून था। अफलातून ने कई किताबें लिखी हैं, जो आज भी मिलती हैं। इन्हीं किताबों से हमें उसके गुरु सुक़रात का बहुत-कुछ हाल मिलता है। यह तो साफ़ है कि सरकारें ऐसे आदमियों को पसन्द नहीं किया करतीं, जो हमेशा नई-नई खोज में लगे रहते हों--वह सचाई की तलाश पसन्द नहीं करती। एथेन्स की सरकार को, जो कि पैरिल्कीज के जमाने के थोडे दिन बाद ही हुई थी, सुकरात का रंग-ढंग पसन्द नहीं आया। उस पर मुक़दमा चलाया गया और उसे मौत की सज़ा दी गई। सरकार ने उससे कहा कि अगर वह लोगों से बहस-मुबाहिसा करना छोड़ दे और अपनी चाल-ढाल बदल दे तो उसे छोड़ दिया जा सकता है। लेकिन सुकरात ने ऐसा करने से इन्कार दिया और जिस बात को अपना फ़र्ज़ समझता था, उसे छोड़ने के बजाय ज़हर के प्याले को अच्छा समझा--जिसे पीकर वह मर गया। मरते वक़्त उसने अपने पर इलज़ाम लगानेवालों, जजों और एथेन्सवासियों को सम्बोधित करते हुए उसने कहा :--

"अगर आप लोग मुझे इस शर्त पर रिहा करना चाहते हों कि मैं सत्य की अपनी खोज को छोड़ दूं, तो मैं यह कहूँगा कि ऐ एथेन्सवासियो ! मैं आप लोगों को धन्यवाद देता हूँ। पर मैं आपकी बात मानने के बजाय ईश्वर का हुक्म मानूँगा, जिसने, जैसा कि मेरा विश्वास है, मुझे यह काम सौंपा है और जबतक मेरे दम-में-दम है, मैं अपने इस काम से बाज़ न आऊँगा। मैं अपना यह तरीक़ा बराबर जारी रक्खूंगा कि जो कोई मुझे मिलेगा, उससे प्रणाम करके मैं यही पूछूंगा—'क्या तुम्हें इस बात में शर्म नहीं लगती कि तुमने अपना ध्यान धन और इज्ज़त के पीछे लगा रक्खा है और सचाई या ज्ञान की ओर अपनी आत्मा को उच्च बनाने की कोई फिक्र नहीं कर रहे हो ?' मैं नहीं जानता कि मौत क्या चीज़ है। मुमकिन है, वह अच्छी चीज़ हो—मैं उससे नहीं डरता। लेकिन मैं यह जानता हूँ कि अपनी जगह और जिम्मेदारी को छोड़कर भाग जाना बुरा काम है। और इसलिए मैं जिस चीज़ को निश्चयपूर्वक बुरा समझता हूँ, उससे, उस चीज़ को, जो मुमकिन है, अच्छी हो ज्यादा अच्छी समझता हूँ।"

१, **प्लेटो**—सुकरात का भक्त और शिष्य था। वह ४२७ ईस्वी पूर्व में पैदा हुआ था और ३४७ ई० पूर्व में मर गया था। उसने एथेन्स में एक स्कूल (Academy) स्थापित किया था जहाँ फिलास्फी और मेटा फिजिक्स की शिक्षा दी जाती थी। उसने राजनीति पर कई पुस्तकें लिखि हैं जिनमें "प्लेटो का प्रजातन्त्र" अधिक प्रसिद्ध है।

अपनी ज़िन्दगी में सुकरात ने सत्य और ज्ञान की बहुत सेवा की। लेकिन इससे भी ज्यादा उनकी सेवा उसने अपनी मौत से की है।

आजकल तुम अक्सर साम्यवाद और पूंजीवाद या अनेक दूसरी समस्याओं के बारे में होनेवाली चर्चाओं को पढ़ा या सुना करती होगी। दुनिया में बहुत-सी मुसीबतें और अन्याय पाये जाते हैं। बहुत-से लोग इस दशा से बहुत असन्तुष्ट हैं और इसे बदलना चाहते हैं। अफलातून ने भी शासन-सम्बन्धी समस्याओं पर विचार किया था। और इस विषय पर उसने लिखा भी है। इस प्रकार उस जमाने में भी लोग इस बात का विचार करते थे कि किसी देश के समाज या सरकार की शक्ति कैसे बदली जा सकती है, जिससे चारों ओर ज्यादा सुख और शान्ति हो।

जब अफ़लातून बूढ़ा होने लगा, एक दूसरा यूनानी, जो बाद में बहुत मशहूर हो गया, सामने आरहा था। उसका नाम था अरस्तू[1] या एरिस्टाट्ल। महान् सिकन्दर या 'एलेक्जेण्डर दि ग्रेट' का वह शिक्षक रह चुका था और सिकन्दर ने उसके काम में बहुत मदद की थी। अरस्तू सुक़रात और अफलातून की तरह फ़िलासफी—तत्वज्ञान—की समस्याओं में नहीं उलझता था। वह ज्यादातर क़ुदरत की चीज़ों और उसके तौर-तरीक़ों के निरीक्षण में लगा रहता था। इसको प्रकृति-दर्शन या आजकल अक्सर प्राकृतिक विज्ञान कहते हैं। इस तरह अरस्तू को पहले जमाने का वैज्ञानिक कह सकते हैं।

अब हमें अरस्तू के शिष्य महान् सिकन्दर की तरफ़ आजाना चाहिए और उसकी तेज़ जीवन-यात्रा पर नज़र डालनी चाहिए। लेकिन यह कल होगा। आज मैंने बहुत काफ़ी लिख डाला है।

आज वसन्त पंचमी है—वसन्त की शुरूआत है। सरदी का छोटा-सा मौसम बीत चुका और हवा का तीखापन जाता रहा। चिड़ियाँ अब ज्यादा-से-ज्यादा तादाद में आने लगी हैं और अपने गानों से सारे दिन को गुलज़ार रखती हैं। और आज से ठीक पन्द्रह बरस पहले, आज ही के दिन, दिल्ली शहर में, तुम्हारी ममी के साथ मेरी शादी हुई थी।

१. अरस्तू—यह अरिस्टाटल भी कहलाता है। यह एक प्रसिद्ध यूनानी तत्त्ववेत्ता (फ़िलासफ़र) था। इसका जन्म ईसा से पहले ३८४ साल में हुआ था। यह प्रसिद्ध दार्शनिक अफ़लातून (प्लेटो) का शिष्य और सिकन्दर महान् का गुरु था। इसमें असाधारण प्रतिभा और विद्वत्ता थी और पश्चिमी राजनीति, दर्शन और तर्क के विद्यार्थी को उसके ग्रन्थ अब भी लाज़मी तौर पर पढ़ने पड़ते हैं। उसका 'राजनीति' नामक ग्रन्थ बड़ा प्रसिद्ध है।

: १७ :

एक मशहूर विजेता : लेकिन घमण्डी युवक

२४ जनवरी, १९३१

अपने पिछले ख़त में, और उसके पहले भी मैंने तुम्हें महान् सिकन्दर के बारे में कुछ लिखा था। मेरा ख़याल है कि मैंने उसे यूनानी बताया है। लेकिन ऐसा कहना एकदम सही न होगा। असल में वह मक़दूनिया या मेसीडोनिया का रहनेवाला था, जो यूनान के ठीक उत्तर में है। मक़दूनियावाले कई बातों में यूनानियों की तरह थे। उन्हें तुम यूनानियों के चचेरे भाई कह सकती हो। सिकन्दर का पिता फ़िलिप मक़दूनिया का बादशाह था।। वह बहुत क़ाबिल था। उसने अपने छोटे से राज्य को बहुत मज़बूत बना लिया था और एक बहुत प्रभावशाली और चुस्त सेना संगठित कर ली थी। सिकन्दर 'महान्' कहलाता है और इतिहास में बहुत मशहूर है। लेकिन उसने जो कर दिखाया, इसकी वजह तो यह थी कि उसके पिता ने पहले ही से उसके लिए ज़मीन तैयार कर रक्खी थी। सिकन्दर बड़ा आदमी था या नहीं, यह कह सकना मुश्किल काम है। कम-से-कम मैं अपने अनुकरण करने के लिए उसे वीर नहीं मानता। लेकिन थोडी ही ज़िन्दगी में उसने दो महाद्वीपों पर अपना नाम अंकित कर दिया और इतिहास में वह पहला विश्व-विजयी माना जाता है। मध्यएशिया के भीतर के देशों में सिकन्दर के नाम से वह अभी तक मशहूर है। असल में वह चाहे जैसा रहा हो, पर इतिहास के पन्नों में वह बड़ा तेजस्वी और शानदार माना गया है। बीसियों शहर उसके नाम पर बसाये गये, जिनमें से बहुत-से आजतक भी मौजूद हैं। इनमें सबसे बड़ा शहर मिस्र का अलेक्ज़ेण्ड्रिया या सिकन्दरिया है।

जब सिकन्दर बादशाह हुआ तब उसकी उम्र सिर्फ़ बीस साल की थी। महानता प्राप्त करने के हौसले और जोश से उसका दिल भरा हुआ था। अपने पिता द्वारा सुसंगठित सेना को लेकर अपने पुराने दुश्मन ईरान पर धावा करने के लिए वह बेताब हो रहा था। यूनानी लोग न तो फिलिप को चाहते थे, न सिकन्दर को। लेकिन उनकी ताक़त को देखकर वे लोग कुछ दब से गये थे। इसलिए एक-एक करके उन सब यूनानियों ने ईरान पर धावा करनेवाली सेना का सेनापति सिकन्दर को मान लिया था। इसतरह उन्होंने इस नई ताक़त के सामने सिर झुका दिया जो उस समय पैदा हो रही थी। थीब्स नाम के एक यूनानी शहर ने सिकन्दर का आधिपत्य नहीं माना और बलवा कर दिया। इस पर सिकन्दर ने, उस पर बडी क्रूरता और निर्दयता के

साथ आक्रमण करके, उस मशहूर शहर को नष्ट कर दिया, उसकी इमारतें ढहा दीं, बहुत से नगर-निवासियों को क़त्ल कर डाला और हजारों को गुलाम बनाकर बेंच दिया। अपने इस जंगलीपन के बर्ताव से यूनान को उसने और भयभीत कर दिया। बर्बरता और जंगलीपन की यह और इसी तरह की दूसरी घटनायें ऐसी थीं, जो सिकन्दर के हाथों हुई थीं और जिनकी वजह से सिकन्दर हमारी नज़रों में तारीफ़ के क़ाबिल नहीं रह जाता। हमें नफ़रत पैदा होती है और हम उससे दूर भागने की कोशिश करते हैं।

सिकन्दर ने मिस्र को, जो उस वक्त ईरानी बादशाह के अधीन था, आसानी से जीत लिया। इसके पहले ही वह ईरान के बादशाह तीसरे दारा को, जो ज़ेरक्सीज़ का उत्तराधिकारी था, हरा चुका था। दूसरी बार उसने फिर ईरान पर हमला किया और दारा को दूसरी बार फिर हराया। शाहँशाह दारा के विशाल महल को यह कहकर तहस-नहस कर दिया और जला डाला कि ज़ेरक्सीज़ ने एथैन्स को जो जलाया था, उसीका यह नतीजा है।

फारसी ज़बान में एक पुरानी किताब पाई जाती है जो फ़िरदौसी नामक कवि ने एक हज़ार वर्ष हुए लिखी थी। उसे शाहनामा कहते हैं। वह ईरान के बादशाहों की एक तवारीख़-सी है। उसमें दारा और सिकन्दर की लड़ाइयों का भी बहुत काल्पनिक ढंग से वर्णन किया गया है। उसमें लिखा है कि सिकन्दर से हार जाने पर दारा ने हिन्दुस्तान से मदद माँगी। 'हवा की तरह तेज़ रफ्तार से चलनेवाला ऊँट-सवार' पुरु या पोरस के पास भेजा, जो उस वक्त हिन्दुस्तान के उत्तर-पश्चिम में राज्य करता था। लेकिन पोरस उसकी ज़रा भी मदद न कर सका। थोडे दिनों बाद उसे ख़ुद ही सिकन्दर के हमले का मुकाबिला करना पड़ा। इस किताब में—फ़िरदौसी के शाहनामे में—एक बडी दिलचस्प बात यह है कि उसमें हिन्दुस्तान की तलवार और कटार का, ईरानी राजाओं और सरदारों द्वारा इस्तेमाल किये जाने का, बहुत काफ़ी जिक्र पाया जाता है। इससे पता चलता है कि सिकन्दर के ज़माने में भी हिन्दुस्तान में बढ़िया फौलाद की तलवारें बनती थीं, जिनकी विदेशी मुल्कों में बडी क़दर थी।

सिकन्दर ईरान से आगे बढ़ता गया। उस इलाक़े को, जहां आज हेरात, क़ाबुल और समरकन्द है, पार करता हुआ वह सिन्ध नदी की उत्तरी घाटी तक पहुँच गया। वहीं पर उसकी उस हिन्दुस्तानी राजा से मुठभेड़ हुई, जिसने सबसे पहले उसका मुक़ाबिला किया। यूनान के इतिहास-लेखक उसका नाम अपनी भाषा में पोरस बताते हैं। उसका असली नाम भी कुछ इसी तरह का रहा होगा, लेकिन हम

नहीं जानते कि वह क्या था। कहते हैं कि पोरस ने बडी बहादुरी से मुक़ाबिला किया और उसे जीतना सिकन्दर के लिए कोई आसान काम साबित नहीं हुआ। कहते हैं कि वह बहुत लम्बे डील-डौल का और बड़ा बहादुर आदमी था। सिकन्दर पर उसकी हिम्मत और बहादुरी का इतना असर पड़ा कि उसके द्वारा अपने को हरा दिये जाने पर भी उसने उसे उसकी गद्दी पर क़ायम रखा। लेकिन अब वह राजा के बजाय यूनानियों का माण्डलिक यानी गवर्नर हो गया।

सिकन्दर उत्तर-पश्चिम के खैबर के दर्रे को पारकर रावलपिंडी से कुछ दूर उत्तर में तक्षशिला[1] के रास्ते हिन्दुस्तान में आया। आज भी तुम्हें इस पुराने शहर के खंडहर देखने को मिल सकते हैं। पोरस को हराने के बाद सिकन्दर ने दक्षिण की ओर गंगा की तरफ़ बढ़ने का इरादा किया था। लेकिन बाद में उसने ऐसा नहीं किया, और सिन्ध नदी की घाटी में से होकर वह वापस चला गया। यह एक शंकास्पद बात है कि अगर सिकन्दर हिन्दुस्तान के अन्दर के हिस्से की तरफ़ बढ़ा होता तो क्या उस की विजय जारी रहती? या हिन्दुस्तानी सेनाओं ने उसे शिकस्त दे दी होती? पोरस के-से एक सरहदी राजा ने जब उसे इतना परेशान किया तो यह बहुत मुमकिन मालूम होता है कि बीच के हिन्दुस्तान के बडे-बडे राज्य सिकन्दर को रोकने के लिए काफ़ी मजबूत साबित होते। लेकिन सिकन्दर क्या चाहता था और क्या नहीं, यह दूसरी बात है पर उसकी सेना ने अपना रास्ता निश्चित कर लिया। कई बरसों से घूमते-घूमते वह बहुत थक गई थी। शायद हिन्दुस्तानी सिपाहियों के रण-कौशल का भी उसपर असर पड़ा, इसलिए हारने की जोखिम में वह अपने को नहीं डालना चाहती थी। वजह चाहे जो रही हो, सेना ने वापस लौटने की जिद की और सिकन्दर को राज़ी होना पड़ा। लेकिन वापसी का सफ़र बहुत मुसीबत का साबित हुआ। रसद और पानी की कमी की वजह से फ़ौज को बहुत नुक़सान पहुँचा। इसके बाद ही ईसा से ३२२ साल पहले सिकन्दर बेबीलन पहुँचकर मर गया। ईरान पर हमला करने के लिए रवाना होने के बाद वह अपनी मातृ-भूमि मक़दूनिया को कभी नहीं देख पाया।

१. **तक्षशिला**—जिला रावलपिण्डी (पंजाब) का एक अत्यन्त प्राचीन और प्रसिद्ध नगर। रामायण के ज़माने में यह गन्धर्वों की राजधानी थी और महाभारत के अनुसार यहीं जनमेजय ने अपना सर्पयज्ञ किया था। पहली सदी में यह नगर अमन्द्र नाम से भी मशहूर था। इस शहर के खण्डहर छः वर्गमील में फैले हुए हैं और उनमें बहुत-से बौद्ध मन्दिर और स्तूप देखने में आते हैं। वहाँ का विश्वविद्यालय प्राचीन इतिहास में बड़ा मशहूर रहा है। उसमें शिक्षा पाने के लिए मध्यएशिया और चीन तक से विद्यार्थी आया करते थे।

इस तरह सिकन्दर ३३ बरस की उम्र में मर गया। इस 'महान्' आदमी ने अपनी छोटी-सी जिन्दगी में क्या किया? इसने कुछ शानदार लड़ाइयाँ जीतीं। बिला शक वह बहुत बड़ा सेनापति था। लेकिन साथ ही वह अभिमानी और घमण्डी भी था, और कभी-कभी बहुत निर्दयी और उद्दण्ड हो जाता था। अपने को वह बिलकुल देवता समझता था। क्रोध के आवेश में या क्षणिक उन्माद में उसने अपने कई सच्चे दोस्तों को क़त्ल कर दिया और बडे-बडे शहरों, को उसके रहनेवालों समेत, नष्ट कर डाला। अपने बनाये साम्राज्य में, अपने बाद वह कुछ भी ठोस चीज़—यहां तक कि अच्छी सड़कें भी—नहीं छोड़ गया। आकाश के टूटनेवाले तारे की तरह यह एकदम चमका और ग़ायब हो गया, और अपने पीछे अपनी स्मृति के अलावा और कुछ भी नहीं छोड़ गया। उसकी मौत के बाद, उसके घर के लोगों ने एक-दूसरे को क़त्ल कर दिया। उसका साम्राज्य टुकडे-टुकडे हो गया। सिकन्दर को संसार-विजयी कहा जाता है और कहते हैं कि एक बार वह बैठा-बैठा इसलिए रो उठा कि उसके जीतने के लिए दुनिया में अब कुछ बाक़ी नहीं बचा था। लेकिन सच तो यह है कि उत्तर-पश्चिम के कुछ हिस्से को छोड़कर हिन्दुस्तान को ही वह बिलकुल नहीं जीत पाया था। चीन की उस वक़्त भी बहुत बडी सल्तनत थी लेकिन सिकन्दर उसके नज़दीक तो पहुँच भी नहीं पाया था।

उसकी मृत्यु के बाद, उसके सेनापतियों ने उसकी सल्तनत को आपस में बाँट लिया। मिस्र टालमी[1] के हिस्से में पड़ा। उसने वहाँ एक मज़बूत राज्य की नींव डाली और एक राज-वंश चलाया। इसकी हुकूमत में मिस्र, जिसकी राजधानी सिकन्दरिया थी, बहुत शक्तिशाली राज्य बन गया। सिकन्दरिया बहुत बड़ा शहर था और अपने विज्ञान, दर्शन (फ़िलासफ़ी) और विद्या के लिए मशहूर था।

ईरान, इराक़ और एशिया माइनर का एक हिस्सा दूसरे सेनापति सेल्यूकस के हिस्से में आया। हिन्दुस्तान का उत्तर-पश्चिमी हिस्सा भी, जिसे सिकन्दर ने जीता था, इसीको मिला। लेकिन वह हिंदुस्तान के हिस्से पर अपना अधिकार क़ायम नहीं रख सका और सिकन्दर की मौत के बाद यूनानी सेना यहाँ से भगा दी गई।

१. **टालमी**—प्रथम सोटर ग्रीक साम्राट्, सिकन्दर, का एक सेनापति था जो उसकी मृत्यु के पश्चात् ३०५ ई० पू० में मिस्र का सम्राट् बन बैठा। इसीने टालमी राजवंश चलाया, जो ३० ई० पू० तक राज्य करता रहा। इस सम्राट् का काल ३८३ ई० पू० से ३६७ ई० पू० तक है। इसने उत्तरी मिस्र में टालेमाय-नामक एक प्रसिद्ध और शानदार शहर बसाया और एक पुस्तकालय और अजायबघर की योजना की।

सिकन्दर हिन्दुस्तान में ईसा से पहले ३२६ वें साल में आया था। इसका आना क्या था, एक तरह का धावा था। हिन्दुस्तान में इसकी वजह से कोई फ़र्क़ नहीं आया। कुछ लोगों का ख़याल है कि इस धावे से हिन्दुस्तानियों और यूनानियों के आपसी सम्पर्क में मदद मिली। लेकिन सच तो यह है कि सिकन्दर के पहले भी पूर्व और पश्चिम के देशों में आपस में आमदरफ्त थी और हिन्दुस्तान का ईरान और यूनान से बराबर सम्पर्क जारी था। सिकन्दर के आने से यह सम्पर्क कुछ और बढ़ा ज़रूर होगा और दोनों हिन्दुस्तानी और यूनानी सभ्यतायें बहुत हद तक एक-दूसरे से मिल जुल गई होंगी। 'इण्डिया' शब्द ही यूनानी 'इण्डास' से बना है, और 'इण्डास' की उत्पत्ति इण्डस अर्थात् 'सिन्ध नदी' से हुई है।

सिकन्दर के धावे और उसकी मृत्यु से हिन्दुस्तान में एक बहुत बडे साम्राज्य—मौर्य्य साम्राज्य—की नींव पडी। हिन्दुस्तान के इतिहास का यह एक बहुत शानदार युग है और इसके अध्ययन में हमें कुछ समय लगाना चाहिए।

: १८ :

चन्द्रगुप्त मौर्य्य और कौटिलीय अर्थशास्त्र

२५ जनवरी १९३१

अपने एक ख़त में मैंने मगध का ज़िक्र किया था। यह एक बहुत पुराना राज्य था और उस प्रान्त में बसा हुआ था, जहाँ आजकल बिहार का प्रान्त है। इस राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी, जो आजकल पटना कहलाता है। जिस समय का हम ज़िक्र कर रहे हैं, उस वक़्त मगध-देश पर नन्दवंश का राज्य था। जब सिकन्दर ने उत्तर-पश्चिम भारत पर धावा किया था, पाटलिपुत्र की राजगद्दी पर नन्दवंश का एक राजा राज्य करता था। चन्द्रगुप्त नाम का एक नवयुवक, जो सम्भवतः इस राजा का कोई रिश्तेदार था, वहाँ रहता था। वह बड़ा चतुर, उत्साही और महत्वाकांक्षी आदमी मालूम पड़ता था। इसलिए नन्द राजा ने उसे ज़रूरत से ज्यादा चालाक समझकर और उसके किसी काम से नाराज़ होकर उसे अपने राज्य से निर्वासित कर दिया। शायद सिकन्दर और यूनानियों की कहानियों से आकर्षित होकर चन्द्रगुप्त उत्तर की ओर तक्षशिला चला गया। उसके साथ विष्णुगुप्त नाम का एक विद्वान् और अनुभवी ब्राह्मण भी था, जिसे चाणक्य भी कहते हैं। चन्द्रगुप्त और चाणक्य दोनों ही कोई नरम और दब्बू स्वभाव के न थे, जो भाग्य और होनहार के सामने सिर झुका देते। उनके दिमाग़ में बडी-बडी और हौसले से भरी योजनायें थीं, और वे

आगे बढ़ना और सफलता प्राप्त करना चाहते थे। शायद सिकन्दर के वैभव से चन्द्रगुप्त चकित और उसकी ओर आकर्षित हो गया था और उसके उदाहरण का अनुकरण करना चाहता था। अपने उद्देश्य का पूर्ति के लिए चाणक्य उसे एक आदर्श मित्र, और योग्य सलाहकार मिल गया था। ये दोनों ही सजग रहते थे और ग़ौर से देखते रहते थे कि तक्षशिला में क्या हो रहा है। वे अपने मौक़े की तलाश में थे।

जल्दी ही उनको मौक़ा मिल गया। ज्योंही सिकन्दर के मरने की ख़बर तक्षशिला पहुँची, चन्द्रगुप्त ने समझ लिया कि काम करने का समय आगया। उसने आसपास के लोगों को उभाड़ा और उनकी मदद से यूनानियों की फ़ौज पर, जिसे सिकन्दर छोड़ गया था, आक्रमण कर दिया ओर उसे भगा दिया। तक्षशिला पर क़ब्ज़ा करने के बाद चन्द्रगुप्त और उसके सहायकों ने पाटलिपुत्र पर धावा किया और राजा नन्द को हरा दिया। यह ३२१ ई० पूर्व अर्थात् सिकन्दर की मृत्यु के सिर्फ़ ५ बरस बाद की बात है। इसी समय से मौर्य्यवंश का राज्य शुरू होता है। यह साफ़-साफ़ पता नहीं चलता कि चन्द्रगुप्त 'मौर्य्य' क्यों कहलाया। कुछ लोगों का कहना है कि उसकी माँ का नाम मुरा था, इसलिए वह मौर्य्य कहलाया और कुछ का यह कहना है कि उसका नाना राजा के मोरों की निगहबानी किया करता था और मोर को संस्कृत में मयूर कहते हैं, इसलिए वह मौर्य्य कहलाया। इस शब्द की पैदायश चाहे जो हो, चन्द्रगुप्त मौर्य्य के नाम से ही मशहूर है, ताकि एक दूसरे महान् चन्द्रगुप्त से, जो कई सौ वर्ष बाद हिन्दुस्तान का बहुत बड़ा बादशाह हुआ है, उसके व्यक्तित्व को अलग कर सके।

महाभारत में और दूसरी पुरानी किताबों और कथाओं में हमें चक्रवर्ती राजाओं का ज़िक्र मिलता है, जो सारे हिन्दुस्तान पर राज्य करते थे। लेकिन हमें उस ज़माने का हाल मालूम नहीं और न हम यही जानते हैं कि भारतवर्ष का विस्तार उस समय कितना था। यह मुमकिन है कि उस वक़्त के जो क़िस्से चले आते हैं, उनमें पुराने राजाओं की शक्ति को बढ़ा चढ़ाकर बताया गया हो। ख़ैर, जो कुछ भी हो! चन्द्रगुप्त मौर्य्य का साम्राज्य इतिहास में हिन्दुस्तान के मज़बूत और विस्तृत भारतीय साम्राज्य की पहली मिसाल है। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, यह एक बहुत शक्तिशाली और उन्नत शासन था। यह भी साफ़ है कि ऐसे शासन और राज्य एकदम से पैदा नहीं हो जाते। बहुत दिनों से कई प्रवृत्तियाँ होती चली आई होंगीं, छोटे-छोटे राज्य आपस में मिलते रहे होंगे और शासन-कला में उन्नति जारी रही होगी।

चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में, सिकन्दर के सेनापति सैल्यूकस ने, जिसे विरासत

में एशिया माइनर से लेकर हिन्दुस्तान तक के देशों का राज्य मिला था, अपनी सेना के साथ सिन्ध नदी पारकर हिन्दुस्तान पर हमला किया। पर अपनी इस जल्दबाज़ी के लिए उसे बहुत जल्द पछताना पड़ा। चन्द्रगुप्त ने उसे बुरी तरह हरा दिया और जिस रास्ते से वह आया था उसी रास्ते उसे अपना-सा मुँह लेकर लौट जाना पड़ा। बल्कि यहाँ से कुछ प्राप्त करने के बजाय काबुल और हिरात तक गांधार या अफ़ग़ानिस्तान का एक बहुत बड़ा हिस्सा उलटा उसे चन्द्रगुप्त को दे देना पड़ा। चन्द्रगुप्त ने सैल्यूकस की लड़की से शादी भी करली। उसका साम्राज्य अब सारे उत्तरी भारत में, अफ़ग़ानिस्तान के एक हिस्से में, कबुल से बंगाल तक और अरब सागर से बंगाल की खाडी तक फैल गया। सिर्फ़ दक्षिण हिन्दुस्तान उसके मातहत नहीं था। इस बडे साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी।

सैल्यूकस ने चन्द्रगुप्त के दरबार में मेगस्थनीज़ को अपना दूत बनाकर भेजा था। मेगस्थनीज़ ने उस ज़माने का एक बड़ा दिलचस्प वर्णन लिखा है, जो अभी तक पाया जाता है। लेकिन इससे ज्यादा दिलचस्प एक दूसरा वर्णन भी हमें मिलता है, जिसमें चन्द्रगुप्त के शासन का पूरा तफसीलवार हाल मिलता है। इस किताब का नाम है 'कौटिलीय अर्थशास्त्र'। यह कौटिल्य और कोई नहीं, हमारा वही पुराना दोस्त चाणक्य या विष्णुगुप्त है और अर्थशास्त्र का मतलब है सम्पत्ति का शास्त्र या विज्ञान।

(इस अर्थशास्त्र में इतने विषय हैं, और इतनी विभिन्न बातों पर इसमें चर्चा की गई है कि तुमको उसके बारे में विस्तार से बता सकना मेरे लिए मुमकिन नहीं है। उसमें राजाओं के धर्म का, उसके मंत्रियों और सलाहकारों के कर्त्तव्य का, राजपरिषद् का, शासन-विभाग का, गवर्नमेन्ट का, व्यापार और तिजारत का, गाँव और क़स्बों के शासन का, क़ानून और अदालत का, सामाजिक रीति-रिवाज का, स्त्रियों के अधिकार का, बूढ़े और असहाय लोगों के पालन का, शादी और तलाक़ का, टैक्स का, ख़ुश्की सेना और जलसेना का, लड़ाई और सुलह का, कूटनीति का, खेती का, कातने और बुनने का, कारीगरों का, पासपोर्ट और जेलों तक का जिक्र है।) मैं इस फहरिस्त को और भी बढ़ा सकता हूँ लेकिग मै इस ख़त का हैंडिंग 'कौटिलीय अर्थशास्त्र के अध्याय' नहीं देना चाहता।

जब राजा राजगद्दी पर बैठते समय जनता के हाथों से शासन का अधिकार पाता था तो उसे जनता की सेवा की शपथ लेनी पड़ती थी और प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि "अगर मैं तुम्हें सताऊँ तो मैं स्वर्ग न पाऊँ, मेरे जीवन का अन्त हो जाय और मै सन्तान से वञ्चित रहूँ।" इस पुस्तक में राजा की दिनचर्या दी हुई है। उसके मुताबिक़ राजा को ज़रूरी काम के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए। क्योंकि

जनता का काम न तो रुक सकता है, न राजा की सुविधा का इन्तज़ार कर सकता है। अगर राजा चुस्त होगा तो उसकी प्रजा भी चुस्त होगी।

"अपनी प्रजा की खुशी में उसकी खुशी है, प्रजा के कल्याण में ही उसका कल्याण है; जो बात उसे अच्छी लगे उसीको वह अच्छा न समझे, बल्कि प्रजा को जो अच्छी लगे उसीको वह भी अच्छा समझे।"

इस दुनिया से अब राजा-महाराजा उठते जा रहे हैं। जो इने-गिने बच गये हैं वे भी बहुत जल्द ग़ायब हो जायँगे। लेकिन यह एक ध्यान देने लायक़ बात है कि प्राचीन भारत में राज्य करने का मतलब जनता की सेवा करना था। उस समय राजाओं का न तो कोई ईश्वरीय अधिकार माना जाता था और न उनके पास कोई निरकुश सत्ता थी। अगर कोई राजा अत्याचार करता था तो जनता को हक़ था कि उसे हटा दे और उसकी जगह दूसरा राजा मुकर्रर कर दे। उन दिनों यही सिद्धान्त और आदर्श था। फिर भी उस समय बहुत से राजा ऐसे हुए हैं जो इस आदर्श से नीचे गिरे हुए थे और जिन्होंने अपनी बेवक़ूफ़ी से अपने देश और प्रजा को मुसीबतों में फँसाया था।

अर्थशास्त्र में इस पुराने सिद्धान्त पर भी बहुत ज्यादा जोर दिया गया है कि 'आर्य कभी भी गुलाम न बनाया जा सकेगा।'[1] इससे ज़ाहिर होता है कि उस ज़माने में किसी न किसी तरह के गुलाम होते थे जो या तो देश के बाहर से लाय जाते होंगे, या देश के रहने वाले होंगे।[2] लेकिन जहाँ तक आर्यों का सम्बन्ध था इस बात पर पूरा ध्यान रक्खा जाता था कि वे किसी भी हालत में गुलाम न बनाये जायँ।

मौर्य्य-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी। यह बड़ा शानदार शहर था और गंगा के किनारे नौ मील तक आगे बढ़ा हुआ था। इसकी चहारदीवारी में चौंसठ मुख्य फाटक थे और सैकडों छोटे दरवाज़े थे। मकान ज्यादातर लकडी के बने हुए थे और चूँकि आग लगने का डर रहता था इसलिए आग बुझाने का बहुत अच्छा इन्तिज़ाम था। ख़ास-ख़ास सड़कों पर पानी से भरे हज़ारों घडे हमेशा रक्खे रहते थे। हरेक गृहस्थ को भी अपने-अपने घर में पानी से भरे घडें, सीढ़ी, काँटा और दूसरी ज़रूरी चीजें रखनी पड़ती थीं जिससे कि आग लगने पर बुझाने के लिए उनका उपयोग हो सके।

कौटिल्य ने शहरों के बारे में एक ऐसे नियम का ज़िक्र किया है जो तुम्हें बहुत दिलचस्प मालूम होगा। वह यह कि अगर कोई आदमी सड़क पर कूड़ा फेंकता था

१. 'न त्वेवाऽऽर्यस्य दास भाव:'—कौटिल्य

२. 'म्लेच्छानामदोष: प्रजां विक्रेतुमाधातुंवा' —कौटिल्य

तो उसपर जुर्माना होता था। इसी तरह अगर कोई सड़क पर कीचड़ या पानी इकट्ठा होने देता था तो उसपर भी जुर्माना किया जाता था। अगर इन क़ायदों पर अमल होता रहा होगा तो पाटलिपुत्र या दूसरे और शहर बहुत सुन्दर, सुथरे और साफ़ रहे होंगे। मैं चाहता हूँ कि हमारी म्यूनिसिपैलिटियों में भी इसी तरह के कुछ नियम बना दिये जायँ।

पाटलिपुत्र में इन्तज़ाम करने के लिए एक म्यूनिसिपल कौंसिल थी। जनता इसका चुनाव करती थी। इसमें तीस मेम्बर होते थे और पाँच-पाँच मेम्बरों की छः कमिटियां बनाई जाती थीं। व्यवसाय और शहर की हाथ की कारीगरी का इंतज़ाम इन्हीं कमिटियों के हाथ में रहता था। पूरी कौंसिल सफ़ाई, आमद-ख़र्च, पानी की व्यवस्था, बाग़-बग़ीचे और सार्वजनिक इमारतों का इन्तज़ाम देखती थी।

न्याय करने के लिए पंचायतें और अपील सुनने के लिए अदालतें थीं। अकाल-पीड़ितों की मदद का ख़ास प्रबंध होता था। राज्य के सारे भण्डारों का आधा गल्ला अकाल के वक्त के लिए हमेशा रिज़र्व (सुरक्षित) रक्खा जाता था।

ऐसा था वह मौर्य्य-साम्राज्य, जिसे बाईस सौ बरस पहले चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने संगठित किया था। मैंने अभी कौटिल्य और मेगस्थनीज़ की बयान की हुई कुछ बातों का ज़िक्र यहाँ किया है। इनसे भी तुम्हें मोटे तौर पर यह पता चल जायगा कि उत्तरी भारत की उस समय क्या हालत थी। पाटलिपुत्र की राजधानी से लेकर साम्राज्य के बहुत से बडे-बडे शहरों और हज़ारों कस्बों और गाँवों तक सारे देश में जीवन गूंज रहा था। साम्राज्य के एक हिस्से से दूसरे हिस्से तक बडी-बडी सड़कें थीं। मुख्य राजपथ पाटलिपुत्र से उत्तर-पश्चिम सीमा तक चला गया था। बहुत-सी नहरें थीं और उनकी देख-भाल के लिए एक ख़ास महकमा भी था। इसके अलावा एक नौका-विभाग भी था, जो बन्दरगाहों, घाटों, पुलों और एक जगह से दूसरी जगह तक आते-जाते रहनेवाले बहुत से जहाजों और नौकाओं की देख-रेख किया करता था। जहाज़ समुद्र पार चीन और बर्मा तक जाते थे। इस साम्राज्य पर चन्द्रगुप्त ने २४ वर्ष तक राज किया। ईसा से पहले २९६ वें वर्ष में उसकी मृत्यु हुई। अपने अगले पत्र में हम मौर्य्य साम्राज्य की कहानी जारी रक्खेंगे।

: १९ :

तीन महीने

क्रैकोविया जहाज़ से--

२१ अप्रैल, १९३१

तुम्हें ख़त लिखे बहुत दिन हो गये। क़रीब तीन महीने--दुःख, परेशानी और मुसीबत के तीन महीने--गुज़र गये। हिन्दुस्तान के और सबसे बढ़कर हमारे कुटुम्ब के, परिवर्तन के ये तीन महीने! हिन्दुस्तान ने थोडे दिनों के लिए सत्याग्रह-आन्दोलन रोक दिया है, लेकिन जो सवाल हमारे सामने हैं उनके हल करने में कोई आसानी पैदा नहीं हुई। और हमारे कुटुम्ब ने अपना प्यारा बुज़ुर्ग खो दिया जिसने हमें बल और स्फूर्ति दी थी, जिसकी आश्रयदायिनी देख-रेख में हम सब बडे हुए और अपनी जन्मभूमि भारतमाता के प्रति शक्तिभर अपना फ़र्ज़ अदा करना सीखा।

नैनी-जेल का वह दिन मुझे कितनी अच्छी तरह याद है। वह २६ जनवरी का दिन था और मैं हमेशा की तरह पुरानी बातों के बारे में तुम्हें ख़त लिखने बैठा था। उसके एक दिन पहले मैं तुम्हें चन्द्रगुप्त और उसके बनाये हुए मौर्य्य-साम्राज्य के बारे में लिख चुका था। मैंने वादा किया था कि इस वर्णन को मैं जारी रक्खूँगा और उन लोगों का जो चन्द्रगुप्त के बाद हुए, और 'देवताओं के प्रिय महान् अशोक' का, जो भारतीय आकाश में एक चमकदार सितारे की तरह चमका और अपना नाम अमर करके ग़ायब हो गया, हाल बताऊँगा। और जब मैं अशोक की याद कर रहा था, मेरा मन घूम-फिरकर वर्तमान की ओर--२६ जनवरी पर आ पहुँचा। हम लोगों के लिए यह एक बहुत बड़ा दिन था, क्योंकि एक साल पहले इसी दिन हमने सारे हिन्दुस्तान में, शहरों और गांवों में, आज़ादी का दिन--पूर्ण स्वराज्य का दिन--मनाया था और लाखों की तादाद में हमने स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा की थी। तब से एक साल बीत गया--संघर्ष का, मुसीबतों का और विजय का एक साल और एक बार फिर हिन्दुस्तान उसी महान् दिन को मनाने जा रहा था। जब मैं नैनीजेल की ६ नम्बर की बैरक में बैठा हुआ था, मुझे उस दिन सारे देश में होनेवाली सभाओं, जलूसों, लाठी-प्रहारों और गिरफ्तारियों का ख़याल हो आया। गर्व, प्रसन्नता और क्लेश के साथ मैं इन सब बातों का विचार कर ही रहा था कि मेरी कल्पना की धारा एक दम रुक गई। बाहर से ख़बर मिली कि दादू बहुत बीमार हैं और उनके पास जाने के लिए मैं फ़ौरन ही छोड़ दिया जाऊँगा। मेरी कल्पना ख़तम हो गई। चिन्ता से भरकर मैं सारा सोचना-विचारना भूल गया। तुम्हें जो ख़त लिखना

शुरू किया था वह एक ओर रख दिया और नैनी-जेल से आनन्द भवन के लिए रवाना हो गया ।

दस दिन तक मैं दादू के साथ रहा उसके बाद वह हमें छोड़कर चल दिये । दस दिन तक हम उनके कष्ट और यातनाओं को और यमदूतों से उनके वीरतापूर्ण संग्राम को देखते रहे । अपनी ज़िन्दगी में उन्होंने बहुत-सी लड़ाइयाँ लड़ीं और बहुत बार वह विजयी हुए। हार मानना तो वह जानते ही न थे और मौत को अपने सामने खड़ा हुआ देखकर भी वह पीछे हटने को तैयार नहीं हुए । जब मैं उनके इस आख़िरी संग्राम को देख रहा था, और जिन्हें मैं इतना प्यार करता था उन्हें मदद पहुँचाने में अपनी बेबसी पर व्याकुल हो रहा था तो मुझे कुछ पंक्तियाँ; जो मैंने बहुत दिन हुए एडगर एलन पो की किसी कहानी में पढ़ी थीं, याद आ गई, जिसका अर्थ यह है--

> "मनुष्य देवदूतों के सामने हार नहीं मानता और न वह मौत के सामने ही सिर झुकाता है; जब कभी वह हार मानता है, अपनी क्षीण इच्छाशक्ति की कमज़ोरी की वजह से ही मानता है ।"

६ फ़रवरी को सुबह वह हमें छोड़कर चल दिये । जिस झण्डे को वह इतना प्यार करते थे उसीमें उनका शरीर लपेटकर उन्हें हम लखनऊ से आनन्द-भवन ले आये । थोड़ी ही देर में वह जलकर मुट्ठी भर राख हो गया और गंगा ने इस अनमोल विभूति को बहाकर समुद्र में पहुँचा दिया ।

लाखों आदमियों ने उनके लिए शोक मनाया लेकिन हम सब उनके बच्चों पर, जो उनके मांस और उनकी हड्डियों से बने हैं, क्या बीती ? और उस नये आनन्द-भवन का, जो हम लोगों के समान ही उनका बच्चा है, और जिसे उन्होंने इतने प्यार से और इतनी सावधानी से तैयार करवाया था, क्या हुआ ? वह अब सुनसान और वीरान हो गया, मानो उसकी जान निकल गई । और हम उसके बरामदों में, उन्हीं का बराबर ख़याल करते हुए, जिन्होंने इसे बनाया था, सशंक भाव से दबे पाँव चलते हैं कि कहीं उनकी शांति भंग न हो जाय ।

उनके लिए हम शोक करते हैं और क़दम-क़दम पर उनकी कमी को महसूस करते हैं । दिन गुज़रते जाते हैं, लेकिन न तो दुःख कम होता और न उनके विछोह की असह्यता ही कम होती दीखती है । लेकिन फिर मैं सोचता हूँ कि जो कुछ हम इस समय कर रहे हैं, वह उन्हें कभी पसन्द न आयेगा । उन्हें यह हरगिज पसन्द न होगा कि हम दुःख से पस्त हो जायँ। वह तो यही चाहेंगे कि जिस तरह उन्होंने अपनी तकलीफ़ों का मुकाबिला किया वैसा ही हम अपने रंज का मुकाबिला करें और उस पर विजय पायें। वह चाहेंगे कि जो काम उन्होंने अधूरा छोड़ा है उसे हम जारी

रक्खें। तब हम चुप कैसे बैठ सकते हैं और कैसे हम शोक के सामने सिर झुका सकते हैं ? हिन्दुस्तान की आज़ादी का मसला हमारी सेवाओं की माँग कर रहा है। इसी उद्देश्य के लिए ही तो उन्होंने जान दी। इसीके लिए हम ज़िन्दा रहेंगे, कोशिश करेंगे, और अगर ज़रूरत हुई तो जान भी देंगे। कुछ भी हो हम उनकी सन्तान हैं और हममें उनकी लगन, ताक़त, दृढ़ता और जोश का कुछ-न-कुछ अंश मौजूद है।

इस समय जब मैं ये सतरें लिख रहा हूँ नीले रंग का अथाह अरब सागर मेरे सामने दूर तक फैला हुआ है और दूसरी तरफ़ बहुत दूर के फ़ासले पर हिन्दुस्तान का किनारा है, जो हमसे छूटता जा रहा है। मैं इस सीमा-रहित और अपार विस्तार का ख़याल करता हूँ और उसकी तुलना नैनी-जेल की छोटी-छोटी बैरकों और उसकी ऊँची दीवारों से करता हूँ, जहाँ से मैंने तुम्हें पिछले ख़त लिखे थे। जहाँ समुद्र आकाश से मिलता-सा मालूम होता है, वहाँ क्षितिज की रेखा साफ़-साफ़ मेरे सामने नज़र आ रही है। लेकिन जेल में क़ैदी का क्षितिज तो दीवारों की चोटी है जिससे वह घिरा रहता है। हममें से बहुत से, जो जेलों में थे, आज बाहर हैं और बाहर की आज़ाद आबोहवा में रह रहे हैं। लेकिन हमारे बहुत से साथी अभी तक अपनी तंग कोठरियों में बन्द हैं और समुद्र, ज़मीन या क्षितिज के दर्शन से वंचित हैं। खुद भारत अभी तक जेल में है और उसे अभी आज़ादी मिलनी बाक़ी है। और हमारी आज़ादी किस काम की, अगर भारत आज़ाद न हुआ ?

: २० :

अरब सागर

क्रेकोविया जहाज़

२२ अप्रैल, १९३१

यह एक आश्चर्य की बात है कि हम इस क्रेकोविया जहाज़ पर बम्बई से लंका जा रहे हैं। मुझे अच्छी तरह याद है कि क़रीब चार बरस पहले मैं किस तरह वेनिस में इसके आने का इन्तज़ार कर रहा था। उस समय दादू इसी जहाज़ से वेनिस आ रहे थे और मैं स्वीज़रलैण्ड के वेक्स स्कूल में तुम्हें छोड़कर उनसे मिलने के लिए वेनिस गया था। फिर कुछ महीने बाद इसी क्रेकोविया जहाज़ से दादू योरप से हिन्दुस्तान वापस लौटे और मैं उनसे बम्बई में मिला था। उस सफ़र के उनके कुछ साथी आज भी हमारे साथ हैं और ये सब दादू के बारे में अपने बहुत से अनुभव सुनाते रहते हैं।

मैंने तुम्हें कल के ख़त में पिछले तीन महीनों में क्या से क्या होगया, इसका हाल

: २१ :

अवकाश और स्वप्नयात्रा

२६ मार्च, १९३२

चौदह महीने हुए, जब मैंने तुम्हें नैनी-जेल से प्राचीन इतिहास के बारे में ख़त लिखा था। इसके तीन महीने बाद पत्र-माला के उसी सिलसिले में मैंने अरब सागर से तुम्हें दो ख़त और लिखे थे। उस समय मैं कोविया जहाज़ से लंका जा रहा था। जैसा कि उस वक्त मैंने लिखा था, विशाल समुद्र मेरे सामने दूर तक बिछा हुआ था, मेरी भूखी आँखें उसे निहार रही थीं और अघाती नहीं थीं। इसके बाद हम लंका पहुँचे और महीने भर तक बड़े आनन्द से छुट्टियाँ मनाई और अपनी चितायें और परेशानियां भूल जाने की कोशिश की। उस अत्यन्त सुन्दर द्वीप में खूब घूमे और उसका अतुलित सौन्दर्य और वहाँ की प्रकृति की प्रचुरता या इफ़रात देखकर आश्चर्य-चकित होगये। कैंडी, नुवाराइलिया, और प्राचीन वैभव के चिन्हों और खण्डहरों से भरपूर अनुरुद्धपुर आदि जहाँ-जहाँ हम गये, उन जगहों की याद करके कितना आनन्द आता है। लेकिन मुझे सबसे ज्यादा आनन्द तो आता है उन ठण्डे और हरे-भरे जंगलों की याद करके, जिनमें अगाध जीवन निखरा पड़ता है और जो हज़ार-हज़ार आँखों से हमें देखा करते हैं; अथवा पतले-सीधे और सच्चे, सुन्दर सुपारी के वृक्षों की याद से, नारियल के असंख्य पेडों की सुध से, और ताल-वृक्षों से सुसज्जित समुद्र तट के ध्यान से, जहाँ इस द्वीप की पन्नामणि के समान हरियाली समुद्र और आकाश की नीलिमाओं को मिलाती है, जहाँ सागर-जल किनारे पर छलकता और हिलोरों से अठखेलियाँ करता है और वायु तालवृक्षों से होकर मर्मर ध्वनि करती और सनसनाती हुई निकल जाती है।

भूमध्य-रेखा के पासवाले किसी गरम प्रदेश में यह तुम्हारी पहली यात्रा थी, और सिवाय इसके कि बहुत दिन हुए मैं थोडे दिनों के लिए आया था, जिसकी याद क़रीब-क़रीब जाती रही है---मेरे लिए भी यह एक नया अनुभव था। इस तरफ़ मैं आकर्षित नहीं था। मुझे गर्मी का डर था। मुझे तो समुद्र, पहाड़ और सबसे ज्यादा ऊँचे बरफ़िस्तान और ग्लैशियर अच्छे मालूम होते हैं। लेकिन लंका के थोडे ही दिनों के निवास से मुझे गरम प्रदेश की मनोहरता और मोहकता का भी कुछ पता लगा। और मैं जब वापस आया तो यह लालसा लिये हुए कि मौक़ा मिला तो इस प्रदेश में फिर कभी आऊँगा।

लंका में छुट्टी का हमारा एक महीना देखते-देखते ख़तम हो गया। हम

समुद्र का तंग रास्ता पार करके हिन्दुस्तान के दक्षिणी नाके पर पहुँचे । क्या तुम्हें अपने कन्याकुमारी चलने की याद है । यहाँ, कहते हैं कि कुमारी देवी निवास करती और अपने देश की रक्षा करती है, और जिसे, हमारे नामों को तोड़-मरोड़ कर भद्दे करने में कुशल पश्चिम-निवासी 'केप कामोरिन' कहते हैं । उस वक्त वहाँ हम सच-मुच भारतमाता के चरणों में ही बैठे थे, और वहीं हमने अरब सागर और बंगाल की खाडी का संगम देखा था । उस समय हमें यह सोचकर कितना अच्छा लगता था कि ये दोनों भारत के चरण-कमलों की पूजा कर रहे हैं ! उस स्थान पर अद्‌भुत शान्ति थी । यहाँ बैठे-बैठे मेरा मन हिन्दुस्तान के दूसरी छोर पर कई हज़ार मील दूर दौड़ गया, जहाँ हिमालय की चोटी पर अनन्तकाल से बरफ़ जमा हुआ है और जहाँपर असीम शान्ति का साम्राज्य है । लेकिन इन दोनों के बीच में तो काफ़ी अशान्ति है, ग़रीबी है और मूसीबतें है !

हम कन्याकुमारी से बिदा हुए और उत्तर की तरफ़ चले । त्रावणकोर और कोचीन होते हुए और मलाबार की झीलों को पार करते हुए हम आगे बढ़े । ये सब स्थान कितने सुन्दर थे ! हमारी नाव पेडों से घिरे दोनों किनारों के बीच से, चाँदनी रात में कितनी शान्ति से बहती जाती थी, मानो यह सब बिलकुल एक तरह का स्वप्न हो । इसके बाद हम लोग मैसूर, हैदराबाद और बम्बई गये और आख़ीर में इलाहाबाद पहुँचे । यह नौ महीने पहले अर्थात् जून महीने की बात है ।

लेकिन आजकल तो हिन्दुस्तान में जितने रास्ते है, वे सब हमें, जल्द या देर में, एक ही जगह पहुँचाते है । सारी यात्रायें चाहे वह स्वप्न की हों या असली, जेलखाने में ही जाकर समाप्त होती हैं । और इसलिए मैं फिर अपनी पुरानी परिचित दीवारों के अन्दर पहुँच गया, जहाँ मुझे सोचने के लिए और तुम्हें ख़त लिखने के लिए— चाहे वे तुम्हारे पास पहुँचे या न पहुँचे—बहुत काफी वक़्त मिलता है । लड़ाई फिर शुरू हो गई है और हमारे देशवासी स्त्री और पुरुष, लड़के और लड़कियाँ आगे बढ़ रही है और इस मुल्क को ग़रीबी की लानत से—दरिद्रताके शाप से—पीछा छुड़ाने के लिए, स्वतन्त्रता की लड़ाई में हिस्सा ले रही हैं । लेकिन स्वतन्त्रता एक ऐसी देवी है जिसको खुश करना मुश्किल होता है । पुराने ज़माने की तरह आज भी यह अपने भक्तों से, आदमियों की कुर्बानी चाहती है—नर-बलि चाहती है ।

आज मेरे तीन महीरे पूरे हुए । तीन महीने पहले, आज ही के दिन—२६ दिसम्बर को—मैं छठी बार गिरफ्तार किया गया था । चिट्ठियों के इस सिलसिले को फिर से शुरू करने में मैंने बहुत देर कर दी । लेकिन तुम जानती हो कि जब दिमाग़ वर्त्तमान की चिन्ताओं से भरा हुआ हो तो सुदूर पुरातन के बारे में सोचना कितना

मुश्किल हो जाता है। जेल में पहुँचने के बाद जमने-जमाने और बाहर होनेवाली घटनाओं की चिन्ता से पीछा छुड़ाने में कुछ वक्त लग जाता है। अब मैं तुम्हें बराबर ख़त लिखने की कोशिश करूँगा। लेकिन अब मैं एक दूसरी जेल में हूँ और यह तबदीली मेरी पसन्द की नहीं है। इससे मेरे काम में थोड़ा विघ्न पड़ता है। मेरा क्षितिज इस स्थान पर पहले के सब स्थानों से ज्यादा ऊँचा हो गया है। यहाँ मेरे सामने जो दीवार है--कम-से-कम ऊँचाई में तो जरूर--उसका सम्बन्ध चीन की दीवार से है! यह करीब २५ फ़ीट ऊँची है और हर रोज़ सुबह सूरज को इसपर चढ़कर हमारे पास तक पहुँचने में डेढ़ घंटे से ज्यादा लग जाता है। हमारा क्षितिज थोडी देर के लिए परिमित है, तो होने दो; लेकिन विशाल नीले समुद्र के और पहाडों और रेगिस्तानों के बारे में सोचना और दस महीने पहले, तुमने, तुम्हारी ममी ने और मैंने जो स्वप्नयात्रा की थी--जो अब शायद ही सच जान पड़ती हो--उसका खयाल करना बहुत भला मालूम होता है।

: २२ :

जीविका के लिए मनुष्य का संघर्ष

२८ मार्च, १९३२

आओ, अब हम दुनिया के इतिहास के सिलसिले को, जहाँसे हमने उसे छोड़ा था, फिर शुरू करें और पुराने जमाने की कुछ झलक देखने की कोशिश करें। यह एक उलझा हुआ जाल है जिसका सुलझाना मुश्किल है। फिर इसके सारे हिस्सों पर एक साथ नजर डाल सकना और भी ज्यादा मुश्किल है। हमारी यह आदत-सी हो गई है कि हम उसके किसी खास हिस्से में ही उलझ जाते हैं और उसे जरूरत से ज्यादा महत्व देने लगते हैं। हममें से करीब-क़रीब सभी यह समझते हैं कि हमारे अपने देश का, चाहे वह कोई-सा देश हो, इतिहास दूसरे देशों के इतिहास से ज्यादा गौरवपूर्ण और अध्ययन के अधिक योग्य है। इस प्रवृत्ति के ख़िलाफ़ मैं एक बार पहले भी तुम्हें चेतावनी दे चुका हूँ, और आज फिर चेता देना चाहता हूँ। इस जाल में फँस जाना बहुत ही आसान है। सच तो यह है कि इसीसे बचाने के लिए मैंने तुम्हें इन ख़तों का लिखना शुरू किया था। लेकिन फिर भी कभी-कभी मैं महसूस करता हूँ कि मैं ख़ुद वही ग़लती कर बैठता हूँ। लेकिन जब मुझे शिक्षा ही दूषित मिली हो या इतिहास जो मुझे पढ़ाया गया, वही ऊँट-पटांग था तो मेरा इसमें क्या क़सूर? इस कमी को पूरा करने के लिए मैंने जेल के एकान्त में विशेष अध्ययन करने की कोशिश

की और उसमें मुझे शायद कुछ हदतक कामयाबी भी मिली है। लेकिन अपने मन की चित्रशाला में घटनाओं और व्यक्तियों की जिन तसबीरों को मैंने अपने बचपन और जवानी के दिनों में लटकाया था उन्हें वहाँसे उतार नहीं सकता। और इतिहास सम्बन्धी मेरे दृष्टिकोण पर, जो अधूरे ज्ञान की वजह से वैसे ही काफ़ी परिमित है, इन तसबीरों का भी असर पड़ता है। इसलिए जो कुछ मैं लिखूंगा उसमें मुझसे ग़लतियाँ होंगी बहुत-सी बेमतलब बातें लिख जाऊँगा और कई बार बहुत-सी महत्वपूर्ण बातों का जिक्र तक करना भूल जाऊँगा। दरअसल ये खत इसलिए लिखे भी नहीं गये हैं कि वे इतिहास की पुस्तकों की जगह लेलें। ये तो उस आपसी छोटी-सी बात-चीत के स्थान पर हैं--कम-से-कम मैं तो उन्हें ऐसा ही समझकर खुश होता हूँ--जो हम दोनों में होतीं, अगर एक हजार मील का फ़ासला और कई ठोस दीवारें हम दोनों को जुदा न करती होतीं।

मैं उन बहुत-से मशहूर आदमियों के बारे में तुम्हें लिखे बिना रह नहीं सकता जिनके शानदार कामों से इतिहास के पन्ने भरे हुए हैं। वे अपने ढंग के खुद बहुत मजेदार आदमी हुए हैं और उनसे हमें यह पता चलता है कि जिस जमाने में वे हुए थे, वह कैसा था। लेकिन इतिहास सिर्फ़ बडे-बडे आदमियों, बादशाहों, सम्राटों या उन्हींकी तरह के दूसरे आदमियों के कारनामों का रजिस्टर भर नहीं है। अगर ऐसा होता तो इतिहास का काम अभी तक खतम हो जाना चाहिए था। क्योंकि बादशाह और शाहंशाह दुनिया के रंगमंच पर अब अकड़कर चलते हुए दिखाई नहीं देते। लेकिन जो स्त्री या पुरुष वास्तव में महान् हैं उन्हें अपनी विशेषता प्रकट करने के लिए किसी ताज या तख़्त, अथवा हीरे-जवाहरात या ख़िताबों की जरूरत नहीं पड़ती। इनकी जरूरत तो सिर्फ़ राजाओं और नवाबों को ही होती है जिनके अन्दर कोई तत्व नहीं होता और जिन्हें अपनी नग्नता छिपाने के लिए इस तरह की वर्दियाँ और राज-पोशाकें पहननी पड़ती है। इस जाहिरा दिखावे की वजह से हममें से बहुत से आदमी बदक़िस्मती से धोखे में फँस जाते हैं और "सिर पर ताज रखनेवाले नाम-मात्र के राजा को राजा समझने की ग़लती करने लगते हैं।"

इधर-उधर के कुछ इने-गिने व्यक्तियों का वर्णन वास्तविक इतिहास का विषय नहीं है। उसका विषय तो वे सब लोग हैं, जो मिलकर एक राष्ट्र का निर्माण करते हैं, जो मेहनत करते और अपने परिश्रम से जीवन की जरूरतों और ऐशो-आराम की चीज़ों को पैदा करते हैं, और जो हजारों तरीकों से एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। मनुष्य का इस तरह का इतिहास अगर लिखा जाय तो सचमुच बड़ा मनोरंजक होगा। उसमें इस बात का विवरण होगा कि बहुत प्राचीन काल से

मनुष्य प्रकृति और उसके तत्वों के विरुद्ध, जंगलों और जंगली जानवरों के खिलाफ़ कैसे संघर्ष करता रहा। फिर अन्त में विवरण होगा उस कठिन संघर्ष का, जो अपनी ही जाति के कुछ ऐसे लोगों के खिलाफ़ उसे करना पड़ा, जो अपने स्वार्थ के लिए उसे दबाये रखने की और उसका शोषण करने की कोशिश करते थे। इतिहास तो जीविका के लिए मनुष्य के संघर्ष की कहानी है। लेकिन चूंकि जिन्दा रहने के लिए चन्द चीज़ों, जैसे अनाज, घर और ठंडे मुल्कों में कपड़े वग़ैरा का होना ज़रूरी है, इसलिए जिन लोगों का इन आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों पर अधिकार था, उन्होंने आदमियों पर अपनी हुकूमत जमा ली। हाकिमों और राजाओं के हाथ में प्रभुता रही है, क्योंकि जीविका के कुछ आवश्यक साधनों पर उनका नियन्त्रण था। इस नियन्त्रण से उन्हें जनता को भूखों मारकर अपने वश में कर लेने की शक्ति मिल गई, और इसी वजह से हमें यह आश्चर्यजनक दृश्य देखने को मिलता है कि मुट्ठी भर आदमी बहुत बड़े जन-समुदाय को चूसते हैं, बहुत से आदमी बिना कुछ मेहनत किये ही रुपया कमाते हैं और बहुत ज्यादा संख्या ऐसे लोगों की है जो मिहनत तो बहुत करते हैं, लेकिन पाते बहुत कम हैं।

अकेले शिकार करनेवाला जंगली आदमी धीरे-धीरे अपना कुटुम्ब बना लेता है। फिर सारा परिवार मिलकर एक दूसरे के फायदे के लिए मेहनत करता है। इसके बाद बहुत से कुटुम्ब मिल जाते हैं और एक गाँव बन जाता है; और बाद में कई गाँवों के मज़दूर, व्यापारी और कारीगर लोग मिलकर एक संघ बना लेते हैं। इस प्रकर धीरे-धीरे सामाजिक इकाई—'यूनिट'[1], बढ़ने लगती है। शुरु में व्यक्ति एक जंगली आदमी था। उस समय किसी तरह का कोई समाज नहीं था। उसके बाद कुटुंब के रूप में दूसरी बड़ी यूनिट सामने आती है। उसके बाद गाँव और फिर उन गाँवों का एक संघ बनता है। इस सामाजिक संघ की वृद्धि क्यों हुई? इसलिए कि जीविका के संग्राम ने मनुष्य को वृद्धि और सहयोग के लिए मजबूर कर दिया था। समान शत्रु से अपना बचाव करने या उसपर हमला करने में अगर सहयोग के साथ काम किया जाय तो अकेले की अपेक्षा कहीं ज्यादा प्रभावशाली होता है। सहयोग से काम करने में फायदा भी रहता है। अकेले काम करने की तुलना में मिल-जुलकर काम करने से खाने की चीज़े और दूसरी आवश्यकताओं की चीजें कहीं ज्यादा पैदा की जा सकती हैं। काम के इस सहयोग के परिणाम स्वरूप आर्थिक इकाई का भी विकास होने लगा——जहाँ पहले एक जंगली पुरुष अकेला अपनी रोजी की तलाश में जंगलों में शिकार करता भटकता था, वहां अब उनके बड़े-बड़े समूह बन गये और

१. यूनिट—या इकाई का अर्थ है छोटी-से-छोटी, किन्तु पूर्ण एक वस्तु या मात्रा।

रोज़ी के लिए सम्मिलित प्रयत्न होने लगे। यह बहुत मुमकिन है कि मनुष्य की आजीविका के इस संघर्ष की वजह से आर्थिक इकाइयों में जो प्रगति होती गई उसीसे समाज और सामाजिक इकाई का विकास हुआ हो।

इतिहास के लम्बे बिस्तार में हम देखते चले आरहे हैं कि हमेशा के संघर्ष, बेशुमार मुसीबतों और कभी-कभी अधःपतन के बीच तक में यह उन्नति बराबर जारी रही है। लेकिन इससे तुम यह न समझ बैठना कि इस उन्नति का मतलब यह है कि दुनिया बहुत आगे बढ़ गई है, या पहले से ज्यादा सुखी हो गई है। संभव है, पहले से आज उसकी हालत बेहतर हो। लेकिन उसमें अभी तक पूर्णता नहीं आई है, उससे अभी वह बहुत दूर है और हर जगह काफ़ी मुसीबतें पाई जाती हैं।

जैसे-जैसे ये आर्थिक और सामाजिक इकाइयाँ बढ़ती गईं, ज़िन्दगी ज्यादा-से-ज्यादा पेचीदा होती गई। व्यापार और तिजारत ने तरक़्क़ी की। दान की जगह पर अदला-बदली शुरू हुई। और फिर सिक्का पैदा हुआ, जिसने हर क़िस्म के व्यवहार में बड़ा भारी अन्तर पैदा कर दिया। सिक्के के पैदा होते ही व्यापार एकदम आगे बढ़ गया, क्योंकि सोने और चांदी के सिक्के के रूप में दाम दिये जाने की वजह से व्यापारिक माल की अदला-बदली आसान हो गई। इसके बाद अब सिक्कों का भी इस्तेमाल हमेशा ज़रूरी नहीं रहा। लोगों ने उनके बदले उनके प्रतीक का इस्तैमाल करना शुरू कर दिया। काग़ज़ का टुकड़ा, जिसपर अदायगी का वादा लिखा हुआ हो, सिक्के की बराबरी का समझा जाने लगा। इस प्रकार बैंक नोट और चेकों का चलन शुरू हुआ। इसका मतलब हुआ कि उधार या साख पर व्यापार चलने लगा। साख या उधार की प्रणाली के कारण व्यापार और तिजारत में बहुत मदद मिलती है। तुम जानती ही हो कि आज-कल चेक और बैंक-नोटों का काफ़ी इस्तेमाल होता है। समझदार आदमी अब अपने साथ सोने और चाँदी की थैलियाँ लिये इधर-उधर नहीं फिरते।

इस तरह हम यह देखते हैं कि ज्यों-ज्यों धुंधले अतीत में से इतिहास आगे बढ़ता है, लोग उत्पत्ति ज्यादा से ज्यादा बढ़ाते जाते हैं और जुदे-जुदे व्यापारों में विशेष दक्षता प्राप्त करते जाते हैं। हम उन्हें आपस में माल की अदला-बदली करते और इस तरह व्यापार की उन्नति करते देखते हैं। हम यह भी देखते हैं कि माल के मँगाने और भेजने के लिए नये और अच्छे-से-अच्छे साधन पैदा हुए; ख़ासकर पिछले सौ बरसों में जब भाप का इंजन बना, इसमें और भी ज्यादा तरक़्क़ी हुई। ज्यों-ज्यों पैदावार बढ़ी, दुनिया की सम्पति बढ़ी और कम-से-कम कुछ आदमियों को ज्यादा फ़ुरसत मिल गई। और इस तरह जिसे हम सभ्यता कहते हैं उसका विकास हुआ।

ये सब बातें हुईं। लोग आजकल के उन्नति-शील युग, आधुनिक सभ्यता,

महान् संस्कृति और विज्ञान के चमत्कारों पर गर्व करते और उसकी डींगें मारते हैं। लेकिन ग़रीब लोग अभी भी ग़रीब और दुखी बने हुए हैं। बडे-बडे राष्ट्र एक दूसरे से लड़ाई करते हैं और लाखों आदमियों का क़त्ल कर डालते हैं; हमारे देश जैसे बडे-बडे देशों पर विदेशी लोग हुकूमत करते हैं। ऐसी सभ्यता से क्या लाभ अगर हमें अपने ही घर में आज़ादी नसीब नहीं है। लेकिन हम जाग चुके हैं, और आगे बढ़ने की कोशिश कर रहे हैं।

कितने सौभाग्य की बात है कि हम आजकल के ऐसे हलचल के ज़माने में रह रहे हैं, जबकि हर-एक आदमी इस महान् साहस पूर्ण कार्य में हिस्सा ले सकता है और सिर्फ़ हिन्दुस्तान को ही नहीं बल्कि सारी दुनिया को बदलती हुई देख सकता है। तुम बडी ख़ुशक़िस्मत लड़की हो, कि तुम उस महान् इन्क़िलाब के शुरू होने के साल और महीने में पैदा हुई, जिसने कि रूस में नया युग पैदा कर दिया और आज तुम अपने ही देश में एक क्रांति देख रही हो और बहुत मुमकिन है कि इस क्रांति में तुम भी कुछ कर दिखाओ। सारी दुनिया में मुसीबत फैली हुई है और तब्दीली हो रही है। सुदूर पूर्व में जापान चीन का गला पकड़े बैठा है। पश्चिम में ही नहीं बल्कि सारी दुनिया में पुरानी प्रणाली लड़खड़ा रही है और धड़ाम से गिरने ही वाली है। संसार के राष्ट्र बातें तो करते हैं निःशस्त्रीकरण की, लेकिन एक-दूसरे को सन्देह की नज़र देखते हैं और सभीने अपनेको एडी से चोटी तक हथियारबन्द कर रक्खा है। पूंजीवाद की, जो इतने ज्यादा अर्से से दुनिया के ऊपर हावी रहा है, यह आख़िरी टिम-टिमाहट है। जिस दिन यह ख़त्म होगा, और ख़त्म तो उसे ज़रूर होना ही पडेगा, वह अपने साथ बहुत-सी बुराइयों को भी लेता जायगा।

: २६ :

सिंहावलोकन

२९ मार्च, १९३२

प्राचीन ज़माने की अपनी सफ़र में हम कहाँ तक पहुँचे हैं? हमने मिस्र, हिन्दुस्तान, चीन और नोसास के पुराने ज़माने की कुछ चर्चा की है। हमने देखा कि मिस्र की पुरानी और अद्भुत सभ्यता जिसने पिरेमिड पैदा किये, धीरे-धीरे कैसे जर्जर और दुर्बल हो गई और किस प्रकार वह एक खोखली सी चीज़ रह गई, जिसमें सिवाय दिखावे की निर्जीव चीज़ों के असली जीवन-तत्व कुछ भी न बचा। हमने यह भी देखा कि ख़ास यूनान की एक क़ौम ने नोसास को किस तरह नष्ट

कर डाला। हिन्दुस्तान और चीन के धुँधले और प्राचीन समय की भी हमने झलक देखी, यद्यपि काफ़ी सामग्री न होने की वजह से हम उस विषय में ज्यादा नहीं जान सके लेकिन इतना हमने जरूर देखा कि उस जमाने में भी इन स्थानों की सभ्यता कितनी ऊँची उठी हुई थी। हमने ताज्जुब के साथ यह भी देखा कि ये दोनों देश किस तरह, संस्कृति के संबंध में, अपने हजारों वर्ष पुराने वक़्त की अटूट लड़ियों से जुड़े हुए हैं। इराक़ में हमें उन साम्राज्यों की झलक मिली, जो एक के बाद एक थोड़े दिनों के लिए फूले-फले और फिर उसी रास्ते पर पहुँच गये, जिस पर चलकर सारे साम्राज्य नष्ट हो जाते हैं।

हमने जुदा-जुदा देशों के कई बड़े-बड़े विचारकों का भी कुछ जिक्र किया है जो ईसा से पांच-छः सौ बरस पहले पैदा हुए थे—हिन्दुस्तान मे बुद्ध और महावीर, चीन में कनफ्यूशियस और लाओ-जे, ईरान में जरथुस्त और यूनान में पाइथागोरस। हमने देखा कि बुद्ध ने हिन्दुस्तान के पुराने वैदिक धर्म के उस समय के रूप पर और ब्राह्मणों की पुरोहिताई पर किस तरह हमला किया था, क्योंकि उन्हें पता लग गया था कि कई प्रकार के अन्धविश्वास, और पूजा-पाठ के जरिये साधारण जनता को ठगा और मूंडा जा रहा है। उन्होंने जाति-प्रथा के खि़लाफ़ आवाज उठाई और समानता का प्रचार किया।

इसके बाद फिर हम पश्चिम की ओर चले गये जहां एशिया और योरप एक-दूसरे से मिलते हैं। ईरान और यूनान की क़िस्मत पर नजर डालते हुए हमने देखा कि ईरान में कितना बड़ा साम्राज्य क़ायम हुआ और किस तरह दारा ने, जो बादशाहों का बादशाह कहलाता था, उसे हिन्दुस्तान में सिन्ध तक फैला दिया। किस तरह इस साम्राज्य ने छोटे से यूनान को निगल जाने की कोशिश की, लेकिन उसे यह देखकर हैरान हो जाना पड़ा कि किस तरह छोटी सी चीज भी उलट कर ठोकर मार सकती है और डटकर अपनी हिफ़ाजत कर सकती है। इसके बाद यूनान के इतिहास का वह छोटा-सा लेकिन शानदार जमाना आया, जिसके बारे में मैं तुम्हें कुछ बता चुका हूँ। उस युग में वहाँ अनेक प्रतिभाशाली और महान् पुरुष पैदा हुए जिन्होंने अत्यन्त सुन्दर साहित्य और कला का निर्माण किया।

यूनान का यह सुवर्ण युग बहुत दिनों तक क़ायम नहीं रहा। मक़दूनिया के सिकन्दर ने अपनी विजयों से यूनान का नाम बहुत दूर चारों ओर मशहूर कर दिया; लेकिन उसके साथ ही यूनान की ऊँची संस्कृति धीरे-धीरे मुरझाने लगी। सिकन्दर ने ईरानी साम्राज्य को नष्ट कर दिया और विजेता की हैसियत से हिन्दुस्तान की सरहद को भी पार किया। इसमें शक नहीं कि वह बहुत बड़ा सेनापति था। पुराने

ज़माने से उसके बारे में जो क़िस्से चले आते हैं उनमें उसके सम्बन्ध में बेशुमार अजीब-अजीब बातें जोड़ दी गई हैं और इस तरह उसे इतनी शोहरत मिल गई है जितने का कि वह शायद हक़दार नहीं था। कुछ अच्छे पढ़े-लिखे लोग ही सुक़रात अफ़लातून, फ़ीडियस[1] और साफ़ोक्लीज़ या यूनान के दूसरे महापुरुषों के बारे में जानते हैं। लेकिन सिकन्दर का नाम किसने नहीं सुना? मध्य एशिया के दूर से दूर के कोने तक में उसका नाम अभी तक बाक़ी है। आज भी बहुत से शहर उसके नाम से मशहूर हैं।

सिकन्दर ने जो कुछ किया वह दूसरों के मुक़ाबिले में तो थोड़ा ही है। ईरानी साम्राज्य पुराना था और डगमगा रहा था। उसके बहुत दिनों तक टिके रहने की कोई सम्भावना नहीं थी। हिन्दुस्तान में सिकन्दर का आगमन एक तरह का धावा था, जिसका कोई महत्व नहीं था। अगर सिकन्दर ज्यादा दिन जिन्दा रहता तो मुमकिन है कुछ अधिक ठोस काम कर जाता। लेकिन वह जवानी में ही मर गया और तुरन्त ही उसका साम्राज्य टुकडे-टुकडे हो गया। उसका साम्राज्य क़ायम नहीं रहा, लेकिन उसका नाम अभी तक क़ायम है।

सिकन्दर के पूर्वी धावे का एक बड़ा नतीजा यह हुआ कि पूरब और पश्चिम के बीच नया सम्पर्क क़ायम हो गया। यूनानी लोग बहुत बडी तादाद में पूरब की तरफ़ बढ़े और पुराने शहरों में या अपने बनाये हुए नये उपनिवेशों में जा बसे। सिकन्दर के पहले भी पूरब और पश्चिम के आपस में सम्पर्क क़ायम था और व्यापार चलता था। लेकिन उसके बाद यह और भी बहुत ज्यादा बढ़ गया।

सिकन्दर के हमले का दूसरा सम्भावित परिणाम, अगर वह ठीक हो तो यूनानियों के लिए बडी बदक़िस्मती का हुआ। कुछ लोगों का ख़याल है कि उस के सैनिक अपने साथ इराक़ के दलदलों से मलेरिया के मच्छर यूनान के निचले प्रान्तों में लेगये। इससे मलेरिया फैला और उसने यूनानी क़ौम को कमज़ोर कर दिया। यूनानियों के पतन के कारणों में एक कारण यह भी बताया जाता है। लेकिन यह सिर्फ एक ख़याल है और कोई नहीं कह सकता है कि इसमें सचाई कितनी है।

सिकन्दर का चन्दरोज़ा साम्राज्य ख़तम हो गया। लेकिन उसकी जगह कई छोटे-छोटे साम्राज्य पैदा हो गये। उनमें से एक मिस्र का साम्राज्य था, जो टालमी

[1]. फ़ीडियस-- यूनान देश का एक मशहूर शिल्पकार। उसका समय ईसा से ५ वीं वर्ष पहले बताया जाता है। ओलंपिया के स्थान पर उसने ज़ूज़ (Zeus) की एक मूर्ति बनाई है। मूर्ति सोना और हाथी दाँत की बनी है और बड़ी सुन्दर है। उसकी गिनती दुनिया की सात अद्भुत चीज़ों में की जाती है।

के अधिकार में था, और दूसरा पश्चिमी एशिया का सेल्यूकस की मातहती में था। टालमी और सेल्यूकस दोनों सिकन्दर के सेनापति थे। सेल्यूकस ने हिन्दुस्तान पर कब्ज़ा करना चाहा। लेकिन यह जानकर उसे हैरत हुई कि हिन्दुस्तान भी थप्पड़ का जवाब करारे घूंसे से दे सकता है। चन्द्रगुप्त मौर्य्य ने सारे उत्तरी और मध्य भारत पर अपना शक्तिशाली राज्य क़ायम कर लिया था। चन्द्रगुप्त, उसके प्रसिद्ध ब्राह्मण मंत्री चाणक्य और उसकी लिखी हुई पुस्तक अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में मैं अपने पिछले पत्रों में तुम्हें कुछ हाल बता चुका हूँ। सौभाग्य की बात है कि इस किताब से हमें आज से ढाई हज़ार बरस पहले के हिन्दुस्तान का हाल मालूम हो जाता है।

पिछले ज़माने का हमारा सिंहावलोकन ख़तम होगया और अब हम अगले पत्र में मौर्य्य साम्राज्य और अशोक का हाल लिखते हुए आगे बढ़ेंगे। चौदह महीने से ज़्यादा गुज़रे २५ जनवरी सन् १९३१ को नैनी जेल से मैंने ऐसा करने का वादा किया था। उस वादे को मुझे अभी पूरा करना बाक़ी है।

: २४ :

'देवानाम् प्रिय अशोक'

३० मार्च, १९३२

मुझे डर है कि शायद मैं राजा-महाराजाओं के खिलाफ़ कहने का कुछ, ज़रूरत से ज़्यादा, आदी हो गया हूँ। मुझे इस वर्ग में कोई ऐसा गुण नहीं दिखाई देता जिससे मैं उनकी तारीफ़ करूँ या उनके लिए मेरे दिल में इज्ज़त हो। लेकिन हम इस समय एक ऐसे व्यक्ति का ज़िक्र करनेवाले हैं जो बादशाह और सम्राट् होते हुए भी महान् और इज्ज़त के योग्य था। वह था चन्द्रगुप्त मौर्य्य का पोता अशोक। एच० जी० वेल्स ने, जिनकी कुछ कहानियाँ तुमने पढ़ी होंगी, अपनी इतिहास की रूप-रेखा (Outline of History) नामक पुस्तक में उसके बारे में लिखा है—"इतिहास के पन्ने रंगने वाले संसार के हज़ारों-लाखों सम्राटों, राज-राजेश्वरों, महाराजाधिराजों और श्रीमानों आदि के नामों में केवल अशोक का नाम ही चमकता है और ऐसा कि उसकी कोई बराबरी नहीं कर पाता। वोल्गा नदी से जापान तक आज भी उसके नाम का आदर होता है। चीन, तिब्बत और हिन्दुस्तान ने भी—हालांकि उसने उसके सिद्धान्त को छोड़ दिया है—उसकी महानता की परम्परा को क़ायम रक्खा। कान्स्टेन्टाईन या शार्लमैन[1]

१. शार्लमैन—पवित्र रोमन-सम्राट और फ्रैंक जाति का राजा था। इसका जन्म सन् ७४२ में हुआ था। इसके साम्राज्य में क़रीब सारा पश्चिमी योरप था। सन् ८१४ में इसकी मृत्यु हुई।

के नाम जाननेवालों से उसके नाम को आदर के साथ याद करनेवालों की तादाद आज भी कहीं ज्यादा है।"

यह वास्तव में बहुत उच्चकोटि की प्रशंसा है। लेकिन अशोक इसके योग्य था, और हरेक हिन्दुस्तानी के लिए, हिन्दुस्तान के इतिहास के इस युग पर विचार करना बहुत ख़ुशी की बात है।

चन्द्रगुप्त ईसाई सन् के शुरू होने के क़रीब ३०० बरस पहले मर गया। उसके बाद उसका लड़का बिन्दुसार गद्दी पर बैठा। उसने पच्चीस वर्ष तक शान्तिमय शासन किया। यूनानी जगत् से उसने अपना सम्पर्क बनाये रक्खा। उसके दरबार में पश्चिम एशिया के सेल्यूकस के लड़के एण्टीओकस और मिस्र के टालमी की ओर से राजदूत आते थे। बाहरी दुनिया से व्यापार बराबर जारी था और कहा जाता है कि मिस्रवाले अपने कपड़े हिन्दुस्तान के नील में रंगा करते थे। ये लोग अपनी मोमयाई--मृतकों के शव--हिन्दुस्तानी मलमल में लपेटते थे। बिहार में कुछ पुराने जमाने के भग्नावशेष मिले हैं, जिनसे मालूम होता है कि मौर्य-युग के पहले भी वहाँ एक तरह का शीशा--काँच--बनाया जाता था।

तुम्हें यह बात दिलचस्प मालूम होगी कि मैगेस्थनीज़ ने, जो चन्द्रगुप्त के दरबार में राजदूत होकर आया था, लिखा है कि हिन्दुस्तानी लोग सौंदर्य और सुघड़ता बहुत पसन्द करते थे। उसने इस बात का ख़ास तौर से ज़िक्र किया है कि लोग अपनी लम्बाई बढ़ाने के लिए जूते पहनते थे! इससे मालूम होता है कि ऊँची एड़ी का जूता कोई हाल की ईजाद नहीं है।

बिन्दुसार की मृत्यु होने पर ईसा से २६८ वर्ष पहले अशोक उस विशाल साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ, जो सारे उत्तर और मध्य हिन्दुस्तान से लेकर मध्य एशिया तक फैला हुआ था। हिन्दुस्तान के दक्षिण-पूर्वी और दक्षिणी हिस्से को अपने साम्राज्य में मिलाने की इच्छा से शायद उसने अपने राज्य के नवें बरस में कलिंग देश पर चढ़ाई की। कलिंग हिन्दुस्तान के दक्षिणी समुद्रतट पर महानदी और कृष्णा नदी के बीच का देश था। कलिंगवाले बड़ी बहादुरी से लड़े, लेकिन आख़िर में बहुत भयंकर मार-काट के बाद वे दबा दिये गये। इस लड़ाई और मार-काट ने अशोक के दिल पर बहुत गहरा असर किया। उसे लड़ाई और उस से सम्बन्ध रखनेवाली सारी चीज़ों से नफ़रत हो गई। उसने यह तय कर लिया कि आगे वह अब कोई लड़ाई न लड़ेगा। दक्षिण के एक छोटे से टुकड़े को छोड़कर क़रीब-क़रीब सारा हिन्दुस्तान उसके क़ब्ज़े में था। इस छोटे से टुकड़े को जीतकर अपनी विजय को पूर्ण कर लेना उसके लिए बहुत आसान बात थी, लेकिन उसने

ऐसा नहीं किया। एच० जी० वेल्स के कहे मुताबिक इतिहास भर मे अशोक ही एक ऐसा सैनिक सम्राट् हुआ है जिसने विजय के बाद लड़ाई को छोड़ दिया हो।

सौभाग्य से अशोक का अपना विवरण हमें प्राप्त है जिसमें उसके अपने भावों और कामों का वर्णन किया गया है। बहुतसी राजविज्ञप्तियाँ या शाही फ़र्मानों में, जिन्हें अशोक 'धर्मलिपि' कहता था और जो पत्थरों या धातु-पत्रों पर खुदाई गई थीं, प्रजा और भावी सन्तति के लिए उसके सन्देश आज भी हमें मिलते हैं। तुम जानती हो कि इलाहाबाद के क़िले में अशोक की एक ऐसी ही लाट है। हमारे सूबे में इस तरह के और भी कई स्तम्भ हैं।

इन राज-विज्ञप्तियों में अशोक ने बताया है कि युद्ध और विजय में होने वाली हत्याओं से उसके दिल में कितनी घृणा और कितना अनुताप हुआ। उसका कहना है कि धर्म से अपने और मानव-हृदय के ऊपर विजयी होना ही सच्ची विजय है। मै तुम्हारे लिए इन राजाज्ञाओं में से दो-एक यहाँ नोट करता हूँ। उन्हें पढ़ते-पढ़ते हम मुग्ध हो जाते हैं। वे अशोक को तुम्हारे बहुत नजदीक ले आवेंगी—जिससे तुम अशोक को अच्छी तरह समझ सकोगी।

एक राज-विज्ञप्ति में लिखा है—

"धर्मराज प्रियदर्शी महाराज ने अपने अभिषेक के आठवें बरस कलिंग को जीता। डेढ़ लाख आदमी वहा से क़ैद करके लाये गये। एक लाख वहा क़त्ल हुए और इससे कई गुना मर गये।

"कलिंग-विजय के बाद से ही धर्मराज बड़े उत्साह से धर्माचरण, और धर्मनिष्ठा एवं धर्म की रक्षा तथा उसके प्रचार मे जुट गये। उनके हृदय मे कलिंग-विजय के लिए पश्चात्ताप शुरू हुआ क्योंकि किसी अपराजित देश पर विजय प्राप्त करने में लोगों की हत्या, मृत्यु और उन्हें क़ैदी बना करके ले जाना जरूरी हो जाता है। धर्मराज को इस बात पर बहुत ज्यादा दुःख और पश्चात्ताप होता है।"

आगे चलकर इस राज-विज्ञप्ति मे लिखा है कि कलिंग में जितने आदमी मारे गये, या क़ैद हुए उस का सौवाँ या हजारवाँ हिस्सा भी अगर आज मारे जायें या क़ैद हों तो अशोक उसे सहन न कर सकेंगे।

"इसके सिवा अगर कोई धर्मराज के साथ बुराई करेगा तो वह उसे जहांतक सहा जा सकेगा सहेंगे। अपने साम्राज्य की जंगली जातियों पर भी धर्मराज कृपा-दृष्टि रखते हैं और चाहते हैं कि वे लोग शुद्ध भावना रखें, क्योंकि अगर वह ऐसा न करें तो उन्हें पश्चाताप होगा। धर्मराज की इच्छा है कि समस्त प्राणियों की सुरक्षा हो और सब शान्तिपूर्वक संयम के साथ और प्रसन्न-चित्त रहें।"

इसके आगे अशोक बताता है कि धर्म से मनुष्यों का हृदय जीतना ही सच्ची विजय है और उसने हमें बताया है कि उसे ऐसी सच्ची विजय केवल अपने ही साम्राज्य में नहीं बल्कि दूर-दूर के राज्यों में भी प्राप्त हुई है।

जिस धर्म का इन राजाज्ञाओं में बार-बार ज़िक्र आया है वह बौद्ध धर्म है। अशोक बड़ा उत्साही बौद्ध हो गया था और उसने इस धर्म के प्रचार में अपनी शक्ति भर ख़ूब कोशिश की; लेकिन इस काम में किसी तरह की ज़बरदस्ती या दबाव का नाम-निशान भी नहीं था। वह लोगों के दिलों को जीतकर ही उन्हें अपने धर्म में शामिल करता था। बहुत ही कम धार्मिक पुरुष अशोक के समान सहिष्णु और दूसरों की धार्मिक भावनाओं का ख़याल रखने वाले हुए हैं। लोगों को अपने धर्म में मिलाने के लिए ज़बरदस्ती दबाव और धोखेबाज़ी को काम में लाना धार्मिक पुरुषों के लिए मामूली सी बात रही है। सारा इतिहास धार्मिक अत्याचारों और मज़हबी लड़ाइयों से भरा पड़ा है और धर्म और ईश्वर के नाम पर जितना ख़ून बहा है शायद ही उतना किसी दूसरे नाम पर बहा होगा। इसलिए यह याद रखना अच्छा होगा कि भारत का एक महान् सपूत, जो बड़ा धार्मिक और एक शक्तिशाली साम्राज्य का मालिक भी था, लोगों को अपने मत का अनुयायी बनाने के लिए किस प्रकार का व्यवहार करता था। यह एक अजीब सी बात मालूम होती है, कि कुछ ऐसे लोग है जो यह सोचने की बेवक़ूफ़ी करते है कि धर्म और विश्वास तलवार और संगीन के ज़ोर पर लोगों के गले के नीचे उतारे जासकते है।

इस प्रकार देवताओं के प्रिय, या राज-विज्ञप्तियों के शब्दों में 'देवानाम् प्रिय', अशोक ने पश्चिमी एशिया, अफ़रीका और योरप के राज्यों में अपने दूत और एलची भेजे। तुम्हें याद होगा कि उसने अपने सगे भाई महेन्द्र और बहन संघमित्रा के लंका भेजा था और कहा जाता है कि ये अपने साथ गया से पवित्र बोधि-वृक्ष की एक टहनी भी ले गये थे। तुम्हें याद है न कि अनुरुद्धपुर के मन्दिर में हम लोगों ने एक बड़ का पेड़ देखा था और लोगों ने बताया था कि यह वही पेड़ है जो उस पुरानी टहनी से उपजा था।

हिन्दुस्तान में बौद्धधर्म बहुत तेज़ी से फैल गया। लेकिन अशोक की दृष्टि में केवल मन्त्रों का जाप और पूजा-पाठ या संस्कारों का नाम धर्म न था, बल्कि उसके ख़याल में धर्म का अर्थ था उत्तम काम करना और समाज को ऊँचा उठाना। इसलिए सारे देश में बाग़-बगीचे, अस्पताल, कुएँ, और सडकें बढ़ने लगीं। स्त्रियों की शिक्षा के लिए खास इन्तज़ाम किया गया था। इस समय चार बडे-बडे विश्वविद्यालय थे, एक एकदम उत्तर में पेशावर के पास, तक्षशिला या तक्षिला; दूसरा मथुरा, जिसे अब अंग्रेज़

भद्दे ढंग से मुटरा लिखते है; तीसरा मध्यभारत में उज्जैन और चौथा पटना के पास नालन्द। इन विश्व-विद्यालयों में सिर्फ़ हिन्दुस्तान के ही नहीं बल्कि चीन से लेकर पश्चिमी एशिया तक के दूर-दूर देशों से विद्यार्थी पढ़ने के लिए आते थे। और अपने साथ अपने देश को बुद्ध के उपदेशों का सन्देश ले जाते थे। सारे देश में बडे-बडे मठ बनगये थे, जो विहार कहलाते थ। पाटलिपुत्र या पटना के आस-पास इतने ज्यादा मठ या विहार, थे कि सारा प्रान्त ही विहार, या जैसा कि आजकल कहा जाता है, बिहार कहलाने लगा। लेकिन जैसा कि अकसर होता है इन विहारों मे से शिक्षा और साधना का उत्साह थोडे ही दिनों में जाता रहा, और ये ऐसे स्थान बन गये जहाँ लोग एक स्थिर कार्यक्रम और पूजा-पाठ की लकीर पीटा करते थे।

जीव-रक्षा का अशोक का उत्साह बढ़कर, जानवरों तक के लिए हो गया था। जानवरों के लिए ख़ास तौर से अस्पताल खोले गये थे, और पशुओं का बलिदान रोक दिया गया था। इन दोनों बातों में अशोक हमारे ज़माने से भी कुछ आगे बढ़ गया था। अफ़सोस की बात है कि जानवरों का बलिदान कुछ हद तक अभी भी जारी है; यह धर्म का एक ज़रूरी हिस्सा माना जाता है; और जानवरों के इलाज का कोई इन्तज़ाम नहीं है। अशोक के अपने उदाहरण से और बौद्धधर्म के प्रचार से लोगों में माँस न खाने का प्रचार होने लगा। उसके पहले हिन्दुस्तान के ब्राह्मण और क्षत्रिय साधारणतया माँस खाते थे और शराब पीते थे। अशोक के ज़माने में माँस खाना और शराब पीना दोनों ही बहुत कम हो गये।

इस तरह अशोक ने ३८ बरस तक राज्य किया और शान्तिपूर्वक जनता की भलाई करने मे वह पूरी-पूरी कोशिश करता रहा। सार्वजनिक काम के लिए वह हमेशा तैयार रहता था।

"हर समय और हर जगह पर—चाहे मैं खाना खा रहा होऊँ या रनिवास में होऊँ, अपने सोने के कमरे मे रहूँ, मन्त्रिगृह में होऊँ, अपनी गाड़ी में बैठा कहीं जाता होऊँ या बाग में होऊँ, सरकारी संवाददाताओं को चाहिए कि वे जनता के काम की मुझे बराबर खबर देते रहे।" अगर कोई कठिनाई उठ खड़ी होती तो उसके शब्दों में "चाहे जो समय या चाहे जो जगह हो" उसकी खबर तुरत उसको देनी पड़ती थी। क्योंकि उसका कहना था कि "सार्वजनिक हित के लिए मुझे काम करना ही चाहिए।"

ईसा से २२६ वर्ष पहले अशोक की मृत्यु हो गई। मृत्यु के कुछ दिन पहले वह राज-पाट छोड़कर बौद्ध भिक्षु हो गया था।

मौर्य-युग के बहुत कम प्राचीन चिन्ह हमें मिलते है। जो मिलते है वे ही, अभी तक की खोज के मुताबिक़, हिन्दुस्तान में आर्य-सभ्यता के पुराने से पुराने चिन्ह हैं; इस

वक़्त हम मोहेनजोदारो के खण्डहरों पर विचार करना छोड़ देते हैं। बनारस के पास सारनाथ में तुम आज भी अशोक का सुन्दर स्तम्भ देख सकती हो जिसके सिरे पर शेर बना हुआ है।

पाटलिपुत्र के विशाल नगर का, जो अशोक की राजधानी थी, अब कुछ भी नहीं बचा। पन्द्रह सौ बरस पहले यानी अशोक के मरने के छः सौ बरस बाद, फ़ाहियान[1] नाम का एक चीनी मुसाफ़िर पाटलिपुत्र गया था। उस समय यह नगर ख़ूब उन्नत, ख़ुशहाल और मालदार था लेकिन उस वक़्त भी अशोक का पत्थरवाला राजमहल खंडहर हो रहा था। फिर भी इन खंडहरों से ही फ़ाहियान बहुत प्रभावित हुआ और उसने अपनी सफ़र के विवरण में लिखा है कि राजमहल मनुष्यों का बनाया हुआ नहीं मालूम होता था।

बड़े-बड़े पत्थरों से बना हुआ राजमहल चला गया और अपनी कोई निशानी नहीं छोड़ गया, लेकिन अशोक की यादगार एशिया के महाद्वीप भर में आज भी जिन्दा है। और उसकी राजाज्ञायें ऐसी भाषा में लिखी पाई जाती हैं कि हम उन्हें समझ सकते हैं, उनका आदर करते हैं और अब भी हम उनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं। यह ख़त बहुत लम्बा हो गया। और मुमकिन है तुम इससे ऊब जाओ। अशोक की एक राजाज्ञा से एक उद्धरण देकर अब मैं इसे ख़त्म करता हूँ।

"हरेक मत किसी-न-किसी कारण से आदरणीय है। दूसरे मत का आदर करके आदमी अपने मत को ऊँचा उठाता है और साथ ही दूसरे लोगों के धर्म की सेवा भी कर लेता है।"

: २५ :

अशोक के ज़माने की दुनिया

३१ मार्च, १९३२

हम देख चुके हैं कि अशोक ने दूर-दूर के देशों में राजदूत और प्रचारक भेजे थे और इन देशों से हिन्दुस्तान का सम्पर्क और व्यापार बराबर जारी था। हाँ, जब मैं उस ज़माने के सम्पर्क या व्यापार का ज़िक्र करता हूँ तो तुम्हें यह बात ज़रूर ख़याल में रखनी चाहिए कि वह आजकल का-सा बिलकुल नहीं था। अब तो रेल और

१. **फ़ाहियान**—एक चीनी बौद्ध यात्री था। मगध-सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय के समय में हिन्दुस्तान में आया था और ६ बरस तक यहाँ घूमता रहा। इसने उस ज़माने के भारतवर्ष का बहुत अच्छा वर्णन लिखा है। इसका समय ३७५ ई० पूर्व है।

जहाज़ और हवाई जहाज़ से माल और मुसाफ़िरों का एक जगह से दूसरी जगह आना-जाना बहुत आसान हो गया है। लेकिन उस बहुत पुराने ज़माने में हरेक सफ़र में बहुत दिन लग जाते थे और ख़तरे भी बहुत होते थे। इसलिए मज़बूत और साहसी लोग ही सफ़र किया करते थे। इस वजह से उस वक़्त के और आज के व्यापार का किसी भी तरह मुक़ाबिला नहीं हो सकता।

वे कौन-से 'दूर के देश' थे जिनका ज़िक्र अशोक ने किया? उसके समय की दुनिया कैसी थी? भूमध्य सागर के किनारे के देशों को और मिस्र को छोड़कर हम उस वक्त के अफ़रीका के बारे में कुछ भी नहीं जानते। हमें उत्तरी, मध्य और पूर्वी योरप या उत्तरी और मध्य एशिया के बारे में भी बहुत कम मालूम है। अमरीका के बारे में भी हम कुछ नहीं जानते; लेकिन बहुत से लोग ऐसा समझते है कि अमरीका के महाद्वीप में बहुत प्राचीन काल से काफ़ी ऊँची सभ्यता पाई जाती थी। कहते है, बहुत दिनों बाद ईसा की १५ वीं सदी में कोलम्बस ने अमरीका को खोज निकाला। लेकिन हमें पता चलता है कि उस समय भी दक्षिण अमरीका में, पेरू में और आस-पास के देशों में बहुत ऊँचे दर्जे की सभ्यता मौजूद थी। इसलिए यह बहुत मुमकिन है कि ईसा के तीन सौ बरस पहले, जब हिन्दुस्तान में अशोक हुआ अमरीका में सभ्य लोग रहते हों और उन्होंने अपने सुसंगठित समाज बनाये हों। लेकिन इस बारे में कोई प्रामाणिक बात नहीं मिलती, और केवल अंदाज लगाने में कोई ख़ास फ़ायदा नहीं। लेकिन मैं उनका ज़िक्र इसलिए कर रहा हूँ कि हम लोग अक्सर यही समझते हैं। कि सभ्य लोग दुनिया के सिर्फ उन्हीं हिस्सों में रहते थे जिनके बारे में हम पढ़ चुके हैं या कुछ सुन चुके है। बहुत दिनों तक योरपवालों का यह ख़याल रहा कि प्राचीन इतिहास का मतलब है यूनान, रोम और यहूदियों का इतिहास। इनके मतानुसार बाक़ी दुनिया उस वक़्त वीरान और जंगली थी। बाद को उन्हें पता चला कि उनका ज्ञान कितना परिमित था, जबकि उन्हीं देश के विद्वानों और पुरातत्त्ववेत्ता लोगों ने चीन, हिन्दुस्तान और दूसरे देशों का हाल बताया। इसलिए हमें सचेत रहना चाहिए और यह न समझ बैठना चाहिए कि जो कुछ हमारी इस दुनिया में हुआ है वह सब कुछ हमारे परिमित ज्ञान के अन्दर है और हम अल्पज्ञों को उस सबका पता है।

इस समय तो हम इतना ही कह सकते है कि अशोक के ज़माने के अर्थात् ईसा से पहले तीसरी सदी के प्राचीन सभ्य संसार में भूमध्यसागर के किनारों पर बसे हुए योरप और अफ्रीका के देश, पश्चिमी एशिया, चीन और हिन्दुस्तान की मुख्यतया गिनती होती थी। सम्भवतः पश्चिमी देशों और पश्चिमी एशिया तक से उस समय चीन का कोई सीधा सम्पर्क नहीं था और चीन या कैथे के बारे में ऊल

जलूल खयालात फ़ैले हुए थे। चीन और पश्चिम को मिलानेवाली कड़ी का काम हिन्दुस्तान करता था।

हम देख चुके हैं कि सिकन्दर की मौत के बाद उसके साम्राज्य को उसके सेनापतियों ने आपस में बांट लिया था। उसके तीन ख़ास हिस्से हुए (१) सेल्यूकस के क़ब्जे में पश्चिमी एशिया, ईरान, इराक़ (२) टालमी के अधीन मिस्र और (३) एण्टीगोनस के अधिकार में मक़दूनिया। पहले दो राज्य बहुत दिनों तक क़ायम रहे। तुम जानती हो कि सेल्यूकस हिन्दुस्तान का पड़ोसी था और उसने लालच में पड़कर हिन्दुस्तान का कुछ हिस्सा अपने साम्राज्य में शामिल करना चाहा। लेकिन उसका पाला चन्द्रगुप्त से पड़ा, जिसने सेर का बदला सवा सेर से देकर उसे पीछे हटा दिया और उससे उसके मुल्क का वह हिस्सा छीन लिया जो आजकल अफ़ग़ानिस्तान कहलाता है।

इन दो राज्यों की अपेक्षा मक़दूनिया कुछ कम भाग्यशाली था। गाल और दूसरी क़ौमों ने उस पर उत्तर से बारबार हमला किया। उसका सिर्फ़ एक ही हिस्सा ऐसा था जो इन गाल लोगों का मुक़ाबिला कर सका और आज़ाद रह सका। यह हिस्सा एशिया माइनर में था जहां आज टर्की है। और पैरगैमम कहलाता था। यह यूनानियों की एक छोटी सी रियासत थी; लेकिन सौ बरस से ज्यादा तक वह यूनानी संस्कृति और कलाओं का केन्द्र बनी रही। वहाँ सुन्दर-सुन्दर इमारतें बनीं, और पुस्तकालय और अजायबघर खुले। कुछ हद तक वह समुद्र के उस पार सिकन्दरिया का प्रतिद्वन्द्वी-सा बन गया था।

सिकन्दरिया मिस्र में टालमी वंश के लोगों की राजधानी थी। यह एक बड़ा शहर हो गया था और पुरानी दुनिया में बहुत मशहूर था। एथेन्स का गौरव बहुत कुछ घट चुका था और उसकी जगह सिकन्दरिया, धीरे-धीरे, यूनानी संस्कृति का केन्द्र बन गया। इसके विशाल पुस्तकालय और अजायबघर से आकर्षित होकर दूर-दूर देशों से बहुत-से विद्यार्थी यहाँ आते थे और तत्त्वज्ञान, गणित धर्म, और बहुतसी दूसरी समस्याओं का, जिनमें उस ज़माने के विद्वानों की बहुत रुचि थी, अध्ययन करते थे। युक्लिड, जिसका नाम तुमने और स्कूल में रेखागणित पढ़नेवाले हरेक लड़के लड़की ने ज़रूर सुना होगा, सिकन्दरिया का रहनेवाला और अशोक का समकालीन था।

टालमी लोग, जैसा कि तुम जानती हो, यूनानी थे। लेकिन उन्होंने मिस्र के बहुत-से रस्म-रिवाजों को अपना लिया था, यहाँ तक कि मिस्र के कुछ पुराने देवी-देवताओं तक को वे पूजने लगे थे। पुराने यूनानियों के ज्यूपीटर, अपोलो और

दूसरे देवी-देवता, जिनका होमर के महाकाव्यों में जगह-जगह पर उसी तरह से उल्लेख है जैसे महाभारत में वैदिक देवी-देवताओं का, इस समय या तो ग़ायब हो गये थे या नाम बदलकर दूसरी सूरत में सामने आये। आइसिस, ओसिरिस, और होरस आदि प्राचीन मिस्र के देवी-देवताओं और प्राचीन यूनान के देवी-देवताओं में घाल-मेल करदी गई और जनता के सामने नये देवी-देवता पूजा के लिए पेश किये गये। जब तक जनता को कोई-न-कोई देवता पूजने के लिए मिल जाता था, तबतक इस बात से किसी को क्या मतलब था कि वे किसके सामने सर झुकाते हैं, किसकी पूजा करते हैं और जिसकी पूजा करते हैं उन का नाम क्या है। उनके इन नये देवताओं में सबसे मशहूर देवता सेरेपिस था।

सिकन्दरिया तिजारत का भी बहुत बड़ा केन्द्र था और सभ्य संसार के दूसरे देशों के व्यापारी वहाँ आते रहते थे। हमें बताया गया है कि सिकन्दरिया में हिन्दुस्तानी व्यापारियों की भी एक बस्ती बसी हुई थी। हम यह भी जानते हैं कि सिकन्दरिया के व्यापारियों की एक बस्ती दक्षिण हिन्दुस्तान में मलाबार के किनारे भी थी।

भूमध्यसागर के उस पार, मिस्र से बहुत दूर नहीं,—रोम था, जो इस समय तक बहुत विशाल हो चुका था और जो भविष्य में इससे भी अधिक विशाल और अधिक शक्तिशाली होने वाला था। उसके बिलकुल सामने अफ़रीका के किनारे पर कारथेज का शहर था जो रोम का प्रतिद्वन्द्वी और दुश्मन था। अगर हम पुरानी दुनिया के बारे में कुछ भी समझना चाहते हैं तो हमें इनकी कहानी तफ़सीलवार सुननी पड़ेगी।

पूरब में चीन उसी तरह उन्नत हो रहा था, जैसे पश्चिम में रोम। अशोक के ज़माने की दुनिया की सही तस्वीर अपने सामने ला सकने के लिए हमें इस पर भी विचार करना होगा।

: २६ :

चिन और हन

३ अप्रैल, १९३२

पिछले साल मैंने नैनी जेल से जो ख़त तुम्हें लिखे थे, उनमें मैंने तुमको चीन के प्रारम्भ काल का, ह्वांगहो नदी के किनारे वाली बस्तियों का और हिस्या, शैंग या इन और चाऊ नामक शुरू के राजवंशों का थोड़ा-बहुत हाल लिखा था। उनमें मैंने यह भी बताया था कि इस विशाल युग में चीन की धीरे-धीरे कैसे उन्नति हुई और

कैसे वहां एक केन्द्रीय शासन का विकास हुआ। उसके बाद एक ऐसा लम्बा ज़माना आया जबकि वहां अधिकार तो फिर भी नाममात्र के लिए चाऊ राजवंश का था, लेकिन शासन के केन्द्रीकरण की यह गति रुक गई थी और बद-इन्तज़ामी फैल गई थी। आस-पास के क्षेत्रों के छोटे-छोटे राजा लोग एक तरह से बिलकुल स्वतंत्र बन बैठे और आपस में एक-दूसरे से लड़ने लगे। यह बद-क़िस्मती की हालत कई सौ बरस तक जारी रही। ऐसा मालूम होता है कि चीन में जो भी बात होती है वह सैकडों या हज़ारों बरसों तक जारी रहती है। इतने में स्थानीय राजाओं में से एक—चिन् के सरदार ने पुराने और जीर्ण शीर्ण चाऊ राजवंश को निकाल बाहर किया। चिन् के इसी सरदार की सन्तान चिन्-राजवंश कहलाया और तुम्हें यह बात दिलचस्प मालूम होगी कि इस चिन् शब्द से ही इस देश का नाम चीन हुआ है।

इस प्रकार चीन में चिन् लोगों की जीवन-यात्रा, ईसा से पहले सन् २५५ में शुरू हुई। इससे १३ बरस पहले अशोक का राज्य हिन्दुस्तान में शुरू हो चुका था। इस प्रकार इस समय हम चीन के अशोक के समकालीन लोगों का ज़िक्र कर रहे हैं। चिन् राजवंश के पहले तीन सम्राटों की हुकूमत बहुत कम दिन तक रही। इसके बाद ईसा से पहले २४६ में एक चौथा सम्राट हुआ, जो अपने ढँग का बहुत महत्वपूर्ण आदमी था। उसका नाम 'वुंग चेंग्' था, लेकिन बाद में इसने अपना दूसरा नाम 'शीह् ह्वांग टी' रख लिया और इसी दूसरे नाम से वह मशहूर है। इसका अर्थ है 'पहला बादशाह'। उसकी अपनेऔर अपने ज़माने के बारे में साफ़ तौर पर ऊँची राय थी और उसके दिल में पुराने ज़माने की ज़रा भी क़दर न थी। असल में वह तो यह चाहता था कि लोग पुराना ज़माना भूल जायँ और यह समझने लगें कि उसी—महान् प्रथम सम्राट के—ज़माने से ही इतिहास शुरू होता है। उसे इस बात से कुछ मतलब न था कि दो हज़ार बरस से ज्यादा ज़माने से चीन में बराबर सम्राट के बाद सम्राट होते चले आये हैं। वह तो देश से इन लोगों की याद तक मिटा देना चाहता था। सिर्फ़ पुराने सम्राटों की ही नहीं बल्कि पुराने ज़माने के सभी दूसरे प्रसिद्ध पुरुषों तक की भी याद भुलादेना चाहता था। इसलिए यह हुक्म निकाला गया कि तमाम ऐसी किताबें, जिनमे पुराने ज़माने का हाल हो, खासकर इतिहास की और कनफ्यूशियस मत की सब पुस्तकें जला दी जायँ और एकदम नष्ट कर दी जायँ। सिर्फ़ वैद्यक की और विज्ञान की कुछ किताबों पर यह हुक्म लागू नहीं था। अपनी राजाज्ञा में उसने लिखा था—

"जो लोग पुराने ज़माने का हवाला देकर वर्तमान काल को नीचे दरजे का दिखाने की कोशिश करेंगे वे अपने रिश्तेदारों समेत क़त्ल कर दिये जायँगे।"

उसने अपनी इस बात पर पूरी तरह से अमल भी किया। सैकडों विद्वान्,

जिन्होंने अपनी प्यारी किताबों के छिपाने की कोशिश की, जिन्दा दफ़न कर दिये गये। यह 'प्रथम सम्राट' कितना नेक, दयालु और भला आदमी रहा होगा! मैं हमेशा उसकी याद किया करता हूँ, और जब मैं हिन्दुस्तान के लोगों को प्राचीन ज़माने की बहुत ज्यादा तारीफ़ करते सुनता हूँ तो उस सम्राट के लिए मेरे दिल में कुछ हमदर्दी भी पैदा हो जाती है। हम लोगों में से बहुत-से ऐसे है, जो हमेशा गुज़रे हुए ज़माने पर ही नज़र लगाये रहते हैं, उसीकी महिमा गाते रहते है और उसीसे उत्साह और प्रेरणा पाने की उम्मीद करते रहते है। अगर पुराना ज़माना हमें बडे-बडे कामों के लिए उत्साह और उत्तेजना देता है, तो हम ज़रूर उससे उत्साह और उत्तेजना लें। लेकिन मुझे किसी भी व्यक्ति या क़ौम के लिए हमेशा पीछे ही की ओर देखते रहना कुछ भला नहीं मालूम देता। किसीने सच कहा है कि अगर आदमी पीछे चलने या पीछे देखने के लिए बनाया गया होता तो उसकी आँखें उसके सर के पीछे होतीं। हम अपने अतीत को ज़रूर देखें, और उसमें जो कुछ तारीफ़ के क़ाबिल है, उसकी तारीफ़ भी करें, लेकिन हमारी आँखों को हमेशा आगे देखना और हमारे पैरों को हमेशा आगे की ओर ही बढ़ना चाहिए।

इसमें ज़रा भी शक नहीं कि 'शीह ह्वांग टी' ने, पुरानी पुस्तकों को जलवाकर और उनके पढ़नेवालों को ज़िन्दा दफ़न कराके, एक वहशियाना काम किया। उसी का यह नतीजा हुआ कि उसका सारा काम उसीके साथ ख़त्म होगया। उसका इरादा यह था कि वह सबसे 'पहला सम्राट' माना जाय। उसके बाद उसका दूसरा उत्तराधिकारी हो, फिर तीसरा और इसी तरह अख़ीर तक उसके वंश का यह सिलसिला बना रहे। लेकिन चीन के सब राजवंशों में चिन् का वंश ही सबसे कम दिन क़ायम रहा। जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ इन राजवंशों में से बहुतों ने सैकडों बरसों तक राज्य किया और इनमें से एक, जो चिन् के पहले हुआ है, ८६७ साल तक क़ायम रहा। लेकिन चिन् का महान राजवंश पैदा हुआ, विजयी हुआ, शक्तिशाली साम्राज्य का शासक रहा, फिर कमज़ोर पड़ा और नष्ट होगया--और यह सब केवल पचास बरस के अन्दर-ही-अन्दर होगया। शीह ह्वांग टी शक्तिशाली सम्राटों की श्रेणी में सबसे पहला सम्राट होना चाहता था। लेकिन ईसा से २०९ वर्ष पहले उसकी मृत्यु के तीन बरस बाद ही उसके वंश का ख़ातमा होगया और तुरन्त ही कनफ्यूशियश के ग्रन्थ जहाँ-जहाँ छिपा रक्खे गये थे वहाँसे खोदकर निकाल लिये गये और उनका फिर पहले की तरह आदर होने लगा।

शासक की हैसियत से शीह ह्वांग टी चीन का एक सबसे ताक़तवर शासक हुआ। बहुत से छोटे-छोटे स्थानीय राजाओं को इसने कुचल दिया, सामन्तशाही का अन्त

कर डाला, और एक मज़बूत केन्द्रीय शासन का संगठन किया। उसने सारे चीन और अनाम को जीत लिया था। उसीने चीन की मशहूर दीवार का बनाना शुरू किया था। यह एक बहुत बड़ा ख़र्चीला काम था। लेकिन चीनियों ने अपनी हिफ़ाज़त के लिए एक बडी सेना बराबर क़ायम रखने के बजाय, इस बडी दीवार पर, जो विदेशी हमलों से उनकी हिफ़ाज़त करने के लिए बनाई जा रही थी, रुपया लगाना ज़्यादा पसन्द किया। यह दीवार किसी बडे आक्रमण को मुश्किल से रोक सकती थी; ज़्यादा-से-ज़्यादा जो हुआ वह सिर्फ़ इतना ही कि उससे छोटे-छोटे हमले रुक गये। इससे यह पता चलता है कि चीनी लोग शान्ति पसन्द करते थे, और इतनी शक्ति के होते हुए भी सैनिक कीर्त्ति के लोलुप नहीं थे।

पहला सम्राट शीह ह्वांग टी मर गया और उस राजवंश में कोई दूसरा ऐसा नहीं निकला जो उसकी जगह को लेता। लेकिन उसके ज़माने से सारा चीन एक सूत्र में बंध गया।

इसके बाद एक दूसरा राजवंश--हन्-वंश सामने आया। यह वंश चार सौ बरस से ज़्यादा रहा। इस वंश के प्रथम शासकों में एक साम्राज्ञी भी हुई है। इसी वंश का छठा सम्राट वू-ती था, जोकि चीन के बडे शक्तिशाली और मशहूर शासकों में एक हुआ है। उसने पचास बरस से ज़्यादा राज्य किया। उसने तातारियों को हराया, जो उत्तर में बराबर हमला करते रहते थे। पूरब में कोरिया से पश्चिम में कैस्पियन सागर तक चीनी सम्राट का बोलबाला था। मध्य एशिया की सब जातियाँ उसे अपना प्रमुख शासक मानती थीं। एशिया का नक़शा देखो, तो तुम उसके व्यापक प्रभाव और ईसा के पूर्व पहली और दूसरी सदी में, चीन की विशाल शक्ति का कुछ अन्दाज़ लगा सकोगी। हम उस ज़माने के रोम की महानता के बारे में बहुत कुछ पढ़ते-सुनते हैं, और यह समझ बैठते हैं कि उस ज़माने के रोम ने तरक़्क़ी में दुनिया को मात कर दिया था। रोम को 'संसार की स्वामिनी' कहा गया है। लेकिन, हालांकि रोम बड़ा था और ज़्यादा महान होता जा रहा था, फिर भी चीन उससे कहीं ज़्यादा विस्तृत और ज़्यादा ताक़तवर साम्राज्य था।

सम्भवतः वू-ती के ज़माने में ही रोम और चीन में सम्पर्क हुआ। पार्थियन लोगों के ज़रिये इन दोनों देशों में व्यापार हुआ करता था। ये लोग जिस प्रदेश में रहा करते थे वह आज ईरान और इराक़ कहलाता है। लेकिन जब रोम और पार्थियनों में लड़ाई छिडी, यह व्यापार रुक गया। रोम ने तब समुद्र के रास्ते चीन से सीधे तिजारत करनी चाही और एक रोमन जहाज़ चीन आया भी। लेकिन यह ईसा के बाद दूसरी सदी की बात है और हम तो अभी ईसा से पहले के ही ज़माने की बात कर रहे हैं।

हन् वंश के जमाने में ही चीन में बौद्ध-धर्म आया। ईसाई सन् के पहले भी चीन में उसकी कुछ चर्चा होने लगी थी, लेकिन यह फैला उस समय के बाद है, जब तात्कालिक चीनी सम्राट ने, कहते हैं, एक आश्चर्यजनक स्वप्न में एक सोलह फीट लम्बा आदमी देखा, जिसके सर के चारों ओर तोजोवलय था। चूंकि उसने स्वप्न में इस महापुरुष को पश्चिम दिशा में खड़ा देखा था, इसलिए उसने उसी ओर दूत भेजे। ये दूत वहाँसे बुद्ध की मूर्ति और बौद्ध-ग्रन्थ लेकर वापस आये। बौद्ध-धर्म के साथ-साथ हिन्दुस्तानी कला का प्रभाव भी चीन में पहुँचा; वहाँसे वह कोरिया में और कोरिया से जापान में फैल गया।

हन्-वंश के जमाने में दो महत्व पूर्ण बातें ऐसी हुई जिनका जिक्र जरूरी है। वह है लकडी के ठप्पों से छपाई की कला का आविष्कार होना। लेकिन क़रीब एक हज़ार बरस तक उसका ज्यादा उपयोग नहीं हुआ। लेकिन इतने पर भी चीन योरप से पाँचसौ बरस आगे था।

दूसरी बात, जो जिक्र करने के क़ाबिल है, यह है कि इसी जमाने में चीन में सरकारी नौकरियों के लिए परीक्षा की प्रथा शुरू हुई। लड़के और लड़कियाँ इम्तिहान पसन्द नहीं करते और मैं उनकी इस बात से हमदर्दी भी रखता हूँ। लेकिन उस जमाने में इम्तहान के ज़रिये से सरकारी अफ़सरों की नियुक्ति का होना नोट करने लायक़ बात है। दूसरे मुल्कों में अभी हाल तक यह तरीक़ा रहा है कि सरकारी अफ़सर आमतौर पर सिफ़ारिश से नियुक्त किये जाते थे या किसी खास वर्ग या क़ौम के लोग हुआ करते थे। चीन में कोई ऐसी क़ौम नहीं थी। जो कोई इम्तिहान पास करता उसी की नियुक्ति हो सकती थी। यह आदर्श प्रणाली नहीं कही जा सकती, क्योंकि यह मुमकिन है कि कोई कनफ्यूशियन शास्त्रों का इम्तिहान देकर पास भले ही हो जाय लेकिन फिर भी उसमें सरकारी अफ़सर बनने की योग्यता न हो। लेकिन रिआयत और सिफ़ारिश की नियुक्ति के तरीक़े से यह तरीक़ा कहीं बेहतर था और चीन में दो हज़ार बरस तक जारी रहा। अभी हाल ही में इसका खातमा हुआ है।

: २७ :

रोम बनाम कार्थेज

५ अप्रैल, १९३२

अब हम सुदूर पूर्व से पश्चिम की ओर चलें और यह देखें कि रोम की तरक्क़ी कैसे हुई। कहा जाता है कि रोम की बुनियाद ईसा के पहले आठवीं सदी में पडी थी। शुरू जमाने के रोमन लोग, जो ग़ालिबन आर्यों के वंशज थे, टाईबर नदी के

पास की सात पहाड़ियों पर बसे हुए थे। इनकी ये बस्तियाँ धीरे-धीरे बढ़कर शहर बन गई और यह शहरी राज्य बढ़ते-बढ़ते इटली भर में फैल गया। यहाँ तक कि यह दक्षिणी कोने में सिसली के बराबर मेसेना तक पहुँच गया।

तुम्हें शायद यूनान के शहरी राज्यों का ख़याल हो। जहाँ-जहाँ यूनानी गये, वहाँ-वहां वे अपना शहरी राज्य का ख़याल भी अपने साथ लेते गये और उन्होंने भूमध्यसागर के किनारे को चारों तरफ़ से यूनानी उपनिवेशों और शहरी-राज्यों से भर दिया। लेकिन इस वक्त हम रोम की इससे बिलकुल जुदी चीज़ का ज़िक्र कर रहे हैं। बिलकुल शुरू में शायद रोम भी यूनान के शहरी राज्य की तरह का ही रहा हो; लेकिन बहुत जल्द वह अपनी पडोसी जातियों को हराकर फैल गया। इस तरह रोमन राज्य की हद बढ़ने लगी और इटली का ज्यादातर हिस्सा उसमें आगया। इतना बड़ा रक़बा एक नगर-राज्य की तरह नहीं रह सकता था। इतने बडे क्षेत्र का राज-काज रोम से संचालित होता था और खुद रोम में एक अजीब क़िस्म की सरकार थी। वहाँ न तो कोई बड़ा सम्राट् या राजा था और न आजकल की तरह का लोकतंत्र ही था। फिर भी वहाँ का शासन एक तरह से लोक-तंत्रात्मक ही था, जिसपर ज़मींदार-वर्ग के चन्द अमीर कुटुम्बों का प्रभुत्व था। शासन का अधिकार सिनेट का माना जाता था, और इस सिनेट को नामज़द करते थे दो चुने हुए आदमी, जो 'कौन्सलस' कहलाते थे। बहुत दिनों तक तो सिर्फ़ ऊंचे वर्ग के आदमी सिनेटर हो सकते थे। रोम की जनता दो वर्गों में बँटी हुई थी; एक तो 'पैट्रीशियन्स', अर्थात् अमीर रईस, जो आम तौर पर ज़मींदार हुआ करते थे, दूसरे 'प्ली-बियन्स' जो मामूली नागरिक थे। रोमन राष्ट्र या लोकतन्त्र के कई सौ बरसों का इतिहास इन दो वर्गों के आपस के संघर्ष का इतिहास है। पैट्रीशियन लोगों के हाथ में सारी ताक़त थी, और जहाँ ताक़त रहती है वहीं रुपया भी जाता है। प्लीबियन्स या प्लेब्स दबा हुआ वर्ग था, जिसके पास न ताक़त थी, न पैसा। प्लीबियन लोग ताक़त हासिल करने के लिए लड़ते और संघर्ष करते रहे, और धीरे-धीरे अधिकार के कुछ टुकडे उन्हें मिले भी। यह एक दिलचस्प बात है कि इस लम्बे संग्राम में प्लेब लोगों ने एक क़िस्म के असहयोग का कामयाबी के साथ प्रयोग किया। समूह के रूप में वे लोग रोम शहर को छोड़कर निकल आये और एक नया शहर बसाकर वहाँ रहने लगे। इससे पैट्रीशियन डर गये, क्योंकि बग़ैर प्लेबों के उनका काम चल नहीं सकता था। इसलिए उन्होंने उनके साथ समझौता कर लिया और उन्हें कुछ छोटी-मोटी रिआयतें दे दीं। धीरे-धीरे वे लोग ऊँचे ओहदों के भी हक़दार समझे जाने लगे और सिनेट तक के मेम्बर होने लगे।

हम पैट्रीशियन और प्लीबियन लोगों के आपस के संघर्ष की चरचा करते हैं और यह समझते हैं कि इनके अलावा रोम में कोई दूसरा वर्ग गिनती के लायक़ नहीं था। लेकिन असल में इन दोनों वर्गों के अलावा वहाँ गुलामों की भी एक बहुत बड़ी तादाद पाई जाती थी, जिनको किसी तरह के अधिकार नहीं मिले हुए थे। इन लोगों की नागरिकों में गिनती नहीं थी और न इनको वोट देने का ही हक़ था। ये लोग तो गाय और कुत्ते की तरह अपने मालिकों की व्यक्तिगत और निजी जायदाद समझे जाते थे। मालिक अपनी मरज़ी से इनको बेच सकता था और सज़ा दे सकता था। कुछ हालतों में इन्हें आज़ादी भी मिल सकती थी। इस तरह आज़ाद हुए लोगों ने अपना एक अलग वर्ग बना लिया, जो 'स्वतन्त्रता-प्राप्त' लोगों का वर्ग कहलाता था। पुराने ज़माने में, पश्चिम में, ग़ुलामों की हमेशा बहुत ज्यादा माँग रहती थी और माँग को पूरा करने के लिए ग़ुलामों के बड़े-बड़े बाज़ार लगा करते थे। मर्द, औरत और बच्चों को पकड़ने और उन्हें ग़ुलाम बनाकर बेंचने के लिए दूर-दूर के देशों तक धावे हुआ करते थे। पुराने यूनान और रोम के वैभव एवं महानता की बुनियाद, प्राचीन मिस्र की तरह ग़ुलामी की चारों ओर फैली हुई प्रणाली पर क़ायम थी।

क्या ग़ुलामी की यह प्रथा उस समय हिन्दुस्तान में भी इसी तरह प्रचलित थी? बहुत करके नहीं। चीन में भी यह प्रणाली नहीं थी। इसका यह मतलब नहीं कि प्राचीन चीन और हिन्दुस्तान में ग़ुलामी थी ही नहीं। यहाँ जो कुछ ग़ुलामी थी वह बहुत-कुछ घरेलू क़िस्म की थी। कुछ घरेलू नौकर ग़ुलाम समझे जाते थे। हिन्दुस्तान और चीन में श्रमजीवी--मज़दूर लोग--ग़ुलाम नहीं हुआ करते थे और न खेत में या किसी दूसरी जगह काम करने के लिए ही ग़ुलामों के बड़े-बड़े झुण्ड पाये जाते थे। इस तरह दोनों मुल्क ग़ुलामी के सबसे गिरे हुए पहलू से बचे रहे।

इस तरह रोम बढ़ा। पैट्रीशियन लोगों ने उससे फायदा उठाया और अधिकाधिक अमीर और मालामाल होते गये। इस अरसे में प्लीबियन लोग ग़रीब बने रहे और पैट्रीशियन लोग उनको दबाये रहे; और ये दोनों पैट्रीशियन और प्लीबियन, मिलकर ग़रीब ग़ुलामों को दबाते रहे।

जब रोम की तरक्क़ी हुई उस समय उसके शासन का ढंग कैसा था? मैं बता चुका हूँ कि हुकूमत सिनेट के हाथ में थी, और दो चुने हुए कौन्सल सिनेट को नामज़द किया करते थे। कौन्सलों को कौन चुनता था? उन्हें नागरिक वोटर चुनते थे। पहली बात तो यह थी कि जब रोम एक छोटा-सा नगर-राज्य था, सब नागरिक रोम में या रोम के आस-पास रहते थे, उस वक्त लोगों का इकट्ठा हो जाना और

वोट देना कोई मुश्किल बात नहीं थी। लेकिन रोम के बढ़ने पर बहुत-से नागरिक ऐसे भी थे जो रोम से दूर रहने लगे, और उनके लिए वोट देने आना आसान काम नहीं था। उस वक्त आजकल के-से 'प्रतिनिधि शासन' का विकास नहीं हुआ था और न वैसा अमल ही होता था। आजकल, तुम जानती हो हरेक हल्के या 'निर्वाचन-क्षेत्र' राष्ट्रीय असेम्बली, पार्लमेण्ट या काँग्रेस के लिए अपना नुमाइन्दा या प्रतिनिधि चुनता है और इस तरह से एक छोटी-सी जमात के ज़रिये सारे राष्ट्र की नुमाइन्दगी हो जाती है। यह बात पुराने रोमन लोगों को नहीं सूझी थी, इसलिए रोमन लोग उस अवस्था में भी रोम में ही अपना चुनाव चलाते रहे जबकि दूर के वोटरों के लिए वहाँ आकर वोट दे सकना बिलकुल असम्भव था। सच तो यह है कि दूर के वोटरों को मुश्किल से पता चलता था कि कहाँ क्या हो रहा है। उस जमाने में न अख़बार थे, न पैम्फलेट, और न छपी हुई किताबें थीं और बहुत कम लोग पढ़-लिख सकते थे। इस प्रकार जो लोग रोम से दूर रहते थे, उनके लिए वोट देने का अधिकार बिलकुल बेकार था। उनको राय देने का हक़ जरूर था, लेकिन फासले ने उनके इस हक़ को बेकार बना दिया था।

इस तरह तुम देखोगी कि चुनाव का और ख़ास-ख़ास बातों का फ़ैसला करने का असली अधिकार रोम के ही वोटरों के हाथ में था। वे लोग खुले मैदान में जाकर वोट देते थे। इन वोट देनेवालों में से बहुत-से ग़रीब प्लीबियन हुआ करते थे। अमीर पैट्रीशियन, जो ऊँचा ओहदा या अधिकार चाहता था, ग़रीब आदमियों को रिश्वत देकर अपने लिए वोट दिला लेता था। इस तरह रोमन चुनाव में उतनी ही रिश्वत और धोखेबाज़ी चला करती थी, जितनी कि कभी-कभी आजकल के चुनावों में चलती है।

इधर रोम इटली में बढ़ रहा था, उधर उत्तरी अफ़्रीका में कार्थेज शक्तिमान हो रहा था। कार्थेज-निवासी फोनीशियन लोगों के वंशज थे, और उनमें जहाज़ चलाने और व्यापार करने की विशेष योग्यता पाई जाती थी। उनके यहाँ भी लोकतंत्र था, लेकिन वह रोम से भी अधिक अमीरों का लोकतंत्र था। यह शहरी लोकतंत्र था, जिसमे गुलामों की तादाद बहुत अधिक थी।

शुरू दिनों में, रोम और कार्थेज के दरमियान दक्षिण-इटली और मेसिना मे यूनानी उपनिवेश थे। लेकिन रोम और कार्थेज ने मिलकर यूनानियों को निकाल दिया, और इसमें कामयाबी होने के बाद कार्थेज ने सिसली ले लिया और रोम इटली की दक्षिणी नोक तक पहुँच गया। रोम और कार्थेज बहुत दिनों तक एक-दूसरे के मित्र और सहायक न बने रह सके। जल्दी ही इन दोनों में झगड़ा

हो गया और गहरी प्रतिद्वन्द्विता बढ़ने लगी। दो मज़बूत ताक़तों के लिए, जो संकीर्ण समुद्र के दो किनारों से एक-दूसरे को ललकार रही थीं, भूमध्य-सागर काफ़ी बड़ा न था। दोनों ही ताक़तें महत्वाकांक्षी थीं। इधर रोम बढ़ रहा था, और उसमें नौजवानी का जोश और आत्मविश्वास था, उधर कार्थेज नये उठे हुए रोम को हिक़ारत की नज़र से देखता और अपनी समुद्री ताक़त पर पूरा-पूरा भरोसा करता था। सौ बरस से ज्यादा तक ये दोनों ताक़तें एक-दूसरे से लड़ती रहीं; बीच-बीच में कभी सुलह भी हो जाती थी। दोनों ही जंगली जानवरों की तरह लड़ीं जिससे जनता बुरी तरह तबाह हो गई। इनमें तीन लड़ाईयाँ हुई जिन्हें 'प्यूनिक युद्ध' कहते हैं। पहला प्यूनिक युद्ध २३ बरस तक अर्थात् ई० पूर्व २६४ से २४१ ई० पूर्व तक चला। इस लड़ाई में रोम की जीत हुई। बाईस बरस बाद दूसरा प्यूनिक युद्ध हुआ। इसमें कार्थेज ने एक सेनापति भेजा, जो इतिहास में बहुत मशहूर है। इसका नाम हैनिबाल था। पन्द्रह बरस तक हैनिबाल ने रोम को परेशान रक्खा और रोमन लोगों को भयभीत करता रहा। उसने रोमन सेनाओं को बड़ी मारकाट के साथ बुरी तरह हराया—ख़ासकर कैनी की लड़ाई में जो २१६ ई० पूर्व में हुई। यह सब उसने कार्थेज की मदद के बिना ही कर दिखाया, क्योंकि समुद्र पर रोमन लोगों का क़ब्ज़ा होने की वजह से कार्थेज से उसका सम्पर्क टूट-सा गया था। लेकिन हार और मुसीबतों को सहते हुए, और हैनिबाल का ख़तरा सिर पर बराबर रहते हुए भी, रोमन लोगों ने हिम्मत नहीं छोड़ी और अपने दुश्मन का बराबर मुक़ाबिला करते रहे। हैनिबाल से खुले मैदान में लड़ने की हिम्मत तो उनमें थी नहीं, इसलिए वे उससे बचते थे, और सिर्फ उसे परेशान करते और कार्थेज से उस के पास सहायता नहीं पहुँचने देते थे। रोमन सेनापति फ़ैबियस ख़ास तौर से खुली लड़ाइयों से बचना पसन्द करता था। दस बरस तक वह खुली लड़ाइयों को टालता रहा। मैंने उसका जिक्र इसलिए नहीं किया है कि वह कोई बड़ा आदमी था और इसलिए याद रखने के क़ाबिल है, बल्कि इसलिए किया है कि अंग्रेज़ी ज़बान में उसके नाम पर एक शब्द 'फ़ैबियन' बन गया है। 'फ़ैबियन' तरीक़ा वह तरीक़ा है, जिस में किसी मामले को इस हद तक आगे नहीं बढ़ने दिया जाता, जिससे कि जल्दी, ही उसका दो टूक फ़ैसला कर देना लाज़मी हो जाय। इस नीति पर चलनेवाले लोग लड़ाई या ऐसी हालत पैदा नहीं करते, जिसमें मामला इधर या उधर हो जाय, बल्कि विरोधी के विरोध को धीरे-धीरे रगड़ कर मिटाने से अपने उद्देश्य के पूरा होने की उम्मीद करते रहते हैं। इंग्लैण्ड में एक फ़ैबियन सोसाइटी है, जो समाजवाद में तो विश्वास करती है लेकिन जल्दबाज़ी और आकस्मिक परिवर्तन में

विश्वास नहीं रखती। मेरा ख़याल है कि मैं किसी भी बात में फ़ेबियन तरीक़े का क़ायल नहीं हूँ।

हैनिबाल ने इटली के बहुत बड़े हिस्से को वीरान कर दिया, लेकिन रोम की लगातार कोशिश और दृढ़ता ने अन्त में विजय पाई। २०२ ई० पू० ज़ामा की लड़ाई में हैनिबाल हार गया। वह जगह-जगह भागता फिरा, लेकिन जहाँ वह गया वहीं रोमनों की कभी भी तृप्त न होनेवाली हिक़ारत ने उसका पीछा किया। अंत में वह जहर खाकर मर गया।

रोम और कार्थेज में पचास बरस तक सुलह रही। कार्थेज काफ़ी पस्त कर दिया गया था, रोम को ललकारने की उसमें बिलकुल हिम्मत नहीं रही थी। फिर भी रोम को सन्तोष नहीं था और उसने एक तीसरी लड़ाई उन पर लाद दी, जो तीसरा प्यूनिक युद्ध कहलाता है। इस लड़ाई में कार्थेज बिलकुल नष्ट हो गया और बहुत भारी तादाद में लोग मारे गये। सचमुच, जिस जमीन पर किसी समय कार्थेज की अभिमानिनी नगरी—भूमध्यसागर की रानी—का आसन था, उस पर रोम ने हल चलवाये।

: २८ :

रोमन 'लोकतंत्र' का 'साम्राज्य' में बदल जाना

९ अप्रैल, १९३२

कार्थेज की आख़िरी हार और तबाही के बाद रोम पश्चिमी दुनिया में सबसे ज्यादा ताक़तवर हो गया और उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहा। इससे पहले वह यूनानी राज्यों को फतह कर ही चुका था, अब कार्थेज के प्रदेशों पर भी उसने क़ब्ज़ा कर लिया। इस तरह दूसरे प्यूनिक युद्ध के बाद स्पेन रोम की मातहती में आगया। फिर भी रोमन साम्राज्य में अभी तक सिर्फ़ भूमध्य सागर के ही देश शामिल थे। सारा उत्तरी और मध्य-योरप रोम के अधिकार के बाहर था।

दूसरे मुल्कों को जीतने का और लड़ाइयों में विजय पाने का असर रोम शहर पर यह हुआ कि वहाँ धन और उसके साथ विलासिता भी बहुत बढ़ गई। जीते हुए मुल्कों से सोने और ग़ुलामों के ढेर-के-ढेर आने लगे। लेकिन ये सब चीजें जाती कहाँ थी। मैं तुम्हें बतला चुका हूँ कि रोम के शासन की बागडोर सिनेट के हाथ में थी और उसमें ऊँचे वर्ग के अमीर कुटुम्ब हुआ करते थे। अमीरों का यह गिरोह रोमन लोकतंत्र और उसके जीवन का नियन्त्रण करता था। रोम के विस्तार और

शक्ति के बढ़ने के साथ-साथ इन लोगों की दौलत भी बढ़ गई। इस तरह जो अमीर थे, वे और भी ज्यादा अमीर होते गये और ग़रीब लोग ग़रीब बने रहे या और ज्यादा ग़रीब हो गये। ग़ुलामों की आबादी बढ़ गई और साथ-साथ ऐशोआराम और मुसीबत भी बढ़ गई। जब कभी ऐसा होता है, तभी अक्सर गड़बड़ हो जाया करती है। आश्चर्य की बात है कि आदमी कितना सहता है, लेकिन आदमी के बरदाश्त करने की भी एक हद है, और जब यह हद पूरी हो जाती है, तब अशांति फूट निकलती है।

अमीर लोगों ने ग़रीब आदमियों को खेल-तमाशों से और सरकस के दंगलों से फुसलाने की कोशिश की। इन दंगलों में ग्लेडियेटर[1] लोग, केवल दर्शकों के मनोरञ्जन के लिए, एक-दूसरे के साथ लड़ने और एक-दूसरे को मारडालने के लिए मजबूर किये जाते थे। इन दंगलों में, जिन्हें लोग खेल कहते थे, ग़ुलामों की और लड़ाई के क़ैदियों की बहुत बडी तादाद, इस तरह मौत के घाट उतारी जाती थी।

धीरे-धीरे रोम राज्य में उपद्रव बढ़ने लगे। बलवे होते थे, ख़ून होते थे और चुनाव के समय रिश्वत और बेईमानी का बोलबाला रहता था। ग़रीब और पद-दलित ग़ुलामों तक ने स्पार्टकस नाम के एक ग्लेडियेटर के नेतृत्व में बलवा कर दिया। लेकिन ये लोग बेरहमी के साथ कुचल दिये गये। कहा जाता है कि इस अवसर पर रोम में ऐपियनवे नाम की जगह पर छः हज़ार ग़ुलाम सूली पर चढ़ा दिये गये।

धीरे-धीरे सेनापति लोग अधिक प्रभावशाली और साहसी होते गये और सिनेट पर हावी होने लगे। रह-रह कर घरेलू लड़ाई छिड़ने और चारों तरफ़ तबाही होने लगी। प्रतिद्वन्द्वी सेनापति एक-दूसरे से लड़ने लगे। पूरब में, पार्थिया में (इराक़ में) ५३ ई० पू० में कैरे की लड़ाई में, रोमन फौज की बहुत बुरी हार हुई। पार्थिया वालों से लड़ने के लिए जो रोमन फौज भेजी गई थी, उसे उन्होंने जड़ से नाश कर दिया।

झुंड के झुंड रोमन सेनापतियों में दो नाम पाम्पी और जूलियस सीज़र, बहुत मशहूर हैं। तुम जानती हो, कि सीज़र ने फ्रान्स को, जो उस समय 'गाल' कहलाता था, और ब्रिटेन को जीता था, पाम्पी पूरब की तरफ़ गया था और वहाँ उसे थोडी-बहुत कामयाबी भी मिली। लेकिन इन दोनों की आपस में बडी गहरी प्रतिद्वन्द्विता थी। दोनों ही महत्वाकांक्षी थे, और किसी प्रतिद्वन्द्वी को बरदाश्त नहीं करते थे। बेचारा

१. **ग्लैडियेटर**—प्राचीन रोम के उन द्वन्द्व युद्ध करनेवालों का नाम, जो दूसरे योद्धाओं या जंगली जानवरों से अखाड़ों में लड़ते थे, और सारा रोम तमाशा देखता था। दूसरों का ख़ून बहते हुए देखने के इच्छुक रोम निवासियों को ये खेल बड़े प्रिय थे, और जिस द्वन्द्व-युद्ध करनेवाले से प्रसन्न हो जाते थे, उसे वे उसके जीतने वाले के द्वारा मरवा डालते थे!

सिनेट पिछड़ गया, हालाँकि ये दोनों जबान से उसकी हुकूमत मानते थे। सीजर ने पाम्पी को हरा दिया और इस तरह वह रोमन संसार का प्रमुख आदमी बन गया। लेकिन रोम में लोकतंत्र था, इसलिए हरेक मामले में क़ानूनी तौर से सीजर की प्रधानता मालूम नहीं हो पाती थी। इसलिए इस बात की कोशिश की गई कि उस को ताज पहनाकर बादशाह या सम्राट बना दिया जाय। सीजर इसके लिए बहुत कुछ राजी था। लेकिन रोम में बहुत दिनों से लोकतंत्र की परम्परा चली आती थी इसलिए उसे कुछ झिझक हुई। सचमुच, लोकतन्त्र-सम्बन्धी यह परम्परा इतनी मज़बूत थी कि जिस फारेम नामक स्थान में सिनेट की बैठक हुआ करती थी, उसीकी सीढ़ियों पर ब्रूटस और दूसरे लोगों ने जूलियस सीज़र को तलवार से क़त्ल कर दिया। तुमने शेक्सपियर का 'जूलियस सीज़र' नाम का नाटक पढ़ा होगा, उसमें यह दृश्य दिया हुआ है।

जूलियस सीज़र ४४ ई० पू० में क़त्ल किया गया, लेकिन उसकी मौत लोकतंत्र को न बचा सकी। सीज़र के गोद लिये हुए लड़के आक्टेवियन ने, जो उसका पोता था, और उसके मित्र 'मार्क एण्टनी' ने सीजर की हत्या का बदला लिया। इसके बाद बादशाहत वापस आई और आक्टेवियन राज्य का प्रमुख शासक अर्थात् 'प्रिंसेप्' बना और लोकतंत्र ख़तम हो गया। सिनेट क़ायम रहा, लेकिन उसके हाथ में कोई असली ताक़त नहीं रह गई।

आक्टेवियन जब प्रिन्सेप् या प्रमुख बना, तो उसने अपना नाम और पद 'आगस्टस सीज़र' रक्खा। उसके बाद उसके सब उत्तराधिकारी सीज़र कहलाते रहे हैं। सीज़र शब्द का अर्थ ही वास्तव में सम्राट हो गया है। क़ैसर शब्द इसी सीज़र शब्द से निकला है। बहुत दिनों से हिन्दुस्तानी भाषा में भी क़ैसर शब्द इसी अर्थ में चालू होगया है, जैसे 'क़ैसरे-रूम', 'क़ैसरे-हिन्द'। अब इंग्लैण्ड के किंग जार्ज को 'क़ैसरे-हिन्द' के लक़ब पर फ़ख्र है। जर्मन-क़ैसर ख़तम हो गये, इसी तरह आस्ट्रियन क़ैसर, तुर्की क़ैसर और रूसी क़ैसर भी जाते रहे। लेकिन अजीब और दिलचस्प बात तो यह है कि अकेले इंग्लैण्ड का बादशाह ही उस जूलियस सीज़र का नाम या उपाधि क़ायम रखने के लिए इस समय बचा है, जिसने ब्रिटेन को रोम के लिए जीता था।

इस तरह से आजकल जूलियस सीज़र का शब्द बादशाही शान और दबदबे का सूचक हो गया है। अगर पाम्पी ने सीज़र को यूनान में फ़ारसैल्स की लड़ाई में हरा दिया होता तो क्या हालत हुई होती ? ग़ालिबन पाम्पी प्रिन्सेप् या सम्राट् बना होता और पाम्पी का मतलब सम्राट् हो जाता। उस समय विलियम द्वितीय अपने को जर्मन पाम्पी कहते और किंग जार्ज पाम्पिए-हिन्द कहलाते होते।

रोमन राज्य के इस परिवर्त्तन काल में जब लोकतंत्र साम्राज्य की शकल में बदल रहा था, मिस्र में एक ऐसी स्त्री थी जो अपने सौन्दर्य के लिए इतिहास में मशहूर होने वाली थी। उसका नाम क्लियोपेट्रा था। वह बहुत नेकनाम नहीं थी, लेकिन वह उन इनीगिनी स्त्रियों में से है, जिनके बारे में कहा जाता है कि उन्होंने अपनी ख़ूबसूरती से इतिहास का रुख ही बदल दिया। जब 'जूलियस सीज़र' मिस्र गया था, तब यह लड़की ही थी। बाद को मार्क एण्टनी से उसकी गहरी दोस्ती हो गई और उसकी कुछ थोडी-सी भलाई भी की। लेकिन वास्तव में क्लियोपेट्रा ने उसके साथ दग़ा किया और एक सामुद्रिक महायुद्ध के बीचोंबीच, अपने जहाज़ लेकर, उसका साथ छोड़कर खिसक गई। पैस्कल नाम के एक मशहूर फ्रान्सीसी लेखक ने, बहुत दिन हुए लिखा था—

"अगर क्लियोपेट्रा की नाक थोड़ी छोटी होती तो दुनिया की सूरत बिलकुल बदल गई होती।"

इस बात में ज़रा अतिशयोक्ति है। क्लियोपेट्रा, की नाक दूसरी क़िस्म की भी बनी होती तो भी उससे दुनिया की हालत में बहुत अधिक अन्तर न आया होता। लेकिन यह मुमकिन है कि मिस्र जाने के बाद से सीज़र अपने को एक तरह का ईश्वरीय शासक-सा बादशाह या सम्राट समझने लगा हो। मिस्र में लोकतन्त्र नहीं था। वहां राजा का एकाधिपत्य शासन था और राजा केवल सर्वोपरि—सबसे ऊँचा—ही नहीं समझा जाता था, बल्कि बिलकुल ईश्वर की तरह माना जाता था। पुराने मिस्रियों की यही धारणा थी, और यूनान के टालमी लोगों ने, जो सिकन्दर की मौत के बाद मिस्र के शासक हुए थे, मिस्र के बहुत-से आचार-विचारों को अपना लिया था। क्लियोपेट्रा इसी टालमी वंश की थी और इसलिए यूनानी, या यों कहिए कि मक़दूनिया की, राजकुमारी थी। कहा जाता है कि साँप के काटने से उसकी मौत हुई।

इसमें क्लियोपेट्रा की सहायता रही हो या न रही हो, लेकिन मिस्रियों का यह भाव कि राजा परमेश्वर है, रोम तक पहुँच गया, और वहाँ उसे आश्रय मिल गया। जूलियस सीज़र की ज़िन्दगी में ही, जबकि लोकतन्त्र अपनी तरक्क़ी पर था, उसकी मूर्तियां बनने लगीं थीं और उसकी पूजा होने लगी थी। आगे चलकर हम देखेंगे कि इसी तरह कैसे रोमन सम्राट की पूजा का एक पक्का रिवाज-सा बन गया था।

अब हम रोम के इतिहास में एक महत्व के मोड़ पर, लोकतन्त्र के अन्त के निकट पहुँच गये हैं। ईस्वी सन् २७ में आक्टेवियन 'आगस्टस सीज़र' की पदवी धारण कर प्रिन्सेप् बना। रोम और उसके सम्राटों की इस कहानी की अगली चर्चा हम फिर करेंगे। इस बीच आओ हम इस बात पर नज़र डालें कि लोकतन्त्र के आख़िरी दिनों में रोम द्वारा शासित देशों की क्या हालत थी।

रोम इटली पर तो राज करता ही था; पश्चिम में स्पेन और गाल (फ्रान्स) पर भी उसका क़ब्ज़ा था। पूरब में यूनान और एशिया माइनर, जहाँ तुम्हें याद होगा परगैमम नाम की यूनानी रियासत थी, उसके पास था। उत्तरी अफ्रीका में मिस्र रोम का मित्र और रक्षित राज्य समझा जाता था। कार्थेज और भूमध्यसागर के देशों के कुछ दूसरे हिस्से भी रोम के मातहत थे। इस तरह से उत्तर में राइन नदी रोमन साम्राज्य की सरहद थी। जर्मनी और रूस की सारी जनता और उत्तरीय और मध्य योरप के सारे देश, रोमन साम्राज्य से बाहर थे। इराक़ के पूरब के सब देशों पर भी उसका अधिकार नहीं था।

उस ज़माने में रोम बहुत बड़ा देश था। योरप के बहुत से लोग, जो दूसरे देशों का इतिहास नहीं जानते, यह समझते हैं कि सारी दुनिया पर रोम हावी था। लेकिन यह बात असलियत से बहुत दूर है। तुम्हें याद होगा कि इसी ज़माने में चीन में महान् 'हन्' वंश राज्य करता था और एशिया के तट से लेकर कैस्पियन सागर तक उसका साम्राज्य फैला हुआ था। कारे(इराक़)की लडाई में, जहाँ रोमन लोगों की बुरी तरह हार हुई थी, मुमकिन है पार्थियन लोगों को चीन के मंगोलियनों ने मदद दी हो।

लेकिन रोमन इतिहास, ख़ासकर रोमन प्रजातन्त्र का इतिहास, योरपवालों को बहुत प्यारा है क्योंकि वे उसीको योरप के आधुनिक राष्ट्रों का पूर्वज या पुरखा मानते हैं, और यह बात किसी हदतक सही भी है। इसीलिए अँग्रेज़ी स्कूलों के विद्यार्थियों को, चाहे वे आधुनिक इतिहास जानें या न जानें, यूनान और रोम का इतिहास ज़रूर पढ़ाया जाता है। मालूम नहीं वे लोग अब इसपर कितना समय लगाते हैं।

इतिहास के सिवा भी, मुझे अच्छी तरह से याद है कि, जूलियस सीज़र का लिखा हुआ, उसके गाल युद्ध का हाल मूल लैटिन भाषा में मुझे पढ़ाया गया था। सीज़र सिर्फ़ योद्धा ही नहीं था, बल्कि एक प्रभावशाली और सुन्दर लेखक भी था और उसकी लिखा हुआ 'गालिक युद्ध' (De Bello Gallico) अभी तक योरप के हज़ारों स्कूलों में पढ़ाया जाता है।

थोडे दिन हुए हमने अशोक के समय की दुनिया पर सरसरी नज़र डालनी शुरू की थी। हम उस सिंहावलोकन को सिर्फ़ खतम ही नहीं कर चुके, बल्कि उससे आगे बढ़कर चीन और योरप भी हो आये। अब हम क़रीब-क़रीब ईसाई सन् की शुरूआत तक पहुँच गये हैं। इसलिए हिन्दुस्तानियों की उस समय तक की जानकारी को पूरा करने के लिए अब हमें फिर हिन्दुस्तान को वापस लौटना पडेगा; क्योंकि अशोक की मृत्यु के बाद वहाँ बडी-बडी तब्दीलियाँ हुई है और उत्तर और दक्षिण में नये-नये साम्राज्य पैदा हुए हैं।

मैंने इस बात की कोशिश की थी कि तुम दुनिया के इतिहास को एक सिलसिलेवार और मुकम्मिल चीज़ समझो। लेकिन, मुझे उम्मीद है, तुम्हें यह भी याद होगा कि शुरू के पुराने ज़माने में दूर-दूर के देशों का आपसी सम्पर्क बहुत परिमित था। रोम, जो कि कई बातों में बहुत आगे बढ़ा हुआ था, भूगोल और नक़शों के बारे में कुछ भी नहीं जानता था, और न इन विषयों को जानने की उसने कोई ख़ास कोशिश ही की। आजकल के स्कूल के लड़के और लड़कियाँ जितना भूगोल जानती हैं, उतना रोम के बडे-बडे सेनापति और सिनेट के बुद्धिमान आदमी भी नहीं जानते थे, हालांकि ये लोग अपनेको दुनिया का मालिक समझते थे। और जिस तरह ये लोग अपनेको दुनिया का मालिक समझते थे, उसी तरह उनसे कई हज़ार मील दूर एशिया के विशाल महाद्वीप के दूसरे सिरे पर, चीन के शासक भी अपने को संसार का स्वामी समझते थे।

: २९ :

दक्षिण भारत का उत्तर भारत को मात कर देना

१० अप्रैल, १९३२

सुदूर पूर्व में चीन और पश्चिम में रोम की लम्बी यात्रा के बाद हम फिर हिन्दुस्तान को वापस आते हैं। अशोक की मृत्यु के बाद मौर्य साम्राज्य बहुत दिनों तक नहीं चला। थोडे ही बरसों में वह मुरझा गया। उत्तर के सूबे अलग हो गये और दक्षिण में आन्ध्र वालों की एक नई ताक़त पैदा हुई। अशोक के वंशज क़रीब पचास बरस तक अपने अस्त होते हुए साम्राज्य पर राज्य करते रहे। अन्त में पुष्यमित्र नाम के उनके एक ब्राह्मण सेनापति ने उन्हें ज़बरदस्ती तख़्त से उतार दिया और खुद सम्राट् बन बैठा। कहते हैं, उसके ज़माने में ब्राह्मण धर्म[1] की फिर से जागृति हुई। किसी हद तक बौद्ध भिक्षुओं पर अत्याचार भी हुए। लेकिन हिन्दुस्तान का इतिहास पढ़ने पर तुम देखोगी कि ब्राह्मण धर्म ने बौद्ध धर्म पर बडी चतुराई से आक्रमण किया है। उसने उन्हें सताने के लिए किसी भोंडी नीति से काम नहीं लिया। बौद्धों पर कुछ अत्याचार ज़रूर हुए; लेकिन इसका कारण सम्भवतः राजनैतिक था, धार्मिक नहीं। बडे-बडे बौद्ध-संघ शक्तिशाली संस्थायें थीं और बहुत से शासक उनकी राजनैतिक शक्ति से डरते थे। इसलिए उन्होंने उनको कमज़ोर करने की कोशिश की। बौद्ध-धर्म को उसकी जन्मभूमि में से निकाल बाहर करने में ब्राह्मण-धर्म आख़िर में

१. ब्राह्मण धर्म से मतलब हिन्दूधर्म से है।

कामयाब रहा। उसनें कई बातें बौद्ध धर्म से लेलीं और हजम करलीं, और उसे अपने घर में स्थान देने की कोशिश भी की।

इस तरह नये ब्राह्मण-धर्म ने, सिर्फ़ पुरानी बातों को ही फिर से लाने की कोशिश नहीं की; न जो कुछ बौद्ध धर्म ने किया था उसको बुरी तरह मटियामेट करने का ही कोई प्रयत्न किया। ब्राह्मण धर्म के पुराने नेता बहुत चतुर थे। बहुत पुराने जमाने से उनका यह तरीक़ा चला आया है कि वे दूसरे धर्म के आचार-विचारों को अपने में मिला लेते और उन्हें हजम कर जाते हैं। आर्य लोग जब पहले-पहल हिन्दुस्तान में आये, तब उन्होंने द्रविडों की संस्कृति और रस्म-रिवाज को बहुत अंशों में अपना लिया; अपने सारे इतिहास में वे जान-बूझकर या बेजाने लगातार इसी नीति का पालन करते आए हैं। बौद्धधर्म के साथ भी उन्होंने यही किया और बुद्ध को अवतार बना दिया, बहुत से हिन्दू अवतारों में उन्हें भी एक स्थान मिल गया। इस तरह बुद्ध तो क़ायम रहे, लोग उनकी पूजा करते और उनका नाम जपते रहे; लेकिन हिन्दुओं ने उनके विशेष सन्देश को जनता के सामने से चुप-चाप हटा दिया और ब्राह्मण-धर्म या हिन्दू-धर्म कुछ छोटी-मोटी तबदीलियों के बाद अपने सुगम रास्ते पर फिर चलने लगा। बौद्धधर्म को हिन्दू धर्म का जामा पहनाने का काम बहुत दिनों तक चलता रहा। परन्तु इस अवसर पर इस बात की चर्चा करना समय से पहले के सवाल को उठाना है। अशोक की मृत्यु के बाद कई सौ बरस तक बौद्ध-धर्म हिन्दुस्तान में क़ायम रहा।

हमें इस बात पर ध्यान देने की जरूरत नहीं कि मगध में एक दूसरे के बाद कौन-कौन से राजा और राजवंश आये और गये। अशोक के मरने के बाद दो सौ बरस बाद तो मगध हिन्दुस्तान के प्रमुख राष्ट्र पद को भी खो बैठा। लेकिन उस समय भी वह बौद्ध संस्कृति का बहुत बड़ा केन्द्र समझा जाता था।

इस बीच में उत्तर और दक्षिण दोनों जगहों पर महत्वपूर्ण घटनायें हो रही थीं। उत्तर में मध्य एशिया की कई जातियाँ, जैसे बैक्ट्रियन, शक, सीदियन, तुर्क और कुशान लोग बराबर हमले कर रहे थे। मेरा ख़याल है मैंने तुम्हें एक बार लिखा था कि कैसे मध्य एशिया में जुदी-जुदी जातियों के झुण्ड के झुण्ड पैदा होते गये और कैसे वे लोग इतिहास में बार-बार अपना स्थान बदलते हुए सारे एशिया में और योरप तक में फैल गये। ईसा के २०० बरस पहले हिन्दुस्तान पर भी इस तरह के कई हमले हुए। लेकिन तुम्हें यह याद रखना चाहिए, कि ये हमले महज़ लूट या विजय के लिए नहीं हुआ करते थे, बल्कि बसने के लिए जमीन की तलाश में हुआ करते थे। मध्य एशिया की इन जातियों में से बहुत-सी बिना घर-बारवाली थीं और जब

उनकी तादाद बढ़ जाती थी, तो जिस ज़मीन में वे बसी होती थीं वह उनके गुज़ारे के लिए नाकाफ़ी हो जाती थी। इसलिए उन्हें नई ज़मीन की तलाश में बाहर निकलना पड़ता था। इनके वहाँ से हटने का इससे भी ज्यादा ज़बर्दस्त एक दूसरा कारण था। वह था पीछे से उनपर दबाव डाला जाना। एक बडी जाति या गिरोह दूसरी जाति या गिरोह पर हमला कर वहाँ से निकाल बाहर करता था और इसलिए इन निकाली हुई जातियों को दूसरी जातियों पर हमला करना ज़रूरी हो जाता था, इस तरह हिन्दुस्तान में जो लोग आक्रमणकारी के रूप में आये, वे अक्सर अपनी निर्वाह-भूमि से भगाई हुई जातियां थीं। जब कभी चीनी साम्राज्य में ऐसा करने की ताक़त होती थी, जैसा कि हन्-वंश के ज़माने में उसने किया था, तब वह भी इन ख़ानाबदोश जातियों को निकाल बाहर कर उन्हें दूसरे देशों की तलाश के लिए मजबूर कर देता था।

तुम्हें यह भी याद रखना चाहिए, कि मध्य एशिया की ये ख़ानाबदोश जातियाँ हिन्दुस्तान को अपना शत्रु देश नहीं समझती थी। उन्हें म्लेच्छ अर्थात् जंगली ज़रूर कहा गया है, और सचमुच उस वक्त के हिन्दुस्तान के मुक़ाबिले में वे लोग उतने सभ्य थे भी नहीं, लेकिन उनमें ज्यादातर कट्टर बौद्ध थे, जो हिन्दुस्तान को इज्ज़त की नज़र से देखते थे, क्योंकि यहीं उनके धर्म का जन्म हुआ था।

पुष्यमित्र के ज़माने में भी उत्तर-पश्चिम हिन्दुस्तान पर एक हमला हुआ था। यह हमला करनेवाला बैक्ट्रिया का मेनाण्डर था। हिन्दुस्तान की सरहद के उस पार बैक्ट्रिया प्रदेश था। यह प्रान्त सेल्यूकस के साम्राज्य का एक हिस्सा था, लेकिन बाद को वह स्वतंत्र हो गया था। मेनाण्डर का हमला नाकामयाब कर दिया गया, लेकिन काबुल और सिन्ध पर उसने कब्ज़ा कर ही लिया। मेनाण्डर भी एक धर्मपरायण बौद्ध था।

इसके बाद शक लोगों का हमला हुआ, जो इस देश में बहुत बडी तादाद में आये और उत्तर और पश्चिम हिन्दुस्तान में फैल गये। यह तुर्की ख़ानाबदोशों का एक बड़ा कबीला था। कुशन नाम की एक दूसरी बडी जाति के लोगों ने उन्हें अपनी निर्वाह-भूमि से मार भगाया था। वहाँ से वे लोग बैक्ट्रिया और पार्थिया को रौंदते हुए धीरे-धीरे उत्तरी भारत में, ख़ासकर पंजाब, राजपूताना और काठियावाड़ में जम गये। हिन्दुस्तान ने उन्हें तहज़ीब सिखाई—सभ्य बनाया, और उन लोगों ने अपनी जंगली आदतें छोड़ दीं।

यह एक दिलचस्प बात है कि इन बैक्ट्रियन और तुर्की शासकों का भारतीय आर्य-वर्ग के जीवन पर कुछ ख़ास असर नहीं हुआ। ख़ुद बौद्ध होने के कारण इन

शासकों ने बौद्ध धर्म संस्थाओं का अनुकरण किया जो पुराने आर्यग्राम-संघ की तरह लोकतंत्रात्मक थीं। इस तरह इन शासकों की हुकूमत में भी हिंदुस्तान केन्द्रीय-शासन के मातहत ग्रामीण लोकतंत्रों का एक सुशासित समूह बना रहा। इस ज़माने में भी तक्षशिला और मथुरा, बौद्ध विद्या के केन्द्र रहे, जहाँ चीन और पश्चिम एशिया से विद्यार्थी आते रहते थे।

लेकिन उत्तर-पश्चिम से लगातार आक्रमण होते रहने और मौर्य राज्य का संगठन धीरे-धीरे टूट जाने का एक असर ज़रूर हुआ। दक्षिण भारतीय राज्य पुरानी भारतीय आर्य प्रणाली के ज्यादा सच्चे नमूने बन गये। इस प्रकार भारतीय आर्य शक्ति का केन्द्र हटक रदक्षिण पहुँच गया। इन हमलों के कारण बहुत से विद्वान लोग दक्षिण में जा बसे। आगे चलकर तुम यह भी देखोगी कि एक हज़ार बरस बाद जब मुसलमानों ने हिन्दुस्तान पर हमला किया उस समय फिर यही बात दुहराई गई। आज भी दक्षिण भारत पर विदेशी हमले और सम्पर्क का उत्तर भारत के मुक़ाबिले कम असर पड़ा है। हम लोगों में जोकि उत्तर में ज्यादातर एक मिश्र संस्कृति में पले है, हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति का मेल है और पश्चिम की भी कुछ पुट लग गई है। हमारी भाषा भी, जिसे तुम हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी चाहे जो कहो, एक मिली हुई भाषा है। लेकिन जैसा कि तुमने ख़ुद देखा है दक्षिण आज भी ज्यादातर कट्टर हिन्दू है।

सैकडों बरसों से वह प्राचीन आर्य-संस्कृति को बचाने और क़ायम रखने की कोशिश करता रहा है और इस कोशिश में उसने अपने समाज को इतना कट्टर बना दिया है कि उसकी असहिष्णुता आज भी आश्चर्यजनक है। दीवारें बडी ख़तरनाक साथी होती है; कभी-कभी वे बाहरी बुराइयों से भले ही बचालें और बाहर के उत्पाती लोगों को आने से रोक दें लेकिन उनकी वजह से आदमी क़ैदी और ग़ुलाम बन जाता है और नाममात्र की जो पवित्रता और निर्भयता तुमको मिलती है, वह आज़ादी खो कर मिलती है। सबसे भयंकर दीवार वह है जो आदमी के दिमाग़ में पैदा हो जाती है, जिसकी वजह से किसी बुरे रस्म-रिवाज को छोड़ने में हम सिर्फ़ इसलिए झिझकते रहते है कि वह पुराना रिवाज है; और किसी नये ख़याल को क़बूल नहीं करते, क्योंकि वह नया है।

लेकिन दक्षिणी हिन्दुस्तान ने एक ख़ास सेवा यह की कि सिर्फ़ धर्म के मामले में ही नहीं, बल्कि राजनीति और कला में भी उसने एक हज़ार वर्ष और उससे ज्यादा समय तक भारतीय आर्य-परम्परा को ज़िन्दा रक्खा। अगर तुम्हें पुरानी भारतीय कला का नमूना देखना है, तो इसके लिए तुम्हें दक्षिण भारत में जाना

होगा। यूनानी लेखक मेगस्थनीज़ से हमें मालूम होता है कि राजनीति में, दक्षिण में, राजाओं पर लोक-संघों का अंकुश रहता था।

जब मगध का पतन हुआ, तो सिर्फ विद्वान लोग ही नहीं बल्कि कलाकार, कारीगर और शिल्पी लोग भी दक्षिण को चले गये। योरप और दक्षिण हिन्दुस्तान के बीच काफ़ी व्यापार चलता था। मोती, हाथीदांत, सोना, चावल, मिर्च, मोर और बन्दर तक बैबिलन, मिस्र और यूनान और बाद को रोम को भेजे जाया करते थे।

इसके भी बहुत पहले सागवान की लकडी मलाबार के किनारे से कैल्डिया और बैबिलोनिया को जाती थी। और यह सब व्यापार, या उसका ज्यादातर हिस्सा, हिन्दुस्तानी जहाजों के ज़रिये, जिन्हें द्रविड़ लोग चलाते थे, हुआ करता था। इससे तुम्हें पता चल सकता है कि पुरानी दुनिया में दक्षिण भारत कितनी ऊँची स्थिति पर पहुँचा हुआ था। दक्षिण में रोमन सिक्कों की काफी तादाद मिली है, और, जैसा कि मैं तुम्हें पहले बता चुका हूँ, मलाबार के समुद्री किनारे पर सिकन्दरिया निवासियों की बस्तियाँ थीं, और सिकन्दरिया में हिन्दुस्तानियों की।

अशोक के मरने के बाद ही दक्षिण का आन्ध्र देश स्वतंत्र हो गया। जैसा कि शायद तुम जानती हो, आन्ध्र आज कल कांग्रेस का एक प्रान्त है, जो हिन्दुस्तान के पूर्वी समुद्र तट पर मद्रास के उत्तर में है। तेलगू आन्ध्र देश की भाषा है। आन्ध्र की ताक़त अशोक के बाद तेज़ी से बढ़ गई और दक्खिन में एक समुद्र तट से दूसरे समुद्र तट तक फैल गई।

दक्षिण में उपनिवेश बनाने के बहुत बडे-बडे प्रयत्न हुए। लेकिन इनके बारे में फिर लिखेंगे।

मैं ऊपर शक और सीदियन और दूसरी जातियों का ज़िक्र कर आया हूँ, जिन्होंने हिन्दुस्तान पर आक्रमण किया और उत्तर में बस गये। वे लोग हिन्दुस्तान के एक अंग हो गये, और हम लोग, जो उत्तरी हिन्दुस्तान में रहते हैं, उनके उतने ही वंशज हैं, जितने आर्यों के, ख़ासकर बहादुर और गठीले बदनवाले राजपूत और काठियावाड़ के मेहनती लोग तो उन्हींके वंशज हैं।

: ३० :

कुशानों का सरहद्दी साम्राज्य

११ अप्रैल, १९३२

मैंने पिछले ख़त में हिन्दुस्तान पर शक और तुर्की लोगों के लगातार हमलों का ज़िक्र किया है। मैंने तुम्हें दक्षिण में आन्ध्रों के शक्तिशाली राज्य की तरक़्क़ी का भी

हाल बताया है, जो बंगाल की खाडी से अरब-सागर तक फैला हुआ था। शक लोगों को कुशानों ने आगे ढकेल दिया था। थोडे दिनों के बाद कुशान खुद ही रंगमञ्च पर आगये। ईसा के एक सदी पहले इन लोगों ने हिन्दुस्तानी सरहद पर एक राज्य क़ायम किया और यही राज्य बढ़ते-बढ़ते एक बड़ा साम्राज्य होगया। यह कुशान साम्राज्य दक्षिण में बनारस और विन्ध्याचल तक, उत्तर में काशगर, यारक़ंद और खुतन तक और पश्चिम में पार्थिया और ईरान की सरहद तक फैला हुआ था। इस तरह युक्तप्रान्त, पंजाब और कश्मीर समेत सारे उत्तरी हिंदुस्तान और मध्य एशिया के एक काफ़ी बडे हिस्से पर कुशानों का शासन था। क़रीब तीन सौ बरस तक,—ठीक उन्हीं दिनों जबकि आन्ध्रराज्य दक्षिण हिन्दुस्तान में फल-फूल रहा था, यह साम्राज्य क़ायम रहा। मालूम होता है कि पहले तो कुशानों की राजधानी काबुल थी, लेकिन बाद को बदल कर पेशावर होगई थी, जो उस वक्त पुरुषपुर कहाता था, और अखीर तक वहीं क़ायम रही।

इस कुशान साम्राज्य की कई बातें बडी दिलचस्प है। यह बौद्धों का साम्राज्य था और उसके मशहूर शासकों में से एक शासक--सम्राट कनिष्क--बहुत बड़ा धार्मिक था। राजधानी पेशावर के पास तक्षशिला थी, जो बहुत दिनों से बौद्ध संस्कृति का केन्द्र हो रही थी। मेरा खयाल है, मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि कुशान मंगोलियन या उन्हींसे सम्बन्धित जाति के थे। कुशान राजधानी से मंगोलिया की सरज़मीन को लोगों का आना-जाना बराबर होता रहा होगा, और यहीं से बौद्ध विद्या और बौद्ध संस्कृति चीन और मंगोलिया को गई होगी। इसी तरह पश्चिमी एशिया का भी बौद्ध विचारों से गहरा सम्पर्क हुआ होगा। सिकन्दर के ज़माने से ही पश्चिमी एशिया यूनानियों की हुकूमत में था और बहुत से यूनानी अपने साथ अपनी संस्कृति यहाँ लाये थे। यूनानियों की यह एशियाई संस्कृति अब हिन्दुस्तान की बौद्ध संस्कृति से मिल गई।

इस तरह चीन और पश्चिमी एशिया पर हिन्दुस्तान का असर पड़ा। लेकिन उसी तरह हिन्दुस्तान पर भी इन देशों का असर पड़ा। पश्चिम में यूनानी रोमन जगत्, पूरब में चीनी दुनिया और दक्षिण में हिन्दुस्तानी संसार पर कुशान साम्राज्य एक देव की तरह, एशिया की पीठ पर, सवारी गांठे बैठा था। हिन्दुस्तान और रोम तथा हिन्दुस्तान और चीन के बीच यह बीच की मंज़िल की तरह था।

अपनी इस बीच की स्थिति के कारण इस साम्राज्य ने हिन्दुस्तान और रोम के बीच घनिष्ठता पैदा करने में बहुत मदद पहुँचाई। रोमन साम्राज्य के शुरू के दोसौ बरस और रोमन प्रजातन्त्र के आखिरी दिनों से, जबकि जूलियस सीज़र ज़िन्दा

विचारधारा से वह बहुत कुछ मिलता-जुलता था। कुशान सम्राट 'महायान' मत के अनुयायी हो गए और उन्होंने उसके प्रचार में मदद की। लेकिन उन्हें 'हीनयान' मत और दूसरे धर्मों से कोई द्वेष न था। कहते हैं कि कनिष्क ने पारसी धर्म को भी प्रोत्साहन दिया था।

'महायान' और 'हीनयान' सिद्धान्तों की श्रेष्ठता के बारे में बडे-बडे विद्वानों में जो बहस-मुबाहसे हुआ करते थे, उनके पढ़ने से बड़ा मनोरंजन होता है। इसके लिए संघ के बडे-बडे जलसे हुआ करते थे। कनिष्क ने काश्मीर में संघ की एक बहुत बडी परिषद की थी। कई सौ बरसों तक इस सवाल पर बहस-मुबाहिसा जारी रहा। 'महायान' उत्तर हिन्दुस्तान में कामयाब रहा और 'हीनयान' दक्षिण भारत में। अन्त में इन दोनों ही को हिन्दू धर्म ने हजम कर लिया। आजकल चीन, जापान और तिब्बत में 'महायान' मत पाया जाता है, और लंका और बर्मा में 'हीनयान'।

किसी जाति की कला वह शीशा है, जिसमें हमें उसके मन का सच्चा चित्र दिखाई देता है। इसलिए जब शुरू के बुद्ध सिद्धान्तों में सादगी के बजाय जटिल और अलंकारपूर्ण प्रतीकवाद आगया तब भारतीय कला भी ज्यादा-से ज्यादा पेचीदा और अलंकारपूर्ण होती गई। ख़ासतौर से उत्तर-पश्चिमी गंधार की महायानी मूर्तियाँ बहुत अलंकारपूर्ण और पेचीदा थीं। 'हीनयान' मत के शिल्पी भी अपनेको इस नई हवा से न बचा सके। धीरे-धीरे वे भी अपनी शुरू की सादगी और संयम छोड़ बैठे और बहुत पेचीदा और गहरी खुदाई के काम की ओर झुक गये।

उस जमाने की कुछ यादगारें आज भी मिलती हैं। अजन्ता की सुन्दर मूर्तियाँ उनमें सबसे अधिक दिलचस्प हैं। तुम पारसाल उन्हें देखते-देखते रह गई। अगर वहाँ जाने का तुम्हें फिर मौक़ा मिले तो जरूर जाना।

अब हम कुशान लोगों से विदा लेंगे। लेकिन एक बात याद रक्खो, कि शक और तुर्की जातियों की तरह कुशान लोग हिन्दुस्तान में इस तरह नहीं आये और न इस तरह राज्य ही किया जैसे कोई विदेशी एक हारे हुए मुल्क पर करता है। ये लोग हिन्दुस्तान से और हिन्दुस्तान की जनता से धर्म के बन्धन में बंधे हुए थे। इसके अलावा उन्होंने हिन्दुस्तान के आर्यों की शासन-प्रणाली को भी अपना लिया था। और चूँकि उन लोगों ने अपनेको बहुत हद तक आर्य प्रणाली के अनुकूल बना लिया था, वे तीन सौ बरस तक कामयाबी के साथ उत्तर हिन्दुस्तान पर हुकूमत करते रहे।

: ३१ :

ईसा और ईसाई धर्म

१२ अप्रैल, १९३२

उत्तर-पश्चिम हिन्दुस्तान के कुशान साम्राज्य और चीन के 'हन्' वंश का बयान करते-करते हम इतिहास की एक मशहूर घटना के आगे बढ़ आये, इसलिए यह जरूरी है कि हम उसके पास वापस लौट चलें। अभीतक हम जो कुछ तारीखें देते थे, वे ई० पू० (B.C.=Before Christ) यानी ईसा के पूर्व की थीं। अब हम ईसवी सन् में पहुँच गये हैं। यह सन् जैसाकि इसके नाम से जाहिर है, ईसा के जन्म से शुरू होता है। सच तो यह है कि ग़ालिबन ईसा का जन्म इससे चार बरस पहले ही हो गया था। लेकिन उससे कोई ज्यादा फरक नहीं पड़ता। ईसा के बाद होनेवाली घटनाओं की तारीखों के आगे, ई० स० (A.D.=Anno Domini)—ईश्वर के वर्ष में--लिखने का रिवाज हो गया है। इस बहु-प्रचलित रिवाज के मुताबिक़ चलने में कोई हर्ज नहीं, लेकिन मुझे ई० स० के बजाय ई० प० (A. C.=After Christ)--ईसा के पश्चात्--लिखना ज्यादा वैज्ञानिक मालूम होता है, जैसाकि हम ईसा के जन्म के पहले की तारीखों के लिए ई० पू० लिखते रहे हैं। मैं इस पुस्तक में ई० प० ही लिखूंगा।

ईसा, या जैसाकि अंग्रेज़ी में उसका नाम है जीसस, की कहानी बाईबिल के नये अहदनामे (New Testament) में दी गई है और तुम्हें उसके बारे में कुछ मालूम भी है। बाईबिल के इन भागों में, जो गोस्पेल कहलाते हैं, जो विवरण हैं उनसे उनकी जवानी का बहुत कम हाल मिलता है। वह नैजरथ में पैदा हुए, गैलिली में उन्होंने प्रचार किया और तीस बरस से ज्यादा उम्र होने पर जेरूसलेम आये। इसके थोडे ही दिन बाद रोमन गवंनर पॉण्टियस पाइलेट के सामने उनपर मुकद्दमा चला और उसने इनको सज़ा दी। यह साफ़ नहीं मालूम होता कि अपना प्रचार शुरू करने के पहले ईसा क्या करते थे या कहाँ गये थे। मध्य एशिया भर में, काश्मीर में, लद्दाख़ में और तिब्बत में और इससे और भी उत्तर के देशों में अभी तक लोगों का यह पक्का विश्वास है कि ईसा इन देशों में घूमे थे। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि वह हिन्दुस्तान आये थे। निश्चित तौर पर कुछ कहा नहीं जा सकता, लेकिन जिन विद्वानों ने ईसा की जीवनी का अध्ययन किया है, वे इस बात पर भरोसा नहीं करते कि ईसा हिन्दुस्तान या मध्य एशिया में आये थे। लेकिन अगर आये हों तो यह कोई नामुमकिन बात भी नहीं कही जा सकती। उस ज़माने में हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े विश्व-

विद्यालय, ख़ासकर उत्तर-पश्चिम का तक्षशिला का विश्वविद्यालय ऐसा था कि दूर दूर देशों के उत्साही विद्यार्थी खिचकर यहाँ आते थे, और मुमकिन है कि ईसा भी ज्ञान की तलाश में यहाँ आये हों। बहुत-सी बातों में ईसा के सिद्धान्त गौतम के सिद्धान्तों से इतने ज्यादा मिलते-जुलते हैं कि यह बहुत मुमकिन मालूम होता है कि ईसा को गौतम के विचारों से पूरी-पूरी वाक़फ़ियत थी। लेकिन बुद्ध-धर्म दूसरे मुल्कों में काफ़ी प्रचलित था, और इसलिए ईसा हिन्दुस्तान आये बिना भी उसके बारे में अच्छी तरह से जान सकते थे।

जैसा कि स्कूल का हरेक लड़का या लड़की जानती है, धर्म के कारण बडी-बडी लड़ाइयाँ और घातक युद्ध हुए हैं। लेकिन संसार के मजहबों की शुरूआत पर ग़ौर करना और उनकी तुलना करना बहुत दिलचस्प अध्ययन है। इन मजहबों के सिद्धान्तों और आदर्शों में इतनी समानता है, कि यह देखकर हैरत होती है कि लोग इतने बेवकूफ़ क्यों बन जाते हैं कि तफ़सीलों और ग़ैर-जरूरी बातों के बारे में झगड़ा करने लगते है। पुराने सिद्धान्तों में नई-नई बातें जोड़ दी जाती हैं, और उनको इस तरह तोड़-मरोड़ दिया जाता है कि उनका पहचानना मुश्किल हो जाता है। असली गुरु की जगह पर कट्टर, तंगदिल और असहिष्णु हठ-धर्म्मी लोग आ बैठते हैं। बहुत बार मजहब ने साम्राज्यवाद और राजनीति के गुलाम का-सा काम किया है। पुराने रोमन लोगों को तो यह नीति रही है कि जनता की भलाई के लिए, या यों कहो कि उसके शोषण के लिए, उसमें अन्ध विश्वास पैदा किया जाय। अन्धविश्वासी होने पर उसे दबाये रखना ज्यादा आसान होता है। उच्च वर्ग के रोमन लोग वैसे तो बडी ऊँची-ऊँची फ़िलासफ़ी बघारते या ऊँचे-ऊँचे दार्शनिक विचार रखते थे लेकिन अमल में, जिस चीज को वे अपने लिए अच्छी समझते थे, जनता के लिए वह न तो हितकर होती थी न ख़तरे से खाली। पिछले जमाने के एक मशहूर इटालियन लेखक मैकियावेली ने राजनीति पर एक किताब लिखी है। उसका कहना है कि मजहब सरकार के लिए जरूरी चीज है और ऐसे मजहब तक की मदद करना शासक का फ़र्ज है जिसे वह बिलकुल ग़लत समझता हो। इस जमाने में भी हमारे सामने इस बात की बहुत सी मिसालें हैं कि साम्राज्यवाद ने मजहब की आड़ में शिकार खेला है। इसलिए कार्ल मार्क्स का यह लिखना आश्चर्यजनक नहीं है कि "मजहब जनता की अफ़ीम है।"

ईसा यहूदी थे। यहूदी लोग बडे अजीब और आश्चर्यजनक रूप से उद्यमी अथवा व्यवसायी होते थे और हैं। दाऊद और सुलेमान के जमाने के थोडे से दिनों के वैभव के बाद उनके बुरे दिन आए। यह वैभव भी था तो बहुत छोटी मात्रा में,

लेकिन अपनी कल्पना में उन्होंने उसे यहाँ तक बढ़ा-चढ़ा दिया कि अख़ीर में उनके लिए वह अतीत का सुवर्णयुग बन गया, और उनका विश्वास था कि वह एक निश्चित समय पर फिर लौटेगा, और उस समय यहूदी लोग फिर महान और ताक़तवर होजायँगे। वे रोमन साम्राज्य-भर में और दूसरे मुल्कों में फैल गये, लेकिन अपने इस पक्के विश्वास के कारण वे आपस में एक दूसरे से मज़बूती से बंधे रहे कि उनके वैभव के दिन आनेवाले हैं, और एक मसीहा उन्हें वह दिन दिखावेगा। इतिहास की यह एक अद्भुत बात है कि किस तरह बे-घरबार के और आश्रयहीन, अत्यन्त अत्याचार-पीड़ित और मुसीबतज़दा और अकसर मौत तक का शिकार बनाये जानेवाले यहूदियों ने दो हज़ार बरस से ज़्यादा तक अपने व्यक्तित्व को बचाये रक्खा, और आज भी उनमें आपस में एकता है और वे धनवान और शक्ति-सम्पन्न हैं।

यहूदी एक मसीहा का इन्तज़ार कर रहे थे, और शायद ईसा से उन्हें इसी तरह की उम्मीदें थीं। लेकिन बहुत जल्द इनकी उम्मीदों पर पानी फिर गया, क्योंकि ईसा एक अजीब भाषा में चालू तरीक़ों और सामाजिक संगठन के ख़िलाफ़ बग़ावत की बातें कहा करते थे। ख़ास तौर से वे अमीरों और उन ढोंगियों के ख़िलाफ़ थे, जिन्होंने ख़ास तरह की पूजा-पाठ और रस्म-रिवाज को ही धर्म बना रक्खा था। धन-दौलत और ऐश्वर्य बढ़ाने की आशा दिलाने के बजाय, वह, उल्टे, स्वर्ग का अव्यक्त और काल्पनिक राज्य प्राप्त करने के लिए, लोगों को, उनके पास जो कुछ था उसे भी त्याग देने को कहते थे। वह अपनी बात रूपक और कहानियों के रूप में कहा करते थे, और यह बिलकुल स्पष्ट है कि वह जन्म से ही ऐसे विद्रोही थे, जो मौजूदा हालत को सह नहीं सकते थे, और उसे बदलने के लिए तुले बैठे थे। लेकिन यह तो वह बात न थी जो यहूदी चाहते थे, इसलिए उनमें से ज़्यादातर लोग उनके ख़िलाफ़ हो गये और उनको पकड़कर रोमन अधिकारियों के सुपुर्द करदिया।

मज़हबी मामलों में रोमन लोग असहनशील नहीं थे। साम्राज्य में हर मज़हब को बर्दाश्त किया जाता था और अगर कोई किसी देवी-देवता को बुरा-भला भी कह जाता था, तो उसे सज़ा नहीं दी जाती थी। टाईबेरियस नाम के एक रोमन सम्राट ने कहा था कि "अगर देवताओं का अपमान होता है तो उन्हें ख़ुद को ही इसका इन्तज़ाम करना चाहिए।" इसलिए जब रोमन गवर्नर पॉण्टियस पाइलेट के सामने ईसा पेश किये गये, तो इस मुक़दमे के मज़हबी पहलू की उसे ज़रा भी चिन्ता न हुई होगी। ईसा एक राजनैतिक बाग़ी, और, यहूदियों की दृष्टि में, सामाजिक विद्रोही समझे जाते थे और इसी जुर्म में गेथसीमेन नामक जगह पर उनपर मुक़दमा चलाया गया, और सज़ा दी गई, और गोलगोथा नामक जगह पर उन्हें सूली पर

लटकाया गया। उनकी मुसीबत की घडी में, उनके चुने हुए शिष्य तक उन्हें छोड़कर भाग खडे हुए, और यहाँ तक कह बैठे कि वह उनको जानते तक नहीं। अपने इस विश्वासघात से उन्होंने ईसा की पीड़ा को बहुत असह्य बना दिया, जिससे मरते समय वह विचित्र रूप से दिल को हिला डालने वाले इन शब्दों में चिल्ला उठेः—

"मेरे ईश्वर! मेरे ईश्वर! तू ने मुझे क्यों छोड़ दिया है?"

ईसा जब मरे, तब वह जवान ही थे। उस वक्त उनकी उमर तीस बरस से कुछ ही ज्यादा थी। हम बाईबिल की सुन्दर भाषा में उनकी मौत की दुःखान्त करुण-कहानी पढ़ते हैं और हमारा दिल हिल जाता है। अगली सदियों में ईसाई-धर्म की जो तरक्क़ी हुई, उसने लाखों आदमियों के मन में ईसा के नाम के प्रति श्रद्धा पैदा करदी है; लेकिन उन लोगों ने उनके उपदेशों पर अमल करने की तरफ़ बहुत कम ध्यान दिया है। हमें याद रखना चाहिए कि जब वह सूली पर चढ़ाये गये थे, तब उनका नाम फ़िलस्तीन से बाहर बहुत ज्यादा मशहूर नहीं था। रोम के लोग उनके बारे में कुछ भी नहीं जानते थे, और पाण्टियस पाइलेट ने इस वाक़ये को बहुत थोड़ा ही महत्त्व दिया होगा।

ईसा के नजदीकी शिष्य और अनुयायी इतनें डर गये थे कि वे उनके साथ अपने सम्बन्ध तक से इन्कार करने लगे थे। लेकिन जल्द ही पॉल नामके एक नये अनुयायी पैदा हुए, जिन्होंने ईसा को तो खुद नहीं देखा था, लेकिन उन्होंने अपनी समझ के मुताबिक़ ईसाई-धर्म का प्रचार करना शुरू कर दिया। बहुत से लोगों का ख़याल है कि जिस ईसाई धर्म का पॉल ने प्रचार किया, वह ईसा के सिद्धान्तों से बहुत कुछ अलग चीज़ है। पॉल एक क़ाबिल और विद्वान पुरुष थे, लेकिन वह ईसा की तरह सामाजिक विद्रोही नहीं थे। पॉल कामयाब हुए और ईसाई मत धीरे-धीरे फैलने लगा। रोमन लोगों ने शुरू में इस बात को कोई महत्व नहीं दिया। उन्होंनें ख़याल किया कि ईसाई मत भी यहूदियों का ही एक सम्प्रदाय है। लेकिन ईसाई लोग उग्र थे, वे दूसरे सारे धर्मों के ख़िलाफ़ थे और उन्होंने सम्राट की मूर्ति की पूजा करने से इन्कार कर दिया। रोमन लोग उनकी इस मनोवृत्ति और जैसी कि उनको मालूम हुई, इस तंग ख़याली—– को समझ नहीं सके, इसलिए वे ईसाइयों को सनकी, झगड़ालू, बदतमीज़ और इन्सानी तरक्की—–मानव प्रगति का विरोधी समझते थे। मज़हबी निगाह से वे लोग उनको बरदाश्त कर सकते थे, लेकिन सम्राट की मूर्ति के सामने सर झुकाने से, उसका आदर करने से, उनका इन्कार करना, राजद्रोह समझा गया, और उसकी सज़ा मौत क़रार दी गई। ईसाई ग्लेडियेटरवाले दंगलों की भी मुख़ालिफ़त करते थे। इन बातों का नतीजा यह हुआ कि आगे चलकर ईसाई सताये

जाने लगे। उनकी जायदादें ज़ब्त की जाने लगीं, और उन लोगों को शेरों के आगे फेंका जाने लगा। तुमने इन ईसाई शहीदों के क़िस्से पढ़े होंगे और शायद तुमने इनका सिनेमा-फिल्म भी देखा होगा। लेकिन जब कोई आदमी किसी उसूल के लिए मरने को तैयार हो जाता है, और इससे भी ज्यादा ऐसी मौत में गौरव महसूस करने लगता है, तो उसे या उसके उसूल को दबा देना नामुमकिन हो जाता है। वही हुआ। रोमन साम्राज्य ईसाई मत को दबाने में बिलकुल नाकामयाब रहा। सचमुच इस लड़ाई में ईसाई मत विजयी हुआ और ईसा के बाद की चौथी सदी के शुरू में एक रोमन सम्राट ख़ुद ईसाई होगया और ईसाई मत साम्राज्य का सरकारी मज़हब बन गया। इस सम्राट का नाम कांस्टेण्टाइन था, जिसने कांस्टेण्टिनोपुल यानी कुस्तुन्तुनिया बसाया है।

ज्यों-ज्यों ईसाई मत बढ़ता गया, त्यों-त्यों ईसा के देवत्व के सम्बन्ध में बडे ज़बर्दस्त झगडे होने लगे। तुम्हें याद होगा कि मैंने तुम्हें कहा था कि गौतम बुद्ध ने कभी देवत्त्व का दावा नहीं किया था, लेकिन फिर भी वह अवतार समझे जाने लगे और देवता की तरह पूजे जाने लगे। इसी तरह ईसा ने भी ख़ुदा होने का कोई दावा नहीं किया था। उनके बार-बार इस बात को दुहराने का कि वह ईश्वर के और मनुष्य के बेटे है, जरूरी तौर पर यह अर्थ नहीं है कि उन्होंने अपने मनुष्यों से ऊँचा होने का दावा किया था। लेकिन लोग अपने बडे आदमियों को देवता बनाना पसन्द करते है, और देवता बनाने के बाद उनकी बातों पर चलना छोड़ देते हैं। छः सौ साल बाद पैग़म्बर मुहम्मद ने एक दूसरा बड़ा मज़हब चलाया, लेकिन शायद इन उदाहरणों से फ़ायदा उठाते हुए ही उन्होंने साफ़-साफ़ शब्दों में बार-बार यह कहा कि वह आदमी है, ख़ुदा नहीं।

इस तरह ईसा के सिद्धान्तों और उसूलों को समझने और उनपर अमल करनें के बजाय, ईसाई लोग, ईसा के देवत्व और त्रिमूर्त्ति (ट्रिनिटी) के सम्बन्ध में आपस में बहस-मुबाहिसा करने लगे और झगड़ने लगे। वे एक दूसरे को काफ़िर—नास्तिक कहते, एक दूसरे पर अत्याचार करते और एक दूसरे का गला काटने लगे। एक वक्त ईसाइयों के मुख़्तलिफ़ सम्प्रदायों में एक संयुक्त शब्द के ऊपर बहुत जोरदार और ज़बर्दस्त झगड़ा शुरू हुआ। एक दल कहता था कि प्रार्थना में होमो आउज़न (Homo-Ousion) शब्द इस्तेमाल किया जाय; दूसरा होमोइ आउज़न (Homoi-Ousion) कहलाना चाहता था। इस मत-भेद का ईसा के देवत्व से सम्बन्ध था। इस संयुक्त शब्द के पीछे बहुत भयंकर लड़ाई हुई और बहुत-से आदमी मारे गये।

ज्यों-ज्यों ईसाई-संघ की ताक़त बढ़ती गई, त्यों-त्यों ये घरेलू झगडे बढ़ते गये।

और पश्चिमी देशों में, जुदे-जुदे ईसाई सम्प्रदायों में अभी हाल तक चलते रहे हैं।

तुम्हें यह जानकर ताज्जुब होगा कि इंग्लैण्ड में, या पश्चिमी योरप में पहुँचने के बहुत पहले और उस वक़्त जब कि ख़ुद रोम तक में वह तुच्छ और 'वर्जित सम्प्रदाय' समझा जाता था, यह धर्म हिन्दुस्तान में पहुँच गया था। ईसा के मरने के क़रीब सौ साल के अन्दर ही ईसाई प्रचारक समुद्र के रास्ते दक्षिण हिन्दुस्तान आये थे। उनका बहुत शिष्टाचार के साथ स्वागत किया गया और उन्हें अपने नये मज़हब के प्रचार करने की इजाज़त दे दी गई। उन्होंने बहुत बडी तादाद में लोगों को अपने मत का अनुयायी बनाया और, ये लोग तब से आज तक दक्षिण भारत में कभी आनंद में और कभी मुसीबत में रहते आये हैं। उनमें से बहुत से उन प्राचीन सम्प्रदायों के अनुयायी हैं, जिनकी अब योरप में हस्ती तक नहीं है। आजतक इनमें से कुछ के केन्द्र एशिया माइनर में हैं।

ईसाई मत, राजनैतिक दृष्टि से, सबसे अधिक प्रभावशाली धर्म है, क्योंकि उसीके अनुयायी योरप में प्रभावशाली हैं। लेकिन जब हम एक तरफ़ अहिंसा का और सामाजिक प्रणाली के ख़िलाफ़ विद्रोह का प्रचार करनेवाले विद्रोही ईसा का ख़याल करते हैं, और दूसरी तरफ़ ऊँची-ऊँची आवाज़ में चिल्लानेवाले आजकल के अनुयायियों से और उनके साम्राज्यवाद, शस्त्रास्त्रों, युद्धों और धन की पूजा से उनकी तुलना करते हैं, तो हमें हैरत में रह जाना पड़ता है। ईसा का पहाडी पर दिया हुआ उपदेश (Sermon on the Mount) और आजकल का योरप तथा अमरीका का ईसाई मत इन दोनों में कितनी ज़बर्दस्त असमानता पाई जाती है। इसलिए कोई ताज्जुब की बात नहीं अगर बहुत से लोग यह सोचने लगें, कि ईसा के, आजकल के पश्चिम के ज्यादातर अनुयायियों के मुक़ाबिले में बापू—महात्मा गान्धी ईसा की शिक्षा के कहीं नज़दीक हैं।

: ३२ :

रोमन साम्राज्य

२३ अप्रैल, १९३२

मैंने बहुत दिनों से तुम्हें ख़त नहीं लिखा। इलाहाबाद की ख़बर ने मुझे परेशान कर दिया था और मेरे दिल को थर्रा दिया था। ख़ासतौर से तुम्हारी बूढ़ी दादी, डोल अम्मा की ख़बर ने। जब मैं सुनता हूँ कि कमज़ोर और दुबली मां को पुलिस की लाठियों का सामना करना पड़ा और लाठियाँ सहनी पडीं तो मुझे जेल की अपनी यह

आराम-आसाइश खटकती है। लेकिन मैं अपने ख़यालों को अपने साथ बहने नहीं दे सकता, न उन्हें इस कहानी के सिलसिले में किसी तरह की बाधा ही डालने दे सकता हूँ।

अब हमें फिर रोम, या प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के रोमक देश, को लौटना चाहिए। तुम्हें याद होगा कि हम रोमन प्रजातन्त्र के विनाश की कहानी जान चुके थे, और रोमन साम्राज्य के क़ायम होने की बात कर रहे थे। जूलियस सीज़र का गोद लिया हुआ लड़का आक्टेवियन, आगस्टस सीज़र के नाम से बादशाह बन चुका था। वह अपने को राजा नहीं कहता था। इसकी वजह कुछ तो यह थी कि राजा की उपाधि उसको अपने लिए काफ़ी शानदार नहीं मालूम होती थी, और दूसरे यह कि वह प्रजातन्त्र की रूपरेखा क़ायम रखना चाहता था। इसलिए वह अपने को 'इम्परेटर' यानी हुक्म देनेवाला कहता था। इस तरह से 'इम्परेटर' सबसे ऊँचा ख़िताब समझा जाने लगा। और तुम जानती हो कि अंग्रेज़ी का 'इम्परर' (सम्राट) शब्द इसीसे निकला है। इस तरह से रोम के पुराने साम्राज्य ने दो शब्द ऐसे पैदा किये, जिनकी आकांक्षा और उपयोग क़रीब-क़रीब सारी दुनिया के बादशाह बहुत दिनों तक करते रहे। ये दो शब्द हैं—'इम्परर' (सम्राट) और 'सीज़र' या 'क़ैसर' या 'ज़ार'। पहले यह समझा जाता था कि एक वक़्त में एक ही सम्राट हो सकता है, जोकि सारी दुनिया का एक तरह से मालिक हो। रोम दुनिया का स्वामी समझा जाता था, और पश्चिम के लोग समझते थे कि सारी दुनिया पर रोम हावी है। यह बात निस्सन्देह ग़लत थी और सिर्फ़ भूगोल और इतिहास के प्रति लोगों का अज्ञान ज़ाहिर करती थी। रोमन साम्राज्य तो ख़ासतौर से भूमध्यसागर के किनारे पर बसा हुआ एक साम्राज्य था और इसकी सीमा पूरब की तरफ़ मेसोपोटेमिया से आगे कभी नहीं बढ़ी। समय-समय पर चीन और हिन्दुस्तान में इससे कहीं ज्यादा ताक़तवर, बडे और सुसंस्कृत राज्य हुए हैं। फिर भी जहाँ तक पश्चिमी दुनिया से ताल्लुक़ था, रोम का साम्राज्य उसके लिए एक मात्र साम्राज्य था, और इसी ख़याल से पुराने ज़माने के लोगों की नज़रों में वह सार्वभौम साम्राज्य समझा जाता था। उस समय उसका रोब ख़ूब बढ़ा हुआ था।

रोम के बारे में सबसे ताज्जुब की बात यह है कि उसके पीछे दुनिया के ऊपर क़ब्ज़ा करने और दुनिया की रहनुमाई करने का भाव छिपा था। जब रोम का पतन हुआ तब भी इसी ख़याल ने उसकी रक्षा की और उसे ताक़त दी। और यह भाव तब भी क़ायम रहा जब रोम से उसका ताल्लुक़ छिन्न-भिन्न हो चुका था। यहाँ तक कि ख़ुद साम्राज्य भी विलीन होगया और उसकी छाया भर रह गई; किन्तु यह भाव तब भी बना ही रहा।

मुझे रोम के बारे में या उसके उत्तराधिकारियों के बारे में लिखते हुए कुछ दिक्कत मालूम होती है। तुम्हें बताने के लिए कुछ बातों का चुनाव करना आसान काम नहीं है। मुझे डर है कि इस बारे में जो पुरानी किताबें मैंने पढ़ी हैं, उनसे तरह-तरह की बेतरतीब तसवीरों की उलझी हुई शकलें मेरे दिमाग़ में आगई हैं। फिर जो कुछ मैंने पढ़ा, ज्यादातर जेल में पढ़ा है। सच तो यह है कि यदि मैं जेल न आया होता तो रोमन इतिहास की एक मशहूर किताब शायद कभी न पढ़ पाता। यह किताब इतनी बडी है कि दूसरे कामों के होते हुए इसे पूरी पढ़ जाने के लिए वक़्त निकाल सकना मुश्किल है। इस किताब का नाम है 'रोमन साम्राज्य का पतन'—(Decline and Fall of the Roman Empire)। इसका लेखक गिबन नामक एक अंग्रेज है। यह किताब, क़रीब डेढ़सौ बरस हुए, स्वीज़रलैण्ड में लौक लेमन झील के किनारे लिखी गई थी। लेकिन आज भी इसके पढ़ने में रस आता है और मुझे तो इसके अन्दर बयान की हुई कहानियां, जो बडी लच्छेदार पर मीठी भाषा में लिखी गई हैं, किसी भी उपन्यास से अधिक मनोरंजक मालूम हुई। क़रीब १० बरस हुए मैंने इसे लखनऊ ज़िला जेल में पढ़ा था। क़रीब एक महीना तक गिबन का मेरा साथ रहा, और उसकी भाषा ने पुराने ज़माने की जो तसवीरें मेरे सामने खींची, उनमें मैं लीन हो गया था। लेकिन ख़तम होने के थोडे पहले ही मुझे अचानक रिहा कर दिया गया। जादू टूट गया और फिर बचे हुए १०० पन्नों को पढ़ने और प्राचीन रोम और कुस्तुनतुनिया को लौट जाने की मनोवृत्ति अपने अन्दर लाने में मुझे कुछ दिक़्क़त हुई।

लेकिन यह बात १० वर्ष पुरानी है, और मैंने जो कुछ पढ़ा था उसका बहुत कुछ हिस्सा भूल गया हूँ। फिर भी दिमाग़ को भरने और उसे घपले में डालने के लिए बहुत-कुछ मौजूद है। और मैं यह नहीं चाहता कि यह घपला मेरे दिमाग़ से तुम्हारे दिमाग़ में चला जाय।

पहले हम रोमन साम्राज्य या जुदा-जुदा युगों में बननेवाले साम्राज्यों पर एक नज़र डाल लें। बाद में शायद कोई इन तस्वीरों में कुछ और रंग भरने की कोशिश करेगा।

ईसाई सन् के शुरू में आगस्टस सीज़र के साथ साम्राज्य की शुरूआत होती है। कुछ दिनों तक सम्राट लोग सिनेट की इज्ज़त करते रहे; लेकिन बहुत जल्द प्रजातन्त्र के आख़िरी निशानात भी मिट गये। सम्राट सर्वशक्तिमान्, पूरी तरह निरंकुश और देवतुल्य हो गया। उसकी ज़िन्दगी में ही देव-तुल्य समझकर लोग उसकी पूजा करते थे, और अपनी मौत के बाद वह पूरा देवता हो जाता था। उस

ज़माने के सभी लेखकों ने शुरू के सम्राटों, खासकर आगस्टस, को सब गुणों से संपूर्ण बताया है। ये लोग उस ज़माने को सतयुग या आगस्टस का युग कहते हैं, जबकि सारी अच्छाइयां मौजूद थीं, और भलों को इनाम तथा बुरों को सज़ा मिलती थी। निरंकुश राजाओं के मुल्कों में लेखकों का यही ढंग रहा है, क्योंकि ज़ाहिर है कि शासक की तारीफ़ करने में फ़ायदा रहता है। वर्जिल, ओविड, होरेस जैसे मशहूर लैटिन लेखक, जिनकी किताबें हमें स्कूल में पढ़नी पडी थीं, इसी ज़माने में हुए थे। यह मुमकिन है कि गृहयुद्धों और उन फ़िसादों के बाद, जो कि प्रजातन्त्र के आख़िरी दिनों में बराबर होते रहे, शान्ति और इत्मीनान का ऐसा ज़माना आने से लोगों को तसल्ली मिली हो, जब व्यापार बढ़ सकता था और सभ्यता के भी कुछ चिन्ह प्रकट होने लगे थे।

लेकिन यह सभ्यता क्या थी ? यह अमीर आदमियों की सभ्यता थी और ये अमीर लोग प्राचीन यूनान के अमीरों की तरह कुशाग्रबुद्धि और कलाप्रिय भी नहीं थे; यह मामूली मंदबुद्धि लोगों का एक गिरोह था, जिनका ख़ास काम मज़े से ज़िंदगी गुज़ारना हुआ करता था। सारी दुनिया से ऐश-आराम और खाने-पीने की चीज़ें इनके लिए आती थीं, और चारों तरफ़ बडी शान-शौक़त और तड़क-भड़क दिखाई देती थी। इस क़िस्म के आदमियों का गिरोह आज भी मिटा नहीं है। वहाँ शान-शौक़त और आडम्बर की अधिकता थी और चटक-मटक वाले जुलूस निकलते थे। सरकसों में तरह-तरह के खेल होते थे और ग्लेडियेटर लोग मारे जाते थे। लेकिन इस ऐश्वर्य के पीछे जनता की मुसीबत छिपी थी। टैक्स बहुत बढ़ा हुआ था, जिसका बोझ ख़ास तौर से मामूली आदमियों पर पड़ता था और काम का बोझ बेशुमार ग़ुलामों पर था। रोम के इन बडे आदमियों ने चिकित्सा, दार्शनिक गुत्थियों के सुलझाने और चिन्तन के काम भी ज्यादातर यूनानी ग़ुलामों पर छोड़ रक्खे थे। ये लोग अपने को जिस दुनिया के मालिक बताते थे उसके बारे में ठीक बातें जानने की या शिक्षा का प्रचार करने की वे ज़रा भी कोशिश नहीं करते थे।

सम्राट के बाद सम्राट गद्दी पर बैठते गये। इनमें कोई बुरा था, तो कोई बहुत ही बुरा था। धीरे-धीरे सारी ताक़त फ़ौज के हाथ में आगई और वह अपनी मरज़ी के मुताबिक़ सम्राटों को बनाने-बिगाड़ने लगी। हालत यहाँ तक बिगडी कि फ़ौज का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए बोली बोली जाने लगी और फ़ौज को रिश्वत देने के लिए जनता या हराये हुए देशों का शोषण किया जाने लगा। आमदनी का एक बहुत बड़ा वसीला ग़ुलामों का व्यापार था और रोम की फौज़ें पूरब में बाक़ायदा ग़ुलामों को पकड़ने जाया करती थीं। फ़ौज के साथ ग़ुलामों के व्यापारी भी होते थे। ताकि

मौक़े पर गुलामों को ख़रीद सकें। डेलोस का टापू, जिसे प्राचीन यूनानी लोग बड़ा पाक समझते थे, गुलामों की एक बडी मंडी बन गई थी—यहां तक कि कभी-कभी दस-दस हज़ार ग़ुलाम एक दिन में बिक जाते थे। रोम के विशाल कोलोज़ियम[1] में एक लोकप्रिय सम्राट बारहसौ ग्लेडियेटरों को एक साथ जनता के सामने हाज़िर करता था। इन अभागे गुलामों को सम्राट और उसकी प्रजा के मनोरंजन के लिए मरना पड़ता था।

साम्राज्य के दिनों में रोमन सभ्यता इस तरह की थी। फिर भी हमारे मित्र गिबन ने लिखा है––"अगर किसी आदमी से यह पूछा जाय कि तुम दुनिया के इतिहास का वह युग बताओ जब मनुष्य-समाज सबसे ज्यादा सुखी और खुशहाल रहा हो, तो बिना संकोच के वह उस युग का नाम लेगा जिसका समय डोमीशियन की मृत्यु से कामोडस के गद्दी पर बैठने तक था––यानी ई० सन् ९६ से १८० तक के दरमियान ८४ वर्ष का जमाना।" मुझे डर है कि, गिबन चाहे कितना ही बड़ा विद्वान रहा हो, पर जो कुछ उसने कहा है, उससे बहुत से आदमी सहमत होने में संकोच करेंगे। गिबन जब मनुष्य जाति की बात करता है, तब उसका मतलब भूमध्यसागर के आस-पास बसी दुनिया से ही है। उसे हिन्दुस्तान, चीन या प्राचीन मिस्र का हाल कुछ भी मालूम न रहा होगा, या रहा होगा तो बहुत ही कम।

लेकिन शायद मैं रोम के साथ कुछ ज्यादती कर रहा हूँ। रोमन राज्यों में थोड़ा-बहुत अमन-चैन होने की वजह से ज़रूर एक सुखदायी परिवर्तन हुआ होगा। सरहदों पर अक्सर लड़ाइयाँ हुआ करती थीं। लेकिन कम-से-कम शुरू के दिनों में साम्राज्य के अन्दर 'रोमन शान्ति' (पैक्स रोमाना) विराजती थी। जान-माल एक हद तक सुरक्षित थे, इसलिए व्यापार में तरक्की हुई। रोमन-नागरिकता के अधिकार सम्पूर्ण रोमन दुनिया को दे दिये गये थे, लेकिन यह याद रक्खो कि बेचारे ग़ुलामों को इस अधिकार से कोई सरोकार नहीं था। यह भी याद रखने की बात है कि सम्राट सर्वशक्तिमान था और नागरिकों को बहुत कम अधिकार थे। राजनीति पर किसी तरह की चर्चा करना सम्राट के प्रति बग़ावत करना समझा जाता था। ऊँचे वर्ग के लोगों के लिए किसी हद तक एक क़िस्म की सरकार और एक क़ानून था। यह एक बहुत बडे फ़ायदे की बात उन लोगों के लिए रही होगी, जो इससे निरंकुशता के शिकार रह चुके थे।

धीरे-धीरे रोमन लोग इतने आलसी और अयोग्य हो गये कि अपनी फ़ौज में

१. **कोलोज़ियम**—रोम का बहुत बड़ा अखाड़ा जो उस समय दुनिया में सबसे बड़ा अखाड़ा माना जाता था।

भरती होकर लड़ने की ताक़त भी उनमें न रही। गाँव के किसान, अपने पर लदे हुए बोझ की वजह से ज्यादा ग़रीब होते गये। यही हाल शहर के लोगों का भी हुआ। लेकिन सम्राट शहर के लोगों को खुश रखना चाहते थे, जिससे कि वे कोई झगड़ा-बखेड़ा खड़ा न करें। इसके लिए रोम के लोगों को मुफ्त रोटियां दी जाती थीं, और उनके मनोरंजन के लिए सरकसों में खेल-तमाशे भी मुफ्त में दिखाये जाते थे। इस तरह वे खुश रक्खे जाते थे। लेकिन ये मुफ़्त की रोटियाँ सिर्फ चन्द जगहों में ही बांटी जा सकती थीं, और उसके लिए मिस्र जैसे मुल्कों की गुलाम प्रजा को बेहद तकलीफ़ और मुसीबत उठानी पड़ती थी क्योंकि उनसे मुफ्त का आटा लिया जाता था।

चूंकि रोमन लोग आसानी से फौज में भरती नहीं होते थे, इसलिए साम्राज्य के बाहर के लोग, जिन्हें रोमन 'बर्बर' कहते थे, सेना में लिये जाते थे। इस तरह रोम की सेनायें ज्यादातर उन लोगों की हो गई जो रोम के 'बर्बर' दुश्मनों के दोस्त या रिश्तेदार थे। सरहदों पर ये 'बर्बर' जातियाँ बराबर रोमनों को दबाती और घेरती जाती थीं। ज्यों-ज्यों रोम कमज़ोर होता गया, बर्बर लोग ज्यादा मज़बूत और उद्दण्ड होने लगे। पूरब में ख़ास तौर से ख़तरा था। और चूंकि यह सरहद रोम से दूर थी, इसकी रक्षा करना सरल नहीं था। आगस्टस सीज़र के तीन सौ बरस बाद, कांस्टेण्टाइन नाम के एक सम्राट ने एक ऐसा महत्वपूर्ण काम किया, जिसका आगे चलकर बहुत ही व्यापक नतीजा निकला। वह साम्राज्य की राजधानी रोम से हटा कर पूरब को लेगया। काला सागर और भूमध्यसागर के बीच, बास्फ़रस के किनारे पर बसे हुए बिज़ैंटियम नामके पुराने शहर के पास, उसने एक नया शहर बसाया, जिसका नाम उसने अपने नाम पर कांस्टेण्टिनोपुल--कुस्तुन्तुनिया--रक्खा। कुस्तुन-तुनिया या नया रोम रोमन साम्राज्य की राजधानी बन गया। आज भी एशिया के कई हिस्सों में कुस्तुन्तुनिया को रोम या रूम कहते हैं।

: ३३ :

रोमन साम्राज्य का उच्छेद

२८ अप्रैल, १९३२

आज भी हम रोमन साम्राज्य का सिंहावलोकन जारी रक्खेंगे। ईसवी सन् की चौथी सदी के शुरू--यानी सन् ३२६ में कांस्टेण्टाइन ने पुराने बिज़ैण्टियम के नज़दीक कुस्तुन्तुनिया शहर बसाया। और वह अपने साम्राज्य की राजधानी पुराने रोम से बास्फोरस के किनारे पर बसे हुए इस नये रोम को ले आया। नक़शे पर एक नज़र

डालो। तुम्हें मालूम होगा कि कुस्तुन्तुनिया का यह नया शहर योरप के किनारे खड़ा महान शक्तिशाली एशिया की ओर देख रहा है। यह दो महाद्वीपों के बीच एक कडी के समान है। बहुतेरे बडे-बडे तिजारती रास्ते, खुश्की के भी और समुद्र के भी, इसीसे होकर गुजरते थे। राजधानी या नगर के लिए यह बहुत अच्छे मौक़े की जगह है। कांस्टेन्टाइन ने चुनाव अच्छा किया। लेकिन इस राजधानी के परिवर्तन की उसे और उसके वारिसों को काफ़ी कीमत चुकानी पडी। जिस तरह से पुराना रोम एशिया माइनर और पूर्वी हिस्सों से बहुत दूर पड़ता था, उसी तरह यह नई पूर्वी राजधानी भी ब्रिटेन और गाल-जैसे पश्चिमी देशों से बहुत दूर पड़ती थी।

इस कठिनाई को दूर करने के लिए कुछ समय तक तो दो संयुक्त सम्राट हुआ करते थे; एक रोम में रहता था और दूसरा कुस्तुन्तुनिया में। इसका नतीजा यह हुआ कि साम्राज्य के दो हिस्से हो गये—एक पश्चिमी, दूसरा पूर्वी। लेकिन पश्चिमी साम्राज्य, जिसकी राजधानी रोम थी, बहुत दिनों तक इस धक्के को बरदाश्त न कर सका। जिन लोगों को वह 'बर्बर' कहता था, उनसे वह अपनी रक्षा न कर सका। गाथ नाम का एक जर्मन फ़िरक़ा आया और उसने रोम को लूट लिया। इसके बाद वांडाल और हूण आये। और पश्चिमी साम्राज्य बैठ गया। तुम ने हूण शब्द सुना होगा। इस बात को साबित करने के लिए कि जर्मन लोग बहुत ज़ालिम और जंगली हैं, पिछले महायुद्ध में अंग्रेज़ जर्मनों के लिए इस शब्द का इस्तैमाल करते थे। पर सच्ची बात तो यह है कि लड़ाई के ज़माने में हर आदमी का दिमाग़ फिर जाता है; सभ्यता या शराफ़त के बारे में जो कुछ वह सीखा होता है, वह सब भूल जाता है, और निर्दय एवं जंगली-सा व्यवहार करने लगता है। जर्मन लोग भी इसी तरह व्यवहार करते थे और अंग्रेज़ तथा फ्रांसीसी भी। दोनों में कोई फ़रक़ नहीं था।

इस तरह से हूण शब्द क्रूरता को ज़ाहिर करनेवाला एक भयंकर निंदात्मक शब्द बन गया है। यही हाल वांडाल शब्द का भी है। ग़ालिबन ये हूण और वांडाल कौमें बहुत कठोर और निर्दयी थीं, और इन्होंने बहुत नुक़सान पहुँचाया। लेकिन एक बात यहाँ न भूलनी चाहिए कि इनके बारे में हमें जो कुछ हाल मालूम होते हैं, इनके दुश्मन रोमन लोगों के लिखे हुए हैं, और कोई उनसे निष्पक्ष होकर लिखने की उम्मीद नहीं कर सकता। कुछ हो, गाथ, वांडाल और हूण लोगों ने पश्चिमी रोमन साम्राज्य को बालू की दीवार की तरह गिरा दिया। इन लोगों के इतनी आसानी से कामयाब हो जाने की एक वजह शायद यह है कि रोमन किसान साम्राज्य की मातहती में बहुत मुसीबत में थे। उन पर इतना टैक्स था, और वे इतने ज्यादा कर्ज़

में डूबे हुए थे, कि उनका किसी भी परिवर्तन का स्वागत करने को तैयार हो जाना बिलकुल स्वाभाविक था, जैसे आज ग़रीब हिन्दुस्तानी किसान अपनी भयंकर ग़रीबी और मुसीबत से बचने के लिए किसी भी तकलीफ़ का स्वागत करने को तैयार होगा।

इस तरह रोम का पश्चिमी साम्राज्य नष्ट हो गया। कुछ सदियों के बाद यह फिर दूसरी शक्ल में उठा; पूर्वी साम्राज्य ज्यों का त्यों क़ायम रहा; हालांकि हूण और दूसरी क़ौमों के हमलों का मुक़ाबिला करने में इसको बहुत तकलीफ़ें उठानी पड़ीं। यही नहीं कि यह साम्राज्य इन हमलों से अपनी रक्षा कर सका हो, बल्कि अरबों, और बाद को तुर्कों, से बराबर लड़ाई चालू रहते हुए भी यह सदियों तक चलता रहा। ग्यारहसौ वर्षों के आश्चर्यजनक अर्से तक यह क़ायम रहा। आख़िरकार ई० सन् १४५३ में, इसका पतन हो गया और कुस्तुन्तुनिया पर ओटोमन या उस्मानली तुर्कों ने क़ब्ज़ा कर लिया। उस वक्त से आज तक क़रीब पांच सौ वर्षों से कुस्तुन्तुनिया या इस्ताम्बुल तुर्कों के क़ब्ज़े में है। उस जगह से तुर्क लोगों ने बराबर योरप पर हमला किया है और वियेना की दीवारों तक पहुँचे हैं। पिछली सदियों में ये लोग धीरे-धीरे पीछे हटा दिये गये, और बारह वर्ष गुज़रे, महायुद्ध में हारने के बाद-कुस्तुन्तुनिया का शहर भी क़रीब-क़रीब तुर्कों के हाथ से निकल गया था। शहर पर अंग्रेज़ों का क़ब्ज़ा था और तुर्की सुलतान अंग्रेज़ों के हाथ की कठपुतली हो रहा था। लेकिन एक बहुत बड़ा नेता, जिसका नाम मुस्तफ़ा कमाल पाशा है, अपनी क़ौम को बचाने के लिए सामने आया और एक बहादुराना लड़ाई के बाद वह सफल हुआ। आज टर्की प्रजातंत्र है और सुलतान हमेशा के लिए ख़तम हो गये हैं। कमाल पाशा इस प्रजातंत्र के प्रमुख हैं। कुस्तुन्तुनिया जो पन्द्रहसौ बरस तक पूर्वीय रोमन साम्राज्य और फिर तुर्कों की राजधानी रह चुकी है, अब तुर्की राज्य का एक हिस्सा है, उसकी राजधानी नहीं। तुर्कों ने इस शहर की राजसी स्मृतियों से अपने को दूर रखना ही मुनासिब समझा और अपनी प्रजातंत्र की राजाधानी एशिया माइनर के अन्दर अंकारा या अंगोरा को बनाया।

हम लोग क़रीब दो हज़ार वर्ष के ज़माने से तेज़ी के साथ गुज़र गये और कुस्तुन्तुनिया के बसने के बाद, और रोजन साम्राज्य की राजधानी इस नये शहर में आने के बाद जो तब्दीलियां एक-एक करके होती रहीं उनको तेज़ी के साथ देख गये, लेकिन कान्स्टेन्टाइन ने एक और अद्भुत बात की। वह ईसाई हो गया, और चूंकि वह सम्राट था, इसलिए इसका मतलब यह हुआ कि ईसाई धर्म साम्राज्य का राज-धर्म बन गया। ईसाई धर्म की हैसियत में इस तब्दीली का एकबारगी आजाना और उसका एक पीड़ित मज़हब से राजधर्म बन जाना, एक बड़ी अजीब बात हुई होगी। लेकिन इस

तब्दीली की वजह से ईसाई धर्म को बहुत ज्यादा फ़ायदा नहीं पहुँचा। ईसाइयों के मुख़्तलिफ़ सम्प्रदायों ने आपस में झगड़ा शुरू कर दिया। आख़िर में दो हिस्सों—लैटिन और यूनान—में फूट हो गई। लैटिन हिस्से का केन्द्र रोम था और रोम का बिशप इसका अध्यक्ष समझा जाता था। बाद को यही रोम का पोप हो गया। यूनानी विभाग का केन्द्र कुस्तुन्तुनिया था। लैटिन चर्च उत्तर और पश्चिम योरप में फैल गया और उसे रोमन कैथोलिक चर्च कहने लगे। यूनानी चर्च का नाम कट्टर (आर्थोडाक्स) चर्च पड़ गया। पूरब के रोमन साम्राज्य के नष्ट होने के बाद रूस ही एक ख़ास मुल्क बचा जिसमें आर्थोडाक्स चर्च का बोलबाला था। अब रूस में बोलशेविज्म की स्थापना होने के कारण इस चर्च की, या किसी भी चर्च की, कोई भी सरकारी हैसियत नहीं रही।

मैंने पूर्वी रोमन साम्राज्य का जिक्र किया है, लेकिन इस साम्राज्य का रोम से कोई सम्बन्ध नहीं था। इस साम्राज्य की भाषा लैटिन नहीं बल्कि यूनानी थी। एक अर्थ में इसे सिकन्दर के यूनानी साम्राज्य का सिलसिला कह सकते हैं। इस साम्राज्य का पश्चिमी योरप से भी कोई सम्पर्क नहीं था; हालांकि बहुत दिनों तक इस साम्राज्य ने पश्चिमी देशों के इस हक़ को मंजूर नहीं किया कि वे इससे आज़ाद रहें। फिर भी पूर्वी साम्राज्य ने रोमन लफ्ज़ नहीं छोड़ा, और यहां के लोग रोमन कहलाते रहे, गोया इस लफ्ज़ में कोई जादू रहा हो। इससे ज्यादा ताज्जुब की बात यह हुई कि रोम नगर ने, साम्राज्य की राजधानी के पद से गिर जाने पर भी, अपना रौब नहीं खोया; यहांतक कि बर्बर लोग भी, जो इसे विजय करने के लिए आये थे, हिचकते थे और इसके प्रति सम्मान का व्यवहार करते थे। ठीक है, बड़े नाम में और ख़याल में ऐसी ही शक्ति होती है।

साम्राज्य खोकर रोम ने एक नये क़िस्म का साम्राज्य बनाना शुरू किया; लेकिन यह बिलकुल दूसरे क़िस्म की चीज़ थी। कहा जाता था कि ईसा के शिष्य पीटर रोम आये थे और वह यहाँ के पहले बिशप हुए थे, इसकी वजह से बहुत से ईसाइयों की नज़रों में इस शहर को ख़ास पवित्रता मिल गई और रोम का बिशप पद बड़े महत्व का हो गया। रोम का बिशप दूसरे बिशपों की तरह ही होता था लेकिन जब सम्राट कुस्तुन्तुनिया चले गये, तब इनका महत्व बढ़ गया। इनके ऊपर हावी होनेवाला कोई न रहा और पीटर की गद्दी पर बैठनेवाले की हैसियत से ये सब बिशपों के प्रधान समझे जाने लगे। बाद को ये पोप कहलाये, और तुम जानती हो कि पोप आज तक बने हुए हैं और रोमन कैथोलिक चर्च के प्रमुख होते हैं।

यह एक ताज्जुब की बात है कि रोम चर्च और यूनानी आर्थोडाक्स चर्च में

फूट पड़ने की एक वजह मूर्तिपूजा का प्रश्न था। रोमन चर्च ख़ास तौर से ईसा की माता मेरी और ईसाई धर्म के सन्त-महात्माओं की मूर्तियों की पूजा को प्रोत्साहन देता था। आर्थोडाक्स चर्च इसका कट्टर विरोधी था।

रोम पर उत्तरी क़ौमों के सरदारों का कई पुश्तों तक क़ब्ज़ा और शासन रहा लेकिन वे भी अक्सर कुस्तुन्तुनिया के सम्राट की मातहती क़बूल करते रहे। इस दरमियान रोम के बिशप की ताक़त, धर्माध्यक्ष के रूप मे बढ़ती गई। यहाँ तक कि उसने यह महसूस किया कि कुस्तुन्तुनिया का मुक़ाबिला करने के लिए हम काफ़ी मज़बूत हैं। जब मूर्ति-पूजा के सवाल पर झगड़ा हुआ तब पोप ने रोम को पूर्व से बिल्कुल अलग कर लिया। इस दरमियान बहुत सी ऐसी बातें हो गई थीं, जिनका हम बाद को ज़िक्र करेंगे। एक नया मज़हब इस्लाम अरब में पैदा हो गया था और अरब लोग सारे उत्तरी अफ़्रीका और स्पेन को रौंद चुके थे और योरप के मर्मस्थल पर हमला कर रहे थे। उत्तर-पश्चिमी योरप में नये राज्य क़ायम हो रहे थे और अरबों का भयंकर आक्रमण पूर्वी रोमन साम्राज्य पर जारी था।

पोप ने फ़्रैंक लोगों के एक बडे नेता से मदद मांगी। ये फ़्रैंक उत्तर की एक जर्मन जाति के लोग थे। बाद को फ़्रैंकों का सरदार कार्ल या चार्ल्स रोम का सम्राट बनाया गया। यह बिलकुल एक नया साम्राज्य था, लेकिन उन लोगों ने इसे रोमन साम्राज्य ही के नाम से पुकारा; बाद को इसका नाम 'पवित्र रोमन साम्राज्य' (Holy Roman Empire) हो गया। ये सिवाय रोमन के किसी साम्राज्य की कल्पना ही नहीं कर सकते थे, और यद्यपि शार्लमैन या महान् चार्ल्स का रोम से कोई सम्बन्ध नहीं था, फिर भी वह इम्परेटर, सीज़र और अगस्टस बन गया। इस नये साम्राज्य को पुराने साम्राज्य का एक सिलसिला समझा गया, लेकिन एक शब्द इसमें और जुड़ गया और अब वह 'पवित्र' हो गया। यह पवित्र इसलिए था कि यह विशेष तौर से एक ईसाई साम्राज्य था और पोप इसका धर्म-पिता था।

इस जगह पर तुम्हें फिर विचारों की विचित्र ताक़त का पता चलता है। एक फ़्रैंक या जर्मन, जो मध्य योरप में रहता है, रोमन सम्राट बनता है। इस 'पवित्र' साम्राज्य का आगे आनेवाला इतिहास और भी आश्चर्यजनक है। साम्राज्य की सूरत में यह एक मामूली चीज़ थी। पूर्व का रोमन साम्राज्य, जिसकी राजधानी कुस्तुन्तुनिया थी, राज्य की हैसियत से जारी रहा; पर पश्चिमी साम्राज्य परिवर्तित होता, ग़ायब होता और समय-समय पर फिर प्रकट होता रहा। दरअसल यह साम्राज्य भूत की तरह था, जिसका सिर्फ़ ईसाई-चर्च और रोमन नाम के ज़ोर से सैद्धान्तिक अस्तित्व था। यह साम्राज्य कल्पना की चीज़ थी, जिससे वास्तविकता का कोई ताल्लुक़

नहीं था । किसीने, मेरा खयाल है शायद वाल्टेयर ने, पवित्र रोमन साम्राज्य की परिभाषा करते हुए कहा था कि, यह कुछ ऐसी चीज़ है, जो न तो पवित्र है, न रोमन है, न साम्राज्य है। जैसे किसीने एक दफ़ा 'इण्डियन सिविल सर्विस' के बारे में, जिससे हम लोग इस देश में बद-क़िस्मती से अभी तक परेशान हैं, कहा था कि न तो यह इण्डियन (भारतीय) है, न सिविल (शिष्ट) है और न सर्विस (सेवा) है ।

जो कुछ भी हो, पवित्र रोमन साम्राज्य का यह धोखा क़रीब एक हज़ार वर्ष तक केवल अपने नाम के बल पर क़ायम रहा, और आज मे क़रीब सौ वर्ष से कुछ ही ज्यादा हुए, नेपोलियन के ज़माने में, इसका हमेशा के लिए ख़ातमा हो गया । फिर भी इसका ख़ातमा बहुत ग़ैर-मामूली और दिलचस्प नहीं हुआ । किसीने भी इसको ख़तम होते नहीं देखा, क्योंकि असल में बहुत दिनों से इसकी हस्ती ही नहीं थी । अन्त में इस भूत को दफ़न कर दिया गया । लेकिन हमेशा के लिए नहीं क्योंकि यह अनेक रूप में क़ैसर और ज़ार और इसी तरह के नामों से बार-बार प्रकट होता रहा । ये सब चौदह बरस हुए पिछले महायुद्ध में दफ़ना दिये गये ।

: ३४ :

विश्व-राज्य की भावना

२५ अप्रैल, १९३२

मुझे डर है कि इन चिट्ठियों को भेजकर अक्सर मैं तुम्हें परेशान कर रहा हूँ और थका रहा हूँ । खासकर रोमन-साम्राज्य सम्बन्धी पिछले दो ख़तों से तुम ज़रूर परेशान हो गई होगी । हज़ारों वर्षों और हजारों मीलों को पार करते हुए कभी मैं आगे बढ़ गया हूँ और कभी मुझे पीछे हटना पड़ा है । इसकी वजह से अगर तुम्हारे दिमाग़ में कुछ उलझन पैदा हो गई तो क़सूर मेरा ही है । पर हिम्मत मत हारो और बढ़ती चलो । अगर किसी जगह पर कोई बात जो मैं कहूँ और तुम्हारी समझ में न आवे तो तुम चिन्ता न करना, और आगे बढ़ती चलना । ये ख़त तुम्हें इतिहास पढ़ाने के लिए नहीं लिख जा रहे हैं बल्कि इसलिए लिखे जा रहे है कि तुम्हें एक झलक मिल जाय और तुममें कुतूहल पैदा हो ।

रोमन साम्राज्यों की बात सुनते-सुनते तुम ज़रूर थक गई होगी । मैं तो मानता हूँ कि मैं थक गया हूँ, लेकिन मैं चाहता हूँ कि आज और हम थोडी देर के लिए इनका साथ दें, और फिर कुछ दिन के लिए इनसे छुट्टी लेलें ।

तुम जानती हो कि आजकल राष्ट्रीयता और देश-भक्ति की बहुत चर्चा होती

है। हिन्दुस्तान में आजकल हममें से क़रीब-क़रीब सभी आदमी कट्टर राष्ट्रवादी होते हैं। इतिहास में यह राष्ट्रीयता एक बिलकुल नई चीज़ है और इन खतों के दौरान में हम राष्ट्रीयता की शुरूआत और उसकी तरक्क़ी का अध्ययन कर सकते हैं। रोमन साम्राज्यों के ज़माने में इस किस्म की कोई भावना नहीं पाई जाती थी, यह समझा जाता था कि साम्राज्य एक बहुत बड़ा राज्य है, जो सारी दुनिया पर हुकूमत कर रहा है। आजतक कोई साम्राज्य या सल्तनत ऐसी नहीं हुई जिसने सारी दुनिया पर हुकूमत की हो, लेकिन भूगोल के अज्ञान और आमदरफ़्त के साधनों की कमी और लम्बे सफ़र की कठिनाई की वजह से लोग पुराने ज़माने में अक्सर यह समझ लेते थे कि ऐसा साम्राज्य भी होता है। इसलिए रोमन राज्य के साम्राज्य बनने के पहले से ही योरप में और भूमध्यसागर के आसपास के देशों में लोग उसे एक ऐसा महा-राष्ट्र (Super State) समझते थे, जिसके, बाक़ी सब राज्य मातहत थे। इसका रौब इतना ज्यादा था कि एशिया माइनर के परगैमम प्रदेश तथा मिस्र को इन दोनों देशों के शासकों ने रोमन लोगों को भेंट कर दिया। ये समझते थे कि रोम सर्वशक्तिमान है और उसका कोई मुक़ाबिला नहीं कर सकता। लेकिन जैसा हमने बताया है कि प्रजातन्त्र होने की हालत में, और साम्राज्य की हालत में भी रोम ने भूमध्यसागर के मुल्कों के अलावा किसी और देश पर राज्य नहीं किया। उत्तर योरप के 'बर्बर' लोग इसकी ज़रा भी परवाह नहीं करते थे, और रोम भी इनकी परवाह नहीं करता था, लेकिन रोम के अधिकार की हद जो भी रही हो इसके पीछे विश्व-राज्य की भावना थी और इस भावना को पश्चिम के उस ज़माने के अधिकांश आदमियों ने मंजूर कर लिया था। इसी ख़याल की बुनियाद पर रोमन साम्राज्य इतने दिनों तक ज़िन्दा रहा। उस समय भी, जब उसमें कोई सार न रह गया था, उसका नाम और प्रताप बहुत बढ़ा हुआ था।

एक बडे राज्य का पूरी दुनिया पर हुकूमत करने का ख़याल रोम तक ही सीमित नहीं था। यह ख़याल चीन और हिन्दुस्तान में भी पुराने ज़माने में मौजूद था। जैसा कि तुम्हें मालूम है चीनी राज्य अकसर रोमन साम्राज्य से ज्यादा विस्तृत रहा है। यह कैस्पियन समुद्र तक फैला हुआ था। चीन के सम्राट् 'स्वर्ग-पुत्र' कहलाते थे, और चीनी लोग इनको विश्व-सम्राट् यानी सारी दुनिया का राजा समझते थे। यह सच है कि कुछ क़ौमें और कुछ लोग ऐसे थे जो झगडे पैदा करते रहते थे और सम्राट् का हुक्म नहीं मानते थे, लेकिन वे जंगली समझे जाते थे, जैसे रोमन लोग उत्तर योरप के रहनेवाले को 'बर्बर' समझते थे।

इसी तरह से हिन्दुस्तान में भी तुम्हें बहुत पुराने ज़माने से ही 'चक्रवर्ती'

राजाओं का जिक्र मिलता है। दुनिया के बारे में उनका ख़याल बिलाशक बहुत महदूद था क्योंकि हिन्दुस्तान ही इतना बड़ा मुल्क था कि उन्हें यही दुनिया मालूम होती थी, और हिन्दुस्तान की हुकूमत ही उनके लिए सारी दुनिया की हुकूमत थी। जो बाहर के थे वे जंगली या म्लेच्छ थे। पौराणिक राजा भरत, जिसके नाम पर हमारा देश 'भारतवर्ष' कहलाता है, इसी क़िस्म का चक्रवर्ती राजा कहा गया है। महाभारत के अनुसार युधिष्ठिर और उनके भाइयों ने इसी चक्रवर्ती पद के लिए युद्ध किया था। अश्वमेध यज्ञ एक क़िस्म की चुनौती थी, और वह इसका सूचक था कि यज्ञ करनेवाला सारी दुनिया का राजा है। अशोक का मक़सद भी शायद चक्रवर्ती राज्य था। लेकिन पश्चात्ताप से धुलकर उसने सब युद्ध बन्द कर दिये। इसके बाद भी तुम्हें हिन्दुस्तान में कई ऐसे साम्राज्यवादी राजा मिलेंगे––जैसे गुप्त-वंश के, जिनका उद्देश्य चक्रवर्ती राज्य क़ायम करना था। इसलिए हम यह देखते हैं कि पुराने जमाने में अकसर लोग सारी दुनिया का एक राज्य क़ायम करने का ख़याल करते थे। इसके बहुत दिनों बाद राष्ट्रीयता आई और एक नये क़िस्म का साम्राज्यवाद पैदा हुआ। इन दोनों ने मिलकर दुनिया में काफ़ी तबाही पैदा कर दी। आजकल भी विश्व-राज्य क़ायम करने की चर्चा होती रहती है, पर इसमें चक्रवर्ती साम्राज्य या महान् साम्राज्य की भावना नहीं है। अब न तो साम्राज्यों की जरूरत है, न सम्राटों की। अब तो एक विश्व-प्रजातन्त्र के क़िस्म की चीज चाहिए, जो दूसरी क़ौम, जाति, या वर्ग द्वारा होनेवाले एक क़ौम या राष्ट्र या वर्ग का शोषण रोके। यह कहना मुश्किल है कि निकट भविष्य में इस क़िस्म की कोई चीज होगी या नहीं, लेकिन दुनिया की हालत बुरी है। और इसकी बुराइयों को मिटाने का कोई दूसरा तरीक़ा भी नहीं दिखाई देता।

मैंने उत्तर योरप के बर्बरों का बराबर जिक्र किया है। मैंने 'बर्बर' लफ़्ज इस्तेमाल किया है क्योंकि रोमन लोगों ने इन्हें इसी शब्द (Barbarian) से याद किया है। यह जाति मध्य एशिया के ख़ानाबदोशों और दूसरे कबीलों की तरह रोम और हिन्दुस्तान के अपने पड़ोसियों से, निश्चय ही कम सभ्य थी। लेकिन इन लोगों में ताक़त ज्यादा थी, क्योंकि इनकी जिन्दगी खुली हवा में गुजरती थी। बाद को ये लोग ईसाई हो गये और जब इन्होंने रोम को फतह कर लिया तब भी उसके निवासियों के साथ बेरहम दुश्मनों की तरह व्यवहार नहीं किया। उत्तर योरप की आजकल की क़ौमें गाथ, फ्रैंक वग़ैरा इन्हीं जंगली जातियों की सन्तान हैं।

मैंने तुम्हें रोमन सम्राटों के नाम नहीं बताये। वहां बहुत से सम्राट हुए; पर कुछ को छोड़कर बाक़ी बहुत बुरे थे। कुछ तो निरे राक्षस ही थे। तुमने नीरो का

नाम जरूर सुना होगा। लेकिन बहुत-से तो नीरो से भी ज्यादा खराब हुए हैं। आइरीन नाम की एक स्त्री ने साम्राज्ञी बनने के लिए अपने लड़के को, जोकि सम्राट था, क़तल कर दिया था। यह कुस्तुन्तुनिया की बात है।

रोम में एक ऐसा सम्राट भी हुआ है, जो दूसरों के मुक़ाबिले बहुत ऊँचा था। उसका नाम मार्क्स ओरेलियस एन्टोनिनस था। ऐसा समझा जाता है कि यह दार्शनिक या फिलासफ़र था और उसकी एक किताब, जिसमें उसके विचार और मनोभाव लिखे हुए हैं, पढ़ने के क़ाबिल है। पर मार्क्स आरेलियस के लड़के ने, जो उसके बाद गद्दी पर बैठा, यह कमी पूरी करदी। वह रोम के अत्यंत धूर्त्त और बदमाश आदमियों में से एक हुआ है।

रोमन साम्राज्य के पहले तीन सौ बरस तक रोम पश्चिमी दुनिया का केन्द्र था। तब जरूर ही यह बहुत बड़ा शहर रहा होगा, जिसमें आलीशान इमारतें रहीं होंगी और लोग साम्राज्य के कोने-कोने से, और साम्राज्य के बाहर से भी, वहाँ आते रहे होंगे।

बहुत से जहाज दूर-दूर के मुल्कों से नफ़ीस चीजें, खाने की दुर्लभ वस्तुयें और क़ीमती चीजें लाते थे। कहते हैं, हर साल एक सौ बीस जहाजों का बेड़ा लाल समुद्र के एक मिस्री बन्दरगाह से हिन्दुस्तान जाता था। ये लोग ठीक उसी वक़्त चलते थे जब बरसात की पुरवैया हवा चलती थी, इससे इनको बहुत मदद मिलती थी। ये ज्यादातर दक्षिण हिन्दुस्तान को जाते थे और क़ीमती माल लादकर मौसमी हवा की मदद से मिस्र वापस आ जाते थे। मिस्र से यह माल खुश्की और समुद्र के रास्ते से रोम भेज दिया जाता था।

लेकिन यह सब व्यापार अमीरों के फ़ायदे के लिए ही था। चन्द आदमियों के ऐश के पीछे अनेक आदमियों की मुसीबतें छिपी हुई थीं। तीन सौ बरस से ज्यादा समय तक रोम पश्चिम में सबसे शक्तिमान शहर बना रहा, और बाद को जब कुस्तुन्तुनिया बसा, तो उसने इसके साथ महानता में साझा कर लिया। आश्चर्य की बात यह है कि इस लम्बे जमाने में भी, विचार-जगत् में इसने कोई ऐंसी महान् चीज पैदा न की जैसी यूनान ने बहुत कम अर्से में ही कर दिखाई थी। बहुत-सी बातों में रोमन सभ्यता यूनानी सभ्यता की एक धुंधली छाया मालूम होती है। हाँ, एक चीज ऐसी थी, जिसके बारे में, लोगों का विचार है कि रोमनों ने रास्ता दिखाया, और वह है क़ानून। आज भी हममें से कुछ ऐसे हैं, जिनको रोमन क़ानून पढ़ने की मुसीबत बर्दाश्त करनी पड़ती है, क्योंकि कहा जाता है कि योरप में क़ानून का बहुत सा हिस्सा रोमन क़ानून की ही बुनियाद पर बना है। मुझे याद है कि बहुत दिन हुए मुझे भी यह क़ानून पढ़ना पड़ा था।

अक्सर ब्रिटिश साम्राज्य की रोमन साम्राज्य से तुलना की जाती है। खासतौर से अंग्रेज लोग ऐसा करते हैं, क्योंकि उनको इसमें बहुत संतोष होता है। सारे साम्राज्य कम या ज्यादा एक तरह के होते हैं। बहुतों को चूसकर ये मोटे होते हैं। लेकिन रोमनों और अंग्रेजों में एक बात में बहुत ज्यादा समानता पाई जाती है और वह यह कि दोनों में कल्पना शक्ति की बिल्कुल कमी है। खूब बन-ठनकर, और अपने मुंह मियांमिट्ठू बनकर, और इस बात पर पूरा विश्वास करते हुए कि सारी दुनिया खासतौर से इन्हींके फ़ायदे के लिए बनाई गई है, ये लोग बिना किसी परेशानी या शक के अपनी जीवन-यात्रा निश्चित होकर पूरी करते हैं। लेकिन अंग्रेज एक भली क़ौम है और यद्यपि हम उनसे लड़ते हैं और लड़ते रहेंगे, लेकिन हमें उनके अच्छे गुण न भूलना चाहिए, खासतौर से आज, जबकि उनकी कमजोरियाँ हिन्दुस्तान में इतनी ज्यादा प्रकट हो चुकी हैं।

: ३५ :

पार्थिया और सासानी

२६ अप्रैल, १९३२

अब हमें रोमन साम्राज्य और योरप को छोड़ कर दुनिया के दूसरे हिस्सों में चलना चाहिए। हमें अभी यह देखना है इस दर्मियान एशिया में क्या होता है और हिन्दुस्तान और चीन की कहानी भी जारी रखना है। दूसरे देश भी अब इतिहास के क्षितिज पर दिखलाई देने लगे हैं। उनके बारे में भी हमें कुछ जानना होगा। सच तो यह है कि जैसे-जैसे हम आगे बढ़ेंगे, वैसे-वैसे अनेक जगहों के बारे में इतना ज्यादा कहना जरूरी होगा कि शायद मैं कहीं घबराकर यह काम ही न छोड़ दूं।

मैंने अपने एक खत में यह कहा था कि रोमन प्रजातंत्र सेनाओं की पार्थिया में कैरी की लड़ाई में गहरी हार हुई थी। उस वक़्त मैंने ठहर कर यह नहीं बताया था कि पार्थियन लोग कौन थे और उन्होंने उस मुल्क में, जहाँ आज ईरान और इराक़ बसे हुए हैं, कैसे एक राज्य क़ायम कर लिया था। तुम्हें यह तो याद होगा कि सिकन्दर के बाद उसके सेनापति सेल्यूकस और उसके वंशज एक साम्राज्य पर हुकूमत करते थे, जो पश्चिम में हिन्दुस्तान से एशिया माइनर तक फैला हुआ था। क़रीब तीन सौ बरस तक इनका बोलबाला रहा, जिसके बाद मध्य एशिया के एक कबीले ने, जो पार्थियन कहलाता था, इन्हें निकाल भगाया। फ़ारस या पार्थिया, जैसा कि वह उन दिनों पुकारा जाता था, के इन्हीं पार्थियनों ने प्रजातंत्र के आखिरी

दिनों में रोमन सेना को हराया था और प्रजातंत्र के बाद क़ायम हुआ रोमन साम्राज्य कभी इन पार्थियन लोगों को पूरी तरह से हरा नहीं सका। ये लोग ढाई सदी तक पार्थिया पर हुकूमत करते रहे, जिसके बाद उस देश में आन्तरिक विप्लव पैदा हुआ और ये लोग भगा दिये गये। ईरानी लोग ख़ुद इन विदेशी शासकों के ख़िलाफ़ बग़ावत कर बैठे और उनकी जगह पर अपनी क़ौम और अपने मज़हब का एक बादशाह बनाया। इस बादशाह का नाम 'आर्देशेर प्रथम' था। इसके वंश को सासानी वंश कहते हैं। आर्देशेर ज़रथुस्त धर्म का कट्टर अनुयायी था, और तुम्हें याद होगा कि यही पारसियों का मज़हब है। आर्देशेर और मज़हबों के प्रति सहनशील नहीं था। रोमन साम्राज्य और सासानियों में बराबर लड़ाई होती रही। सासानियों ने एक रोमन सम्राट को भी गिरफ्तार कर लिया था। कई मौक़ों पर ईरानी फ़ौजें क़रीब-क़रीब कुस्तुन्तुनिया के नज़दीक पहुँच गई थीं, और एक दफ़ा उन्होंने मिस्र पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। सासानी साम्राज्य पारसी धर्म के प्रचार के उत्साह के लिए ही ख़ास तौर से मशहूर है। जब इस्लाम सातवीं सदी में आया, तब उसने सासानी साम्राज्य और उसके राज-धर्म को ख़तम कर दिया। ज़रथुस्त धर्म को माननेवाले बहुत से लोग, इस परिवर्तन की वजह से और सताये जाने के डर से, अपना मुल्क छोड़ कर हिन्दुस्तान आये। हिन्दुस्तान ने इनका स्वागत किया, जैसा वह उन सब का, जो इसके पास आश्रय लेने आये, हमेशा करता रहा है। हिन्दुस्तान के पारसी इन्हीं ज़रथुस्तियों के ख़ानदान के हैं।

जुदे-जुदे धर्मों के साथ व्यवहार करने के मामले में अगर हम हिन्दुस्तान की दूसरे मुल्कों से तुलना करते हैं तो एक अजीब और आश्चर्यजनक बात मालूम होती है। बहुत सी जगहों पर, और ख़ास कर योरप में, तुम यह देखोगी कि पुराने ज़माने में जो लोग राजधर्म (सरकारी मज़हब) नहीं मानते थे, उनको सताया जाता था। क़रीब-क़रीब हर जगह इस सम्बन्ध में ज़ोर-ज़बरदस्ती हुआ करती थी। तुम योरप में 'इनक्विज़िशन'[१] और जादू-टोना करनेवाली औरतों के जलाये जाने का हाल पढ़ोगी। लेकिन हिन्दुस्तान में पुराने ज़माने में हर एक मज़हब को पूरी

१. **इनक्विज़िशन**—ईसाईधर्म के रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के संरक्षण में स्थापित धार्मिक न्यायालय। इसका काम धार्मिक अविश्वास को रोकना और धर्म के सम्बन्ध में नये विचार फैलानेवालों को दण्ड देना था। पहले यह फ़्रांस में स्थापित हुआ और बाद को इटली, स्पेन, पुर्तगाल, जर्मनी इत्यादि में भी फैल गया। मामूली-मामूली स्वतंत्र विचारों के लिए इसमें लोगों को ज़िन्दा जला दिया जाता था। इसकी रोमांचकारी कथा 'सस्ता साहित्य मंडल' द्वारा प्रकाशित 'नर-मेध' नामक पुस्तक में पढ़िए। उन्नीसवीं सदी में इसका ख़ातमा हुआ।

आज़ादी थी। हिन्दू और बौद्ध धर्म का मामूली झगड़ा पश्चिमी देशों के धार्मिक मत-मतान्तरों के भयंकर झगडों के मुकाबिले में कुछ भी नहीं है। यह बात याद रखने लायक़ है, क्योंकि बदकिस्मती से हाल ही में हमारे यहाँ मज़हबी और साम्प्रदायिक फ़िसाद हो चुके हैं, और कुछ लोग, जिन्हें इतिहास का ठीक ज्ञान नहीं है, समझते हैं कि हिन्दुस्तान की यही दशा पिछले कई युगों से चली आ रही है। यह बिल्कुल ग़लत बात है। ये दंगे-फ़साद तो हाल के ज़माने में पैदा हुए हैं। तुम्हें मालूम होगा कि इस्लाम की पैदायश के बाद कई सौ बरसों तक मुसलमान लोग हिन्दुस्तान के लगभग सभी हिस्सों में बसे थे और अपने पडोसियों के साथ बिल्कुल शांतिपूर्वक मिलजुल कर रहते थे। जब वे व्यापार के लिए आये तो इनका स्वागत किया गया और इनको यहीं बस जाने के लिए प्रोत्साहन दिया गया। लेकिन यह तो मैं आगे की बात कहने लगा।

इस तरह हिन्दुस्तान ने ज़रथुस्तों का स्वागत किया। कई सौ बरस पहले हिन्दुस्तान ने बहुत से यहूदियों का भी स्वागत किया था, जो रोम से ईसाई सन् की पहली सदी में, अत्याचार से त्रस्त होकर यहां भाग आये थे।

ईरान में सासानी शासन के ज़माने में, सीरिया के पामीर नाम की जगह में एक रेगिस्तानी राज्य भी मौजूद था और कुछ दिन इसकी शान भी रही है। सीरियन रेगिस्तान के बीच में पामीर व्यापार की एक मंडी थी। इसके विशाल खंडहर, जो आज भी दिखाई देते हैं, अपनी आलीशान इमारतों की कहानी कहते हैं। ज़िनोबिया नाम की एक स्त्री भी इस राज्य की रानी हुई है। लेकिन रोमन लोगों ने इसे हरा दिया। उसके साथ असभ्यता का सलूक किया और ज़ंजीरों में बाँध कर उसे रोम ले गये।

ईसाई सन् के शुरू में सीरिया एक सुन्दर देश था। नये अहदनामे से हमें इसके बारे में कुछ बातें मालूम होती हैं कुशासन और बद-इन्तज़ामी के होते हुए भी इस मुल्क में बडे-बडे शहर और बहुत घनी आबादी थी; उसमें बडी-बडी नहरें थीं और व्यापार भी ख़ूब फैला हुआ था। लेकिन बराबर लड़ाइयों में फँसे रहने और कुशासन के कारण छः सौ बरसों के अन्दर यह क़रीब-क़रीब वीरान हो गया। बडे शहर उजड़ गये और पुरानी इमारतें खंडहर हो गई।

अगर तुम हिन्दुस्तान से योरप हवाई जहाज़ पर उड़ कर जाओ तो पामीर और बालबक के खंडहर तुम्हें रास्ते में पडेंगे। तुम्हें वह जगह भी दिखाई देगी, जहां बैबिलन बसा हुआ था और बहुत सी दूसरी जगहें भी मिलेंगी, जो इतिहास में मशहूर हैं, लेकिन जिनका नामोंनिशान भी अब नहीं पाया जाता।

: ३६ :

दक्षिण भारत की बस्तियाँ

२८ अप्रैल, १९३२

हम लोग दूर चले गये। हमें अब फिर हिन्दुस्तान की तरफ़ लौट चलना चाहिए और इस बात को मालूम करने की कोशिश करनी चाहिए कि उस समय इस मुल्क में हमारे पूर्वज क्या कर रहे थे। कुशानों के सरहदी साम्राज्य के बारे में पिछले ख़तों में जो मैं कह गया हूँ, उसे तुम भूली न होगी। यह एक बहुत-बड़ा बौद्ध साम्राज्य था, जिसमें पूरा उत्तरी हिन्दुस्तान और मध्य एशिया का एक बहुत बड़ा हिस्सा भी शामिल था। इसकी राजधानी पुरुषपुर थी, जिसे आजकल पेशावर कहते हैं। तुम्हें शायद यह भी याद होगा कि उस समय हिन्दुस्तान के दक्षिण में एक बहुत बडी रियासत और थी, जो एक समुद्र के किनारे से दूसरे समुद्र के किनारे तक फैली थी। इसको आन्ध्रराज्य कहते थे। क़रीब तीन सौ साल तक कुशान और आन्ध्र लोग ख़ूब फूले-फले, लेकिन ईसा की तीसरी सदी के बीच में वे दोनों साम्राज्य ख़तम हो गये थे। कुछ समय के लिए हिन्दुस्तान में छोटे-छोटे राज्यों का जाल बिछ गया लेकिन सौ साल के अन्दर ही पाटलिपुत्र में एक दूसरा चन्द्रगुप्त पैदा हुआ, जिसने उग्र हिन्दू साम्राज्यवाद के युग की बुनियाद डाली। लेकिन इन गुप्त लोगों तक जाने के पहले यह मुनासिब मालूम होता है कि हम पहले दक्षिणी हिन्दुस्तान के उन साहसिक कार्यों के आरम्भ की ओर अपनी नज़र डालें, जिनकी बदौलत पूर्वी दुनिया के सुदूर टापुओं में भारत की कला और सभ्यता का प्रचार हुआ।

हिमालय और दो समुद्रों के बीच में हिन्दुस्तान की जो शक्ल है, वह तुम्हें अच्छी तरह याद होगी। इसका उत्तरी हिस्सा समुद्र से बहुत दूर है। पुराने ज़माने में इस उत्तरी हिस्से का ख़ास काम यह रहा है कि यह हिन्दुस्तान का ख़ुश्की सरहद बना रहा, जिसपर से होकर दुश्मन और हमला करनेवाले यहाँ आया करते थे। लेकिन हिन्दुस्तान के पूरब, पश्चिम और दक्षिण में समुद्र के बहुत बडे-बडे किनारे हैं। दक्षिण की ओर हिन्दुस्तान तंग होता जाता है, यहाँ तक कि आख़िर में कन्याकुमारी में जाकर पूरब और पश्चिम दोनों दिशायें मिल जाती हैं। समुद्र के पास रहनेवाले ये हिन्दुस्तानी स्वभावतः समुद्र से दिलचस्पी रखते थे और यह भी उम्मीद की जा सकती है कि उनमें से बहुत-से समुद्र में एक जगह से दूसरी जगह को जानेवाले रहे होंगे। मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ कि बहुत ही पुराने समय से दक्षिणी हिन्दुस्तान

का पश्चिमी दुनिया से व्यापारी सम्बन्ध चला आता था। इसलिए यह जानकर कोई ताज्जुब नहीं होना चाहिए कि हिन्दुस्तान में आज से बहुत पहले जहाज़ बनते थे और यहाँ के रहनेवाले तिजारत और दूसरे साहस-पूर्ण कार्यों के लिए समुद्र-यात्रा किया करते थे। लोगों का ख़याल है कि गौतम बुद्ध के ज़माने में विजय हिन्दुस्तान से सीलोन (लंका) गया था और उसे जीत लिया। अजन्ता की गुफाओं में एक तस्वीर है जिसमें विजय समुद्र पारकर सीलोन जा रहा है और घोडे और हाथी जहाज़ों में उस पार पहुँचाये जा रहे हैं। विजय ने लंका को सिंहल-द्वीप का नाम दिया था। सिंहल शब्द सिंह से निकला है जिसका अर्थ शेर होता है, और लंका में शेर की एक पुरानी कहानी भी मशहूर है, लेकिन मैं उसे भूल गया हूँ। मैं ख़याल करता हूँ कि सीलोन नाम सिंहल से बिगड़कर बना है। दक्षिणी हिन्दुस्तान से लंका जाने में समुद्र का जो थोड़ा-सा टुकड़ा पड़ता है, उसका पार करना कोई मार्के का काम नहीं था। लेकिन हमें इस बात के बहुत काफ़ी सबूत मिलते हैं कि हिन्दुस्तान में जहाज़ बनते थे, और हिन्दुस्तानी बंगाल से गुजरात तक के छिटके हुए बंदरगाहों से विदेशों के लिए, समुद्रपार करके, जाते थे। नैनी जेल से मैंने चन्द्रगुप्त मौर्य के मशहूर मन्त्री चाणक्य के अर्थशास्त्र के बारे में तुम्हें लिखा था। उसने इस अर्थशास्त्र में समुद्री सेना के बारे में भी कुछ लिखा है। चन्द्रगुप्त के दरबार के यूनानी दूत मेगस्थनीज़ ने भी इसका ज़िक्र किया है। इस तरह यह पता चलता है कि मौर्य-काल के शुरू में हिन्दुस्तान में जहाज़ बनाने काम बहुत बढ़ा-चढ़ा था। और ज़ाहिर है कि जहाज़ इस्तैमाल किये जाने के लिए ही बनाये जाते हैं। इसलिए बहुत-से लोगों ने उन पर बैठकर समुद्रों को पार किया होगा। इन बातों को सोचकर और फिर यह सोचकर कि हमारे मुल्क में कुछ लोग ऐसे भी हैं जो समुद्र पार करने से डरते हैं और उसे धर्म के ख़िलाफ़ समझते हैं, आश्चर्य होता है। हम लोग ऐसे आदमियों को प्राचीन युग के अवशेष भी नहीं कह सकते, क्योंकि, जैसा कि तुम जानती हो, हमारा पुराना ज़माना कहीं ज्यादा समझदार था। ख़ुशक़िस्मती से अब ऐसी असाधारण धारणायें बहूत-कुछ दूर हो गई हैं और इने-गिने लोगों ही पर अब उनका असर है।

उत्तरी हिन्दुस्तान के बजाय दक्षिणी हिन्दुस्तान स्वभावतः समुद्र की तरफ़ ज्यादा ध्यान देता था। विदेशी व्यापार ज्यादातर दक्षिण के साथ ही होता था। और तामिल भाषा की कवितायें यवन, सुरा, कलश और दीपकों के ज़िक्र से भरी हुई हैं। 'यवन' शब्द मुख्यतः ग्रीस (यूनान) के रहनेवालों के लिए इस्तैमाल होता था, लेकिन मोटे तौर पर यह सब विदेशियों के लिए था। दूसरी और तीसरी सदियों के आन्ध्रदेश के सिक्कों पर दो मस्तूलवाले बडे जहाज़ की तस्वीर बनी है। इससे यह

पता चलता है कि पुराने ज़माने के आन्ध्र के रहने वाले जहाज़ बनाने और समुद्र के व्यापार में कितनी दिलचस्पी रखते थे ।

यह दक्षिण हिन्दुस्तान ही था जो उन साहस-पूर्ण कार्यों में आगे बढ़ा, जिनकी वजह से पूर्व के तमाम टापुओं में हिन्दुस्तानी बस्तियां या उपनिवेश बसाये जासके । इन औपनिवेशिक यात्राओं की शुरूआत ईसवी सन् की पहली सदी में हुई और कई सौ बरसों तक उनका सिलसिला जारी रहा । मलाया, जावा, सुमात्रा कम्बोडिया और बोर्नियो सब जगह दक्षिण के लोग जाकर बस गये और अपने साथ भारतीय कला और सभ्यता ले गये । बरमा, स्याम और हिन्दी-चीन में भी हिन्दुस्तानियों की बडी-बडी बस्तियाँ थीं । इन नई बस्तियों और नगरों के बहुत से नाम भी भारत से ही लिये गये थे, जैसे अयोध्या, हस्तिनापुर, तक्षशिला और गन्धार वग़ैरा । यह अजीब बात है कि इतिहास किस तरह अपनेको दुहराता है । अमेरिका में जाकर बसनेवाले एँग्लो-सैक्सन लोगों ने भी ऐसा ही किया था और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के शहर आज भी पुराने अंग्रेज़ी शहरों के नाम से प्रसिद्ध है । अमेरिका के सबसे बडे शहर न्यूयार्क का नाम भी उत्तरी इंग्लैण्ड के प्राचीन नगर 'यार्क' के नाम पर पड़ा ।

इसमें शक नहीं कि नये उपनिवेश बसानेवाले ये भारतीय जहाँ-जहाँ गये, वहाँ के पुराने बाशिन्दों से बुरी तरह पेश आये, जैसा कि सभी नई बस्तियाँ बसानेवाले किया करते हैं । उन्होंने इन टापुओं के रहनेवालों को ज़रूर लूटा होगा और उनपर अधिकार जमाया होगा । लेकिन कुछ दिनों बाद ये लोग पुराने बाशिन्दों से बहुत-कुछ मिल-जुल गये होंगे । हिन्दुस्तान के साथ नियमित रूप से ताल्लुक़ बनाये रखना मुश्किल था । पूर्व के इन टापुओं में हिन्दू राज्य और हिन्दू साम्राज्य क़ायम हुए । बाद में वहाँ बौद्ध शासक पहुँचे और हिन्दुओं और बौद्धों में प्रभुता के लिए रस्साकशी हुई । विशाल या बृहत्तर भारत के इतिहास की यह एक लम्बी और दिलचस्प कहानी है । बडे-बडे खण्डहर अभी तक मिलते हैं । वे उन आलीशान इमारतों और मन्दिरों के सबूत हैं, जिनसे ये भारतीय उपनिवेश शोभित हुए थे । कम्बोज, श्री विजय, अंगकोर और मज्जापहित जैसे बडे-बडे नगर भारतीय निर्माताओं और कारीगरों ने वहाँ बनाये । हिन्दू और बौद्ध राज्य इन टापुओं में क़रीब चौदह सौ वर्ष तक क़ायम रहे । कभी ये प्रभुता के लिए आपस में लड़ते, कभी इनपर एकका अधिकार हो जाता तो कभी दूसरे का । और कभी वे एक-दूसरे को नष्ट भी कर देते थे । पन्द्रहवीं सदी में मुसलमानों ने इनपर अपना क़ब्जा जमा लिया । उनके बाद जल्द ही पुर्तगालवाले, स्पेनवाले, डच लोग और अंग्रेज़ आये । सबके अख़ीर में अमेरिकन पहुँचे । चीनवाले तो हमेशा से ही क़रीब के पडोसी रहे हैं । ये कभी-कभी दख़ल देते और इन राज्यों को

जीत लेने पर अक्सर उनके साथ दोस्तों की तरह रहते और आपस में एक-दूसरे को भेंट और तोहफ़े भी दिया करते थे। इसके साथ ही वे इन भारतीयों पर अपनी महान् सभ्यता और संस्कृति का असर भी बराबर डालते रहे।

पूर्व के इन हिन्दू उपनिवेशों में हमारे लिए दिलचस्पी की कितनी ही बातें हैं। सबसे ज्यादा महत्त्व की बात यह है कि इन आबादियों और उपनिवेशों को बसाने की संगठित कोशिश उस ज़माने की दक्षिणी हिन्दुस्तान की एक प्रमुख सरकार ने की थी। पहले बहुत-से अन्वेषण और खोज करनेवाले वहाँ ज़ाती तौर से गये होंगे; फिर व्यापार बढ़ा होगा, तब कुटुम्ब-के कुटुम्ब और लोगों के गिरोह अपनी मर्ज़ी से वहाँ गये होंगे। कहा जाता है कि शुरू-शुरू में जो लोग वहां जाकर बसे वे कलिंग (उड़ीसा) और पूर्वी समुद्र-तट से वहां गये थे। शायद कुछ लोग बंगाल से भी गये होंगे, और एक ख़याल यह भी है कि कुछ गुजराती अपने देश से निकाल दिये जाने पर इन टापुओं में जाकर बस गये। मगर यह सब अन्दाज़ ही अन्दाज़ है। बसने वालों का मुख्य प्रवाह तामिल देश के दक्षिणी हिस्से पल्लव-प्रदेश से, जहां एक बडे पल्लव वंश का शासन था, इन टापुओं में पहुंचा। मालूम होता है कि इसी पल्लव सरकार ने मलाया में हिन्दुस्तानी बस्तियाँ बसानें का संगठित प्रयत्न किया होगा। शायद उत्तरी हिन्दुस्तान से बहुत से लोग दक्षिणी हिन्दुस्तान में बसने के लिए पहुंच रहे होंगे, और इसकी वजह से दक्षिण की ज़मीन पर आबादी का बहुत बड़ा बोझ होगया होगा। पर वजह कुछ भी हो, हिन्दुस्तान से बहुत दूर अलग-अलग बिखरे हुए इन टापुओं में उपनिवेश बसाने की योजना समझ-बूझ कर बनाई गई थी, और इन सब जगहों में एक ही साथ बस्तियाँ बसाने की शुरूआत हुई थी। ये उपनिवेश हिन्दी-चीन, मलाया प्रायद्वीप, बोर्नियो, सुमात्रा, जावा और दूसरी जगहों में थे। ये सब हिन्दुस्तानी नामवाले पल्लव उपनिवेश थे। हिन्दी-चीन में जो आबादी थी, उसका नाम कम्बोज (जो आजकल कम्बोडिया कहलाता है) था। यह नाम गन्धार के, क़ाबुल की घाटी में बसे हुए, कम्बोज से चल कर इतनी दूर पहुंचा था।

चार या पांच सौ साल तक ये बस्तियाँ हिन्दू धर्म को अपनाये रहीं, पर बाद में धीरे-धीरे बौद्ध-धर्म फैल गया। बहुत पीछे इस्लाम पहुंचा और मलाया के एक हिस्से में फैल गया; बाक़ी हिस्सा बौद्ध ही बना रहा।

मलाया देश में साम्राज्य और राष्ट्र बनते-बिगड़ते रहे। लेकिन दक्षिण भारत के नये उपनिवेश बसाने की इन कोशिशों का असली नतीजा यह निकला कि दुनिया के इस हिस्से में भारतीय आर्य सभ्यता की नींव पड़ गई। कुछ हद तक मलाया के लोग आज भी हम लोगों की तरह इसी सभ्यता के बच्चे हैं। उन लोगों पर

दूसरे असर भी पड़े हैं। चीन का असर ख़ासतौर पर उल्लेखनीय है। मलेशिया[1] के जुदे-जुदे हिस्सों पर हिन्दुस्तानी और चीनी दो शक्तिशाली सभ्यताओं के असर की मिलावट देखने में बडी दिलचस्प है। कुछ तो ज्यादातर हिन्दुस्तानी होगये और कुछ में चीनी असर ज्यादा साफ़ दिखाई देता है। बरमा, स्याम, हिन्दी-चीन के मुख्य हिस्सों पर चीनी असर बहुत ज्यादा है, लेकिन मलाया में ऐसा नहीं है। जावा, सुमात्रा और दूसरे टापुओं में हिन्दुस्तानी असर ज्यादा साफ़ दिखाई देता है। हां, इन पर इस्लाम की हाल की क़लई भी चढ़ी हुई है। लेकिन चीनी और हिन्दुस्तानी संस्कारों में कोई संघर्ष न था। वे एक दूसरे से बिलकुल जुदे थे, फिर भी दोनों ही बिना किसी दिक्क़त के साथ-साथ अपना काम करते रहे। क्या हिन्दू और क्या बौद्ध, दोनों ही धर्मों का जन्म हिन्दुस्तान में हुआ था। धर्म के मामले में चीन भी हिन्दुस्तान का कर्ज़दार था। मलेशिया की कला में भी हिन्दुस्तान का असर सबसे ज्यादा था, हिन्दी-चीन में भी, जहां चीनी असर बहुत ज्यादा था, इमारत बनाने की कला बिलकुल हिन्दुस्तानी ही थी। चीन ने महाद्वीप के इन देशों को शासन और ज़िन्दगी की सामान्य फिलासफ़ी के बारे में ज्यादा प्रभावित किया है। इसीलिए हिन्दी-चीन, बरमा और स्याम के लोग आज दिन हिन्दुस्तानियों से कम और चीनवालों से ज्यादा मिलते-जुलते दिखाई देते हैं। इसमें शक नहीं कि जाति-भेद के हिसाब से इनमें मंगोल ख़ून ज्यादा है और इसी वजह से, कुछ हदतक वे, चीनवालों से अधिक मिलते हैं।

जावा के 'बोरोबुदर' में आज हिन्दुस्तानी कारीगरों के बनाये हुए बडे-बडे बौद्ध-मंदिरों के खण्डहर देखे जा सकते हैं। इन मन्दिरों की दीवारों पर बुद्ध के जीवन की पूरी कहानी खुदी हुई है। और ये सिर्फ बुद्ध के ही नहीं, बल्कि उस ज़माने की हिन्दुस्तानी कला की अनोखी यादगारें हैं। भारतीय प्रभाव और भी आगे बढ़ा। वह फ़िलीपाइन और फारमूसा तक जा पहुँचा। यह दोनों देश कुछ समय तक, सुमात्रा के हिन्दू श्रीविजय राज्य के भाग थे। उसके बहुत समय बाद फ़िलीपाइन पर स्पेन वालों की हुकूमत क़ायम हुई, और अब वह अमेरिका के क़ब्ज़े में हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका ने बार-बार फिलीपाइन वालों को आज़ादी देने का वादा किया; लेकिन जो चीज़ कोई पा जाता है, उसे छोड़ना मुश्किल होता है। फिलीपाइन की राजधानी मनिला है। कुछ दिन हुए वहां व्यवस्थापक सभा की एक नई इमारत बनी थी। इसके सामने वाले दरवाज़े पर चार तस्वीरें बनी हैं, जो

१. मलेशिया—एशिया के दक्षिण-पूर्व भाग से आस्ट्रेलिया तक फैला हुआ द्वीप समूह जिसे ईस्टइंडीज़ या मलाया आर्चिपेलेगो कहते हैं।

फ़िलीपाइन की सभ्यता की चार ख़ास धाराओं को बताती हैं। ये मूर्तियां प्राचीन भारत के महान् नीतिकार मनु और चीन के फ़िलासफ़र लाओ-जे की हैं और दो मूर्तियाँ एँग्लो-सैक्सन क़ानून और न्याय और स्पेन की प्रतिनिधि है।

: ३७ :

गुप्त वंश के अन्तर्गत हिन्दू साम्राज्यवाद

२९ अप्रैल, १९३२

इधर दक्षिण हिन्दुस्तान के लोग विशाल समुद्रों को पार करके दूर-दूर जगहों पर बस्तियाँ और शहर बसा रहे थे, उधर उत्तर हिन्दुस्तान में अजीब हलचल मची हुई थी। कुशान साम्राज्य की ताक़त और महानता ख़तम हो चुकी थी; वह दिन-दिन छोटा होता और मिटता जा रहा था। सारे उत्तर में छोटे-छोटे राज्य हो गये थे, जिनपर ज्यादातर शक और सीदियन या तुर्की वंश के लोग राज्य करते थे। ये लोग हिन्दुस्तान में उत्तर-पश्चिमी सरहद से आये थे। मैंने तुम्हें बताया है कि ये लोग बौद्ध थे और हिन्दुस्तान में शत्रु के रूप में हमला करने नहीं बल्कि बसने आये थे। मध्य एशिया के दूसरे कबीले, जिनको चीनी राज्य आगे बढ़ने को दबा रहा था, पीछे से इनको धकेल रहे थे। हिन्दुस्तान में इन लोगों ने ज्यादातर भारतीय आर्यों के आचार-विचार और रंग-ढंग को अपना लिया। ये लोग हिन्दुस्तान को अपनी सभ्यता, संस्कृति और धर्म की जननी मानते थे। कुशान लोगों ने भी बहुत दूर तक भारतीय आर्य-परम्परा का अनुसरण किया था। यही वजह थी कि वे बहुत दिनों तक हिन्दुस्तान में ठहर सके और उसके बडे-बडे हिस्सों पर राज्य कर सके। वे भारतीय आर्यों की तरह आचरण करने की कोशिश करते थे। वे चाहते थे कि इस देश के लोग यह भूल जायँ कि वे विदेशी हैं। कुछ हद तक उनको इसमें कामयाबी भी हुई, लेकिन पूरी नहीं। क्षत्रियों के दिल में यह बात ख़ास तौर पर खटकती थी कि विदेशी लोग उनके ऊपर राज्य कर रहे हैं। इस विदेशी राज्य की मातहती में रहकर वे तिलमिला उठे थे। इस तरह हलचल बढ़ी और लोगों में क्षोभ पैदा होने लगा। अन्त में इन लोगों को एक क़ाबिल नेता मिल गया और उसके झण्डे के नीचे इन्होंने आर्यावर्त्त को आज़ाद करने का एक जिहाद—धर्मयुद्ध आरम्भ कर दिया।

इस नेता का नाम चन्द्रगुप्त था। इस चन्द्रगुप्त को वह दूसरा चन्द्रगुप्त न समझना, जो अशोक का दादा था। इस आदमी का मौर्य्य वंश से कोई ताल्लुक नहीं था। वह पाटलिपुत्र का एक छोटा राजा था। उस समय तक अशोक के वंशज रंगमंच

से ग़ायब हो चुके थे। तुम्हें याद रखना चाहिए कि इस समय हम ईसवी सन् की चौथी सदी की शुरूआत में, यानी ई० सन् ३०८ में, पहुँच गये हैं। यह अशोक की मृत्यु के ५३४ बरस बाद की बात है।

चन्द्रगुप्त महत्वाकांक्षी और समर्थ राजा था। वह उत्तर के दूसरे आर्य्य राजाओं को अपनी तरफ़ मिलाने में और उनकी सहायता से एक संघ शासन क़ायम करने में लग गया। मशहूर और शक्तिशाली लिच्छवी जाति की कुमारी देवी से उसने अपना विवाह किया, और इस प्रकार उसने इस जाति की सहायता प्राप्त करली। इस प्रकार होशियारी के साथ जमीन तैयार कर लेने के बाद चन्द्रगुप्त ने हिन्दुस्तान के सारे विदेशी शासकों के ख़िलाफ़ जिहाद की घोषणा करदी। क्षत्रिय और आर्य जाति के ऊँचे वर्ग के लोग, जिनसे विदेशियों ने अधिकार और ऊँचे पद छीन लिये थे, इस लड़ाई के पीछे थे। बारह बरस की लड़ाई के बाद चन्द्रगुप्त ने उत्तरी हिन्दुस्तान के एक हिस्से पर क़ब्ज़ा कर लिया, जिसमें वह हिस्सा भी शामिल था, जिसे आजकल युक्तप्रान्त कहते हैं। इसके बाद वह राजराजेश्वर की पदवी के साथ तख़्त पर बैठ गया।

इस तरह गुप्त राजवंश की शुरूआत हुई। यह दो सौ वर्ष तक क़ायम रहा। इसके बाद हूणों ने आकर इनको परेशान करना शुरू किया। यह ज़माना कट्टर हिन्दुत्व और राष्ट्रवाद का था। विदेशी शासक तुर्की, पार्थियन और दूसरे अनार्य जड़ से उखाड़ दिये गये थे और निकाल बाहर किये गये थे। इस प्रकार यहाँ हम जातीय विद्वेष को फैलता हुआ देखते हैं। उच्चवर्ग के भारतीय आर्य लोग अपनी क़ौम पर अभिमान करते थे और 'बर्बरों' और 'म्लेच्छों' को नफ़रत की निगाह से देखते थे। गुप्तों ने जिन भारतीय आर्य राज्यों को जीता, उनके साथ रिआयत की; लेकिन अनार्यों के साथ कोई रिआयत नहीं की गई।

चन्द्रगुप्त का लड़का समुद्रगुप्त अपने बाप से भी ज्यादा लडवैया था। वह बहुत बड़ा सेनापति था, और जब वह सम्राट हुआ तो उसनें सारे देश में, यहां तक कि दक्षिण में भी, सबको जीत कर अपनी विजय-पताका फहराई। इसने गुप्त साम्राज्य को इतना बढ़ाया कि वह हिन्दुस्तान के बहुत बडे हिस्से में फैल गया। लेकिन दक्षिण में इसकी हुकूमत नाम-मात्र की थी। उत्तर में उसने कुशान लोगों को हटाकर सिन्ध नदी के उस पार खदेड़ दिया था।

तुम्हें यह बात दिलचस्प मालूम होगी कि उस वक्त एक कवि ने समुद्रगुप्त की विजय को संस्कृत श्लोकों में बयान किया है और ये श्लोक अशोक के स्तम्भ पर, जो इलाहाबाद में है, खोदे गये थे।

समुद्रगुप्त का लड़का चन्द्रगुप्त द्वितीय भी एक बहादुर राजा था और उसने काठियावाड़ और गुजरात को जीत लिया, जो बहुत दिनों से एक शक या तुर्की राजवंश के शासन में चले आ रहे थे। इसने अपना नाम विक्रमादित्य रक्खा और इसी नाम से वह मशहूर है। लेकिन यह नाम भी, सीजर की तरह, बहुत से राजाओं के लिए उपाधि हो गया, इसलिए भ्रम पैदा करता है।

क्या तुम्हें दिल्ली में कुतुबमीनार के पास एक बहुत बड़ी लोहे की लाट (खंभे) की याद है ? कहा जाता है कि विक्रमादित्य ने इस लाट को विजय-स्तम्भ के रूप में बनवाया था। यह लाट कारीगरी का एक बढ़िया नमूना है। इसकी चोटी पर एक कमल का फूल है, जो गुप्त साम्राज्य का चिन्ह था।

गुप्त-युग हिन्दुस्तान में हिन्दू चक्रवर्ती राज्य का युग है। इस जमाने में पुरानी आर्य-सभ्यता और संस्कृत विद्या का व्यापक रूप से पुनरुत्थान हुआ। यूनानी और मंगोलियन संस्कारों को, जो हिन्दुस्तानी जिन्दगी और संस्कृति में यूनानियों, कुशान और दूसरी जातियों के जरिये आगये थे, जरा भी प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था, बल्कि, असलियत तो यह है कि, भारतीय आर्य सिद्धान्तों पर जोर दिया जाता और विदेशी संस्कारों को दबाया जाता था। संस्कृत राज-भाषा थी; लेकिन उन दिनों संस्कृत जनता की आम जबान नहीं रह गई थी। बोलने की जबान एक तरह से प्राकृत थी, जो संस्कृत से बहुत मिलती-जुलती थी। हालाँकि संस्कृत उस जमाने की लोक-भाषा नहीं थी, फिर भी काफ़ी प्रचलित थी। उसी समय में संस्कृत कविता, नाटक और भारतीय आर्य कलाओं का ख़ूब विकास हुआ। उस महान् युग के बाद, जिसमें वेद और रामायण-महाभारत लिखे गये, संस्कृत साहित्य के इतिहास में शायद यही जमाना है, जिसे सबसे ज्यादा सम्पन्न कह सकते हैं। महान् कवि कालिदास इसी जमाने में हुए। बदक़िस्मती से हममें से बहुत से लोग (और मैं भी उनमें से एक हूँ) ज्यादा संस्कृत नहीं जानते और इसलिए अपनी इस अनमोल विरासत से महरूम हैं। मुझे उम्मीद है कि तुम इससे फ़ायदा उठाओगी।

विक्रमादित्य का दरबार बहुत शानदार था, और इसमें उस युग के बड़े-बड़े लेखक और कलाकार इकट्ठा होते थे। क्या तुमने उसके दरबार के नव-रत्नों के बारे में नहीं सुना है ? कालिदास उन नव-रत्नों में से एक थे।

समुद्रगुप्त अपने साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र से अयोध्या ले गया। शायद उसका यह ख़याल था कि उसके ऐसे कट्टर भारतीय आर्य दृष्टिकोण रखनेवाले राजा के लिए अयोध्या, जिसे महाकवि वाल्मीकि ने अपने महाकाव्य में अपनी अमर राम-कथा के साथ मिला दिया है, एक ज्यादा मुनासिब जगह होगी। गुप्तों द्वारा किया

जानेवाला आर्य-सभ्यता एवं हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान बौद्ध धर्म के प्रति स्वभावतः उदार न था । इसकी एक वजह यह थी कि यह आन्दोलन, एक हद तक, ऊँचे वर्ग का था । क्षत्रिय सरदार इसके पीछे थे, और बौद्ध-धर्म में लोक-तन्त्र की भावना अधिक थी । दूसरा कारण यह था कि बौद्ध-धर्म का महायान सम्प्रदाय के कुशान और उत्तर भारत के दूसरे विदेशी शासकों से घनिष्ट सम्बन्ध था । लेकिन बौद्ध धर्म पर कोई ज़ुल्म नहीं किया गया । बौद्ध विहार क़ायम रहे, और ये ही उस ज़माने की बडी-बडी शिक्षा संस्थायें थीं । गुप्तों का सीलोन के राजाओं के साथ मित्रता का सम्बन्ध था और सीलोन में बौद्ध धर्म ख़ूब फैला हुआ था । सीलोन के राजा मेघवर्ण ने समुद्रगुप्त के पास क़ीमती उपहार भेजे और उसने सिंहाली छात्रों के लिए गया में एक विहार भी बनवाया था ।

लेकिन भारत में बौद्ध धर्म का ह्रास होने लगा । यह ह्रास, जैसा मैंने तुमको पहले बताया है, इसलिए नहीं हुआ था कि ब्राह्मणों ने, या उस ज़माने की सरकार ने उसके ऊपर कोई बाहरी दबाव डाला, बल्कि इसलिए कि हिन्दू धर्म में उसे धीरे-धीरे हज़म कर लेने की ताक़त थी ।

इसी ज़माने में चीन का एक मशहूर यात्री हिन्दुस्तान में आया । ह्यूएनत्सांग नहीं, जिसके बारे में मैं तुमको लिख चुका हूँ । इसका नाम फ़ाहियान था । यह हिन्दुस्तान में, बौद्ध की हैसियत से, बौद्ध धर्म की पुस्तकों की तलाश में आया था । उसने लिखा है कि मगध के लोग ख़ुशहाल और सुखी थे; न्याय में उदारता थी और मौत की सज़ा नहीं दी जाती थी । गया वीरान और उजड़ा हुआ था; कपिलवस्तु जंगल हो चुका था; लेकिन पाटलिपुत्र के लोग अमीर, ख़ुशहाल और सदाचारी थे । कई बडे-बडे समृद्धिशाली बौद्ध विहार थे । खास-ख़ास सड़कों पर धर्मशालायें थीं, जहाँ मुसाफ़िर ठहर सकते थे और जहां सरकारी ख़र्च से खाना दिया जाता था । बडे नगरों में ख़ैराती दवाख़ाने थे ।

हिन्दुस्तान में भ्रमण करने के बाद फ़ाहियान सीलोन गया और वहां उसने दो बरस बिताये । लेकिन उसके एक साथी पर, जिसका नाम ताओ-चिंग था, बौद्ध भिक्षुकों की शुद्धता का इतना असर पड़ा और हिन्दुस्तान उसे इतना पसन्द आया कि उसने यहीं रहने का निश्चय कर लिया । फ़ाहियान तो जहाज़ से सीलोन से चीन चला गया, और कई साल की ग़ैरहाज़िरी के बाद, और बहुत सी घटनाओं का मुकाबिला करके, अपने घर पहुँचा ।

चन्द्रगुप्त द्वितीय या विक्रमादित्य ने तेईस बरस राज्य किया । उसके बाद ४५३ ईसवी में स्कन्दगुप्त गद्दी पर बैठा । इसे एक नई आफ़त का सामना करना

पड़ा, जिसने अन्त में, महान् गुप्त साम्राज्य की कमर तोड़ दी । लेकिन इसके बारे में मैं अपने अगले खत में लिखूँगा ।

अजन्ता की गुफाओं की दीवारों पर बने हुए कई बढ़िया चित्र (Frescoes) और बडे-बडे कमरे तथा मंदिर गुप्त कला के नमूने हैं । जब तुम उन्हें देखोगी तो तुम्हें पता चलेगा कि ये कितने अद्भुत हैं । बदक़िस्मती से ये चित्र धीरे-धीरे मिट रहे हैं, क्योंकि बहुत दिनों तक ये धूप, बारिश वग़ैरा में खुले रहतेहुए क़ायम नहीं रह सकते ।

तुमको यह बात दिलचस्प मालूम होगी कि गुप्त सम्राटों की पत्नियों की उपाधि 'महादेवी' थी । इस प्रकार चन्द्रगुप्त की रानी महादेवी कुमारीदेवी कहलाती थीं ।

अब यह सवाल उठता है कि जब गुप्त लोग हिन्दुस्तान में राज्य करते थे, तो दुनिया के दूसरे हिस्सों में क्या हो रहा था ? चन्द्रगुप्त प्रथम कुस्तुन्तुनिया को बसानेवाले रोमन सम्राट कान्स्टेन्टाइन का समकालीन था । उत्तरकाल के गुप्त राजाओं के ज़माने में रोमन साम्राज्य पूर्वी और पश्चिमी हिस्सों में बंट चुका था और पश्चिमी साम्राज्य को उत्तर के बर्बरों ने नष्ट कर दिया था । इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस वक्त रोमन साम्राज्य कमज़ोर पड़ रहा था, भारत में एक बहुत ताक़तवर राज्य मौजूद था, जिसके बडे-बडे सेनापति थे और जिसकी फौजें बडी शक्तिशाली थीं । समुद्रगुप्त को प्रायः हिन्दुस्तान का 'नेपोलियन' कहते हैं । लेकिन महत्वाकांक्षी होते हुए भी उसने भारत की सीमाओं के बाहर जाकर विजय प्राप्त करने की कोशिश नहीं की ।

गुप्त युग ज़ोरदार चक्रवर्तित्व और विजय का ज़माना था । लेकिन हरेक मुल्क के इतिहास में इस तरह के साम्राज्य युग अनेक बार आते हैं । और समय की लम्बी दौड़ में इनका कुछ ज्यादा महत्व नहीं रह जाता । गुप्त युग की विशेषता, जिसके कारण वह भारत में कुछ गौरव के साथ याद किया जाता है, इस बात में है कि उसम कला और साहित्य का विस्मयकारी पुनरुत्थान हुआ ।

: ३८ :

हूणों का हिन्दुस्तान में आना

४ मई, १९३२

नई आफ़त जो उत्तर-पश्चिम के पहाडों के उस पार से भारत पर आई वह हूणों की आफ़त थी । मैंने अपने पिछले ख़त में रोमन साम्राज्य का ज़िक्र करते हुए हूणों के बारे में लिखा था । योरप में उनका सबसे बड़ा नेता एटिला था, जो कई

सालों तक रोम और कुस्तुन्तुनिया में दहशत पैदा करता रहा। इन्हीं कबीलों के सजातीय हूण, जो सफेद हूण के नाम से मशहूर थे, क़रीब-क़रीब उसी समय हिन्दुस्तान में आये थे। ये लोग भी मध्य एशिया के ख़ानाबदोश थे। बहुत दिनों से वे हिन्दुस्तान की सरहदों पर मँडरा रहे थे और लोगों को सता रहे थे। जैसे जैसे उनकी तादाद बढ़ती गई, और शायद पीछे से और कबीले भी उन्हें खदेड़ रहे थे, उन्होंने नियमित रूप से हमले करने शुरू कर दिये।

स्कन्दगुप्त को, जो गुप्तवंश का पाँचवाँ राजा था, हूणों के हमले का सामना करना पड़ा। उसने उन्हें हराकर पीछे ढकेल दिया। लेकिन बारह वर्ष बाद फिर वे आ पहुँचे। धीरे-धीरे वे गन्धार और उत्तरी हिन्दुस्तान में फैल गये। उन्होंने बौद्धों को तरह-तरह की तकलीफें दीं और उनपर कई तरह के अत्याचार किये।

बरसों तक उनके ख़िलाफ़ लड़ाई होती रही होगी, लेकिन गुप्त-राजा उन्हें देश से निकाल न सके। हूणों की नई जमातें हिन्दुस्तान में बढ़ती चली आई और मध्यभारत तक में फैल गई। उनका मुखिया तोरमान राजा बन बैठा। वह बहुत बुरा था, लेकिन उसके बाद उसका लड़का मिहिरगुल आया। वह तो बिलकुल जंगली और राक्षस की तरह बेरहम था। कल्हण ने अपने कश्मीर के इतिहास 'राजतरंगिणी' में लिखा है कि मिहिरगुल का एक ख़ास दिल बहलाव यह था कि वह ऊँचे कगारों से हाथियों को खड्ड में ढकेलवा दिया करता था। अन्त में उसकी ज्यादतियों से आर्यवर्त्त उत्तेजित हो उठा। गुप्त-वंश के बालादित्य और मध्य हिन्दुस्तान के राजा यशोधर्मन के नेतृत्व में आर्यों ने हूणों को हराया और मिहिरगुल को गिरफ्तार कर लिया। लेकिन बालादित्य हूणों की तरह निर्दयी नहीं था। वह बहादुर था। उसने मिहिरगुल के साथ उदारता का व्यवहार किया। उसकी जान बख़्श दी और उसे देश के बाहर चले जाने को कह दिया। मिहिरगुल जाकर काश्मीर में छिपा रहा और बाद को उसने बालादित्य पर, जिसने उसके साथ इतना अच्छा सलूक किया था, धोखे से हमला कर दिया।

लेकिन हिन्दुस्तान में हूणों की ताक़त बहुत जल्द नष्ट हो गई। फिर भी हूणों की बहुत-सी सन्तति हिन्दुस्तान में रह गई और धीरे-धीरे आर्यों की आबादी में मिल गई। यह मुमकिन है कि मध्यभारत और राजपूताने की कुछ राजपूत जातियों में इन सफेद हूणों के खून का कुछ अंश हो।

हूणों ने उत्तरी हिन्दुस्तान में बहुत थोड़े वक़्त तक—५० साल से भी कम राज्य किया। इसके बाद वे शान्ति के साथ बस गये। लेकिन हूणों की लड़ाई और उनकी भयंकरता का हिदुस्तान के आर्यों पर बहुत असर पड़ा। हूणों की जीवनचर्या

और राज्य करने के तरीक़े आर्यों से बिल्कुल जुदे थे। आर्य जाति उस समय तक भी आज़ादी की प्रेमी थी। उनके राजाओं तक को रिआया की मर्ज़ी के सामने झुकना पड़ता था। उनकी देहाती पंचायतों के हाथ में बड़ी ताक़त थी। लेकिन हूणों के आने से, और हिंदुस्तानियों के साथ मिल जाने से, आर्यों के रहन-सहन में फ़रक आगया और वे कुछ नीचे गिर गये।

बालादित्य महान गुप्तवंश का अन्तिम राजा था। ई० सन् ५३० में उसकी मृत्यु हुई। यह एक दिलचस्प और ग़ौर करने लायक़ बात है कि शुद्ध हिंदू वंश का एक सम्राट बौद्ध-धर्म की ओर आकर्षित हुआ। उसका गुरु एक बौद्ध भिक्षु था। गुप्त काल कृष्ण की पूजा के फिर से प्रचलित होने के लिए मशहूर है। लेकिन इतने पर भी बौद्ध धर्म के साथ हिन्दुओं का कोई ख़ास झगड़ा न था।

हम फिर देखते हैं कि गुप्त राज्य के २०० साल बाद उत्तरी हिन्दुस्तान में कई रियासतें बन गईं, जो किसी एक केन्द्रीय राज्य के मातहत न थीं। हाँ, दक्षिणी भारत में एक बहुत बड़े राज्य का विकास होने लगा। पुलकेशिन नाम के एक राजा ने, जो रामचन्द्र का वंशज होने का दावा करता था, दक्षिण मे एक साम्राज्य क़ायम किया, जो चालुक्य साम्राज्य के नाम से मशहूर है। पूर्वी द्वीप-समूहों के हिन्दुस्तानी बाशिंदों के साथ इन दक्षिणवालों का ज़रूर ही घनिष्ट संबंध रहा होगा और हिंदुस्तान तथा इन टापुओं के बीच बराबर आवागमन और तिजारत भी होती रही होगी। हमें यह भी पता चलता है कि हिन्दुस्तानी जहाज़ अक्सर ईरान को माल भरकर ले जाया करते थे। चालुक्य और ईरान के सासानी राजा एक-दूसरे के यहाँ दूत भी भेजा करते थे। ईरान के महान् सम्राट ख़ुसरो द्वितीय के ज़माने में यह दूत-प्रथा अच्छी तरह चली।

: ३९ :

विदेशी बाज़ारों पर हिन्दुस्तान का क़ब्ज़ा

५ मई, १९३२

इस प्रकार हम देखते हैं कि इतिहास के इस प्राचीन युग में, जिस पर हम ग़ौर कर रहे हैं, शुरू से अन्त तक, एक हज़ार वर्षों से भी ज्यादा समय तक, पश्चिम में योरप और पश्चिमी एशिया और पूर्व में ठेठ चीन तक हिन्दुस्तान का व्यापार ख़ूब फैला हुआ था। ऐसा क्यों था ? सिर्फ़ इसलिए नहीं कि उस ज़माने में हिन्दुस्तानी बड़े अच्छे नाविक या कारीगर थे, हालांकि इन बातों में उनके श्रेष्ठ होने

में कोई शक नहीं था। इसकी वजह यह भी नहीं थी कि वे बडे होशियार कारीगर थे हालांकि उनकी कारीगरी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। इन सब बातों ने मदद जरूर दी, लेकिन हिन्दुस्तान ने दूर-दूर के बाजारों पर जो कब्जा जमाया था, उसकी खास वजह यह थी कि उसने रसायन शास्त्र (केमेस्ट्री), खासकर रंगसाजी, में बडी तरक्की कर ली थी। उस जमाने के हिन्दुस्तानियों ने कपडे रंगने के पक्के रंग तैयार करने के खास तरीक़े ढूंढ़ निकाले थे। उन्हें नील (इंडिगो) के पौधे से भी रंग बनाने का खास तरीक़ा मालूम था। तुम देखोगी कि इंडिगो (नील) नाम ही इंडिया (हिन्दुस्तान) से निकला है। यह भी मुमकिन है कि लोहे को अच्छी तरह तपाने और उसके अच्छे औजार बनाने की विद्या भी पुराने हिन्दुस्तानियों को मालूम थी। तुम्हें याद होगा, कि मैंने तुम्हें बताया था, कि सिकन्दर के हमलों की पुरानी ईरानी कहानियों में जहाँ-कहीं अच्छी तलवार या कटार का जिक्र आया है, वहाँ यह भी कह दिया गया है कि वह हिन्दुस्तान से आई थी।)

चूंकि हिन्दुस्तान दूसरे देशों के मुक़ाबिले में इन रंगों और दूसरी चीजों को ज्यादा अच्छी तरह बना सकता था, इसलिए यह एक स्वाभाविक बात थी कि वह दुनिया के बाजारों पर कब्जा करले। जिस आदमी या मुल्क को दूसरे आदमी या मुल्क़ की बनिस्बत बढ़िया औजार या किसी चीज को बनाने का अच्छा और सस्ता तरीक़ा मालूम है, वह आख़िर में दूसरे मुल्क़ को, जिसके पास न उतने अच्छे औजार हैं, और न जिसे किसी चीज को बनाने का उतना अच्छा तरीक़ा ही मालूम है, बाजार से निकाल देगा। और यही वजह है कि पिछले दो सौ बरसों में योरप एशिया के मुकाबिले में इतना आगे बढ़ गया है। नई खोजों और आविष्कारों ने योरप को नये-नये और शक्तिमान अस्त्र दिये हैं और चीजों के बनाने के नये तरीकों की जानकारी करादी है। इनकी मदद से उसनें दुनिया के बाजारों पर क़ब्जा कर लिया और धनी तथा ताक़तवर हो गया। और भी दूसरे कारण थे जिन्होंने उसे मदद पहुँचाई। लेकिन इस वक़्त तो मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि तुम ग़ौर करो कि औजार कितनी जरूरी और क़द्र की चीज है। एक बार एक बडे आदमी ने कहा था कि आदमी एक औजार बनानेवाला प्राणी है। और पुराने जमाने से आज तक का मनुष्य जाति का इतिहास ज्यादा से ज्यादा कारगर औजार बनाने का इतिहास है। प्रस्तर युग के पत्थर के तीर और हथौडों से लेकर आज की रेलों, भाप के इंजनों और भारी मशीनों को देखो। सच तो यह है कि जो कुछ भी हम करते हैं उसमें औजारों की जरूरत पड़ती है। औजारों के बिना हमारी हालत क्या होगी ?

औजार एक अच्छी चीज है। इससे काम हल्का हो जाता है। लेकिन औजार

का बुरा इस्तैमाल भी किया जा सकता है। रेती या आरी एक अच्छी और काम की चीज़ है, लेकिन एक नादान बच्चा उससे अपनेको नुक़सान पहुँचा सकता है। चाक़ू एक बहुत जरूरी और काम की चीज़ है। हर स्काउट को चाक़ू रखना चाहिए। फिर भी एक बेवक़ूफ़ आदमी इसी चाक़ू से दूसरे की जान ले सकता है। इसमें बेचारे चाक़ू का क्या दोष है ? क़सूर तो उस आदमी का है, जिसने चाक़ू का ग़लत इस्तैमाल किया।

इसी तरह, ख़ुद अच्छी होते हुए भी, आधुनिक मशीनों का दुरुपयोग किया गया है, और आज भी किया जा रहा है। लोगों के काम के बोझ को हलका करने के बजाय मशीनों ने अक्सर उनकी ज़िन्दगी को पहले से भी ज्यादा बुरा बना दिया है। लाखों आदमियों को आराम और सुख पहुँचाने के बजाय, जैसाकि उसे असल में करना चाहिए था, उसने बहुतों को उलटे मुसीबत में डाल दिया है। सरकारों के हाथ में उसने इतनी ज्यादा ताक़त देदी है कि वे अपने युद्धों में लाखों का क़त्ल कर सकती हैं।

लेकिन इसमें मशीन का क़सूर नहीं, बल्कि उसके बुरे इस्तैमाल का दोष है। अगर बडी-बडी मशीनों का नियंत्रण ग़ैर-जिम्मेदार लोगों के हाथों में न रहे, जो उससे सिर्फ़ अपने लिए रुपया पैदा करना चाहते हैं, बल्कि जनता के द्वारा और उनकी भलाई के लिए उनको काम में लाया जाय तो बहुत बड़ा फ़र्क पड़ जायगा।

इस तरह उन दिनों, आजकल की दशा के विपरीत, हिन्दुस्तान माल तैयार करने के तरीक़ों में सारी दुनिया से आगे था। इसीलिए हिन्दुस्तानी कपडे, हिन्दुस्तानी रंग और दूसरी चीज़ें दूर के मुल्कों में जाती थीं और वहाँ उनकी बड़ी मांग थी। इस व्यापार के अलावा दक्षिण भारत मिर्च और दूसरे मसाले बाहर भेजता था। ये मसाले पूर्व के टापुओं से भी आते थे और हिन्दुस्तान से होकर पश्चिम को जाते थे। रोम और पश्चिम में मिर्च की बडी क़द्र और मांग थी। कहा जाता है कि एलैरिक, जो गोथ जाति का सरदार था, और जिसने ई० सन् ४१० में रोम पर अधिकार कर लिया था, ३०० पौंड मिर्च वहाँ से ले गया। यह सब मिर्च या तो हिन्दुस्तान से या हिन्दुस्तान से होकर रोम में गई होगी।

: ४० :

देशों और सभ्यताओं का उत्थान-पतन

६ मई, १९३२

चीन से अलग हुए अब हमें बहुत दिन हो गये। आओ, हम फिर वहाँ लौट चलें, और अपने क़िस्से को आगे बढ़ावें और यह देखें कि, जब पश्चिम में रोम गिर

धीरे एक नई सभ्यता और एक नई संस्कृति को जन्म देते हैं। उन्होंने रोम से बहुत कुछ सीखा; बहुत-सी बातें उन्होंने पुरानी दुनिया से लीं। लेकिन सीखने का यह सिल-सिला मुश्किल और मेहनत का था। सैंकडों बरसों तक मालूम होता था कि योरप में सभ्यता और संस्कृति कहीं सोने चली गई है। अज्ञान और कट्टरता का अन्धकार छा गया था। इसीलिए इन सदियों को 'अंधकार का युग' भी कहते हैं।

इसकी वजह क्या थी ? दुनिया पीछे की ओर क्यों लौटे, और सदियों की कडी मेहनत से इकट्ठा किया हुआ ज्ञान क्यों ग़ायब हो जाय या भूल जाय ? ये बडे-बडे सवाल हैं, जो हममें से बडे-बडे बुद्धिमानों को भी चक्कर में डाल देते हैं। मैं उनका जवाब देने की कोशिश नहीं करूँगा। क्या यह ताज्जुब की बात नहीं है कि हिन्दुस्तान का, जो कभी ज्ञान और कार्य में इतना ऊँचा उठा हुआ था, इतनी बुरी तरह पतन हो जाय, और वह लम्बे युगों तक ग़ुलाम बना रहे ? या चीन, जिसका पुराना इतिहास इतना गौरवपूर्ण है, कभी ख़त्म न होने वाले लडाई-झगडों का शिकार हो जाय ? शायद युगों का ज्ञान, जिसे आदमी थोड़ा-थोड़ा करके इकट्ठा करता है, एक साथ ग़ायब नहीं हो सकता। लेकिन कभी-कभी हमारी आँखें बन्द हो जाती हैं, और हम कुछ भी नहीं देख सकते। खिड़की बन्द हो जाती है और अँधेरा छा जाता है। लेकिन बाहर और हमारे चारों तरफ़ रोशनी तब भी रहती है। और अगर हम अपनी आँखों को या खिड़कियों को बन्द करलें तो इसका मतलब यह नहीं कि रोशनी ही ग़ायब हो गई।

कुछ लोगों का कहना है कि योरप में जो अन्धकार का युग आया था उसका कारण ईसाई धर्म था——ईसा का धर्म नहीं, बल्कि वह राजकीय ईसाई मत जो योरप में रोमन सम्राट कांस्टेण्टाइन के ईसाई होजाने पर फैल गया था। इन लोगों का कहना है कि चौथी सदी में कांस्टेण्टाइन के ईसाई मत इख़्तियार कर लेने से एक सहस्रवार्षिक नया ज़माना शुरू हुआ, "जिसमें विवेक जंजीरों से जकड़ा रहा; विचार ग़ुलाम बन गया और विद्या ने कोई तरक्क़ी नहीं की।" इसकी वजह से न सिर्फ़ ज़ुल्म, कट्टरता और असहिष्णुता ने ही जोर पकड़ा, बल्कि इसने लोगों के लिए विज्ञान या ज़िन्दगी के और रास्तों में आगे बढ़ना मुश्किल कर दिया। धार्मिक किताबें अक्सर आगे बढ़ने में रुकावट डालती हैं। वे हमें बताती हैं कि जिस ज़माने में वे लिखी गई थीं, उसमें दुनिया कैसी थी। वे हमें उस ज़माने के भाव और रस्म रिवाजों के बारे में बताती हैं। कोई हिम्मत नहीं कर सकता कि वह उन भावों और रस्म-रिवाजों के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाये, क्योंकि वे एक पाक किताब में लिखी है। हालांकि दुनिया बिलकुल बदल जाती है; लेकिन हमें उन भावों और उन रस्म-रिवाजों

को बदली हुई हालत के मुताबिक़ बनाने का हक़ नहीं। इसका नतीजा यह होता है कि हम ज़माने के लिए बेकार हो जाते हैं, और तभी मुसीबतें भी पैदा होने लगती हैं।

इसलिए कुछ लोग योरप में अन्धकार-युग लाने के लिए ईसाई मत को ज़िम्मेदार ठहराते हैं। दूसरे लोग हमसे यह कहते हैं कि उस अन्धकार-युग में ईसाई मत और ईसाई पादरी और मुल्ले ही थे, जिन्होंने इल्म की रोशनी को जलाये रखा। उन्होंने कला और चित्रकारी का काम जारी रखा, बेशक़ीमती किताबों की रक्षा की और उनकी नक़लें कराईं।

इस तरह से लोग तर्क करते हैं। शायद दोनों की बातें ठीक हैं। लेकिन यह कहना कि रोम के पतन के बाद जितनी मुसीबतें आईं उन सबकी वजह ईसाई मत है, एक हँसी की बात होगी। सच तो यह है कि रोम ख़ुद उन बुराइयों की वजह से गिर गया।

लेकिन मैं बहुत दूर चला गया। मैं जो बात तुम्हें बताना चाहता था, वह यह है, कि जहाँ योरप में अचानक सामाजिक पतन हो गया, और जहाँ अचानक इतना फ़र्क़ पड़ गया, वहां चीन या हिन्दुस्तान में इस तरह का कोई अचानक फ़र्क़ नहीं आया। योरप में हम एक सभ्यता का अन्त और दूसरी सभ्यता की शुरूआत देखते हैं, जो धीरे-धीरे बढ़कर आज की सभ्यता की शक्ल को पहुंच गई है। चीन में भी हम इसी तरह ऊंचे क़िस्म की सभ्यता और संस्कृति को बिना बीच में टूटे जारी रहते पाते हैं। अच्छे और बुरे ज़माने तो आया-जाया करते ही हैं। अच्छे ज़माने और बुरे राजे-महाराजे आते और जाते रहते हैं; राजवंश बदला करता है, लेकिन जो संस्कृति पहले से चली आती है, वह नहीं टूटती। जब चीन कई राज्यों में छिन्न-भिन्न होगया और आपस में लड़ता-भिड़ता रहा, उस समय भी वहाँ कला और साहित्य फूलते-फलते रहे। उस समय भी अच्छी और सुन्दर तस्वीरों का चित्रण होता रहा; सुन्दर कलश और अच्छी इमारतें बनती रहीं। छपाई का इस्तैमाल होने लगा। चाय पीने का फ़ैशन शुरू हुआ और कविता में उसका वर्णन किया गया। इस प्रकार चीन में हमें एक अटूट शालीनता और कारीगरी दिखाई देती है, जो एक ऊंची सभ्यता में ही मिल सकती है।

यही हालत हिन्दुस्तान में थी। यहाँ भी रोम की तरह कोई अचानक फ़र्क नहीं आया। यह ठीक है कि यहाँ भी अच्छे और बुरे दिन आये; ऊंचे क़िस्म के साहित्य और कला की रचना के ज़माने आये और साथ ही साथ विनाश और बरबादी के ज़माने भी आये; लेकिन यहाँ की सभ्यता एक रफ़्तार से जारी रही और हिन्दुस्तान

से पूर्व के दूसरे देशों में भी फैल गई। उसने उन जंगलियों को भी सबक़ सिखाया और अपने में मिला लिया, जो इसे लूटने आये थे।

यह न सोचो कि मैं हिन्दुस्तान या चीन की बड़ाई पश्चिम को नीचा दिखा-दिखाकर कर रहा हूँ। आज दिन हिन्दुस्तान या चीन की हालत में कोई ऐसी बात नहीं है, जिसको लेकर कोई शान बघारता फिरे। यह अन्धे भी देख सकते हैं कि अपने प्राचीन गौरव के होते हुए भी आज वे दुनिया की जातियों के मुक़ाबिले में बहुत नीचे डूब गये हैं। अगर उनकी पुरानी सभ्यता की धारा एकाएक टूट नहीं गई है, तो इससे यह न समझना चाहिए कि इसमें कोई बुरे परिवर्त्तन भी नहीं हुए। अगर हम पहले ऊपर थे और आज नीचे हैं, तो यह साफ़ है, कि हम दुनिया की नीची सतह पर उतर आये हैं। हम अपनी सभ्यता की धारा अटूट रहने पर खुश हो सकते हैं, लेकिन जब वह सभ्यता ही पककर ख़त्म होगई, तो इससे हमें अब क्या सन्तोष हो सकता है? इससे तो यही अच्छा हुआ होता कि प्राचीनता से एकाएक हमारा सम्बन्ध टूट जाता। इससे हम जड़ से हिल जाते, और हममें नई ज़िन्दगी और नई ताक़त आजाती। आज दिन हिन्दुस्तान और दुनिया में जो घटनायें घट रही हैं, वे हमारे पुराने देश को हिला रही हैं, और उसे फिर जवानी और नई ज़िन्दगी से भर रही हैं।

मालूम होता है कि पुराने ज़माने में हिन्दुस्तान में जो ताक़त और सहन-शक्ति थी, उसकी वजह ग्राम-प्रजातंत्र या स्वतंत्र पंचायतें थीं। आजकल की तरह उन दिनों बड़े-बड़े ज़मींदार, ताल्लुक़ेदार नहीं होते थे। ज़मीन या तो देहाती पंचायतों की या उसपर काम करनेवाले किसानों की हुआ करती थी, और इन पंचायतों के हाथ में बड़ी ताक़तें और अधिकार होते थे। इन पंचायतों को गाँव के लोग चुनते रहे होंगे और इस तरह प्रजातंत्र-प्रणाली पर उनकी नींव उठी हुई थी। राजा आते थे और चले जाते थे; वे एक-दूसरे से लड़ते भी थे; लेकिन उन्होंने इन ग्राम-संस्थाओं पर कभी हाथ नहीं डाला, और न उनके काम या अधिकार में कभी दख़ल ही दिया। उन्होंने इन पंचायतों की आज़ादी छीनने की कभी कोशिश नहीं की, और इस तरह जब साम्राज्यों का उलट-फेर होता रहा, तब भी इस ग्राम-संस्था पर खड़ी हुई समाज-व्यवस्था बिना रद्दोबदल के जारी रही। सम्भव है, लड़ाइयों और राजाओं के बदलने की कहानियाँ हमको भ्रम में डालदें, और हम यह सोचने लगें कि इन घटनाओं का असर तमाम जनता पर पड़ा होगा। इसमें कोई शक नहीं कि जनता पर, ख़ासकर उत्तरी हिंदुस्तान पर, कभी-कभी इनका असर पड़ता था; लेकिन आमतौर से यह कहा जा सकता है कि वे इससे बहुत-कम परेशान होते थे, और राज-दरबार में हेर-फेर होते हुए भी, वे अपने काम में लगे रहते थे।

हिन्दुस्तान के समाज-संगठन को बहुत दिन तक मज़बूत बनाये रखने की दूसरी वजह वह वर्ण-व्यवस्था थी जो शुरू-शुरू में चली थी। उन दिनों जाति के नियम इतने सख़्त नहीं थे, जितने कि वह बाद में हो गये, और न जाति सिर्फ़ पैदाइश पर निर्भर करती थी। हजारों साल तक उसने हिन्दुस्तानी ज़िन्दगी को अविच्छिन्न रक्खा, और वह सिर्फ़ इसलिए ऐसा कर सकी, कि उसने परिवर्त्तन और तरक़्क़ी की गति को रोकने की जगह उसमें मदद पहुँचाई। धर्म और ज़िन्दगी के मामले में पुराना भारतीय दृष्टिकोण हमेशा सहिष्णुता, प्रयोग और तब्दीली का स्वागत करता था। इससे उसे बल मिलता था। लेकिन बार-बार के हमलों और दूसरे झगड़ों ने जात-पांत के सवाल को धीरे-धीरे सख़्त बना दिया, और इसके साथ-साथ हिन्दुस्तान के सारे दृष्टिकोण में सख़्ती और अनुदारता आगई, और उसका लोच जाता रहा। यह सिलसिला उस वक़्त तक जारी रहा जब तक हिन्दुस्तानी आजकल की दुःखदायी हालत को नहीं पहुँच गये। जाति-प्रथा हर तरह की तरक़्क़ी की दुश्मन बन बैठी। समाज के ढांचे को एक में बाँध रखने के बजाय, वह उसे सैकड़ों टुकड़ों में तोड़-फोड़ देती है; हमें कमज़ोर बनाती और भाई को भाई के ख़िलाफ़ खड़ा करती है।

इस तरह वर्ण-व्यवस्था ने, पुराने ज़माने में, हिन्दुस्तान के समाज-संगठन को मज़बूत बनाने के काम में मदद दी। लेकिन ऐसा होते हुए भी इसमें मृत्यु के बीज मौजूद थे। वह असमानता और अन्याय को स्थायी बनाने की बुनियाद पर बनी थी। और ऐसी किसी भी कोशिश का अन्त में असफल हो जाना निश्चित था। असमानता और अन्याय के आधार पर कोई भी अच्छा या मज़बूत समाज नहीं बनाया जा सकता और न एक दरज या जमात द्वारा दूसरे दरजे या जमात को चूसने की नीति पर ही कोई अच्छा या मज़बूत समाज बन सकता है। चूंकि आज दिन भी यह अनुचित लूट-खसोट मौजूद है, इसलिए हम तमाम दुनिया में इतना ज्यादा कष्ट और दुःख देखते हैं। लेकिन सब जगह लोग अब इसको महसूस कर रहे हैं और इससे छुटकारा पाने की भरपूर कोशिश कर रहे हैं।

हिन्दुस्तान की तरह चीन में भी समाज-प्रणाली की शक्ति गाँवों और मेहनत-मज़दूरी करनेवाले लाखों मौरूसी किसानों में केन्द्रित थी, जिनका ज़मीन पर क़ब्ज़ा था और जो उसे जोतते थे। वहां भी बड़े-बड़े ज़मींदार नहीं थे और धर्म को भी कभी कट्टर और असहिष्णु बनने का मौक़ा नहीं दिया जाता था। दुनिया की तमाम जातियों में से चीन वाले धर्म के मामले में शायद सबसे कम कट्टर होते थे और अब भी होते हैं।

फिर तुम्हें यह भी याद होगा कि हिन्दुस्तान और चीन दोनों ही में ग़ुलाम

मजदूरों की वैसी कोई प्रथा नहीं थी, जैसी यूनान या रोम या उससे भी पहले मिस्र में थी। कुछ घरेलू नौकर होते थे, जो ग़ुलाम थे; लेकिन समाज की प्रणाली में उनकी वजह से कोई फर्क नहीं पड़ता था। जात-पांत की यह प्रणाली बग़ैर उनके भी वैसी ही बनी रहती। पुराने यूनान और रोम में ऐसा नहीं था। वहां तो ज्यादा से ज्यादा तादाद में ग़ुलामों का होना सामाजिक प्रणाली का एक जरूरी अंग था और सब काम का असली भार इन्हींके कंधों पर पड़ता था। और तुम सोच सकती हो कि मिस्र में बिना इन ग़ुलामों के ये बडे-बडे पिरेमिड कैसे बन सकते थे ?

मैंने इस ख़त को चीन से शुरू किया था और इरादा किया था कि उसकी कहानी को जारी रक्खूं; लेकिन मैं दूसरे विषयों की ओर बहक गया, जो कि मेरे लिए कोई ग़ैर मामूली बात नहीं है। शायद दूसरी बार हम चीन को न छोडें।

: ४१ :

तंग वंश के शासन में चीन की उन्नति

७ मई, १९३२

मैंने चीन के हन्-वंश के बारे में तुम्हें बताया है, और यह भी बताया है कि चीन में बौद्ध धर्म कैसे आया, छपाई की कला कैसे निकली, सरकारी अफ़सरों को चुनने के लिए इम्तिहान लेने का रिवाज कैसे शुरू हुआ ? ईसा के बाद की तीसरी सदी में हन् राजवंश ख़त्म हो गया, और साम्राज्य तीन हिस्सों में बँट गया। तीन सल्तनतों में बँटने का यह युग कई सौ बरसों तक क़ायम रहा। इसके बाद चीन फिर मिलकर एक हो गया और एक नया राजवंश, जिसे तंग वंश कहते हैं, पैदा हुआ, और इस तरह चीन फिर एक शक्तिशाली और संयुक्त राज्य बन जाता है। यह सातवीं सदी के शुरू की बात है।

लेकिन बँटवारे के इस युग में भी चीनी संस्कृति और कला उत्तर के तातारियों के हमलों के बावजूद भी क़ायम रही। बडे-बडे पुस्तकालयों और सुन्दर चित्रों का वर्णन हमें मिलता है। हिन्दुस्तान सिर्फ़ अपने सुन्दर कपडे और दूसरे माल ही नहीं, बल्कि अपने ख़याल, अपना मजहब और अपनी कला भी वहाँ भेजता रहा। हिन्दुस्तान से बहुत से बौद्ध प्रचारक चीन गये और वे अपने साथ हिन्दुस्तानी कला और रस्मरिवाज लेते गये। यह भी हो सकता है कि हिन्दुस्तानी कलाकार और चतुर कारीगर वहाँ गये हों। बौद्ध धर्म के आगमन और हिन्दुस्तान से आनेवाले नये विचारों का चीन पर बहुत असर पड़ा। चीन उस समय, और उसके पहले भी, एक बहुत ही सभ्य देश

था। यह बात नहीं थी कि हिन्दुस्तान की कला, विचार और धर्म किसी पिछड़े या असभ्य देश में पहुँचे हों, और उसपर क़ब्ज़ा कर लिया हो। चीन में पहुँच कर इनको चीन की पुरानी कला और विचार-पद्धति का मुक़ाबिला करना पड़ा था। दोनों के मेल का यह नतीजा हुआ कि एक बिलकुल नई चीज़ पैदा हुई, जो इन दोनों से का बिलकुल अलग थी। इसमें बहुत कुछ हिन्दुस्तान का था, लेकिन चीनी नमूने बना हुआ था। इस तरह से हिन्दुस्तान से इन विचारों की धारा के आने की वजह से चीन के मानसिक और कला सम्बन्धी जीवन में नई स्फूर्ति और नया उत्साह आ गया।

इसी तरह बौद्ध धर्म और हिन्दुस्तानी कला का सन्देश पूर्व में बहुत दूर तक, यानी कोरिया और जापान तक, कैसे पहुँचा, और इन देशों पर इसका क्या असर हुआ, इसका अध्ययन बहुत दिलचस्प है। हरेक मुल्क ने इसको अपनी प्रकृति और प्रतिभा के अनुकूल बनाकर ग्रहण किया। इस तरह हालाँकि बौद्ध धर्म चीन और जापान दोनों में बढ़ा, लेकिन हर मुल्क में इसका पहलू जुदा रहा और इन देशों का बौद्ध धर्म उस बौद्ध धर्म से बिल्कुल अलग चीज़ है, जो हिन्दुस्तान से गया था। कला भी देश, काल और वातावरण के मुताबिक बदलती रहती है। हिन्दुस्तान में हम लोग क़ौमी हैसियत से कला और सौंदर्य दोनों भूल गये हैं। यही नहीं, बहुत दिनों से हमने कोई अद्भुत सौन्दर्य की चीज़ पैदा नहीं की, बल्कि हममें से बहुत से आदमी सुंदरता की क़द्र करना भी भूल गये हैं। किसी ग़ुलाम देश में कला या सौंदर्य पनप ही कैसे सकता है ? ग़ुलामी और बन्धन के अन्धेरे में ये मुरझा जाते हैं। लेकिन आज़ादी की झलक अब हमारी आँखों के सामने है, इसलिए सुन्दरता की भावना धीरे-धीरे हम लोगों में जगने लगी है। जब आज़ादी आजावेगी, तुम देखोगी कि इस मुल्क में कला और सौन्दर्य का पुनरुत्थान किस ज़ोर के साथ होता है। और मुझे उम्मीद है कि यह हमारे घरों, नगरों और हमारे जीवन की कुरूपता को दूर करदेगी।

चीन और जापान की क़िस्मत हिन्दुस्तान से अच्छी रही ह, और इन्होंने अब तक कला और सौंदर्य की भावना को सुरक्षित रक्खा है।

ज्यों-ज्यों चीन में बौद्ध धर्म फैला, हिन्दुस्तानी बौद्ध और भिक्षु वहाँ अधिक-से-अधिक तादाद में जाने लगे, और चीनी भिक्षु हिन्दुस्तान में और दूसरे देशों में जाने लगे। मैंने तुम से फ़ाहियान का ज़िक्र किया है, और तुम ह्यूएनत्सांग को भी जानती हो। ये दोनों हिन्दुस्तान आये थे। एक दूसरे चीनी भिक्षु ने, जिसका नाम 'हुई शेंग' था, पूर्वी समुद्र में सफ़र किया था और उसने अपनी यात्रा का बहुत दिलचस्प वर्णन लिखा है। यह ईसवी सन् ४९९ में चीन की राजधानी में पहुँचा और बताया कि मैं 'फू संग'

नाम के एक ऐसे मुल्क में गया था, जो चीन के पूर्व में कई हज़ार मील की दूरी पर है। चीन और जापान के पूर्व में प्रशान्त महासागर है, और सम्भव है कि हुईशेंग इस महासागर को पार करके मैक्सिको गया हो क्योंकि मैक्सिको में भी उस वक्त एक पुरानी सभ्यता पाई जाती थी।

चीन में बौद्ध धर्म के प्रसार से आकर्षित होकर हिन्दुस्तान के बौद्ध धर्म के प्रमुख धर्माध्यक्ष दक्षिण हिन्दुस्तान से चीन में कैण्टन के लिए रवाना हुए। उनका नाम और उपाधि 'बोधिधर्म' थी। शायद हिन्दुस्तान में बौद्ध धर्म के धीरे-धीरे कमज़ोर होजाने की वजह से उन्हें चीन जाने का विचार हुआ हो। ई० सन् ५२६ में, जब उन्होंने यह यात्रा की, वह बूढ़े हो चुके थे। इनके साथ, और इनके बाद बहुत से दूसरे भिक्षु भी चीन गये। कहते है कि उस समय चीन के सिर्फ एक सूबे 'लो-यंग' में तीन हज़ार से भी ज्यादा हिन्दुस्तानी भिक्षु और दस हज़ार हिन्दुस्तान कुटुम्ब रहते थे।

इसके बाद ही बौद्ध धर्म हिन्दुस्तान में एक बार फिर चमका, और बुद्ध की जन्म-भूमि होने के कारण, तथा इस कारण भी कि यहां उनके पवित्र धर्म-ग्रन्थ थे, भारत धार्मिक बौद्धों का ध्यान अपनी तरफ़ खींचता रहा। लेकिन जान पड़ता है कि हिन्दुस्तान में बौद्ध धर्म की शान जाती रही थी, और अब चीन प्रमुख बौद्ध देश हो गया था। काओ-त्सू सम्राट् ने ई० सन् ६१८ में तंग राजवंश की शुरुआत की थी। इसने न सिर्फ सारे चीन को ही एक किया बल्कि अपना राज्य दक्षिण में अनाम और कम्बोडिया तक, और पश्चिम में ईरान तथा कैस्पियन सागर तक फैलाया। कोरिया का भी एक हिस्सा इस शक्तिशाली साम्राज्य में शामिल था। साम्राज्य की राजधानी सी-आन-फू नाम का शहर था। यह शहर पूर्वी एशिया में अपनी सभ्यता और शान के लिए मशहूर था। जापान और दक्षिण कोरिया से, जो अभी तक आज़ाद था, राजदूत और प्रतिनिधि-मण्डल इसकी कला, तत्वज्ञान और सभ्यता सीखने के लिए आया करते थे।

तंग सम्राट विदेशी व्यापार और यात्रियों को उत्साहित करते थे। चीन आने वाले या वहां आकर बसनेवाले विदेशियों के लिए ख़ास क़ानून बनते थे ताकि वे जहां तक सम्भव हो, अपने ही मुल्क के रस्म-रिवाज के अनुसार न्याय पावें। हमें पता चलता है कि ई० सन् ३०० के क़रीब दक्षिण चीन में कैण्टन के पास अरब लोग ख़ासतौर से आकर बसे थे। यह इस्लाम के जन्म यानी पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद की पैदायश के पहले की बात है।

इन अरबों की मदद से समुद्र पार देशों के साथ की तिजारत ने तरक्क़ी की, जो अरब और चीनी जहाज़ों के ज़रिये हुआ करती थी।

तुमको यह जानकर ताज्जुब होगा कि मर्दुमशुमारी, यानी आबादी जानने के

लिए किसी मुल्क के आदमियों का गिनना, चीन की बहुत पुरानी प्रणाली है। कहते हैं कि ई० सन् १५६ में चीन में मर्दुमशुमारी हुई थी। यह हन् वंश के जमाने में हुई होगी। एक-एक आदमी की नहीं, कुटुम्बों की गिनती की जाती थी। यह माना जाता था कि हरेक कुटुम्ब में मोटे तौर से पाँच आदमी होंगे। इस गिनती के मुताबिक़ ई० सन् १५६ में चीन में ५ करोड़ आदमी बसते थे। मैं मानता हूँ कि मनुष्य-गणना का यह कोई बहुत ठीक तरीक़ा नहीं है लेकिन ख़याल करने की बात यह है कि पश्चिम के लिए यह एक नई चीज़ है। मेरा ख़याल है कि क़रीब १५० वर्ष हुए, जब अमरीका के संयुक्त राष्ट्र में पहली मर्दुमशुमारी हुई थी।

तंग वंश के शुरू ज़माने में चीन में दो और मज़हब आये—एक ईसाई धर्म और दूसरा इस्लाम। ईसाई मत को वह सम्प्रदाय इस देश में लाया था, जिसे काफ़िर या नास्तिक क़रार देकर पश्चिम से निकाल दिया गया था। इस सम्प्रदाय का नाम नेस्टोरियन था। मैंने तुम्हें कुछ दिन हुए ईसाई मत-मतान्तरों के आपसी झगडे और लड़ाई की कुछ बात लिखी थी। इन्हीं लड़ाई-झगडों का नतीजा था कि नेस्टोरियन लोग रोम द्वारा भगा दिये गये थे। लेकिन ये चीन, ईरान और एशिया के कई दूसरे हिस्सों में फैल गये। ये लोग हिन्दुस्तान भी आये थे और इनको कुछ कामयाबी भी मिली थी, लेकिन बाद को, ईसाई धर्म की दूसरी शाखाओं ने और मुसलमानों ने उनको हज़म कर लिया, और उनका नामनिशान मिट-सा गया। लेकिन पारसाल हम दक्षिण हिदुस्तान में गये तो वहाँ एक जगह इन लोगों की थोडी-सी आबादी देखकर बहुत ताज्जुब हुआ था, तुम्हें याद है न? इनके बिशप ने हम लोगों को चाय पिलाई थी। वह बहुत ही हँसमुख वृद्ध आदमी था।

ईसाई धर्म को चीन में पहुँचते-पहुँचते कुछ दिन लग गये। लेकिन इस्लाम ज्यादा तेज़ी से आया। इस्लाम नेस्टोरियन लोगों के आने के कुछ साल पहले और पैग़म्बर की ज़िन्दगी में ही आया था। चीन के सम्राट ने मुसलमान और नेस्टोरियन दोनों के दूतों का बडी इज्ज़त के साथ स्वागत किया था, और जो कुछ उन्होंने कहा उसे ध्यान से सुना था। उसने उन सब बातों की क़द्र की और निष्पक्ष होकर दोनों पर मिहरबानी की। अरब लोगों को कैण्टन में मस्जिद बनाने की इजाज़त दी गई। यह मस्जिद अभीतक मौजूद है, हालाँकि इसे बने तेरह सौ बरस हो गये। यह दुनिया की सबसे पुरानी मस्जिदों में से एक है।

इसी तरह तंग सम्राट ने ईसाई गिरजाघर और मठ बनाने की भी इजाज़त दी। उस ज़माने में चीन में दूसरे मज़हबों के साथ कैसी सहनशीलता का व्यवहार किया जाता था, जब कि योरप में असहिष्णुता का राज्य था।

(कहते हैं कि अरबों ने काग़ज़ बनाने का हुनर चीनियों से सीखा और फिर योरप को सिखाया। ई० सन् ७५१ में मध्य एशिया के तुर्किस्तान में चीनियों और मुसलमान अरबों के दर्मियान लड़ाई हुई। अरबों ने कुछ चीनियों को क़ैद कर लिया और इन क़ैदियों ने अरबों को कागज़ बनाना सिखाया।)

तंग वंश तीन सौ बरस यानी ९०७ ई० तक रहा। कुछ लोगों का ख़याल है कि यह तीन सौ वर्ष चीन के लिए सबसे महान् युग है, जब केवल संस्कृति ही ऊँचे पैमाने पर नहीं थी बल्कि जनता भी बहुत सुखी थी। बहुत-सी बातें जो पश्चिम को बहुत दिनों बाद मालूम हुईं, चीनियों को उस ज़माने में मालूम थीं। कागज़ का ज़िक्र तो मैं कर ही चुका हूँ। दूसरी ऐसी ही चीज़ बारूद थी। चीनी बड़े अच्छे इंजीनियर भी हुआ करते थे। आम तौर से, और क़रीब-क़रीब हरेक तफ़सील में, ये लोग योरप से बहुत कुछ आगे बढ़े हुए थे। अगर उस वक़्त ये लोग आगे बढ़े हुए थे तो बाद में ये आगे क्यों नहीं बने रहे, और विज्ञान तथा नये-नये आविष्कारों की दुनिया में उन्होंने योरप का नेतृत्व क्यों नहीं किया? योरप धीरे-धीरे रेंगते हुए इनके पास पहुँचा—जैसे कोई जवान किसी बुड्ढे तक पहुँचता है—और कम-से-कम कुछ बातों में उनसे आगे हो गया। क़ौमों के इतिहास में इस तरह की बातें क्यों हो जाती हैं, यह तत्वज्ञानियों के विचार के लिए एक कठिन सवाल है। चूंकि अभी तक तुम फ़िलासफ़र नहीं बनी हो, इसलिए इस सवाल के बारे में फ़िक्र करने की तुम्हें ज़रूरत नहीं; और इसलिए मुझे भी चिन्ता करने की कोई ज़रूरत नहीं है।

इस युग में चीन की महानता का स्वभावतः एशिया के दूसरे हिस्सों पर बहुत असर पड़ा, जो चीन की तरफ़ सभ्यता और कला के मामले में रहनुमाई के लिए देखा करते थे। गुप्त साम्राज्य के बाद हिन्दुस्तान का सितारा बहुत तेज़ी से नहीं चमक रहा था। और जैसा हमेशा होता है, चीन में भी सभ्यता और उन्नति के कारण जिन्दगी बहुत ज्यादा ऐशआराम से भर गई। शासन-कार्य में बेईमानी होने लगी और इसकी वजह से बहुत ज्यादा कर लगाना ज़रूरी हो गया। इसका नतीजा यह हुआ कि लोग तंग वंश से ऊब गये और उसका ख़ात्मा कर दिया।

: ४२ :

चोसेन और दाई निपन

८ मई, १९३२

ज्यों-ज्यों हमारी दुनिया की कहानी आगे बढ़ती जायगी, नये-नये मुल्क हमारी नज़र के सामने आते जायँगे। इसलिए हमें कोरिया और जापान पर एक नज़र डाल लेनी चाहिए, जो चीन के पडौसी और कई बातों में चीनी सभ्यता की सन्तान हैं। ये देश एशिया के बिल्कुल किनारे पर, सुदूरपूर्व में हैं, और इनके बाद प्रशान्त महासागर फैला हुआ है। कुछ दिनों पहले अमरीका के महाद्वीप से इनका कोई सम्पर्क नहीं था; इनका ताल्लुक़ सिर्फ महान् चीनी राष्ट्र से ही था। उन्होंने चीन से अथवा चीन के द्वारा ही धर्म, कला और सभ्यता हासिल की। कोरिया और जापान पर चीन का बहुत ऋण है, और थोड़ा-बहुत वे हिन्दुस्तान के भी ऋणी हैं। लेकिन हिन्दुस्तान से इन्होंने जो कुछ पाया वह चीन के ज़रिये से ही पाया। इसलिए वह चीन की भावनाओं में रंगा हुआ था।

कोरिया और जापान दोनों की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि एशिया में या और दूसरी जगहों पर जो बडी-बडी घटनायें हुईं, उनसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं रहा। घटनाओं के केन्द्र से ये दूर थे और एक सीमा तक दोनों—ख़ासकर जापान ख़ुशक़िस्मत थे। इसलिए मौजूदा ज़माने के अलावा, बग़ैर किसी कठिनाई के इनके इतिहास की हम उपेक्षा कर सकते हैं। ऐसा करने से एशिया के काफ़ी हिस्सों की घटनाओं को समझने में कोई ज्यादा फ़रक न आयेगा। लेकिन यह ज़रूरी नहीं कि हम इनकी उपेक्षा करें। हमने मलेशिया और पूर्वी टापुओं के पुराने इतिहास की उपेक्षा की है। वह छोटा मुल्क बेचारा कोरिया आज बिलकुल भुला दिया गया है। जापान इसको निगल गया है और उसने इसको अपने साम्राज्य का एक हिस्सा बना लिया है। लेकिन कोरिया अभी तक आज़ादी के सपने देखता है और स्वतंत्र होने के लिए कोशिश कर रहा है। आजकल जापान की बहुत चर्चा है; चीन पर उसके हमलों के समाचार से अख़बार भरे रहते हैं। इस वक़्त भी, जब तुम्हें यह ख़त लिख रहा हूँ, मंचूरिया में एक तरह की लड़ाई छिडी हुई है। इसलिए अगर हम कोरिया और जापान के पिछले ज़माने के बारे में कुछ जान लें तो अच्छा ही है। इससे हाल की बातें समझने में मदद मिलेगी।

पहली बात, जो हमें याद रखनी चाहिए, वह यह है, कि ये दोनों देश एक लम्बे ज़माने तक दुनिया से अलग रहे हैं। जापान के इतिहास में, सब से महत्व की बात

यह है कि वह सबसे अलग और विदेशी हमलों से सुरक्षित रहा। इसके सारे इतिहास में इसपर हमला करने की बहुत कम कोशिशें हुई। और इन कोशिशों में एक भी कामयाब नहीं हुई। हाल के ज़माने तक इसकी सारी परेशानियाँ अन्दरूनी ही रही हैं। कुछ दिनों के लिए जापान ने अपने आपको सारी दुनिया से बिल्कुल अलग कर लिया था। किसी जापानी का अपने देश से बाहर जाना, या किसी विदेशी, यहां तक कि चीनी का जापान में आसकना बहुत मुश्किल बात थी। यह बात इसलिए की गई थी कि जापानी लोग अपने को योरप से आने वाले विदेशियों से और ईसाई-प्रचारकों से बचाना चाहते थे। यह एक ख़तरनाक और मूर्खतापूर्ण काम था, क्योंकि इस प्रकार सारी क़ौम क़ैदख़ाने में बन्द हो जाती है, और बाहर के अच्छे और बुरे दोनों तरह के प्रभाव से वंचित हो जाती है। पर बाद में एकदम से जापान ने अपने दरवाज़े और खिड़कियाँ खोल दीं, और योरप जो कुछ सिखा सकता था, उसे सीखने के लिए बेताबी से बाहर निकल पड़ा। योरप से जो कुछ सीखना था, उसे इसने इतनी नेकनीयती के साथ सीखा कि एक या दो पुश्त में ही जापान ऊपर से यूरोपियन देश के समान हो गया और उसने उनकी अच्छी बातों के साथ बुरी आदतों की भी नक़ल कर ली। ये सब बातें पिछले सत्तर वर्ष में हुई हैं।

कोरिया का इतिहास चीन के इतिहास के बहुत दिनों बाद शुरू होता है। जापानियों का इतिहास तो कोरियन लोगों के भी पीछे आरम्भ हुआ। मैंने तुम्हें पार साल अपने एक ख़त में लिखा था कि की-त्से नामक एक निर्वासित चीनी ने, जिसे चीन में राजवंश के बदल जाने से असन्तोष था, अपने पांच हज़ार साथियों के साथ पूर्व की तरफ कूच कर दिया था। वह कोरिया में बस गया और उसका नाम 'चोसेन' यानी 'प्रभात की शान्ति का देश' रख दिया। यह ईसा के जन्म से ११२२ बरस पहले की बात है। की-त्से अपने साथ चीनी कला और कारीगरी, खेती करने की कला और रेशम बनाने का हुनर वहां ले गया। ९०० बरस से भी अधिक समय तक की-त्से के वशंज चोसेन पर राज करते रहे। चीनी लोग समय-समय पर चोसेन में बसने के लिए आते रहे और चीन के साथ इसका अच्छा-ख़ासा सम्पर्क बना रहा।

जब शी-ह्वांग-ती चीन के सम्राट थे, तब चीनियों का एक बड़ा जत्था कोरिया आया था। तुम्हें इस चीनी सम्राट का नाम याद होगा। यह वही शख़्स है, जिसने 'प्रथम सम्राट' की उपाधि ग्रहण की थी और सब पुराने ग्रन्थ जलवा दिये थे। यह अशोक का समकालीन था। शी-ह्वांग-ती के कठोर शासन से परेशान होकर बहुत से चीनियों ने कोरिया में आश्रय लिया था। इन चीनियों ने की-त्से के कमज़ोर वंशजों को निकाल भगाया। इसके बाद चोसेन कई छोटे राज्यों में बँट गया, और

आठ सौ बरस से ज्यादा तक यही हालत बनी रही। ये राज्य अक्सर आपस में लड़ा करते थे। एक दफ़ा इन राज्यों में से एक ने चीन की मदद मांगी, और तुम जानती हो कि इस तरह की मदद माँगना ख़तरनाक हुआ करता है। मदद आई जरूर, लेकिन वापस नहीं गई। ताक़तवर मुल्कों का यही ढँग होता है। चीन डट गया और चोसेन के कुछ हिस्सों को अपने साम्राज्य में मिला लिया। चोसेन का बाक़ी हिस्सा भी कई सौ बरसों तक चीन के तंग सम्राटों की भी मातहती क़बूल करता रहा।

ई० सन् ९३५ में चोसेन एक स्वतन्त्र संयुक्त राज्य बना। वांग कोन नाम के एक शख़्स ने इस काम में सफलता प्राप्त की और ४५० बरस तक उसके वंशजों ने इस राज्य पर हुकूमत की।

मैंने दो या तीन पैरों में तुम्हें कोरिया के इतिहास के दोहजार बरस का हाल बता दिया। याद रखने की बात है कि कोरिया पर चीन का बहुत बड़ा ऋण है। लिखने की कला यहाँ चीन से आई। एक हजार बरस तक कोरियावालों ने चीन की लिपि का इस्तैमाल किया। और तुम जानती हो कि चीन की लिपि में अक्षर नहीं, बल्कि ख़यालात है, शब्द है और जुमले हैं। इसके बाद कोरियावालों ने इस लिपि से एक ख़ास लिपि बनाई, जो उनकी भाषा के लिए ज्यादा उपयुक्त थी।

बौद्ध-धर्म चीन होकर आया। कनफ्यूशियस का तत्वज्ञान भी चीन से ही आया। हिन्दुस्तान के कला संम्बन्धी संस्कार चीन होकर कोरिया और जापान गये। कोरिया ने कला के, ख़ासकर मूर्ति-बनाने की कला के, बहुत सुन्दर नमूने दुनिया के सामने रखे है। इनकी मकान बनाने की कला चीनियों से मिलती-जुलती थी। जहाज़ बनाने में भी बडी तरक्क़ी हुई। यहां तक कि एक समय कोरिया निवासियों के पास इतनी ताक़तवर जलसेना हो गई थी कि उन्होंने उससे जापान पर हमला किया था।

ग़ालिबन मौजूदा जापानियों के पूर्वज कोरिया या चोसेन से आये थे। सम्भव है, इनमें से कुछ लोग दक्षिण यानी मलेशिया से भी आये हों। तुम जानती हो कि जापानी लोग मंगोलियन जाति के है। जापान में अब भी कुछ लोग ऐसे है, जिन्हें 'आइनस' कहते है, और जो जापान के आदिम निवासी समझे जाते हैं। ये लोग गोरे हैं, और इनके बदन पर बाल कुछ ज्यादा होते हैं। मतलब यह कि ये औसत जापानियों से बिलकुल जुदे हैं। ये आइनस लोग टापू के उत्तरी हिस्से में भगा दिये गये हैं।

ई० सन् २०० के क़रीब जिंगो नाम की एक सम्राज्ञी यामातो राज्य की मुखिया थी। यामातो जापान या उस हिस्से का असली नाम है, जहाँ ये प्रवासी आकर बसे थे। इस रानी का जिंगो नाम याद रखने की चीज़ है। यह एक अनोखी बात है

कि जापान के एक प्राचीन शासक का नाम जिंगो रहा हो, क्योंकि अँग्रेज़ी ज़बान में जिंगो शब्द के एक ख़ास मानी हो गये हैं। इसके मानी हैं ऐसा साम्राज्यवादी, जो डींग मारने और शेखी बघारनेवाला हो। इसके मानी सिर्फ़ साम्राज्यवादी के भी हो सकते हैं। क्योंकि हरेक साम्राज्यवादी थोड़ा-बहुत घमंडी और शेखीबाज़ होता ही है जैसा कि बहुत से अंग्रेज़ आज हैं। जापान भी आज साम्राज्यवाद या जिंगोवाद के इस रोग में फँसा हुआ है। और हाल ही में इसने चीन और कोरिया के साथ बहुत बुरा व्यवहार किया। इसलिए यह मज़ेदार बात है कि जिंगो जापान के पहले ऐतिहासिक राजा का नाम रहा हो।

यामातो ने कोरिया के साथ अपना घनिष्ट सम्बन्ध बनाये रक्खा और कोरिया के द्वारा ही यामातो ने चीनी सभ्यता इख़्तियार की। चीन की लिखित भाषा भी ई० सन् ४०० के क़रीब कोरिया होकर वहाँ पहुँचती थी, और इसी तरह से बौद्ध धर्म भी कोरिया से ही यहाँ आया था। ई० सन् ५५२ में पकचे (कोरिया के तीन राज्यों में से एक राज्य) के शासक ने यामातो के शासक के पास बुद्ध की एक सोने की मूर्ति और कुछ बौद्ध-धर्म प्रचारक पवित्र धर्म ग्रन्थों के साथ भेजे थे।

जापान का पुराना धर्म शिंटो था। शिंटो चीनी शब्द है। इसके मानी हैं, 'देवताओं का मार्ग'। इस मज़हब के सिद्धान्त में प्रकृति और पूर्वजों की पूजा का मेल-जोल था। इस धर्म ने परलोक या समस्याओं एवं गुत्थियों से अपने दिमाग़ को तकलीफ़ नहीं दी। यह एक सैनिक जाति का धर्म था। जापानी लोग, जो चीनियों के इतने नज़दीक हैं, और जो अपनी सभ्यता के लिए चीन के ऋणी हैं, चीनियों से बिलकुल जुदे हैं। चीनी लोग असल में शान्त स्वभाव के रहे हैं, और आज भी हैं। उनकी सारी सभ्यता और जीवन की फ़िलासफ़ी शान्ति से पूर्ण है। इसके ख़िलाफ़ जापानी एक लड़नेवाली क़ौम रही है, और आज भी है। सिपाही का असली गुण यह होता है कि वह अपने साथियों और अपने अफ़सर के प्रति वफ़ादार हो। जापानी लोगों में यह गुण बराबर रहा है, और उनकी शक्ति का एक मुख्य कारण यही है। शिंटो धर्म इसी गुण पर ज़ोर देता था—"देवताओं का सम्मान करो, और उनके वंशजों के प्रति वफ़ादार रहो"—और इसीलिए वह आज तक जापान में ज़िन्दा है, और बौद्ध धर्म के साथ-साथ पाया जाता है।

लेकिन क्या यह सद्गुण है? अपने या अपने सिद्धान्त के प्रति वफ़ादार होना ज़रूर एक अच्छा गुण है। लेकिन शिंटो या दूसरे धर्मों ने अक्सर हमारी वफ़ादारी से बेजा फायदा उठाने की कोशिश की है, जिससे एक ऐसे गिरोह को फ़ायदा पहुँचा है, जो हमारे ऊपर शासन करता है। जापान, रोम और दूसरी जगहों पर भी यही

सिखाया जाता था कि अधिकार एवं प्रभुत्व की पूजा करो, और तुम आगे चलकर देखोगी कि इससे हम लोगों को कितना नुक़सान पहुँचा।

नया बौद्ध धर्म जब जापान में आया, तो पुराने शिंटो धर्म से उसका कुछ झगड़ा चला। लेकिन जल्दी ही दोनों साथ-साथ रहने लग गये, और आज तक रह रहे हैं। शिंटो धर्म बौद्ध धर्म से ज्यादा लोकप्रिय है, और शासक वर्ग इसको प्रोत्साहन भी देता है, क्योंकि यह वफ़दारी और फ़रमाबरदारी सिखाता है। बौद्ध धर्म इससे ज़रा ख़तरनाक मज़हब है, क्योंकि उसको चलानेवाला ख़ुद बाग़ी था।

जापान का कला-इतिहास बौद्ध धर्म के साथ शुरू होता है। जापान या यामातो ने भी तब चीन के साथ सीधा सम्बन्ध शुरू किया। चीन को, ख़ासकर तंग युग में, जब राजधानी 'सी-आन-फू' सारे पूर्वी एशिया भर में मशहूर हो रही थी, जापान से बराबर राजदूत जाते थे। जापानी यानी यामातो वालों ने ख़ुद एक नई राजधानी क़ायम की थी, जिसका नाम नारा था, और उसे 'सी-आन-फू' की एक हू-ब-हू नक़ल बनाना चाहते थे। जापानियों में दूसरों की नक़ल या अनुकरण करने की आश्चर्यजनक योग्यता रही है।

हम देखते हैं कि सारे जापानी इतिहास भर में बडे-बडे वंश एक-दूसरे का विरोध करते हैं और अधिकार पाने के लिए संग्राम करते हैं। दूसरी जगहों पर भी पुराने ज़माने में तुम्हें ऐसी ही बातें मिलेंगी। इन कुटुम्बों में पुराने कुल या फ़िरक़ों का ख़याल जमा हुआ था, इसलिए जापान का इतिहास एक तरह से कुटुम्बों के आपसी लाग-डाँट की कहानी है। इनका सम्राट मिकाडो सर्वशक्तिमान, निरंकुश, अर्ध-दैवी और सूर्य का वंशज समझा जाता है। शिंटो धर्म ने और पूर्वजों की पूजा की प्रथा ने सम्राट की निरंकुशता क़बूल करने में बहुत मदद दी और उन्हें देश के उच्चवर्ग का आज्ञाकारी बना दिया। लेकिन अक्सर सम्राट ख़ुद जापान में कठपुतली रहा है और उसके हाथ में कोई असली ताक़त नहीं रही है। सारा अधिकार और सारी ताक़त किसी बडे कुटुम्ब या किसी कुल के हाथ में रही है, जो राजाओं के विधाता थे और जो अपनी मरज़ी के मुताबिक़ राजा या सम्राट बनाया करते थे।

जापान में जिस बडे कुटुम्ब ने सबसे पहले राज्य का नियन्त्रण किया वह 'सोगा' कुटुम्ब था। जब इन लोगों ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया, तभी वह राज-धर्म के रूप में स्वीकार किया गया। शोतुकू तैशी इस कुटुम्ब का एक बड़ा नेता था, और जापानी इतिहास का यह एक महान् पुरुष हुआ है। यह एक सच्चा बौद्ध और श्रेष्ठ कलाकार था। चीन के कन्फ्यूशियन महाग्रन्थों से इसने अपने ख़याल लिये थे और एक ऐसी सरकार बनाने की कोशिश की, जिसकी बुनियाद हिंसा-बल पर नहीं,

वरन् नीति पर रक्खी गई थी । जापान उन दिनों ऐसे परिवारों से भरा हुआ था, जिनके सरदार बिल्कुल स्वतंत्र थे । ये लोग आपस में लड़ते थे और किसीकी हुकूमत नहीं मानते थे । सम्राट अपनी लम्बी-चौडी उपाधि के होते हुए भी एक बडे ख़ानदान का सरदार था । शोतुकूतैशी ने इस हालत को बदलने और केन्द्रीय सरकार को मज़बूत करने के लिए कोशिश शुरू करदी । इसने बहुत से कुलों के सरदारों और अमीरों को सम्राट का मातहत बना दिया । यह लगभग ई० सन् ६०० की बात है ।

लेकिन शोतुकूतैशी की मृत्यु के बाद सोगा कुटुम्ब निकाल दिया गया । थोडे दिनों के बाद एक दूसरा आदमी, जो जापानी इतिहास में मशहूर है, सामने आता है । इसका नाम 'काकातोमी नो कामातोरी' था । इसने सरकार के संगठन में सब तरह के परिवर्त्तन किये और चीनी शासन-पद्धति की बहुत सी बातों का अनुसरण किया । लेकिन उसने चीन की ख़ास विशेषता—सरकारी अफसरों को मुक़र्रर करने की परीक्षा-विधि की नक़ल नहीं की । सम्राट अब एक कुल के सरदार की हैसियत से बहुत बडी चीज़ बन गया और केन्द्रीय सरकार बहुत मज़बूत होगई ।

इसी ज़माने में नारा राजधानी बना । लेकिन थोडे दिनों तक ही उसको यह गौरव रहा । ई० सन् ७९४ में क्योटो राजधानी बनाया गया और क़रीब ग्यारह सौ बरस तक राजधानी रहा । थोडे ही समय पहले टोकियो ने उसकी जगह लेली है । टोकियो एक बहुत बड़ा अर्वाचीन शहर है, लेकिन वह क्योटो ही है जो जापान की आत्मा के बारे में हमें कुछ बताता है, क्योंकि उसके साथ हज़ारों बरसों की यादगार लगी हुई है ।

काकातोमी नो कामातोरी फूजीवारा वंश का जन्मदाता हुआ । इस वंश ने जापानी इतिहास में बहुत बड़ा भाग लिया है । दो सौ बरस तक इसने हुकूमत की, और सम्राटों को अपने हाथ की कठपुतली बनाये रहा, और अपने कुल की लड़कियों से शादी करने के लिए उन्हें बाध्य करता रहा । अन्य कुटुम्बों में जो योग्य आदमी होते थे, उनसे ये डरते थे, अतः उन्हें इस बात के लिए मजबूर करते थे कि वे भिक्षु बन जायँ ।

जब राजधानी नारा में थी, चीन के सम्राट ने जापानी शासक के पास एक राजदूत भेजा और उसे 'ताई-नी-पुंग-कोक के राजा' कहकर सम्बोधित किया । जिसका मतलब होता है 'महान सूर्योदय का राजा' । जापानी लोगों को यह नाम बहुत पसन्द आया । यामातो के मुक़ाबिले यह कहीं ज्यादा शानदार था, इसलिए इन लोगों ने अपने देश का नाम 'दाई निपन' रक्खा, यानी 'सूर्योदय का देश' । अभीतक जापानियों का अपना नाम अपने देश के लिए यही है । जापान शब्द 'निपन' शब्द से एक अजीब

तरीक़े पर बिगड़कर बना है। छः सौ बरस बाद एक बहुत बड़ा इटैलियन मुसाफ़िर चीन गया। उसका नाम मार्को पोलो था। यह जापान कभी भी नहीं गया, लेकिन इसने अपने यात्रा-विवरण में जापान के बारे में कुछ लिखा है। इसने चीन में 'नी-पुंग-कोक' नाम सुना था। उसने अपनी किताब में इसे 'चीपंगो' लिखा। इसी शब्द से जापान शब्द निकला।

क्या मैंने तुम्हें बताया है, या तुम्हें मालूम है, कि हमारा देश इंडिया या हिन्दुस्तान क्यों कहलाने लगा? ये दोनों नाम इण्डस या सिन्धु से निकले हैं, जो इस तरह से 'हिन्दुस्तान की नदी' कही जाने लगी। सिन्धु से यूनानी लोगों ने हमारे देश को इण्डोस कहा और इण्डोस से इण्डिया शब्द निकला। सिन्धु से ही ईरानियों ने हिन्दू लफ़्ज बनाया और उसीसे हिन्दुस्तान बना।

: ४३ :

हर्षवर्धन और ह्यूएनत्सांग

११ मई, १९३२

अब हम फिर हिन्दुस्तान को वापस चलेंगे। हूणों की हार हो चुकी थी और वे पीछे हटा दिये गये थे। लेकिन बहुत से हूण इधर-उधर कोने में बचे रह गये थे। बालादित्य के बाद महान गुप्त राज्य-वंश ख़तम होगया था, और उत्तर भारत में बहुत से राज्य और सल्तनतें क़ायम हो गई थीं। दक्षिण में पुलकेशिन ने चालुक्य-साम्राज्य क़ायम कर लिया था।

कन्नौज नाम का छोटा नगर है। वह कानपुर से ज्यादा दूर नहीं है। कानपुर आज कल एक बड़ा शहर समझा जाता है। लेकिन वह अपने कारखानों और चिमनियों की वजह से बदसूरत होगया है। कन्नौज आज एक मामूली जगह है और मामूली गांव से कुछ ही बड़ा होगा। लेकिन जिस ज़माने का ज़िक्र मैं कर रहा हूँ, उस ज़माने में कन्नौज एक बड़ी राजधानी थी, और अपने कवियों, कलाकारों और तत्ववेत्ताओं के लिए मशहूर थी। कानपुर उस समय पैदा नहीं हुआ था और न कई सौ वर्षों बाद तक पैदा होने वाला था। कन्नौज नया नाम है। इसका असली नाम 'कान्यकुब्ज' अर्थात् 'कुबड़ी लड़की' है। कथा है कि किसी पुराने ऋषि ने काल्पनिक अपमान से ग़ुस्से में आकर एक राजा की सौ लड़कियों को शाप दे दिया था, जिससे वे कुबड़ी होगई थीं, और उस समय से यह शहर, जहाँ ये लड़कियां रहती थीं, 'कुबड़ी लड़कियों का शहर' यानी 'कान्यकुब्ज' नगर कहलाने लगा था।

लेकिन संक्षेप के लिए हम इसको कन्नौज ही कहेंगे। हूणों ने कन्नौज के राजा को मार डाला और उसकी रानी राज्यश्री को क़ैद कर लिया। राज्यश्री का भाई राजवर्धन अपनी बहन को छुड़ाने के लिए हूणों से लड़ने आया। उसने हूणों को तो हरा दिया, लेकिन धोखे से ख़ुद मारा गया। इस पर उसका छोटा भाई हर्षवर्धन अपनी बहन राज्यश्री की तलाश में निकला। यह बेचारी किसी तरह से निकलकर पहाड़ों में जा छिपी थी, और अपनी मुसीबतों से परेशान होकर उसने अपनी आत्महत्या करने का निश्चय कर लिया था। कहते हैं कि वह सती होने जा ही रही थी, कि हर्ष ने उसको पा लिया और उसकी ज़िन्दगी बचा ली।

अपनी बहन को पाने और बचाने के बाद हर्ष ने पहला काम यह किया कि उस नीच राजा को, जिसने उसके भाई को धोखे से मार डाला था, सज़ा दी। और उसने सिर्फ इस नीच राजा को ही सज़ा नहीं दी, बल्कि सारे उत्तरी हिन्दुतान को बंगाल की खाड़ी से अरब के समुद्र तक, और दक्षिण में विंध्य पर्वत तक जीत लिया। विन्ध्याचल के बाद चालुक्य साम्राज्य था और हर्ष इसकी वजह से आगे न बढ़ सका।

हर्षवर्धन ने कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया। वह ख़ुद कवि और नाटककार था, इससे उसके पास कवि और कलाकार इकट्ठा हो गये, और कन्नौज एक मशहूर शहर हो गया। हर्ष पक्का बौद्ध था। इस समय बौद्ध-धर्म, एक अलग धर्म की हैसियत से, हिन्दुस्तान में बहुत कमज़ोर पड़ चुका था। ब्राह्मण इसको हज़म करते जाते थे। हर्ष भारत का आख़िरी महान् बौद्ध सम्राट् हुआ है।

हर्ष के राज-काल में हमारा पुराना मित्र ह्यूएनत्सांग[1] हिन्दुस्तान आया था और उसके यात्रा-वर्णन में, जो उसने हिन्दुस्तान से लौटकर लिखा था, भारत का और मध्य एशिया के उन मुल्कों का, जिनसे होकर वह भारत आया था, बहुत कुछ हाल पाया जाता है। ह्यूएनत्सांग एक सच्चा बौद्ध था और वह बौद्ध धर्म के पवित्र स्थानों की यात्रा करने और इस धर्म की पुस्तकें अपने साथ ले जाने के लिए हिन्दुस्तान आया था। वह गोबी के रेगिस्तान से होकर गुज़रा था, और रास्ते में उसने ताशक़न्द, समरक़न्द, बलख़, ख़ुतन, यारक़न्द आदि कई मशहूर स्थानों की यात्रा की थी। वह सारे हिन्दुस्तान में फिरा था और शायद लंका भी गया था। उसकी किताब बहुत आश्चर्य-जनक और मनोरंजक बातों से भरी है। इस किताब में उन देशों का सच्चा हाल पाया जाता है, जहां-जहां ह्यूएनत्सांग गया था। इसमें हिन्दुस्तान के मुख़्तलिफ़ हिस्सों के आदमियों के चरित्र का आश्चर्य-जनक ख़ाक़ा

१. ह्यूएनत्सांग—को बहुतेरे लोग युयेन-चैंग, युआन-च्वांग या ह्वान-त्सांग के नाम से भी पुकारते हैं।

मिलता है, जो आज तक सही मालूम होता है। इसमें अजीब-अजीब कहानियां हैं जो ह्यूएनत्सांग ने यहां आकर सुनी थीं। और कुछ बोधिसत्वों (बुद्ध के पहले के अवतारों) के अनेक चमत्कारों का ज़िक्र भी इस किताब में है। मैंने तुम्हें ह्यूएनत्सांग की लिखी, उस एक बडे अक़लमन्द आदमी की दिलचस्प कहानी, जो अपने पेट के चारों तरफ तांबे के पत्तर बाँधे फिरता था, शुरू में ही बताई है।

ह्यूएनत्सांग ने कई बरस हिन्दुस्तान में बिताये। ख़ासकर नालन्द के विश्व-विद्यालय में, जो कि पाटलिपुत्र से दूर नहीं था। कहते हैं कि इसमें १० हज़ार विद्यार्थी और भिक्षु रहा करते थे। यह बौद्ध विद्या का बड़ा केन्द्र और बनारस का, जो ब्राह्मण विद्या का केन्द्र समझा जाता था, प्रतिद्वन्द्वी था।

मैंने तुम्हें एक बार बताया है कि हिन्दुस्तान एक ज़माने में 'इन्दु-देश' यानी चन्द्र-लोक कहलाता था। ह्यूएनत्सांग भी इस बात का ज़िक्र करता है और इस नाम को बहुत ठीक बताता है। चीनी भाषा में भी चन्द्रमा को 'इन-तू' कहते हैं। इसलिए अगर तुम चाहो तो अपना चीनी नाम[1] भी रख सकती हो। ह्यूएनत्सांग हिन्दुस्तान में ई० सन् ६२९ में आया। चीन से जब इसने अपनी यात्रा शुरू की तो इसकी उम्र २६ साल की थी। एक पुरानी चीनी पुस्तक में लिखा है कि ह्यूएनत्सांग सुन्दर और लम्बा था। "उसका रंग नाज़ुक और आँखें चमकदार थीं, चाल-ढाल गम्भीर और शानदार थी, उसके रूप से तेज और मनोहरता टपकती थी।.........उसमें पृथ्वी को घेरे हुए विशाल समुद्र की गम्भीरता पाई जाती थी, और जल में पैदा होने वाले कमल के समान शान्ति और सुषमा थी।"

(बौद्ध-भिक्षु का केसरिया बाना पहनकर यह अकेला अपनी लम्बी सफ़र पर चल पड़ा, हालाँकि चीनी सम्राट ने इसे इजाज़त नहीं दी थी। इसने गोबी के रेगिस्तान को पार किया और जब यह तुरफ़ान के राज्य में पहुंचा, जो कि इस रेगिस्तान के किनारे पर ही था, तो सिर्फ़ इसकी जान ही बाक़ी थी। तुरफ़ान इस रेगिस्तानी राज्य में सभ्यता और संस्कृति से पूरी हरी-भरी एक छोटी-सी जगह थी। आज यह मुर्दा है, और पुरातत्ववेत्ता पुराने खण्डहरों की तलाश में इसकी ज़मीन खोदते फिरते हैं। लेकिन सातवीं सदी में जब ह्यूएनत्सांग यहाँ से गुज़रा था, तुरफ़ान एक उच्च संस्कृति का और जीवन से भरा-पूरा देश था। इसकी संस्कृति में हिन्दुस्तान, चीन, ईरान और कुछ अंशों में योरप की संस्कृतियों का उल्लेखनीय मेल पाया जाता था। यहां बौद्ध धर्म का प्रचार था और संस्कृत ज़बान के कारण यहाँ भारतीयता का प्रभाव भी प्रकट था, फिर भी इस देश

१. इन्दिरा का प्यार का नाम 'इन्दु' है।

का रहन-सहन ज्यादातर चीन और ईरान का था। यहां के रहनेवालों की भाषा मंगोलियन, जैसा कि ख़याल किया जा सकता है, नहीं थी बल्कि भारतीय-यूरपियन थी, और योरप की केल्टिक[1] भाषाओं से बहुत-सी बातों में मिलती जुलती थी। सब से आश्चर्य की बात तो यह है कि वहाँ जो मूर्तियां बनाई गई हैं, वे यूरोपियन साँचे की हैं। पत्थर पर खुदे हुए चित्र, जिनमें बुद्ध और बोधि-सत्व, देवी और देवता बने हुए हैं, बड़े ही सुन्दर हैं। देवियों की मूर्तियों को या तो हिन्दुस्तानी पोशाक पहनाई गई है, या फिर उनके सिर के कपड़े और पोशाक यूनानी है। फ्रेंच समालोचक एम० ग्राउज़े का कहना है कि "इन चित्रों में हिन्दू सुकुमारता, यूनानी भावव्यजंकता और चीनी कमनीयता का बहुत सुन्दर मेल पाया जाता है।"

तुरफ़ान अब भी क़ायम है और तुम इसे नक़शे में देख सकती हो। लेकिन अब इसकी कोई ख़ासियत नहीं है। कितने ताज्जुब की बात है कि इतने दिन पहले, सातवीं सदी में, संस्कृति की अनेक धारायें दूर-दूर के देशों से बहीं, इस जगह पर आकर मिलीं, और मिलकर इन्होंने एक सम्पूर्ण एक सामंजस्य पैदा कर दिया।

(तुरफ़ान से ह्यूएनत्सांग कूचा गया। यह उस वक्त मध्य एशिया का एक दूसरा केन्द्र था। इसकी सभ्यता शानदार और वैभवपूर्ण थी और यह अपने संगीत और स्त्रियों की सुन्दरता के लिए मशहूर था। इस देश का धर्म और कला हिन्दुस्तान की थी। ईरान अपनी संस्कृति और अपना माल यहां भेजता था। इसकी भाषा, संस्कृत, पुरानी फ़ारसी, लैटिन और केल्टिक से मिलती जुलती थी। इसे भी हम एक बढ़िया मेल कह सकते हैं।)

इसके बाद वह तुर्कों के मुल्क से होकर गुज़रा। जहां का राजा, 'महान् खान' जो बौद्ध था, मध्य एशिया के ज्यादातर हिस्से पर राज्य करता था। इसके बाद वह समरकन्द पहुँचा, जो उस समय भी एक पुराना शहर माना जाता था और सिकन्दर की यादगार से भरा था, क्योंकि क़रीब एक हज़ार वर्ष पहले सिकन्दर यहां से हो कर गुज़रा था। फिर वह बलख़ गया और वहाँ से काबुल नदी की घाटी पार कर काश्मीर और हिन्दुस्तान में आया।

यह चीन में तंग राज-वंश के शुरू का ज़माना था, और उसकी राजधानी

१. केल्टिक (Celtic)—कई भाषाओं का एक समूह, जो इण्डो-यूरोपियन समूह से सम्बन्ध रखती है और अब प्रधानतः ब्रिटेनी वेल्स, पश्चिमी आयर्लैण्ड तथा स्काटलेण्ड के ऊँचे इलाकों में बोली जाती है। सिमरिक और गेधेलिक नामक इसकी दो शाखायें हैं, हरेक मध्यकाल में गद्य-पद्य के प्रचुर साहित्य से समृद्ध थीं। रूप और भावों में आरंभिक केल्टिक बहुत-कुछ लेटिन और ग्रीक से मिलती-जुलती थी।

सी-आन-फ़ू कला और विद्या का केन्द्र हो रही थी। उस समय चीन दुनिया की सभ्यता का नेता था। तुम्हें याद रखना चाहिए कि ह्यूएनत्सांग एक बहुत ऊंची सभ्यता के देश से आया था, और किसी बात पर राय क़ायम करने में उसका आदर्श काफ़ी ऊंचा रहा होगा। इसलिए हिन्दुस्तान की हालत के बारे में उसकी राय बहुत महत्वपूर्ण और क़ीमती है। उसने हिन्दुस्तानियों की और उनके राज्य की बहुत तारीफ़ की है। वह कहता है—

"हालांकि मामूली आदमी स्वभाव से हलकी तबीयत के होते हैं, फिर भी हिन्दुस्तान के साधारण लोग ईमानदार और इज्ज़तवाले हैं। रुपये-पैसे के मामले में इनमें कोई मक्कारी नहीं पाई जाती और इन्साफ़ करने में ये बड़े दयाशील होते हैं। व्यापार में न उनमें धोखेबाज़ी है, न चालाकी। ये लोग अपनी बात और वादे के पक्के हैं। इनके शासन के नियमों में विशेष सचाई पाई जाती है, और इनके व्यवहार में बहुत मिठास और सज्जनता है। अपराधियों और बाग़ियों की तादाद बहुत कम है और उनके कारण कभी-कभी ही परेशानी उठानी पड़ती है।

वह फिर लिखता है—"चूंकि राज्य का इन्तिज़ाम उदार सिद्धान्तों पर किया जाता है, इसलिए सरकारी अफ़सर सीधे-सादे हैं।...............लोगों से ज़बरदस्ती काम नहीं लिया जाता, लोगों पर बहुत हलका कर लगा हुआ है और उनसे जो काम लिया जाता है, वह भी ज्यादा नहीं है। हरेक आदमी अपनी सम्पत्ति शान्तिपूर्वक रखता है, और सभी लोग अपनी रोज़ी के लिए ज़मीन जोतते हैं। जो लोग सरकारी ज़मीन जोतते हैं, उन्हें उपज का छठा हिस्सा लगान में देना पड़ता है। व्यापारी अपने काम के लिए आज़ादी से इधर-उधर आ-जा सकते हैं।"

शिक्षा बहुत जल्द शुरू कर दी जाती थी, और इसके लिए संगठन भी अच्छा था। पहली किताब ख़तम करने के बाद लड़के या लड़की को ७ वर्ष की उम्र से पांचों शास्त्र पढ़ाये जाते थे। आजकल शास्त्र का मतलब धर्म-पुस्तक से समझा जाता है। लेकिन उस समय शास्त्र का मतलब सब तरह का ज्ञान था। पांच शास्त्र ये थे—(१) व्याकरण (२) कला-कौशल (३) आयुर्वेद (४) न्याय और (५) दर्शन। इन विषयों की शिक्षा विश्वविद्यालयों में होती थी, और तीस साल की उम्र में पूरी हो जाती थी। मेरा ख़याल है कि बहुत से आदमी इस उम्र तक न पढ़ सकते रहे होंगे। लेकिन यह मालूम होता है कि प्रारम्भिक शिक्षा काफ़ी फैली हुई थी और शायद सारे पुरोहित और साधु शिक्षक हुआ करते थे, और इनकी कोई कमी नहीं थी। ह्यएनत्सांग पर हिन्दुस्तानियों के विद्या-प्रेम का बहुत असर पड़ा था। अपनी सारी किताब में वह इस बात का ज़िक्र करता है।

उसने प्रयाग के उस बड़े कुम्भ मेले का भी जिक्र किया है। जब तुम इस मेले को कभी फिर देखो, तेरह सौ बरस पहले की ह्यूएनत्सांग की इस यात्रा का ख़याल करना। उस समय भी यह मेला पुराना मेला समझा जाता था और वैदिक युग से चला आरहा था। इस प्राचीन ज़माने के मेले के मुक़ाबिले में हमारा शहर इलाहाबाद अभी कल का शहर मालूम पड़ता है। इस शहर को ४०० वर्ष से कम हुए, अकबर ने बसाया था। प्रयाग इससे बहुत ज्यादा पुराना है। लेकिन प्रयाग से भी पुराना वह आकर्षण है जो हज़ारों वर्षों से लाखों यात्रियों को गंगा और जमना के संगम पर खींच लाता है।

ह्यूएनत्सांग लिखता है कि हर्ष हालांकि बौद्ध था, पर इस हिन्दू मेले में भी गया था। उसकी तरफ़ से एक शाही आज्ञा-पत्र निकला था, जिसमें उसने 'पंच हिन्द' के सब ग़रीबों और मुहताजों को बुलाया था, और उन्हें अपने यहाँ मेहमान होने के लिए निमंत्रित किया था। किसी सम्राट के लिए भी यह निमंत्रण बड़ी बहादुरी का निमंत्रण है। कहने की जरूरत नहीं कि बहुत से आदमी आये और क़रीब एक लाख आदमी हर्ष के यहाँ रोज़ भोजन करते थे। इस मेले में हर पांचवें वर्ष हर्ष अपने खज़ाने की सारी बचत, सोना, ज़ेवर, रेशम जो कुछ उसके पास होता था, बांट देता था। एकबार उसने अपना राज-मुकुट और क़ीमती पोशाक भी दे डाली थी और अपनी बहन राज्यश्री से, एक पुराना मामूली कपड़ा, जो पहले पहना जा चुका था, लेकर पहना था।

श्रद्धालु बौद्ध होने के कारण हर्ष ने खाने के लिए जानवरों का मारा जाना बन्द कर दिया था। ब्राह्मणों ने इस पर ज्यादा ऐतराज़ नहीं किया था, क्योंकि बुद्ध के बाद से ये लोग अधिकाधिक निरामिषभोजी हो गये थे।

ह्यूएनत्सांग की किताब में एक बड़ी मज़ेदार बात है, जो शायद तुम्हें दिलचस्प मालूम हो। वह लिखता है कि हिन्दुस्तान में जब कोई आदमी बीमार पड़ता था, तो वह सात दिन का लंघन कर डालता था। बहुत से आदमी लंघन के बीच में ही अच्छे हो जाते थे। लेकिन अगर बीमारी क़ायम रहती थी तो दवा लेते थे। उस ज़माने में रोग बहुत फैले न रहे होंगे, और न डाक्टर लोगों की ही ज्यादा मांग रही होगी।

उस ज़माने में हिन्दुस्तान में एक नोट करने लायक़ बात यह थी कि शासक और सेनाधिकारी विद्वानों और सभ्य आदमियों की बहुत इज्ज़त करते थे। हिन्दुस्तान में और चीन में इस बात की ख़ूब कोशिश की गई, और इसमें सफलता भी हुई, कि विद्या और संस्कृति को इज्ज़त की जगह मिले, पाशविक बल या धन-दौलत को नहीं।

हिन्दुस्तान में कई वर्ष बिताने के बाद ह्यूएनत्सांग उत्तरी पहाड़ों को पार करता हुआ अपने देश वापस गया। सिन्ध नदी में यह क़रीब-क़रीब डूबते-डूबते बचा और इसके साथ की बहुत-सी किताबें बह गईं। फिर भी यह हाथ से लिखी बहुत-सी किताबें अपने साथ ले गया था और कई साल तक वह इन किताबों का चीनी भाषा में अनुवाद करता रहा। वहां सम्राट ने सी-आन-फू में उसका स्वागत किया और इसी सम्राट के कहने पर इसने अपनी यात्रा का हाल लिखा था।

इसने तुर्कों का भी हाल लिखा है, जिनसे इसकी मुलाक़ात मध्य एशिया में हुई थी। यह वह नई जाति थी, जो बाद को पश्चिम की तरफ़ बढ़ी और बहुत-सी सल्तनतों को उलट-पुलट दिया। इसने यह भी लिखा है कि सारे मध्य एशिया में बौद्ध विहार पाये जाते हैं। सच तो यह है कि बौद्ध विहार ईरान, इराक़, ख़ुरासान, मोसल और सीरिया की सरहद तक फैले हुए थे। ईरानियों के बारे में ह्यूएनत्सांग लिखता है—"ईरानी लोग पढ़ने-लिखने की परवाह नहीं करते, बल्कि अपना सारा वक़्त कला में लगाते हैं, और जो कुछ ये बनाते हैं, आस-पास के मुल्क उसकी बडी क़द्र करते हैं।"

उस जमाने के मुसाफ़िर अद्‌भुत होते थे। आजकल की अफ़रीका के अन्दर के मुल्कों की यात्रा या उत्तरी अथवा दक्षिणी ध्रुव की यात्रा, पुराने ज़माने की इन महान यात्राओं के मुक़ाबिले में तुच्छ-सी चीज़ है। ये लोग बरसों सफ़र करते थे और आगे बढ़ते जाते थे। पहाडों और रेगिस्तानों को पार करते थे और अपने सारे मित्रों से और सगे-संबंधियों से जुदा रहते थे। कभी-कभी इन्हें अपने घर की याद आती थी। लेकिन उनमें इतना आत्म-गौरव था कि इस बात को ज़बान पर नहीं लाते थे। एक मुसाफ़िर ने अपने मन की हल्की-सी झलक हमें दी है। वह एक दूर देश में खडा है; उसे अपने घर की याद आई, और वह उसके लिए व्याकुल हो गया। उस यात्री का नाम सुंगयुन था और वह हिन्दुस्तान में ह्यूएनत्सांग से १०० वर्ष पहले आया था। वह गन्धार के पहाडी देश में था, जो हिन्दुस्तान के उत्तर-पश्चिम में है। वह कहता है—"शीतल मन्द समीर, चिडियों के गीत, वसन्त ऋतु के सौन्दर्य में सजे हुए पेड, तितलियों का अनेक फूलों के ऊपर मँडराना—एक दूर देश में, इस मनोहर दृश्य को देखकर सुंगयुन कल्पना में अपने देश के अन्दर पहुँच गया और उस समय उसके हृदय में इतनी उदासी पैदा हो गई कि वह बुरी तरह बीमार पड़ गया।"

: ४४ :

दक्षिण भारत के अनेक राजा, शूरवीर और एक महापुरुष

१३ मई, १९३२

सम्राट हर्ष की ई० सन् ६४८ में मृत्यु, हुई; लेकिन उसके मरने के पहले ही हिन्दुस्तान की उत्तर-पश्चिम सीमा पर बिलोचिस्तान में एक छोटा-सा बादल दिखाई देने लगा था। यह छोटा-सा बादल उस भारी तूफ़ान का पूर्व चिन्ह था, जो पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ़रीका और दक्षिणी योरप में पैदा हो रहा था। अरब में एक नया पैग़म्बर पैदा हो गया था; उसका नाम मुहम्मद था। उसने एक नये धर्म का प्रचार किया, जिसे इस्लाम कहते हैं। अपने इस नये धर्म के उत्साह से उत्तेजित और अपनी शक्ति पर पूरा भरोसा करते हुए, अरब निवासी महाद्वीपों के एक कोनेसे दूसरे कोनेतक टूट पडे, और जहां वे पहुंचे वहीं उन्होंने विजय पाई। यह एक आश्चर्य-जनक करामात थी। हमें इस नई शक्ति के बारे में जानना चाहिए, जिसने इस दुनिया में आकर संसार की दशा में इतना अन्तर पैदा कर दिया। लेकिन इस शक्ति के बारे में ग़ौर करने के पहले हमें दक्षिणी हिन्दुस्तान की एक यात्रा कर आनी चाहिए, और इस बात को मालूम करने की कोशिश करनी चाहिए कि उन दिनों दक्षिण की क्या हालत थी। हर्ष के समय में अरबी मुसलमान बिलोचिस्तान पहुंचे, और उन्होंने थोडे दिन बाद सिन्ध पर क़ब्ज़ा कर लिया। लेकिन वे वहीं ठहर गये और अगले ३०० वर्ष तक हिन्दुस्तान पर मुसलमानों का कोई नया हमला नहीं हुआ, और ३०० बरस बाद जो हमला हुआ, वह अरबों का किया हुआ नहीं था, बल्कि यह मध्य एशिया के कुछ कबीलों का काम था, जो मुसलमान हो गये थे।

इसलिए हम दक्षिणी हिन्दुस्तान की ओर चलते हैं। हिन्दुस्तान के पश्चिम और मध्य में चालुक्य साम्राज्य था। इसमें ज्यादातर महाराष्ट्र प्रदेश थे। इसकी राजधानी 'बदामी' थी। ह्यूएनत्सांग महाराष्ट्रियों की, और उनकी दिलेरी की, तारीफ़ करता है। वह कहता है—"महाराष्ट्रीय लोग सैनिक और स्वाभिमानी होते हैं। उपकार के लिए कृतज्ञ, और अपकार का बदला लेनेवाले होते हैं। चालुक्यों को, उत्तर में हर्ष की, दक्षिण में पल्लवों की, और पूरब में कालिंगों की रोक-थाम रखनी पड़ती थी। पर चालुक्यों की शक्ति बढ़ती गई और वे एक सागर से दूसरे सागर तक फैल गये। लेकिन बाद में राष्ट्रकूटों ने उन्हें पीछे ढकेल दिया।

इस प्रकार दक्षिण भारत में बड़े-बडे साम्राज्य और राज्य फलते-फूलते रहे।

कभी एक दूसरे की शक्ति का पलड़ा बराबर रखते, और कभी उनमें से एक बढ़कर दूसरे को दबा देता। पांड्य-राज-वंश के समय में मदुरा संस्कृति का एक बड़ा केन्द्र था। यहाँ तमिल भाषा के कितने ही कवि और लेखक जमा होगये थे। तमिल भाषा की कई और प्राचीन पुस्तकें ईसवी सन् के शुरू की लिखी हुई हैं। पल्लवों के भी कभी शान के दिन थे। मलेशिया की नई आबादी बहुत कुछ उन्हींके कारण बसी थी। उनकी राजधानी काँचीपुर थी। जिसे आजकल काँजीवरम् कहते हैं।

बाद को चोल साम्राज्य शक्तिशाली होगया और नवीं सदी के बीच में उसने दक्षिण भारत को दबा लिया। वह एक समुद्री राष्ट्र था, और उसके पास बहुत बडी जल सेना थी, जिससे उसने बंगाल की खाडी और अरब-सागर पर क़ब्ज़ा कर रक्खा था। उसका मुख्य बन्दरगाह 'कावेरीपड्डिनम्' कावेरी नदी के मुहाने पर बसा था। विजयालय चोल साम्राज्य का पहला महान राजा था। चोल उत्तर की ओर फैलते गये; पर अन्त में राष्ट्रकूटों ने उन्हें एकाएक हरा दिया। लेकिन राजराजा ने चोल राज वंश को फिर से ताक़तवर बना दिया। और उसकी खोई हुई शान लौट आई। यह दसवीं सदी के अन्त की बात है, जब उत्तरी हिन्दुस्तान में मुसलमानों के हमले हो रहे थे। सुदूर उत्तर में जो घटनायें हो रहीं थीं, उनका प्रभाव राजराजा पर कुछ नहीं पड़ा, और वह अपने साम्राज्य को बढ़ाने की कोशिश में बराबर लगा रहा। उसने लंका को जीता, और चोलों ने वहां ७० वर्ष तक राज्य किया। राजराजा का पुत्र राजेन्द्र भी उसीकी तरह ज़बर्दस्त और लड़ाकू था। उसने दक्षिण बरमा को जीता; अपने साथ लड़ाई के हाथियों को जहाज़ों में भर कर ले गया था। वह उत्तरी हिन्दुस्तान में भी आया और बंगाल के राजा को हरा दिया। इस प्रकार चोल साम्राज्य बहुत विस्तृत हो गया। गुप्त साम्राज्य के बाद सबसे बड़ा साम्राज्य यही था। लेकिन बहुत दिन तक नहीं ठहर सका। राजेन्द्र बड़ा दिलेर और बहादुर था, लेकिन मालूम होता है कि वह बड़ा ज़ालिम था, और जिन राज्यों को उसने जीता, उनके दिलों को जीतने की उसने कोशिश नहीं की। राजेन्द्र नें सन् १०१३ से १०४४ तक राज्य किया। उसकी मृत्यु के बाद चोल साम्राज्य टुकडे-टुकडे हो गया और बहुत से मातहत राजाओं ने बग़ावत कर दी।

अपनी इन सैनिक विजयों के अलावा चोल बहुत दिनों तक अपने समुद्री व्यापार के लिए मशहूर थे। उनके बनाये हुए सुन्दर सूती कपडों की बडी माँग थी। उनका बन्दरगाह कावेरीपड्डिनम् बडे चहल-पहल का स्थान था। वहां दूर दूर देशों से माल लेकर जहाज़ आते थे और वहांसे माल ले जाते थे। वहाँ पर यवनों यानी यूनानियों की बस्ती भी थी। महाभारत में भी चोलों का ज़िक्र पाया जाता है।

मैंने दक्षिण भारत के कई सौ बरसों का हाल संक्षेप में तुम से कहने की कोशिश की है। शायद मेरे संक्षेप की इस कोशिश से तुम घपले में पड़ जाओगी। लेकिन हम अपनेको अनेक राष्ट्रों और राजवंशों की भूल-भुलैया में फँसा नहीं सकते। हमें सारे संसार पर विचार करना है और अगर इस दुनिया के एक छोटे हिस्से में फँस कर रह जायँ, फिर चाहे वह हिस्सा वही क्यों न हो जहाँ हम रहते हैं, तो हम बाक़ी हिस्सों पर ग़ौर नहीं कर सकेंगे।

लेकिन राजाओं और उनकी विजयों से तो उस समय की सभ्यता और कला सम्बन्धी विवरण ज्यादा महत्वपूर्ण है। उत्तरी हिन्दुस्तान की बनिस्बत दक्षिण में कला के बहुत ज्यादा अवशेष पाये जाते हैं। उत्तर के बहुत से स्मारक, इमारतें और पत्थर की मूर्तियाँ लड़ाइयों में और मुसलमानी हमलों के समय नष्ट हो गई हैं। दक्षिण हिन्दुस्तान में ये चीजें उस समय भी बच गई थीं, जब मुसलमान वहाँ पहुंचे। यह बडे दुर्भाग्य की बात है कि उत्तरी हिन्दुस्तान की बहुत-सी सुन्दर यादगारें नष्ट कर दी गईं। जो मुसलमान उत्तर भारत में आये,—और यहाँ यह याद रक्खो कि वे मध्य-एशिया के निवासी थे न कि अरब के—उनमें अपने मजहब के लिए जोश भरा था, और वे मूर्तियों को नष्ट कर देना चाहते थे। लेकिन इन मूर्तियों के नष्ट हो जाने की शायद यह भी एक वजह थी कि पुराने मन्दिरों से क़िले और गढ़ों का काम लिया जाता था। दक्षिण के बहुत से मन्दिर अब भी क़िलों की तरह बने हुए हैं, जहाँ लोग हमला होने पर अपना बचाव कर सकते हैं। इस तरह, ये मन्दिर पूजा के अलावा और भी बहुत से कामों में आते थे। मन्दिरों में ही देहाती मदरसे होते थे। यहीं देहात के लोगों के मिलने-जुलने की जगह होती थी। यहीं पंचायत घर (या पार्लमेण्ट) होता था, और अन्त में अगर जरूरत होती तो दुश्मनोंसे रक्षा करने के लिए भी यही मन्दिर गांव के निवासियों के लिए क़िले का काम करते थे। इस तरह इन्हीं मन्दिरों के चारों तरफ़ देहात की सारी जिन्दगी चक्कर लगाया करती थी। स्वाभाविक ही है कि ऐसी हालत में इन मन्दिरों के पुजारी और ब्राह्मण ही सबों पर प्रभाव रखते थे। लेकिन इस बात से कि इन मन्दिरों से कभी-कभी क़िलों का काम लिया जाता था, हम समझ सकते है, कि मुसलमान हमला करने पर मन्दिरों को क्यों नष्ट कर देते थे।

इसी जमाने का बना हुआ एक सुन्दर मन्दिर तँजौर में है, जिसे राजराजा चोल ने बनवाया था। बदामी में भी ख़ूबसूरत मन्दिर हैं, और कांजीवरम् में भी। लेकिन उस जमाने की सबसे अद्भुत इमारत एलोरा का कैलाश मन्दिर है। यह अद्भुत मन्दिर एक ठोस पहाडी पर टीले को काटकर बनाया गया है। इस मन्दिर को बनाने का काम आठवीं सदी के आखिरी हिस्से में शुरू हुआ था।

ताँबे की मूर्तियों के भी बहुत से सुन्दर नमूने मिलते हैं। इनमें 'नटराज' यानी शिव का जीवन-नृत्य की मूर्ति बहुत मशहूर है।

चोला-सम्राट राजेन्द्र प्रथम ने चोलापुरम् में सिंचाई के लिए नहरें बनवाई थीं, उनमें से एक बाँध ठोस और पक्का था और १६ मील लम्बा था। इन बाँधों के बनने के सौ वर्ष बाद एक अरब यात्री अलबेरूनी वहाँ गया, और इन्हें देखकर वह चकित हो गया था। उन बाँधों के बारे में वह लिखता है—"हमारे देशवासी अगर उन्हें देखते तो ताज्जुब करते। वैसी कोई चीज़ बनाना तो दूर रहा, वे उनका वर्णन भी नहीं कर सकते।"

मैंने इस पत्र में कई राजाओं और राजवंशों का ज़िक्र किया है, जिन्होंने कुछ दिन तक शान का जीवन बिताया और फिर ग़ायब और विस्मृत हो गये। लेकिन इसी समय दक्षिणी हिन्दुस्तान में एक बड़े अद्भुत आदमी ने जन्म लिया, जिसने हिन्दुस्तान की जिन्दगी के नाटक में सभी राजा-महाराजाओं से ज्यादा महत्व का हिस्सा लिया है। यह नौ जवान आदमी शंकराचार्य के नाम से प्रसिद्ध है। शायद वह आठवीं सदी के अन्त में पैदा हुआ था। मालूम होता है कि वह एक अपूर्व प्रतिभाशाली का आदमी था। वह हिन्दू धर्म के या हिन्दू धर्म के एक बौद्धिक रूप के, जिसे शैव मत कहते हैं, पुनरुद्धार में लग गया। उसने अपनी बुद्धि और तर्क के बल पर बौद्ध धर्म के विरुद्ध लड़ाई की और बौद्ध-संघ की तरह सन्यासियों का संघ बनाया, जिसमें सब जाति के लोग शामिल हो सकते थे। उसने सन्यासियों के चार केन्द्र क़ायम किये, जो हिन्दुस्तान के चारों कोनों पर उत्तर, पश्चिम, दक्षिण और पूरब में थे। उसने सारे हिन्दुस्तान का सफ़र किया, और जहाँ-कहीं भी वह गया, सफल हुआ। वह एक विजेता के रूप में बनारस आया। वह मुल्क जीतनेवाला नहीं था, बल्कि तर्क से मन को जीतनेवाला था। अन्त में वह हिमालय पर केदारनाथ गया, जहाँ हमेशा जमी रहनेवाली बर्फ़ की शुरूआत होती है, और वहीं उसका देहावसान हुआ। जब वह मरा उसकी उम्र केवल ३२ वर्ष, या इससे कुछ ही ज्यादा थी।

शंकराचार्य के कामों की कहानी अद्भुत् है। बौद्ध-धर्म, जो उत्तरी भारत से दक्षिण को भगा दिया गया था, अब हिन्दुस्तान से क़रीब-क़रीब ग़ायब हो गया। हिन्दू धर्म और उसका एक विशेष रूप, जो शैव मत के नाम से प्रसिद्ध है, सारे देश में फैल गया है। शंकर के ग्रन्थों, भाष्यों और तर्कों से सारे देश में एक बौद्धिक हलचल मच गई। शंकर सिर्फ़ ब्राह्मणों ही का बड़ा नेता नहीं बन गया, बल्कि मालूम होता है, उसने जन-साधारण के दिलों पर भी कब्ज़ा कर लिया था। यह एक असाधारण बात मालूम होती है, कि कोई आदमी सिर्फ़ अपनी बुद्धि के बल पर एक बड़ा नेता

हो जाय, और लाखों आदमियों पर और इतिहास पर अपनी छाप डाल दे। बड़े योद्धा और विजेता इतिहास में विशेष स्थान पा जाते हैं, वे लोकप्रिय हो जाते हैं, और कभी-कभी वे इतिहास पर भी अपना प्रभाव डालते हैं। बड़े-बड़े धार्मिक नेताओं ने लाखों के दिलों को हिला दिया है और उसमें जोश की आग जला दी है। लेकिन यह सब कुछ हमेशा श्रद्धा के आधार पर हुआ है। भावनाओं पर प्रभाव डाला गया है और हृदय को स्पर्श किया गया है।

बुद्धि पर प्रभाव डालने का असर ज्यादा दिन तक नहीं रहता। बदक़िस्मती से ज्यादातर लोग विचार नहीं करते, वे अपनी भावनाओं के वश में होकर सोचत हैं, और काम करने हैं। लेकिन शंकर की अपील दिमाग़, बुद्धि और विवेक के ऊपर होती थी। वह किसी पुरानी किताब में लिखे सिद्धान्त या मत को नहीं दुहराता था। उसका तर्क ठीक था या ग़लत, इसका विचार इस समय बेक़ार है। जो बात दिलचस्प है, वह तो यह कि उसने धार्मिक विषयों पर बुद्धि द्वारा विवेचन किया था, और इस तरीक़े को इख़्तियार करने पर भी सफलता पाई थी। इससे हम उस समय के शासक वर्गों की मनोदशा की एक झलक देख सकते हैं।

शायद तुम्हें यह बात दिलचस्प मालूम हो, कि हिन्दू दार्शनिकों में एक आदमी चार्वाक नाम का भी हुआ है जिसने अनीश्वरवाद का प्रचार किया है, और जो कहा करता था कि ईश्वर नहीं है। आज बहुत से ऐसे आदमी हैं, ख़ासकर रूस में, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते। लेकिन यहाँ पर हमें इस प्रश्न की गहराई में जाने जरूरत नहीं है।

मतलब की बात यह है कि पुराने जमाने में हिन्दुस्तान में विचार और प्रचार की कितनी आजादी थी। हिन्दुस्तान में लोगों को अन्तःकरण की स्वतंत्रता मिली हुई थी। यह अधिकार योरप में अभी हाल के जमाने तक लोगों को नहीं मिला था, और आज भी इस सम्बन्ध में अनेक बन्दिशें पाई जाती हैं।

शंकर की छोटी किन्तु परिश्रम से भरी जिन्दगी से दूसरी बात यह साबित होती है कि सारे हिन्दुस्तान में सांस्कृतिक एकता थी। प्राचीन इतिहास भर में इस बात को सभीने स्वीकार किया है। भूगोल की दृष्टि से, तुम जानती हो, हिन्दुस्तान क़रीब-क़रीब एक इकाई है। राजनैतिक दृष्टि से अकसर हिन्दुस्तान में विभेद रहा है, हालांकि कभी-कभी सारा देश एक केन्द्रीय शासन में था, लेकिन संस्कृति के ख़याल से यह देश हमेशा एक रहा, क्योंकि इसका पार्श्वचित्र, इसके संस्कार, इसका धर्म, इसके नायक और इसकी वीरांगनायें, इसकी पौराणिक गाथायें, इसकी विद्वत्ता से भरी भाषा (संस्कृत), देशभर में फैले हुए इसके तीर्थस्थान,

इसकी ग्राम पंचायतें, विचार-पद्धति, रीतनीत और सामाजिक संगठन हमेशा एक ही रहे हैं। साधारण हिन्दुस्तानी की नज़र में सारा हिन्दुस्तान 'पुण्यभूमि' था और बाकी दुनिया म्लेच्छों का निवास-स्थान थी। इस प्रकार हिन्दुस्तान में हिन्दुस्तानी होने की एक व्यापक भावना पैदा हुई, जिसने राजनैतिक विभेद की परवाह नहीं की; बल्कि उसपर विजय हासिल की। यह बात ख़ास तौर से इसलिए हो सकी कि गांवों का पंचायती शासन क़ायम रहा, चोटी पर चाहे जो तब्दीलियाँ क्यों न होती रहीं हों।

शंकर का हिन्दुस्तान के चारों कोनों को अपने सन्यासियों के मठ के लिए चुनना, इस बात का सबूत है कि वह हिन्दुस्तान को संस्कृति की दृष्टि से एक चीज़ समझता था। और उसके इस आन्दोलन में थोडे ही समय में सफलता का मिलना भी यह ज़ाहिर करता है कि मानसिक और बौद्धिक प्रवाह कितनी तेज़ी से देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल जाते थे।

शंकर ने शैवधर्म का प्रचार किया। यह धर्म दक्षिण में ख़ास तौर से फैला जहां ज्यादा पुराने मन्दिर शिव के मन्दिर हैं। उत्तर में गुप्तों के ज़माने में वैष्णवधर्म का और कृष्ण की पूजा का बहुत प्रचार हुआ था। हिन्दू धर्म के इन दोनों सम्प्रदायों के मन्दिर एक दूसरे से बिलकुल अलग हैं।

यह ख़त बहुत बड़ा हो गया और मुझे अब भी मध्यकालीन भारत के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहना बाक़ी है। इसलिए यह काम दूसरे ख़त के लिए मुल्तवी कर देना ठीक होगा।

: ४५ :

मध्ययुग का भारत

१८ मई, १९३२

तुम्हें याद होगा, कि मैंने तुमसे, अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधान मंत्री चाणक्य या कौटिल्य के बनाये हुए अर्थशास्त्र का कुछ ज़िक्र किया था। इस किताब में उस ज़माने की शासन-प्रणाली और उस वक्त के लोगों के बारे में तरह-तरह की बातें लिखी हैं, जैसे एक ऐसी खिड़की खुल गई हो, जिसमें से हम ईसा के पूर्व की चौथी सदी के हिन्दुस्तान की एक झलक देख सकते हैं। ऐसी किताबें, जिनमें शासन की बातों का ब्योरेवार वर्णन होता है, बादशाहों और उनकी विजयों के अत्युक्तिपूर्ण बयानों से कहीं ज्यादा काम की होती है।

एक दूसरी भी किताब है, जिससे मध्ययुग के हिन्दुस्तान के बारे में हम कुछ जान सकते हैं। यह शुक्राचार्य का बनाया हुआ 'नीतिसार' है। लेकिन यह किताब इतनी उत्तम और सहायक नहीं, जितना अर्थशास्त्र। लेकिन कुछ इसकी मदद से और कुछ दूसरे शिलालेखों और बयानों की मदद से, हम ईसा के बाद की नवीं और दसवीं सदी की एक झलक देखने की कोशिश करेंगे।

'नीतिसार' में लिखा है कि "न तो रंग से, और न ब्राह्मण कुल में पैदा होने से ब्राह्मण होने योग्य भावना पैदा होती है।" इसलिए इस किताब के अनुसार जाति-भेद जन्म से नहीं, बल्कि काम करने की योग्यता से होना चाहिए। एक दूसरी जगह इसमें लिखा है—"सरकारी नियुक्ति करते समय जाति या कुल का ख़याल न करना चाहिए, बल्कि कार्यदक्षता, चरित्र और क़ाबलियत देखनी चाहिए।" राजा का फ़र्ज़ था कि वह अपनी राय पर नहीं बल्कि जनता के बहुमत के अनुसार काम करे। "लोकमत राजा से भी ज्यादा शक्तिशाली चीज़ है, जैसे कई रेशों की बनी हुई रस्सी शेर को भी घसीट सकती है।"

ये सब बड़े उत्तम उपदेश हैं, और सिद्धान्तरूप से आज भी अच्छे हैं, लेकिन सच बात यह है, कि व्यवहार में इनसे हम बहुत ज्यादा फ़ायदा नहीं उठा सकते। यह मैंने माना कि अपनी लियाक़त और क़ाबिलयत से आदमी ऊंचा उठ सकता है। लेकिन आदमी लियाक़त और क़ाबलियत हासिल कैसे करे? कोई लड़की या लड़का चुस्त हो सकता है, और अगर उसे उचित शिक्षा मिले तो होशियार और कुशल भी बन सकता है। लेकिन जब पढ़ने-लिखने और सिखाने का कोई इन्तज़ाम ही न हो तो बेचारा लड़का या लड़की क्या कर सकती है?

इसी तरह लोकमत क्या है? किसका मत लोक-मत समझा जाय? शायद 'नीतसार' का लेखक शूद्रों की बड़ी संख्या को मत देने का अधिकारी नहीं समझता था। इन लोगों की कोई क़द्र नहीं थी। शायद उन्हीं लोगों का मत लोकमत समझा जाता था, जो ऊँचे और शासक वर्ग के थे।

फिर भी यह बात ध्यान देने लायक़ है कि मध्ययुग के, और उसके पहले के भी हिन्दुस्तानी राज-संगठन में राजाओं की निरंकुता या उनके दैवी अधिकार का सिद्धान्त बिलकुल नहीं माना जाता था।

इसी किताब में लिखा है कि उस समय एक राजपरिषद् होती थी। सार्वजनिक कामों के लिए और पार्क और जंगलों के लिए एक बड़ा अफ़सर जिम्मेदार होता था। क़स्बों और गावों का संगठन था। पुल, घाट, धर्मशालाओं, सड़कों और सबसे महत्वपूर्ण चीज़ शहर और गाँव की नालियों की देख-रेख का इन्तज़ाम था।

गाँवों के मामलों में गांव की पंचायतों को पूरा-पूरा इख़्तियार था और सरकारी अफ़सर पंचों की बडी इज्जत करते थे। पंचायत ही खेत देती थी, लगान वसूल करती थी और गाँव की तरफ़ से सरकार को मालगुजारी अदा करती थी। एक बहुत बडी पंचायत थी, जिसे महासभा कहते थे। यह महासभा इन छोटी पंचायतों की निगरानी करती थी। इन पंचायतों को अदालती इख़्तियार भी हासिल थे। ये लोग जज की हैसियत से भी काम कर सकते थे, और लोगों के मुक़दमों का फैसला भी कर सकते थे।

दक्षिण हिन्दुस्तान के कुछ पुराने शिलालेखों में बताया गया है कि पंचों का चुनाव कैसे होता है; किस योग्यता की इनसे आशा की जाती है, और इनके लिए कौन-कौन सी बातें वर्जित थीं। अगर कोई पंच सार्वजनिक पैसे का हिसाब नहीं देता था, तो वह पंच होने का हक़ खो बैठता था। दूसरा एक बहुत दिलचस्प क़ायदा यह था कि पंचों के नजदीकी रिश्तेदार नौकरियाँ नहीं पा सकते थे। अगर यही क़ायदा अब भी हमारी कौंसिल ,असेम्बली और म्युनिसिपैलिटियों में भी लागू कर दिया जाय तो कितना अच्छा हो। कमिटी के मेम्बरों में एक स्त्री का भी नाम आया है। इससे यह जाहिर होता है कि औरतें भी पंचायतों और उसकी कमिटियों की मेम्बर बन सकती थीं।

पंचायत के मेम्बरों में से कमिटियां बनाई जाती थीं, और हरेक कमिटी साल भर तक के लिए होती थी। अगर कोई सदस्य बेजा काम करता था, तो वह फ़ौरन हटा दिया जाता था।

ग्रामीण स्वराज्य की यह प्रणाली आर्य-शासन व्यवस्था की बुनियाद थी। इसीकी वजह से इसमें इतनी ताक़त थी। गाँव की ये सभायें, अपनी आजादी की इतनी परवाह करती थीं, कि यह क़ायदा था कि बिना राजाज्ञा के कोई भी सिपाही किसी गांव में घुस नहीं सकता था। 'नीतिसार' में लिखा हुआ है, कि जब प्रजा में से कोई राजा से किसी सरकारी अफ़सर की शिकायत करे, तो राजा को चाहिए कि वह अपनी प्रजा का पक्ष करे, न कि अपने अफ़सर का। अगर बहुत से आदमी किसी अफ़सर की शिकायत करें, तो उस अफ़सर को बरख़ास्त कर देना चाहिए क्यों कि 'नीतिसार' में लिखा है "अधिकार की शराब पी कर किसको नशा नहीं होता"। ये शब्द बुद्धिमानी के मालूम होते हैं। और ख़ासकर आजकल के हमारे देश के उन अफ़सरों के गिरोह पर लागू होते हैं, जो हमारे साथ बुरा सलूक करते और बुरी तरह हकूमत करते हैं।

बडे शहरों में, जहां बहुत से कारीगर और व्यापारी रहते थे, व्यापारी और कारीगरों की भी पंचायतें होती थीं। इस तरह से कारीगरों के संघ थे, बैंकिंग

कारपोरेशन थे, धनी महाजनों और साहूकारों की सभायें थीं और व्यापारियों के भी संघ थे। धार्मिक सँस्थायें तो थीं ही। ये संस्थायें अपने अन्दरूनी इन्तज़ाम पर अपना बहुत क़ाबू रखती थीं।

राजा को यह हुक्म था कि लोगों पर हलका कर लगावे, जिससे उनको नुक़सान न पहुंचे और उन पर भारी बोझ न पड़ जाय। राजा को लोगों पर उसी तरह से टैक्स लगाना चाहिए जैसे माला बनानेवाला माली बग़ीचे के पौधों और वृक्षों से फूल और पत्तियां चुनता है, कोयला जलानेवाले की तरह नहीं।

यह मुख़्तसर-सी और टूटी फूटी सूचना हमें हिन्दुस्तान के मध्य युग के बारे में मिलती है। यह पता चलाना मुश्किल है कि किताबों में जो नीति लिखी हुई है, उस पर किस हद तक अमल होता था। किताबों में लम्बे-चौडे आदर्श और सिद्धान्त की बातें लिखना बहुत आसान होता है, लेकिन ज़िन्दगी में उनपर अमल करना मुश्किल है। पर इन किताबों से हम उस ज़माने के लोगों की धारणा और विचार-प्रणाली समझ सकते हैं, चाहे वे इन पर पूरी तरह अमल न कर सकते रहे हों। हमें यह पता चलता है कि राजा और शासक निरंकुश नहीं थे, चुनी हुई पंचायतें इन पर नियंत्रण या दबाव रखती थीं। हमें यह भी पता चलता है कि गांव और शहरों में स्वशासन की प्रणाली काफ़ी तरक्क़ी कर चुकी थी, और केन्द्रीय सरकार उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं करती थी।

लेकिन जब मैं जनता की विचार-धारा की या स्वशासन की बात करता हूँ, तब मेरा क्या मतलब होता है? हिन्दुस्तान का सारा सामाजिक ढाँचा जाति-भेद पर बना हुआ था। सिद्धान्त रूप से सम्भव है, जाति-पांति के मामले में सख़्ती न रही हो; मुमकिन है, जैसा 'नीतिसार' में लिखा है, लियाक़त और योग्यता के सामने जाति-पांति का बन्धन ढीला हो जाता रहा हो। लेकिन वास्तव में इसका अर्थ कुछ नहीं होता। ब्राह्मण और क्षत्रिय ही दरअसल शासक थे। कभी-कभी इनमें आपस में प्रभुत्व के लिए लड़ाई होती थी। लेकिन ज्यादातर ये लोग मिल-जुल-कर राज्य करते थे, और एक दूसरे का लिहाज़ रखते थे। दूसरी जातियों को ये दबाये रहते थे। धीरे-धीरे जब व्यापार-धंधे बढ़े व्यापारी वर्ग अमीर और महत्वपूर्ण हो गया, और जब इसका महत्व बढ़ा तो इसको कुछ अधिकार भी मिले और इन्हें अपनी पंचायत के अन्दरूनी मामलों को तै करने की आज़ादी मिल गई। लेकिन फिर भी इस वर्ग को राज्य की शक्ति में कोई असली हिस्सा नहीं मिला था। और बेचारे शूद्र तो बराबर सबसे नीचे रहे। इनके नीचे और भी दूसरे थे।

कभी-कभी नीची जाति के आदमी भी ऊपर उठते थे। शूद्र भी राजा हुए हैं।

लेकिन इसे अपवाद समझना चाहिए। सामाजिक हैसियत में ऊंचा उठने का तरीक़ा ज्यादातर यह था कि सारी उपजाति की अपजाति एक ज़ीना ऊंचे उठ जाती थी। हिन्दू-धर्म अकसर नीची हालत के फ़िरक़ों को हज़म कर लेता था, धीरे-धीरे ये लोग ऊपर उठते थे।

इस तरह तुम देखोगी कि, हिन्दुस्तान में हालांकि पश्चिम के जैसे मजदूर गुलाम नहीं होते थे, फिर भी हमारा सारा सामाजिक ढांचा श्रेणियों में बंधा हुआ था, यानी एक वर्ग दूसरे वर्ग पर खड़ा था। लाखों आदमी जो नीचे की तह पर थे, चूसे जाते थे, और जो लोग ऊपर थे, उनका बोझ उन्हें सहना पड़ता था, और जो लोग चोटी पर थे, वे इस बात की पूरी-पूरी कोशिश करते थे, कि यह प्रणाली हमेशा क़ायम रहे, और सारे अधिकार इनके हाथ में रहें। इसलिए ये लोग बेचारे उन आदमियों को, जो बिलकुल सतह पर थे, शिक्षा का मौक़ा ही नहीं देते थे। गाँव की पंचायतों में शायद किसानों का कुछ हक़ था, वहां कोई इनकी उपेक्षा नहीं कर सकता था; लेकिन यह बहुत मुमकिन है कि कुछ होशियार ब्राह्मण इन पंचायतों पर भी हावी रहे हों।

यह पुरानी राज्य-प्रणाली तब से चली आती थी, जब आर्यों ने हिन्दुस्तान में क़दम रक्खा और द्रविडों के सम्पर्क में आये। यह प्रणाली उस मध्यकाल तक जारी रही, जिसका हम ज़िक्र कर रहे हैं। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि कमज़ोरी बराबर बढ़ती, गई और पतन होता रहा। शायद यह प्रणाली पुरानी हो रही थी, और बाहर से होनेवाले विदेशी हमलों ने धीरे-धीरे इसे नष्ट कर डाला।

तुम्हें यह जानने में दिलचस्पी हो सकती है कि पुराने ज़माने में हिन्दुस्तान गणित के लिए बहुत प्रसिद्ध था, और इस सम्बन्ध में एक स्त्री लीलावती का नाम बहुत मशहूर है। कहते हैं कि लीलावती, और उसके पिता भास्कराचार्य ने, और शायद एक दूसरे आदमी ब्रह्मगुप्त ने, पहले पहल दशमलव की प्रणाली निकाली थी। एलजबरा (बीजगणित) भी हिन्दुस्तान में ही पैदा हुआ। हिन्दुस्तान से यह अरब में गया, और अरब से योरप तक पहुँचा। एलजबरा अरबी शब्द है।

: ४६ :

शानदार अंगकोर और श्रीविजय

१७ मई, १९३२

अब हम बृहत्तर भारत की तरफ़ जायँगें। बृहत्तर भारत उन उपनिवेशों या बस्तियों के समूह का नाम था, जहां लोग दक्षिण हिन्दुस्तान से आकर मलेशिया और हिन्दी-चीन या इण्डो-चाइना में बसे थे। मैंने पहले तुम्हें बता दिया है कि ये बस्तियाँ किसतरह समझ-बूझकर संगठितरूप से बसाई गई थीं। ये कोई आप-ही-आप नहीं बन गई थीं। समुद्र के पार अकसर सफ़र होते रहे होंगे, और समुद्र के ऊपर काफ़ी अधिकार मिल गया होगा। नहीं तो एक ही वक़्त में, कई जगहों पर, संगठितरूप से नई बस्तियों का बसाना कैसे मुमकिन हो सकता है? मैंने तुम्हें बताया है कि ये नई बस्तियाँ ईसवी सन् की पहली और दूसरी सदी में शुरू हुई। ये सब हिन्दू बस्तियाँ थीं, और इनका दक्षिण भारतीय नाम रखा गया था। कई सदियों के बाद यहाँ बौद्ध धर्म धीरे-धीरे फैला, और सारा मलेशिया हिन्दू से बौद्ध हो गया।

अब हम पहले हिन्दी-चीन को चलें। सबसे पुराने उपनिवेश का नाम चम्पा था, और यह अनाम प्रदेश में था। हमें पता चलता है कि ईसा की तीसरी सदी में अनाम में पाण्डुरंगम् नाम का शहर बढ़ रहा था, और यहीं दो सौ बरस बाद कम्बोज नाम के बडे शहर ने भी उन्नति की थी। इसमें बडी इमारतें और पत्थर के मन्दिर थे। इन हिन्दुस्तानी नई बस्तियों में सब जगहों पर बडी-बडी इमारतें बन रही थीं। मशहूर इमारतें बनानेवाले और राजगीर हिन्दुस्तान से समुद्र पार ले जाये गये होंगे, और ये लोग, इमारतों के बनाने का हिन्दुस्तानी ढँग अपने साथ ले गये होंगे। मुख़्तलिफ़ राज्यों और टापुओं में इमारतें बनाने के मामले में बड़ी लाग-डाँट थी और इस लाग-डाँट की वजह से एक ऊँची तरह की कला-सम्बन्धी उन्नति हो गई थी।

इन उपनिवेशों के रहनेवाले लोग स्वभावतः समुद्र-यात्री थे। इन लोगों ने, या इन-के पूर्वजों, ने इस जगह तक पहुँचने के लिए समुद्र पार तो किया ही था और वहां पहुँचने पर फिर इनके चारों ओर समुद्र ही समुद्र था। समुद्र-यात्री लोग बहुत आसानी से व्यापार करने लगते हैं, इसलिए ये भी व्यापारी हो गये। व्यापार का माल जुदे-जुदे टापुओं को, पश्चिम में हिन्दुस्तान को और पूरब में चीन को, ले जाते थे। इसलिए मलेशिया के बहुतसे राज्य व्यापारी वर्ग के हाथ में थे। इन राज्यों में आपस में अक्सर मुख़ालिफ़त रहती थी। बडी-बडी लड़ाइयाँ छिड़ जाती थीं, और बडे-बडे क़त्लेआम भी हो जाते थे। कभी एक हिन्दू-राज्य, किसी बौद्ध राज्य के ख़िलाफ़

लड़ाई ठान देता था, तो कोई बौद्ध-राज्य किसी हिन्दू-राज्य से लड़ाई ठान लेता था। लेकिन उस जमाने में मेरा ख़याल है कि इन लड़ाइयों में से बहुत-सी लड़ाई की वजह व्यापारिक होड़ रही होगी। जैसे आज-कल बडी-बडी शक्तियों में लड़ाई इसलिए होती है, कि उनको अपने यहाँ के बने हुए माल के लिए बाज़ार की ज़रूरत रहती है।

लगभग तीन सौ बरस तक, यानी आठवीं सदी तक, हिन्दी-चीन में तीन अलग-अलग हिन्दू राज्य थे। नवीं सदी में एक बहुत बड़ा राजा हुआ, जिसका नाम जयवर्मन् था। इसने इन राज्यों को एक में मिला दिया, और एक बहुत बड़ा साम्राज्य क़ायम किया। यह शायद बौद्ध था। इसने अपनी राजधानी अंगकोर को बनाना शुरू किया, और इसके उत्तराधिकारी यशोवर्मन ने उसे पूरा किया। यह कम्बोजी साम्राज्य क़रीब ४०० वर्ष तक क़ायम रहा, और जैसा सब साम्राज्यों के बारे में कहा जाता है, यह भी बड़ा ताक़तवर और शानदार साम्राज्य समझा जाता था। 'अंगकोर थाम' का राजनगर सारे पूरब में 'शानदार अंगकोर' के नाम से मशहूर था। इसके पास ही 'अंगकोरवाट' का अद्‌भुत मन्दिर था। तेरहवीं सदी में कम्बोडिया पर कई दिशाओं से हमला हुआ। अनामी लोगों ने पूरब की ओर से आक्रमण किया, और पश्चिम की ओर से वहां की स्थानीय जातियों ने। उत्तर में शान लोगों को मंगोलों ने दक्षिण की ओर भगा दिया था। इनके सामने भागने का कोई दूसरा रास्ता नहीं था, इसलिए इन्होंने कम्बोडिया पर हमला कर दिया। यह राज्य इस तरह, बराबर लड़ाई करते-करते और अपनी हिफ़ाजत करते-करते बिल्कुल पस्त हो गया। फिर भी अंगकोर पूरब का एक सबसे ज्यादा शानदार शहर बना रहा। ई० सन् १२९७ में, एक चीनी दूत ने, जो कम्बोजी राजा के दरबार में भेजा गया था, अंगकोर की अद्‌भुत इमारतों का बड़ा सुन्दर वर्णन लिखा है।

लेकिन एकाएक अंगकोर पर एक भयंकर आफ़त आगई। सन् १३०० के क़रीब कीचड़ जमा हो जाने से मीकांग नदी का मुहाना बन्द हो गया और नदी के पानी को बहने का रास्ता न मिलने से वह पीछे लौटकर इस विशाल शहर के चारों तरफ़ की ज़मीन में भर गया। सारे उपजाऊ खेत निकम्मे, तराई और कछार के रूप में बदल गये। शहर की बडी आबादी भूखों मरने लगी और शहर छोड़कर दूसरी जगहों पर जाने के लिए मजबूर होगई। इस तरह शानदार अंगकोर उजाड़ हो गया और जंगलों ने उसे छिपा लिया। उसकी अद्‌भुत इमारतों में कुछ दिनों के लिए जंगली जानवर आकर रहने लगे। यहाँतक कि जंगलों ने उसके महलों को ख़ाक में मिला दिया और वहाँ अपना निष्कण्टक राज्य क़ायम कर लिया।

कम्बोडिया राज्य इस आफ़त से बहुत दिनों तक अपने आपको नहीं बचा

का, धीरे-धीरे बिखर गया और एक ऐसा प्रदेश बन गया, जिस पर कभी तो
नाम हुकूमत करता था और कभी स्याम। लेकिन आज भी अंगकोरवाट के विशाल
दिर के खण्डहर हमें बताते हैं कि कभी इस मन्दिर के पास एक शानदार और
का शहर बसा हुआ था, जहाँ दूर-दूर देशों के व्यापारी अपना माल लेकर आते
, और जहाँसे इस शहर के कलाकारों और कारीगरों का बनाया हुआ नफ़ीस
ाल दूसरे देशों को जाया करता था।

समुद्र के पार, हिन्दी-चीन से थोडी ही दूर, सुमात्रा का टापू था। यहाँ भी
क्षिण भारत के पल्लवों ने ईसा की पहली और दूसरी सदी में अपने नये उपनिवेश
साये थे। ये बस्तियां धीरे-धीरे तरक्क़ी कर गईं। मलाया का प्रायद्वीप शुरू से
मात्रा राज्य का हिस्सा बन गया था, और उसके बाद बहुत दिनों तक सुमात्रा और
लाया प्रायद्वीप का इतिहास मिला-जुला रहा। श्रीविजय नाम का बड़ा शहर,
ो सुमात्रा के पहाडों में बसा हुआ है, इस राज्य की राजधानी थी। पालेमबांग नदी
मुहाने पर इसका एक बन्दरगाह था। पाँचवीं या छठीं सदी में बौद्ध धर्म सुमात्रा का
मुख धर्म बन गया। सुमात्रा तो बौद्ध धर्म के प्रचार में बहुत उत्साही और अग्रसर,
हा और आख़िर में हिन्दू मलेशिया के अधिकांश भाग को बौद्ध बनाने में सफल भी
आ। इसीलिए सुमात्रा के साम्राज्य का नाम 'श्रीविजय का बौद्ध साम्राज्य' है।

श्रीविजय दिन-ब-दिन बढ़ता गया, यहाँ तक कि उसके क़ब्ज़े में सुमात्रा और
लाया ही नहीं, बल्कि फ़िलीपाइन, बोर्नियो, सेलेबीज़, आधा जवा, फ़ारमूसा के टापू
ा आधा हिस्सा (जो अब जापान के क़ब्ज़े में हैं) लंका और कैण्टन के पास
क्षिण चीन का एक बन्दरगाह भी आ गया। शायद इस साम्राज्य के अन्दर हिंदुस्तान
दक्षिणी कोने पर और लंका के सामने का एक बन्दरगाह भी शामिल था। तुम
ोगी कि श्रीविजय का साम्राज्य एक लंबा चौड़ा साम्राज्य था जिसमें सारा मलेशिया
मिल था। इन हिन्दुस्तानी बस्तियों का ख़ास पेशा दूकानदारी, व्यापार और जहाज़
ाना था। चीनी और अरब लेखकों ने उन बन्दरगाहों और उपनिवेशों की एक
हरिस्त दी है, जो सुमात्रा राज्य की मातहती में थे। यह फेहरिस्त बढ़ती ही गई है।

ब्रिटिश साम्राज्य आज सारी दुनिया में फैला हुआ है। हर जगह उसके बन्दर-
ह और अनेक कोयला लेने के स्टेशन हैं। जैसे जिब्राल्टर, स्वेज़ नहर (जो अँग्रेज़ों के
धकार में ज्यादा हैं) अदन, कोलम्बो, सिंगापुर, हांगकांग वग़ैर-वग़ैरा। अंग्रेज़ों की
न पिछले तीन सौ बरसों से एक व्यापारिक क़ौम रही है। इनका व्यापार तथा
की ताक़त सामुद्रिक प्रभुत्व पर निर्भर है। इसलिए इन लोगों को इस बात की
रत थी कि सारी दुनिया भर में सुविधाजनक फ़ासले पर बन्दरगाह और कोयला

लेने के स्टेशन हों। श्रीविजय साम्राज्य भी व्यापार की बुनियाद पर बनी हुई एक सामुद्रिक शक्ति थी। इसलिए जहाँ उन्हें क़दम रखने के लिए छोटी-सी भी जगह मिल गई, उन्होंने बन्दरगाह बना लिया। सुमात्रा-राज्य की बस्तियों का एक विचित्र पहलू यह भी था कि वे युद्ध-कला की दृष्टि से भी महत्व रखती थीं। वे ऐसी जगह बसाई गई थीं जहाँ आस-पास के समुद्रों पर अपना क़ाबू रख सकें। कहीं-कहीं ये बस्तियाँ इतनी पास-पास बसाई गई थीं कि इस अधिकार को बनाये रखने में एक दूसरे की मदद करें।

इस प्रकार सिंगापुर, जो बहुत बड़ा शहर है, सुमात्रा में जाकर बसनेवालों की एक बस्ती थी। यह नाम बिलकुल हिन्दुस्तानी है 'सिहांपुर'। सिंगापुर के सामने, जलडमरूमध्य के उस पार सुमात्रा के लोगों की एक दूसरी बस्ती भी थी कभी-कभी ये लोग इस जलडमरूमध्य के किनारे तक लोहे की एक जंजीर डालकर दूसरे जहाज़ों का आना-जाना रोक देते थे, और बहुत काफ़ी महसूल वसूल कर लेने पर ही उन्हें आने-जाने देते थे।

इस तरह श्रीविजय का साम्राज्य ब्रिटिश साम्राज्य से बहुत जुदा नहीं था। हां, छोटा ज़रूर था, लेकिन जितने दिनों तक ब्रिटिश साम्राज्य के क़ायम रहने की सम्भावना है, उससे कहीं ज्यादा दिनों तक वह क़ायम रहा। ग्यारहवीं सदी में यह साम्राज्य अपनी उन्नति की आख़िरी सीढ़ी पर था। यह क़रीब-क़रीब वही ज़माना है जब दक्षिण भारत में चोल साम्राज्य का बोलवाला था। लेकिन श्रीविजय का साम्राज्य चोल साम्राज्य के बाद भी ज़िन्दा रहा। श्रीविजय और चोल के आपस के सम्बन्ध का पता लगाना बहुत दिलचस्प बात होगी। दोनों ही समुद्र-यात्री क़ौमें थीं; दोनों ही साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों में आगे बढ़ी रहती थीं; दोनों ही बडी-बडी सेनायें रखती थीं; और दोनों ही व्यापारी थीं। इनके आपस में बहुत सम्पर्क रहा होगा; लेकिन यह सम्पर्क मित्रता का था या दूसरे क़िस्म का यह मैं नहीं बता सकता शायद पुरानी किताबों में इस सम्बन्ध में कुछ लिखा हो।

ग्यारहवीं सदी के शुरू में चीनी सम्राट ने सुमात्रा के राजा के लिए कई ताँबे के घण्टे उपहार में भेजे थे। इसके बदले में सुमात्रा के राजा ने मोती, हाथीदाँत और संस्कृत की किताबें भेजी थीं। एक ख़त भी भेजा गया था, जो कहते हैं सोने के पत्र पर हिन्दुस्तानी लिपि में लिखा था। मैं नहीं बता सकता कि इस खत की लिपि देवनागरी थी या दक्षिण की द्रविड़ भाषाओं की कोई लिपि थी। ग़ालिबन् भाषा संस्कृत या पाली रही होगी।

श्रीविजय बहुत दिनों तक हरा-भरा रहा। दूसरी सदी के शुरू से पांचवीं या

छठी सदी तक, जब यह बौद्ध हो गया, और उसके बाद भी यह धीरे-धीरे ग्यारहवीं सदी तक बराबर तरक़्क़ी करता गया। इसके बाद भी तीन सौ बरस तक यह एक विशाल साम्राज्य बना रहा और मलेशिया के व्यापार-धंधों पर उसका क़ब्ज़ा बना रहा। अन्त में ई० सन् १३७७ में एक पुराने पल्लव उपनिवेश ने इसे हरा दिया।

मैं तुमको बता चुका हूँ कि श्रीविजय साम्राज्य सीलोन से चीन के कैंटन तक फैला हुआ था और सीलोन और कैंटन के बीच के टापू ज्यादातर इस साम्राज्य की मातहती में थे। लेकिन यह एक छोटे से टुकडे को कभी हरा न सका। यह जावा का पूर्वी हिस्सा था, जो एक स्वतन्त्र राज्य की सूरत में क़ायम रहा। हिन्दू भी बना रहा और बौद्ध होने से बराबर इनकार करता रहा। इस तरह पश्चिमी जावा तो श्रीविजय की मातहती में और पूर्वी जावा स्वतन्त्र था। पूर्वी जावा का यह हिन्दू राज्य भी व्यापारी राज्य था और अपनी ख़ुशहाली के लिए व्यापार-धंधे पर आश्रित था। यह सिंगापुर को बडी लालच की नज़र से देखता रहा होगा, क्योंकि सिंगापुर बड़े मौक़े से बसा है, और एक बहुत बड़ा व्यापारी केन्द्र होगया था। इस तरह श्रीविजय और पूर्वी जावा में लाग-डांट रहती थी, और यह लाग-डांट बढ़कर कट्टर दुश्मनी के रूप में बदल गई थी। बारहवीं सदी से आगे जावा साम्राज्य धीरे-धीरे श्रीविजय को दबाकर बढ़ा, यहांतक कि, जैसा मैंने तुमको बताया है, चौदहवीं सदी में, यानी ई० सन् १३७७ में, इसने श्रीविजय को बिलकुल हरा दिया। यह लड़ाई बडी बेरहमी से लडी गई, और इसमें बड़ा विनाश हुआ। श्रीविजय और सिंगापुर दोनों तहस-नहस हो गये, और इस प्रकार मलेशिया के दूसरे महान साम्राज्य का अन्त हुआ, और इसके खण्डहरों पर तीसरा मज्जापहित का साम्राज्य उठ खड़ा हुआ।

पूर्वी जावा के निवासियों ने यद्यपि श्रीविजय के साथ अपनी लड़ाइयों में बहुत निर्दयता और क्रूरता दिखाई, फिर भी मालूम होता है कि यह हिन्दू राज्य सभ्यता के बहुत ऊँचे पैमाने तक पहुँच चुका था। उस जमाने की बहुत-सी किताबें जावा में मिलती हैं। लेकिन जिस बात में यह श्रेष्ठ था वह इमारत बनने की, ख़ासकर मन्दिर बनाने की, कला थी। जावा में पाँच सौ से ज्यादा मन्दिर थे, और कहा जाता है कि, इन मन्दिरों में कुछ ऐसे थे जिनमें पत्थर के काम के दुनिया भर से ज्यादा सुन्दर, बारीक और कलापूर्ण नमूने पाये जाते थे। इन बडे-बडे मन्दिरों में से बहुत-से सातवीं सदी से दसवीं सदी यानी सन् ६५० से ९५० के बीच तक के बने हुए थे। इन विशाल मन्दिरों को बनाने के लिए जावा के लोगों ने हिन्दुस्तान और आस-पास के मुल्कों से अपनी सहायता के लिए बहुत काफ़ी तादाद में होशियार राजगीर और कारीगर बुलाये होंगे। हम जावा और मज्जापहित का हाल अगले ख़त में देखेंगे।

जाता। लेकिन इनका इतिहास लम्बा और सम्पन्न है, नई खोजों और सफलताओं में, व्यापार में, कला में, और ख़ासकर मकान बनाने की कला में और दूसरे मार्के के कामों में ये सम्पन्न रहे हैं। इसलिए इनका इतिहास अध्ययन करने और ध्यान देने के क़ाबिल है। हिन्दुस्तानियों के लिए तो इनकी कहानी ख़ास तौर पर दिलचस्प है; क्योंकि उस ज़माने में वे क़रीब-क़रीब हिन्दुस्तान के ही हिस्से बन गये थे। हिन्दुस्तान के स्त्री-पुरुष पूर्वी समुद्र पार करके अपने साथ हिन्दुस्तानी संस्कृति, सभ्यता, कला और धर्म ले गये थे।

इस तरह गोकि हम मलेशिया में आगे बढ़ गये, पर असल में हम अभी तक सातवीं सदी में ही हैं। हमें अभी अरब पहुँचना है और इस्लाम के आगमन पर ग़ौर करना है, जिसकी वजह से योरप और एशिया में बडी-बडी तब्दीलियाँ हो गईं। इसके अलावा योरप की घटनाओं पर भी हमें नज़र डालना है।

अब हमें ज़रा पीछे हटकर योरप पर फिर एक नज़र डाल लेनी चाहिए। तुम्हें याद होगा कि रोम-सम्राट् कांस्टेण्टाइन ने कुस्तुन्तुनिया का शहर बास्फ़ोरस के किनारे उस जगह पर बसाया था, जहाँ बिज़ैण्टियम था। साम्राज्य की राजधानी पुराने रोम से उठाकर वह इस शहर को यानी नये रोम को, ले आया था। इसके बाद ही रोम-साम्राज्य दो हिस्सों में बँट गया। पश्चिमी साम्राज्य की राजधानी रोम और पूर्वी की कुस्तुन्तुनिया हुई। पूर्वी साम्राज्य को बडी परेशानी उठानी पडी, और इसके बहुत से दुश्मन हो गये थे। फिर भी ताज्जुब है कि यह सदियों, यानी ११०० बरसों तक, क़ायम रहा, जबतक कि तुर्कों ने आकर इसका ख़ातमा नहीं कर दिया।

पश्चिमी साम्राज्य की ज़िन्दगी इस क़िस्म की नहीं रही। बहुत दिनों से पश्चिमी दुनिया पर हावी रह चुकनेवाले रोम के राजनगर का, और रोम नाम का इतना ज्यादा रोब होते हुए भी यह साम्राज्य अद्भुत तेज़ी के साथ बिखर गया। यह किसी भी उत्तरी फिरक़े के हमले का मुक़ाबिला नहीं कर सका। एलरिक, जो गाथ जाति का था, इटली में घुस गया, और ४१० ई० में रोम पर क़ब्ज़ा कर लिया। इसके बाद वंडाल आये। उन्होंने रोम को लूटा। वे लोग उस जर्मन जाति के थे, जो फ़्रांस और स्पेन पार करके अफ़रीका में जा पहुँची थी, और वहाँ, कार्थेज के खण्डहरों पर, उसने अपना राज्य बनाया था। पुराने कार्थेज से ये लोग समुद्र पार करके योरप आये, और रोम पर क़ब्जा कर लिया। रोम पर कार्थेज की यह विजय ऐसी मालूम होती है, मानों प्यूनिक लड़ाइयों में रोम विजय का देर से बदला लिया गया हो।

इसी ज़माने के लगभग हूण लोग, जो असल में मध्य एशिया या मंगोलिया से

आये थे, बड़े ताक़तवर हो गये थे। ये लोग खानाबदोश थे, और डैन्यूब नदी के पूरब की तरफ़ और पूर्वी रोमन साम्राज्य के उत्तर-पश्चिम में बस गये थे। अपने नेता एटिला की मातहती में इन्होंने बड़ा ज़ोर बाँधा और कुस्तुन्तुनिया की सरकार और सम्राट् बराबर इनसे डरते रहते थे। एटिला इनको धमकियाँ देता था और इनसे बड़ी-बड़ी रक़में वसूल करता रहता था। पूर्वी साम्राज्य को काफ़ी ज़लील करने के बाद एटिला ने पश्चिमी साम्राज्य पर आक्रमण करने का निश्चय किया। उसने गाल प्रदेश पर हमला किया और दक्षिणी फ़्रांस के बहुत-से शहर बरबाद कर दिये। शाही फ़ौज उससे सामना करने के लायक़ न थी। लेकिन वे जर्मन फ़िरक़े, जिन्हें रोमन लोग बर्बर कहते थे, हूणों के इस हमले से डर गये, इसलिए फ्रैंक और गाथ लोगों ने रोम की शाही फ़ौजों का साथ दिया। इन सबने मिलकर ट्राय की बड़ी लड़ाई में हूणों का, जो एटिला के सेनापतित्व में लड़ने आये, मुक़ाबिला किया। कहते हैं, इस लड़ाई में डेढ़ लाख आदमी काम आये। एटिला हार गया और मंगोलियन हूण पीछे हटा दिये गये। यह ई० सन् ४५१ की बात है। लेकिन एटिला हार जाने पर भी युद्ध के लिए बड़ा उत्सुक था। वह इटली गया और उसने उत्तर के बहुत-से शहर लूटे और जला दिये। कुछ दिनों बाद ही वह मर गया। लेकिन अपने नाम के साथ वह बेरहमी और कठोरता की एक हमेशा क़ायम रहनेवाली बदनामी छोड़ गया। एटिला आज भी निर्दयतापूर्ण विनाश की मूर्ति समझा जाता है। उसकी मृत्यु के बाद हूण ठंडे पड़ गये। वे बस गये, और दूसरी जातियों के लोगों में मिल-जुल गये। तुम्हें खयाल होगा कि यह क़रीब-क़रीब वही ज़माना है, जब सफ़ेद हूण हिन्दुस्तान में आये थे।

(इसके ४० बरस बाद थियोडोरिक, जो गाथ जाति का था, रोम का बादशाह हुआ और यही रोम के पश्चिमी साम्राज्य का अन्त था। थोड़े दिनों बाद पूर्वीय रोमन साम्राज्य के एक बादशाह ने, जिसका नाम जस्टीनियन था इस बात की कोशिश की कि इटली को अपने साम्राज्य में मिला लें। इस कोशिश में वह सफल भी हुआ। उसने सिसली और इटली दोनों को जीत लिया। लेकिन थोड़े दिनों बाद ये दोनों उसके हाथ से निकल गये, और पूर्वी साम्राज्य को अपनी ही ज़िन्दगी के लाले पड़ गये।)

क्या यह ताज्जुब की बात नहीं, कि शाही रोम और उसका साम्राज्य इतनी जल्दी, और इतनी आसानी से हरेक आक्रमण करनेवाले फ़िरक़े के सामने पस्त हो जायँ? इससे कोई यही नतीजा निकालेगा कि रोम के अंजर-पंजर ढीले पड़ गये थे, और वह बिलकुल खोखला हो गया था। ग़ालिबन यह बात सही है। बहुत लम्बे ज़माने तक रोम का रौब ही उसकी ताक़त थी। उसके पुराने इतिहास को देखकर

लोग यह समझने लगे थे कि वही दुनिया में सबसे आगे है; इसलिए लोग उसकी इज्ज़त करते थे, और रोम का डर लोगों के दिलों में क़रीब-क़रीब अन्ध-विश्वास की हद तक पहुँच गया था। इस तरह रोम जाहिरा तौर पर एक महान् शक्तिशाली साम्राज्य की रानी बना रहा; लेकिन असलियत में उसके पीछे कोई ताक़त नहीं रह गई थी। बाहर से शांति थी और थियेटरों में, बाज़ारों और दंगलों में आदमियों की भीड़ लगी रहती थी; लेकिन असल में वह निश्चित रूप में विनाश की तरफ़ जा रहा था। इसकी वजह सिर्फ़ यही नहीं थी कि वह कमज़ोर था; बल्कि इसका कारण यह भी था कि उसने जनता की ग़ुलामी और मुसीबतों की बुनियाद पर अमीरों की सभ्यता का महल खड़ा किया था। मैंने तुम्हें अपने एक ख़त में रोम के ग़रीबों के बलवे और दंगे तथा ग़ुलामों के ग़दर का हाल, जो बडी बेरहमी से दबा दिया गया था, बताया है। इन बलवों से जाहिर होता है कि रोम का सामाजिक ढांचा कितना सड़ा हुआ था। वह आप-ही-आप छिन्न-भिन्न हो रहा था। उत्तर के फ़िरक़ों, अर्थात् गाथ और दूसरी जातियों के आने के कारण, विनाश के इस सिलसिले में कुछ तेज़ी आ गई। इसीलिए हमला करनेवालों का ज्यादा विरोध नहीं हुआ। रोम देश के किसान अपनी मुसीबतों से बेज़ार हो उठे थे। वे हर क़िस्म की तब्दीली का स्वागत करने के लिए तैयार थे। ग़रीब मज़दूर और ग़ुलाम तो और भी बदतर हालत में थे।

पश्चिम के रोमन-साम्राज्य के ख़त्म होते ही, पश्चिम की कई जातियां आगे आईं, जैसे गाथ, फ्रैंच तथा कुछ और, जिनका नाम गिनाकर मैं तुम्हें परेशान न करूँगा। ये आज कल के पश्चिमी यूरोपियन लोगों, यानी जर्मन, फ्रैंच इत्यादि के पूर्वज थे। हम इन देशों को योरप में धीरे-धीरे बनता हुआ देखते हैं। साथ-ही-साथ हम यह भी देखते हैं कि इस समय वहाँ एक बहुत नीची क़िस्म की सभ्यता थी। शाही रोम के ख़ातमे के साथ-साथ रोम की शान और विलासिता का भी ख़ातमा हो गया। और रोम में जो छिछली सभ्यता अभी तक चली जाती थी, एक दिन में ग़ायब हो गई। इसकी जड़ तो पहले ही सड़ चुकी थी। इस तरह हम अपनी आँखों से मनुष्य जाति के पीछे हटने का एक विचित्र नज़ारा देखते हैं। यही बात हमें हिन्दुस्तान, मिस्र, चीन, यूनान, रोम और दूसरी जगहों पर भी देखने को मिलती है। ये जातियाँ परिश्रम के साथ ज्ञान और अनुभव का संग्रह करती हैं। एक क़िस्म की अपनी संस्कृति और सभ्यता बनाती हैं और फिर एक दम से एक जगह पर पहुँचकर ठहर जाती हैं। यही नहीं, कि ठहर जाती हों, बल्कि पीछे हट जाती हैं। अतीत के ऊपर एक परदा-सा पड़ जाता है। हालाँकि कभी-कभी हमें उसकी झलक मिल जाती है, लेकिन ज्ञान और अनुभव के पहाड़ पर फिर से चढ़ना इनके लिए ज़रूरी हो जाता

है। शायद हर मर्तबा हम जरा ऊँचा उठते हैं, और अगले जीने पर चढ़ना आसान हो जाता है; ठीक वैसे जिस प्रकार गौरीशंकर यानी माउण्ट एवरेस्ट की चोटी पर चढ़ने के लिए टोलियों के बाद टोलियाँ आती हैं, और एक के बाद दूसरी टोली चोटी के ज्यादा नजदीक पहुँचने में सफल होती है, और हो सकता है कि बहुत जल्द सबसे ऊँची चोटी पर विजय का झंडा गड़ जाय।

इस प्रकार हम योरप में अन्धकार देखते हैं। 'अँधेरा जमाना' शुरू होता है। आदमी की जिन्दगी भोंडी और क्रूर बन जाती है। शिक्षा का क़रीब-क़रीब बिलकुल अभाव हो जाता है। पेशे या मनोरंजन के नाम पर सिर्फ़ लड़ाई रह जाती है। सुक़रात और अफलातून का जमाना बहुत दूर छूट जाता है।

यह तो पश्चिमी साम्राज्य की बात हुई। आओ, अब पूर्वी साम्राज्य की ओर नजर दौड़ायें। तुम्हें याद होगा कि कांस्टेण्टाइन ने ईसाई धर्म को राज-धर्म बना दिया था। इसके एक उत्तराधिकारी सम्राट् जूलियन ने ईसाई धर्म को मानने से इन्कार कर दिया। वह पुराने देवी-देवताओं की पूजा के मार्ग पर वापस जाना चाहता था, लेकिन सफल न हो सका। पुराने देवी-देवताओं का जमाना ख़तम हो चुका था, और ईसाई-धर्म उनके मुक़ाबिले में ज्यादा ताक़तवर था। जूलियन को ईसाई लोग 'काफ़िर जूनियन' कहने लगे और इसी नाम से इतिहास में वह मशहूर है।

जूलियन के बाद एक दूसरा सम्राट् हुआ, जो उससे बिलकुल दूसरी तरह का था। उसका नाम थियोडोसियस था और उसे 'महान्' कहा गया है। शायद उसे महान् इसलिए कहा गया है कि वह देवी-देवताओं की पुरानी मूर्तियों और मन्दिरों के तोड़ने में महान् था। वह सिर्फ़ ग़ैर-ईसाइयों के ही ख़िलाफ़ नहीं था, बल्कि उन ईसाइयों का भी विरोधी था, जो इसके मतानुसार काफ़ी कट्टर नहीं होते थे। कोई विचार या धर्म, जो उसे पसन्द न होता था, उसे वह नहीं सह सकता था। थियोडोसियस ने थोडे दिनों के लिए पूर्वी और पश्चिमी साम्राज्य को मिला दिया था, और वह दोनों का सम्राट् रहा था। यह ई० सन् ३९२ की बात है, जब रोम पर बर्बरों का हमला नहीं हुआ था।

ईसाई धर्म फैलता गया। इसको ग़ैर-ईसाइयों से परेशानी नहीं थी। जो कुछ लड़ाई-झगड़ा होता था, वह सब ईसाई सम्प्रदाय के लोग आपस में किया करते थे। असहिष्णुता आश्चर्यजनक थी। सारे उत्तर अफ़रीका, पश्चिम एशिया, और योरप में भी, बहुत सी जगहों पर लड़ाइयाँ हुईं, जिनमें ईसाइयों ने, अपने दूसरे ईसाई भाइयों को डंडे, घूँसों और इसी प्रकार के दूसरे समझाने के 'नरम' साधनों का इस्तैमाल करके, सच्चा धर्म सिखाने की कोशिश की।

ई० सन् ५२७ से ५६५ तक जस्टीनियन कुस्तुन्तुनिया में सम्राट् रहा। मैंने तुमको पहले ही बता दिया है कि उसने गाथ लोगों को इटली से निकाल दिया था और कुछ दिनों के लिए इटली और सिसली पूर्वी सम्राज्य में शामिल कर लिये गये थे। बाद को गाथ लोगों ने इटली को छीन लिया।

जस्टीनियन ने कुस्तुन्तुनिया में सैंक्टा सोफ़िया का ख़ूबसूरत गिरजा बनाया जो आजतक बिज़ैण्टाईन गिरजों में एक बड़ा ही ख़ूबसूरत गिरजा समझा जाता है। इसने उस वक्त जितने क़ानून मौजूद थे, सबको इकट्ठा कराया और योग्य वकीलों से उनको तरतीबवार करा दिया। पूर्वी रोमन साम्राज्य और उसके सम्राटों के बारे में और बातें जानने के बहुत पहले मुझे इस कानूनी किताब से जस्टीनियन का नाम मालूम था। क्योंकि इस किताब का नाम 'इन्स्टीट्यूट आफ़ जस्टीनियन' है। मुझे यह पढ़नी पडी थी। लेकिन हालाँकि जस्टीनियन ने कुस्तुन्तुनिया में एक युनिवर्सिटी खोली थी, उसने एथेन्स के फ़िलासफ़ी के पुराने स्कूल बन्द करा दिये थे। ये स्कूल अफ़लातून ने खोले थे, और क़रीब एक हज़ार वर्ष से चले आरहे थे। किसी भी कट्टर और अंधविश्वासी मज़हब के लिए फ़िलासफ़ी एक ख़तरनाक चीज़ होती है, क्योंकि इसकी वजह से आदमी सोचने-विचारने लगता है।

इस तरह से हम छठी सदी तक पहुँचते हैं। हम देखते हैं कि धीरे-धीरे रोम और कुस्तुन्तुनिया एक दूसरे से दूर होते जाते हैं। रोम पर तो उत्तर के जर्मन फिरक़े कब्ज़ा कर लेते हैं, और कुस्तुन्तुनिया रोमन कहलाते हुए भी, यूनानी साम्राज्य का केन्द्र हो जाता है। रोम छिन्न-भिन्न होकर अपने उन विजेताओं की सभ्यता के निचले पैमाने तक पहुँच जाता है, जिन्हें अपने शान के ज़माने में वह बर्बर कहा करता था। कुस्तुन्तुनिया ने एक तरह से अपनी पुरानी मर्यादा क़ायम रक्खी, लेकिन वह भी सभ्यता के पैमाने में नीचे चला गया है। ईसाई सम्प्रदाय प्रभुत्व के लिए एक दूसरे से लड़ते हैं, और पूर्वी ईसाई-धर्म, जो तुर्किस्तान, चीन और एबीसीनिया तक फैल गया था, कुस्तुन्तुनिया और रोम दोनों से जुदा होजाता है। 'अंधेरा ज़माना' शुरु होता है। इस समय अगर कोई शिक्षा थी तो प्राचीन भाषाओं की, यानी पुरानी लैटिन, जिसको यूनानी से स्फूर्ति प्राप्त हुई थी। लेकिन इन पुरानी यूनानी किताबों में फ़िलासफ़ी थी, और देवी-देवताओं का वर्णन था। उस प्रारम्भिक ज़माने के दीन-दार, श्रद्धालु और अनुदार ईसाइयों के लिए ये किताबें उचित साहित्य नहीं थीं। इसलिए इनके पढ़ने के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। इस तरह से विद्या की हानि हुई और कला के कई रूप नष्ट होगये।

लेकिन ईसाई धर्म ने विद्या और कला को बनाये रखने में भी कुछ सहायता

की है। बौद्ध संघों की तरह ईसाई मठ भी बने और तेजी से फैल गये। इन मठों में कभी-कभी प्राचीन विद्या को आश्रय मिलता था और इन्हीं मठों में उस नई कला का भी बीज बोया गया जो कई सदियों के बाद अपने पूर्ण सौन्दर्य से पल्लवित और प्रफुल्लित हुई। इन मठों के फ़क़ीरों ने विद्या और कला के चिराग़ की टिमटिमाहट को क़ायम रक्खा। इस चिराग़ को बुझने न देना ही इनकी सेवा है। लेकिन विद्या की यह रोशनी एक छोटे हल्के में ही परिमित थी; बाहर तो बिल्कुल अँधेरा ही था।

ईसाई धर्म के इस शुरू के जमाने में एक दूसरी आश्चर्य-जनक प्रवृत्ति हमें दिखाई देती है। बहुत से आदमी मजहबी जोश में आकर रेगिस्तानों में या एकान्त जगहों में चले जाते थे, जहां आदमियों की बस्ती नहीं होती थी और वहां जंगली तरीक़े से रहते थे। ये लोग अपने को पीड़ा पहुँचाते थे; नहाते-धोते नहीं थे और जहां तक हो सकता था पीड़ा सहन करने की कोशिश कहते थे। ख़ास तौर से यह बात मिस्र में पाई जाती थी, जहां इस क़िस्म के बहुत से फ़क़ीर रेगिस्तान में रहा करते थे। इनका यह ख़याल था कि जितनी ही ज्यादा पीड़ा वे सहेंगे और जितना ही कम नहायें-धोयेंगे, उतने ही अधिक पवित्र हो जायँगे। एक फ़क़ीर ऐसा हुआ, जो कई वर्षों तक एक खम्भे की चोटी पर बैठा रहा। धीरे-धीरे इस तरह के फ़क़ीरों का ख़ातमा हो गया, लेकिन बहुत दिनों तक अनेक श्रद्धालु ईसाइयों का विश्वास बना रहा कि किसी प्रकार के सुख का उपभोग करना पाप है। कष्ट-सहन के सिद्धान्त ने ईसाई धर्म की विचार धारा पर अपना रंग जमा लिया था। योरप मे आज इस तरह की कोई बात नहीं दिखाई देती। आज तो वहां का यह हाल है कि हरेक आदमी इस बात पर उतारू है कि पागल की तरह इधर-उधर घूमे और मौज करें। अक्सर इस दौड़-धूप की वजह से जी में उदासी और उचाट पैदा हो जाती है और मौज का मजा नहीं मिलता।

पर हिन्दुस्तान में आज भी हम कभी-कभी देखते हैं कि कुछ लोग वैसी ही बातें करते हैं, जैसी मिस्र के ये फ़क़ीर किया करते थे। ये लोग अपना हाथ ऊपर उठाये रहते हैं, यहांतक कि यह सूखकर बेकार हो जाता है; या लोहे की नुकीली कीलों पर बैठे रहते हैं, या इसी तरह के अनेक फिजूल और बेवक़ूफ़ी के काम करते हैं। मेरा ख़याल यह है कि, बहुत से तो, यह इसलिए करते हैं कि बेसमझ आदमियों के ऊपर रौब गांठकर और धोखा देकर उनसे पैसे वसूल करें और कुछ लोग यह समझकर करते हैं कि ऐसा करने से पवित्र हो जायँगे। गोया अपने शरीर को किसी अच्छे काम के लिए अयोग्य बना लेना भी जरूरी हो सकता है!

यहाँ मुझे बुद्ध की एक कहानी याद आती है, जिसका ज़िक्र अपने पुराने मित्र ह्यूएनत्साँग ने किया है। बुद्ध का एक नौजवान शिष्य तपस्या कर रहा था। बुद्ध ने उस से पूछा—"प्रिय युवक! जब तुम गृहस्थ थे, तब क्या वीणा बजाना जानते थे?" उसने कहा—"जी हाँ!" तब बुद्ध ने कहा—

"अच्छा म इससे एक उपमा देता हूँ। जिस वीणा के तार बहुत कसे होते हैं, उसकी आवाज़ ठीक नहीं होती। जब इसके तार ढीले होते हैं तो उसकी आवाज़ में न मिठास होती है, न संगीत। लेकिन जब वीणा के तार न ज्यादा कसे होते हैं, न ज्यादा ढीले, तब इसके तारों से मधुर संगीत निकलता है। यही हाल शरीर का भी है। जब तुम इसके साथ कठोरता का व्यवहार करोगे, यह थक जायगा और मन लापरवाह रहेगा। जब तुम इसके साथ बहुत ज्यादा मुलामियत का व्यवहार करोगे, तो तुम्हारी भावनायें मन्द पड़ जायंगी और तुम्हारी इच्छाशक्ति कमज़ोर हो जायगी।"

: ४८ :

इस्लाम का आगमन

२१ मई, १९३२

हमने कई देशों के इतिहास पर विचार किया और अनेक साम्राज्यों और सल्तनतों के उत्थान व पतन का भी हाल देखा। लेकिन अरबस्तान का क़िस्सा अभी तक हमारे सामने नहीं आया। हाँ, हमने उसके बारे में यह ज़रूर कहा है कि इस देश के व्यापारी और नाविक दुनिया के दूर-दूर के मुल्कों में जाया करते थे। नक़शे को देखो। अरबस्तान के पश्चिम में मिस्र है, उत्तर में सीरिया और इराक़ है, और थोडी दूर पश्चिम में एशिया माइनर और कुस्तुन्तुनिया है। यहाँ से यूनान भी दूर नहीं है और हिन्दुस्तान भी बस समुद्र के उस पार दूसरी तरफ़ है। चीन और सुदूर पूरब के मुल्कों का अगर हम ख़याल न करें, तो अरबस्तान, पुरानी सभ्यताओं के लिहाज़ से बिल्कुल बीचों-बीच में बसा हुआ था। इराक़ में दजला (टाइग्रिस) और फ़ुरात (यूफ़ेटीज़) नदियों के किनारे बडे-बडे शहर बस गये। इसी प्रकार मिस्र में सिकन्दरिया, सीरिया में दमिश्क और एशिया माइनर में एण्टिआक जैसे बडे-बडे शहरों का जन्म हुआ। अरब लोग व्यापारी थे और सफ़र करने के आदी थे, इसलिए इन शहरों को अक्सर आया-जाया करते होंगे। फिर भी अरबस्तान ने इतिहास में कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया था। यह भी नहीं मालूम होता कि इस देश में सभ्यता का पैमाना उतना ऊँचा रहा हो, जैसा आस-पास के देशों में था। अरबस्तान ने न तो दूसरे देशों

को जीतने की कोशिश की, और न उसको ही जीतना किसीके लिए आसान था।

अरब एक रेगिस्तानी मुल्क है, और रेगस्तान और पहाड़ ऐसे मजबूत आदमियों को जन्म दिया करते हैं जिन्हें अपनी आजादी प्यारी होती है और जो आसानी से हराये नहीं जा सकते। फिर अरब कोई धनी देश नहीं था, और इसमें कोई ऐसी चीज भी नहीं थी जिसकी लालच से विदेशी विजेता या साम्राज्यवादी इसपर हमला करते। इसमें सिर्फ़ दो छोटे-छोटे नगर थे, मक्का और यथरीब। ये समुद्र के किनारे बसे हुए थे। बाक़ी हिस्से में रेगिस्तान के अन्दर आबादियाँ थीं, और इस देश के लोग ज्यादातर बद्दू, यानी 'रेगिस्तान के रहनेवाले' थे। तेज ऊँट और ख़ूबसूरत घोडे इनके आठ पहर के साथी थे। अपनी आश्चर्यजनक सहनशीलता के कारण गधा भी एक क़ीमती और वफ़ादार दोस्त समझा जाता था। ख़च्चर या गधे से जब किसी की बराबरी की जाती तो, वह उसे तारीफ़ की बात समझता था। यह दूसरे मुल्कों की तरह कोई बुराई की बात नहीं समझी जाती थी; क्योंकि एक रेगिस्तानी मुल्क में जिन्दगी बडी कठिन होती है और दूसरी जगहों के मुक़ाबिले वहाँ ताक़त और सहनशीलता कहीं ज्यादा क़ीमती गुण समझे जाते हैं।

(ये रेगिस्तान के रहनेवाले, आत्माभिमानी, भावुक और झगड़ालू होते थे। ये कबीले और ख़ानदान बनाकर रहते थे, और दूसरे कबीलों तथा ख़ानदानों से झगड़ा किया करते थे। साल में एक बार ये लोग आपस में सुलह कर लेते थे और मक्का की तीर्थ-यात्रा के लिए जाया करते थे, जहाँ इनके देवताओं की बहुत-सी मूर्तियाँ रक्खी थीं। सबसे ज्यादा वे एक काले पत्थर (संगअसबद) की पूजा करते थे, जिसका नाम 'काबा' था।)

इन लोगों की जिन्दगी ख़ानाबदोशों की जिन्दगी थी, और कुलपति या ख़ानदान का सबसे बूढ़ा आदमी इनपर शासन करता था। इनकी जिन्दगी उसी क़िस्म की थी, जैसी नागरिक जीवन और सभ्यता इख़्तियार करने के पहले मध्य एशिया या दूसरी जगहों की आदिम जातियों की हुआ करती थी। अरब के चारों तरफ़ जितने बडे-बडे साम्राज्य खडे हुए, उन सबके उपनिवेशों में अक्सर अरबस्तान शामिल होता था। लेकिन यह मातहती नाम मात्र को थी। इसमें कोई असलियत नहीं हुआ करती थी, क्योंकि ख़ानाबदोश रेगिस्तानी कबीलों पर हुकूमत करना या उनको फ़तह करना कोई आसान काम नहीं था।

तुम्हें शायद याद होगा कि एक दफ़ा सीरिया में पालमीरा में एक छोटी-सी अरब सल्तनत क़ायम हुई थी, और ईसवी सन् की तीसरी सदी में, थोडे दिनों के लिए, इस सल्तनत ने एक शानदार जमाना देखा था। लेकिन यह भी ख़ास अरब के बाहर

थी। इस तरह बद्दू लोग पुश्त-दर-पुश्त अपनी रेगिस्तानी ज़िन्दगी बिता रहे थे। अरबी जहाज़ व्यापार के लिए बाहर जाते थे, और अरबस्तान में बहुत कम तब्दीली नज़र आती थी। कुछ लोग ईसाई गये थे और कुछ यहूदी; लेकिन ज्यादातर लोग ३६० मूर्तियों के, और मक्का के 'काले पत्थर' (काबा) के पूजनेवाले ही बने रहे।

यह एक अजीब बात है, कि अरब क़ौम, जो इतने दिनों तक सो रही थी, और दूसरी जगहों की घटनाओं से ज़ाहिरा बिलकुल अलग थी, एकदम से जाग पड़ी, और उसने इतनी ज्यादा तेज़ी दिखाई कि सारी दुनिया हिल उठी, और उसमें उथल-पुथल मच गई। अरब लोग एशिया, योरप और अफ़रीका में तेज़ी के साथ कैसे फैल गये, और उन्होंने अपनी ऊँची संस्कृति और सभ्यता का किस प्रकार विकास किया, यह कहानी इतिहास के चमत्कारों में से एक है।

जिस नई शक्ति या ख़याल ने अरबों को जगाया, उनमें आत्म-विश्वास और उत्साह भर दिया, वह इस्लाम था। इस मज़हब को एक नये पैग़म्बर, मुहम्मद ने, जो मक्का में ५७० ई० में पैदा हुए थे, चलाया था। उन्हें इस मज़हब के चलाने की कोई जल्दी नहीं थी। वह शान्ति की ज़िन्दगी गुज़ारते थे, और शहर के लोग उनको चाहते थे और उनपर विश्वास करते थे। उनको 'अल् अमीन' (थातीवाला या ट्रस्टी) कहा जाता था। लेकिन जब उन्होंने अपने नये मज़हब का प्रचार शुरू किया, और ख़ासकर जब वह मक्का की मूर्त्तियों के ख़िलाफ़ उपदेश देने लगे, तो बहुत से लोग उनके ख़िलाफ़ हो गये, और आख़िर उनको अपनी जान बचाकर मक्का से भागना पड़ा। सबसे ज्यादा वह इस बात पर ज़ोर देते थे, कि ईश्वर एक है, और मुहम्मद उसका रसूल है।

(मक्का से अपने ही लोगों द्वारा भगा दिये जाने पर, उन्होंने यथरीब में अपने कुछ दोस्तों और सहायकों के यहाँ आश्रय लिया) मक्का से उनकी इस रवानगी को अरबी ज़बान में 'हिजरत' कहते हैं, और मुसलमानी सम्वत् उसी वक्त यानी सन् ६२२ ई० से शुरू होता है। यह हिजरी सम्वत् चन्द्र-सम्वत् है, यानी इसमें चन्द्रमा के अनुसार तिथियों का हिसाब लगाया जाता है। इसलिए सौर वर्ष से, जिसका आज कल साधारणतः प्रचार है, हिजरी साल ५-६ दिन कम है। और हिजरी सम्वत् के महीने एक ही मौसम में नहीं पड़ते। हिजरी सम्वत् का एक महीना अगर इस साल जाडे में होगा, तो कुछ वर्षों के बाद वही महीना बीच गर्मी में पड़ सकता है।

हम ऐसा कह सकते हैं कि इस्लाम उस दिन से शुरू हुआ, जिस दिन मुहम्मद साहब मक्का से निकले, या उन्होंने 'हिजरत' की, यानी सन् ६२२ से। हालाँकि एक लिहाज़ से इस्लाम इसके पहले शुरू हो चुका था। यथरीब शहर ने मुहम्मद साहब

का स्वागत किया और उनके आगमन के उपलक्ष में इस शहर का नाम बदलकर 'मदीनत-उन-नबी' यानी 'नबी का शहर' कर दिया गया। आज कल संक्षेप में इसको सिर्फ़ मदीना कहते हैं। मदीना के जिन लोगों ने मुहम्मद साहब की मदद की थी, वे 'अंसार' कहलाये। अंसार का मतलब है मददगार। इन मददगारों के वंशज अपने इस ख़िताब पर आज भी अभिमान करते, और अभी तक उसका इस्तैमाल करते हैं। तुम कम-से-कम इस ख़ानदान के एक आदमी को जरूर जानती हो। हमारे परम मित्र डॉक्टर एम. ए. अन्सारी इसी ख़ानदान के हैं।

इस्लाम या अरबों की विजय-यात्रा पर विचार करने के पहले, आओ, जरा चारों तरफ़ एक नजर डाललें। हम अभी देख चुके हैं कि रोम ख़तम हो चुका था, पुरानी यूनानी-रोमन-सभ्यता का अन्त हो गया था और इस सभ्यता ने जो सामाजिक ढांचा बनाया था वह भी बिखर गया था। उत्तरी योरप की जातियाँ और उपजातियां सामने आ रही थीं। रोम से कुछ सीखने की कोशिश करते हुए ये लोग बिलकुल एक नये क़िस्म की सभ्यता बना रहे थे। लेकिन यह इनकी शुरुआत ही थी और इनके काम का कोई नतीजा अभी तक नहीं दिखाई देता था। इस तरह एक तरफ़ तो पुराने का अन्त हो चुका था, दूसरी ओर नये का जन्म नहीं हुआ था। इसलिए योरप में अंधेरा था। यह सच है कि योरप के पूर्वी किनारे पर पूर्वी रोमन साम्राज्य क़ायम था। कुस्तुन्तुनिया का शहर उस वक्त भी बड़ा और शानदार शहर था और योरप में सबसे बड़ा शहर माना जाता था। खेल-तमाशे और सरकस उसके थियेटरों में हुआ करते थे और वहाँ बहुत शान व शौकत थी। फिर भी साम्राज्य कमजोर हो रहा था। ईरान के सासानियों के साथ इनकी बराबर लड़ाई जारी थी। ईरान के ख़ुसरो द्वितीय ने कुस्तुन्तुनिया से उसकी सल्तनत का कुछ हिस्सा छीन लिया था। खुसरो अरबस्तान को भी अपने आधीन मानता था, हालाँकि यह अधीनता नाममात्र की थी। खुसरो ने मिस्र को भी जीत लिया था, और कुस्तुन्तुनिया के किनारे पर पहुँच गया था। लेकिन हिरेक्लियस नामक यूनानी सम्राट ने इसे वहाँ हरा दिया। बाद में खुसरो को उसके ही लड़के कवाद ने मार डाला।

इस तरह तुम देखोगी कि पश्चिम में योरप और पूरब में ईरान दोनों की ही हालत ख़राब थी। इसके अलावा ईसाई सम्प्रदायों में होनेवाले आपसी झगड़ों का कोई अन्त ही नहीं था। अफ़रीका में और पश्चिम में जिस ईसाई-धर्म का प्रचार था वह बड़ा कलुषित और झगड़ालू था। ईरान में जरथुस्त धर्म राजधर्म था और लोगों पर जबरदस्ती लादा जाता था। इसलिए औसत आदमी योरप, अफ़रीका और ईरान में उस समय के मजहब से ऊब गये थे। उन्हीं दिनों, सातवीं सदी की शुरुआत में, सारे

योरप में भयंकर महामारियाँ फैल चुकी थीं, जिनके कारण लाखों आदमी मर चुके थे।

हिन्दुस्तान में हर्षवर्धन राज कर रहा था, और ह्यूएनत्सांग इसी समय हिन्दुस्तान में आया हुआ था। हर्ष के राजकाल में हिन्दुस्तान एक शक्तिशाली देश था। लेकिन थोडे ही दिन बाद उत्तरी हिन्दुस्तान के टुकडे-टुकडे होगये और वह कमज़ोर पड़ गया। पूरब में, और आगे चीन में इसी समय तंग राज-वंश का आरम्भ हुआ था। ई० सन् ६२७ में 'ताई-त्सांग' नाम का उनका एक सबसे बड़ा सम्राट् तख़्त पर बैठा और उसके ज़माने में चीनी साम्राज्य पश्चिम में कैस्पियन समुद्र तक फैल गया था। मध्य एशिया के ज्यादातर देश उसकी प्रभुता स्वीकार करते और उसे ख़िराज देते थे, पर शायद इस सारे विशाल साम्राज्य की कोई केन्द्रीय सरकार नहीं थी।

इस्लाम के जन्म के समय एशिया और यूरोपीय दुनिया की यह दशा थी। चीन शक्तिशाली और मज़बूत था, लेकिन वह बहुत दूर था। हिन्दुस्तान भी कम-से-कम, कुछ दिनों तक तो, काफ़ी मज़बूत था। लेकिन, जैसा हम आगे देखेंगे, हिन्दुस्तान के साथ इस्लाम का बहुत दिनों तक, कोई संघर्ष पैदा नहीं हुआ। योरप और अफ़रीका कमज़ोर हो चुके थे और इनमें जान नहीं थी।

हिजरत के सात वर्ष के अन्दर ही मुहम्मद साहब मालिक के रूप में ही मक्का लौटे। इसके पहले भी वह मदीना से दुनिया के बादशाहों और शासकों के पास, इस बात का आदेश भेजा करते थे कि वे एक ईश्वर और उसके रसूल या पैगम्बर को मंज़ूर करें। कुस्तुन्तुनिया के सम्राट् हिरेक्लियस के पास यह आदेश उस वक़्त पहुँचा था, जब वह सीरिया में ईरानियों के ख़िलाफ़ लड़ रहा था। ईरान के बादशाह और कहते हैं कि चीन के ताई-त्सांग तक भी यह आदेश पहुँचा था। इन बादशाहों और शासकों को बड़ा ताज्जुब हुआ होगा कि आख़िर यह कौन आदमी है, जिसको कोई जानता भी नहीं, फिर भी उनके पास हुक्म भेजने की यह हिमाक़त करता है। मुहम्मद के इन आदेशों के भेजने से ही हम इस बात का कुछ अन्दाज़ा लगा सकते हैं, कि उस व्यक्ति को अपने में और अपने सिद्धान्तों पर कितना ज़बर्दस्त और अटल विश्वास था। इसी आत्म-विश्वास और ईमान को उसने अपनी क़ौम में भर दिया, और इस आत्म-विश्वास और ईमान से पैदा होनेवाली शक्ति को लेकर रेगिस्तान के इन लोगों ने, जिनकी पहले कोई हैसियत नहीं थी, उस समय की जानी हुई आधी दुनिया को जीत लिया। विश्वास और ईमान ख़ुद भी एक बडी चीज़ है। साथ ही इस्लाम ने भ्रातृ-भाव का, अर्थात् सब मुसलमान बराबर हैं, इस बात का भी संदेश दिया। इस प्रकार

प्रजातन्त्र का एक रूप लोगों के सामने आया। उस ज़माने के भ्रष्ट ईसाई धर्म के मुक़ाबिले भाईचारे के इस संदेश ने सिर्फ़ अरबों पर ही नहीं, बल्कि जहाँ-जहाँ वे गये, उन अनेक देशों के निवासियों पर भी, असर डाला होगा।

मुहम्मद साहब ६३२ ई० में यानी हिजरत के दस वर्ष बाद मर गये। उन्होंने अरबस्तान के आपस में लड़नेवाले कबीलों से एक नया राष्ट्र बनाया और उनमें एक आदर्श के लिए आग पैदा कर दी। इसके बाद इनके ख़ानदान के एक व्यक्ति अबूबकर ख़लीफ़ा हुए। उत्तराधिकारी चुनने का यह काम सार्वजनिक सभा में एक क़िस्म के अनियमित चुनाव से होता था। दो वर्ष बाद अबूबकर मर गये और उमर उनकी जगह पर ख़लीफ़ा बनाये गये। यह दस वर्ष तक ख़लीफ़ा रहे।

अबूबकर और उमर बहुत बड़े आदमी थे, जिन्होंने अरबी और इस्लामी महानता की बुनियाद डाली। ख़लीफ़ा की हैसियत से वे धर्माध्यक्ष और राजनैतिक सरदार यानी राजा और पोप दोनों थे। अपने ऊँचे ओहदे और राज्य की दिन-दिन बढ़नेवाली ताक़त के होते हुए भी, उन्होंने अपने जीवन की सादगी नहीं छोड़ी, और ऐश-आराम और शान-शौकत में नहीं फँसे। इस्लाम का लोकतन्त्र इनके लिए एक जीवित चीज़ थी, लेकिन इनके मातहत अफ़सर और अमीर लोग बहुत जल्द ऐश-आराम और शान-शौक़त में फँस गये। बहुत से क़िस्से मशहूर हैं कि अबूबकर और उमर ने किस तरह कई बार इन अफ़सरों की लानत-मलामत की और उन्हें सज़ा भी दी। यहाँ तक कि इनकी फ़िज़ूल ख़र्ची पर वे रोते थे। इनकी धारणा थी कि सीधी-सादी और कठोर रहन-सहन में ही इनकी ताक़त है, और अगर कुस्तुन्तुनिया और ईरान के बादशाही दरबारों की ऐश-आराम की चीज़ों को मंज़ूर करलिया गया, तो अरब लोग भी भ्रष्ट हो जायँगे, उनका पतन हो जायगा।

बारह वर्ष के इस छोटे अर्से में भी, जिसमें अबूबकर और उमर ख़लीफ़ा रहे, अरबों ने पूर्वी रोमन साम्राज्य और ईरान के सासानी बादशाह को हरा दिया था। यहूदियों और ईसायों के पवित्र शहर जेरूसलम पर अरबों ने क़ब्ज़ा कर लिया था, और सारा सीरिया, इराक़ और ईरान इस नये अरबी साम्राज्य का हिस्सा हो चुका था।

: ४६ :

अरब स्पेन से लगाकर मंगोलिया तक जीत लेते हैं

२३ मई, १९३२

और दूसरे मज़हबों के चलानेवालों की तरह मुहम्मद भी बहुत सी मौजूदा सामाजिक प्रथाओं का विद्रोही था। जिस मज़हब का उसने प्रचार किया, उसने सादगी, सरलता, और अपनी लोकतंत्र और समता की सुगंध के कारण आस-पास के देशों की जनता को अपनी ओर खींच लिया। निरंकुश राजाओं ने और राजाओं की तरह ही निरंकुश और रौबीले पुरोहितों ने जनता को बहुत दिनों से पीस रक्खा था। लोग पुरानी प्रणाली से बेज़ार थे और हर प्रकार की तब्दीली के लिए तैयार बैठे हुए थे। इस्लाम ने एक क़िस्म की तब्दीली उनके सामने रखी, और इसका उन्होंने स्वागत किया, क्योंकि इसकी वजह से उनकी हालत बहुत-सी बातों में बेहतर हो गई, और बहुत-सी पुरानी बुराइयाँ ख़तम हो गई। पर इस्लाम के साथ कोई ऐसी बडी सामाजिक क्रान्ति नहीं आई, जिससे जनता का शोषण ख़तम हो जाता। हां, इस्लाम की वजह से मुसलमानों का शोषण कम पड़ गया, और वे महसूस करने लगे कि हम एक ही बिरादरी के और भाई-भाई है।

इस तरह से अरब लोग एक विजय के बाद दूसरी विजय करते हुए आगे बढ़ने लगे। अकसर ये लोग बग़ैर युद्ध किये ही विजय पा लेते थे। दुश्मन कमज़ोर थे और उन्हींके आदमी उनका साथ छोड़ देते थे। अपने पैग़म्बर की मृत्यु के २५ वर्ष के अन्दर ही अरबों ने एक तरफ़ सारा ईरान, सीरिया आरमीनिया और मध्य एशिया का छोटा सा भाग और दूसरी तरफ़ मिस्र, और उत्तरी अफ्रीका का छोटा-सा टुकड़ा पश्चिम में जीत लिया था। मिस्र इन लोगों को बहुत आसानी से मिल गया, क्योंकि यह देश रोमन साम्राज्य के शोषण से और ईसाई सम्प्रदाय की आपसी लाग-डाँट की वजह से सबसे ज्यादा पीड़ित था। कहते है कि अरबों ने सिकन्दरिया का मशहूर पुस्तकालय जला दिया था। लेकिन अब यह बात ग़लत समझी जाती है। अरब लोग पुस्तकों के बडे प्रेमी थे और इस जंगली तरह से कभी काम नहीं कर सकते थे। यह मुमकिन है कि कुस्तुन्तुनिया का सम्राट् थियोडोसियस, जिसके बारे में मैंने तुमसे कुछ बताया भी है, पुस्तकालय को या उसके किसी हिस्से को जलाने का अपराधी रहा हो। पुस्तकालय का एक हिस्सा तो बहुत पहले, जूलियस सीज़र के ज़माने में, एक घेरे के वक्त बर्बाद हो चुका था। थियोडोसियस पुरानी यूनानी किताबों को, जिनमें पुरानी यूनानी गाथायें और फ़िलासफ़ी हुआ करती थीं, पसन्द नहीं करता था। वह बड़ा श्रद्धालु

ईसाई था। कहा जाता है कि वह अपने नहाने का पानी इन किताबों से गरम किया करता था।

अरब लोग पूरब और पश्चिम में बढ़ते गये। पूरब में हेरात, काबुल और बलख़ इनके अधिकार में आगये और वे सिन्ध और इण्डस नदी (सिन्धु) तक पहुँच गये, लेकिन इसके आगे बढ़कर वे हिन्दुस्तान में दाख़िल नहीं हुए। और कई सौ वर्षों तक हिन्दुस्तानी राजाओं के साथ इनका मित्रता का घनिष्ट सम्बन्ध रहा। पश्चिम में ये लोग आगे बढ़ते ही गये। कहते हैं कि इनका सेनापति उक़बा उत्तरी अफ़रीका को पार करता हुआ एटलांटिक समुद्र तक, यानी उस देश के पश्चिमी किनारे पर जिसे आज मोरक्को कहते हैं, पहुँच गया था। इस विघ्न के यानी समुद्र के सामने आ जाने से उसको बडी निराशा हुई और वह समुद्र में, जितनी दूर तक जा सकता था,गया, और फिर समुद्र के पानी में खडे होकर उसने अल्लाह के सामने अफ़सोस ज़ाहिर किया कि अब उस दिशा में कोई देश नहीं रहा जिसे वह अल्लाह के नाम पर फ़तह करता।

मोरक्को और अफ़रीका से समुद्र की पतली धार पार करके अरब स्पेन और योरप में दाख़िल हुए। इस पतले जलडमरूमध्य को पुराने यूनानी लोग 'हरकुलीज़ का स्तम्भ' कहते थे। अरब-सेनापाति ने समुद्र को पार करके पहले पहल जिब्राल्टर में लंगर डाला था। जिब्राल्टर का नाम ही उस सेनापति की याद दिलाता है। उसका नाम 'तरीक़' था और जिब्राल्टर का असली नाम 'जबल-उत-तरीक़' यानी 'तरीक़ की पहाडी' है।

स्पेन को अरबों ने बहुत जल्द फ़तह कर लिया, और इसके बाद वे दक्षिणी फ्रांस पर टूट पडे। इस तरह मुहम्मद साहब के मरने के सौ बरस के अन्दर ही अरबों का साम्राज्य दक्षिण फ्रांस और स्पेन से लेकर, उत्तर अफ़रीका और स्वेज़ से होता हुआ, अरबस्तान, ईरान और मध्य एशिया को पार करके मंगोलिया की सरहद तक फैल गया था। सिन्ध को छोड़कर हिन्दुस्तान इस साम्राज्य से बाहर था। योरप पर अरब लोग दो तरफ़ से हमला कर रहे थे। एक तो कुस्तुन्तुनिया पर बिलकुल सीधा हमला था, और दूसरा अफ़रीका होकर फ्रांस पर। दक्षिण फ्रांस में अरबों की तादाद कम थी और वे अपनी मातृभूमि से बहुत दूर थे, इसलिए उनको अरबस्तान से ज्यादा मदद नहीं मिल सकती थी। इसके अलावा अरब मध्य एशिया के जीतने में लगे थे। फिर भी फ्रांस के इन अरबों ने पश्चिमी योरप के लोगों को भयभीत कर दिया था। इन अरबों का मुक़ाबिला करने के लिए योरप में एक बहुत बडी गुटबन्दी की गई, इस गुटबन्दी का नेता चार्ल्स मार्टल था। उसने फ्रांस में

टूर्स की लड़ाई में ७३१ ई० में अरबों को हरा दिया। इस हार के कारण योरप अरब लोगों के पंजे से बच गया। किसी इतिहास-लेखक ने लिखा है कि—"टूर्स के मैदान में, अरबों ने, उस समय सारी दुनिया का साम्राज्य, अपने हाथ से खो दिया, जब वह इनकी मुट्ठी में आचुका था।" इसमें शक नहीं कि अगर अरब लोग टूर्स की लड़ाई में सफल हुए होते, तो यूरोपियन इतिहास बिलकुल ही बदल गया होता। योरप में कोई दूसरा ऐसा शासक नहीं था, जो इनकी गति को रोक सकता। ये लोग कुस्तुन्तुनिया तक आसानी से बढ़े चले गये होते, और इन्होंने पूर्वी रोमन साम्राज्य को और दूसरी हुकूमतों को, जो रास्ते में पड़तीं, ख़तम कर दिया होता। ईसाई धर्म के बजाय इस्लाम योरप का मज़हब होता, और दूसरी क़िस्म की भी बहुत-सी तब्दीलियाँ हो गई होतीं। लेकिन यह सब तो कल्पना की उड़ान है, हुआ यह कि अरब लोग फ्रांस में रोक दिये गये, और इसके बाद कई सौ वर्षों तक वे स्पेन में रहे, और राज्य करते रहे।

स्पेन से मंगोलिया तक का सारा मुल्क अरबों के हाथ में था। रेगिस्तान के ये ख़ानाबदोश एक शक्तिशाली साम्राज्य के अभिमानी शासक बन गये। यूरोपियन लोग उनको 'सैरासीन' कहते थे। शायद यह शब्द 'सहरा नशीन' से बना हो, जिसका मतलब 'रेगिस्तान के रहनेवाले' होता है। लेकिन इन सहरानशीनों ने बहुत जल्द शहर की ज़िन्दगी और विलासिता को इख़्तियार कर लिया, और शहरों में इनके बडे-बडे महल तैयार हो गये। दूर-दूर देशों में विजय प्राप्त कर लेने पर भी, इनकी आपस में झगड़ने की आदत नहीं गई, और अब तो झगड़ने के लिए कुछ सामान भी हो गया था, क्योंकि अरबस्तान के प्रमुख होने का मतलब एक बडे साम्राज्य का अधिकार हाथ में आ जाना था। इसलिए ख़लीफ़ा की जगह के लिए अकसर झगडे होते थे। इन छोटे-छोटे झगडों और कुटुम्ब की कलह से अरबों में गृह-युद्ध भी हो जाता था, और इन्हीं झगडों की वजह से इस्लाम दो हिस्सों में बँट गया और दो सम्प्रदाय बन गये जो शिया और सुन्नी के नामसे आज तक मौजूद हैं।

पहले दो महान् ख़लीफ़ाओं—अबूबकर और उमर—के शासन के कुछ दिनों बाद ही झगड़ा पैदा हुआ। मुहम्मद साहब की लड़की फ़ातिमा के पति, अली कुछ दिनों के लिए ख़लीफ़ा हुए, लेकिन झगड़ा बराबर जारी रहा। अली क़त्ल कर दिये गये और कुछ दिनों बाद उनके लड़के हुसेन, अपने कुटुम्ब के साथ, कर्बला के मैदान में मार डाले गये। कर्बला की इसी दुखान्त घटना की याद में, हर साल मुहर्रम के महीने में, मुसलमान, ख़ासकर शिया, मातम मनाते हैं।

ख़लीफ़ा अब एक छत्र राजा हो गया था। इसके चुनाव में लोकतंत्र का ज़रा

भी अंश नहीं बचा था। उस जमाने के जैसे और निरंकुश राजा होते थे, खलीफ़ा भी वैसा ही निरंकुश राजा था। सिद्धान्त रूप से यह इस्लाम धर्म का प्रमुख था और 'मुसलमानों का सरदार' समझा जाता था। लेकिन इन शासकों में कुछ ऐसे भी थे, जो उस इस्लाम का, जिसके वे मुख्य रक्षक समझे जाते थे, अपमान करते थे। इनमें से एक ने मदीना की मस्जिद को घोडों का अस्तबल बना लिया था।

लगभग सौ बरस तक खलीफ़ा मुहम्मद साहब के वंश की एक शाखा में से होते रहे। इनको उम्मैया कहते थे। दमिश्क इनकी राजधानी थी और महलों, मस्जिदों और चश्मों की वजह से यह पुराना शहर बड़ा खूबसूरत बन गया था। दमिश्क के पानी के प्रबन्ध की बडी शोहरत थी। इस जमाने में अरबों ने इमारत बनाने का एक ख़ास तर्ज निकाला था, जिसे सरासीनी-भवन-निर्माण कला कहा गया है। इस शैली में ज्यादा बनाव श्रृंगार नहीं होता था। यह शैली सरल, शानदार और सुन्दर थी। इस शैली के पीछे अरबस्तान और सीरिया के सुन्दर खजूरों की धारणा थी। मीनार, बुर्ज खम्भे और मेहराब, खजूरों के बागों के बुर्ज और मेहराब की याद दिलाते थे।

यह शैली हिन्दुस्तान में भी आई। लेकिन इसपर हिन्दुस्तान के विचारों का असर पड़ा और एक मिलवाँ शैली पैदा हो गई। स्पेन में आज तक सरासीनी शैली की इमारतों के सुन्दर नमूने पाये जाते हैं।

धन और साम्राज्य की वजह से अरबों में विलासिता, खेल-कूद और ऐशोअशरत के तौर-तरीक़ों का जन्म हुआ। घुड़दौड़ अरबों का बहुत ही प्रिय मनोरञ्जन था। पोलो, शिकार और शतरंज भी इन्हें बहुत पसन्द था संगीत और ख़ासकर गाने का अरबों में काफ़ी फैशन और प्रचार हो गया था। दमिश्क की राजधानी गवैयों से और साज़िन्दों से परिपूर्ण थी।

एक बहुत बडी लेकिन दुर्भाग्यपूर्ण तब्दीली धीरे-धीरे और आगई। यह स्त्रियों की अवस्था के बारे में थी (अरबों में औरतें परदा नहीं करती थीं। इन्हें न तो अलहदा रक्खा जाता था, न छिपाया जाता था। ये बाहर निकलती थीं; मस्जिदों और व्याख्यानों में जाया करती थीं, और कभी-कभी ख़ुद भी व्याख्यान देती थीं। लेकिन सफलता की वजह से अरबों ने उन दोनों पुराने साम्राज्यों यानी पूर्वी रोमन साम्राज्य और ईरानी साम्राज्य के रस्म और रिवाज की नक़ल शुरू कर दी,) जो इनके दोनों बाजुओं पर पाये जाते थे। अरबों ने पूर्वी रोमन साम्राज्य को हरा दिया था, और ईरानी साम्राज्य का ख़ात्मा कर डाला था; फिर भी ये इन साम्राज्यों की बहुत-सी बुरी आदतों के शिकार हो गये। कहा जाता है कि खासकर कुस्तुन्तुनिया और ईरान के प्रभाव के कारण अरब-स्त्रियों में परदे की रस्म शुरू हुई। धीरे-धीरे हरम

की प्रणाली शुरू हुई, और मर्द और औरतों का मिलना-जुलना आहिस्ता-आहिस्ता कम होने लगा। दुर्भाग्य से स्त्रियों का यह परदा इस्लामी समाज का एक अंग हो गया, और जब मुसलमान हिन्दुस्तान में आये, हिन्दुस्तान ने भी उनसे यह आदत सीख ली। यह सोचकर कि आज भी कुछ आदमी इस जंगलीपन को क़ायम रख रहे हैं, मुझे ताज्जुब होता है। जब-जब मैं परदे में रहनेवाली और बाहर की दुनिया से अलग की हुई स्त्री का ख़याल करता हूँ, मुझे क़ैदखाना या चिड़िया घर याद आ जाता है। कोई क़ौम, जिसकी आधी आबादी एक क़िस्म के क़ैदखाने में बन्द हो, कैसे आगे बढ़ सकती है। इसलिए परदे को तोड़ दो, जिससे सब लोगों को दिन का उज्ज्वल प्रकाश देखने का मौक़ा मिले।

सौभाग्य की बात है कि हिन्दुस्तान तेज़ी से परदे को तोड़ रहा है—बहुत दूर तक मुसलमान समाज ने भी इससे छुटकारा पा लिया है, और इस भयंकर बोझ को उतार फेंका है। तुर्की में कमाल पाशा ने इसे बिलकुल ख़त्म कर दिया है और मिस्र में यह बहुत तेज़ी के साथ ग़ायब हो रहा है।

एक बात और कहकर मैं इस ख़त को ख़तम करूँगा। अरबों में, ख़ासकर अपनी जागृति की शुरूआत में, अपने मज़हब का बहुत जोश था। फिर भी ये लोग सहिष्णु थे, और दूसरे मज़हबों के प्रति उनकी सहनशीलता की बहुत-सी मिसालें मिलती हैं। जेरुसलम में खलीफ़ा उमर ने इस बात पर काफ़ी ज़ोर दिया था। स्पेन में ईसाइयों की काफ़ी आबादी थी, और उन लोगों को धर्म की पूरी-पूरी आज़ादी थी। हिन्दुस्तान में, सिंध को छोड़कर अरबों ने कहीं भी राज्य नहीं किया। लेकिन सम्पर्क काफ़ी था, और इस देश के साथ उनका मित्रता का सम्बन्ध था। सच तो यह है कि इतिहास के इस युग में सबसे ज्यादा उल्लेखनीय चीज़ यह दिखाई देती है कि अरब के मुसलमान बडे सहनशील होते थे, और योरप के ईसाई बेहद असहनशील।

: ५० :

बग़दाद और हारूनल रशीद

२७ मई, १९३२

दूसरे देशों की चर्चा न करके हम आज भी अरबों की कहानी जारी रक्खेंगे। जैसा मैंने अपने पिछले ख़त में बताया है, क़रीब १०० वर्ष तक ख़लीफ़ा हज़रत मुहम्मद के वंशज उम्मैया कुल के हुआ करते थे। उनकी राजधानी दमिश्क थी, और उनकी हुकूमत में मुसलमान अरबों ने इस्लाम का झंडा दूर-दूर देशों तक पहुँचा

दिया। एक तरफ़ तो अरब लोग दूर-दूर के मुल्कों को जीतते थे और दूसरी तरफ़ अपने घर में ही झगड़ा करते थे और अकसर आपस में गृह-युद्ध हुआ करते थे। आख़िर में हज़रत मुहम्मद के वंश के एक दूसरे घराने ने, जो उनके चचा अब्बास से पैदा हुआ था और 'अब्बासी' कहलाता था, उम्मैया ख़ानदान को निकाल दिया। अब्बासी लोग उम्मैयों के ज़ुल्म का बदला लेने के लिए आये थे, लेकिन जीत होने के बाद उन्होने अपने ज़ुल्म और मार-काट से उम्मैयों को भी मात कर दिया। उन्होंने हरेक उम्मैया को जहाँ भी पाया गिरफ्तार कर लिया, और बेरहमी से मार डाला।

यह सन् ७५० के शुरू की बात है और तभी से अब्बासी खलीफ़ों के अधिकार का लम्बा युग शुरू होता है। उनकी शुरुआत शुभ या मंगलमय नहीं कही जा सकती। फिर भी अरब इतिहास में अब्बासी युग काफ़ी उज्ज्वल युग समझा जाता है। इस ज़माने में उम्मैयों के समय की अपेक्षा बहुत-सी तब्दीलियां शुरू हो गई थीं। अरबस्तान के गृह-युद्ध ने सारे अरब साम्राज्य को हिला दिया। अब्बासी लोग अपने देश में तो जीत गये, लेकिन सुदूर स्पेन में अरब गवर्नर ने, जो उम्मैया था, अब्बासी ख़लीफ़ा को, ख़लीफ़ा मानने से इन्कार कर दिया। उत्तर अफ़रीका या इफ़रीकिया की सूबेदारी बहुत जल्द स्वतंत्र हो गई। मिस्र ने भी यही किया। उसने तो अपना एक दूसरा ख़लीफ़ा ही बना लिया। लेकिन मिस्र इतना नज़दीक था, कि इसे धमकी दी जा सकती थी, और दबाया जा सकता था। और समय-समय पर ऐसा ही होता रहा। लेकिन इफ़रीकिया में कोई दख़ल नहीं दिया गया, और स्पेन तो इतनी दूर था कि उसके ऊपर कोई आघात किया ही नहीं जा सकता था। इस तरह हम देखते हैं कि अब्बासियों के ख़लीफ़ा होने पर अरब साम्राज्य बँट गया। अब ख़लीफ़ा सारी इस्लामी दुनिया का प्रमुख नहीं रह गया। और न 'अमीरुल मोमनीन' यानी मुसलमानों का अगुआ ही रह गया। मुसलमानों में एकता नहीं रही और स्पेन के अरब और अब्बासी एक दूसरे से इतनी नफ़रत करते थे, कि जब एक पर आफ़त आती थी, तो दूसरा ख़ुशी मनाता था।

इन सब बातों के होते हुए भी अब्बासी ख़लीफ़ा बहुत बड़े राजा हुए थे और उनका साम्राज्य साम्राज्यों के लिहाज़ से बहुत बड़ा था। वह पुराना ईमान और उत्साह, जिसने पहाडों को जीता था और जो एक आग की तरह फैल गया था, अब नहीं दिखाई देता था। कोई सादगी नहीं थी, और न लोकतन्त्र के ही चिन्ह रह गये थे। 'अमीरुल मोमनीन' और ईरानी शाहंशाहों में, जिन्हें पहले के अरबों ने या कुस्तुन्तुनिया के सम्राट् ने हराया था कोई ख़ास फ़र्क नहीं था। हज़रत मुहम्मद के ज़माने के अरबों में एक अजीब ज़िन्दगी और ताक़त पाई जाती थी जो बादशाहों की

सेनाओं की ताक़त से एक बिलकुल जुदी चीज थी। अपने ज़माने की दुनिया में वे उठकर ऊँचे खड़े हो गये थे, और उनकी दुर्निवार विजय-यात्राओं के सामने सेनायें और बादशाह निस्तेज और शक्ति-हीन हो जाते थे। बादशाहों से जनता दबी हुई थी, और अरब लोगों के आने से, जनता में, अच्छे दिन आने और सामाजिक क्रान्ति की आशा पैदा हो गई थी।

लेकिन अब दूसरी ही बात सामनें आगई थी। रेगिस्तान के लोग अब महलों में रहते थे और खजूर और छुहारे की जगह पकवान खाते थे। वे सोचते थे कि हम तो काफ़ी आराम में है, फिर सामाजिक क्रान्ति या किसी तब्दीली की झंझट में क्यों फँस जायँ। शान-शौक़त में वे पुराने साम्राज्यों की होड़ करने की कोशिश करते थे, और उनके कई बुरे रस्म-रिवाज सीख लिये थे। जैसाकि में तुम्हें बता चुका हूँ इन बुराइयों में से एक बुराई स्त्रियों का परदा भी था।

राजधानी दमिश्क से हटकर इराक़ में बग़दाद चली गई। राजधानी की यह तबदीली भी एक महत्त्वपूर्ण थी, क्योंकि बग़दाद ईरानी बादशाहों का गरमी के मौसम में रहने की जगह था, और दमिश्क के मुक़ाबिले वह योरप से दूर था। राजधानी के इस परिवर्तन के बाद अब्बासियों की नज़र योरप की तरफ इतनी नहीं रही, जितनी एशिया की तरफ़ रह गई। कुस्तुन्तुनिया पर कब्ज़ा करने की कोशिशें तो होती ही रहीं और यूरोपियन राष्ट्रों से अनेक लड़ाइयाँ भी लडी गईं, लेकिन इन लड़ाइयों में से ज्यादातर आत्म-रक्षा के लिए होती थीं। विजय के दिन ख़तम हो चुके थे और अब्बासी ख़लीफ़ा बचे हुए साम्राज्य को ही मजबूत करने की कोशिश करते थे। फिर भी स्पेन और अफ़रीका के निकल जाने पर भी यह साम्राज्य काफ़ी बड़ा था।

बग़दाद! क्या तुम्हें इसकी याद नहीं है? और हारूनल रशीद और शहरज़ाद और 'अलिफ़लैला' की अद्भुत कहानियों का स्मरण क्या तुम्हें नहीं है? अब्बासी ख़लीफ़ों की मातहत में जो शहर बना वह 'अलिफ़ लैला' का ही शहर है। बग़दाद एक लम्बा-चौड़ा शहर था, जिसमें महल, सरकारी दफ़्तर, स्कूल, कालेज, बडी-बडी दूकानें, पार्क और बग़ीचे थे। यहाँ के सौदागर पूरब और पश्चिम के देशों से बड़ा भारी व्यापार करते थे। अनेक सरकारी अफ़सर साम्राज्य के दूर-दूर के हिस्सों से बराबर सम्पर्क बनाये रखते थे। सरकार अधिकाधिक पेचीदा होती जाती थी और कई महकमों में बँटी थी। साम्राज्य के सब हिस्सों से राजधानी तक चिट्ठी-पत्री जाने का बहुत अच्छा इन्तिज़ाम था। अस्पताल काफ़ी तादाद में थे। सारी दुनिया से लोग बग़दाद देखने के लिए आया करते थे। विद्वान विद्यार्थी और कलाकार ख़ासतौर से आते थे, क्योंकि यह मशहूर था कि ख़लीफ़ा विद्वानों और कलाकारों का विशेष स्वागत करता है।

खलीफ़ा खुब गहरी विलासिता में जिन्दगी गुज़ारता था। उसके चारों तरफ़ गुलामों और उसके हरम की औरतों का झुण्ड होता था। हारूनल रशीद के ज़माने में, यानी ७८६ से ८०९ ई० तक, अब्बासी साम्राज्य अपनी ज़ाहिरा शान-शौक़त की चोटी पर था। हारूँ के पास, चीनी सम्राट के यहाँ से और पश्चिम में सम्राट शार्लमैन के पास से, राजदूत आये थे। स्पेन के अरबों को छोड़कर, बग़दाद और अब्बासी उपनिवेश शासन की सारी कलाओं, व्यापार और विद्या-प्रचार में, योरप से बहुत आगे बढ़े हुए थे।

अब्बासी युग हमारे लिए ख़ासतौर से रोचक है, क्योंकि इसी ज़माने से विज्ञान में नई दिलचस्पी पैदा हुई थी। तुम जानती हो कि विज्ञान आजकल की दुनिया में एक बहुत बडी चीज़ है। बहुत-सी बातों के लिए हम विज्ञान के आभारी हैं। विज्ञान का यह ढंग नहीं कि चुपचाप बैठ जायँ और घटनाओं के होने के लिए प्रार्थना करता रहे! विज्ञान में इस बात के जानने का कौतुहल होता है कि आख़िर कोई बात क्यों हो जाती है। विज्ञान प्रयोग करता है और बार-बार कोशिश करता है। कभी सफल होता है और कभी असफल। और इस तरह धीरे-धीरे विज्ञान मनुष्य मात्र के ज्ञान-समूह को बढ़ाता रहता है। आजकल की दुनिया प्राचीन या मध्य कालीन दुनिया से बिलकुल जुदी है। यह भिन्नता ज्यादातर विज्ञान की वजह से ही है। विज्ञान ने ही आधुनिक दुनिया का निर्माण किया है।

पुराने जमाने के लोगों में मिस्र, चीन या हिन्दुस्तान में हमें वैज्ञानिक ढंग नहीं दिखाई देता। प्राचीन यूनान में ज़रूर थोडी मात्रा में वह मौजूद था। रोम में इसका अभाव था, लेकिन अरबों में खोज की वैज्ञानिक भावना पाई जाती थी। इस लिए अरबों को आजकल के विज्ञान का जन्मदाता कह सकते हैं। आयुर्वेद और गणित जैसे कुछ विषयों में इन्होंने हिन्दुस्तान से बहुत कुछ सीखा था। हिन्दुस्तानी विद्वान और गणित जाननेवाले बडी तादाद में बग़दाद जाते थे, और बहुत से अरबी विद्यार्थी उत्तर भारत में तक्षशिला जाया करते थे, जो कि उस समय तक एक बहुत बड़ा विश्व-विद्यालय था, और आयुर्वेद की शिक्षा के लिए मशहूर था। आयुर्वेद की और दूसरे विषयों की किताबें, ख़ास तौर से संस्कृत से अरबी ज़बान में अनुवाद की गई थीं। बहुत सी चीज़ें अरबों ने चीन से सीखीं—जैसे काग़ज़ का बनाना। लेकिन जो कुछ उन्होंने दूसरों से सीखा उसकी बिना पर अपनी भी खोज करके उन्होंने और बहुत सी महत्वपूर्ण ईजादें कीं। पहले-पहल उन्होंने ही दूरबीन और कुतुबनुमा या ध्रुवयंत्र बताया। चिकित्सा में अरब डाक्टर और सर्जन सारे योरप में मशहूर थे।

इन तमाम बौद्धिक हलचलों का मुख्य-केन्द्र बग़दाद था। पश्चिम में अरबी

स्पेन की राजधानी कोरडोबा को भी इसी क़िस्म का केन्द्र कह सकते हैं। अरबी संसार में इसी तरह के और भी कई विद्या के केन्द्र थे जहाँ बौद्धिक जीवन का प्रवाह बहता था जैसे क़ैरो या 'विजयी' अल-क़ाहिरा, बसरा, और कूफ़ा। लेकिन इन शहरों से बग़दाद जिसे एक अरब इतिहासकार ने 'इस्लाम की राजधानी, इराक़ की आँख, साम्राज्य की गद्दी, कला, संस्कृति और सौन्दर्य का केन्द्र' कहा है, कहीं श्रेष्ठ था। इसकी आबादी २० लाख से ज्यादा थी और आकार में यह आजकल के कलकत्ता और बम्बई से क़रीब-क़रीब दुगना बड़ा था।

यह जानना तुम्हारे लिए दिलचस्प होगा कि, ऐसा कहा जाता है कि मोज़ा और जुर्राब पहनने की आदत पहले-पहल बग़दाद के अमीरों से ही शुरू हुई। इन्हें 'मोज़ा' कहा जाता था और हिन्दुस्तानी शब्द वहीं से लिया गया है। इसी तरह फ्रांसीसी शब्द 'शेमीज़' 'क़मीज़' से निकला है। 'क़मीज़' और 'मोज़ा' दोनों अरबों से कुस्तुन्तुनिया के बिजेन्टाइनवालों ने लिया और बाद को वहाँ से ये चीज़ें योरप में फैल गईं।

अरब लोग हमेशा से बड़े सय्याह यानी समुद्र यात्री रहे हैं। इन्होंने समुद्र के अपने लम्बे-लम्बे सफ़र क़ायम रक्खे और अफ़रीका में, हिन्दुस्तान के किनारों पर, मलेशिया में, और चीन में भी इन्होंने अपनी बस्तियाँ बसाईं। इन्हीं अरब यात्रियों में से एक अलबेरूनी था, जो हिन्दुस्तान आया था, और ह्यूएनत्साँग की तरह अपने सफ़र का हाल छोड़ गया है।

अरब लोग इतिहास-लेखक भी थे, और इनकी ही किताबों और इतिहासों से हम इनके बारे में बहुत कुछ जान सकते हैं। हम सभी जानते हैं कि वे कितनी अच्छी-अच्छी कहानियाँ लिख सकते थे। लाखों आदमियों ने अब्बासी ख़लीफ़ों का और उनके साम्राज्य का नाम नहीं सुना है, लेकिन 'अलिफ़ लैला व लैला' यानी 'एक हज़ार एक रातों' में बयान किये हुए रहस्य और प्रेम के नगर बग़दाद को कौन नहीं जानता। कल्पना का साम्राज्य अक्सर वास्तविकता के साम्राज्य से ज्यादा स्थायी और वास्तविक होता है।

हारूनल रशीद की मृत्यु के कुछ दिनों बाद अरब साम्राज्य पर आफ़त आई। झगड़े-फ़साद होने लगे और साम्राज्य के कई हिस्से अलग हो गये। सूबे के हाकिम मौरूसी शासक बन बैठे। खलीफ़ा ज्यादा-से-ज्यादा कमज़ोर होते गये। यहाँ तक कि एक ऐसा भी वक्त आया। जब खलीफ़ा का राज्य सिर्फ़ बग़दाद शहर और आस-पास के चन्द गाँवों पर ही रह गया। एक ख़लीफ़ा को उसीके सिपाहियों ने महल से घसीट कर बाहर फेंक दिया और क़त्ल कर डाला था। फिर थोड़े दिन के लिए कुछ

ऐसे मजबूत आदमी पैदा हुए, जो बग़दाद से बैठे-बैठे हुकूमत करने लगे, और ख़लीफ़ा उनका मातहत बन गया।

इस समय इस्लाम की एकता दूर के बीते हुए ज़माने की बात हो गई थी। मिस्र से लेकर मध्य एशिया के खुरासान तक, सभी जगह, अलहदा-अलहदा राज्य क़ायम होने लगे और इसके भी पूरब से बहुत-सी ख़ानाबदोश क़ौमें, पश्चिम की तरफ़ बढ़ने लगीं। मध्य-एशिया के पुराने तुर्क लोग मुसलमान हो गये और उन्होंने आकर बग़दाद पर क़ब्ज़ा कर लिया। इनको सेलजुक़ तुर्क कहते हैं। इन्होंने कुस्तुन्तुनिया की बिज़ैण्टाइन सेना को बिलकुल हरा दिया, जिसकी वजह से योरप को बड़ा ताज्जुब हुआ। योरप का ख़याल था कि अरबों और मुसलमानों की ताक़त ख़तम हो चुकी है और वे लोग दिन-ब-दिन कमज़ोर होते जाते हैं। यह बात सच थी कि अरब बहुत गिर चुके थे। लेकिन अब सेलजुक तुर्क इस्लाम का झंडा उठाने और योरप को चुनौती देने के लिए सामने आगये थे।

इस चुनौती को स्वीकार कर लिया गया, और, जैसा हम आगे देखेंगे, लड़ने के लिए और अपने पवित्र शहर जेरूसलम को फिर से जीतने के लिए योरप की ईसाई कौमों ने जिहाद—धार्मिक लड़ाइयों—का संगठन कियागया। १०० वर्ष से ज्यादा तक सीरिया, पैलेस्टाइन और एशिया माइनर में हुकूमत के लिए इस्लाम और ईसाई धर्मों में आपस में लड़ाई होती रही और एक दूसरे को कमज़ोर करते रहे। इन देशों की चप्पा-चप्पा ज़मीन मनुष्य के ख़ून से सिंच गई है। इन हिस्सों के ख़ुशहाल शहरों की महानता और तिजारत जाती रही और इन लड़ाइयों की वजह से हरे-भरे खेत अकसर वीरान हो जाते थे।

इसी तरह ये एक दूसरे से लड़ते रहे। इनकी लड़ाई ख़तम नहीं होने पाई थी कि मंगोलिया में दुनिया को हिलानेवाला मुग़ल चंग़ेज़ खाँ पैदा हुआ। कम से कम इसने एशिया और योरप को तो ज़रूर हिला दिया। इसने और इसके वंशजों ने बग़दाद और बग़दाद के साम्राज्य का ख़ातमा कर दिया। मंगोलों द्वारा सर होने के पहले ही बग़दाद का मशहूर और विशाल नगर मिट्टी का ढेर हो चुका था, और इसके बीस लाख बाशिन्दे ख़तम हो चुके थे। यह ई० सन् १२५८ की बात है।

बग़दाद अब फिर एक हरा-भरा शहर हो गया और इराक़ की राजधानी है। लेकिन वह अपने पुराने स्वरूप की छाया-मात्र है। मंगोलों के साथ आई हुई मृत्यु और बरबादी के असर से यह फिर कभी पनप न सका।

*

: ५१ :

उत्तरी हिन्दुस्तान में—हर्ष से महमूद तक

१ जून, १९३२

अब हमें अरबों या सरासीनों की कहानी बन्द कर दूसरे देशों पर नज़र डालनी चाहिए। जिस दरमियान अरब शक्तिशाली हुए, उन्होंने दूसरे देशों को जीता, सब जगह फले और फिर गिर गये, उस ज़माने में हिन्दुस्तान, चीन और योरप के देशों में क्या हो रहा था, इसकी एक झलक हम पहले ही पा चुके हैं—जैसे चार्ल्स मार्टल की मातहती में योरप की सम्मिलित सेनाओं द्वारा अरबों का फ्रांस में टूर्स के मैदानों में हार जाना, अरबों की मध्य एशिया पर विजय और हिन्दुस्तान में सिन्ध तक उनका आना इत्यादि। आओ, पहले हम हिन्दुस्तान की ओर चलें।

कन्नौज का राजा हर्षवर्धन ३४८ ई० में मर गया और उसके मरने के साथ ही उत्तरी हिन्दुस्तान का राजनैतिक पतन और भी साफ़-साफ़ दिखाई देने लगा। यह पतन कुछ समय पहले ही से चला आरहा था। हिन्दू और बौद्धधर्म के लड़ाई-झगडों ने इस पतन के क्रम में मदद पहुँचाई। हर्ष के समय में ज़ाहिरा तौर पर बडा बहादुराना प्रदर्शन हुआ था। लेकिन यह थोडे ही समय के लिए था। हर्ष के मरने के बाद उत्तरी हिन्दुस्तान में कई छोटी-छोटी रियासतें पैदा हो गई जो कभी-कभी थोडे समय के लिए गौरव व यश प्राप्त कर लेती थीं और कभी-कभी आपस में लड़ा करती थीं। यह एक अजीब बात है कि हर्ष के मरने के तीन सौ वर्ष बाद या उससे भी ज्यादा समय तक इस देश में साहित्य और कला फलते-फूलते रहे, और सार्वजनिक हित के और कितने ही काम होते रहे। इसी ज़माने में भवभूति और राजशेखर जैसे कई प्रसिद्ध संस्कृत के लेखक हुए और इसी समय में कई ऐसे राजा हुए जो राजनैतिक दृष्टि से तो महत्वपूर्ण नहीं थे, लेकिन इसलिए मशहूर हुए कि उनके ज़माने में कला और विद्या ने बडी तरक्क़ी की। इनमें से राजा भोज तो आदर्श राजा की कल्पना का एक नमूना ही बन गया है और आज भी लोग उसको ऐसा समझते हैं। क्या तुमने 'राजा भोज और गंगू तेली' की कहावत नहीं सुनी है ?

लेकिन इस उज्ज्वलता के होते हुए भी उत्तरी हिन्दुस्तान का पतन होता जा रहा था। दक्षिणी हिन्दुस्तान फिर से आगे बढ़ रहा था और उत्तरी हिन्दुस्तान पर अपना रौब जमाता जारहा था। इस समय के दक्षिणी हिन्दुस्तान के बारे में मैं तुम्हें अपने एक पिछले पत्र में कुछ लिख चुका हूँ। उसमें मैंने चालुक्यों, पल्लवों, राष्ट्रकूटों और चोलों के साम्राज्य के बारे में लिखा था। मैं तुम्हें शंकराचार्य

के बारे में बता चुका हूँ, जिन्होंने थोडी उम्र में सारे देश के विद्वान् और अपढ़, दोनों पर गहरा असर डालने में सफलता प्राप्त की और जो हिन्दुस्तान से बौद्ध धर्म को क़रीब-क़रीब ख़तम कर देने में सफल हुए। विचित्र बात यह है कि जिस समय शंकराचार्य यह काम कर रहे थे उसी समय एक नया मज़हब हिन्दुस्तान का दरवाज़ा खटखटा रहा था। यह मज़हब बाद को विजय के प्रवाह के साथ हिन्दुस्तान में घुसा और हिन्दुस्तान की उस समय की प्रणाली को तहस-नहस कर देने के लिए चुनौती देने लगा।

अरब लोग बहुत जल्द, जब हर्ष जीवित ही था, हिन्दुस्तान की सीमा पर पहुँच गये थे। वे वहाँ कुछ समय के लिए रुक गये और बाद में उन्होंने सिंध को अपने क़ब्ज़े में कर लिया। ७१० ई० में १७ साल के एक लड़के मुहम्मद इब्न क़ासिम ने एक अरबी सेना लेकर सिंध की घाटी को पश्चिम पंजाब में मुलतान तक जीत लिया। हिंदुस्तान में अरबों की विजय का यही पूरा फैलाव था। मुमकिन है अगर उन्होंने ज्यादा कोशिश की होती तो वे इससे भी आगे बढ़ गये होते। यह बहुत मुश्किल भी न होता, क्योंकि उत्तरी हिन्दुस्तान बहुत कमज़ोर था। हालाँकि इन अरबों और आस-पास के राजाओं में अकसर लड़ाई हुआ करती थी, फिर भी इन अरबों ने विजय के लिए कोई संघटित यत्न नहीं किया। इसलिए राजनैतिक दृष्टि से अरबों की सिंध पर यह विजय कोई ख़ास महत्त्व की बात नहीं थी। मुसलमानों ने हिन्दुस्तान को इसके कई सौ वर्ष बाद जीता है, लेकिन सांस्कृतिक दृष्टि से अरब और हिन्दुस्तान के इस सम्पर्क का महत्त्वपूर्ण नतीजा हुआ।

अरबों का दक्षिण के हिन्दुस्तानी राजाओं, ख़ासकर राष्ट्रकूटों, के साथ मित्रता का व्यवहार रहता था। बहुतसे अरब हिन्दुस्तान के पश्चिमी किनारे पर बस गये थे और अपनी बस्तियों में उन्होने मस्जिदें बनवाई थीं। अरब यात्री और सौदागर हिन्दुस्तान के अनेक हिस्सों में जाया करते थे। अरब विद्यार्थी, तक्षशिला के विश्व-विद्यालय में, काफ़ी तादाद में आते थे, जो ख़ासकर आयुर्वेद की शिक्षा के लिए मशहूर था। ऐसा कहा जाता है कि हारूनल रशीद के ज़माने में हिन्दुस्तान में प्राप्त की हुई विद्वत्ता की बग़दाद में बडी क़द्र थी। हिन्दुस्तान से वैद्य और चिकित्सक अस्पताल और आयुर्वेदिक पाठशालायें स्थापित करने के लिए बग़दाद जाया करते थे। गणित और ज्योतिष की संस्कृत किताबों का अरबी भाषा में अनुवाद हुआ था।

इस तरह अरबों ने पुरानी भारतीय आर्य संस्कृति से बहुत-सी बातें ली थीं। उन्होंने ईरान की आर्य संस्कृति और यूनानी संस्कृति से भी बहुत कुछ सीखा था। अरब लोग करीब-करीब एक नई क़ौम की तरह थे, जो अपनी पूरी जवानी पर थी।

उन्होंने अपने चारों ओर जितनी पुरानी सभ्यतायें देखीं, सबसे कुछ-न-कुछ सीखा और फ़ायदा उठाया। और इन सबके आधार पर उन्होंने एक अपनी चीज़ बनाई जिसे सरासीनी संस्कृति कहते हैं। संस्कृतियों के ख़याल से इस संस्कृति का जीवन थोड़े दिनों तक ही रहा, लेकिन यह एक प्रकाशमान जीवन था, जो योरप के मध्य-युग के अंधकार के परदे पर चमकता है।

यह एक अजीब बात है कि हालाँकि अरब निवासियों ने भारतीय आर्य, ईरानी और यूनानी संस्कृतियों से फ़ायदा उठाया, पर भारतीयों, ईरानियों और यूनानियों ने अरबों के सम्पर्क से ज्यादा फ़ायदा नहीं उठाया। शायद इसकी वजह यह हो कि अरब जाति एक नई जाति थी, और शक्ति व उत्साह से भरी हुई थी; लेकिन दूसरी जातियाँ पुरानी थीं; पुरानी लकीर पर चली जाती थीं, और परिवर्तन के लिए वे ज्यादा परवाह नहीं करती थीं। और यह भी एक अजीब बात है कि जिस तरह उम्र का प्रभाव व्यक्तियों पर पड़ता है, उसी तरह राष्ट्रों और जातियों पर भी पड़ता है। उमर पाकर क़ौमों की रफ़्तार भी धीमी पड़ जाती है; उनके मन और शरीर से लोच जाता रहता है, वे परिवर्तन से डरने लगती हैं, और तटस्थ हो जाती हैं।

इसलिए अरबों के इस सम्पर्क से, जो कई सौ वर्षों तक रहा, हिन्दुस्तान पर ज्यादा असर नहीं पड़ा, और न कोई ख़ास तब्दीली ही आई। लेकिन इस लम्बे युग में इस्लाम के नये धर्म के बारे में हिन्दुस्तान को कुछ-न-कुछ जरूर परिचय मिल गया होगा। अरब के मुसलमान आये और गये, उन्होंने मस्जिदें बनवाईं, कभी-कभी उन्होंने अपने धर्म का प्रचार भी किया और कभी-कभी उन्होंने कुछ लोगों को अपने धर्म में मिला भी लिया। मालूम होता है कि उस समय इसपर कोई आपत्ति नहीं की गई और न हिन्दू धर्म और इस्लाम में कोई झगड़ा या फ़साद हुआ। यह बात ध्यान देने लायक़ है, क्योंकि बाद में इन दोनों धर्मों में बड़े लड़ाई-झगड़े हुए। ग्यारहवीं सदी में जब, इस्लाम हाथ में तलवार लेकर, एक विजेता के भेस में, हिन्दुस्तान में दाख़िल हुआ, उस समय भीषण प्रतिक्रिया के भाव पैदा हुए और पुरानी सहनशीलता की जगह परस्पर हिक़ारत और संघर्ष के भाव आगये।

यह तलवार चलानेवाला, जो हाथ में आग और क़त्ल लेकर हिन्दुस्तान में आया था, ग़ज़नी का महमूद था। ग़ज़नी अब अफ़ग़ानिस्तान में एक छोटा-सा क़स्बा रह गया है। दसवीं सदी में ग़ज़नी के इर्द-गिर्द एक छोटा-सा राज्य बन गया था। मध्य एशिया के राज्य नाममात्र को बग़दाद के ख़लीफ़ा के अधीन थे, लेकिन, जैसा मैं तुमको पहले ही बता चुका हूँ, हारूनल रशीद के मरने के बाद ख़लीफ़ा कमज़ोर हो गये, और एक समय आया जब ख़लीफ़ों का यह साम्राज्य कई स्वतन्त्र राष्ट्रों के रूप में, टुकड़े-

टुकड़े हो गया। यह उसी समय की बात है, जिसका हम जिक्र कर रहे हैं। सुबुक्तगीन नाम के एक तुर्की ग़ुलाम ने ९७५ ई० के क़रीब ग़ज़नी और कंधार में अपने लिए एक राज्य क़ायम कर लिया था। उसने हिन्दुस्तान पर भी हमला किया। उन दिनों लाहौर का राजा जयपाल था। साहसी जयपाल सुबुक्तगीन के ख़िलाफ़ काबुल की घाटी में बढ़ गया, पर वहाँ उसकी हार हो गई।

महमूद अपने पिता सुबुक्तगीन के बाद गद्दी पर बैठा। वह एक तेजस्वी सेनापति और घुड़सवारों की सेना का अच्छा नायक था। हर साल वह हिन्दुस्तान पर हमला करता, लूटता, मार-काट करता और अपने साथ बहुत-सा धन और बहुत-से आदमी क़ैद करके ले जाता। कुल मिलाकर उसने हिन्दुस्तान पर १७ हमले किये। इनमें से उसका केवल कश्मीर का एक धावा असफल रहा। बाक़ी सब आक्रमण सफल हुए, और सारे उत्तरी हिन्दुस्तान में उसका आतंक छा गया। वह पाटलिपुत्र, मथुरा और सोमनाथ तक गया। कहा जाता है कि थानेश्वर से वह दो लाख क़ैदी और बहुत-सा धन ले गया था। लेकिन उसे सबसे ज्यादा धन सोमनाथ में मिला, क्योंकि वहां पर एक बहुत बड़ा मन्दिर था और सदियों की भेंट-पूजा वहाँ जमा थी। कहा जाता है कि जब महमूद सोमनाथ के पास पहुँचा तो इस आशा में कि मूर्ति में कोई चमत्कार ज़रूर होगा, और उनका पूज्य देवता उनकी अवश्य मदद करेगा, हज़ारों आदमियों ने उस मन्दिर में शरण ली। लेकिन भक्तों की कल्पनाओं को छोड़कर चमत्कार बिरले ही होते हैं। महमूद ने मन्दिर को तोड़ डाला, और उसे लूट लिया। पचास हज़ार आदमी उस चमत्कार की राह देखते-देखते, जोकि हुआ ही नहीं, नष्ट हो गये।

महमूद ई० सन् १०३० में मर गया। उस समय सारा पंजाब और सिन्ध उसके क़ब्ज़े में था। वह इस्लाम धर्म का एक बड़ा नेता समझा जाता है, जो हिन्दुस्तान में इस्लाम धर्म के प्रचार करने के लिए आया। बहुत-से मुसलमान उसकी इज्ज़त और बहुत-से हिन्दू उससे घृणा करते हैं, लेकिन असल में वह मज़हबी आदमी नहीं था। वह मुसलमान ज़रूर था, लेकिन यह एक गौण बात थी। असली बात यह थी कि वह एक प्रतिभाशाली सैनिक था। वह हिन्दुस्तान को जीतने और लूटने आया था, जैसाकि बदक़िस्मती से अक्सर सैनिक लोग किया करते हैं। महमूद चाहे जिस धर्म का होता यही करता। यह एक ध्यान देने की बात है कि महमूद ने सिन्ध के मुसलमान राजाओं को भी धमकी दी थी। जब उन्होंने उसकी मातहती मान ली, और उसे ख़िराज दिया तब उसने उन्हें छोड़ा था। उसने बग़दाद के ख़लीफ़ा को भी मौत की धमकी दी थी, और उससे समरक़न्द माँगा था, इसलिए हमें महमूद को एक सैनिक के अलावा और कोई दूसरी चीज़ समझने की ग़लती में न फँसना चाहिए।

महमूद बहुत से हिन्दुस्तानी शिल्पकारों और कारीगरों को अपने साथ ग़ज़नी ले गया था, और वहाँ पर उसने एक सुन्दर मस्जिद बनवाई थी। जिसका नाम 'उरूसे जन्नत' यानी स्वर्ग-वधू रक्खा था। बग़ीचों का वह बड़ा प्रेमी था।

(महमूद ने मथुरा की एक झलक हमें दिखाई है, जिससे पता चलता है कि मथुरा उस समय कितना बड़ा शहर था। महमूद ने ग़ज़नी के अपने एक सूबेदार के नाम एक ख़त में लिखा था—"यहां एक हज़ार ऐसी इमारतें हैं जो, इतनी मजबूत हैं, जैसे 'मोमिनों' यानी मुसलमानों का ईमान। यह मुमकिन नहीं कि यह शहर अपनी इस मौजूदा हालत पर बिना लाखों दीनार (उस समय का एक मुसलमानी सिक्का) ख़र्च किये पहुँचा हो, और न इस तरह का दूसरा शहर दोसौ साल से कम में तैयार ही किया जा सकता है।")

महमूद द्वारा लिखा हुआ मथुरा का यह वर्णन हम फ़िरदौसी की किताब में पढ़ते हैं। फ़िरदौसी फ़ारसी का महाकवि था। मुझे ख़याल आता है कि पिछले साल के अपने एक ख़त में, मैंने उसका और उसकी ख़ास किताब 'शाहनामा' का ज़िक्र किया है। एक कथा है कि शाहनामा महमूद की आज्ञा से लिखा गया था। महमूद ने फ़िरदौसी को फ़ी शेर एक सोने की दीनार देने का वादा किया था। लेकिन मालूम पड़ता है कि फ़िरदौसी किसी बात को संक्षेप में कहने का क़ायल नहीं कई था। उसने बहुत विस्तार के साथ लिखा, और जब वह महमूद के सामने अपने बनाये हज़ार शेर ले गया, तो हालांकि उसकी रचना की बहुत तारीफ़ की गई, लेकिन महमूद को अपने अविवेकपूर्ण वादे पर पश्चात्ताप हुआ। उसने उसे वादे से कम इनाम देने की कोशिश की। इसपर फिरदौसी बड़ा नाराज़ हुआ और उसने कुछ भी लेने से इन्कार कर दिया।

हर्ष से महमूद तक हमने एक लम्बा क़दम रक्खा और साढ़े तीन सौ बरसों से ज्यादा समय का हिन्दुस्तानी इतिहास कुछ पैरों में देख लिया। मैं समझता हूँ, इस लम्बे युग के बारे में बहुत-कुछ दिलचस्प बातें लिखी जा सकती हैं। लेकिन मैं उन्हें नहीं जानता। इसलिए अक़्लमन्दी की बात यही है कि मैं इस बारे में चुप रह जाऊँ। मैं तुम्हें भिन्न-भिन्न राजाओं और शासकों के बारे में कुछ-न-कुछ बता सकता हूँ, जो एक दूसरे से लडे और जिन्होंने हिन्दुस्तान में कभी-कभी पांचाल जैसे बडे-बडे राज्य भी क़ायम किये। कन्नौज की मुसीबतों का भी हाल मैं बता सकता हूँ कि किस प्रकार उसपर पहले कश्मीर के राजाओं ने और उनके बाद दक्षिण के राष्ट्रकूटों ने हमले किये और उसपर क़ब्ज़ा कर लिया। लेकिन इससे कोई फ़ायदा न होगा; तुम सिर्फ़ उलझन में और फँस जाओगी।

यहां हम हिन्दुस्तान के इतिहास के एक लम्बे अध्याय के अख़ीर तक पहुँच गये हैं,

और अब एक नया अध्याय शुरू होता है। इतिहास को टुकडों में बाँटना मुश्किल और अक्सर अनुचित होता है। इतिहास बहती हुई नदी की तरह आगे बहता ही जाता है। फिर भी इसमें तब्दीली होती है। एक पहलू का अन्त और दूसरे का आरम्भ होता है। ये परिवर्तन एकाएक नहीं होते; एक रंग में दूसरा रंग छिपता जाता है और इस तरह तब्दीली का पता नहीं चलता। इसलिए जहाँतक हिन्दुस्तान का सम्बन्ध है हम इतिहास के इस कभी ख़त्म न होने वाले नाटक के एक अंक तक पहुँच गये हैं। जिसयुग को हिन्दू युग कहते हैं, वह अब धीरे-धीरे ख़त्म होता है। हिन्दू-आर्य संस्कृति जो कई हज़ार वर्षों से फलती-फूलती चली आरही थी, अब एक नई आनेवाली संस्कृति के संघर्ष में आती है। लेकिन याद रखो कि यह तब्दीली एकाएक नहीं हुई थी। यह धीरे-धीरे आई थी। इस्लाम उत्तरी हिन्दुस्तान में महमूद के साथ आया। दक्षिण बहुत दिनों तक मुसलमानों की विजय से बचा रहा, और इसके बाद बंगाल भी क़रीब दो सौ बरसों इस्लाम से मुक्त था। हम देखते हैं कि उत्तर में चित्तौड़, जो आगे इतिहास में अपनी बहादुरी के लिए मशहूर होनेवाला था, राजपूत जातियों के संगठन का केन्द्र होने लगा था। लेकिन मुसलमानों की विजय-धारा निष्ठुर और निश्चित रूप से आगे बढ़ती ही गई और व्यक्तिगत वीरता उसे ज़रा भी न रोक सकी। इसमें कोई शक नहीं कि पुराना हिन्दू-आर्य-भारत अवनति की ओर जारहा था।

विदेशियों और विजेताओं को रोकने में असमर्थ होने की वजह से हिन्दू-आर्य संस्कृति ने आत्म-रक्षा की नीति पकडी। पर अपने को बचाने की कोशिश में वह एक गुफ़ा में चली गई। उसने अपनी जाति-पांति की प्रणाली को जिसमें अभीतक लोच बाक़ी थी ज्यादा मज़बूत और कडी बना दिया। उसने स्त्रियों की स्वाधीनता घटा दी, और ग्राम पंचायतें भी धीरे-धीरे बदलकर बुरी हालत में हो गईं। लेकिन इस हालत में भी, जब कि वह एक अधिक जीवित जाति के सामने गिर रही थी, उसने उन लोगों पर अपना असर डालने और उन्हें अपने ढंग पर मोड़ने और ढालने की कोशिश की। और इस आर्य-संस्कृति में हज़म करने की इतनी ज्यादा ताक़त थी कि, एक हद तक, इसने अपने विजेताओं के ऊपर भी सांस्कृतिक विजय प्राप्त करली।

तुम्हें यह याद रखना चाहिए कि यह संघर्ष भारतीय आर्य-सभ्यता और उच्च कोटि के अरबों के बीच नहीं था, बल्कि सभ्य लेकिन पतनशील हिन्दुस्तान और मध्य एशिया के अर्ध-सभ्य और अक्सर ख़ानाबदोश क़ौमों (जिन्होंने हाल ही में इस्लाम धर्म ग्रहण किया था) के बीच था। बदक़िस्मती से हिन्दुस्तान ने सभ्यता के इस अभाव को और महमूद के हमलों की वीभत्सता को इस्लाम के साथ शामिल कर दिया और इस तरह आपस की कटुता बढ़ गई।

: ५२ :

योरप के देशों का निर्माण

३ जून, १९३२

प्यारी बेटी ! क्या अब हम योरप की सैर न करेंगे ? पिछली बार जब हमने उसपर विचार किया था, उसकी हालत ख़राब थी। रोम का पतन, पश्चिमी योरप की सभ्यता का पतन था। कुस्तुन्तुनिया की सरकार के मातहतवाले हिस्से को छोड़कर पूर्वी योरपवाले हिस्से की हालत उससे भी ख़राब थी। एटिला नामक हूण ने महाद्वीप के बहुत बडे हिस्से को तहस-नहस कर डाला था। लेकिन पूर्वी रोमन साम्राज्य, हालांकि वह गिर रहा था, क़ायम रहा। यहाँ तक कि कभी-कभी उसकी शक्ति एकाएक फूट निकलती थी।

रोम के पतन से पैदा होनेवाले धक्के के बाद पश्चिम में सब बातें नये तरीक़े से व्यवस्थित होने लगीं। इनके निश्चित रूप पकड़ने और जमने में बहुत दिन लग गये। फिर भी पश्चिम का नया रूप-रंग या ढांचा जैसे सामने आता-जाता है, हम उसे पहचान सकते हैं। कभी-कभी अपनें साधु-संतों और शान्ति-प्रिय लोगों की मदद पाकर, और कभी अपने सैनिक राजाओं की तलवार के ज़ोर पर, ईसाई धर्म का फैलाव बढ़ता गया। नये-नये राज्य पैदा हो गये। फ़्रांस, बेलजियम और जर्मनी के एक भाग पर फ़्रैंकों ने, जिन्हें तुम फ़्रेन्च (फ़्रान्स निवासी) समझने की भूल न करना, क्लोविस नामक शासक के मातहत एक राज्य क़ायम किया। क्लोविस ने ई० सन् ४८१ से ५११ तक राज्य किया। यह राजवंश क्लोविस के बाबा के नाम से मेरोविंजियन वंश कहलाता है। लेकिन इन राजाओं के ऊपर बहुत जल्द उन्हींके दरबार का एक अफ़सर हावी हो गया। यह राजमहल का 'मेयर' था। ये मेयर सर्वशक्तिमान हो गये और इनका यह पद मौरूसी हो गया। असली शासक तो ये थे। राजा तो नाम के और कठपुतली मात्र थे।

चार्ल्स मार्टल भी इन्हीं राजमहल के मेयरों में से एक था, जिसने ७३२ ई० में फ्रान्स में टूर्स की बडी लड़ाई में सरासीनों को हराया था। इस विजय से चार्ल्स मार्टल ने सरासीनों के विजय-प्रवाह को रोक दिया और ईसाइयों की निगाह में उसने योरप को बचा लिया। इस जीत से उसकी इज्जत और शोहरत बहुत बढ़ गई। लोग उसे शत्रुओं के विरुद्ध ईसाई-संसार का नेता मानने लगे। इन दिनों रोम के पोपों का सम्बन्ध कुस्तुन्तुनिया के सम्राटों के साथ अच्छा नहीं था। इसलिए पोप चार्ल्स मार्टल से सहायता की आशा करने लगे। चार्ल्स मार्टल के लड़के पेपिन ने

उस समय के कठपुतली राजा को गद्दी से उतारकर अपनेको राजा घोषित करना निश्चय किया। पोप ने खुशी के साथ यह बात मानली।

(शार्लमेन पेपिन का लड़का था। पोप के ऊपर फिर मुसीबत आई और उसने शार्लमेन को अपनी रक्षा के लिए बुलाया। शार्लमेन ने मदद की, पोप के दुश्मनों को भगा दिया और ई० सन् ८०० के बड़े दिन को गिरजे में एक बड़ा उत्सव करके पोप नें शार्लमेन को रोमन सम्राट बना दिया। उसी दिन से पवित्र रोमन साम्राज्य शुरू हुआ, जिसकी बाबत मैं तुम्हें पहले एक बार लिख चुका हूँ।)

यह एक विचित्र साम्राज्य था, और इसका आगे आनेवाला इतिहास तो और भी विचित्र है, क्योंकि वह 'एलिस इन दि वण्डरलैण्ड'[१] की चेशायर बिल्ली की तरह केवल अपनी मुस्कराहट छोड़ जाता है लेकिन उसके शरीर का कोई निशान बाक़ी नहीं बचता। लेकिन अभी यह आगे की बात है और हमें अभी से भविष्य में ताक-झांक करने की जरूरत नहीं।

यह 'पवित्र रोमन साम्राज्य' पुराने पश्चिमी रोमन साम्राज्य का सिलसिला नहीं था। यह दूसरी ही चीज थी। यह अपने ही साम्राज्य को एक मात्र साम्राज्य समझता था। इसका सम्राट, शायद पोप को छोड़कर, अपने को दुनिया में हरेक का स्वामी मानता था। सम्राट और पोप के बीच कई सदियों तक इस बात की लाग-डाँट रही थी कि इन दोनों में कौन बड़ा है। लेकिन यह लाग-डाँट भी अभी आगे की चीज है। ध्यान देने लायक़ बात यह है कि यह साम्राज्य उस पुराने साम्राज्य का पुनरुत्थान माना जाता था, जो किसी समय सर्वोपरि था और जब रोम दुनिया का स्वामी माना जाता था। लेकिन इस धारणा के साथ एक नया भाव पैदा हो गया था—ईसाई मत और ईसाई जगत का। इसलिए यह साम्राज्य 'पवित्र' कहलाता था। सम्राट संसार में एक प्रकार का ईश्वर का प्रतिनिधि समझा जाता था और पोप भी इसी प्रकार पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था। एक राज-सम्बन्धी मामलों की देख-रेख करता था, दूसरा आध्यात्मिक मामलों की। बहरहाल कुछ ऐसे ही विचार थे; और मैं समझता हूँ कि इसी विचारधारा के कारण योरप में राजाओं के ईश्वरीय

१. 'एलिस इन दि वण्डरलैण्ड'—अँगरेज़ी भाषा में बच्चों की एक बड़ी पुस्तक का नाम। आक्सफ़र्ड विश्व-विद्यालय के एक प्रोफ़ेसर ने, लुई केरोल के नाम से, एक मित्र की लड़कियों के विनोद के लिए, सन् १८६५ में इसे लिखा था। यह पुस्तक बड़ी रोचक है, और शायद ही कोई अँगरेज़ी जाननेवाला बालक या बालिका ऐसी हो, जिसने इसको न पढ़ा हो। इस पुस्तक में एलिस नाम की एक लड़की की आश्चर्यमय लोक की स्वप्न-यात्रा का वर्णन है।

या दैवी अधिकार (Divine Right) का भाव पैदा हुआ है। सम्राट 'धर्म का रक्षक' (Defender of the Faith) था। तुम्हें यह बात रोचक मालूम होगी कि अंग्रेज़ों का राजा अभी तक 'धर्म का रक्षक' कहा जाता है।

इस सम्राट की तुलना उस ख़लीफ़ा से करो जो 'अमीरुल मोमनीन' (ईमानदारों का सरदार) कहलाता था। ख़लीफ़ा सम्राट और पोप दोनों होता था। लेकिन बाद में, जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, वह नाम-मात्र का ख़लीफ़ा रह गया था।

कुस्तुन्तुनिया के सम्राटों ने पश्चिम के इस नये उठे हुए 'पवित्र रोमन साम्राज्य' को बिलकुल पसंद नहीं किया। जिस समय शार्लमेन का राजतिलक हुआ, कुस्तुन्तुनिया में आइरीन नामक एक औरत साम्राज्ञी बन बैठी। आइरीन वही स्त्री थी, जिसने सम्राज्ञी बनने के लिए अपने ही लड़के को मार डाला था। उसके समय में राज्य की हालत ख़राब थी। यह भी एक वजह थी, जिससे पोप को यह साहस हुआ कि शार्लमेन का राज-तिलक कर दे और कुस्तुन्तुनिया से सम्बन्ध तोड़ ले।

शार्लमेन इस समय पश्चिमी ईसाई जगत् का अधिनायक था। वह पृथ्वी पर 'ईश्वर का प्रतिनिधि' था और एक पवित्र साम्राज्य का सम्राट् था। सुनने में ये शब्द कितने शानदार मालूम पड़ते हैं। लेकिन ये वाक्य जनता को धोखा देने और उसे मंत्रमुग्ध कर देने का अपना काम कर ही जाते हैं। ईश्वर और धर्म को अपनी मदद के लिए पुकारकर अधिकारीवर्ग ने अक्सर दूसरों को बेवक़ूफ़ बनाया है और अपनी ताक़त बढ़ाई है। राजा, सम्राट् और धर्माचार्य इस तरह औसत आदमी की नज़रों में रहस्यमय और छायापूर्ण चीज़ बन जाते हैं। और साधारण जीवन से बिलकुल अलग रहने से लोग इन्हें क़रीब-क़रीब देवताओं की तरह समझने लगते हैं। इसीलिए साधारण मनुष्य उनसे भय खाने लगता है। दरबारों के शिष्टाचारों और वहाँके विस्तृत नियमों और उपनियमों की सूची का ख़याल करो, और मंदिरों और गिरजों में होनेवाली पूजा के विस्तृत आचार से उसकी तुलना करो। दोनों में एकसी बातें मिलती हैं। दोनों में वही झुकने, सलाम करने, दण्डवत करने और सर झुकाने की बातें मिलेंगी। अधिकारों की यह पूजा बचपन से ही जुदे-जुदे तरीक़ों से हमें सिखाई जाती है। यह भय की उपासना है, प्रेम की नहीं।

शार्लमेन बग़दाद के हारूनल रशीद का समकालीन था। वह उससे पत्र-व्यवहार करता था। और इस बात पर ग़ौर करो कि उसने यह प्रस्ताव किया था कि वे पूर्वी रोमन साम्राज्य और स्पेन के सरासीनों से लड़ने के लिए मिलकर काम करें। इस प्रस्ताव का कोई फल नहीं निकला, लेकिन फिर भी यह प्रस्ताव राजाओं और राजनीतिज्ञों की नीति पर काफ़ी रोशनी डालता है। सोचो तो, ईसाई-शक्ति और

अरब-शक्ति के ख़िलाफ़ ईसाई-जगत का अधिनायक और 'पवित्र' सम्राट बगदाद के ख़लीफ़ा से मेल करे ! तुम्हें याद होगा कि स्पेन के सरासीनों ने बग़दाद के अब्बासी खलीफ़ाओं को ख़लीफ़ा मानने से इन्कार कर दिया था। वे आज़ाद हो गये थे, लेकिन ये दोनों एक-दूसरे से इतने दूर थे कि लड़ नहीं सकते थे। कुस्तुन्तुनिया और शार्लमेन में भी मेल नहीं था। लेकिन यहाँ भी फासले की वजह से लड़ाई नहीं हो सकी। बहरहाल यह प्रस्ताव किया गया था कि एक ईसाई और एक अरब दूसरी ईसाई और अरब शक्ति से लड़ने के लिए आपस में मेल करलें। इन राजाओं की असली नीयत यह होती थी कि किसी तरह अपनी शक्ति, अधिकार और धन बढ़ालें। लेकिन इस नीयत के ऊपर ये लोग धर्म का चोला चढ़ा देते थे। हर जगह ऐसा ही हुआ। हिन्दुस्तान में हमने देखा है कि महमूद मजहब के नाम पर आया और उसने इस भावना से बहुत फ़ायदा उठाया। धर्म की दुहाई देकर अक्सर लोगों ने फ़ायदा उठाया है।

लेकिन हरेक युग में लोगों के ख़यालात बदला करते हैं, और हम लोगों के लिए बहुत दिन पहले के लोगों के बारे में कोई फ़ैसला कर लेना मुश्किल है। हमें यह बात हमेशा याद रखनी चाहिए। बहुत सी बातें जो आज हमें स्पष्ट दिखाई देती हैं उस समय के लोगों को विचित्र मालूम पड़ती थीं। हमें आज उनके सोचने का ढंग और उनकी आदतें अजीब मालूम होती हैं। एक तरफ़ लोग ऊँचे अदर्शों की बात करते थे, 'पवित्र' साम्राज्य की, ईश्वर के प्रतिनिधि की और ईसा के प्रतिनिधि पोप की बातें बघारी जाती थीं, और उधर पश्चिम की हालत उतनी ही खराब थी जितनी हो सकती थी। शार्लमेन के बाद ही इटली और रोम की हालत बहुत शोचनीय हो गई थी। रोम में कुछ स्त्री और पुरुषों का एक घृणित गिरोह जो चाहता था करता था और पोपों को बनाता बिगाड़ता रहता था।

दरअसल में रोम के पतन के बाद पैदा होनेवाली पश्चिमी योरप की सर्वव्यापी अशान्ति से लोगों के दिलों में यह ख़याल पैदा हो गया था कि अगर साम्राज्य का फिर से जन्म हो तो हालत सुधर जायगी। बहुतों के लिए यह इज्जत का सवाल हो गया कि एक सम्राट् बनाया जाय। उस समय का एक पुराना लेखक लिखता है कि चार्ल्स को इसलिए सम्राट् बना दिया गया, कि ग़ैर-ईसाई यह कहकर ईसाइयों का अपमान न करें कि ईसाइयों में सम्राट का नाम लुप्त हो गया है।

शार्लमेन के साम्राज्य में फ्रांस, बेलजियम, हालैंड, स्वीज़रलैंड आधा जर्मनी और आधा इटली शामिल थे। इसके दक्षिण-पश्चिम में स्पेन था, जो अरबों के अधीन था। उत्तर-पूरब में स्लाव और दूसरी जातियाँ थीं। उत्तर में डेन और नार्थमेन

थे। दक्षिण-पूरब में बलगेरियन और सरबियन लोग थे और उनके बाद कुस्तुन्तुनिया के अधीन पूर्वी रोमन राज्य था।

ई० सन् ८१४ में शार्लमेन मर गया और थोडे ही दिनों के बाद साम्राज्य की सम्पत्ति के बँटवारे के लिए झगडे उठ खडे हुए। उसके वंशज, जो केर्लोविजियन (केरोलस चार्ल्स का लैटिन रूप है) कहलाते थे, किसी काम के नहीं थे, जैसा कि उनमें से कुछ की उपाधियों से मालूम होता है। एक 'मोटा' कहलाता था, दूसरा 'गंजा' और तीसरा 'पवित्र'। शार्लमेन के साम्राज्य से टूटकर अब जर्मनी और फ्रांस ने अपना अलग रूप धारण करना शुरू किया। कहते हैं, ई० सन् ८४३ से जर्मन राष्ट्र का जन्म हुआ, और यह भी कहा जाता है कि ई० सन् ९६२ से ९७३ तक राज्य करनेवाले सम्राट् ओटो महान् ने जर्मनों को एक राष्ट्र बनाया। फ्रांस पहले से ही ओटो के साम्राज्य के बाहर था। ई० सन् ९८७ में ह्यूकैपेट नामक एक सरदार ने शक्तिहीन केर्लोविजियन राजाओं को निकाल दिया और फ्रांस पर कब्ज़ा कर लिया। लेकिन पूरे फ़्रांस पर कब्ज़ा नहीं हो सका, क्योंकि फ़्रांस बडे-बडे भागों में बंटा था, जो स्वतंत्र सरदारों के अधीन थे और ये सरदार आपस में अकसर लड़ा करते थे। लेकिन वे एक-दूसरे से उतना नहीं डरते थे, जितना साम्राट और पोप से, और सम्राट् तथा पोप से मुक़ाबिला करने के लिए सब मिल जाते थे। ह्यु कैपेट के समय से फ़्रांस राष्ट्र की शुरुआत हुई और इस आरम्भिक युग में भी हमें फ्रांस और जर्मनी की प्रतिद्वंद्विता दिखाई देती है। यह प्रतिद्वंद्विता पिछले हज़ार वर्षों से चली आती है औरआज तकजारी है। अजीब बात है कि फ़्रांस और जर्मनी के समान दो सभ्य और अत्यन्त कुशल राष्ट्र, जो एक दूसरे के पडौसी हैं, अपने पुराने वैमनस्य को पीढ़ी-दर-पीढ़ी भड़काते रहें। लेकिन शायद इसमें उनका उतना दोष नहीं है, जितना उस प्रणाली का, जिसके नीचे वे रहते रहे हैं।

क़रीब-क़रीब इसी समय रूस भी इतिहास के रंग-मँच पर आता है। कहा जाता है कि उत्तर के एक आदमी ने, जिसका नाम रूरिक था, ८५० ई० के लगभग रूसी राज्य की नींव डाली थी (इसी समय योरप के दक्षिण पूरब में बलगेरियन लोग बसने लगे और धीरे-धीरे उग्र होने लगे। इसी प्रकार सरबियनों ने भी वहाँ बसना शुरू किया। मगयार या हँगेरियन और पोल जातिवाले भी पवित्र रोमन साम्राज्य के और नये रूस के बीच में अपना राज्य स्थापित करने लगे)

इसी दरमियान उत्तर योरप से कुछ लोग जहाज़ों के ज़रिये पश्चिम और दक्षिण देशों को आये। उन लोगों ने वहां आग लगाई, क़त्ल किये और लूट-मार की। तुमने डेन और दूसरे नार्थमेनों के बारे में पढ़ा होगा, जो इंगलैंड को लूटने गये

थे। ये नार्थमेन या नार्समेन या नार्मन, भूमध्य सागर में गये, अपने जहाजों के जरिये उन्होंने बड़ी-बड़ी नदियों को पार किया और जहाँ कहीं भी वे गये वहीं लूट-मार की। इटली में अराजकता थी और रोम बहुत बुरी आफ़त में था। इन लोगों ने रोम को लूट लिया और कुस्तुन्तुनिया को भी धमकाया। इन लुटेरों और डाकुओं ने फ्राँस के पश्चिमी हिस्से को, जहाँ नारमण्डी है, और दक्षिण इटली और सिसली को छीन लिया और धीरे-धीरे वहाँ बस गये और उस प्रदेश के मालिक तथा जमींदार बन बैठे, जैसा कि अक्सर लुटेरे समृद्धिशाली होने पर करते हैं। फ्रांस के नारमंडी प्रांत में बसे हुए इन्हीं नार्मनों ने १०६६ ई० में विलियम के सेनापतित्व में (जिसको विजेता कहा गया है) इंग्लैण्ड को जीत लिया। इस तरह हम इंग्लैण्ड की भी शक्ल बनते देखते हैं।

अब हम मोटे तौर पर योरप में ईसाई सन् के पहले हज़ार बरसों के अन्त तक पहुँच गये। इसी वक्त ग़जनी का महमूद हिन्दुस्तान पर हमला कर रहा था और इसी समय के लगभग बग़दाद के अब्बासी ख़लीफ़ाओं की ताक़त कम हो रही थी और पश्चिमी एशिया में सेलजुक़ तुर्क इस्लाम को फिर से जगा रहे थे। स्पेन अब भी अरबों के मातहत था। लेकिन वे अपनी मातृभूमि अरबस्तान से बहुत दूर पड़ गये थे। दरअसल में उनका सम्बन्ध बग़दाद के शासकों के साथ अच्छा नहीं था। उत्तरी अफ़रीका वास्तव में बग़दाद से स्वतंत्र हो गया था। मिस्र में यही नहीं कि एक स्वतंत्र शासन क़ायम हो गया हो, बल्कि वहाँ के ख़लीफ़ाओं ने अपनी अलग ख़िलाफ़त बनाली थी और कुछ समय के लिए मिस्र के ख़लीफ़ा उत्तरी अफ़रीका पर भी राज्य करते रहे।

: ५३ :

सामन्त-प्रथा

४ जून, १९३२

अपने पिछले ख़त में हमने फ्रांस, जर्मनी रूस और इंगलैंड की शुरूआत की एक झलक देखी थी, लेकिन याद रक्खो कि इन देशों के बारे में इन लोगों का उस ज़माने वह ख़याल नहीं था, जो अब है। हम आज-कल यह जानते हैं, कि अंग्रेज़ों, फ़्रांसीसियों और जर्मनों की क़ौमें अलग-अलग हैं, और इनमें से हरएक अपनी मातृ-भूमि या पितृ-भूमि को अलग-अलग मानता है। राष्ट्रीयता का यह भाव आज-कल संसार में भलीभांति ज़ाहिर है। हिन्दुस्तान में हमारी आज़ादी की लड़ाई भी

'राष्ट्रीय' लड़ाई है। लेकिन उस ज़माने में राष्ट्रीयता की यह भावना मौजूद नहीं थी। उस ज़माने में ईसाई-धर्म-जगत की भावना ज़रूर थी; यानी लोग कुछ इस शक्ल में सोचते और अनुभव करते थे, कि हम ईसाई समाज या गिरोह के आदमी हैं और मुसलमानों या ग़ैर ईसाइयों से अलग हैं। इसी तरह मुसलमानों का भी ख़याल था, कि हम मुसलमानी दुनिया के प्राणी हैं और बाक़ी जितने हैं काफ़िर हैं, और हमसे अलग हैं।

लेकिन ईसाईधर्म और इस्लाम के ये विचार बिलकुल अस्पष्ट थे और जनता की रोज़ाना ज़िन्दगी पर इनका कोई असर नहीं पड़ता था। ख़ास-ख़ास मौक़ों पर लोगों के दिलों में मज़हबी जोश भरा जाता था, ताकि आगे इस्लाम या ईसाईधर्म के लिए, जहां जैसा मौक़ा हो, लड़ने को तैयार हो जायें। राष्ट्रीयता के बजाय, आदमी-आदमी के बीच एक अजीब सम्बन्ध था। यह सामन्ती सम्बन्ध था, जो सामन्त प्रथा से पैदा हुआ था। रोम के पतन के बाद पश्चिम की पुरानी प्रणाली तहस-नहस हो गई थी। सभी जगह अराजकता, उद्दंडता, ज़बर्दस्ती और बदइन्तज़ामी दिखाई देती थी। ज़बर्दस्त आदमी जो कुछ पाते थे, ले लेते थे। और जब तक कोई ज्यादा ज़बर्दस्त आदमी पैदा नहीं होता था, जो उनसे छीन ले, ये अपना अधिकार जमाये रहते थे। क़िले बनाये जाते थे, और इन क़िलों के स्वामी छापा मारने के लिए अपने दल के साथ बाहर निकलते थे। गाँवों में लूट-मार करते थे, और कभी-कभी अपनी बराबरी के लोगों से युद्ध भी करते थे। ग़रीब किसान और ज़मीन पर काम करनेवाले मज़दूर ही सबसे ज्यादा मुसीबत में फँसे थे। इसी बदइंतज़ाम में से सामन्त प्रणाली का जन्म हुआ था।

किसान संगठित नहीं थे। इन डकैत सरदारों से वे अपनी रक्षा नहीं कर सकते थे और न कोई केन्द्रीय शासन ही था, जो कि इन किसानों की रक्षा करता। इसलिए किसानों ने इस दुर्गति से बचने के लिए उत्तम उपाय यही देखा कि, क़िले के इन मालिकों से, जो, उन्हें लूटते रहते थे, समझौता कर लें। किसान इस बात पर राज़ी हो गये कि खेत में जो कुछ पैदा होगा, उसका कुछ हिस्सा उनको देंगे, और भी कई तरीक़ों से उनकी सेवा करेंगे, बशर्ते कि वे इन्हें लूटना छोड़ दें और परेशान न करें, और अपने वर्ग के दूसरे आदमियों से भी इनको बचायें। इसी तरह छोटे क़िले के मालिक ने बड़े क़िले के मालिक से समझौता कर लिया। लेकिन छोटा मालिक बड़े मालिक को खेत की कोई उपज नहीं दे सकता था, क्योंकि वह ख़ुद किसान नहीं होता था और कुछ पैदा नहीं करता था। इसलिए सैनिक साहयता देने का वादा करता था यानी ज़रूरत पड़ने पर उसकी तरफ़ से लड़ने का वचन देता था। इसके

बदले में बड़ा मालिक छोटे को बचाता था और छोटा बडे का मातहत समझा जाता था। इसी तरह क़दम-ब-क़दम छोटे से बडे और बडे से अधिक बडे मालिक तक यह सिलसिला चलता था और अन्त में बादशाह तक पहुंच जाता था, जिसे इस सामन्ती ढांचे का प्रमुख समझना चाहिए। लेकिन यह सिलसिला यहीं नहीं खतम होता था। इनका ख़याल था कि स्वर्ग में भी यह सामन्त प्रथा है, जहां त्रि-देव या त्रिमूर्ति (Trinity) हैं और परमेश्वर इन सबका प्रमुख है।

योरप की बदइन्तज़ामी में से यह सामन्त-प्रथा धीरे-धीरे पैदा हुई। तुमको याद रखना चाहिए कि उस वक्त कोई केन्द्रीय शासन अमली शक्ल में नहीं था। न तो पुलिसवाले थे और न इस क़िस्म की कोई दूसरी चीज़ थी। एक ज़मीन के टुकडे का मालिक, उसका शासक और स्वामी भी था और उन सारे आदमियों का भी स्वामी था जो उस ज़मीन पर बसते थे। यह एक क़िस्म का छोटा-मोटा राजा माना जाता था, जो उनकी सेवाओं और लगान के बदले में उनकी रक्षा करता था। यह अपनी जमीन पर बसने वालों का राजा कहलाता था और वे लोग उसकी प्रजा या ग़ुलाम समझे जाते थे। इसके पास जो ज़मीन होती थी, सिद्धान्त में वह बडे मालिक या सामन्त की तरफ़ से मिली हुई समझी जाती थी, और इसी बडे सामन्त का वह मातहत समझा जाता था और उसे फौजी सहायता देता था।

गिरजाघरों के अफ़सर भी इस सामन्त प्रथा के अंग माने जाते थे। वे धर्म-पुरोहित और सामन्त दोनों थे। जर्मनी में तो आधी ज़मीन और सम्पत्ति बिशप और पादरी लोगों के हाथ में थी। पोप ख़ुद एक बड़ा सामन्त समझा जाता था।

तुम देखोगी कि यह सारी प्रणाली एक श्रेणी पर दूसरी श्रेणी तथा वर्गों से मिलकर बनी थी। इसमें बराबरी का कोई सवाल न था। असामी, प्रजा या दास सबसे नीची सतह पर होते थे और उन्हें ही इस सामाजिक ढांचे का—छोटे मालिकों, उनसे बडे सामन्तों और राजाओं का—सारा बोझ उठाना पड़ता था। गिरजों का यानी—बिशपों कार्डिनलों और मामूली पादरियों, मतलब सब छोटे-बडे कर्मचारियों का बोझ भी इन्हीं असामियों को बरदाश्त करना पड़ता था। ये सामन्त लोग, चाहे छोटे हों चाहे बडे, अन्न या और किसी क़िस्म की सम्पत्ति की उपज के लिए कोई परिश्रम नहीं करते थे। ऐसा करना उनकी शान के ख़िलाफ़ समझा जाता था। इन लोगों का ख़ास काम युद्ध था और जब कोई लड़ाई नहीं होती थी तो ये नकली लड़ाइयाँ लड़ते थे और टूर्नामेंट करते थे। यह अनपढ़ और अनगढ़ लोगों की एक ऐसी जमात थी जो सिवाय खाने-पीने और लड़ने के कोई दूसरा जरिया अपने मनोरंजन का नहीं जानती थी। इस तरह से अन्न और जीवन की दूसरी

ज़रूरतों को पैदा करने का सारा बोझ किसानों और शिल्पकारों पर पड़ता था। इस सारी प्रणाली की चोटी पर बादशाह था, जो ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था।

सामन्त-प्रथा के पीछे यही धारणा थी। सिद्धान्त रूप से इन सामन्तों का फ़र्ज़ था कि अपने मातहतों और अपनी प्रजा की रक्षा करें, पर व्यवहार में इनके वास्ते कोई क़ायदा-क़ानून नहीं था। वे ख़ुद अपने क़ानून थे। बड़े सामन्त या राजा शायद ही कभी इनकी रोक-थाम करते थे, और किसानों में इतनी ताक़त नहीं थी कि इन मालिकों की मांग के ख़िलाफ़ खड़े हो सकें। चूंकि ये लोग ज्यादा जबर्दस्त होते थे, अपनी प्रजा से ज्यादा से ज्यादा ले लिया करते थे और उनके पास सिर्फ़ इतना छोड़ते थे कि वे अपनी मुसीबत से भरी हुई ज़िन्दगी किसी तरह बिता सकें। ज़मीन के मालिकों का यही ढंग हरेक देश में रहा है। ज़मीन का मालिक होना एक शराफत समझी जाती थी। लुटेरा सरदार जो ज़मीन को दबा बैठता था और क़िला बना लेता था शरीफ़ समझा जाने लगता था और उसकी सभी इज्ज़त करते थे। ज़मीन के मालिक होने की वजह से इन लोगों के हाथ में इख़्तियार भी आजाता था। और इन भूस्वामियों ने, इस इख़्तियार की वजह से किसानों से, अन्न पैदा करने वालों से, या मज़दूरों से, जितना धन चूस सकते थें, चूसा। कानून भी ज़मीन के मालिकों की मदद करता रहा है, क्योंकि कानून के बनानेवाले या तो वे ख़ुद ही होते थे या उनके यार-दोस्त। और यही वजह है कि आज कुछ लोगों का यह ख़याल है कि ज़मीन किसी व्यक्ति की मिलकियत न समझी जाय, बल्कि समाज की मिलकियत हो। अगर ज़मीन समाज की या राष्ट्र की हो जाय तो इसका मतलब यह होगा कि ज़मीन उन सब लोगों की होगी जो उस पर बसे हैं। और ऐसी हालत में कोई भी उनको न चूस सकेगा और न उनसे कोई बेजा फ़ायदा ही उठा सकेगा।

लेकिन ये ख़यालात उस वक्त तक पैदा नहीं हुए थे, जिस ज़माने की हम बात कर रहे हैं। उस वक्त लोग इस ढंग से नहीं सोचते थे। जनता मुसीबत में थी, लेकिन उसे इससे बचने का कोई रास्ता नहीं दिखाई देता था। वे बेचारे इन सब बातों को बरदाश्त करते थे और आशा-शून्य परिश्रम की ज़िन्दगी बिताते थे। आज्ञा-पालन की आदत उनमें कूट-कूट कर भर दी गई थी और एक दफा जब ऐसा कर दिया जाता है तब लोग सब कुछ बरदाश्त करने लगते हैं। इस तरह से हम देखते हैं कि एक ऐसे समाज का निर्माण होने लगा, जिसमें एक तरफ तो सामन्त सरदार और उनके नौकर थे और दूसरी तरफ़ बेहद ग़रीब लोगों का झुण्ड था। सरदार के पत्थर के पक्के क़िले के चारों तरफ़ आसामियों के लकड़ी और मिट्टी के

झोंपडे बन जाते थे। दो क़िस्म की दुनिया थी जो एक दूसरे से बिलकुल अलग थी। एक तो मालिकों की दुनिया और दूसरी असामियों की। शायद स्वामी लोग यह समझते थे कि उनके असामी उनके मवेशियों से कुछ ही दर्जा ऊँचे हैं।

कभी-कभी छोटे-छोटे पादरी असामियों को उनके स्वामियों के अत्याचार से बचाने की कोशिश करते थे। लेकिन आमतौर पर पादरी स्वामियों का ही पक्ष लेते थे और सच तो यह है कि बिशप और 'एबाट' (मठाधिकारी) लोग खुद सामन्त होते थे।

हिन्दुस्तान में इस क़िस्म की सामन्त-प्रथा नहीं थी। लेकिन इससे मिलती-जुलती प्रणाली यहाँ भी मौजूद थी। हमारी हिन्दुस्तानी रियासतों के राजा महाराजाओं ठिकानों और जागीरदारों ने बहुतेरी सामन्ती प्रथायें अब तक क़ायम रख छोडी है। हिन्दुस्तान की जाति-व्यवस्था ने भी, जो सामन्त-प्रणाली से बिलकुल अलग चीज़ थी, समाज को अनेक हिस्सों में बाँट दिया था। चीन में, जैसा मै तुम्हें बता चुका हूँ, कभी कोई निरंकुशता नहीं रही और न इस किस्म का कोई ख़ास अधिकार-प्राप्त वर्ग ही रहा। इम्तहान की इनकी प्राचीन प्रणाली ने हरेक व्यक्ति के लिए ऊँचे से ऊँचे ओहदों का दरवाज़ा खोल रखा था। लेकिन व्यवहार में अलबत्ता बहुत-सी बंदिशें रही होंगी।

इस तरह सामन्त प्रणाली में समता या आज़ादी का कोई ख़याल नहीं था। हां अधिकार और कर्तव्य का जरूर ख़याल था, यानी सामन्त का यह अधिकार था कि वह अपने असामी से लगान और सेवा ले और वह इस बात को अपना कर्तव्य समझता था कि असामियों की रक्षा करे, लेकिन अधिकार हमेशा याद रहते है और लोग अक्सर कर्तव्य भूल जाते हैं। आज भी कुछ यूरोपियन देशों में और हिन्दुस्तान में बडे-बडे ज़मींदार पाये जाते हैं। ये ज़रा भी परिश्रम किये बिना अपने किसानों से बडी-बडी रक़में लगान में वसूल करते हैं। लेकिन अपनी जिम्मेदारी की बात को ज़माना हुआ उन्होंने भुला दिया है।

ताज्जुब की बात है कि योरप की पुराने 'बर्बर' कबीले, जिन्हें अपनी आज़ादी इतनी प्यारी थी, धीरे-धीरे उस सामन्त प्रणाली के सामने झुक गये, जिसमें आज़ादी का नाम भी नहीं था। पहले ये कबीले अपना प्रमुख चुना करते थे और उसपर रोक-थाम भी रखते थे। लेकिन अब चुनाव का कोई सवाल नहीं रह गया और सभी जगह निरंकुशता का मन-माना शासन होने लगा। मैं नहीं बता सकता कि यह तब्दीली क्यों आई। मुमकिन है कि गिरजाघरों से जिन सिद्धान्तों का प्रचार हुआ उनकी वजह से लोकतंत्र के खिलाफ़ विचार जनता में फैल गये हों। राजा पृथ्वी पर

परमेश्वर का अंश समझा जाने लगा और ऐसी हालत में सर्वशक्तिमान के अंश से कौन हुज्जत करे और कौन उसकी हुक्म अदूली करे ? इस सामन्त प्रणाली में लोक और परलोक दोनों शामिल थे ।

हिन्दुस्तान में भी हम देखते हैं कि स्वतंत्रता के प्राचीन आर्य-विचार धीरे-धीरे बदल गये । वे धीरे-धीरे कमज़ोर होते गये यहाँ तक कि बिलकुल भूल गये। लेकिन जैसा मैंने तुम्हें बताया है मध्य युग की शुरूआत में कुछ हद तक ये विचार पाये जाते थे । शुक्राचार्य के 'नीति-सार' से और दक्षिण भारत के शिला लेखों से यह बात ज़ाहिर होती है ।

योरप में आहिस्ता-आहिस्ता एक दूसरे रूप से कुछ आज़ादी पैदा हुई । ज़मीन-मालिकों के और उसपर काम करनेवाले किसानों और मज़दूरों के अलावा देश में दूसरे वर्ग भी थे । जैसे व्यापारी और कारीगर । ये लोग सामन्त-प्रणाली के अंग नहीं थे । अशांति के ज़माने में काफ़ी व्यापार नहीं होता था और कारीगरी का काम भी बहुत नहीं चलता था । लेकिन धीरे-धीरे व्यापार बढ़ा और कुशल कारीगरों और सौदागरों को महत्व मिल गया । वे अमीर बन गये और भू-स्वामी और बडे सामन्त इनके पास रुपया उधार लेने के लिए जाने लगे । इन लोगों ने रुपया उधार दिया लेकिन भूस्वामियों पर दबाव डाला कि वे इन्हें कुछ अधिकार दें । इन अधिकारों के पा जाने से इनकी ताक़त बढ़ गई । इस तरह से हम देखेंगे कि सामन्तों के क़िले के चारों तरफ़ मिट्टी के झोंपडों के बजाय, छोटे-छोटे क़स्बे पैदा होने लगे और चर्चों या गिरजाघरों, या 'गिल्ड हाल' के चारों तरफ़ मकानात बनने लगे । कारीगर और सौदागर अपने-अपने संघ या असोसियेशन बनाते थे और गिल्ड हाल इन संघों का केन्द्रीय दफ़्तर होता था । ये गिल्ड हाल फिर टाउन हाल बन गये । शायद तुम्हें लन्दन का गिल्ड हाल देखने की बात याद हो ।

ये बढ़ते हुए शहर कोलोन, फ्रैंकफुर्त, हैम्बर्ग वग़ैरा सामंतों की शक्ति के प्रतिद्वन्दी बन गये । इन शहरों में एक नया वर्ग यानी व्यापारी-वर्ग पैदा हो रहा था, जो इतना अमीर था कि बडे आदमियों से टक्कर ले सके । दोनों में एक लम्बा संघर्ष शुरू हुआ । अक्सर बादशाह, इन बडे सामन्तों और भूमिपतियों के प्रभाव से डरकर, शहरों का साथ देते थे, लेकिन मैं तो आगे बढ़ता जारहा हूँ ।

मैंने यह ख़त शुरू करते हुए तुमसे यह बताया था, कि इस ज़माने में राष्ट्रीयता की भावना नहीं पाई जाई थी । लोग अपने सामन्त की सेवा करना और उसके प्रति वफ़ादार रहना ही अपना फ़र्ज़ समझते थे । वे देश की रक्षा की शपथ लेते थे । बादशाह भी एक अस्पष्ट-सा व्यक्ति था, और लोगों से बहुत दूर था । अगर कोई भूमिपति बादशाह के ख़िलाफ़ बग़ावत करता तो यह उसकी मर्ज़ी की बात थी ।

उसकी प्रजा को तो उसके ही पीछे चलना पड़ता था, और यह बात राष्ट्रीय भावना से, जो बहुत दिन बाद पैदा हुई, बिलकुल भिन्न है।

: ५४ :

चीन ख़ानाबदोशों को पश्चिम में खदेड़ देता है

५ जून, १९३२

मैंने बहुत दिनों से, क़रीब एक महीने से, तुम्हें चीन के बारे में और सुदूर पूर्वी देशों के बारे में कुछ नहीं लिखा। हमने पश्चिमी एशिया, हिन्दुस्तान और योरप की कितनी ही तब्दीलियों की चर्चा की। हमने अरबों को बहुत से देशों में फैलते और उनपर विजय पाते देखा। हमने यह भी देखा कि योरप अंधकार में गिर गया और फिर उससे बाहर निकलने के लिए कोशिश करने लगा। इस दरमियान चीन अपना काम चलाता रहा और अच्छी तरह चलाता रहा। सातवीं और आठवीं सदियों में तंग राजाओं की मातहती में चीन ग़ालिबन दुनिया का सबसे ज्यादा सभ्य, खुशहाल और सुशासित देश हो गया था। योरप इस देश से किसी बात में भी बराबरी नहीं कर सकता था, क्योंकि योरप रोम के पतन के बाद बहुत पीछे पड़ गया था। इस युग में ज्यादातर उत्तरी हिन्दुस्तान कुछ ढीला पड़ा रहा। इस देश ने अच्छे दिन भी देखे—जैसे हर्ष के शासन-काल में लेकिन आमतौर पर यह गिरता ही जा रहा था। दक्षिणी हिन्दुस्तान अलबत्ता उत्तर से कहीं ज्यादा सजीव था और समुद्र पार के उसके उपनिवेश श्रीविजय और अंगकोर एक महान् युग में दाख़िल हो रहे थे। अगर कोई हुकूमत ऐसी थी जो कुछ बातों में इस जमाने के चीन का मुक़ाबिला कर सके तो वह बग़दाद और स्पेन की दो अरब हुकूमतें थीं। लेकिन ये दोनों हुकूमतें भी कुछ ही जमाने तक अपनी शान की चोटी पर रहीं। दिलचस्प बात यह है कि राजसिंहासन से उतारे हुए तंग सम्राट् ने अरबों से मदद की अपील की थी और इन्हींकी मदद से उसे अपना राज वापस मिला था।

इस प्रकार सभ्यता में चीन उस जमाने में सबसे आगे था और उस समय के यूरोपियन लोगों को अगर अर्ध-जंगलियों की जमात कहें तो ज्यादा अनुचित न होगा। जितनी दुनिया उस समय मालूम थी उतने में चीन सबसे आगे था। 'जितनी दुनिया मालूम थी' यह वाक्य मैं इसलिए इस्तेमाल करता हूँ कि मुझे नहीं मालूम उस समय अमरीका में क्या हो रहा था। इतना हमें जरूर पता चलता है कि मैक्सिको, पेरू और आस-पास के देशों में कई सौ वर्षों से सभ्यता चली आरही थी। कुछ बातों में

ये लोग ख़ासतौर से आगे बढ़े हुए थे। कुछ बातों में ख़ासतौर से पीछे थे। लेकिन मैं इन सब चीज़ों के बारे में इतना कम जानता हूँ कि ज्यादा कहने की हिम्मत नहीं कर सकता। हाँ, मैं चाहता हूँ कि मैक्सिको और मध्य अमरिका की 'माया' संस्कृति और 'इनका'[१] के पेरू राज्य का ख़याल तुम मन में ज़रूर रखना। दूसरे लोग जो मुझसे ज्यादा जानते हैं, इनके बारे में कुछ काम की बातें तुमको बतायेंगे। इतना मैं ज़रूर कहूँगा कि उनकी संस्कृति ने मेरा मन मोह लिया है लेकिन मेरा जितना ज्यादा आकर्षण है उतनी ही ज्यादा इस विषय की मेरी कम जानकारी भी है।

मैं चाहता हूँ कि एक और बात भी तुम याद रखो। हमने देखा है कि बहुत सी ख़ानाबदोश क़ौमें मध्य एशिया में पैदा हुईं और वे या तो पश्चिम योरप को चली गईं या नीचे हिन्दुस्तान में उतर आईं। हूण, सीथियन, तुर्क और इसी तरह की बहुत-सी क़ौमें एक के बाद एक उठीं और इनकी लहर एक के बाद दूसरी आती रही। तुम्हें सफ़ेद हूण, जो हिन्दुस्तान आये और एटिला के हूण, जो योरप में थे, याद होंगे। सेलजूक़ तुर्क भी, जिन्होंने बग़दाद के साम्राज्य पर क़ब्ज़ा किया था, मध्य एशिया से आये थे। इसके बाद तुर्कों की एक दूसरी जाति आई जिन्हें उस्मानी (Ottoman) तुर्क कहा गया है। वे आये; उन्होंने कुस्तुन्तुनिया को जीता और विएना की दीवारों तक पहुँच गये। इसी मध्य एशिया या मंगोलिया से भयंकर मंगोल लोग भी आये थे और विजय करते हुए योरप के मध्य तक पहुँच गये थे और उन्होंने चीन को भी अपने क़ब्ज़े में ले लिया था। इसी मंगोल वंश के एक आदमी ने हिन्दुस्तान में एक साम्राज्य की नींव डाली और एक राज-वंश चलाया जिसमें कई मशहूर शासक पैदा हुए।

मध्य एशिया और मंगोलिया की इन ख़ानाबदोश क़ौमों से चीन की बराबर लड़ाई होती रही, या शायद यह कहना ज्यादा सही होगा कि ये खानाबदोश चीन को बराबर परेशान करते रहे और चीन को अपनी रक्षा के लिए मजबूर होना पड़ा। इन्हीं क़ौमों से बचने के लिए चीन की 'बडी दीवार' बनाई गई थी। इसमें शक नहीं कि इस दीवार से कुछ फ़ायदा जरूर हुआ लेकिन हमलों से बचाने में यह कोई बहुत ज्यादा उपयोगी चीज़ नहीं साबित हुई। एक सम्राट् के बाद दूसरा सम्राट् इन ख़ानाबदोश क़ौमों को भगाता था, और इनके खदेड़ने के सिलसिले में चीनी साम्राज्य पश्चिम में कैस्पियन समुद्र तक फैल गया था, जिसके बारे में मैं तुम्हें बता

१. इनका (Inca)—दक्षिणी अमेरिका के पेरू नामक देश के प्राचीन शासकों की उपाधि। 'इनका' एक प्रकार के दैवी पुरुष माने जाते थे। पेरू में 'इनकाओं' ने लगभग तीन सौ वर्ष तक राज्य किया।

चुका हूँ। चीनी लोग कोई बहुत बड़े साम्राज्यवादी नहीं थे। इनके सम्राटों में से कुछ ज़रूर साम्राज्यवादी थे और दूसरे देशों को फ़तह करने की महत्वाकांक्षा रखते थे, लेकिन और क़ौमों के मुक़ाबिले में चीनी लोगों को शान्तिप्रिय कह सकते हैं। इन्हें विजय या लड़ाई प्रिय नहीं थी। चीन में विद्वानों को सैनिकों से हमेशा ज्यादा आदर और मान मिलता था और इस पर भी अगर चीन का साम्राज्य कभी फैलकर बढ़ गया तो उसकी वजह यह थी कि उत्तर और पश्चिम की ख़ानाबदोश क़ौमें चीनियों को बराबर कोंचती रहती थीं और उनपर हमला करती रहती थीं। ताक़तवर सम्राट् इनसे हमेशा के लिए छुटकारा पा जाने के वास्ते इन्हें बहुत दूर पश्चिम की ओर खदेड़ दिया करते थे। इस ढंग से इनका सवाल हमेशा के लिए तो हल नहीं होता था, लेकिन कुछ अवकाश ज़रूर मिल जाता था।

पर यों चीन-निवासियों को जो कुछ अवकाश मिलता था, उसका बोझ और मुल्कों और क़ौमों के मत्थे पड़ता था। क्योंकि जिन ख़ानाबदोशों को चीनी भगाते थे वे दूसरे देशों पर जाकर हमला करते थे। इसी तरह ये ख़ानाबदोश क़ौमें हिन्दुस्तान भी आईं और बार-बार योरप गईं। चीन के हन् सम्राटों ने हूण, तातारियों और दूसरे ख़ानाबदोशों को अपने यहां से भगाकर दूसरे देशों में पहुंचा दिया और तंग राजाओं ने तुर्कों को योरप तक पहुंचाया।

अभीतक तो चीनी लोग ख़ानाबदोश क़ौमों से अपनी रक्षा करने में बहुत हदतक सफल रहे, लेकिन अब हम उस ज़माने की चर्चा करेंगे जब वे इतने सफल नहीं रह सके।

तंग राज-वंश, जैसा कि और राजवंशों का सब जगह हाल हुआ करता है, धीरे-धीरे अनेक अकुशल राजाओं के होने की वजह से कमज़ोर हो गया। शान-शौकत और ऐयाशी के अलावा इनमें अपने पूर्वजों के कोई सद्‌गुण नहीं पाये जाते थे। राज्य भर में बेईमानी फैल गई थी और इसीके साथ-साथ भारी टैक्स लगा दिया गया था, जिसका बोझ ज्यादातर ग़रीब लोगों पर पड़ता था। असन्तोष बढ़ा और दसवीं सदी के शुरू में यानी ९०७ ई० में यह राज-वंश ख़तम हो गया।

पचास बरस तक छोटे-छोटे और निकम्मे शासकों का तांता लगा रहा। ९६० ई० में एक दूसरे बड़े राजवंश की शुरूआत होती है। इस राजवंश को संग-वंश कहते हैं और काओ-त्सू ने इसे चलाया था। लेकिन चीन की सरहदों पर, और अन्दर देश में भी, झगड़े जारी रहे। किसानों पर लगान का बोझ बहुत ज्यादा था जिसके कारण वे नाराज़ थे। जैसा हिन्दुस्तान में है, वैसे ही चीन में भी, आराज़ी और लगान का बन्दोबस्त ऐसा था कि बहुत ज्यादा बोझ जनता पर पड़ जाता था और बिना इस बन्दोबस्त के बदले न तो शान्ति ही संभव थी और न तरक़्क़ी

ही हो सकती थी। लेकिन नीचे से ऊपर तक इस क़िस्म की तब्दीली करना हमेशा मुश्किल होता है। चोटी के लोगों को वर्तमान प्रणाली से मुनाफ़ा रहता है और जब किसी तब्दीली की चर्चा शुरू होती है ये लोग बहुत शोर मचाने लगते हैं। इस क़िस्म की बात हमें अपने देश में, ख़ासकर अपने प्रांत में, बहुत दिखाई और सुनाई दे रही है। लेकिन अगर हम वक्त पर अक़लमन्दी के साथ परिवर्तन नहीं करते तो परिवर्तन की यह आदत है कि वह बिना बुलाये ही आजाता है और सारा मामला गड़बड़ा देता है।

तंग राजवंश इसलिए गिर गया कि उसने जरूरी परिवर्तन नहीं किये। और इसी वजह से संग राजवंश को भी परेशानियाँ रहीं। एक ऐसा आदमी पैदा हुआ जो सफल हो सकता था। इसका नाम वांग-आन-शी था और यह ग्यारहवीं सदी में संगों का प्रधान मंत्री था। जैसा कि मैंने तुम्हें पहले बताया है, चीन कनफ्यूशियस के विचारों से शासित होता था। कनफ्यूशियन शास्त्र की परीक्षा सारे सरकारी अफ़सरों को पास करनी पड़ती थी और किसीकी हिम्मत नहीं पड़ती थी कि जो कुछ कनफ्यूशियस ने कहा है उसके ख़िलाफ़ बोले या करे। वाँग-आन-शी ने इन सिद्धान्तों के विरुद्ध तो कुछ भी नहीं किया, लेकिन उसने इन सिद्धान्तों का बिलकुल दूसरा अर्थ लगाया। किसी कठिनाई से बचने की ऐसी तरकीबें चालाक आदमी अकसर करते हैं। वाँग के कुछ ख़यालात बिलकुल आजकल के से थे। उसका असली उद्देश यह था कि ग़रीबों के ऊपर से टैक्स का बोझ कम करके उस बोझ को अमीरों पर डाल दे जो इसे सह सकते थे। इसने लगान में कमी कर दी और किसानों को यह अख़्तियार दे दिया कि अगर रुपये की सूरत में लगान देना उनके लिए मुश्किल पड़े तो वे अनाज या किसी दूसरी उपज की सूरत में लगान अदा कर सकते हैं। अमीरों पर इसने इन्कम यानी आमदनी पर टैक्स लगादिया। यह टैक्स नये जमाने का टैक्स समझा जाता है लेकिन हम देखते हैं कि चीन में यह नौ सो बरस पहले लगाया जा चुका था। वाँग की यह भी तजवीज़ थी कि किसानों की सहायता के लिए सरकार उन्हें क़र्ज़ (तक़ावी) दिया करे, जिसे फसल पर किसान लोग वापस करदें। दूसरी कठिनाई यह थी कि अनाज का भाव घटता बढ़ता रहता था। मालूम नहीं तुम जानती हो या नहीं कि पिछले दो साल में अनाज और खेत में पैदा होने वाली दूसरी चीजों के भाव में कमी हो जाने की वजह से हिन्दुस्तान में हमारे किसानों को कितनी मुसीबत सहनी पडी है। बाज़ार-भाव जब इस तरह गिर जाता है, ग़रीब किसानों को अपने खेतों की उपज से बहुत कम मिलता है। अपनी उपज वे बेच नहीं सकते फिर लगान देने के लिए या किसी चीज़ को ख़रीदने के लिए पैसे कहाँ से आवें? भारत की मौजूदा अंग्रेज़ी सरकार से ज्यादा होशियार वांग-आन-शी ने इस समस्या को

हल करने की कोशिश की। उसने यह तजवीज की कि अनाज के भाव को बढ़ने-घटने से रोकने के लिए सरकार को ग़ल्ला ख़रीदना और बेचना चाहिए।

वाँग की यह भी तजवीज थी कि सरकारी कामों में बेगार न ली जाय। जो आदमी काम करे उसे उसकी पूरी मजदूरी मिले। उसने स्थानीय सेना भी बनाई थी जिसे 'पाओ-चिया' कहते थे। लेकिन बदक़िस्मती से वांग अपने जमाने से बहुत आगे बढ़ गया था इसलिए कुछ समय बाद उसके सुधार ख़त्म होगये। सिर्फ़ उसकी स्थानीय सेना ही ८०० वर्ष तक क़ायम रही।

संग लोगों में इतनी हिम्मत नहीं थी कि जो समस्या उनके सामने थी उसका मुकाबिला कर सकें इसलिए इन लोगों ने समस्याओं से हार मान ली। उत्तर की जंगली क़ौमें, जिनको ख़ितन कहते थे, इनके मुक़ाबिले में बहुत मजबूत थीं। इनको पीछे हटाने में अपने को असमर्थ पाकर संग लोगों ने उत्तर-पश्चिम की एक जाति से, जिन्हें किन या 'सुनहरे तातारी' कहते थे, मदद मांगी। 'किन' आये और उन्होंने ख़ितन लोगों को निकाल भगाया लेकिन वे खुद ठहर गये और वापस जाने से इन्कार कर दिया। कमज़ोर आदमी या कमजोर देश का, जो मजबूत से मदद मांगता है, अकसर यही हाल हुआ करता है। किन लोग उत्तर चीन के मालिक बन बैठे और उन्होंने पेकिंग को अपनी राजधानी बना ली। संग लोग दक्षिण को हट आये और ज्यों-ज्यों किन बढ़ते गये वे पीछे हटते गये। इस तरह से उत्तर चीन में तो किन साम्राज्य हो गया और दक्षिण में संग साम्राज्य। इन संगों को दक्षिणी संग कहा गया है। संग राज-वंश उत्तर में ई० सन् ९६० से ११२७ तक रहा। दक्षिणी संग दक्षिण चीन में इसके बाद भी १५० वर्ष तक राज्य करते रहे। १२६० ई० में मंगोल आये और इनका ख़ातमा कर दिया। लेकिन चीन ने प्राचीन हिन्दुस्तान की तरह इसका बदला लिया और मंगोलों को भी अपने अंदर हज़म करके चीनी बना लिया।

इस तरह चीन ख़ानाबदोश क़ौमों के सामने पस्त हो गया, लेकिन पस्त होते-होते भी इसने उन ख़ानाबदोशों को सभ्यता सिखाई; इसलिए चीन को इन क़ौमों से नुकसान नहीं पहुंचा, जैसा योरप और एशिया के दूसरे हिस्सों में हुआ।

उत्तर और दक्षिण के संग राजनैतिक दृष्टि से उतने ताक़तवर नहीं थे, जितने उनके पुरखा तंग लोग थे लेकिन संगों ने तंगों की कला-सम्बन्धी परिपाटी क़ायमरखी और उसकी उन्नति भी की। दक्षिणी संगों की मातहती में दक्षिण चीन ने कला और कविता के मामले में बहुत तरक्क़ी की। उनके जमाने में वहाँ बडे अच्छे चित्र खींचे जाते थे, ख़ासकर प्राकृतिक दृश्यों के, क्योंकि संग कलाकार प्रकृति के उपासक थे। चीन के

बर्तन भी कला के स्पर्श से बहुत सुन्दर बननें लगे थे। यह कला दिन-ब-दिन और अदभुत होती ही गई, और दो सौ बरस के बाद मिंग सम्राटों के जमाने में वहाँ चीनी के बड़े ही खूबसूरत बर्तन बनने लगे थे। मिंग युग के बने हुए चीनी के कलश आज भी हृदय को आनन्दित करनेवाली दुर्लभ चीज़ समझे जाते हैं।

: ५५ :

जापान में शोगन-शासन

६ जून, १९३२

चीन से पीला समुद्र पार करके जापान पहुँचना बहुत आसान है, और अब जब कि हम जापान के इतने नजदीक पहुँच गये हैं, इस देश की यात्रा कर लेना ही मुनासिब होगा। तुम्हें अपनी पिछली यात्रा तो याद ही होगी। उस समय हमने देखा था कि बड़े-बड़े घराने पैदा हो रहे थे और प्रभुत्व के लिए लड़ाई कर रहे थे, और एक केन्द्रीय सरकार धीरे-धीरे प्रकट हो रही थी। सम्राट् किसी ताक़तवर और बड़े कुटुम्ब का सरदार होने के बजाय केन्द्रीय सरकार का प्रमुख हो गया था। नारा नाम की राजधानी बसाई गई थी जिसे केन्द्रीय शक्ति का चिन्ह कहना चाहिए। इसके बाद राजधानी बदल कर क्योटो में कर दी गई। चीन की शासन-प्रणाली की नक़ल की गई थी और कला, धर्म और राजनीति में जापान ने बहुत कुछ चीन से और चीन के जरिये से सीखा था। जापान का नाम 'दाई निपन' भी चीन से ही आया था।

हम यह भी देख चुके हैं कि फूजीवारा नाम के एक वंश ने इस समय सारी ताक़त अपने हाथ में करली थी, और सम्राट् को कठपुतली की तरह जिधर चाहता नचाता था। दो वर्ष तक इसी तरह राज चलता रहा। आख़िरकार सम्राट् लोग ऊब गये। वे गद्दी छोड़ने लगे और साधु होकर मठों में रहने लगे। लेकिन साधु होने पर भी भूतपूर्व सम्राट् गद्दी पर बैठे हुए सम्राट् को, जो उसका लड़का होता था, सलाह-मशविरा देकर शासन के कामों में बहुत दख़ल देते थे। इस तरीक़े से सम्राटों ने फ़ूजीवारा कुटुम्ब से पैदा होनेवाली अड़चन को किसी हद तक मिटाने की कोशिश की। हालाँकि काम करने का यह तरीक़ा बहुत पेचीदा था लेकिन इससे फ़ूजीवारा वंश के अधिकार बहुत घट गये। असली ताक़त सम्राटों के हाथ होती थी, और वे एक के बाद दूसरे गद्दी से उतरकर साधु हो जाते थे। इसलिए इनको 'मठ-निवासी सम्राट्' कहा गया है।

इस दरमियान दूसरी तब्दीलियाँ हुईं और बडे-बडे जमींदारों का एक नया वर्ग भी पैदा हुआ। ये लोग युद्ध-कला में भी होशियार थे। फ़ूजीवारों ने ही इन जमींदारों का निर्माण किया था और इन्हें सरकारी मालगुजारी जमा करने के लिए मुकर्रर किया था। इनको 'दाइम्यो' कहते थे—जिसका अर्थ 'बड़ा नाम' है। इसी क़िस्म की एक श्रेणी हमारे सूबे में भी है, जो अँग्रेज़ों के आने से पहले पैदा हुई थी। अवध में ख़ास तौर से, जहाँ बादशाह कमजोर था, मालगुज़ारी वसूल करने के लिए वह आदमी मुकर्रर करता था। ये लोग छोटी-छोटी फ़ौजें अपने पास रखते थे, जिससे मालगुज़ारी ज़ोर-ज़बरी से वसूल कर सकें। ये आमदनी का बहुत ज्यादा हिस्सा अपने लिए ही रख लिया करते थे। यही मालगुजारी वसूल करनेवाले बढ़कर बडे-बडे ताल्लुक़ेदार हो गये हैं।

दाइम्यो लोग अपनी छोटी-छोटी सेनाओं और दरबारियों की मदद से बडे ताक़तवर हो गये। वे आपस में लड़ाई करते और क्योटो की केन्द्रीय सरकार की कोई परवाह नहीं करते थे। दाइम्यो के घरानों में दो घराने बहुत मशहूर थे—तायरा और मिनामोतो। इन लोगों ने ११५६ ई० में फ़ूजीवारों को दबाने में सम्राट की मदद की। लेकिन बाद को फिर यही एक दूसरे के साथ बडी कटुता से लड़ने लगे। तायरा लोग जीते और इस इत्मीनान के लिए कि विरोधी कुटुम्ब भविष्य में उनको परेशान न करे, उन्होंने मिनामोतो कुल के लोगों को क़त्ल कर दिया। उन्होंने सभी प्रमुख मिनामोतों को मार डाला। सिर्फ़ चार बच्चे बचे, जिनमें से एक बारह वर्ष का बालक योरीतोमो था। तायरा कुटुम्ब ने मोनामोतों को एकदम ख़त्म कर देने की कोशिश तो की लेकिन पूरी तरह सफलता नहीं हुई। यह लड़का योरोतोमो, जिसकी कोई हैसियत नहीं थी, तायरा कुल का सख़्त दुश्मन निकला। उसके दिल में बदला लेने की आग भड़क रही थी। बड़ा होने पर वह अपनी अभिलाषा में सफल हुआ। उसने तायरा लोगों को राजधानी से निकाल दिया और एक समुद्री लड़ाई में उनको कुचल डाला। इसके बाद योरीतोमो सबसे ताक़तवर हो गया और सम्राट् ने उसे 'सी-ए-ताई-शोगन' की ऊँची उपाधि दी, जिसका मतलब है 'बर्बरों को दमन करने वाला महान सेनापति'। यह ११९२ ई० की बात है। यह उपाधि पुश्तैनी थी और इसके साथ शासन करने के पूरे अख़्तियारात मिल जाते थे। असली हाकिम शोगन होता था। इस तरह से जापान में शोगन प्रणाली शुरू हुई। यह बहुत दिनों, क़रीब ७०० वर्ष तक, रही और अभी हाल तक पाई जाती थी। लेकिन जब जापान ने अपने सामन्ती दायरे से निकलकर अर्वाचीन युग में क़दम रखा तब यह प्रथा ख़त्म हो गई।

लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि योरीतोमो के वंशजों ने, शोगन की हैसियत से ७०० वर्ष तक राज्य किया। उन कुटुम्बों में कई तब्दीलियां होती रहीं जिनसे शोगन आते थे। गृह-युद्ध बराबर होते रहे लेकिन शोगन-प्रणाली अर्थात् शोगन का वास्तविक शासक होना और सम्राट् के नाम पर, जिसे कोई अख़्तियारात नहीं होते थे, राज्य करना, बहुत दिनों तक जारी रहा। कभी यह होता था कि शोगन भी नाम मात्र का शासक रहता था और असली ताकत चन्द अफसरों के हाथ में होती थी।

राजधानी क्योटो, में विलासिता का जीवन बिताने से योरीतोमो बहुत डरता था क्योंकि उसकी यह धारणा थी कि आराम और आसाइश की ज़िन्दगी में वह और उसके साथी कमज़ोर पड़ जायँगे। इसलिए उसने कामाकुरा में अपनी सैनिक राजधानी बनाई और पहला शोगन-शासन 'कामाकुरा शोगनत्व' कहलाता है। यह १३३३ ई० तक यानी क़रीब १५० वर्ष तक रहा। इस युग के अधिकांश भाग में जापान में शांति रही। कई वर्षों के गृह-युद्ध के बाद शांति के आने से उसका लोगों ने बहुत स्वागत किया और सम्पन्नता का युग शुरू हुआ। इस ज़माने में जापान की हालत उस समय के योरप के किसी भी देश की हालत से बेहतर थी और इसका शासन भी कहीं ज्यादा अच्छा था। जापान चीन का योग्य शिष्य था, हालांकि दोनों के दृष्टिकोण में बहुत फ़र्क था। जैसा मैंने बताया है, चीन मौलिक रूप से शान्ति-प्रिय और सौम्य लोगों का देश था। इसके विरुद्ध जापान एक उग्र सैनिक देश था। चीन में लोग सैनिकों को नीची निगाह से देखते थे और सिपहगिरी का पेशा शरीफ़ पेशा नहीं समझा जाता था। जापान में चोटी के आदमी सिपाही होते थे और सैनिक सरदार या दाइम्यो आदर्श पुरुष समझा जाता था। शायद हिन्दुस्तान की तरह चीन भी इतना बुड्ढा हो गया था कि उसमें से युद्ध की प्यास जाती रही थी। बुढ़ापे में सभी, आम तौर से, शान्ति और आराम चाहते हैं।

इस प्रकार चीन से जापान ने बहुत-कुछ सीखा। लेकिन अपने तरीक़े से और हरएक चीज़ को उसने अपने जातीय सांचे में ढालने की कोशिश की। चीन के साथ उसका घनिष्ट सम्बन्ध बना रहा और व्यापार भी चलता रहा, जो चीनी जहाज़ों के ज़रिये से हुआ करता था। तेरहवीं सदी के अन्त में इस बात में एकदम से रुकावट आगई, क्योंकि मंगोल चीन और कोरिया में पहुँच गये थे। मंगोलों ने जापान को भी जीतने की कोशिश की लेकिन पीछे हटा दिये गये। इस तरह से जिन मंगोलों ने एशिया की कायापलट कर दी और योरप को हिला दिया, जापान पर उनका कोई खास असर न पड़ सका। जापान पुराने रास्ते पर ही चलता रहा और बाहरी प्रभाव से पहले की अपेक्षा और भी दूर हो गया।

जापान के पुराने सरकारी इतिहास में एक कहानी है कि इस देश में कपास का पौधा पहले पहल कैसे आया। कहते हैं कि कुछ हिन्दुस्तानी, जिनका जहाज़ जापानी किनारे के नज़दीक डूब गया था, ७९९ ई० में कपास का बीज अपने साथ जापान ले गये।

चाय का पौधा इसके बाद आया है। पहले-पहल यह पौधा नवीं सदी की शुरूआत में आया था लेकिन उस समय इसको सफलता नहीं मिली। ११९१ ई० में एक बौद्ध भिक्षु चीन से चाय के बीज लाया था; इसके बाद चाय बहुत लोक-प्रिय हो गई। चाय पीने की वजह से सुन्दर चीनी के बर्तनों की मांग बढ़ी। तेरहवीं सदी के आख़ीर में चीनी के बर्तन बनाने की कला सीखने के लिए, एक जापानी कुम्हार चीन गया था और वह ६ वर्ष तक वहाँ रहा। वापस आने पर उसने सुन्दर जापानी सफ़ेद मिट्टी के बर्तन बनाने शुरू किये। जापान में आज कल चाय पीना एक कला है, जिसके साथ एक लम्बा-चौड़ा शिष्टाचार लगा रहता है। अगर तुम कभी जापान जाओ तो ठीक ढंग से चाय पीना, नहीं तो जंगली समझी जाओगी।

: ५६ :

मनुष्य की खोज

१० जून, १९३२

चार दिन हुए, मैंने तुम्हें बरेली जेल से ख़त भेजा था। उसी दिन शाम को मुझ से अपना असबाब इकट्ठा करके जेल से बाहर जाने को कहा गया—छूटने के लिए नहीं, बल्कि दूसरी जेल को मेरा तबादला किया जारहा था। इसलिए मैंने बैरक के अपने उन साथियों से बिदा ली, जिनके साथ मैं ठीक चार महीने तक रहा था। मैंने उस बडी २४ फीट की दीवार पर आख़िरी नज़र डाली, जिसकी छाया में इतने दिन रहा था, और थोडी देर के लिए बाहर की दुनिया देखने के वास्ते मैं निकल पड़ा। हम दो आदमी तब्दील किये जा रहे थे। अधिकारी हमें बरेली स्टेशन नहीं ले गये, कि कहीं लोग हमें देख न लें, क्योंकि हम लोग 'परदानशीन' हो गये थे। कहीं ऐसा न हो कि लोगों की हम पर नज़र पड़ जाय! मोटर से ५० मील का फ़ासला तै करके हमें उजाड़खंड में एक छोटे से स्टेशन पर ले आया गया। इस सैर के लिए मैं बहुत एहसानमन्द हुआ, क्योंकि कई महीनों के एकान्त के बाद रात की ठंडी हवा और धुन्धलेपन में आदमी, जानवरों, और पेडों की तेज़ी से भागती हुई शक्लें देखने में बडी भली मालूम होती थीं।

हम लोग देहरादून लाये जारहे थे। तड़के ही, जबकि हम अपने सफ़र की आख़िरी मंज़िल तक नहीं पहुँचे थे, हम लोग गाडी से उतार लिये गये, और मोटर पर बिठाकर रवाना कर दिये गये, ताकि कहीं कोई हमें देख न ले।

और इस तरह अब मैं देहरादून के छोटे से जेल में बैठा हूँ। यह बरेली से अच्छी जगह है। यहाँ उतनी गर्मी नहीं, और टेम्परेचर बरेली की तरह ११२° तक नहीं पहुँचता। हमारे चारों तरफ़ की दीवारें भी नीची हैं, और उनके ऊपर सिर उठा कर हमारी तरफ़ झांकते हुए पेडों में भी कुछ ज्यादा हरियाली है। दीवार के ऊपर से नज़र दौड़ाता हूँ, तो दूर पर एक खजूर के पेड़ की चोटी दिखाई देती है; इस दृश्य से मेरी तबीयत खुश हो जाती है और मुझे लंका और मलाबार की याद आ जाती है। इन पेडों के पार, चन्द ही मील के फासले पर, पहाड़ हैं, और इन पहाडों की चोटी पर मसूरी बसा हुआ है। मै पहाडों को नहीं देख सकता, क्योंकि पेडों ने इनको छिपा रखा है, लेकिन इन पहाडों के नज़दीक रहना और रात को यह कल्पना करना, कि दूर मसूरी के चिराग़ टिमटिमा रहे हैं, अच्छा मालूम होता है।

चार वर्ष हुए—या तीन ? जब मैंने इन ख़तों के लिखने का सिलसिला शुरू किया था, उस वक्त तुम मसूरी में थीं। इन तीन या चार वर्षों में कितनी-कितनी बातें हो गईं, और तुम कितनी बडी होगई हो। रह-रहकर और कभी-कभी बहुत अवकाश के बाद मैंने इन ख़तों को जारी रखा, ज्यादातर जेल से ही लिखे भी। लेकिन जितना ही मैं लिखता जाता हूँ उतना ही मैं अपने लिखे को नापसन्द करता जाता हूँ। मै डरने लगता हूँ, कि कहीं ऐसा न हो कि ये ख़त तुम्हें नापसन्द हों, और तुम्हारे लिए बोझ हो जायँ। ऐसी हालत में इन ख़तों को क्यों जारी रखूं ?

मैं बहुत चाहता था कि तुम्हारे सामने पुराने ज़माने की साफ़-साफ़ तस्वीरें रखूं, ताकि तुम्हें यह पता चल सके, कि हमारी यह दुनिया धीरे-धीरे किस तरह बदली, कैसे बढ़ी और विकसित हुई, और कैसे कभी-कभी ज़ाहिरा पीछे हटी है। मेरी इच्छा थी कि तुम्हें यह पता चल जाय कि पुरानी सभ्यतायें किस क़िस्म की थीं; वे लहरों की तरह कैसे उठीं, और फिर बैठ गईं, और तुम समझने लगो कि इतिहास की नदी किस प्रकार बराबर युग-युगान्तर से बहती हुई चली आरही है, और किस प्रकार इसकी धारा में भंवर पैदा हुए, लहरें उठीं, बहुत-सा पानी लहर के साथ बह गया और कुछ पानी पीछे रह गया, और कैसे यह अभी तक अज्ञात समुद्र की तरफ़ बहती हुई चली जा रही है। मैं चाहता था कि तुम्हें मनुष्य के पद-चिन्हों पर ले चलूं और यह दिखाऊँ कि शुरू से, जबकि वह मुश्किल से मनुष्य कहला सकता था, आज तक, जब वह अपनी बडी सभ्यता पर, ज्यादातर बेवकूफ़ी और

प्रमादवश, अपनेको बहुत कुछ समझने लगा है, वह कौन-कौन सी हालतों में से से गुजरा है। हम लोगों ने शुरू इसी तरह से किया था। तुम्हें याद होगा, मसूरी के दिनों में, हमने इस बात की चर्चा शुरू की थी, कि पहले-पहल खेती और आग का आविष्कार कैसे हुआ, लोग क़स्बों में कैसे बसे और श्रम का बँटवारा कैसे हुआ। लेकिन ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते गये, साम्राज्यों और इसी क़िस्म की चीज़ों में उलझते गये, और अपना रास्ता खो बैठे। अभी तक हम इतिहास की ऊपरी सतह पर ही चलते रहे हैं। मैंने तुम्हारे सामने पुरानी घटनाओं का एक ढाँचा ही रखा है। मैं चाहता हूँ कि इस ढांचे के ऊपर मांस और ख़ून चढ़ा दूं, जिससे तुम्हारे लिए एक जीती-जागती और शक्तिमान मूर्ति तैयार हो जाय।

मगर मुझे डर है कि मुझमें वह ताक़त नहीं है। और तुम्हें घटनाओं के ढांचे में जान फूंकने के इस चमत्कार को सफल बनाने के लिए अपनी ही कल्पना पर भरोसा करना पडेगा। फिर सवाल उठता है कि जब यह बात है तब मैं तुम्हें ये ख़त क्यों लिखूं। प्राचीन इतिहास की अनेक अच्छी किताबें तो तुम खुद ही पढ़ सकती हो, फिर भी इन सन्देहों के बीच भी मैंने ये ख़त लिखना जारी रखा है और मेरा ख़याल है कि मैं इसे आगे भी जारी रखूंगा। मुझे याद है कि मैंने तुमसे इन ख़तों के लिखने का वादा किया था और इस वादे को पूरा करने की कोशिश करूँगा। लेकिन एक दूसरी बात भी है जो मेरे ऊपर इससे ज्यादा प्रभाव रखती है। जब मैं इन्हें लिखने बैठता हूँ और कल्पना करता हूँ कि तुम मेरे पास बैठी हो और हम एक दूसरे से बातें कर रहे हैं, तो उस समय मुझे बडी खुशी होती है।

जिस समय से मनुष्य जंगल के अन्दर से लुढ़कता और ठोकरें खाता हुआ बाहर निकला उस समय से उसकी यात्रा की घटनायें मैंने ऊपर लिखी हैं। उसका यह रास्ता हज़ारों बरसों का रहा है, फिर भी अगर तुम पृथ्वी की कहानी और आदमी के उसपर जन्म लेने के पहले के युग-युगान्तरों से इसका मुक़ाबिला करो तो यह समय कितना कम है! लेकिन हम लोगों के लिए उन तमाम बडे-बडे जानवरों के मुक़ाबिले में, जो मनुष्य के पहले मौजूद थे, मनुष्य स्वभावतः अधिक दिलचस्पी की चीज़ है। यह इसलिए कि मनुष्य अपने साथ एक नई चीज़ लाया जो दूसरों में नहीं पाई जाती थी। अर्थात् बुद्धि और कौतूहल, खोजने की और सीखने की इच्छा। इस प्रकार आदमी की खोज आदि से शुरू हुई। किसी छोटे बच्चे को देखो; वह अपने चारों ओर की नई और विचित्र दुनिया को कैसे देखता है। आदमियों को और दूसरी चीज़ों को वह कैसे पहचानने लगता है और कैसे बहुतसी बातें सीखता है। किसी छोटी लड़की को देखो। अगर वह तन्दुरुस्त है और उसकी मानसिक बाढ़ अच्छी हुई है तो

वह कितनी ही बातों के बारे में कितने ही सवाल करेगी ? यही हाल इतिहास के प्रभात काल में था। आदमी उस समय बच्चा था और दुनिया नई और अद्भुत थी और उसके लिए कुछ डरावनी भी थी। उसने अपने चारों तरफ़ घूरकर देखा होगा और सवालात पूछे होंगे। लेकिन वह अपने सिवा सवाल पूछता भी किससे ? कोई दूसरा जवाब देनेवाला नहीं था। हाँ, उसके पास एक छोटी-सी अजीब चीज़ थी— बुद्धि। उसकी मदद से, धीरे-धीरे और तकलीफ़ के साथ, वह अपने अनुभवों को इकट्ठा करता गया और उनसे सीखता गया। इस तरह शुरू के जमाने से आजतक आदमी की खोज जारी रही है। उसने बहुत-सी बातें मालूम करलीं और बहुत-सी बातें अभी मालूम करने को हैं। जैसे-जैसे वह अपने रास्ते पर आगे बढ़ता है उसे नये और लम्बे-चौडे मैदान सामने मिलते हैं जिनसे उसे यह पता चलता है कि वह अब भी अपनी खोज की आख़िरी मंज़िल से—अगर इस खोज की आख़िरी मंज़िल हो सकती है—बहुत दूर है।

मनुष्य की यह खोज क्या रही है और वह किधर की तरफ़ जारहा है ? हज़ारों वर्षों से आदमियों ने इन प्रश्नों का उत्तर देने की कोशिश की है। धर्म, फिलासफ़ी और विज्ञान ने इन प्रश्नों पर विचार किया और बहुत-से जवाब दिये, लेकिन इन जवाबों से मैं तुम्हें परेशान नहीं करूँगा, इसलिए कि मैं खुद भी उन्हें नहीं जानता। लेकिन मुख्यत: धर्म ने अपने ढंग पर इन सवालों का पूरा-पूरा जवाब देने की कोशिश की है। अक्सर बुद्धि की धर्म ने परवाह नहीं की और अपने निश्चयों को मनवाने में कई तरीक़ों का इस्तैमाल किया है। विज्ञान ने संदिग्ध और शंका-पूर्ण उत्तर दिया है, क्योंकि विज्ञान का स्वभाव यह है कि वह किसी बात में अपने को निर्भ्रान्ति या भ्रम-रहित नहीं समझता। वह प्रयोग करता है और अक्ल लगाता है और मनुष्य के मष्तिस्क पर भरोसा करता है। मुझे तुमसे इस बात के कहने की जरूरत नहीं कि मैं विज्ञान को और वैज्ञानिक ढंग को ज्यादा पसन्द करता हूँ।

यह सम्भव है कि हम मनुष्य की खोज के इन सवालों का जवाब निश्चयपूर्वक न दे सकें। लेकिन इतना हम देखते हैं कि यह खोज दो ढंग पर चली है। मनुष्य ने अपने अन्दर भी ढूंढ़ा है और अपने बाहर भी। उसने प्रकृति को भी समझना चाहा है और अपने को भी। यह खोज वास्तव में एक ही है, क्योंकि आदमी ख़ुद प्रकृति का एक अंग है। हिन्दुस्तान और यूनान के पुराने फिलासफरों ने कहा है—अपने को जानो। और उपनिषद में ज्ञान के लिए प्राचीन आर्य भारतीयों के इन अद्भुत और निरन्तर प्रयत्नों का हाल मिलता है। विज्ञान अब तो अपने पंख और आगे पसार रहा है और इन दोनों रास्तों की खोज की जिम्मेदारी ले रहा है और उनको एक

दूसरे से मिला-जुला रहा है। विज्ञान एक ओर तो बहुत दूर के प्रकाश के सितारे की खोज आत्म-विश्वास के साथ करता है, और दूसरी ओर हमें उस आश्चर्यजनक नन्हीं-नन्हीं चीज़ों अर्थात् अणुओं, परमाणुओं और विद्युत्कणों के बारे में भी बताता है जो बराबर हरकत कर रही हैं और जिनसे सारी प्रकृति बनी हुई है।

आदमी की बुद्धि ने उसे उसकी खोज की यात्रा में बहुत दूर तक पहुँचा दिया है। मनुष्य ने जितना ही ज्यादा प्रकृति को समझा उतना ही उसने उससे फ़ायदा उठाया और उसे अपने मतलब के लिए काम में लाया। इस प्रकार उसके हाथ में बहुत ज्यादा ताक़त आ गई। लेकिन अभाग्य-वश इस नई ताक़त को उसने ठीक ढंग से इस्तैमाल नहीं किया और अकसर बेजा इस्तैमाल किया है। मनुष्य ने विज्ञान से ख़ास तौर से भयंकर अस्त्र-शस्त्र बनाने का काम लिया है, जिनकी मदद से वह दूसरे मनुष्य को मार सके, और उसी सभ्यता को नष्ट-भ्रष्ट कर डाले, जिसके बनाने में उसने इतनी मेहनत की है।

: ५७ :

ईसा के बाद के पहले हज़ार वर्ष

११ जून, १९३२

अब यह मुनासिब मालूम होता है कि हम थोडी देर के लिए ठहर जायँ और जिस मंज़िल पर पहुँचे हैं वहाँ से चारों तरफ़ नज़र डाल लें। हम कितनी दूर पहुँचे, हैं, इस समय कहां है और दुनिया कैसी दिखती है? आओ हम अलादीन की जादुई क़ालीन पर बैठें और उस समय की दुनिया के मुख़्तलिफ़ हिस्सों की थोडी देर के लिए सैर कर आवें।

हम ईसाई सन् के पहले हज़ार वर्ष तक पहुँच गये हैं। कुछ देशों में हम ज़रा आगे बढ़ गये हैं और कहीं इससे कुछ पीछे भी हैं।

हम देखते है कि एशिया में इस समय चीन संग राज्यवंश के अधीन था। महान् तंग वंश ख़त्म हो चुका था और संगों को एक तरफ घरेलू झगडों का सामना करना पड़ा और दूसरी तरफ़ उत्तर के 'बर्बर' ख़ितनों के विदेशी हमले को झेलना पड़ा। डेढ़ सौ वर्ष तक उन्होंने मुक़ाबिला किया, लेकिन फिर कमज़ोर पड़ गये और एक दूसरी वहशी कौम 'किन' लोगों से, जिन्हें 'सुनहरे तातारी' भी कहते थे, मदद माँगनी पडी। किन आये, लेकिन वहीं ठहर गये और बेचारे संगों को सिकुड़कर दक्षिण चले जाना पड़ा, जहाँ दक्षिण संगों के नाम से उन्होंने डेढ़ सौ वर्ष तक और

राज्य किया। इस बीच में वहां सुन्दर कलायें, चित्रकारी और चीनी बर्तन बनाने की कला की खूब उन्नति हुई।

कोरिया में आपस की फूट और संघर्ष के युग के बाद ९३५ ई० में एक संयुक्त स्वतंत्र राज्य बना और यह बहुत दिनों, क़रीब साढ़े चार सौ वर्ष तक, क़ायम रहा। कोरिया ने चीन से अपनी सभ्यता, कला और शासन-पद्धति के बारे में बहुत कुछ सीखा, धर्म और थोडी बहुत कलायें चीन होकर हिन्दुस्तान से कोरिया और जापान को गईं पूरब दिशा में बहुत दूर पर स्थित जापान एशिया के संतरी की तरह दुनिया से बिलकुल अलग अपनी जिन्दगी गुजारता था। फ़ूजीवारा कुटुम्ब सबसे श्रेष्ठ था और सम्राट्, जो हाल ही में एक कुल के प्रमुख से जरा कुछ ज्यादा हैसियतवाले हो गये थे, फूजीवारों के मुकाबिले में हल्के पड़ने लग गये थे। इसके बाद शोगन आये।

मलेशिया में हिन्दुस्तानी उपनिवेश विकसित हो रहे थे। विशाल अंगकोर कंबोडिया की राजधानी था और यह राज्य अपने वैभव और शक्ति की चोटी पर था। श्रीविजय सुमात्रा में एक बौद्ध साम्राज्य की राजधानी थी। इस साम्राज्य का सब पूर्वी टापुओं पर अधिकार था, और इन टापुओं में आपस में बहुत बड़ा व्यापार चलता था। पूर्वी जावा में एक स्वतन्त्र हिन्दू राज्य था, जो बहुत जल्द उन्नति करके श्रीविजय से व्यापार के लिए और व्यापार से पैदा होनेवाले धन के लिए होड़ करते हुए उसके साथ भयंकर लड़ाई में उतरनेवाला था। और जैसा कि व्यापार के लिए आजकल की यूरोपियन क़ौमें करती हैं, इसने अन्त में श्रीविजय को जीत लिया और नष्ट कर डाला।

हिन्दुस्तान में उत्तर और दक्षिण एक दूसरे से इतने अलग हो गये जितने कुछ दिनों से कभी नहीं रहे थे। उत्तर पर मुहम्मद ग़ज़नवी बार-बार धावा मारता था और उसे लूटता और तबाह करता रहता था। हर बार बहुत-सा धन वह अपने साथ ले जाता था। उसने पंजाब को अपने राज्य में मिला लिया था। पर दक्षिण में हम देखते हैं, कि चोल साम्राज्य बढ़ रहा था और राजराजा तथा उसके लड़के राजेन्द्र की मातहती में प्रभावशाली होता जाता था। उन्होंने दक्षिणी भारत पर कब्जा कर लिया था और उनकी जल सेनायें अरब समुद्र और बंगाल की खाडी पर हावी थीं। लंका, दक्षिण बरमा और बंगाल पर भी इन्होंने उनपर हमला किया था और वहाँ अपनी फौजें ले गये थे।

मध्य और पश्चिम एशिया में हमें बग़दाद के अब्बासी साम्राज्य का कुछ बचा-खुचा हिस्सा मिलता है। बग़दाद अभी तक हरा-भरा था और नये शासक, यानी सेलजूक तुर्कों, की मातहती में उसकी ताक़त बढ़ रही था। लेकिन पुराना

साम्राज्य कई राज्यों में बँट गया था। इस्लाम अब एक साम्राज्य नहीं रह गया था अब वह केवल कई देशों और जातियों का मज़हब था। अब्बासिया साम्राज्य के खंडहर से ग़ज़नी की सल्तनत पैदा हुई। इस पर महमूद राज्य करता था और यहाँ से वह हिन्दुस्तान पर टूटता रहता था। हालांकि बग़दाद का साम्राज्य टूट गया था, बग़दाद ख़ुद अभीतक बहुत-बड़ा शहर बना हुआ था, जहाँ दूर-दूर से विद्वान और कलाकार खिच-खिचकर जाते थे। मध्य एशिया में उस समय कई बडे और मशहूर शहर थे जैसे बुख़ारा, समरकन्द, बलख़ वग़ैरा। इन शहरों में ख़ूब व्यापार हुआ करता था और बडे-बडे कारवाँ व्यापार का माल लाया और ले जाया करते थे।

मंगोलिया में और इसके चारों तरफ़ ख़ानाबदोशों की क़ौमें, तादाद में और ताक़त में बढ़ रही थीं। २०० वर्ष बाद ये एशिया के ऊपर टूटनेवाली थीं। उस समय भी मध्य और पश्चिमी एशिया में जितनी प्रभावशाली क़ौमें थीं सभी ख़ानाबदोशों की जन्मभूमि मध्यएशिया के इसी टुकडे से आई थीं। चीनियों ने इन्हें पश्चिम की तरफ़ भगा दिया था। कुछ तो इनमें से हिन्दुस्तान चली गई थी और कुछ योरप। इसी समय सेलजूक़ तुर्क पश्चिम की ओर खदेड़ दिये गये। इन्होंने बग़दाद के साम्राज्य की क़िस्मत जगाई, और कुस्तुन्तुनिया के पूर्वी रोमन साम्राज्य पर आक्रमण करके उसे हरा दिया।

यह तो एशिया की बात रही। लाल समुद्र के उस पार मिस्र था जो बग़दाद से बिलकुल आज़ाद था। मिस्र के मुसलमान शासक ने अपने को एक अलग ख़लीफ़ा घोषित कर रखा था। उत्तरी अफ़रीका एक स्वतंत्र मुसलमानी राज्य की मातहती में था। जिब्राल्टर के जलडमरूमध्य के उस पार स्पेन में एक स्वतंत्र मुस्लिम राज्य था, जिसे क़ुर्तुबा या 'कार्डोबा की अमारत' कहा गया है। इसके बारे में मैं तुम्हें बाद को कुछ बताऊंगा। लेकिन इतना तो तुम जानती ही हो कि स्पेन ने अब्बासिया ख़लीफ़ों की मातहती क़बूल नहीं की थी। उस समय से यह देश स्वतंत्र ही था। फ्राँस को जीतने की इसकी कोशिश को चार्ल्स मार्टल ने बहुत पहले ही नाकामयाब कर दिया था और अब स्पेन के उत्तरी हिस्से के ईसाई राज्यों की बारी थी कि मुसलमानों पर हमला करें। और ज्यों-ज्यों ज़माना गुज़रा इन ईसाई राज्यों के हमलों में ज़ोर भी आता गया। लेकिन जिस वक्त की बात हम कर रहे हैं, उस वक्त कारडोबा की अमारत एक बड़ा और उन्नतिशील राज्य था और सभ्यता और विज्ञान में योरप के और देशों से कहीं आगे था।

स्पेन को छोड़कर योरप कई ईसाई राज्यों में बँटा था। इस समय तक ईसाई धर्म सारे महाद्वीप में फैल चुका था और देवी-देवताओं के मज़हब योरप से

क़रीब-क़रीब ग़ायब हो चुके थे। आज-कल के यूरोपियन देशों की शक्ल-सूरत बनने लगी थी। ९८७ ई० में ह्यू कैपेट की मातहती में फ्रांस सामने आया। डेन कैन्यूट, जो इस बात के लिए मशहूर है कि उसने समुद्र की लहरों को पीछे हट जाने का हुक्म दिया था, १०१६ ई० में इंग्लैण्ड में राज्य करता था। ५० वर्ष बाद नारमंडी से 'विजेता' विलियम आया। जर्मनी 'पवित्र रोमन साम्राज्य' का अंग था, लेकिन एक राष्ट्र बनता जाता था। हालाँकि वह बहुतेरी छोटी-छोटी रियासतों में बँटा था। रूस पूरब की तरफ़ फैल रहा था और कुस्तुन्तुनिया को अपने जहाज़ों से अकसर भयभीत किया करता था। यह उस आश्चर्य-जनक मोह और आकर्षण की शुरुआत थी जो कुस्तुन्तुनिया के लिए रूस के दिल में हमेशा रहा है। इस बड़े शहर के पाने की अभिलाषा एक हज़ार वर्ष से रूस अपने दिल में पालता रहा है और उसे उम्मीद थी कि महायुद्ध के ख़तम होने पर, जो १४ वर्ष हुए बन्द हुआ, यह शहर उसे मिल जायगा, लेकिन एक दम से क्रान्ति पैदा हो गई और पुराने रूस के सारे मनसूबे गड़बड़ा गये।

९०० वर्ष पुराने योरप के नकशे में तुम्हें पोलैण्ड और हंगरी भी मिलेंगे। इन देशों में 'मगियार' लोग रहा करते थे और तुम्हें बलगेरियन और सर्ब लोगों के राज्य भी इस नकशे में दिखाई देंगे। तुम इसमें पूर्वी रोमन साम्राज्य को भी पाओगी जिसे चारों ओर से उसके अनेक दुश्मन घेरे हुए थे लेकिन वह अपने ढर्रे पर चला जा रहा था। रूसियों ने उसपर हमला किया। बलगेरियन लोगों ने उसको परेशान किया और नार्मन, समुद्र के रास्ते बराबर उसे दिक़ करते रहे। सब से ज्यादा ख़तरनाक सेलजूक़ तुर्क निकले जिन्होंने उसकी जिन्दगी ख़तम कर देनी चाही। लेकिन यह साम्राज्य इन दुश्मनों के, और बहुत-सी दूसरी कठिनाइयों के, बावजूद भी और ४०० वर्षों तक जिंदा रहा (इस आश्चर्यजनक मज़बूती की एक वजह यह भी है कि कुस्तुन्तुनिया की स्थिति बहुत दृढ़ थी। यह ऐसी जगह पर बसा था कि किसी दुश्मन के लिए इस पर कब्ज़ा करना मुश्किल था। इस साम्राज्य के इतने दिनों तक न टूटने की दूसरी वजह यह भी थी कि यूनानियों ने रक्षा करने का एक नया ढंग ईजाद किया था। इसका नाम 'यूनानी आग' था। यह कोई ऐसी रासायनिक चीज़ थी कि पानी के छूते ही जलने लगती थी। इस 'यूनानी आग' के ज़रिये से कुस्तुन्तुनिया के लोग उनपर हमला करनेवाली सेनाओं को, जो बास्फ़ोरस पार करके आती थीं, तहस-नहस कर देते थे, और उनके जहाज़ों को जला दिया करते थे)

ईसवी सन् के १००० बरसों के बाद योरप का यह नक़शा था। उसी वक़्त नार्मन लोग अपने जहाज़ों में आ रहे थे और भूमध्य सागर के किनारे के शहरों को

और समुद्र के जहाजों को लूट रहे थे। सफलता मिलने से ये कुछ शरीफ़ भी होते गये। फ्रांस के पश्चिमी हिस्से, नारमंडी, में वे बस गये थे। फ्रांस के अपने इस आधार से उन्होंने इंग्लैंड को जीत लिया था। सिसली का टापू उन्होंने मुसलमानों से छीन-लिया और उसमें दक्षिण इटली को जोड़कर उन्होंने 'सिसीलिया' का राज्य क़ायम कर दिया था।

योरप के मध्य में, उत्तरी समुद्र से रोम तक, 'पवित्र रोमन साम्राज्य' का फैलाव था और इसमें बहुत सी रियासतें थीं जिनका प्रमुख सम्राट् हुआ करता था। (जर्मन सम्राट् और रोम के पोप के बीच प्रभुत्व के लिए बराबर खींच-तान जारी रहती थी। कभी सम्राट् और कभी पोप हावी हो जाते थे। लेकिन धीरे-धीरे पोपों की ताक़त बढ़ गई। लोगों को जाति से निकाल देने की धमकी का भयंकर शस्त्र पोप के हाथ में था। पोप ने एक अभिमानी सम्राट् को इतना ज़लील किया कि उसे नंगे पाँव बर्फ़ में माफ़ी मांगने के लिए पोप के पास जाना पड़ा था और कनौज़ा (जो इटली में है) में पोप के निवासस्थान के बाहर उस समयतक खडे रहना पड़ा था, जबतक कि पोप ने मेहरबानी करके उसे अन्दर दाख़िल होने की इजाज़त नहीं दी।)

हम देख रहे हैं कि इस समय योरप के देश एक खास शक्ल लेने लगे थे। फिर भी वह आज से बिलकुल जुदे थे--खासकर उनकी प्रजा आज से बिल्कुल भिन्न थी, ये लोग अपने को फ़्रांसीसी, अंग्रेज़ या जर्मन नहीं कहते थे। गरीब किसान बहुत मुसीबत में थे और अपने देश या भूगोल के बारे में कुछ नहीं जानते थे; सिर्फ इतना जानते थे कि हम अपने मालिक के असामी हैं और अपने मालिक के हुक्म के मुताबिक हमें चलना चाहिए। सरदार या सामन्त अपने को किसी न किसी जगह का मालिक समझते थे और किसी बडे राजा या बादशाह की मातहत हुआ करते थे। यही सामन्त-प्रणाली थी जो सारे योरप में फैली हुई थी।

धीरे-धीरे जर्मनी में, और ख़ासतौर से उत्तर इटली में, बडे-बडे शहर बढ़ने लगे। पेरिस उस वक्त भी एक मशहूर शहर था। ये शहर व्यापार और तिजारत के केन्द्र थे, और वहाँ बहुत धन इकट्ठा हो जाता था। फिर ये शहर सामन्तों को पसन्द नहीं करते थे और हमेशा इन दोनों के बीच झगडे हुआ करते थे। अन्त में पैसे की जीत हुई। अपने पैसे की मदद से, जिसे वह मालिकों और ज़मींदारों को उधार देते थे, इन लोगों ने अधिकार और रिआयतें ख़रीदीं। और इस तरह धीरे-धीरे एक नया वर्ग पैदा हो गया जिसकी सामंत-प्रणाली से कभी नहीं पटी।

इस तरह से हम देखते हैं कि योरप के समाज में सामन्त पद्धति के ढंग पर बहुत सी तहें पाई जाती थीं। पादरी लोग भी इस प्रणाली को आशीर्वाद देते थे

और स्वीकार करते थे। राष्ट्रीयता की कोई भावना नहीं पाई जाती थी। लेकिन सारे योरप, ख़ासकर ऊँचे वर्ग में, ईसाइयत और ईसाई राज्य की भावना ज़रूर थी। यह एक ऐसी भावना थी जिससे योरप की सारी ईसाई क़ौमें बँधी हुई थीं। पादरियों ने इस विचार के फैलाने में मदद की क्योंकि इससे उनको ताक़त मिलती थी और रोमन पोप के अख़्तियार बढ़ जाते थे, जो उस वक़्त तक पश्चिमी योरप में पादरी-समुदाय का मुखिया हो चुका था। तुमको यह भी याद होगा कि रोम पूर्वी रोमन साम्राज्य और कुस्तुन्तुनिया से अलग हो चुका था। कुस्तुन्तुनिया में वही पुराना कट्टर चर्च जारी रहा और रूस ने अपना मजहब कुस्तुन्तुनिया ही से सीखा। कुस्तुन्तुनिया के यूनानी लोग पोप को नहीं मानते थे।

लेकिन खतरे के मौक़े पर, जब कुस्तुन्तुनिया को दुश्मनों ने घेर लिया और ख़ास कर सेलजूक़ तुर्कों ने इस पर हमला किया, वह रोम के प्रति अपनी घृणा और अपने अभिमान को भूल गया, और उसने मुसलमान काफ़िरों के खिलाफ़ पोप से मदद मांगी। उस वक्त रोम में एक मशहूर पोप मौजूद था। उसका नाम हिल्डेब्रैण्ड था और बाद को वह पोप ग्रिगोरी सप्तम के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी हिल्डेब्रैण्ड के सामने कनौज़ा में अभिमानी जर्मन सम्राट् नंगे पैर गिरती हुई बरफ़ में हाज़िर हुआ था।

उस समय एक दूसरी घटना हो गई थी जिससे ईसाई संसार में कुछ उत्तेजना थी। बहुत से श्रद्धालु ईसाई विश्वास करते थे कि ईसा के ठीक हज़ार वर्ष के बाद दुनिया एकदम से ख़त्म हो जायगी। 'मिलेनियम' लफ़्ज़ के मानी 'एक हज़ार वर्ष' हैं। यह शब्द दो लैटिन शब्दों से मिलकर बना है। 'मिले' (Mille) का मतलब हज़ार है और 'एनस' (annus) साल को कहते हैं। चूंकि एक हज़ार वर्ष के बाद दुनिया के ख़ातमे की उम्मीद की जाती थी, इस लिए 'मिलेनियम' शब्द का मतलब हो गया—'एकदम से तब्दील होकर बेहतर दुनिया का आजाना।' मैंने तुम्हें बताया है कि योरप में उस वक्त बड़ी मुसीबत थी और मिलेनियम के आने की आशा में बहुत से थके हुए लोगों को शान्ति मिलती थी। मिलेनियम के आने पर बहुत से लोगों ने अपनी ज़मीनें बेंच डालीं। और पैलेस्टाइन (फ़िलस्तीन) को चले गये ताकि जब दुनिया का ख़ातमा हो तो उस समय वे अपनी 'पवित्र भूमि' में मौजूद हों।

लेकिन दुनिया का ख़ातमा नहीं हुआ और उन हज़ारों यात्रियों को, जो जेरुसलम गये थे, तुर्कों ने बहुत परेशान किया, और सताया। अपमान से दुःखी और ग़ुस्से में भरे हुए ये लोग योरप लौटे और अपने पवित्र देश में इनको जो तकलीफ़ें हुई थीं उसके क़िस्से सारे योरप में फैलाने लगे। एक मशहूर तीर्थयात्री 'साधु पीटर', हाथ

में डंडा लिये हुए, चारों तरफ़ यही प्रचार करता फिरता था कि जेरूसलम के पवित्र नगर को मुसलमानों से छीनना चाहिए। इससे ईसाई संसार में घृणा और जोश बहुत बढ़ गया। और यह देखकर पोप ने इस आन्दोलन को ख़ुद चलाने का निश्चय किया।

इसी वक्त विधर्मियों के ख़िलाफ़ सहायता के लिए कुस्तुन्तुनिया से प्रार्थना आई। सारा ईसाई-संसार, रोमन और यूनानी दोनों, बढ़ते हुए तुर्कों के खिलाफ़ मिल गया। १०९५ में पादरियों की एक बडी परिषद् में यह तय हुआ, कि जेरूसलम के पवित्र शहर को मुसलमानों से छीनने के लिए एक धार्मिक युद्ध की घोषणा की जाय। इस तरह से 'क्रूसेड' (जिहाद)की लड़ाई शुरू हुई यानी इस्लाम के ख़िलाफ़ ईसाइयत, और हिलाल (अर्धचन्द्र) के ख़िलाफ़ सलेब (क्रॉस) का संग्राम शुरू हुआ।

: ५८ :

एशिया और योरप पर एक और नज़र

१२ जून, १९३२

हमने दुनिया का—यानी एशिया, योरप और थोड़ा-सा अफ़रीका का—अपना संक्षिप्त सिंहावलोकन ख़तम कर दिया, और ईसा के बाद हज़ार वर्ष के अन्त तक पहुँच गये। लेकिन आओ, हम एक बार और इस पर नज़र डाल लें।

पहले एशिया को लें। हिन्दुस्तान और चीन की पुरानी सभ्यता अभी तक यहाँ जारी थी, और उन्नति कर रही थी। हिन्दुस्तानी संस्कृति मलेशिया और कम्बोडिया तक फैल गई थी, और वहाँ उससे बहुत अच्छे परिणाम निकल रहे थे। चीनी संस्कृति कोरिया और जापान, और किसी हद तक मलेशिया, में भी फैली हुई थी। पश्चिमी एशिया में, अरबस्तान, फ़िलस्तीन, सीरिया और इराक़ में अरबी संस्कृति का प्रसार था। ईरान में पुरानी ईरानी और नई अरबी सभ्यता का सम्मिश्रण था। मध्य एशिया के कुछ देशों ने भी इस ईरानी-अरबी संस्कृति के मिले-जुले रूप को इख़्तियार कर लिया था, और उन पर हिन्दुस्तान और चीन का भी असर पड़ा था। इन देशों में एक ऊँचे दरजे की सभ्यता मौजूद थी। व्यापार, विद्या और कलाओं की उन्नति भी हो रही थी। बडे-बडे शहरों की बहुतायत थी और उसके मशहूर विश्व-विद्यालयों में दूर-दूर से विद्यार्थी आया करते थे। सिर्फ़ मलेशिया और मध्य एशिया के कुछ हिस्से में और उत्तर में साइबेरिया में सभ्यता का पाया कुछ नीचा था।

अब योरप को लो। एशिया के उन्नतिशील देशों के मुक़ाबिले में यह पिछड़ा हुआ और आधा-जंगली था। यूनानी-रोमन सभ्यता पुराने ज़माने की एक यादगार

रह गई थी। विद्या की क़द्र नहीं थी, और न कला का ही ज्यादा प्रचार था। एशिया के मुक़ाबिले यहां व्यापार भी बहुत कम था। सिर्फ़ दो चमकनेवाली जगहें थीं। एक तो स्पेन, जो अरबों की मातहती में था, और अरबों के शानदार ज़माने की परिपाटी को क़ायम रखे हुए था। दूसरा कुस्तुन्तुनिया था, जो धीरे-धीरे गिरते हुए भी, अभी तक, एशिया और योरप की सरहद पर, बहुत बड़ा और घनी आबादी का शहर था। योरप के ज्यादातर हिस्सों में अक्सर अशांति रहा करती थी। सामन्त-प्रणाली के नीचे, जो योरप में सब जगह पाई जाती थी, हरेक सरदार और सामन्त अपनी रियासत का छोटा-मोटा बादशाह हुआ करता था। एक ऐसा समय आया कि पुराने रोमन साम्राज्य की वह पुरानी मशहूर राजधानी रोम एक मामूली गांव के बराबर हो गया, और उसके पुराने 'कोलोज़ियम' (बडे अखाडे) में जंगली जानवर रहने लगे। लेकिन यह फिर बढ़ने लगा था !

इसलिए अगर तुम ईसा के १००० वर्ष बाद के योरप और एशिया का मुक़ाबिला करो तो एशिया का पलड़ा बहुत भारी निकलेगा।

आओ, अब हम फिर नज़र डालें, और मामलों की तह में जाकर देखने की कोशिश करें। हमें पता चलेगा कि ऊपर से देखनेवाले को एशिया की हालत जितनी अच्छी दिखाई देगी, असल में उतनी अच्छी नहीं थी। हिन्दुस्तान और चीन, प्राचीन सभ्यता के दो जन्म-स्थान, परेशानी और आफ़त में फँसे हुए थे। इनकी परेशानी सिर्फ़ यह नहीं थी कि बाहर से इन पर हमले होते थे। इनकी परेशानी इससे ज्यादा असली थी, और इनकी अन्दरूनी ज़िन्दगी और ताक़त को चूस रही थी। पश्चिम में, शानदार ज़माने का ख़ातमा हो रहा था। यह सच है कि सेलजूकों की ताक़त बढ़ रही थी, लेकिन उनका उदय सिर्फ़ उनके सैनिक गुणों की वजह से हो रहा था। हिन्दुस्तानी, चीनी, ईरानी या अरबों की तरह इनको एशिया की सभ्यता का प्रतिनिधि नहीं कह सकते। ये एशिया की सिपहगिरी और उसके सामरिक गुणों के प्रतिनिधि थे। एशिया में हर जगह पुरानी सभ्य क़ौमें सिकुड़ती हुई दिखाई देती थीं। अन्दर से उनका आत्म-विश्वास जाता रहा था और ये लोग सिर्फ़ अपने को बचाये रखना चाहते थे। नई क़ौमें पैदा हुई, जिनमें ताक़त थी और जो उत्साह से भरी थीं। इन क़ौमों ने एशिया की पुरानी जातियों को जीत लिया, और योरप को भी डराने लगीं। लेकिन इनके साथ सभ्यता की कोई नई लहर नहीं आई और न इनसे संस्कृति को कोई नया प्रोत्साहन मिला। पुरानी क़ौमों ने धीरे-धीरे इन नई क़ौमों को सभ्य बनाया और अपने इन विजेताओं को हज़म कर गईं।

इस तरह से हम देखते हैं कि एशिया के ऊपर एक बडी तब्दीली आने लगी

थीं। पुरानी सभ्यतायें क़ायम थीं, ललित कलायें फूल-फल रही थीं, विलासिता में नज़ाकत मौजूद थी, लेकिन सभ्यता की नाडी कमजोर पड़ रही थी और जिन्दगी की साँस धीरे-धीरे मन्द पड़ती जाती थी। ये सभ्यतायें बहुत दिनों तक क़ायम रहीं। सिवा अरबस्तान और मध्य एशिया के, जब वहां मंगोल लोग आये थे, कहीं दूसरी जगह न तो ये सभ्यतायें ख़तम हुईं, और न इनका सिलसिला ही टूटा। चीन और हिन्दुस्तान में धीरे-धीरे इन सभ्यताओं ने मुरझाना शुरू किया, और अन्त में वे एक रँगी हुई तसवीर की तरह बन गईं जो दूर से देखने में तो बहुत सुन्दर मालूम होती थी, लेकिन उसमें जान नहीं थी। और अगर कोई नजदीक आकर देखता तो मालूम होता कि उसको दीमकें चाटती जा रही हैं।

साम्राज्यों की तरह सभ्यताओं का पतन भी, बाहर के दुश्मनों की ताक़त की वजह से इतना नहीं होता, जितना अन्दरूनी कमज़ोरी और सड़ान की वजह से होता है। रोम बर्बरों की वजह से नहीं गिरा। बर्बरों ने तो सिर्फ़ एक मुर्दा चीज़ को गिरा दिया था। जिस समय रोम के हाथ और पाँव काटे गये, उससे कहीं पहले रोम के दिल की धड़कन बन्द हो चुकी थी। यही बात हमें हिन्दुस्तान, चीन और अरबस्तान में भी मिलती है। अरबी सभ्यता का पतन उसके उदय के समान ही एकाएक हुआ। हिन्दुस्तान और चीन में पतन की यह धारा धीरे-धीरे बही और इसका पता चलाना आसान नहीं है।

महमूद ग़ज़नवी के हिन्दुस्तान आने के बहुत पहले पतन का क्रम शुरू हो चुका था। लोगों के दिमाग़ अब पहले जैसे न थे; उनमें तब्दीली आचुकी थी। नये विचार और नई बात पैदा करने की जगह हिन्दुस्तान के आदमी की हुई बातों की नक़ल करते थे और उसी को दोहराते थे। उनकी बुद्धि अभी तक तेज़ थी लेकिन वे अपनी बुद्धि को उन बातों के अर्थ करने और समझाने में लगाते थे जो बहुत दिनों पहले लिखी जा चुकी थीं। ये लोग आश्चर्य-जनक मूर्तियां बनाते और खुदाई का बहुत सुन्दर काम करते थे, लेकिन इनकी ये सब चीज़ें शृंगार और छोटी-छोटी बातों के ब्योरे के बोझ से बहुत दबी हुई थीं और कभी-कभी उनमें वीभत्सता भी आजाती थी। मौलिकता ख़तम हो चुकी थी और ऊंची और साहसपूर्ण कल्पना की बिल्कुल कमी थी। अमीरों और खुशहालों में विलासिता और कला की नफ़ासत चलती रही लेकिन जनता की मुसीबतों और मेहनत को कम करने के लिए कुछ भी नहीं किया गया और न उपज बढ़ाने की ही कोई कोशिश हुई।

ये सब बातें उस समय होती हैं जब सभ्यता की संध्या आती है। जब ये बात होने लगें तो समझ लेना चाहिए कि सभ्यता की जिन्दगी ख़तम हो रही है। क्योंकि

नई चीज पैदा करना ही जिन्दगी का प्रमाण है, किसी चीज का दोहराना या नक़ल करना नहीं।

चीन और हिन्दुस्तान में उस समय कुछ इसी क़िस्म की बात पैदा हो गई थी। लेकिन मेरे मतलब को समझने में ग़लती न करना। मेरा मतलब यह नहीं है कि चीन या हिन्दुस्तान की हस्ती इसकी वजह से मिट गई या वे इस कारण असभ्यता के गड्ढे में गिर पड़े। मेरा मतलब यह है कि चीन और हिन्दुस्तान में रचनात्मक कार्य के लिए जो सरगरमी पुराने ज़माने में पाई जाती थी वह अब ख़तम हो रही थी और उसकी जगह पर नई सरगरमी या उत्साह पैदा नहीं हो रहा था। बदली हुई आबोहवा के मुताबिक अपने को ढालने में यह असमर्थ था। यह सिर्फ़ अपने पुराने ढर्रे पर चल रहा था। हरेक देश और सभ्यता की यही दशा होती है। एक युग ऐसा होता है जब नई चीज़ों के पैदा करने की और उनका विकास करने की बड़ी-बड़ी कोशिशें होती हैं और फिर थकावट का ज़माना आजाता है। ताज्जुब की बात तो यह है कि चीन और हिन्दुस्तान में यह थकावट इतने दिनों के बाद आई और फिर भी कभी ऐसा नहीं हुआ कि पूरी-पूरी थकावट आगई हो।

इस्लाम अपने साथ हिन्दुस्तान में मानवी उन्नति की एक नई लहर लाया। कुछ हद तक इसने पौष्टिक दवाई का काम किया। इसने हिन्दुस्तान को हिला दिया, लेकिन दो वजहों से वह हिन्दुस्तान की उतनी भलाई नहीं कर सका, जितनी कर सकता था। वह हिन्दुस्तान में ग़लत रास्ते से और देर से आया। महमूद ग़ज़नी के हमलों के कई सौ वर्ष पहले से मुसलमान प्रचारक हिन्दुस्तान भर में फिरते रहते थे और इनका स्वागत होता था। ये शान्ति से आये थे और इनको कामयाबी हुई थी और इस्लाम के ख़िलाफ़ कोई भी कटु भावना नहीं पाई जाती थी। लेकिन महमूद अपने साथ तलवार और आग लेकर आया। और विजेता, लुटेरा और क़ातिल बनकर उसके इस आने के ढंग से हिन्दुस्तान में इस्लाम की इतनी बदनामी हो गई जितनी किसी दूसरी वजह से नहीं हुई। निस्सन्देह दूसरे बड़े विजेताओं की तरह महमूद ग़ज़नवी लुटेरा और क़ातिल था और मजहब की जरा भी परवाह नहीं करता था लेकिन बहुत दिनों तक इसके हमलों ने हिन्दुस्तान में इस्लाम को साये में डाल दिया और यह मुश्किल हो गया कि लोग इस्लाम पर निष्पक्ष भाव से विचार करें, जैसा दूसरी हालत में करते।

यह एक वजह थी; दूसरी वजह यह थी कि इस्लाम देर में आया। वह अपनी पैदाइश के चार सौ वर्ष बाद हिन्दुस्तान पहुँचा और इस चार सौ वर्ष के ज़माने में यह कुछ थक चुका था और इसकी रचना-शक्ति बहुत कुछ ख़तम हो चुकी

थी। अगर इस्लाम के साथ शुरू में अरब लोग हिन्दुस्तान आये होते तो उन्नति-शील अरबी संस्कृति का पुरानी भारतीय संस्कृति से संमिश्रण हो गया होता, और वे दोनों एक-दूसरी पर असर डालतीं, जिससे बड़े-बड़े नतीजे निकल सकते थे। दो सभ्य क़ौमों का मेल हो गया होता, क्योंकि (अरब लोग धर्म के सम्बन्ध में बुद्धिवाद और सहिष्णुता के लिए मशहूर थे। एक ज़माने में बग़दाद में एक क्लब था, जहाँ खलीफ़ा की सदारत में हर मज़हब के माननेवाले और लामज़हब, यानी किसी भी मज़हब को न माननेवाले, आदमी इकट्ठा होते थे और सिर्फ बुद्धिवाद की दृष्टि से सब मसलों पर बहस-मुबाहिसे हुआ करते थे।)

लेकिन अरब लोग हिन्दुस्तान के अन्दर नहीं आये। वे सिन्ध में आकर रुक गये और हिन्दुस्तान पर उनका कुछ असर नहीं पड़ा। हिन्दुस्तान में इस्लाम तुर्कों के ज़रिये से, और दूसरी क़ौमों के ज़रिये से, आया जिनमें अरबों की तरह सहिष्णुता या तहज़ीब नहीं पाई जाती थी क्योंकि ये लोग मुख्यतः सैनिक थे।

लेकिन फिर भी रचनात्मक प्रयत्न और उन्नति के लिए हिन्दुस्तान में एक लहर आई। इस नई लहर ने हिन्दुस्तान में नई जान डाल दी और फिर ख़तम हो गई। लेकिन इस विषय पर हम फिर विचार करेंगे।

हिन्दुस्तानी सभ्यता की कमज़ोरी का एक दूसरा नतीजा सामने आने लगा था। जब बाहर से इस पर हमला हुआ तो उस आँधी से हिफ़ाज़त करने के लिए इस सभ्यता ने एक खोल बनाकर अपने को उसमें क़ैद कर लिया। यह डर और कमज़ोरी की एक निशानी थी। इस दवाई ने रोग को और बढ़ा दिया। विदेशी हमला असल रोग नहीं था। असल रोग तो था निश्चलता, कमज़ोरी और सुस्ती। इस तरह सब चीज़ों से दूर भाग जाने की वजह से सुस्ती और कमज़ोरी बढ़ने लगी और उन्नति के सारे रास्ते रुक गये। बाद को चीन ने भी यही बात अपने तरीक़े से की। और जापान ने भी ऐसा ही किया। ऐसे समाज में रहना, जो किसी खोल में बन्द हो, कितनी ख़तरनाक बात है। उसमें पहुँचकर हम सड़ने लगते हैं और ताज़ी हवा और ताज़े विचार के आदी नहीं रह जाते। जैसे व्यक्तियों के लिए ताज़ी हवा की ज़रूरत होती है वैसे ही समाजों के लिए भी ताज़ी हवा बहुत ज़रूरी है।

यह तो एशिया की बात हुई। हमने देखा है कि योरप उस समय पीछे था और झगड़ालू भी था। लेकिन इसकी सारी बदअमनी और अनगढ़पन के पीछे भी इसमें कम से कम ज़िन्दगी और उत्साह पाया जाता था। एशिया बहुत दिनों तक सिरमौर रहने के बाद पतन की तरफ़ जा रहा था। लेकिन योरप प्रयत्नशील था, हालांकि एशिया के पाये तक पहुँचने के लिए उसे अभी बहुत चलना था।

आज योरप दुनिया पर हावी है, और एशिया तकलीफ़ें सहते हुए अपनी आज़ादी के लिए प्रयत्नशील है। अगर तुम सतह के नीचे देखने की कोशिश करोगी तो तुम्हें एशिया में नया उत्साह, नई रचनात्मक भावना और नई ज़िन्दगी दिखाई देगी। एशिया अब फिर उठ रहा है, इसमें कोई शक नहीं, और योरप या, यों कहो, पश्चिमी योरप में, उसकी महानता के बावजूद, पतन के चिन्ह दिखाई दे रहे हैं। इस समय वे बर्बर मौजूद नहीं हैं जो अपनी ताक़त से यूरोपियन सभ्यता को नष्ट-भ्रष्ट कर दें, लेकिन कभी-कभी सभ्य आदमी भी जंगली काम करने लगते हैं, और जब ऐसी बात होती है, सभ्यता ख़ुद अपने को नष्ट कर डालती है।

मैं एशिया और योरप की बातें करता हूँ, लेकिन ये तो भौगोलिक शब्द हैं। जो समस्या हमारे सामने है वह एशिया की या योरप की नहीं है; वह तो सारे संसार और मनुष्य-मात्र की है, और जब तक हम सारे संसार के लिए इस समस्या को हल नहीं कर डालते, परेशानी क़ायम रहेगी। जब ग़रीबी और मुसीबत सब जगहों से जाती रहेगी, तभी समझना चाहिए कि यह समस्या हल हुई। मुमकिन है, इसमें कुछ वक़्त लग जाय, लेकिन लक्ष्य यही होना चाहिए, और इससे कम हरगिज़ न होना चाहिए, तभी समता के आधार पर हम अगली सभ्यता और संस्कृति क़ायम कर सकेंगे, जिसमें किसी देश या किसी वर्ग का शोषण न होगा। यह समाज रचनात्मक और उन्नतिशील होगा। बदलते हुए ज़माने के अनुकूल अपने को ढालेगा और अपनें आदमियों के सहयोग पर इसकी बुनियाद होगी, और अन्त में यह सारे संसार में फैल जायगा। इस बात का कोई ख़तरा न होगा कि इस प्रकार की सभ्यता भी पुरानी सभ्यताओं की तरह गिर जायगी या नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी।

इसलिए जब हम हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिए लड़ाई कर रहे हैं, हमें यह याद रखना चाहिए कि असल में मनुष्यमात्र की आज़ादी हमारा महान् लक्ष्य है, और हमारी लड़ाई में दूसरे देशों की भी आज़ादी शामिल है।

: ५६ :

अमेरिका की 'माया' सभ्यता

१३ जून, १९३२

मैं तुमसे कहता आया हूँ कि इन ख़तों में मैं संसार के इतिहास की रूप-रेखा खींचनें की कोशिश कर रहा हूँ। लेकिन वास्तव में मैंने अभी तक एशिया, योरप और उत्तरी अफ़रीका के इतिहास की कहानी ही कही है। अमेरिका और आस्ट्रेलिया

के बारे में मैंने अभीतक कुछ नहीं बताया। अगर कुछ बताया भी है तो वह नहीं के ही बराबर है। लेकिन मैं तुम्हें इस बात की सूचना पहले ही दे चुका हूँ कि इस शुरू के ज़माने में भी अमेरिका में एक क़िस्म की सभ्यता थी। इस सभ्यता के बारे में अधिक जानकारी नहीं मिलती है, और मैं तो, निस्सन्देह, इस सम्बन्ध में बहुत ही कम जानता हूँ। फिर भी इस विषय पर तुम्हें कुछ बताने की उत्सुकता को नहीं दबा सकता, जिससे तुम यह समझने की आम ग़लती न कर जाओ कि कोलम्बस और दूसरे यूरोपियनों के पहुँचने के पहले अमेरिका केवल एक जंगली मुल्क था।

सम्भवतः पाषाण युग जैसे बहुत पुराने ज़माने में, जब मनुष्य कहीं बसा नहीं था और यहाँ-वहाँ घूमता फिरता और शिकार करता रहता था, उत्तरी अमेरिका और एशिया के बीच में ख़ुश्की रास्ता था। उस रास्ते से मनुष्यों के कितने ही गिरोह और जातियाँ अलास्का होकर एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप में आती-जाती रही होंगी। बाद को ये रास्ते बीच में समुद्र आजाने के कारण बंद हो गये और अमेरिका के लोगों ने धीरे-धीरे एक अपनी सभ्यता पैदा कर ली। याद रक्खो कि, जहाँ तक पता चला है, अमेरिका के लोगों को एशिया और योरप के संपर्क में आने का कोई साधन नहीं था। मैं तुम्हें उस चीनी भिक्षु का हाल बता चुका हूँ जो कहता था कि पांचवीं शताब्दी में उसने एक ऐसे देश की यात्रा की थी जो चीन से बहुत दूर पूर्व में था। मुमकिन है, यह देश मैक्सिको रहा हो। इसके अलावा सोलहवीं सदी तक, जबकि कहा जाता है कि नई दुनिया की खोज की गई, इस बात का कहीं भी कोई बयान नहीं पाया जाता कि इस देश से किसी का कोई व्यावहारिक सम्पर्क रहा हो। अमेरिका की यह दुनिया हमारी दुनिया से दूर और जुदी थी—और इस पर योरप और एशिया की घटनाओं का कोई असर नहीं पड़ा था।

ऐसा मालूम होता है कि अमेरिका में सभ्यता के तीन ख़ास केन्द्र थे : मैक्सिको, मध्य अमेरिका और पेरू। यह ठीक तौर से मालूम नहीं है कि ये सभ्यतायें कब से शुरू हुईं। लेकिन मैक्सिको का सम्वत् (पंचांग) लगभग ईसवी सन् के ६१३ साल पहले से शुरू होता है। ईसवी सन् के शुरू के सालों में, दूसरी सदी के आगे अमेरिका में कई शहर बढ़ रहे थे। इस युग में पत्थर का काम, मिट्टी के बरतनों का काम, बुनाई और रंगाई बहुत अच्छी होती थी। तांबा और सोना बहुतायत से मिलता था। लेकिन लोहा नहीं था। गृह-निर्माण कला की तरक़्क़ी हो रही थी और मकानों के बनाने में इन शहरों की एक-दूसरे से लाग-डाँट थी। एक ख़ास तरह की और पेचीदा लिपि पाई जाती थी। कला, ख़ासकर शिल्पकला, का बहुत प्रचार था और इसकी सुन्दरता अपूर्व थी।

सभ्यता के इन क्षेत्रों में से हरेक में कई राज्य थे। कई भाषायें थीं और इन भाषाओं में काफ़ी साहित्य भी था। शासन सुसंगठित और मज़बूत था और शहरों में रहनेवाले लोग सभ्य और बुद्धिमान थे। इन राज्यों की आर्थिक और क़ानून बनाने की प्रणाली बहुत ऊँची उठी हुई थी। ९६० ई० के लगभग उक्षमल नगर की नींव डाली गई। कहा जाता है कि यह शहर जल्दी ही बढ़कर उस समय के एशिया के बडे शहरों के टक्कर का हो गया। (इसके अलावा लाबुआ, मायापान, चाओ मुल्तन वग़ैरा और भी बडे-बडे नगर थे।)

(मध्य अमेरिका के तीन मुख्य राज्यों ने मिलकर एक संघ बनाया था, जिसे मायापान-संघ कहते थे) यह ईसा से ठीक एक हज़ार वर्ष बाद की बात है, और यह वही ज़माना है जिस तक हम एशिया और योरप में पहुँचे हैं। इस प्रकार यह साफ़ है कि ईसा के एक हज़ार वर्ष बाद मध्य अमेरिका में सभ्य राज्यों का एक शक्तिशाली संगठन था। लेकिन इनके सारे राज्यों और ख़ुद माया सभ्यता में पुरोहितों का ही बोलबाला था। ज्योतिष सबसे प्रतिष्ठित विज्ञान समझा जाता था, और इसके जानने की वजह से पुरोहित लोग जनता की अज्ञानता से फ़ायदा उठाते थे। इसी तरह हिन्दुस्तान में भी लाखों आदमी चन्द्र और सूर्य ग्रहण के समय व्रत रखने और नहाने के लिए प्रोत्साहित किये गये हैं।

सौ वर्षों से ज्यादा समय तक मायापान का संघ बना रहा। जान पड़ता है कि इसके बाद एक सामाजिक क्रान्ति हुई और सरहद पर से एक बाहरी ताक़त ने दख़ल देना शुरू कर दिया। लगभग ११९० ई० में मायापान नष्ट हो गया, लेकिन दूसरे शहर बने रहे। इसके बाद १०० वर्ष तक के अन्दर ही एक दूसरी जाति के लोग सामने आ गये। ये लोग मैक्सिको से आये थे और अज़टेक कहलाते थे। चौहदवीं सदी के शुरू में इन लोगों ने माया देश को जीत लिया और लगभग १३२५ ई० में 'टेनोच्लिटलन' नाम का नगर बसाया। जल्द ही यह सारे मैक्सिको की राजधानी और अज़टेक साम्राज्य का केन्द्र बन गया। इस शहर की आबादी बहुत ज्यादा थी।

अज़टेक राष्ट्र एक सैनिक राष्ट्र था। इन लोगों ने सैनिक बस्तियाँ बसाईं। जगह-जगह छावनियाँ बनाईं और देश भर में सेना के आने जाने के लिए सड़कों का जाल बिछा दिया। ऐसा कहा जाता है कि वे इतने चालाक थे कि अपने मातहत राज्य को आपस में लड़ाते रहते थे। जब उनमें फूट हो जाती थी तब उनपर राज्य करना उनके लिए आसान होता था। सारे साम्राज्यों की यह बहुत पुरानी नीति रही है। रोम वाले इसे—'डिवाइड एट इमपेरा" (Divide et impera) अर्थात् 'फूट डालो और राज्य करो, कहते थे।

(दूसरे मामलों में चतुर होते हुए भी अजटेक धर्म के मामले में पुरोहितों से जकडे हुए थे, और इससे भी बुरी बात यह थी कि उनके मजहब में आदमियों की बहुत कुरबानियाँ की जाती थीं। हर साल धर्म के नाम पर हजारों आदमी बडे खौफ़नाक तरीक़े से बलिदान कर दिये जाते थे।)

लगभग दो सौ बरसों तक अजटेक लोगों ने अपने साम्राज्य पर डंडे के बल पर कठोर शासन किया। साम्राज्य में ज़ाहिरा अमन व शान्ति थी, जैसे आज ब्रिटिश शासन में हिन्दुस्तान में है। लेकिन जनता बेरहमी से चूसी और लूटी जाती थी। जो राज्य इस तरह निर्माण हो और जिसका संचालन इस तरह किया जाय, वह बहुत दिनों तक क़ायम नहीं रह सकता, और यही हुआ भी। सोलहवीं सदी के शुरू में, यानी १५१९ ई० में, जब अजटेक राज्य ज़ाहिरा अपनी शक्ति और शान की सबसे ऊँची चोटी पर था, मुट्ठी भर विदेशी लुटेरों और दुस्साहसी आदमियों के हमले से भरभराकर गिर पड़ा। किसी साम्राज्य के पतन का यह एक बड़ा ही आश्चर्यजनक उदाहरण है। स्पेन-निवासी हर्नेन कोर्टे ने मुट्ठी भर सिपाहियों की मदद से इस साम्राज्य को नष्ट कर दिया। (कोर्टे एक बहादुर और साहसी व्यक्ति था। उसके पास दो चीजें थीं, जो उसे बडी मदद देती थीं, बन्दूकें और घोडे। मालूम होता है कि मैक्सिको साम्राज्य में घोडे नहीं थे और बन्दूकें तो निश्चय ही नहीं थीं।) किन्तु अगर इस साम्राज्य की जडें सडी न होतीं तो न तो कोर्टे की हिम्मत और न उसकी बन्दूकें और घोडे किसी मतलब के निकलते। इस राज्य का ऊपरी खोल तो क़ायम था लेकिन अन्दर से यह सड़ गया था। इसलिए ज़रा-सी ठोकर से ज़मीन पर आगया। यह जनता के शोषण से बना था; इसलिए लोग उससे बहुत असंतुष्ट थे। इसलिए जब उसपर हमला हुआ तो साधारण जनता ने साम्राज्यवादियों की इस मुसीबत का स्वागत किया, और, जैसा कि अक्सर होता है, इसके साथ ही एक सामाजिक क्रान्ति भी आगई।

एक दफ़ा तो कोर्टे खदेड़ दिया गया और मुश्किल से वह अपनी जान बचा सका। लेकिन वह फिर लौटा और वहाँ के कुछ लोगों की मदद से उसने फिर फ़तह पाई। उसने अज़टेक राज्य का ही अन्त नहीं कर दिया, बल्कि यह ताज्जुब की बात है कि अज़टेक राज्य के साथ-ही-साथ मैक्सिको की सारी सभ्यता लड़खड़ाकर गिर पडी और नष्ट हो गई और थोडे ही समय में उस शानदार राजधानी टेनोच्टिटलन का कोई निशान बाक़ी नहीं रहा। इसकी एक ईंट भी आज नहीं बची है। इसी स्थान पर स्पेनवालों ने एक गिरजाघर बनाया। माया सभ्यता के और बडे शहर भी नष्ट हो गये और यूकेतान के जंगलों ने उन्हें ढक लिया, यहाँ तक कि उनके नाम भी याद न रहे। इनमें से बहुत-से शहर आजकल पडौस के गाँवों के नामों से याद किये जाते हैं।

उनका सारा साहित्य भी नष्ट हो गया और केवल तीन किताबें बच रही हैं और उन्हें भी आज तक कोई पढ़ नहीं सका है ।

यह बता सकना असाधारण रूप से कठिन है कि एक पुरानी जाति और एक पुरानी सभ्यता, जो करीब १५०० बरस तक मौजूद रही हो, योरप की नई जाति के सम्पर्क में आते ही क्यों एकाएक ख़तम हो गई । ऐसा मालूम होता है कि यह सम्पर्क नहीं था, बल्कि इन लोगों के लिए कोई रोग या महामारी थी, जिसके ज़रासे छू देने भर से वे बिलकुल नष्ट हो गये । कुछ बातों में इनकी सभ्यता बहुत आगे थी और कुछ बातों में बहुत पीछे । उनमें इतिहास के जुदा-जुदा युगों का एक अजीब मेल पाया जाता था ।

दक्षिणी अमेरिका में, पेरू में, सभ्यता का एक दूसरा केन्द्र पाया जाता था और इस देश में 'इनका' राज्य करता था । वह एक प्रकार का दैवी राजा माना जाता था । यह एक अजीब बात है कि पेरू की यह सभ्यता, कम-से-कम अपने दिनों में, मैक्सिको की सभ्यता से टूटकर बिलकुल ही अलग हो गई थी । दोनों सभ्यतायें एक-दूसरे से बहुत दूर नहीं थीं, फिर भी वे एक-दूसरे के बारे में कुछ नहीं जानती थीं और यह बात स्वयं ही यह साबित कर देती है कि वे कुछ मामलों में कितनी पिछडी हुई थीं । मैक्सिको में कोर्टे के सफल होने के बाद ही, एक दूसरे स्पेन-निवासी ने पेरू राज्य का भी अन्त कर डाला । उसका नाम पिज़ारो था । वह १५३० ई० में आया और उसने 'इनका' को धोखे से पकड़ लिया । दैवी राजा के पकडे जाने से लोग डर गये । पिज़ारो ने कुछ समय तक 'इनका' के नाम से राज्य करने की कोशिश की और उसने बहुत-सा धन वसूल कर लिया । बाद में यह आडम्बर ख़तम हो गया और स्पेनवालों ने पेरू को अपने साम्राज्य का एक हिस्सा बना लिया ।

कोर्टे ने जब पहले पहल टेनोच्लिटलन का शहर देखा तो वह उसकी विशालता पर चकित हो गया । उसने योरप में इस क़िस्म का दूसरा शहर नहीं देखा था ।

(माया और पेरू की कला के बहुत-से अवशेष मिले हैं और वे अमेरिका, ख़ासकर मैक्सिको, के अजायबघरों में देखे जासकते हैं । इनमें एक सुन्दर कलापूर्ण परम्परा थी । कहा जाता है कि पेरू के सुनारों का काम बडे ही ऊँचे दर्जे का होता था । शिल्प के भी कुछ चिन्ह मिले हैं, जिनमें पत्थरों पर साँपों की बनावट ख़ास तौर पर बहुत सुन्दर है । दूसरी मूर्तियाँ वीभत्सता प्रकट करने के लिए बनाई गई थीं और सचमुच उन्हें देखकर डर मालूम होता है ।)

: ६० :

मोहेंजो-दारो की ओर एक छलाँग

१४ जून, १९३२

मैं अभी मोहेंजो-दारो और सिन्ध की घाटी की पुरानी हिन्दुस्तानी सभ्यता के बारे कुछ पढ़ रहा था। इस विषय पर एक नई महत्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित हुई हैं, जिसमें इस विषय की सारी बातें, जो अभी तक मालूम हो सकी हैं, बताई गई हैं। यह पुस्तक उन लोगों ने तैयार की और लिखी है जिनकी देख-रेख में इस शहर की खुदाई का काम था। इन लोगों ने अपनी आँखों से इस शहर को, पृथ्वी माता के गर्भ से बाहर निकलते देखा है। मैंने अभीतक यह पुस्तक नहीं देखी है। मैं चाहता हूँ कि वह मुझे यहाँ मिल जाती लेकिन मैंने इसकी एक समालोचना पढ़ी है और मैं चाहता हूँ कि इसमें दिये हुए कुछ उद्धरणों को तुम्हारे सामने भी रख दूं। सिन्ध-घाटी की यह सभ्यता एक अद्भुत वस्तु है और जितना ही इसकी बाबत ज्यादा मालूम होता है उतना ही आश्चर्य बढ़ता है। इसलिए मैं आशा करता हूँ कि यदि हम पिछले इतिहास के वर्णन को छोड़ दें और इस ख़त में पाँच हज़ार वर्ष पीछे कूद जायँ तो तुमको कुछ ऐतराज़ न होगा।

मोहेंजो-दारो को लोग, कम-से-कम ५००० वर्ष पुराना मानते हैं। फिर भी हमें पता चलता है कि मोहेंजो-दारो एक सुन्दर शहर था। सभ्य और शिष्ट लोग यहाँ रहते थे। इसके पहले विकास का एक लम्बा युग जरूर गुजरा होगा। यही बात इस पुस्तक से हमें मालूम होती है। सर जान मार्शल, जिनकी देख-रेख में मोहेंजो-दारो की खुदाई का काम हो रहा है, लिखते हैं :—

> "एक बात जो मोहेंजो-दारो और हरप्पा दोनों जगहों में साफ़तौर से और निर्विवाद रूप से दिखाई देती है, यह है कि जो सभ्यता इन दो स्थानों पर मिलती है वह शैशवावस्था की सभ्यता नहीं हैं। बल्कि भारत की ज़मीन पर प्रौढ़ता पाई हुई और बहुत प्राचीन क़िस्म की सभ्यता है, जिसके पीछे करोड़ों मनुष्यों का प्रयत्न छिपा हुआ है। इसलिए अब आगे ईरान, इराक़ और मिस्र के साथ-साथ हमें भारत की भी गणना सभ्यता के उन महत्वपूर्ण क्षेत्रों में करनी चाहिए जहाँ सभ्यता का अंकुर निकला और बढ़ा।"

मेरा ख़याल है कि हरप्पा के बारे में मैंने तुम्हें अभी कुछ नहीं बताया है। यह एक दूसरा स्थान है, जहाँ मोहेंजो-दारो से मिलते-जुलते पुराने खंडहर,खोदकर निकाले गये हैं। यह पश्चिमी पंजाब में है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिन्ध की घाटी में हम न केवल ५००० वर्ष पहले

बल्कि उससे भी हज़ारों वर्ष और आगे पहुँच जाते हैं। यहांतक कि हम प्राचीनता के उस धुँधले कोहरे में खो जाते हैं जब पहले-पहल आदमी बसने लगे थे। जिस समय मोहेंजो-दारो की सभ्यता फूल-फल रही थी, उस समय भारत में आर्य लोग नहीं आये थे। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि उस समय "भारत के दूसरे भाग नहीं तो कम-से कम पंजाब और सिन्ध एक उच्चकोटि की और आश्चर्यजनक रूप से समान सभ्यता का आनन्द ले रहे थे। यह सभ्यता उस समय की इराक़ और मिस्र की सभ्यताओं से मिलती-जुलती और कई बातों में उनसे भी श्रेष्ठ थी।"

मोहेंजो-दारो और हरप्पा की खुदाई से एक प्राचीन और मनोहर सभ्यता हमारे सामने प्रकट हो गई है। न जाने भारतभूमि के नीचे दूसरे स्थानों पर कितनी और चीजें गडी पडी हैं। ऐसा मालूम होता है कि यह सभ्यता भारत में काफ़ी दूर तक प्रचलित रही होगी। वह केवल मोहेंजो-दारो और हरप्पा तक ही सीमित नहीं थी। फिर ये दोनों स्थान भी एक-दूसरे से काफ़ी दूरी पर हैं।

यह वह ज़माना था "जिसमें पत्थर के हथियार और बर्तनों के साथ-साथ ताँबें और काँसे के हथियार और बर्तनों का उपयोग भी होता था।" सर जान मार्शल ने सिन्ध घाटी के निवासियों के साथ उस समय के मिस्र और इराक़ के लोगों की तुलना करके उनका भेद और सिन्ध की घाटी के निवासियों की श्रेष्ठता बताई है। वह लिखते हैं—

> "अगर मुख्य-मुख्य बातों का ही ज़िक्र किया जाय तो पहली चीज़ यह मालूम होती है कि रुई के कपड़ों का व्यवहार इस युग में केवल भारत तक ही परिमित था। पश्चिमी जगत् में रुई के कपड़े का प्रचार इसके दो तीन हज़ार वर्ष बाद हुआ, इसके अलावा इतिहास काल के पहले मिस्र या इराक़ या पश्चिमी एशिया के किसी भी भाग में हमें कोई ऐसी चीज़ नहीं मिलती जो मोहेंजो-दारो के नागरिकों के रहने के बड़े-बड़े मकानों और सुन्दर बने हुए स्नानगारों की बराबरी कर सके। उन देशों में देवताओं के विशाल मन्दिरों तथा राजाओं के महलों और क़ब्रों के बनाने में बेशुमार धन और बुद्धि ख़र्च की जाती थी, लेकिन बाक़ी जनता को मिट्टी की मामूली झोंपड़ियों पर ही सन्तोष करना पड़ता था, लेकिन सिन्ध घाटी में हमें इसका उलटा दृश्य मिलता है और यहाँ पर सब से अच्छे मकान वे होते थे, जो नागरिकों के आराम के लिए बनाये गये थे।"

आगे चलकर वह बताते हैं—"सिन्ध-घाटी की कला और धर्म पर स्पष्टतया उसके एक ख़ास व्यक्तित्व की छाप है। उसमें एक अपना निरालापन है। भेड़, कुत्ते या दूसरे पशुओं की 'फीयेन्स' या मिट्टी की मूर्तियों तथा मुद्राओं या ठप्पों पर अंकित 'इंटेग्लियो' की नक्काशी के काम के जो नमूने यहाँ मिलते हैं उसकी शैली या मेल के दूसरे

नमूने किसी भी देश में, उस जमाने में, देखने को नहीं मिलते। खासतौर से पत्थर या धातु की मुद्राओं पर अंकित छोटे सींगवाले कुबडे साँडों की शक्लों की भावपूर्ण लचक और सुन्दर रूप रेखा नक्काशी के काम में शायद ही कहीं देखने को मिल सकती हैं। ये कृतियां 'ग्लिप्टिक' कला की बेजोड़ रचनायें हैं। इसी प्रकार हरप्पा में मिले हुए चित्र नं० १० और ११ में अंकित मनुष्यों की दो प्रतिमाओं में जो भाव-युक्त लचक है वह भी यूनान के पौराणिक काल के पहले हमें कहीं नहीं मिलती। सिन्ध के लोगों के धर्म में बहुत सी ऐसी बातें हैं जिसके समान बातें हमें दूसरे देशों में मिल सकती हैं। यह बात सभी इतिहास के पहले काल के और ज्यादातर ऐतिहासिक धर्मों के बारे में सच कही जासकती है, लेकिन सब बातों को मिलाकर देखने से इन लोगों का धर्म इतना हिन्दुस्तानी है कि मुश्किल से ही हम उसे आज कल के हिन्दू धर्म से जुदा कह सकते हैं।"

सम्भव है, इस उद्धरण के कई शब्द तुम न समझ सको। 'फीयेन्स' का अर्थ है मिट्टी की चीजों का काम। 'इन्टैग्लियो' और 'ग्लिप्टिक' कला के अर्थ होते हैं— किसी कठोर वस्तु और मुख्यतः जवाहिरात पर खुदाई और नक्काशी करना।

मेरी बडी इच्छा है कि मैं हरप्पा में पाई गई मूर्तियों, या कम से कम उनकी तसवीरों, को देख सकता। मुमकिन है कि किसी दिन हम और तुम हरप्पा और मोहेंजो-दारो साथ-साथ जासकें। और आँख भरकर वहाँ के दृश्यों को देख सकें। लेकिन इस दरमियान हम लोग अपना अपना काम जारी रखेंगे—तुम अपने पूना के स्कूल में और मैं अपने स्कूल में, जो 'देहरादून का डिस्ट्रिक्ट जेल' कहलाता है।

: ६१ :

कारडोवा और ग्रेनाडा

१६ जून, १९३२

हम एशिया और योरप में बरसों से फिरते रहे हैं और ईसा से हजार वर्ष बाद तक पहुँचकर हम रुक गये हैं। हमने इस युग पर एक बार और भी नजर डाली। लेकिन स्पेन के उस जमाने का वर्णन हमारी इस कहानी से छूट गया है, जब उसपर अरबों का क़ब्ज़ा था; इसलिए हमें एक बार और पीछे की ओर नजर डालनी चाहिए और उसे भी अपने इस चित्र में स्थान देना चाहिए।

स्पेन के बारे में थोडी-बहुत जानकारी तो तुम्हें है ही, यदि तुम्हें उसकी याद हो। ७११ ई० में अरब-सेनापति समुद्र पारकर अफ़रीका से स्पेन पहुँचा। उसका

नाम तरीक़ था और वह जिब्राल्टर (जबलुत्तरीक़ अर्थात् तरीक़ की पहाडी) पर उतरा था। दो साल के अन्दर ही अरबों ने सारा स्पेन जीत लिया। कुछ दिनों बाद उन्होंने पुर्तगाल को भी अपने राज्य में मिला लिया और वे बराबर बढ़ते गये। फ़्रांस पर भी उन्होंने हमला किया और सारे दक्षिण में फैल गये। उनकी इस बढ़ती हुई ताक़त से फ्रैंक और दूसरी जातियाँ डर गईं और उन्होंने चार्ल्स मार्टेल के नेतृत्व में मिल-जुल कर अरबों को रोकने की एक बहुत बडी कोशिश की। इसमें वे सफल हुईं। फ़्रांस में 'पाइटियर्स' के पास टूर्स की लड़ाई में फ्रैंकों ने अरबों को हरा दिया। यह बहुत बडी हार थी और इससे अरबों का योरप जीतने का स्वप्न ख़तम हो गया। इसके बाद कई बार अरब और फ्रैंक और फ़्रांस की दूसरी ईसाई जातियाँ एक दूसरे से लड़ती रहीं। कभी अरब जीते और फ़्रांस में घुस पडे और कभी ये स्पेन खदेड़ दिये गये। शार्लमैन ने भी स्पेन में अरबों पर हमला किया था लेकिन वह हार गया। बहुत दिनों तक ताक़तों की यह बराबरी बनी रही और अरब स्पेन में राज्य करते रहे; हाँ वे आगे न बढ़ सके।

इस प्रकार स्पेन उस बडे साम्राज्य का अंग बन गया जो अफ़रीका से मंगोलिया की सरहद तक फैला हुआ था। लेकिन यह हालत बहुत दिनों तक क़ायम न रही। तुम्हें याद होगा कि अरब में गृह-युद्ध हुआ था और अब्बासियों ने उम्मैया ख़लीफ़ों को निकाल दिया था। स्पेन का गवर्नर उम्मैया था। उसने नये अब्बासी ख़लीफ़ा को ख़लीफ़ा मानने से इन्कार कर दिया। इस तरह स्पेन अरब साम्राज्य से अलग हो गया और बग़दाद का ख़लीफ़ा बहुत दूर होने के कारण और अपने घरू झगडों में फँसे रहने की वजह से कुछ कर-धर नहीं सकता था। लेकिन बग़दाद और स्पेन के बीच मनमुटाव जारी रहा और ये दोनों अरब राज्य मुसीबत के समय एक दूसरे की मदद करने की बजाय एक दूसरे की मुसीबतों पर ख़ुश होते रहते थे।

स्पेन के अरबों का अपनी मातृ-भूमि से सम्बन्ध तोड़ लेना किसी क़दर जल्द-बाज़ी थी। वे एक दूर देश में एक विदेशी जनता के बीच में थे और चारों ओर से दुश्मनों से घिरे हुए थे। उनकी तादाद भी थोडी थी। मुसीबत व ख़तरे में उनकी मदद करनेवाला कोई नहीं था लेकिन उन दिनों वे आत्म-विश्वास से भर रहे थे और इन ख़तरों की बिल्कुल परवाह नहीं करते थे। सच तो यह है कि उन्होंने उत्तर की ईसाई जातियों के निरंतर दबाव के होते हुए भी बहुत अच्छी तरह से निबाहा और अकेले ही ५०० वर्षों तक स्पेन के ज्यादातर हिस्से पर अपना राज्य क़ायम रखा। इसके बाद भी वे स्पेन के दक्षिण में एक छोटी सी रियासत पर २०० वर्षों तक, राज्य करते रहे। इस प्रकार वे बग़दाद के बडे साम्राज्य के ख़तम हो

जाने के बाद भी ज़िन्दा रहे और जब उन्होंने स्पेन से अन्तिम विदा ली, उसके पहले बग़दाद शहर मिट्टी में मिल चुका था।

स्पेन के हिस्सों पर अरबों का ७०० वर्षों तक राज्य करना एक बडे ताज्जुब की बात है। लेकिन इससे भी ज्यादा महत्व की बात है स्पेन के अरबों या मूरों (जैसा कि वे पुकारे जाते थे) की ऊँची सभ्यता और संस्कृति। एक इतिहास लेखक अपने उत्साह की तरंग में लिख गया है :—

("मूर लोगों ने कारडोबा के उस अद्भुत साम्राज्य को संगठित किया था जो मध्यकाल के लिए एक चमत्कार था। जब सारा योरप लड़ाई-झगड़े और वहशियों की तरह अज्ञान में डूबा हुआ था, तब अकेले इस राज्य ने ही विद्या और सभ्यता की रोशनी को पश्चिमी दुनिया में जलाये रखा।")

ठीक ५०० बरसों तक कुर्तुबा इस राज्य की राजधानी रहा। इसको अंग्रेज़ी में कारडोबा, और कभी-कभी कारडोवा कहते हैं। मुझे आशंका है कि समय-समय पर मैं एक ही नाम के कई हिज्जे करता हूँ। लेकिन अब मैं बराबर कारडोबा ही लिखने की कोशिश करूंगा। कारडोबा बहुत बड़ा शहर था जिसमें १० लाख आदमी रहते थे। यह एक बाग़-बाग़ीचोंवाला शहर था जिस की लम्बाई १० मील थी और जिसके उपनगर २४ मील तक फैले हुए थे। कहा जाता है कि इस नगर में ६० हज़ार महल और कोठियाँ थीं और २ लाख छोटे मकान, ८० हज़ार दूकानें, ३८ सौ मसजिदें और ७ सौ सार्वजनिक स्नानागार (हम्माम) थे। मुमकिन है, इन अंकों में कुछ अत्युक्ति हो लेकिन इससे शहर की विशालता का कुछ अंदाज़ लगाया जा सकता है। इस शहर में कई पुस्तकालय थे, जिनमें अमीर का 'शाही पुस्तकालय' मुख्य था। इसमें चार लाख किताबें थीं। कारडोबा का विश्व-विद्यालय सारे योरप और पश्चिमी एशिया में भी मशहूर था। ग़रीबों के लिए बहुत सी प्रारम्भिक पाठ-शालायें थीं जिनमें उन्हें मुफ्त शिक्षा दी जाती थी। एक इतिहास-लेखक कहता है :–

"स्पेन में क़रीब-क़रीब सभी लोग पढ़ना-लिखना जानते थे; जबकि ईसाई योरप में पादरियों को छोड़कर और सब लोग, यहां तक कि ऊंचे ख़ानदान के लोग भी, बिलकुल अपढ़ होते थे।"

ऐसा वह कारडोबा का नगर था और बग़दाद के दूसरे बडे अरबी शहर का मुक़ाबिला करता था। उसकी शोहरत सारे योरप में फैली हुई थी और दसवीं सदी के एक जर्मन लेखक ने उसे 'जगत् का आभूषण' कहा है। उसके विश्व-विद्यालय में दूर-दूर के विद्यार्थी आते थे। अरब फ़िलासफ़ी का असर योरप के दूसरे बडे विश्व-विद्यालयों, जैसे पेरिस, आक्सफर्ड और इटली के उत्तरी विश्व-विद्यालयों, तक

फैल गया। एवरोज या इब्नरश्द बारहवीं सदी में कारडोबा का एक मशहूर फ़िलासफ़र (दर्शनिक) हुआ है। अपनी ज़िंदगी के आख़िरी दिनों में वह स्पेन के अमीर से लड़ बैठा और निकाल दिया गया। वह जाकर पेरिस में बस गया।

योरप के दूसरे हिस्सों की तरह स्पेन में भी एक तरह की सामंत-प्रणाली थी। वहाँ भी बडे-बडे और शक्तिशाली सरदार पैदा हो गये थे, जिनसे स्पेन के राजा—अमीर की अकसर लड़ाई होती रहती थी। अरब राज्य बाहरी हमलों से इतना कमज़ोर नहीं हुआ जितना इन घरेलू लड़ाई-झगडों से हो गया। इसी समय उत्तरी स्पेन में कुछ छोटी ईसाई रियासतों की ताक़त बढ़ रही थी और वे अरबों को बराबर पीछे हटाती जा रही थीं।

ई० सन् १००० के क़रीब यानी ईसवी सन् के हज़ार वर्षों के ठीक अन्त में, अमीर का साम्राज्य क़रीब-क़रीब सारे स्पेन पर फैला हुआ था। यहांतक कि इसमें दक्षिणी फ्रांस का भी एक छोटा-सा हिस्सा शामिल था लेकिन इसका पतन जल्दी ही हुआ और जैसा अकसर होता है, इस पतन की जड़ में अन्दरूनी और घरेलू कमज़ोरी थी। अपनी कला, विलासिता और बहादुरी के साथ भी अरबों की सुन्दर सभ्यता आख़िर अमीरों की ही सभ्यता थी। जो ग़रीब थे वे ग़रीब ही बने रहते थे और बढती हुई सम्पत्ति में उनको कोई हिस्सा न मिलता था। इसलिए बिना उलट-फेर हुए वह समाजिक प्रणाली चल नहीं सकती थी। भूखी ग़रीब जनता ने विद्रोह कर दिया और मज़दूरों ने दंगा मचा दिया। धीरे-धीरे यह गृह-युद्ध बढ़ता गया, एक के बाद एक सूबा आज़ाद होता गया और अन्त में अरबों का स्पेन-साम्राज्य टुकडे-टुकडे हो गया। हालांकि अरबों की ताक़त बिखर गई थी, फिर भी वे तबतक बराबर राज्य करते रहे जबतक कि ई० सन् १२३६ में कारडोबा कैस्टाइल के ईसाई बादशाह के हाथ में पूरी तरह नहीं आगया।

अरब दक्षिण की ओर खदेड़ दिये गये, फिर भी वे बराबर सामना करते रहे। स्पेन के दक्षिण में उन्होंने ग्रेनाडा नाम का छोटा-सा राज्य स्थापित कर लिया और वहीं बने रहे। फैलाव की दृष्टि से यह राज्य बहुत छोटा था लेकिन यह अरबी सभ्यता का एक छोटा-सा नमूना था। ग्रेनाडा का प्रसिद्ध 'अलहम्ब्र' अपनी सुन्दर महराबों, खम्भों और 'अरबेस्कों'[१] के साथ, अभीतक पाया जाता है और अपने पुराने ज़माने की याद दिलाता है। इसका असली नाम अरबी भाषा में 'अल-हम्र' था, जिसके मानी हैं—'लाल महल'। अरबेस्क उस सुन्दर नक्काशी को कहते हैं जो

१. अरबेस्क—स्पेन के अरबों अथवा 'मूरों' की अलंकृत चित्रकला या मूर्तिकला। इसमें पौधों एवं लताओं का चित्रण अधिक होता था।

इस्लाम से प्रभावित अरब और दूसरी इमारतों में पाई जाती है। आदमी की सूरत-शक्ल के चित्र के खींचने को इस्लाम ने कभी प्रोत्साहन नहीं दिया। इसलिए कारीगर लोग काल्पनिक और पेचीदा रेखाकृतियाँ बनाने लगे। अक्सर महराबों के ऊपर या दूसरी जगहों पर वे कुरान की अरबी आयतें खोदते और उनमें सुन्दर सजावट करते थे। अरबी लिपि ऐसी लिपि है जिसमें सजावट का काम आसानी से हो सकता है।

ग्रेनाडा का राज्य दो सौ बरसों तक क़ायम रहा। इस ज़माने में स्पेन के ईसाई राज्य, ख़ासकर कॅस्टाइल, उसे दबाते और तंग करते रहे। कभी-कभी उसने कॅस्टाइल को कर देना भी मंज़ूर कर लिया। अगर स्पेन के ईसाई राज्यों में आपस में फूट न होती तो शायद ग्रेनाडा का राज्य इतने दिनों तक न क़ायम रहता, लेकिन १४६९ ई० में इनमें से दो मुख्य ईसाई राज्यों के शासकों में, यानी फर्डीनेण्ड और आइज़ाबेला में, विवाह हो गया। इससे कॅस्टाइल, एरागोन और लायन्स तीनों मिल गये। फर्डीनेण्ड और आइज़ाबेला ने ग्रेनाडा के अरब साम्राज्य का अन्त कर डाला। अरब कई बरसों तक बहादुरी से लड़ते रहे और अन्त में वे ग्रेनाडा में घेरकर क़ैद कर लिये गये। अख़ीर में १४९२ ई० में भूख से तंग आकर उन्होंने आत्म-समर्पण कर दिया।

बहुत से सरासीन या अरब स्पेन छोड़कर अफ़रीका चले गये। ग्रेनाडा के नज़दीक शहर के सामने ही एक स्थान है जो आज दिन भी 'एल अल्टिमो सासपिरो डेल मोरो' (El ultimo saspiro del Moro) 'अर्थात् मूरों की अन्तिम आह' के नाम से मशहूर है।

लेकिन बहुत से अरब स्पेन में ही रह गये। इन अरबों के साथ जो सलूक हुआ, वह स्पेन के इतिहास का बड़ा ही काला हिस्सा है। उनके साथ बेरहमी की गई और उनको क़त्ल किया गया। सहिष्णुता के जो वादे उनसे किये गये थे, वे बिलकुल भुला दिये गये। इसी समय स्पेन में 'इनक्विज़िशन' का भीषण हथियार रोमन चर्च ने बनाया। यह वह भयंकर शस्त्र था जिससे रोमन चर्च उन तमाम आदमियों को कुचल देता था जो उसके सामने झुकने से इन्कार करते थे। यहूदी, जो सरासीनों की मातहती में ख़ुशहाल थे, अपना धर्म बदलने के लिए मजबूर किये जाने लगे और बहुत से यहूदी जिन्दा जला दिये गये। स्त्री और बच्चों तक को नहीं छोड़ा गया। एक इतिहासकार लिखता है कि "विधर्मियों यानी सरासीनों को हुक्म दिया गया कि वे अपनी नफ़ीस पोशाक छोड़ दें और अपने विजेताओं के हैट और ब्रिचेज़ (एक तरह का चुस्त पायजामा) को पहनाना शुरू कर दें। अपनी

हो गई। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, एशिया में इस सभ्यता का अन्त इससे भी पहले हो चुका था। इस सभ्यता ने कई देशों और संस्कृतियों पर अपना असर डाला और अपनी कितनी ही बढ़िया यादगारें संसार में छोड़ गईं। लेकिन आगे वह फिर अपने पैरों पर खड़ी न हो सकी।

सरासीनों के चले जाने के बाद, फर्डीनेण्ड और आइज़ाबेला के शासन में स्पेन की ताक़त बढ़ती गई। कुछ ही दिनों बाद, अमेरिका का पता लग जाने की वजह से, गहरा माल इसके हाथ लगा और कुछ समय के लिए स्पेन योरप में सबसे ज्यादा शक्तिशाली देश हो गया। इसके सामने दूसरे राष्ट्र अपना सिर झुकाते थे लेकिन उसका पतन भी तेज़ी के साथ हुआ और बहुत जल्द ही उसका महत्व नष्ट हो गया। जब योरप के दूसरे देश उन्नति करते रहे, स्पेन अपनी जगह पर निश्चल रहा और मध्ययुग के सपने देखता रहा। उसे यह पता नहीं था कि तबसे दुनिया बहुत बदल गई थी।

लेन पूल नाम के एक अंग्रेज़ इतिहासकार ने स्पेन के सरासीनों के बारे में लिखा है—"सदियों तक स्पेन सभ्यता का केन्द्र—कला, विज्ञान, विद्या और सुसंस्कृत विवेक का केन्द्र रहा है। इतने दिनों तक योरप का कोई दूसरा देश मूरों के इस सुन्दर राज्य के बराबर नहीं पहुँच पाया था। फर्डीनेण्ड और आइज़ाबेला की थोड़े दिनों की चमक-दमक और चार्ल्स का साम्राज्य मूरों के स्थायी बड़प्पन को नहीं पासका। मूरों को खदेड़ दिया गया; कुछ दिनों तक ईसाई स्पेन चाँद की तरह, उधार ली हुई रोशनी से चमकता रहा। इसके बाद ग्रहण आया और उस ग्रहण के अंधेरे में स्पेन आज तक पड़ा सड़ रहा है। मूरों की सच्ची यादगार हमें स्पेन की ऊसर और उजाड़ जगहों में दिखाई देती है, जहाँ अरब लोग अपने ज़माने में अंगूर, जैतून और अनाज की लहलहाती फ़सलें पैदा करते थे। जहां अरबों के ज़माने में, बुद्धि और विद्या फूलती-फलती थी, वहां आज मूर्खों और अज्ञानियों का निवास है। सारी क़ौम में मुर्दनी छागई है और लोग नीचे जारहे हैं, और क़ौमों के मुक़ाबिले इनका पाया बहुत नीचा हो गया है और ये इतने ज़लील हो गये हैं जितना इन्हें होना चाहिए। क्या ये बातें मूरों की सच्ची यादगार नहीं हैं?"

इतिहास-लेखक का निर्णय कठोर है। सालभर हुए, स्पेन में एक क्रान्ति हुई और वहाँ का राजा गद्दी से उतार दिया गया। अब वहाँ पर प्रजातंत्र राज्य है। सम्भव है, यह नवजात प्रजातंत्र पहले से अच्छा काम करे और स्पेन को फिर से दूसरे देशों की बराबरी में ले आवे।

: ६२ :

'क्रूसेड' अर्थात् ईसाइयों के 'धर्म-युद्ध'

१९ जून, १९३२

अपने हाल के एक ख़त में मैंने तुम्हें बताया था कि पोप और उसकी चर्च कौंसिल ने मुसलमानों से जेरुसलम छीनने के लिए कैसे धर्म-युद्ध की घोषणा की। सेलजूक़ तुर्कों की बढ़ती हुई ताक़त से योरप भयभीत हो गया था; ख़ास कर कुस्तुन्तुनिया की सरकार, जो साफ़-साफ़ ख़तरे में पड़गई थी। जेरुसलम और फ़िलस्तीन के ईसाई यात्रियों पर तुर्कों के अत्याचार की कहानियों ने योरप में उत्तेजना पैदा करदी थी और लोग ग़ुस्से से भर गये थे। इसलिए 'धार्मिक युद्ध' की घोषणा करदी गई। पोप और चर्च ने योरप के सारे ईसाइयों से अपील की कि वे 'पवित्र' नगर के उद्धार के लिए आगे बढ़ें।

इस तरह १०९५ ई० से ये 'क्रूसेड' या धर्म-युद्ध शुरू हुए और डेढ़ सौ बरसों से ज्यादा समय तक ईसाई धर्म और इस्लाम में, सलेब (क्रास) और हिलाल (अर्धचन्द्र) में लड़ाई जारी रही। बीच-बीच में काफ़ी वक़्त तक लड़ाई रुकी भी रहती थी, लेकिन युद्ध की अवस्था बराबर बनी रही। ईसाई जिहादियों के दल के दल युद्ध करने के लिए और ज्यादातर उस 'पवित्र' देश में मरने के लिए जाते रहे। इन लम्बी लड़ाइयों से ईसाई जिहादियों को कोई ख़ास फ़ायदा नहीं पहुँचा। कुछ समय के लिए जेरुसलम ईसाई जिहादियों के हाथ में चला गया था। लेकिन बाद में फिर वह तुर्कों के हाथ में आगया और उन्हींके अधिकार में बना रहा। इस धार्मिक युद्ध का एक ख़ास नतीजा यह हुआ कि लाखों ईसाईयों और मुसलमानों को मुसीबतें झेलनी पडीं और मौत के घाट उतरना पड़ा। एशिया और फ़िलस्तीन की जमीन इन्सान के ख़ून से रंग गई।

इन दिनों बग़दाद के साम्राज्य की क्या हालत थी? अभीतक उसके ऊपर अब्बासी ख़लीफ़ाओं का ही अधिकार था। वे अभीतक ख़लीफ़ा अर्थात् मुसलमानों के सेनापति (अमीरुल मोमनीन) कहलाते थे। लेकिन वे सिर्फ़ नाम के ही ख़लीफ़ा थे; उनके हाथ में कोई ताक़त न थी। हम देख चुके हैं कि उनका साम्राज्य टुकडे-टुकडे हो गया और सूबे के हाकिम कैसे स्वतंत्र हो गये। ग़ज़नी के महमूद ने, जो एक शक्तिशाली बादशाह था और जिसने कई बार हिन्दुस्तान पर चढ़ाई की थी, ख़लीफ़ा को धमकी दी थी कि अगर वह उसकी मर्ज़ी के मुताबिक़ काम न करेगा तो नतीजा उसके हक़ में अच्छा न होगा। ख़ास बग़दाद में भी असली मालिक तुर्क ही थे।

इनके बाद तुर्कों की, 'सेलजूक़' नाम की, दूसरी शाखा आई। उन्होंने जल्दी ही अपनी ताकत बढ़ाली। वे आगे फैलते गये और कुस्तुन्तुनिया को भी जीत लिया। लेकिन खलीफ़ा खलीफ़ा ही बना रहा, हालांकि उसके हाथ में कोई राजनीतिक ताक़त नहीं थी। उसने सेलजूक़ सरदारों को सुलतान की उपाधि दी और ये सुलतान ही राज्य करने लगे। इसलिए धर्म-युद्ध में भाग लेनेवाले ईसाईयों को इन्हीं सेलजूक़ सुलतानों और उनके अनुयायियों से लड़ना पड़ता था।

योरप में इन धर्म-युद्धों की वजह से ईसाई राज्यों में सामूहिकता की भावना बढ़ी; और ग़ैर-ईसाइयों के ख़िलाफ़ सब ईसाई एक हैं और उनकी अपनी एक दुनिया है, यह ख़याल पैदा हुआ। सारे योरप का एक ही ध्येय और विचार था और वह यह कि विधर्मियों के हाथों से 'पवित्र' देश का उद्धार होना चाहिए। इस एक भावना ने जनता में उत्साह पैदा कर दिया था और इस महान् कार्य के लिए सैकडों आदमियों ने अपना घर-बार और धन-दौलत त्याग दी। इनमें बहुत से ऊँचे भावों से प्रेरित होकर गये थे लेकिन बहुत से तो पोप के इस वादे की लालच से भी गये थे, कि अगर वे वहां गये तो उनके पाप माफ़ कर दिये जायँगे। इन धर्म-युद्धों के दूसरे भी कितने ही कारण थे। रोम हमेशा के लिए कुस्तुन्तुनिया का मालिक बन जाना चाहता था। तुम्हें याद होगा कि कुस्तुन्तुनिया का धर्म रोम के धर्म से अलग था। कुस्तुन्तुनिया वाले अपने को कट्टर सम्प्रदाय (Orthodox Church) के ईसाई कहते थे। वे रोमन सम्प्रदाय से बडी नफ़रत करते थे और पोप को नया रईस समझते थे। पोप चाहता था कि कुस्तुन्तुनिया का यह घमंड चूर करदें और उस पर अपना क़ब्ज़ा कर लें। विधर्मी तुर्कों के ख़िलाफ़, धर्म-युद्ध की आड़ में, वह अपनी इस पुरानी लालसा को पूरा करना चाहता था। यह है राजनीतिज्ञों का और उन लोगों का ढंग जो अपने को शासन-विद्या में कुशल मानते हैं। रोम और कुस्तुन्तुनिया का यह संघर्ष याद रखने लायक़ है क्योंकि क्रूसेड के बीच में यह बराबर उठता और फूलता-फलता रहा।

इन क्रूसेडों के होने का दूसरा कारण व्यापारिक था। व्यापारी लोग, ख़ास कर वेनिस और जिनेवा के उन्नतिशील बन्दरगाहों के सौदागर, इन युद्धों को चाहते थे क्योंकि इनको व्यापार में बहुत घाटा हो रहा था; जिसकी वजह यह थी कि सेलजूक़ तुर्कों ने पूरब के कई तिजारती रास्तों को बन्द कर दिया था।

लेकिन आम जनता इन कारणों के बारे में कुछ नहीं जानती थी। किसी ने ये बातें नहीं बताई थीं। राजनीतिज्ञ अकसर असली कारणों को छिपा रखते हैं और धर्म, न्याय, सत्य और इसी तरह की और बातों के बारे में बढ़-चढ़कर बातें किया

करते हैं। क्रूसेडों के समय में यही हाल था और यही हाल आज दिन भी है। उस समय जनता उन पर विश्वास कर लेती थी और आज भी आम लोगों का ज्यादातर हिस्सा राजनीतिज्ञों की चिकनी-चुपडी बातों पर भरोसा कर लेता है।

इन कारणों से क्रूसेडों में शामिल होने के लिए बहुत-से आदमी इकट्ठा होगये। उनमें बहुत-से अच्छे और ईमानदार आदमी थे लेकिन बहुत-से ऐसे थे जो सच्चाई से बहुत दूर थे। लूट-खसोट की उम्मीद ने ही उन्हें लड़ाई की तरफ खींचा था। क्रूसेड की फ़ौज पवित्र और धार्मिक आदमियों और ऐसे लुच्चों की ताज्जुब भरी मिलावट थी जो हर तरह के जुर्म कर सकते थे। असल में इन क्रूसेडों में हिस्सा लेने वाले सैनिकों में से बहुत-से, जो अपनी समझ में एक ऊँचे आदर्श के लिए बाहर निकलते थे, बडे घृणित और ज़लील अपराधों के दोषी भी रहे हैं। उनमें से बहुत-से लूट-मार में ऐसे डूबे कि फ़िलस्तीन के पास तक नहीं पहुँचे। कुछने यहूदियों को रास्ते में मारना शुरू कर दिया, और कुछने अपने ईसाई भाइयों को ही क़त्ल कर डाला। कभी-कभी ऐसा हुआ कि जिन-जिन ईसाई देशों से होकर ये सैनिक गुजरे वहां के ईसाई किसानों ने इनके जुल्मों और बुरे कामों से ऊबकर बग़ावत कर दी, इनको मार डाला और निकाल दिया।

(आखिर में बुइलों के गाडफ्रे नामक एक नार्मन के नेतृत्व में क्रूसेड की सेना फ़िलस्तीन पहुँची। इसने जेरुसलम को जीत लिया। इसके बाद एक हफ़्ते तक मार-काट मची रही। हजारों लोग क़त्ल कर दिये गये। इस घटना को अपनी आँखों से देखनेवाले एक फ़्रांसीसी ने लिखा है——"मसजिद को बरसाती के नीचे घुटने तक खून था, और घोडे की लगाम तक पहुँच जाता था।" गाडफ्रे जेरुसलम का बादशाह हो गया।)

(७० बरस बाद मिस्र के सुलतान सलादीन ने जेरुसलम को ईसाइयों से फ़िर छीन लिया। इससे योरप की जनता फिर उत्तेजित हो उठी और कई क्रूसेड, एक के बाद दूसरे, होते रहे। इस बार क्रूसेड की सेना के साथ योरप के कई बादशाह और सम्राट् खुद आये थे। लेकिन उन्हें सफलता न मिली। वे इस बात पर आपस में ही झगड़ने लगे कि बड़ा कौन है और आगे कौन चले। वे एक दूसरे से ईर्षा रखते थे। क्रूसेडों की कहानी बेरहमी, नीचता, छल-कपट, भयंकर अपराधों और निर्दयतापूर्ण लड़ाइयों से भरी हुई है। लेकिन कभी-कभी इस भयानक लड़ाई में भी मानव प्रकृति की अच्छाइयों की झलक दिखाई पडी, और ऐसी घटनायें भी हुईं जब दुश्मनों ने एक दूसरे के प्रति उदारता और बहादुराना भलमंसाहत का बर्ताव किया। फ़िलस्तीन में बाहर से आये हुए इन राजाओं में इंग्लैण्ड का राजा भी था। वह 'रिचर्ड दी लायन

हारटेड' यानी 'शेरदिल रिचर्ड' कहलाता था और अपनी शारीरिक शक्ति और बहादुरी के लिए मशहूर था। सलादीन भी बड़ा लड़ाका था और अपनी बहादुरी के लिए मशहूर था। जो क्रूसेडर सलादीन से लड़ने आये थे वे भी उसकी बहादुराना शराफ़त के क़ायल थे। एक कहानी मशहूर है कि एक बार रिचर्ड बहुत बीमार पड़ गया, उसे लू लग गई थी। जब सलादीन को इसकी ख़बर हुई तो उसने उसके पास पहाड़ से ताजा बर्फ़ भिजवाने का इन्तज़ाम कर दिया। आजकल की तरह उन दिनों पानी को जमा करके नक़ली बर्फ़ नहीं बनाई जा सकती थी, इसलिए पहाड़ों से बर्फ़ का इन्तज़ाम तेज़ दूतों के ज़रिये किया जाता था।

क्रूसेडों के समय की बहुत-सी कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। शायद तुमने वाल्टर स्कॉट[1] का 'टेलिसमैन' नामक उपन्यास पढ़ा होगा।

क्रूसेडों का एक जत्था कुस्तुन्तुनिया भी पहुँचा और उसने उसपर क़ब्ज़ा कर लिया। इस सेना ने पूर्वी यूनानी साम्राज्य के यूनानी साम्राट् को भगा दिया और वहाँ एक लैटिन राज्य और रोमन कैथलिक चर्च की स्थापना की। इन लोगों ने कुस्तुन्तुनिया में भी भयंकर मारकाट की और शहर का एक हिस्सा जला भी दिया। लेकिन यह लैटिन राज्य ज्यादा दिनों तक क़ायम न रह सका। पूर्वी रोमन साम्राज्य के यूनानी सुस्त होते हुए भी लौट आये और ५० साल के अन्दर ही उन्होंने लैटिनों को मार भगाया। कुस्तुन्तुनिया का पूर्वी साम्राज्य दो सौ बरसों तक और बना रहा। १४५३ ई० में तुर्कों नें हमेशा के लिए उसे ख़तम कर दिया।

क्रूसेडों द्वारा कुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा कर लेना पोप और रोमन कैथलिक सम्प्रदाय की इस इच्छा को ज़ाहिर करता है कि वे वहाँ अपना प्रभाव फैलाना चाहते थे। हालांकि मुसीबत के समय इस शहर के यूनानियों ने तुर्कों के ख़िलाफ़ रोम से सहायता माँगी थी, फिर भी उन्होंने क्रूसेडों में लड़ने आनेवालों की कुछ भी मदद नहीं की। वे उनसे बड़ी नफ़रत करते थे।

लेकिन इन क्रूसेडों में सबसे भयानक क्रूसेड वह था जो 'बच्चों का क्रूसेड' के नाम से मशहूर है। बहुत बड़ी तादाद में बच्चों ने, ख़ासकर फ्रान्स के और कुछ जर्मनी के बच्चों ने जोश में आकर अपने घरों को छोड़ दिया और फ़िलस्तीन जाने का निश्चय कर लिया। उनमेंसे कितने ही रास्ते में मर गये और बहुत से खो भी गये, फिर भी ज्यादातर बच्चे मार्सेलीज़ पहुँचे। वहाँ उनके साथ धोखा किया गया और

१. स्कॉट—यह अँग्रेज़ी भाषा के बहुत मशहूर उपन्यास-लेखक और कवि हो गये हैं। यह स्कॉटलैण्ड के रहनेवाले थे। सन् १७७१ में उनका जन्म हुआ था और सन् १८३२ में यह मरे। इन्होंने अँग्रेज़ी में बहुत से उपन्यास लिखे हैं।

बदमाशों ने उनके उत्साह से बेजा फायदा उठाया। 'पवित्र' देश तक पहुँचा देने की झूठी लालच देकर गुलामों का व्यापार करनेवाले, इन्हें अपने जहाजों में बिठाकर मिस्र ले गये और वहाँ ग़ुलाम के रूप में बेंच दिया।

फ़िलस्तीन से लौटते समय इंग्लैंड का बादशाह पूर्वी योरप में दुश्मनों द्वारा पकड़ लिया गया और उसको छुड़ाने के लिए एक बहुत बडी रक़म देनी पडी थी। फ़ान्स का एक राजा तो फ़िलस्तीन ही में गिरफ्तार कर लिया गया था और वह भी काफ़ी रक़म देने पर छूटा। पवित्र रोमन साम्राज्य का एक सम्राट् फ़्रेडरिक बारबरोसा फ़िलस्तीन की एक नदी में डूबकर मर गया। इधर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, क्रूसेडों का आकर्षण कम होता गया। जनता उनसे ऊब गई। जेरुसलम मुसलमानों के ही हाथ में बना रहा। योरप के राजा और योरप की जनता अब जेरुसलम छीनने में और अधिक धन बरबाद करने के लिए तैयार न थी। इसके बाद जेरुसलम ७०० बरस तक मुसलमानों के पास ही रहा। थोडे ही दिन पहले, पिछले यूरोपीय महायुद्ध के समय, १९१८ ई० में एक अंग्रेज़ सेनापति ने इसे तुर्कों के हाथ से छीन लिया।

बाद के क्रूसेडों में एक क्रूसेड बडा ही दिलचस्प और ग़ैरमामूली था। असल में इसे पुराने अर्थ में तो क्रूसेड कहना ही न चाहिए। पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट् फ़्रेडरिक द्वितीय फ़िलस्तीन गया। वहाँ युद्ध करने के बजाय उसने मिस्र के सुलतान से भेंट की और लड़ने के बजाय उससे समझौता कर लिया। फ़्रेडरिक असाधारण व्यक्ति था। ऐसे ज़माने में, जब ज्यादातर राजा मुश्किल से पढ़े-लिखे होते थे, यह कई ज़बानें, जिनमें अरबी भी शामिल थी, जानता था। वह 'जगत का आश्चर्य' (The Wonder of the World) के नाम से मशहूर था। पोप की वह बिल्कुल परवाह नहीं करता था और इसलिए पोप ने उसे बहिष्कृत भी कर दिया था, लेकिन इस बहिष्कार का असर उसपर कुछ न पड़ा।

इस तरह क्रूसेडों का कोई ख़ास नतीजा न निकला। हाँ, इस बराबर होती रहनेवाली लड़ाई ने सेलजूक़ तुर्कों को ज़रूर कमज़ोर कर दिया। इससे भी बडी बात यह हुई कि सामन्त-प्रथा ने सेलजूक़ साम्राज्य की नींव को खोखला कर दिया। बडे-बडे सामन्त और सरदार अपने को स्वतंत्र समझने लगे। वे एक दूसरे से लड़ते-भिड़ते रहते थे। कभी-कभी वे एक दूसरे के ख़िलाफ़ ईसाई राज्यों तक की सहायता माँगा करते थे। कभी-कभी क्रूसेडर तुर्कों की इस अन्दरूनी कमज़ोरी से फ़ायदा भी उठा लेते थे। लेकिन जब कभी सलादीन की तरह कोई दबंग सुलतान होता था, इन सब की एक नहीं चलती थी।

क्रूसेडों के बारे में एक दूसरा मत भी है। यह नया मत जी० एम० ट्रेवेलियन

नाम के एक अंग्रेज इतिहासकार ने, जिन्हें तुम गैरीबाल्डी वाली किताबों के लेखक के रूप में जानती हो, पेश किया है। यह मत बड़ा दिलचस्प है। ट्रेवेलियन कहता है: "योरप में फिरसे जिन्दा हो रही शक्ति के अन्दर पूर्व के प्रति जो आम आकर्षण था, क्रूसेड उसीके धार्मिक और सैनिक रूप थे। क्रूसेडों से योरप को यह पुरस्कार नहीं मिला कि (ईसा की) 'पवित्र समाधि' (Holy Sepulchre) स्थाई तौर पर स्वतंत्र हो गई हो या ईसाई जगत् में असली एकता आगई हो। क्रूसेड की कहानी तो इन बातों का एक लम्बा प्रतिवाद है। क्रूसेड से इन सब बातों की बजाय योरप में ललित कला, कारीगरी, विलासिता, विज्ञान तथा बौद्धिक कौतूहल आया और इनमें से एक-एक चीज़ ऐसी है जिससे साधु पीटर को सख़्त नफ़रत होती।"

सलादीन ११९३ ई० में मर गया, और पुराने अरब साम्राज्य का जो कुछ भाग बच रहा था वह भी धीरे-धीरे छिन्न-भिन्न हो गया। पश्चिमी एशिया के कई हिस्सों में, जो छोटे-छोटे सामान्त-सरदारों के क़ब्ज़े में थे, उपद्रव होनें लगे। अन्तिम क्रूसेड १२४९ ई० हुआ। उसका नेता फ्रांस का राजा लुई नवम था। वह हार गया और क़ैद कर लिया गया।

इसी बीच पूर्वी और मध्य एशिया में बडी-बडी घटनायें घट रही थीं। चंगेज़ ख़ाँ नामक ताक़तवर सरदार के नीचे मंगोल आगे बढ़ रहे थे और पूर्वी क्षितिज को काली घटा की तरह घेर रहे थे। क्रूसेडर और ग़ैर-क्रूसेडर यानी ईसाई और मुसलमान दोनों ही इस हमले को इस समय डर की निगाह से देखते थे। चंगेज़ और मंगोलों का जिक्र हम दूसरे ख़त में करेंगे।

इस ख़त को ख़तम करने के पहले मैं एक और बात का जिक्र कर देना चाहता हूँ। मध्य एशिया के बुख़ारा नामक शहर में एक बहुत बड़ा अरब चिकित्सक रहता था जो एशिया और योरप दोनों में मशहूर था, उसका नाम इब्न सीना था लेकिन योरप में वह 'एवीसेना' के नाम से ज्यादा मशहूर हुआ। वह 'चिकित्सकों का राजा' कहा जाता था। क्रूसेडों के शुरू होने के पहले, १०३७ ई० में वह मर गया।

मैंने इब्न सीना के नाम का ज़िक्र उसकी शोहरत की वजह से किया है। लेकिन इस बात को याद रखो कि इस सारे ज़माने में, यहाँ तक कि जब अरब साम्राज्य गिर रहा था तब भी अरबी सभ्यता पश्चिमी और मध्य एशिया के एक हिस्से में क़ायम रही। क्रूसेडरों से लड़ते रहने पर भी सलादीन ने बहुत-से कालेज और अस्पताल बनवाये; लेकिन यह सभ्यता जल्दी से एकाएक और पूरी तरह गिरकर ख़तम हो जानेवाली थी, क्योंकि पूरब से मंगोल बढ़े आरहे थे।

: ६३ :

क्रूसेडों के समय का योरप

२० जून, १९३२

अपने पिछले ख़त में हम लोगों ने ग्यारहवीं, बारहवीं और तेरहवीं सदियों में इस्लाम और ईसाई धर्म का कुछ संघर्ष देखा था। ईसाई धर्म की भावना योरप में उठ रही थी। इस समय तक ईसाई मत सारे योरप में फैल चुका था। पूर्वी योरप की रूसी वग़ैरा स्लाव जातियाँ सबसे पीछे ईसाई धर्म में शामिल हुईं। एक रोचक कथा प्रचलित है—मैं कह नहीं सकता कि कहाँ तक सच है—कि रूस की पुरानी जनता ने ईसाई होने के पहले अपने पुराने धर्म को बदलने और एक नये धर्म को मंज़ूर करने के सवाल पर बहस की थी। जिन दो नये धर्मों के बारे में उन्होंने सुन रक्खा था, वे ईसाई और इस्लाम धर्म थे। इसलिए, आजकल की प्रथा के अनुसार, रूसियों ने ऐसे देशों में, जहाँ इन मतों के माननेवाले लोग थे, अपने प्रतिनिधियों को भेजा ताकि वे उनकी जांच करें और उनपर अपनी रिपोर्ट पेश करें। कहते हैं कि यह प्रतिनिधि-मण्डल पहले पश्चिमी एशिया की कुछ जगहों पर गया, जहाँ इस्लाम धर्म का प्रचार था। बाद में वे लोग कुस्तुन्तुनिया गये। कुस्तुन्तुनिया में उन्होंने जो कुछ देखा उससे वे चकित हो गये। कट्टर ईसाई सम्प्रदाय की प्रार्थना बडी शान-शौक़त के साथ होती थी। उसके साथ भजन और बढ़िया गाने भी होते थे; धूप और खुशबूदार चीज़ें जला करती थीं। पादरी और पुजारी भड़कीली पोशाक पहनकर आते थे। उत्तर के सीधे-सादे और अर्धसभ्य आदमियों पर इस पूजन-विधि का बहुत असर पड़ा। इस्लाम में इतनी तड़क-भड़क की कोई बात नहीं थी। इसलिए उन्होंने ईसाई धर्म के पक्ष में अपना फ़ैसला किया और वैसी ही रिपोर्ट अपने राजा के सामने भी पेश की। इस पर रूस के राजा और प्रजा ने ईसाई धर्म इख़्तियार कर लिया और चूंकि उन्होंने ईसाई धर्म को कुस्तुन्तुनिया से लिया था इसलिए वे रोम के नहीं बल्कि 'कट्टर यूनानी सम्प्रदाय' के अनुयायी हुए। बाद में भी, किसी समय, रूस ने रोम के पोप को अपना धर्म-गुरु नहीं माना।

रूस का यह धर्म-परिवर्तन क्रूसेडों के बहुत पहले हो चुका था। कहा जाता है कि एक समय बलगेरिया वाले मुसलमान हो जाने के लिए कुछ-कुछ तैयार होरहे थे लेकिन बाद में कुस्तुन्तुनिया का आकर्षण ज्यादा ज़ोरदार साबित हुआ। उनके राजा ने एक बिज़ेण्टाइन राजकुमारी से शादी करली और ईसाई होगया। (तुम्हें याद होगा कि बिज़ेण्टियम कुस्तुन्तुनिया का पुराना नाम था) इसी तरह दूसरे पडोसी मुल्कों ने भी ईसाई धर्म को स्वीकार करलिया था।

इन क्रूसेडों के समय योरप में क्या हो रहा था ? तुम देख ही चुकी हो कि इन धर्म-युद्धों में शामिल होने के लिए कुछ राजा-महाराजा फ़िलस्तीन गये और उनमें के कई वहाँ आफ़त में फँस गये। उधर पोप रोम में बैठा-बैठा विधर्मी तुर्कों के ख़िलाफ़ 'पवित्र युद्ध' के लिए आज्ञा और अपीलें जारी कर रहा था। यही दिन थे, जब पोप की ताक़त अपनी चोटी पर पहुंच चुकी थी। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि किस तरह एक घमण्डी सम्राट माफ़ी माँगने को पोप के सामने हाजिर होने के लिए कनोजा में घण्टों बर्फ़ में नंगे पांव खड़ा रहा था। (यह वही पोप ग्रेगोरी सप्तम था जिसका पहला नाम 'हिल्डेब्रैण्ड' था और जिसने पोपों के चुनाव का एक नया तरीक़ा जारी किया था। रोमन कैथलिक जगत् में 'कार्डिनल' सबसे बडे पुरोहित या पादरी होते थे। इनका एक संघ बनाया गया जिसे 'पवित्र संघ' (Holy College) कहते थे। यही संघ या कॉलेज एक नये पोप को चुनता था। यह तरीक़ा १०५९ ई० में चलाया गया था और, कुछ फेर-बदल के साथ, आजतक चला आरहा है। अभी तक यह क़ायदा है कि जब पोप मर जाता है तब कार्डिनलों का संघ या कॉलेज तुरन्त इकट्ठा होता है और कार्डिनल लोग एक तालाबंद कमरे में बैठ जाते हैं और जब तक चुनाव ख़तम नहीं हो जाता तब तक न कोई उस कमरे के भीतर जासकता है और न कोई उससे बाहर ही निकल सकता है। अक्सर चुनाव में सहमत न हो सकने के कारण वे घण्टों उसी बन्द कमरे में बैठे रहते हैं, बाहर नहीं आसकते। इसलिए अन्त में वे एकमत होनें के लिए मजबूर हो जाते हैं। चुनाव होते ही एक खिड़की में रोशनी कीजाती है ताकि बाहर खडी और इंतज़ार करती हुई भीड़ को मालूम हो जाय कि चुनाव होगया है।)

(जिस तरह पोप चुना जाता था, उसी तरह 'पवित्र रोमन साम्राज्य' का सम्राट भी चुना जाने लगा। लेकिन सम्राट बड़े-बडे सामन्तों और सरदारों द्वारा चुना जाता था। इनकी तादाद सिर्फ़ सात थी और वे 'निर्वाचक सरदार' (Elector Princes) कहलाते थे। इस तरह सम्राट एक ही कुटम्ब से नहीं आसकता था। लेकिन व्यवहार में अकसर एक ही राज-वंश इन चुनावों में बहुत दिनों तक हावी रहता था।)

इस तरह हम देखते हैं कि बारहवीं और तेरहवीं सदियों में होहेन्स्टाफ़ेन वंश का साम्राज्य पर सबसे ज्यादा असर था। मेरा ख़याल है कि होहेन्स्टाफ़ेन जर्मनी में कोई छोटा क़स्बा या गाँव है। शुरू में यह कुटुम्ब इसी गाँव से आया था। इसलिए उसने इस गांव के नाम पर ही अपना नाम रखलिया। होहेन्स्टाफ़ेन वंश का फ़्रेडरिक प्रथम ११५२ ई० में सम्राट हुआ। वह आमतौर से फ़्रेडरिक बार्बरोसा कहलाता है। यह वही फ़्रेडरिक बार्बरोसा था जो क्रूसेड के रास्ते में डूब गया था।

कहा जाता है कि रोमन साम्राज्य के इतिहास में फ़्रेडरिक बार्बरोसा की हुकूमत सब से शानदार थी। जर्मन जनता तो उसे बहुत दिनों से अपना आदर्श वीर और अर्द्ध-दैवी व्यक्ति समझती रही है और उसके बारे में कितनी ही कहानियाँ प्रचलित हो गई हैं। लोगों का कहना है कि वह किसी पहाड़ की गहरी गुफ़ा में सोरहा है और जब समय आयगा, वह उठेगा और अपने देश-वासियों को बचाने के लिए बाहर निकलेगा।

फ़्रेडरिक बार्बरोसा बहुत दिनों तक पोप के ख़िलाफ़ लड़ता रहा लेकिन अन्त में पोप की ही विजय हुई और फ़्रेडरिक को उसके सामने सिर झुकाना पड़ा। वह एक निरंकुश राजा था। उसके बड़े सामन्त और सरदार उसे बहुत तंग करते थे। इटली में बड़े-बड़े नगर बढ़ रहे थे; फ़्रेडरिक ने उनकी आज़ादी को कुचलने की कोशिश की लेकिन वह सफल नहीं हुआ। जर्मनी में भी, ख़ास कर नदियों के किनारे, बड़े-बड़े नगर कोलोन, हैम्बर्ग, फ़्रैंकफ़ुर्त वग़ैरा बस रहे थे। लेकिन इनके बारे में फ़्रेडरिक की नीति दूसरी थी। उसने स्वतंत्र जर्मन नगरों की मदद की। उसने सामन्तों और सरदारों की ताक़त को कम करने के लिए ही ऐसा किया था।

मैंने तुम्हें कई मौक़ों पर यह बताया है कि राज-धर्म के बारे में प्राचीन भारतीय धारणा क्या थी? प्राचीन आर्य-काल से अशोक के समय तक, और 'अर्थ-शास्त्र' के समय से शुक्राचार्य के 'नीति-सार' तक, यह बात बार-बार कही गई है कि राजा को लोकमत के सामने सिर झुकाना चाहिए। लोकमत ही सब से बड़ा मालिक है। भारतीय सिद्धान्त यही था हालाँकि दूसरे देशों के राजाओं की तरह हिन्दुस्तान के राजा भी, अमल में, काफ़ी स्वेच्छाचारी होते थे। इस प्राचीन भारतीय धारणा की तुलना प्राचीन योरप के ख़यालात से करो। उन दिनों के वकीलों की राय में सम्राट को सब अधिकार प्राप्त थे; उसकी मर्ज़ी ही क़ानून थी। उनका कहना था कि "सम्राट पृथ्वी पर क़ानून का ज़िन्दा पुतला है।" फ़्रेडरिक बार्बरोसा ख़ुद कहता था कि "जनता का यह काम नहीं है कि वह राजाओं को क़ानून बतावे बल्कि उसका काम तो राजाओं का हुक्म मानना है।"

इस सम्बन्ध में चीनी धारणा से भी मिलान करो। वहाँ सम्राट या राजा 'स्वर्ग का पुत्र' जैसी बड़ी-बड़ी उपाधियों से पुकारा जाता था लेकिन इससे हमें धोखे में न पड़ना चाहिए। सिद्धान्त में चीन के सम्राट की हालत योरप के सर्वशक्तिमान सम्राट की हालत से बहुत भिन्न थी। एक प्राचीन चीनी लेखक, मेंग-त्सी ने लिखा है कि "जनता देश का सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण अंग है; उसके बाद ज़मीन और फ़सल के देवताओं का दर्जा है और सबसे कम महत्व शासक या राजा का है।"

इस तरह योरप में सम्राट पृथ्वी पर सर्वशक्तिमान माना जाता था। इसी ख़याल से राजाओं के ईश्वरीय अधिकारों की भावना पैदा हुई है। अमल में तो वह भी सर्वशक्तिमान होने से बहुत दूर था। उसके सामन्त और सरदार बडे फ़सादी होते थे और धीरे-धीरे हम देखते हैं कि नगरों में नये-नये वर्ग पैदा होने लगे थे, जो शासन में हिस्सेदार होने का दावा करते थे। दूसरी ओर पोप भी पृथ्वी पर सर्व-शक्तिमान होने का दावा करता था। और फिर जहाँ दो सर्वशक्तिमान मिलें, वहाँ उपद्रव होना लाज़िमी ही है।

फ़्रेडरिक बार्बरोसा के पोते का नाम भी फ़्रेडरिक था। वह थोडी ही उम्र में सम्राट बन गया और उसका नाम फ्रेडरिक द्वितीय पड़ा। यह वही आदमी था जिसे 'स्टूपर मुंडी' या 'संसार का आश्चर्य' कहा गया है। और जिसने फ़िलस्तीन जाकर मिस्र के सुल्तान के साथ दोस्ताना बातचीत की थी। अपने दादा की तरह यह भी पोप को सताता रहा और उसकी आज्ञा का निरादर करता रहा। पोप ने बदला लेने के लिए उसे समाज से बाहर निकाल दिया। यह पोपों का एक पुराना और कारगर हथियार थ। लेकिन अब इसमें कुछ-कुछ ज़ंग लग रहा था। फ़्रेडरिक द्वितीय पोप के ग़ुस्से की बिलकुल परवाह नहीं करता था और साथ ही दुनिया भी बदल रही थी। फ़्रेडरिक ने योरप के सब राजाओं के पास लम्बे-लम्बे ख़त भेजे जिनमें उसने बताया कि "राजाओं के मामले में पोप को दख़ल देने की कोई ज़रूरत नहीं है। पोप का काम धार्मिक और अध्यात्मिक मामलों की देख-रेख करना है; राजनीति में दखल देना नहीं।" उसने पादरियों की बेईमानी और बुराइयाँ भी बताई। वाद-विवाद में फ़्रेडरिक ने पोपों को पछाड़ दिया। उसके ये पत्र बडे रोचक हैं क्योंकि वे पोप और सम्राट के बीच की पुरानी शक्ति में आधुनिक भावना के पैदा होने के पहले नमूने हैं।

फ़्रेडरिक द्वितीय धार्मिक मामलों में बड़ा उदार था और अरबी और यहूदी फ़िलासफ़र उसके दरबार में आया करते थे। कहा जाता है कि फ़्रेडरिक के ही ज़रिये अरबी हिन्दसा और अलजब्रा (बीजगणित) योरप में पहुँचे थे। तुम्हें याद होगा कि ये असल में हिन्दुस्तान से अरब में गये थे। फ़्रेडरिक ने ही नेपल्स का विश्वविद्यालय क़ायम किया और सैलर्नो के प्राचीन विश्वविद्यालय में चिकित्साशास्त्र के एक बड़ा स्कूल क़ायम किया था।

फ़्रेडरिक द्वितीय ने १२१२ ई० से १२५० ई० तक राज्य किया। उसकी मृत्यु के बाद साम्राज्य पर से होहेन्स्टाफेन वंश का अधिकार जाता रहा। सच तो यह है कि उसकी मृत्यु के बाद क़रीब-क़रीब साम्राज्य का ही ख़ात्मा हो गया। इटली अलग हो गया; जर्मनी के टुकडे-टुकडे हो गये और वहाँ कई सालों तक भया-

नक उपद्रव मचा रहा। लुटेरे सरदार और डाकू लूट-मार करते थे और उनको कोई रोकनेवाला नहीं था। जर्मन जाति के लिए पवित्र रोमन साम्राज्य का भारी बोझ सहना बहुत मुश्किल था। फ़्रांस और इंग्लैंड में वहां के बादशाह अपनी स्थिति मज़बूत कर रहे थे और बड़े-बड़े उपद्रवी सामान्तों और सरदारों को दबा रहे थे जर्मनी का बादशाह ही सम्राट भी था और वह पोप या इटली के शहरों से ही लड़ने में इतना फँसा रहता था कि अपने यहाँ के सरदारों को दबा नहीं सकता था। जर्मनी को जरूर यह सन्देह-जनक अभिमान हो सकता था कि उसका राजा सम्राट होता है। लेकिन इसके लिए उसे यह क़ीमत चुकानी पड़ी कि उसके घर में ख़ुद कमज़ोरी और फूट पैदा हो गई। जर्मनी के एक और संयुक्त-राष्ट्र होने के पहले ही फ़्रांस और इंग्लैंड ताक़तवर राष्ट्र होगये थे। सैकड़ों बरसों तक जर्मनी में छोटे-छोटे राजा होते रहे। अभी केवल साठ ही वर्ष हुए जबकि जर्मनी संगठित हुआ लेकिन फिर भी छोटे-छोटे राजा और राजकुमार तो बने ही रहे। १९१४ के महायुद्ध ने इस झुण्ड को ख़त्म कर दिया।

फ़्रेडरिक द्वितीय के बाद जर्मनी में इतना उपद्रव मचा रहा कि २३ साल तक कोई सम्राट् ही नहीं चुना गया। १२७३ ई० में हैप्सबर्ग का काउण्ट, रूडाल्फ़ सम्राट् चुना गया। अब हैप्सबर्ग का राजवंश सामने आया, जो राज्य के साथ अन्त तक चिपका रहा लेकिन सन् १९१४ के महायुद्ध में यह राजवंश भी, शासक की हैसियत से, ख़तम हो गया। युद्ध के समय आस्ट्रिया-हँगरी का सम्राट् हैप्सबर्ग घराने का था, जिसका नाम फ़्रांसिस जोज़ेफ़ था। वह बहुत बुड्ढा था। राजगद्दी पर बैठे हुए उसे ६० बरस से ज्यादा हो चुके थे। फ़्रैंज़ फर्डिनेण्ड उसका भतीजा और राजगद्दी का उत्तराधिकारी था; जो १९१४ में बोसनिया (बालकन प्रायद्वीप) के सिराजेवो नाम की जगह पर अपती पत्नी के साथ क़त्ल कर दिया गया था। इसी क़त्ल के करण महायुद्ध हुआ। इस युद्ध ने बहुत-सी चीज़ों का ख़ात्मा कर दिया, जिसमें हैप्सबर्ग का पुराना राजवंश भी शामिल है।

पवित्र रोमन साम्राज्य के बारे में इतना काफ़ी है। इस साम्राज्य के पश्चिम में फ़्रांस और इंग्लैंड अक्सर आपस में लड़ा करते थे, लेकिन इससे ज्यादा अपने ही बड़े-बड़े सरदारों से उनकी लड़ाई चलती रहती थी। जर्मनी के सम्राट् या राजा की बनिस्बत फ़्रांस और इंग्लैंड के बादशाह अपने सरदारों से लड़ने में ज्यादा सफल हुए; इसलिए इंग्लैंड और फ़्रांस और राष्ट्रों के मुक़ाबिले में ज्यादा संयुक्त देश होते गये और उनकी एकता ने उन्हें ताक़त दी।

इसी समय इँग्लैंड में एक घटना हुई जिसके बारे में शायद तुमने पढ़ा होगा।

घटना यह थी कि सन् १२१५ ई० में किंग जॉन ने मैग्नाचार्टा पर दस्तख़त किये। जॉन अपने भाई रिचर्ड, जो 'लायन हार्टेड' यानी 'शेर दिल' कहा जाता है, के बाद गद्दी पर बैठा था। वह बड़ा लालची था लेकिन साथ ही साथ कमज़ोर भी था। उसने हरेक आदमी को अपना दुश्मन बना लेने में ही कामयाबी हासिल की थी। इंग्लैण्ड के सरदारों ने उसे टेम्स नदी के 'रनीमीड' नाम के टापू में घेर लिया और तलवार के ज़ोर से डरा-धमकाकर मैग्नाचार्टा या 'महान् घोषणापत्र' पर उससे जबरदस्ती दस्तख़त करवा लिये। मैग्नाचार्टा में उसने यह प्रतिज्ञा की थी कि वह इंग्लैंड के सरदारों और जनता के कुछ अधिकारों का आदर करेगा। इंग्लैंड की राजनैतिक स्वतंत्रता की लम्बी लड़ाई में इसे पहला क़दम कहना चाहिए। इस प्रतिज्ञा-पत्र में यह ख़ास तौर पर लिखा गया था कि राजा किसी व्यापारी की सम्पत्ति या उसकी आज़ादी में बिना उसके बराबरवालों की राय के दख़ल नहीं दे सकता। इसी बात से जूरी की प्रथा निकली है। जिसमें अपने बराबर के लोग फ़ैसला देते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि इंग्लैंड में बहुत पहले ही राजा के इख़्तियारात कम कर दिये गये। पवित्र रोमन साम्राज्य में शासक की सर्व शक्तिमानता का जो सिद्धान्त प्रचलित था, वह उस समय भी इंग्लैंड में नहीं माना जाता था।

यह एक मज़ेदार बात है कि यह क़ानून, जो इंग्लैंड में आज से ७०० बरस पहले बनाया गया था, १९३२ ई० में भी ब्रिटिश राज्य में, हिन्दुस्तान पर लागू नहीं है। यहाँ आज भी एक व्यक्ति, वाइसराय, को आर्डीनेन्स निकालने, क़ानून बनाने और जनता से उसकी सम्पत्ति और स्वाधीनता छीन लेने के हक़ हासिल हैं।

मैग्नाचार्टा के बनने के थोडे ही दिनों बाद इंग्लैंड में एक और बडी बात हुई। धीरे-धीरे एक राष्ट्रीय सभा का विकास होने लगा जिमें मुख़्तलिफ़ शहरों से सरदार और नागरिक भेजे जाते थे। यह अंग्रेज़ी पार्लमेण्ट की शुरूआत थी। नायकों (नाइटों) और नागरिकों की सभा 'कामन्स हाउस' (साधारण सभा) बन गई और बडे-बडे अमीरों, सरदारों और पादरियों से मिलकर 'लार्डस् हाउस' (सरदार-सभा) बनी। शुरू-शुरू में इस पार्लमेण्ट को नाममात्र के अधिकार थें पर धीरे-धीरे इसकी ताक़त बढ़ती गई। अख़ीर में तो राजा और पार्लमेण्ट में इस बात पर खींचतान होने लगी कि उन दोनों में कौन बडा है ? इस झगडे में राजा की जान गई और पार्लमेण्ट निर्विवाद रूप से इंग्लैंड की मालिक हो गई। लेकिन यह ताक़त पार्लमेण्ट को क़रीब ४०० बरसों बाद—अर्थात् सत्रहवीं सदी में जाकर मिली।

फ्रांस में भी एक कौंसिल थी जो 'तीन रियासतों की कौंसिल' कही जाती थी। लार्ड, चर्च और जनता, ये ही तीन रियासतें थीं। जब कभी राजा की इच्छा होती थी,

इस कौंसिल की बैठक हुआ करती थी; लेकिन इसकी बैठकें बहुत कम होती थीं और यह अंग्रेज़ी पार्लमेण्ट की तरह अधिकार पाने में सफल न हो सकी। फ़्रांस में भी राजाओं की शक्ति टूटने के पहले एक राजा को अपने सिर से हाथ धोना पड़ा था।

पूरब में अब भी यनानियों का पूर्वी रोमन साम्राज्य क़ायम था। अपनी ज़िंदगी की शुरूआत से ही यह किसी-न-किसी से लड़ाई करता रहा। और अक्सर ऐसा मालूम होता था कि अब ख़तम हो जायगा। फिर भी वह ज़िन्दा रहा। पहले वह उत्तर की बर्बर जातियों से बचा और बाद में मुसलमानों के हमले से भी उसने अपनी जान बचा ली। इस साम्राज्य पर रूसी, बलगेरियन, अरब, या सेलजूक़ के हमले भी हुए; लेकिन ईसाई जिहादियों का हमला सबसे ज्यादा घातक और नुकसानदेह साबित हुआ। इन ईसाई वीरों ने ईसाई कुस्तुन्तुनिया को जितना नुक़सान पहुँचाया, उतना किसी विधर्मी ने नहीं पहुँचाया। इस आफ़त के बुरे असर से साम्राज्य और कुस्तुन्तुनिया का शहर फिर कभी नहीं निकल या पनप सका।

पश्चिमी योरप की दुनिया पूर्वी साम्राज्य के बारे में बिलकुल अनजान थी। वह उसकी बिल्कुल परवाह नहीं करती थी। उसे ईसाईयत की दुनिया का अंग नहीं कहा जासकता। उसकी भाषा यूनानी थी, जबकि पश्चिमी योरप के विद्वानों की भाषा लैटिन थी। असल में देखें तो इस गिरावट के जमाने में भी कुस्तुन्तुनिया में पश्चिम की बनिस्बत कहीं ज्यादा विद्या और ज्ञान-चर्चा थी लेकिन यह विद्या बुढ़ापे की विद्या थी जिसमें कोई ताक़त या नई बातें सोचने और करने का माद्दा नहीं रह गया था। पश्चिम में विद्या कम थी लेकिन वह नई थी और उसमें नई बातें सोचने और करने की ताक़त थी और थोडे ही दिनों बाद यह ताक़त खूबसूरत चीज़ों और रचनाओं के रूप में खिल उठनेवाली थी।

पूर्वी साम्राज्य में, रोम की तरह सम्राट और पोप में सँघर्ष नहीं था। वहाँ सम्राट सर्व-शक्तिमान था और पूरी तरह स्वेच्छाचारी था। किसीकी अज़ादी का सवाल ही नहीं था। राजसिंहासन सबसे ज्यादा ताक़तवर या सबसे ज्यादा सिद्धान्तहीन आदमी के लिए एक भेंट थी। हत्या और कपट से या मारकाट के बल पर लोग राजगद्दी हासिल कर लेते थे और जनता भेड-बकरियों की तरह उनके हुक्मों को मानती रहती थी। उसको इस बात में कोई दिलचस्पी न थी कि कौन उस पर राज्य करता है।

पूर्वी साम्राज्य योरप के फाटक पर एक द्वारपाल की तरह खड़ा था। वह एशियाई हमलों से उसकी रक्षा करता था। कई सौ बरसों तक वह इसमें सफल होता रहा।

कुस्तुन्तुनिया को अरबवाले नहीं लेसके। सेलजूक तुर्क भी, हालांकि वे उसके बहुत नज़दीक पहुँच गये थे, उसे नहीं लेसके। मंगोल भी इसके पास से होते हुए उत्तर रूस की तरफ़ निकल गये। अन्त में उस्मानी तुर्क आये और १४५३ ई० में कुस्तुन्तुनिया का शाही नगर उनके हाथ में आगया। इस नगर के पतन के साथ ही पूर्वी रोमन साम्राज्य का भी ख़ातमा होगया।

: ६४ :

योरप के नगरों का अभ्युदय

२१ जून, १९३२

क्रूसेडों का ज़माना, योरप में, श्रद्धा, सामूहिक आकाँक्षा और विश्वास का ज़माना था। जनता अपनी आये दिन की मुसीबतों से शान्ति पाने के लिए इसी श्रद्धा और विश्वास का सहारा लेती थी। उस समय विज्ञान नहीं था और विद्या भी बहुत कम थी क्योंकि जहाँ विश्वास का बोलबाला हो वहां विज्ञान और विद्या आसानी से फूल-फल नहीं सकते। विद्या और ज्ञान लोगों में सोचने और विचारने की ताक़त पैदा कर देता है और शंका, कौतूहल और तर्क श्रद्धा के लिए कोई अच्छे साथी नहीं हो सकते। विज्ञान का रास्ता परख और खोज का रास्ता है। श्रद्धा का रास्ता यह नहीं है। आगे चलकर हम देखेंगे कि किस तरह यह श्रद्धा कमज़ोर पड़ गई और शंका का उदय हुआ।

लेकिन अभी तो जिस ज़माने का हम ज़िक्र कर रहे हैं, उस समय श्रद्धा का ज़ोर था और रोमन चर्च धर्म में श्रद्धा रखनेवालों का नेता बनकर अक्सर उनको चूसता रहता था। न जाने कितने हज़ार 'भक्त' फ़िलस्तीन में धर्म-युद्ध करने के लिए भेजे गये जो कभी लौट कर नहीं आये। पोप ने योरप की उस ईसाई जनता या समूहों के खिलाफ़ भी क्रूसेड (धर्मयुद्ध) की घोषणा करनी शुरू करदी, जो सब बातों में उसका हुक्म मानने को तैयार नहीं था। पोप और चर्च ने 'डिसपेन्सेशन' और 'इंडलजेन्स' जारी कर या अक्सर उन्हें बेंचकर जनता के अंध-विश्वास का बेजा फ़ायदा उठाया। चर्च के किसी क़ानून या परिपाटी के भंग करने की इजाज़त को 'डिसपेन्सेशन' कहते थे। इस तरह जिन कानूनों को चर्च ख़ुद बनाता था उन्हीं को ख़ास मौकों पर तोड़ने की इजाज़त भी वह दे देता था। एसे नियमों के लिए ज्यादा दिनों तक लोगों के दिलों में इज्ज़त क़ायम नहीं रह सकती। 'इंडलजेंस' इस से भी बदतर चीज़ थी। रोमन चर्च के मुताबिक़ मृत्यु के बाद आत्मा 'परगेटरी'

नामक लोक में जाती हैं जो स्वर्ग और नरक के बीच में है। वहाँ पर इस दुनिया में किये हुए पापों के लिए ये आत्मायें यातना भोगा करती हैं; इसके बाद कहीं ये स्वर्ग को जाती हैं। पोप रुपया लेकर लोगों को अपना प्रतिज्ञा-पत्र दे देता था कि वे 'पेरगेटरी' से बचकर सीधे स्वर्ग को पहुँच जायँगे। इस तरह श्रद्धा के कारण चर्च भोले-भाले लोगों को लूटता था और जिन कामों को वह पाप समझता था उनसे भी पैसा पैदा कर लिया करता था। 'इंडलजेन्स' की बिक्री का रिवाज क्रूसेडों के कुछ दिन बाद शुरू हुआ। इससे बडी बदनामी फैली और बहुत से कारणों में एक कारण यह भी था जिससे लोग रोमन चर्च के ख़िलाफ़ हो गये।)

यह ताज्जुब की बात है कि सीधे-सादे विश्वास और श्रद्धावाले लोग कैसी-कैसी बातें सरलता से मान लेते और सहन कर लेते हैं। यही वजह है कि कई देशों में धर्म एक बहुत बड़ा और बडे फ़ायदे का रोजगार बन गया है। मन्दिरों के पुजारियों को देखो कि वे किस तरह भोले-भाले उपासकों को मूँड़ने की कोशिश करते हैं। गंगा के घाटों पर जाओ; वहाँ तुम देखोगी कि पंडे किस तरह कुछ धार्मिक क्रियाओं को करने से तबतक इन्कार करते हैं, जबतक कि बेचारा ग़रीब देहाती इन्हें भेंट नहीं दे देता। कुटुम्ब में कुछ भी हो--चाहे बच्चा पैदा हुआ हो, शादी हो या ग़मी हो, पुरोहित बीच में ज़रूर आपड़ते हैं और पैसा चाहते हैं।

यह बात हर मज़हब में है, फिर चाहे वह हिन्दू धर्म हो, चाहे ईसाई धर्म हो, चाहे इस्लाम हो या पारसी। हर मज़हब का, श्रद्धालुओं के विश्वास से, पैसा पैदा करने का अपना अलग तरीक़ा होता है। हिन्दू धर्म का तरीक़ा बिलकुल साफ़ और खुला हुआ है। कहा जाता है कि इस्लाम में पुजारी या पुरोहित नहीं होते और पुराने ज़माने में अपने अनुयायियों को धार्मिक लूट-खसोट से बचाने में इस बात से थोडी-बहुत मदद भी मिली। लेकिन बाद में ख़ास तरह के व्यक्ति और वर्ग पैदा हो गये जो अपने को धर्म के मामलों की ख़ासतौर पर जानकारी रखनेवाले कहने लगे जैसे आलिम, मौलवी, मुल्ला वग़ैरा। इन लोगों ने सीधे-सादे दीनदार मुसलमानों पर अपना रोब जमा लिया और उनको मूँड़ना शुरू कर दिया। जहाँ पर लम्बी दाढ़ी, चोटी, तिलक, फ़क़ीरी बाना या संन्यासी का गेरुआ या पीला कपड़ा पवित्रता की सनद समझा जाय, वहाँ जनता पर धाक जमाना कोई मुश्किल काम नहीं है।

यह देखकर हैरत होती है कि आदमी चतुर न होने पर भी धर्म के मामले में अंधविश्वास की वजह से कितनी दूर तक जाने को तैयार हो जाता है (शायद तुमने आग़ाखां का नाम सुना होगा। वह मुसलमानों के एक फिरक़े के प्रधान हैं और उनके बहुत से मालदार अनुयायी हैं। कहा जाता है कि पुराने ज़माने के पोपों की तरह

वह आज भी धन लेकर 'इंडलजेन्स' या वैसी ही कोई चीज़ जारी किया करते हैं। लेकिन मालूम होता है कि आग़ाखां पोप से भी आगे बढ़ गये हैं। वह सचमुच फरिश्ता जिब्राईल या उसीके समान परलोक के किसी दूसरे ऊँचे अधिकारी के नाम एक पत्र लिख देते हैं जिसमें पत्र ले जानेवाले के साथ ख़ास रिआयत करने का अनुरोध होता है। इस क़िस्म के पत्र के लिए निस्सन्देह बहुत बडी रक़म देनी पड़ती है। मेरा ख़याल है कि जब आदमी मर जाता है तब यह ख़त उसके कफ़न में रख दिया जाता है। जब ऐसी बातों के होते हुए भी धर्म की हस्ती बनी है तब समझना चाहिए कि उसका और श्रद्धा का लोगों पर कैसा अजीब असर है। फिर भी आग़ाखां ख़ुद एक बहुत शरीफ़ आदमी हैं, और ज्यादातर पेरिस और लन्दन में रहा करते हैं और घुड़दौड़ के बडे शौक़ीन हैं।

अगर तुम अमेरिका जाओ, जो आज-कल सबसे आगे बढ़ा हुआ मुल्क है, तो तुम वहाँ भी देखोगी कि धर्म एक बहुत बडा रोज़गार बन गया है, जो जनता के शोषण पर जीरहा है।

मैं मध्य युग और श्रद्धा के ज़मानें से बहुत दूर भटक गया हूँ। हमें उस ज़माने की तरफ़ फिर वापस चलना चाहिए। हम इस श्रद्धा को स्पष्ट और रचनात्मक रूप धारण करते हुए पाते हैं। ग्यारहवीं-बारहवीं सदियों में निर्माण का एक बड़ा ऊँचा ज़माना आया। इसमें सारे पश्चिमी योरप में बडे-बडे गिरजे बन गये। एक ऐसी शिल्पकला का जन्म हुआ जैसी योरप में इसके पहले कभी नहीं दिखाई पडी थी। कारीगरी और हिकमत से गिरजों की भारी-भारी छतों का दबाव और बोझ इमारत के बाहर बने बडे-बडे पुश्तों पर बाँट दिया जाता था। गिरजे के भीतर पतले खम्भों को देखकर ताज्जुब होता है जो ज़ाहिरा तौर पर ऊपर के भारी बोझ को सम्भाले हुए मालूम होते हैं। अरबी निर्माण-शैली की तरह इन गिरजों में भी नुकीले मेहराब होते थे। सारी इमारत के ऊपर आसमान तक पहुँचनेवाली एक मीनार होती थी। निर्माण की इस शैली को गॉथिक शैली कहते हैं जो योरप में फूली-फली। इसमें आश्चर्यजनक सुन्दरता थी और ऐसा मलूम होता है कि यह एक ऊँची उठती हुई श्रद्धा और आकांक्षा की प्रतिनिधि थी। सचमुच यह श्रद्धा के ज़माने की नुमाइन्दा थी। ऐसी इमारतें केवल वही शिल्पकार और कारीगर बना सकते हैं जिन्हें अपने काम से प्रेम हो और जो एक बडे मक़सद को पूरा करने के काम में आपस में सहयोग करें।

पश्चिमी योरप में इस गॉथिक शैली का विकास एक अदभुत् बात है। अव्यवस्था, अराजकता, अज्ञान और असहिष्णुता के कीचड़ से यह एक ख़ूबसूरत चीज़ पैदा

हुई--जैसे स्वर्ग की ओर उठती हुई प्रार्थना हो। फ़्रांस, उत्तरी इटली, जर्मनी और इंग्लैंड में गॉथिक शैली के बड़े-बड़े गिरजे क़रीब-क़रीब एक ही साथ बने। यह कोई ठीक-ठीक नहीं जानता कि उनकी शुरूआत कैसे हुई; और न कोई उनके बनानेवालों के नाम ही जानता है। ये रचनायें जनता की सम्मिलित प्रेरणा और परिश्रम को ज़ाहिर करती हैं, किसी एक शिल्पकार की नहीं। इन गिरजों की दूसरी ख़ासियत उनकी खिड़कियों के क़लईदार रंगीन शीशे थे। इन खिड़कियों पर ख़ूबसूरत रंगों में अच्छी-अच्छी तस्वीरें बनी होती थीं और उनमें से होकर जो रोशनी आती वह गिरजों से पैदा होने वाले पवित्र और आतंक के भाव को बढ़ा देती थी।

थोड़े दिन हुए मैंने अपने एक पत्र में योरप का मुक़ाबिला एशिया से किया था। उस वक़्त हमने देखा था कि एशिया योरप से संस्कृति और सभ्यता में कहीं ज्यादा बढ़ा हुआ था। फिर भी हिन्दुस्तान में रचनात्मक काम बहुत ज्यादा नहीं होरहा था। मैं यह भी कह चुका हूँ कि नई बातें सोचना और पैदा करना ही ज़िंदगी की निशानी है। अर्धसभ्य योरप से पैदा होनेवाली गॉथिक शिल्पकला इस बात का सबूत है कि उसमें काफ़ी ज़िंदगी मौजूद थी। बदअमनी और सभ्यता की पिछड़ी हुई स्थिति में पैदा होनेवाली कठिनाइयों के होते हुए भी यह ज़िन्दगी फूट निकली और उसने अपने को ज़ाहिर करने के लिए रास्ता ढूंढ़ लिया। गॉथिक इमारतें इस बात को ज़ाहिर करती हैं। आगे चलकर हम देखेंगे कि यही ज़िन्दगी का प्रवाह चित्रकला, स्थापत्य (पत्थर से बननेवाले मकानों और मूर्तियों की) कला और साहस के ख़तरनाक कामों के प्रति प्रेम वग़ैरा में भी फैल गया।

तुमने इन गॉथिक गिरजों में से कुछ को देखा है। मुझे मालूम नहीं कि तुम्हें उनकी याद है या नहीं। तुमने जर्मनी में कोलोन का सुन्दर गिरजा देखा था। इटली के मिलन शहर में एक बहुत ख़ूबसूरत गॉथिक गिरजा है। एक सुन्दर गिरजा फ़्रांस में चारत्रे नामक जगह पर भी है। लेकिन मैं सबके नाम नहीं गिना सकता। ये गॉथिक गिरजे जर्मनी, फ़्रांस, इंग्लैण्ड और उत्तरी इटली में फैले हुए हैं। यह एक ताज्जुब की बात है कि ख़ास रोम में गॉथिक शैली की कोई मार्के की इमारत नहीं है।

ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों के इस बड़े निर्माण-युग में ग़ैर-गॉथिक शैली के गिरजे भी बनाये गये जैसे पेरिस में नात्रदेम और शायद वेनिस का सेन्ट मार्क। सेन्ट मार्क, जिसे तुमने देखा है, बिज़ेण्टियन शैली का एक नमूना है। इसमें पच्चीकारी का बहुत ही अच्छा काम है।

श्रद्धा का ज़माना ढल गया और इसके साथ गिरजों का बनना भी कम हो गया। आदमियों के ख़याल दूसरी तरफ़ फिर गये। लोग अपने व्यापार, रोज़गार

और शहरी ज़िंदगी पर ग़ौर करने लगे। लोगों ने गिरजों की जगह शहर की दीवारें और दूसरी इमारतें बनवानी शुरू कीं। इस तरह हम पन्द्रहवीं सदी की शुरूआत से सुन्दर गॉथिक टाउनहाल या पंचायती हाल, उत्तर और पश्चिम योरप भर में फैले हुए देखते हैं। लन्दन में पार्लमेण्ट की इमारतें गॉथिक शैली की हैं लेकिन मैं यह नहीं जानता कि वे कब बनीं। इतना मुझे ख़याल है कि पहले की गॉथिक इमारत जल गई थी और उसके बाद गॉथिक शैली पर ही एक दूसरी इमारत बनाई गई।

ग्यारहवीं और बारहवीं सदी के ये बड़े-बड़े गॉथिक गिरजे शहरों और क़स्बों में ही बने। पुराने शहर ऊपर उठ रहे थे और नये तरक़्क़ी कर रहे थे। सारे योरप में तब्दीली होरही थी और सभी जगह शहरी ज़िंदगी बाढ़ पर थी। रोमन साम्राज्य के पुराने ज़माने में भूमध्य सागर के किनारे चारों तरफ़ बड़े-बड़े शहर थे लेकिन जब रोम और यूनानी रोमन साम्राज्य का पतन हुआ, ये शहर भी उजड़ गये। सिवाय कुस्तुन्तुनिया के मुश्किल से योरप में कोई बड़ा शहर पाया जाता था। हाँ, स्पेन की बात जुदी थी जहाँ अरबों की हुकूमत थी। एशिया में हिन्दुस्तान, चीन और अरबी दुनिया में बड़े-बड़े शहर इस ज़माने में मौजूद थे लेकिन योरप में यह बात नहीं थी। मालूम होता है, सभ्यता और संस्कृति साथ-साथ चलते हैं और योरप में रोमन व्यवस्था के टूट जाने के बहुत दिनों बाद तक इनमें से कोई चीज़ नहीं पाई जाती थी।

लेकिन अब नागरिक जीवन का फिर से उत्थान हो रहा था। इटली में ख़ास तौर से ये शहर बढ़ रहे थे। सम्राट और पवित्र रोमन साम्राज्य की आँखों में ये खटकते थे क्योंकि ये अपने कुछ अधिकारों और आज़ादी से हाथ धोने को तैयार नहीं थे। इटली में और दूसरी जगहों में ये शहर व्यापारी और मध्य वर्ग की बढ़ती हुई ताक़त के सुबूत थे।

वेनिस, जो एड्रियाटिक समुद्र में सबसे ज़बर्दस्त था, आज़ाद प्रजातंत्र होगया था। इसके बीच फैली इसकी चक्करदार नहरों में समुद्र का पानी आता है और निकल जाता है, जिससे आज यह बड़ा ख़ूबसूरत हो गया है; लेकिन कहते हैं कि शहर बनने और बसने के पहले यहाँ दलदल और तराई की ज़मीन थी। जब एटिला हूण तलवार और आग लेकर एक्यूलिया में आया तो कुछ लोग भागकर वेनिस की तराई में छिप गये। इन्हीं लोगों ने ख़ुद वेनिस का शहर बसाया और चूंकि यह पूर्वी रोमन साम्राज्य और पश्चिमी रोमन साम्राज्य के बीच में पड़ता था इसलिए आज़ाद बने रहे। हिन्दुस्तान से और पूरब के दूसरे मुल्कों के साथ वेनिस का बड़ा व्यापार था। और इसके साथ दौलत भी आती थी। वेनिस ने अपनी जल-सेना बनाली और एक बड़ी

समुद्री ताक़त बन गया। यह अमीरों का प्रजातंत्र था, जिसमें एक अध्यक्ष या राष्ट्रपति हुआ करता था। उसे डॉजे कहते थे। जब नेपोलियन वेनिस में विजेता की हैसियत से १७९७ ई० में दाख़िल हुआ तबतक यह प्रजातंत्र क़ायम रहा। कहते हैं कि जिस दिन नेपोलियन वहाँ दाख़िल हुआ, वहाँ का डॉजे, जो बहुत बुड्ढा आदमी था, मर गया। वह वेनिस का आख़िरी डॉजे था।

(इटली की दूसरी तरफ़ जिनेवा था। यह भी समुद्री मुसाफ़िरों का एक बड़ा व्यापारी शहर था और वेनिस से होड़ करता था। इन दोनों शहरों के बीच में बोलोना का विश्व-विद्यालय था और पीसा, वेरोना और फ्लोरेंस के नगर थे। यह वही फ्लोरेंस था जहाँ बहुत जल्द बड़े-बड़े कलाकार पैदा होने वाले थे और जो मशहूर मेडिसी राजघराने की मातहती में तेज़ी से चमकनेवाला था। उत्तर इटली में मिलन का शहर एक महत्वपूर्ण औद्योगिक केन्द्र हो गया था और दक्षिण में नेपल्स भी बढ़ रहा था।)

फ़्रांस में पेरिस, जिसे ह्यू कैपेट ने अपनी राजधानी बनाई थी, फ़्रांस की तरक्क़ी के साथ बढ़ता जाता था। पेरिस हमेशा से ही फ़्रांस का मर्मस्थल और आत्मा का केन्द्र रहा है। दूसरे देशों में दूसरी राजधानियाँ हुई हैं लेकिन पिछले एक हज़ार वर्ष में पेरिस फ्रांस के जीवन पर जितना हावी रहा है, उतनी कोई दूसरी राजधानी किसी दूसरे देश पर नहीं रही। फ्रांस में दूसरे शहर भी मशहूर हुए—जैसे लायन्स, मार्सेलीज़ (यह बहुत पुराना बन्दरगाह था) आर्लियन्स, बोर्डियो बुलोन वग़ैरा।

इटली की तरह जर्मनी में भी स्वतंत्र शहरों की तरक्क़ी, ख़ास तौरपर १३ वीं और १४ वीं सदी में, ध्यान देने के क़ाबिल है। इन शहरों की आबादी बढ़ रही थी और ज्यों-ज्यों उनकी ताक़त और दौलत बढ़ती गई, वे बहादुर होते गये और उन्होंने सामन्तों से लड़ाई शुरू करदी। सम्राट भी इनको प्रोत्साहन देता था क्योंकि वह इनके ज़रिये बड़े-बड़े सरदारों को दबाये रखना चाहता था। इन शहरों ने मिलकर अपनी हिफ़ाज़त के लिए बड़ी-बड़ी व्यापारिक पंचायतें और संघ बना लिये। कभी-कभी ये संघ सरदारों के संघ के ख़िलाफ़ युद्ध की घोषणा कर देते थे। जर्मनी के उन्नतिशील नगरों में से कुछ के नाम ये हैं—हैम्बर्ग, ब्रीमेन, कोलोन फ्रैंकफ़ुर्त, म्यूनिच, डैनज़िग, न्यूरेम्बर्ग, ब्रेसलाउ।

निदरलैंड्स में, जिसे आज हालैंड और बेलजियम कहते हैं, एण्टवर्प, ब्रूजेज़ और घेण्ट नाम के शहर थे; ये व्यापारिक शहर थे और इनका व्यापार बराबर बढ़ रहा था। इंग्लैण्ड में लन्दन तो था लेकिन वह योरप के महत्वपूर्ण शहरों से तिजारत, दौलत या विस्तार में मुक़ाबिला नहीं कर सकता था। आक्सफर्ड और केम्ब्रिज के विश्वविद्यालय विद्या के केन्द्र की हैसियत से महत्वपूर्ण बनते जाते थे। योरप के

पूरब में वियेना का शहर था, जो योरप के सबसे पुराने शहरों में से एक है। रूस में मास्को, कीफ़ और नोवगोरॉड बडे शहर थे।

ये नये शहर, या इनमें से ज्यादातर शहर, पुराने तरीक़े के शाही नगरों से बिल्कुल अलग चीज थे। योरप के इन बढ़नेवाले शहरों के महत्व की वजह कोई सम्राट या बादशाह नहीं था बल्कि वह तिजारत थी, जिनपर इनका क़ब्जा था। इसलिए इनकी ताक़त बडे सामन्तों से नहीं थी, बल्कि व्यापारीवर्ग से थी। ये व्यापारिक शहर कहलाते थे। शहरों का तरक़्क़ी करना गोया मध्यमवर्ग यानी बुर्जुआवर्ग का तरक़्क़ी करना है। यह मध्यमवर्ग, जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, अपनी ताक़त बढ़ाता रहा। यहाँ तक कि इसने बादशाहों और सरदारों को ललकार दिया और उनसे हुकूमत छीन ली। लेकिन यह बात तो उस जमाने के बहुत दिनों बाद हुई है, जिसपर हम इस वक़्त विचार कर रहे हैं।

मैंने अभी कहा है कि शहर और सभ्यता साथ-साथ चलते हैं। शहरों की तरक़्क़ी से विद्या और आजादी की भावना बढ़ती है। जो लोग देहातों में रहते हैं वे बहुत दूर-दूर बसे होते हैं और अक्सर अन्ध विश्वासी हुआ करते हैं। वे प्रकृति की दया पर निर्भर करते हैं। उन्हें बडी सख़्त मेहनत करनी पड़ती है; बहुत कम फ़ुरसत मिलती है और अपने मालिकों के हुक्म के खिलाफ़ चलने की हिम्मत नहीं होती। शहरों में लोग एक बहुत बडी तादाद में साथ-साथ रहते हैं। इन्हें ज्यादा सभ्य जिन्दगी बिताने का, पढ़ने का, बहस-मुबाहिसा करने, और आलोचना करने का, और विचार करने का मौक़ा मिलता है।

इस तरह राजनैतिक हुकूमत के ख़िलाफ़, जिसके नुमाइन्दे सरदार और सामन्त होते थे और आध्यात्मिक सत्ता के ख़िलाफ़, जिसका नुमाइन्दा चर्च था, आजादी की भावना बढ़ने लगी। श्रद्धा और विश्वास का जमाना ख़तम हुआ और शंका की शुरूआत हुई। अब लोग चर्च और पोप की हुकूमत को आँख बन्द करके मानने को तैयार नहीं थे। हमने देखा है कि सम्राट् फ़्रेडरिक द्वितीय ने पोप के साथ कैसा सलूक किया था। आगे हम देखेंगे कि मुख़ालफ़त की यह भावना किस तरह बढ़ती गई।

बारहवीं सदी के बाद विद्या की भी फिर से तरक़्क़ी होने लगी। योरप में पढ़े-लिखों की आम जबान लैटिन थी और लोग ज्ञान की तलाश में एक विश्वविद्यालय से दूसरे को जाया करते थे। दान्ते अलीघेरी, जो इटली का बड़ा कवि हुआ है, १२६५ ई० में पैदा हुआ था। पेट्रार्क, जो इटली का दूसरा बड़ा कवि था, १३०४ ई० में पैदा हुआ था। थोडे दिन बाद चासर, जो प्रसिद्ध अंग्रेज कवियों में सबसे पहले हुआ, इंग्लैण्ड में पैदा हुआ।

लेकिन विद्या की पुनर्जागृति से ज्यादा दिलचस्प चीज़ वैज्ञानिक भावना की हलकी शुरूआत थी। बाद के वर्षों में योरप में यह भावना बहुत बढ़ी। तुम्हें याद होगा, मैंने तुम्हें बताया था कि अरबों में यह भावना पाई जाती थी और इन लोगों ने इसके मुताबिक़ काम भी किया था। मध्ययुग में, योरप में, प्रयोग और खुले दिमाग़ साथ ऐसे अन्वेषण की भावना का जिन्दा रह सकना मुश्किल था। पादरियों का गिरोह इसको नहीं सह सकता था। लेकिन पादरी समुदाय के बावजूद यह भावना प्रकट होने लगी। योरप में इस वक्त एक अंग्रेज़ ऐसा हुआ, जिसमें सबसे पहले यह वैज्ञानिक भावना ज़ाहिर हुई। उसका नाम रोज़र बेकन था। वह अक्सफर्ड में तेरहवीं सदी में रहता था।

: ६५ :

हिन्दुस्तान पर अफ़ग़ानों का हमला

२३ जून, १९३२

कल तुम्हारे ख़त में ख़लल पड़ गया। जब लिखने बैठा तो यह भूल गया कि मैं जेल में हूँ और मेरे चारों तरफ़ क्या-क्या चीजें हैं। ख़यालों की तेज रफ़्तार के साथ मैं मध्य युग की दुनिया में पहुँच गया लेकिन उससे ज्यादा तेजी के साथ उस ज़माने से मौजूदा दुनिया में खींच लाया गया और मुझे, किसी क़दर तकलीफ़ के साथ, यह बात याद दिला दी गई कि मैं जेल में हूँ। मुझे यह बताया गया कि ऊपर से हुक्म आया है कि मम्मी, और दिद्दाजी[1] के साथ महीने भर तक मुलाक़ात न होने पायगी। मुलाक़ात बंद होने की कोई वजह मुझे नहीं बताई गई। क़ैदी को वजह क्यों बताई जाय ? दस दिन से वे देहरादून में ठहरी हुई हैं और मुलाक़ात की अगली बारी का इन्तिज़ार कर रही थीं पर अब उनका ठहरना बिलकुल बेकार होगया और अब उन्हें वापस जाना होगा। यह है वह शराफ़त, जो हमारे साथ की जाती है। ख़ैर ! हमें परवाह न करनी चाहिए। ये तो रोज़मर्रा की बातें हैं। क़ैदखाना बहरहाल क़ैदखाना है। हमें यह न भूल जाना चाहिए।

इस कठोर जागरण के बाद मेरे लिए यह मुमकिन नहीं था कि मैं वर्तमान को भूलकर गुज़रे हुए ज़माने का ख़याल करता। लेकिन रात भर के आराम के बाद मैं अब ठीक हूँ; इसलिए फिर से शुरू करता हूँ।

अब हम हिन्दुस्तान में वापस लौट आवेंगे। बहुत दिनों तक हम इस मुल्क से दूर रहे। मध्य युग के अँधेरे से बाहर निकलने लिए जिस वक्त योरप कोशिश कर रहा

१. इन्दिरा की दादी श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू

था, जब योरप के लोग सामन्त प्रथा, चारों तरफ़ की बद-इंतज़ामी और कुशासन के बोझ में पिसे जारहे थे, तब हिन्दुस्तान की क्या हालत थी ? जब पोप और सम्राट् एक-दूसरे से लड़ रहे थे, योरप के मुल्क एक शक्ल पकड़ते जारहे थे और क्रूसेडों के दरमियान इस्लाम और ईसाई प्रभुत्व से लिए लड़ रहे थे, तब हिन्दुस्तान में क्या हो रहा था ?

हम मध्य युग की शुरूआत के हिन्दुस्तान की एक झलक देख चुके हैं। हमने देखा है कि सुलतान महमूद उत्तर पश्चिम ग़ज़नी से उत्तरी हिन्दुस्तान के हरे-भरे मैदानों पर कैसे टूटा, लूटमार की और बरबादी करके वापस चला गया। महमूद के हमलों ने, हालाँकि वे बड़े जबर्दस्त थे, हिन्दुस्तान में कोई बड़ी या ज्यादा दिनों तक टिकनेवाली तब्दीली पैदा नहीं की। इनसे मुल्क को, खासकर उत्तर को, बड़ा धक्का पहुँचा। महमूद ग़ज़नवी ने बहुत-सी खूबसूरत इमारतें और यादगारें नष्ट कर डालीं। लेकिन उसके (ग़ज़नी) सम्राज्य में सिर्फ़ सिन्ध और पंजाब का कुछ हिस्सा बाक़ी रहा। उत्तर के बाक़ी हिस्से बहुत जल्द निकल गये। दक्षिण और बंगाल से तो इन हमलों का कोई सम्बन्ध ही न था। महमूद के बाद डेढ़ सौ से भी ज्यादा वर्षों तक इस्लाम या मुसलमानों की विजय की बाढ़ हिन्दुस्तान में कुछ भी आगे न बढ़ सकी।

बारहवीं सदी के अख़ीर में, ११८६ ई० के क़रीब, उत्तर-पश्चिम से हमलों की एक नई लहर आई। अफ़ग़ानिस्तान में एक नया सरदार पैदा हुआ। उसने ग़ज़नी पर क़ब्जा कर लिया और ग़ज़नवी साम्राज्य को ख़तम कर दिया। उसका नाम शहाबुद्दीन गोरी (गोर नाम के अफ़ग़ानिस्तान के एक छोटे-से क़सबे का रहनेवाला) था। शहाबुद्दीन लाहौर आया और उसपर क़ब्जा कर लिया। इसके बाद वह दिल्ली आया। पृथ्वीराज चौहान दिल्ली का राजा था; उसके झंडे के नीचे उत्तर हिन्दुस्तान के बहुत-से सरदार शहाबुद्दीन के ख़िलाफ़ लड़े और उसको बुरी तरह हराया लेकिन यह हार थोड़े ही दिनों की रही। शहाबुद्दीन दूसरे साल बहुत बड़ी फ़ौज लेकर वापस आया और इसबार उसने पृथ्वीराज को हराकर क़त्ल कर दिया।

पृथ्वीराज अभी तक एक लोकप्रिय वीर नायक समझा जाता है और उसके बारे में बहुत से गाने और क़िस्से मिलते हैं। इनमें से सबसे मशहूर क़िस्सा कन्नौज के राजा जयचन्द की लड़की को भगा लेजाने का है। लेकिन इस घटना ने पृथ्वीराज को बहुत नुक़सान पहुँचाया। इसकी वजह से उसके कितने ही सूरमा अनुयायियों की जानें गईं और एक शक्तिशाली राजा की दुश्मनी उसने मोल लेली। इसकी वजह से आपसी झगड़ों की शुरुआत हुई और हमला करनेवाले के लिए जीतना आसान हो गया।

इस तरह ११९२ ई० में शहाबुद्दीन ने पहली बार बड़ी विजय हासिल की, जिसकी वजह से हिन्दुस्तान में मुसलमानों की हकूमत क़ायम हुई। धीरे-धीरे हमला करने वाले पूरब और दक्षिण की तरफ़ फैलने लगे। आगे के १५० वर्षों के अन्दर, यानी १३४० तक, मुसलमानों की हुकूमत दक्षिण के बड़े भाग पर फैल चुकी थी। इसके बाद दक्षिण में यह सिकुड़ने लगी। नये-नये राज्य पैदा हुए—कुछ मुसलमान और कुछ हिन्दू। इन सब में विजयनगर का हिन्दू साम्राज्य नोट करने लायक़ है। दो सौ बरसों तक इस्लाम, एक हद तक असफल होता रहा। फिर जब सोलहवीं सदी के बीच में अकबर महान् आया तब कहीं यह क़रीब-क़रीब सारे हिन्दुस्तान में फैल गया।

मुसलमान हमला करनेवालों के हिन्दुस्तान में आने की वजह से बहुत से परिणाम हुए। याद रखो कि ये हमला करनेवाले अफ़ग़ान थे। ये अरब, ईरानी या पश्चिमी एशिया के उच्च कोटि के सभ्य मुसलमान न थे। सभ्यता के ख़याल से अफ़ग़ान हिन्दुस्तानियों से पीछे थे लेकिन ताक़त और जोश से भरे हुए थे और उस वक़्त के हिन्दुस्तान के मुक़ाबिले में कहीं ज्यादा जानदार थे। हिन्दुस्तान गहरे दलदल में फँसा हुआ था। उसमें तब्दीली और तरक्क़ी का ख़याल बहुत कम रह गया था। वह पुराने तरीक़ों और रिवाजों से चिपका हुआ था और उनमें सुधार करने या उन्हें बेहतर बनाने की कोशिश नहीं करता था। युद्ध के तौर-तरीक़ों में भी हिन्दुस्तान पीछे था और अफ़ग़ान लोग कहीं अच्छे ढंग पर संगठित थे। इसलिए साहस और त्याग के होने पर भी पुराना हिन्दुस्तान मुसलमान आक्रमणकारियों के सामने झुक गया।

ये मुसलमान बड़े ख़ौफ़नाक और ज़ालिम थे। ये एक कठोर देश से आये थे, जहाँ 'मुलायमियत' की ज्यादा क़द्र नहीं थी, इसके अलावा दूसरी बात यह थी कि वे एक नये और हारे हुए मुल्क में थे और चारों तरफ़ दुश्मनों से घिरे हुए थे। ये दुश्मन किसी वक़्त बलवा कर सकते थे। इन लोगों को बलवे का डर बराबर रहा होगा और इस डर की वजह से अक्सर आदमी भयंकर और ज़ालिम बन जाता है। इसलिए जनता को पस्त कर देने के लिए क़त्लेआम होते थे। इसमें एक मुसलमान के एक हिन्दू को उसके मज़हब के लिए क़त्ल करने की कोई बात न थी; वहाँ तो हारे हुए हिन्दुस्तानियों की आत्मा को जीते हुए विदेशियों द्वारा कुचल दिये जाने का सवाल था। इन ज़ुल्मों और बेरहमी से भरे हुए कामों का ख़ुलासा करते वक़्त हमेशा मज़हब का नाम लिया जाता है। लेकिन यह ग़लत बात है। कभी-कभी मज़हब का बहाना ज़रूर लिया जाता था, लेकिन असली वजह राजनैतिक और सामाजिक थी। मध्य एशिया के लोग, जिन्होंने हिन्दुस्तान पर हमला किया, अपने मुल्क में भी वैसे ही बेरहम और ख़ूँख़ार होते थे और मुसलमान

होने के बहुत पहले भी वे इसी तरह के थे। एक नया मुल्क जीतने के बाद उसको कब्ज़े में रखने का सिर्फ़ एक ही तरीक़ा उन्हें मालूम था और वह ख़ौफ़ का तरीक़ा था।

हम देखते हैं कि धीरे-धीरे हिन्दुस्तान ने इन खूँख़ार सिपाहियों को मुलायम कर दिया और उन्हें सभ्यता सिखा दी। वे समझने लगे कि हम विदेशी आक्रमणकारी नहीं हैं, बल्कि हिन्दुस्तानी हैं। उन्होंने इस देश की स्त्रियों के साथ शादी करनी शुरू करदी और हमला करनेवाले और जिन पर हमला किया गया था, उनके बीच का फ़र्क़ कम होता गया।

तुम्हें यह जानकर दिलचस्पी होगी कि महमूद ग़ज़नी के पास, जो उत्तर हिन्दुस्तान को बरबाद करनेवालों में सबसे बड़ा हुआ है और जो 'काफिरों' के ख़िलाफ़ मुसलमानों का नेता समझा जाता था, एक हिन्दू फ़ौज थी, जिसका एक हिन्दू सेनापति था। इस सेनापति का नाम तिलक था। वह तिलक और उसकी फ़ौज को अपने साथ ग़ज़नी लेआया था और उसकी मदद से विद्रोही मुसलमानों को नष्ट किया करता था। इस तरह तुम देखोगी कि महमूद का उद्देश्य नये मुल्कों को फ़तह करना था। जैसे हिन्दुस्तान में वह अपने मुसलमान सिपाहियों की मदद से बुतपरस्तों को क़त्ल करने के लिए तैयार था, ठीक वैसे ही मध्य एशिया में हिन्दू सिपाहियों के ज़रिये मुसलमानों को क़त्ल करने के लिए तैयार रहता था।

इस्लाम ने हिन्दुस्तान को हिला दिया। इसने ऐसे समाज में, जो गिर रहा था, तरक्की के लिए जोश और ज़िन्दगी भरदी। हिन्दू कला, जो दूषित और पतित होगई थी, और जो तफ़सील, नक़ल और पुनरुक्ति की वजह से बोझीली हो चली थी, उत्तर में तब्दील होने लगी। एक नई कला पैदा हो गई, जिसे हिन्दुस्तानी-मुस्लिम कला कहना चाहिए और जिसमें उत्साह था और ज़िन्दगी थी। पुराने हिन्दुस्तानी कारीगरों को मुसलमानों के लाये हुए नये ख़यालात से हिम्मत और रवानी यानी स्फूर्ति मिली। मुसलमान धर्म और ख़यालात की सादगी ने उस ज़माने की शिल्पकारी पर असर डाला और उसमें श्रेष्ठता और सादगी पैदा कर दी।

मुस्लिम हमलों का पहला असर यहाँ के लोगों पर यह हुआ कि बहुत-से लोग दक्षिण चले गये। महमूद के हमलों और क़त्लेआम के बाद उत्तरी भारत के लोग बर्बरता, बेरहमी और विनाश को इस्लाम का अंग समझने लगे। इसलिए जब फिर हमला हुआ और उसका रोकना नामुमकिन हो गया तो कुशल शिल्पकारों और विद्वानों के झुण्ड के झुण्ड दक्षिण भारत में जा बसे। इससे दक्षिण भारत में आर्य संस्कृति को बड़ी ताक़त मिली।

दक्षिण भारत का कुछ हाल मैं पहले तुम्हें बता चुका हूँ। मैंने तुम्हें बताया था

कि कैसे छठी सदी के बीच से लेकर दो सौ वर्ष तक पश्चिम और मध्य भारत (महाराष्ट्र देश) में चालुक्यों की ताक़त सबसे ज्यादा प्रभावशाली हो गई थी। ह्यूएनत्सांग पुलकेशिन् द्वितीय से मिला था, जो उस समय राजा था। बाद में राष्ट्रकूट आये, जिन्होंने चालुक्यों को हरा दिया (आठवीं सदी से दसवीं सदी के अख़ीर तक, यानी २०० वर्ष तक, दक्षिण में राष्ट्रकूटों की धाक जमी रही। सिन्ध के अरब शासकों के साथ राष्ट्रकूटों का बड़ा अच्छा ताल्लुक़ था। उनके राज्य में बहुतेरे अरब व्यापारी और मुसाफ़िर आते थे। ऐसे ही एक मुसाफ़िर ने अपने यात्रा-वर्णन में वहाँका कुछ हाल लिखा है। उसने लिखा है कि राष्ट्रकूटों का उस समय का राजा संसार के चार सबसे बडे सम्राटों में से एक था। उसकी राय में बग़दाद के ख़लीफ़ा और चीन और रूम (कुस्तुन्तुनिया) के सम्राट संसार के दूसरे तीन बडे सम्राट थे। यह बयान दिलचस्प है, क्योंकि इससे उस समय के एशिया में फैले लोकमत का हमें पता चलता है। किसी अरब मुसाफ़िर का राष्ट्रकूटों के राज्य का ख़लीफ़ा के साम्राज्य से मुक़ाबिला करना, जबकि बग़दाद अपनी शान और दबदबे की चोटी पर रहा होगा, इस बात का सबूत है कि महाराष्ट्र का यह राज्य बहुत मज़बूत और ताक़तवर रहा होगा।)

दसवीं सदी, यानी ९७३ ई०, में राष्ट्रकूटों की जगह पर फिर चालुक्यों का राज्य हो गया और ये लोग २०० से भी ज्यादा बरसों, यानी ११९० ई०, तक राज्य करते रहे। इन चालुक्य राजाओं में से एक के बारे में एक लम्बी कविता मिलती है और इस कविता में बताया गया है कि उसकी स्त्री ने उसे स्वयंवर में कैसे चुना था। आर्यों की यह पुरानी रस्म इतने दिनों तक क़ायम थी।

हिन्दुस्तान में दक्षिण और पूर्व की तरफ़ और आगे बढ़कर तमिल देश था। यहाँ तीसरी सदी से नवीं सदी तक, यानी क़रीब ६०० वर्षों तक, पल्लवों का राज्य रहा और छठी सदी के मध्य से लेकर २०० वर्षों तक वे दक्षिण पर हावी रहे। तुम्हें याद होगा कि इन्हीं पल्लवों ने मलेशिया और पूर्वी द्वीपों को बसाने के लिए बेडे भेजे थे। पल्लव राज्य की राजधानी काँची या काँजीवरम् थी। यह उस वक्त एक ख़ूबसूरत शहर था और आज भी यह अपने नगर बसाने के सुन्दर और बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग के लिए मशहूर है।

पल्लवों की जगह पर दसवीं सदी को शुरू में चोल लोग आगये। मैं तुम्हें राजराजा और राजेन्द्र के चोल साम्राज्य के बारे में कुछ बता चुका हूँ, जिसने बडे-बडे जहाज़ी बेडे बनवाये थे और लंका, बरमा और बंगाल जीतने के लिए निकला था। उस वक़्त की उनकी पंचायत-प्रथा, जिसमें हरेक गाँव में पंचायत के लिए चुनाव

होता था, ख़ासतौर पर नोट करने लायक़ है। इस प्रथा की बुनियाद नीचे से शुरू होती थी। गाँव की पंचायतें अनेक कमेटियाँ बनाती थीं, और जुदे-जुदे कामों की देख-रेख करती थीं और ज़िला की पंचायतें भी चुनती थीं। फिर ये ज़िले की पंचायतें सूबे की पंचायतें बनातीं। मैंने अकसर इन ख़तों में इस ग्राम-पंचायत-प्रणाली पर ज़ोर दिया है, क्योंकि यही प्राचीन आर्य राज-व्यवस्था की बुनियाद थी।

जिस वक़्त उत्तरी भारत पर अफ़ग़ानों ने हमला किया, दक्षिण भारत में चोल लोगों का बोलबाला था। कुछ दिन के बाद ये गिरने लगे और एक छोटा-सा राज्य, जो पहले इनकी मातहती में था, स्वतन्त्र होगया और उसकी ताक़त बढ़ने लगी। यह पांड्यों का राज्य था। इसकी राजधानी मदुरा थी और इसका बन्दरगाह कायल था। वेनिस का मशहूर यात्री मार्कोपोलो, जिसके बारे में मैं बाद को कुछ लिखूँगा, दो दफ़ा कायल गया था—एक दफ़ा ई० सन् १२८८ में और दूसरी दफ़ा ई० सन् १२९३ में। इसने लिखा है कि यह बहुत बड़ा और भव्य शहर है, अरब और चीन के जहाज़ों से भरा रहता है और व्यापार के कारण गूँजता रहता है। मार्को ख़ुद चीन से जहाज़ पर आया था।

मार्को ने यह भी लिखा है कि हिन्दुस्तान के पूर्वी समुद्र तट पर 'मकडी के जाले की तरह महीन' मलमल बनती थी। मार्को एक महिला, रुद्रमणी देवी का भी ज़िक्र करता है, जो तैलंग (तेलगू) देश की रानी थी। इसने ४० वर्ष तक हुकूमत की। मार्को ने इसकी बडी तारीफ़ की है।

मार्को ने एक दूसरी दिलचस्प बात हमें यह बताई है कि अरबस्तान और ईरान से समुद्र के ज़रिये दक्षिण हिन्दुस्तान में घोडे खूब आया करते थे। दक्षिण की आबहवा घोडों की नस्ल के लिए अच्छी नहीं थी। कहते हैं, हिन्दुस्तान पर हमला करनेवाले मुसलमान इसीलिए बेहतर सिपाही होते थे कि उनके पास ज्यादा अच्छे घोडे हुआ करते थे। एशिया की वे जगहें, जहाँ बढ़िया घोडे पैदा होते हैं, मुसलमानों के ही क़ब्ज़े में थीं। इस तरह तेरहवीं सदी में जब चोल राज्य का पतन हुआ, पाण्डच राज्य एक ताक़तवर तमिल राज्य था। चौदहवीं सदी के शुरू में, यानी १३१० ई० में, मुसलमानों के हमले की नोक दक्षिण तक पहुँच गई, यह नोक पांड्य राज्य के अन्दर तक घुस गई और यह राज्य तेज़ी के साथ गिर गया।

मैंने इस ख़त में दक्षिण हिन्दुस्तान के इतिहास पर एक सरसरी नज़र डाली है और शायद, जो कुछ पहले कह चुका हूँ उसे दुहरा दिया है। लेकिन यह विषय ज़रा पेचीदा है और पल्लव, चालुक्य और चोल इन शब्दों से लोग भ्रम में फँस जाते हैं और अक्सर एक-दूसरे को मिला देते हैं। लेकिन अगर तुम सबको लेकर इसपर नज़र

डालोगी तो अपने मन में इसे इतिहास के लम्बे चौडे ढाँचे के अंदर मुनासिब स्थान दे सकोगी। तुम्हें याद होगा कि दक्षिण के छोटे से कोने को छोड़कर अशोक सारे हिन्दुस्तान पर, अफ़ग़ानिस्तान पर और मध्य एशिया के एक हिस्से पर राज्य करता था। उसके बाद दक्षिण में आन्ध्रों की ताक़त बढ़ी, जो ठेठ दक्षिण तक फैल गये और क़रीब ४०० वर्षों तक हुकूमत करते रहे। उसी वक्त के क़रीब कुशन लोगों का सरहदी साम्राज्य उत्तर में फैल गया था। जब तैलंगी आन्ध्रों का पतन हुआ, पूर्वी समुद्र तट पर और दक्षिण में तमिल पल्लव लोग उठे और बहुत दिनों तक उन्होंने राज्य किया। इन लोगों ने मलेशिया में बस्तियाँ बसाई और ६०० वर्ष तक राज्य किया जिसके बाद चोलों के हाथ में हुकूमत आई। चोलों ने दूर-दूर के कितने ही मुल्क जीते और अपनी जल-सेना से समुद्र पर अपना क़ब्ज़ा रखा। ३०० वर्ष के बाद ये भी हट गये और पाण्डच राज्य सामने आया; उसकी राजधानी मदुरा सभ्यता का केन्द्र बन गई। इसका बड़ा बन्दरगाह कायल दूर-दूर के देशों के सम्पर्क में था।

इतनी बात तो दक्षिण और पूर्व के बारे में हुई। पश्चिम में महाराष्ट्र देश में चालुक्य, उनके बाद राष्ट्रकूट और राष्ट्रकूटों के बाद फिर चालुक्य हुए।

लेकिन ये तो सिर्फ़ नाम हैं। विचार करने की बात तो यह है कि ये राज्य कितने लम्बे-लम्बे युगों तक क़ायम रहे और सभ्यता के कितने ऊँचे जीने तक चढ़ गये। इन राज्यों में कोई अन्दरूनी ताक़त थी जिसकी वजह से योरप के राज्यों के मुक़ाबिले इनमें अधिक शान्ति और स्थिरता थी। लेकिन उनका सामाजिक ढांचा पुराना हो चुका था; उसकी स्थिरता ख़तम हो चुकी थी और यह बहुत जल्द, १४वीं सदी की शुरूआत में, मुसलमानों की सेना के आने पर टूटकर गिर जानेवाला था।

: ६६ :

दिल्ली के गुलाम बादशाह

२४ जून १९३२

मैंने तुमसे सुलतान महमूद ग़ज़नवी के बारे में बताया है और कवि फिरदौसी के बारे में भी कुछ कहा है जिसने महमूद के कहने पर फ़ारसी ज़बान में शाहनामा लिखा। लेकिन मैंने तुमसे अभी तक महमूद के ज़माने के एक-दूसरे मशहूर आदमी के बारे में कुछ नहीं कहा। यह आदमी महमूद के साथ पंजाब आया था। इसका नाम अलबेरूनी था और यह बड़ा विद्वान् था। यह उस ज़माने के ख़ूँख़ार और कट्टर सिपाहियों से बिलकुल जुदी तरह का आदमी था। इसने सारे हिन्दुस्तान में

सफ़र किया और इस नये मुल्क और यहाँके आदमियों को समझने की कोशिश की। इसमें हिन्दुस्तानी दृष्टिकोण को समझने की इतनी उत्सुकता थी कि इसने संस्कृत ज़बान सीखी और ख़ुद हिन्दुओं की खास-खास किताबें पढ़ीं। इसने हिन्दुस्तान का दर्शनशास्त्र पढ़ा और यहाँ जिस तरह कला या विज्ञान की तालीम दी जाती थी उसे सीख लिया। भगवद्गीता इसे बहुत पसंद थी। यह दक्षिण के चोल राज्य में गया था और वहाँ की नहरों और सिंचाई का इन्तज़ाम देखकर उसे बहुत ताज्जुब हुआ था। इसका हिंदुस्तानी सफ़रनामा पुराने ज़माने के उन बड़े सफ़रनामों में है जो अभी तक पाये जाते हैं। क़त्लेआम, विनाश और असहिष्णुता के कीचड़ के बीच वह अलग खड़ा दिखाई देता है। उसने शान्ति के साथ चीज़ों का अध्ययन किया, सीखने और समझने की कोशिश की और यह जानने की पूरी कोशिश की कि सचाई कहाँ पर है।)

अफ़ग़ान शहाबुद्दीन के बाद, जिसनें पृथ्वीराज को हराया था, दिल्ली में लगातार ग़ुलाम राजा राज करते रहे। उनमें से पहला कुतुब-उद्दीन था। कुतुब-उद्दीन शहाबुद्दीन का ग़ुलाम था लेकिन ग़ुलाम भी ऊँचे ओहदे पर पहुँच सकते हैं और वह अपनी कोशिशों से दिल्ली का पहला सुलतान बन गया। उसके बाद होनेवाले कुछ सुलतान भी असल में ग़ुलाम थे; इसीलिए यह ग़ुलाम खानदान कहलाता है। ये लोग बड़े ख़ूँख़ार होते थे और इनकी विजय के साथ-साथ इमारतों और पुस्तकालयों का विनाश और लोगों पर अत्याचार चलता था। इन्हें इमारत बनाना बहुत पसन्द था और इमारतों के विशाल आकार या विस्तार को वे ख़ासतौर पर पसंद करते थे। क़ुतुब-उद्दीन ने क़ुतुब-मीनार बनानी शुरू की। यह वही बड़ी मीनार है जो दिल्ली के पास है और जिसे तुम अच्छी तरह से जानती हो। उसके वारिस अलतमश (इल्तूतमिश) ने इस मीनार को पूरा किया और उसीके पास ही कुछ सुन्दर महराब भी बनाये, जो अभी तक मौजूद हैं। इन इमारतों का क़रीब-क़रीब सारा ख़ाका पुरानी हिन्दुस्तानी इमारतों, ख़ासकर मन्दिरों, से लिया गया था। सब कारीगर भी हिन्दुस्तान के थे लेकिन, जैसा मैंने तुमसे कहा है, मुसलमानों के साथ आये हुए नये ख़यालात का इनपर बहुत असर पड़ा था।

महमूद ग़ज़नवी और उसके बाद जिस किसीने भी हिंदुस्तान पर हमला किया वही अपनें साथ हिन्दुस्तानी कारीगरों और मिस्त्रियों का एक झुण्ड अपनें साथ लेगया। इस तरह मध्य एशिया में हिन्दुस्तानी शिल्पकला का असर फैल गया।

बिहार और बंगाल को अफ़ग़ानों ने बड़ी आसानी से जीत लिया। वे बड़े हिम्मतवाले होते थे और अचानक हमला करके लोगों को हैरत में डाल देते थे और

हिम्मत का नतीजा अक्सर अच्छा होता है। अमेरिका में पिज़ारो और कार्टे की विजय की तरह बंगाल की विजय भी हमें ताज्जुब में डाल देती है।

अल्तमश के ज़माने में यानी १२११ और १२३६ ई० के बीच में ही हिन्दुस्तान की सरहद के उस पार एक धुआँधार बादल उठा। यह चंगेज़ख़ाँ की मातहती में बढ़ता हुआ मंगोलों का दल था। चंगेज़ख़ाँ सिन्ध नदी तक अपने एक दुश्मन का पीछा करता हुआ आया और यहीं आकर ठहर गया। हिन्दुस्तान बच गया। इसके २०० वर्ष बाद इसीके वंश का एक दूसरा आदमी, तैमूर, हिन्दुस्तान में लूट-मार और क़त्ल करने आया था। हालाँकि चंगेज ख़ुद नहीं आया लेकिन बहुत से मंगोलों को हिन्दुस्तान पर हमला करके लूटमार करने की आदत-सी पड़ गई। कभी-कभी ये लाहौर तक आजाते थे और लोगों में डर पैदा कर देते थे; यहाँ तक कि कभी-कभी सुलतान भी डर जाते और रिश्वत देकर अपना पिंड छुड़ाते थे। इनमें से हज़ारों मंगोल पंजाब में ही बस गये।

सुलतानों में रज़िया नाम की एक औरत भी हुई है। यह अल्तमश की लड़की थी और बडी बहादुर और क़ाबिल औरत थी; लेकिन अपने ख़ूँख़ार अफ़ग़ान सरदारों, और उनसे भी ख़ूँख़ार मंगोलों से, जो पंजाब पर हमला करते रहते थे, उसे बडी मुसीबत उठानी पडी थी।

ग़ुलाम बादशाह १२९० ई० में ख़तम हो गये। इसके बाद अलाउद्दीन ख़िलजी अपने चचा को, जो उसका ससुर भी था, मुलायमियत के साथ क़त्ल करके तख़्त पर बैठ गया। जितने मुसलमान सरदारों पर उसे बेवफ़ाई का शक था, उन सबको उसने क़त्ल करा दिया और यों अपना काम पूरा किया। मंगोलों की साज़िश से डर कर उसने यह हुक्म निकाला था कि 'उसके राज्य में जितने भी मंगोल हों, सब क़त्ल कर दिये जायँ, ताकि उस ख़ानदान का एक आदमी भी न बचे।' इस तरह दो-तीन हज़ार मंगोल, जिनमें ज्यादातर बेगुनाह थे, क़त्ल कर दिये गये। बार-बार क़त्ल और ख़ून का ज़िक्र करना बहुत भली बात नहीं और न इतिहास के विस्तृत दृष्टिकोण से ही इनका कोई महत्व है, फिर भी इससे यह बात समझ में आजाती है कि उस वक्त उत्तर भारत में सभ्यता का पलड़ा झुका हुआ था और जान-माल सुरक्षित न थे। एक हद तक बर्बरता की तरफ़ वापसी थी। इस्लाम अपने साथ तरक़्क़ी की बातें लाया था लेकिन अफ़ग़ान मुसलमान अपने साथ बर्बरता का भी अंश लाये थे। बहुत से आदमी इन दोनों को एक ही समझते हैं लेकिन इनमें फ़र्क़ किया जाना चाहिए।

अलाउद्दीन दूसरों की तरह असहिष्णु था लेकिन मालूम होता है कि हिन्दुस्तान के इन मध्य एशियाई शासकों का ख़याल अब बदल रहा था। वे अब हिन्दुस्तान को

अपना घर समझने लगे थे और अपने को परदेशी नहीं समझते थे। अलाउद्दीन ने एक हिन्दू महिला से शादी की थी और उसके लड़के ने भी ऐसा ही किया था।

अलाउद्दीन के ज़माने में एक अच्छी शासन-प्रणाली बनाने की कोशिश की गई। फ़ौज के आने जाने के लिए सड़कें ख़ास तौर से दुरुस्त की जाती थीं। अलाउद्दीन फ़ौज का ख़ास तौर से ख़याल रखता था। उसने अपनी फ़ौज को बहुत ताक़तवर बना लिया था और उसकी मदद से उसने गुजरात को और दक्षिण के बहुत बड़े हिस्से को जीत लिया। उसके सेनापति दक्षिण से बेशुमार दौलत अपने साथ लाये। कहते हैं, उनके साथ ५० हज़ार मन सोना, बहुत से मोती और जवाहरात, २० हज़ार घोड़े और ३१२ हाथी आये थे।

चित्तौड़, जिसे वीरता का घर कहना चाहिए, बहादुरी से भरा हुआ लेकिन पुराने तरीक़े पर चलनेवाला था। लड़ाइयों में उसका वही पुराना ढंग क़ायम था, इससे अलाउद्दीन की कुशल सेना के सामने दब गया। १३०३ ई० में चित्तौड़ लूटा गया; लेकिन लूटे जाने के पहले ही क़िले की स्त्रियों और पुरुषों ने पुराने तरीक़ों के अनुसार, जौहर की भयंकर रीति पूरी कर डाली। इसके मुताबिक़ जब हार सामने हो और बचने का कोई रास्ता न दिखाई पड़े तो आदमियों के लिए मैदान में जाकर लड़ते हुए मर जाना और औरतों के लिए चिता में बैठकर जल जाना कर्तव्य समझा जाता था। यह रीति ख़ासकर औरतों के लिए बड़ी ख़ौफ़नाक थी। बेहतर होता अगर औरतें भी तलवार हाथ में लेकर निकल पड़तीं और लड़ाई में काम आ जातीं। बहरहाल ग़ुलामी और ज़िल्लत से मौत बेहतर थी क्योंकि इस ज़माने में लड़ाई में हार जाने का मतलब ही ग़ुलामी और ज़िल्लत था।

इधर हिन्दुस्तान के रहनेवाले यानी हिन्दू धीरे-धीरे मुसलमान हो रहे थे। पर तेज़ी से नहीं। कुछ लोगों ने अपना मज़हब इसलिए बदल दिया कि इस्लाम उन्हें अच्छा लगा; कुछ लोग डर की वजह से मुसलमान हो गये, और कुछ इसलिए कि जीतने वालों की तरफ़ रहना अच्छा था। लेकिन तब्दीली की असली वजह आर्थिक थी। जो लोग मुसलमान नहीं हुए उन्हें जज़िया देना पड़ता था। ग़रीबों के ऊपर यह बहुत बड़ा बोझ था; बहुत से तो सिर्फ़ इस बोझ से बचने के लिए अपना मज़हब तब्दील करने के लिए तैयार हो जाते थे। ऊँचे वर्ग के आदमियों में मुसलमान होने की प्रेरणा दरबार में इज़्ज़त और ऊँचे ओहदों के लालच से हुआ करती थी। अलाउद्दीन का प्रसिद्ध सेनापति मलिक काफ़ूर, जिसने दक्षिण को जीता था, हिन्दू से मुसलमान हुआ था।

मैं तुम्हें दिल्ली के एक दूसरे सुलतान का हाल बताना चाहता हूँ। यह अजीब

आदमी था। इसका नाम मुहम्मद-बिन-तुग़लक था। वह फ़ारसी और अरबी का बहुत बड़ा विद्वान् और क़ाबिल आदमी था। उसने फ़िलासफ़ी, न्याय और यूनानी दर्शन पढ़ा था। वह कुछ गणित भी जानता था, और विज्ञान तथा चिकित्साशास्त्र का भी उसे इल्म था। वह बहादुर आदमी था और अपने ज़माने के लिहाज़ से वह विद्वत्ता का चमत्कार ही था, लेकिन इन सब बातों के होते हुए भी वह चमत्कार बेरहमी का चमत्कार था। वह बिलकुल पागल-सा था। वह अपने ही पिता को क़त्ल करके तख़्त पर बैठा था। ईरान और चीन जीतने के लिए उसके दिल में बड़े मनसूबे पाये जाते थे। स्वभावतः उसकी सारी कोशिशें, इस सिलसिले में, ना-क़ामयाब रहीं।

लेकिन उसका सबसे मशहूर कारनामा यह था कि उसने अपनी ही राजधानी दिल्ली को इसलिए उजाड़ डालने का निश्चय कर लिया था कि शहर के कुछ लोगों ने गुमनाम नोटिसों में उसकी नीति पर ऐतराज़ करने की गुस्ताख़ी की थी। उसने हुक्म दिया कि राजधानी दिल्ली से दक्षिण के देवगिरि को तब्दील कर दी जाय (जो आजकल हैदराबाद रियासत में है।) इस जगह का नाम उसने दौलताबाद रखा। मकान के मालिकों को कुछ मुआवज़ा दिया गया, और इसके बाद हरेक आदमी को यह हुक्म मिला कि तीन दिन के अन्दर शहर छोड़ दे।

बहुत से आदमी शहर छोड़कर चल दिये। कुछ ऐसे थे जो छिप गये। जब इनका पता चला तो इन्हें बेरहमी के सथा सज़ा दी गई। इन सज़ा पाने वालों में से एक अन्धा था और दूसरा गठिया का रोगी था। दिल्ली से दौलताबाद का रास्ता चालीस रोज़ का था। इस कूच में लोगों की क्या हालत हुई होगी, इसका हम अन्दाज़ा लगा सकते हैं। कितने तो रास्ते ही में ख़तम हो गये होंगे।

और दिल्ली के शहर का क्या हुआ? दो बरस बाद मुहम्मद-बिन-तुग़लक ने इस शहर को फिर बसाना चाहा लेकिन कामयाब न हो सका। उसने इसे, एक अपनी आँखों देखनेवाले के शब्दों में, 'बिलकुल वीरान' कर दिया था। किसी बग़ीचे को एकदम बरबाद किया जा सकता है लेकिन वीरान को फिर बग़ीचा बनाना आसान नहीं होता। अफ़रीका का मूर यात्री इब्न बतूता, जो सुलतान के साथ था, दिल्ली वापस आया और उसने लिखा है कि "यह सारी दुनिया के बड़े शहरों में से एक शहर है। जब हम इस शहर में दाख़िल हुए, हमने इसे उस हालत में पाया, जैसा बयान किया है। यह बिलकुल ख़ाली और उजड़ा हुआ था और आबादी बहुत कम थी।" दूसरे आदमी ने इस शहर के बारे में लिखा है कि यह आठ या दस मील में फैला हुआ था लेकिन "सब कुछ नष्ट हो गया था। इसकी बरबादी इतनी

मुकम्मिल थी कि शहर की इमारतों, महलों और आस-पास की आबादी में बिल्ली और कुत्ते तक नहीं रह गये थे।"

पच्चीस बरस तक यानी १३५१ ई० तक यह पागल सुलतान रहा। ताज्जुब है कि जनता अपने शासकों की, नाक़ाबलियत, बेरहमी और बदमाशी को किस हद तक सहती है। लेकिन जनता की अधीनता और ताबेदारी के बावजूद मुहम्मद-बिन-तुग़लक अपने साम्राज्य को नष्टभ्रष्ट कर डालने में सफल रहा। उसकी पागलपन की स्कीमों से और भारी टैक्सों से देश बरबाद हो गया, अकाल पड़े और अन्त में बलवे होने लगे। उसकी ज़िन्दगी में ही, १३४० ई० के बाद, साम्राज्य के बड़े-बड़े हिस्से आज़ाद हो गये। बंगाल आज़ाद हो गया। दक्षिण में कई रियासतें पैदा हो गईं जिनमें विजय-नगर की रियासत ख़ास थी, जो १३३६ ई० में पैदा हुई और दस बरस के अन्दर दक्षिण में बड़ी ताक़तवर हो गई।

दिल्ली के पास तुम अब भी तुग़लकाबाद के खँडहर देख सकती हो। इसे इसी मुहम्मद के पिता ने बसाया था।

: ६७ :

चंगेज़ ख़ां का अभ्युदय

२५ जून, १९३२

हाल के अपने कई ख़तों में मैंने मंगोलों का ज़िक्र किया है और यह बताया है कि उन्होंने लोगों में कितना ख़ौफ़ पैदा कर दिया था और किस तरह बरबादी की थी। चीन में हमने मंगोलों के आने के बाद ही, संग राजवंश का क़िस्सा बंद कर दिया था। पश्चिम एशिया में भी हमारा उनका पाला पड़ा था और पुरानी प्रणाली का वहीं से ख़ातमा होगया था। हिन्दुस्तान में गुलाम बादशाह मंगोलों से बच गये फिर भी इनकी वजह से काफी हल-चल मच गई थी। मंगोलिया के इन ख़ानाबदोशों ने सारे एशिया को दबा रखा था और पस्त कर डाला था। सिर्फ एशिया ही नहीं, आधे योरप की भी यही हालत थी। ये आश्चर्यजनक लोग कौन थे, जो एकदम से फूट निकले और जिन्होंने दुनिया को हैरत में डाल दिया? सीथियन, हूण, तुर्क और तातार, सभी मध्य एशिया के थे और इतिहास में उल्लेखनीय कार्य कर चुके थे। इनमें कुछ क़ौमें उस वक्त भी मशहूर थीं जैसे पश्चिमी एशिया में सेलजूक़ तुर्क, उत्तरी चीन में तातारी वग़ैरा। लेकिन मंगोलों ने अभी तक कुछ बहुत ज्यादा नहीं किया था। पश्चिमी एशिया में इनके बारे में कोई जानता भी नहीं

था। ये मंगोलिया की कई मामूली जाति के लोगों में से थे और 'किन' तातारियों की मातहती में थे जिन्होंने उत्तर चीन को जीता था।

एकदम से इन लोगों में ताक़त पैदा हो गई। इनकी बिखरी हुई क़ौम इकट्ठी हुई और एक नेता—ख़ान महान्—चुना और उसकी मातहती और हुक्मबरदारी की क़सम खाई। उसके नेतृत्व में ये पेकिंग पर टूट पडे और 'किन' साम्राज्य को ख़तम कर दिया। ये लोग पश्चिम की ओर भी बढे और रास्ते में जितने बडे-बडे राज्य इन्हें मिले सभी को बरबाद करडाला। ये रूस पहुँचे और उस पर क़ब्ज़ा कर लिया। बाद को इन लोगों ने बग़दाद का और उसके साम्राज्य का भी पूरे तौर पर नाश कर दिया और सीधे पोलैण्ड और मध्य योरप तक पहुँच गये। इनको रोकनेवाला कोई नहीं था। इत्तफ़ाक़ से हिन्दुस्तान इनसे बच गया। योरप और एशिया के लोगों को, ज्वालामुखी के इस प्रवाह पर कितनी हैरत हुई होगी। यह बिलकुल किसी बडी भारी प्राकृतिक विपत्ति के समान चीज़ थी—भूकम्प की तरह—जिसके सामने मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता।

मंगोलिया के ये ख़ानाबदोश लोग बडे मज़बूत थे। मुश्किलों से भरी ज़िन्दगी बितानेवाले ये लोग उत्तर एशिया के लम्बे-चौडे मैदानों में ख़ीमों के अंदर रहा करते थे। लेकिन इनकी ताक़त और मुश्किल ज़िन्दगी इनके लिए बहुत ज्यादा फ़ायदेमन्द न साबित हुई होती अगर इनमें एक सरदार न पैदा हो गया होता, जो बहुत ही विचित्र आदमी था। इसे चंगेज़ ख़ां कहा गया है। यह ११५५ ई० में पैदा हुआ था और इसका असली नाम तिमोचिन था। इसका पिता येगुसी-बगातुर इसको बच्चा ही छोड़ कर मर गया था। 'बगातुर' मंगोल सरदारों का प्रिय नाम था। इसका मतलब है 'वीर' और मेरा ख़याल है कि उर्दू का बहादुर शब्द इसी से निकला है।

हालांकि चंगेज़ १० वर्ष का छोटा लड़का था और उसका कोई मददगार नहीं था फिर भी वह मिहनत करते हुए तरक्क़ी करता गया और आख़िर में कामयाब हुआ। वह क़दम-क़दम आगे बढ़ा, यहांतक कि अंत में मंगोलों की बडी सभा ने, जिसे 'कुरुलताई' कहते थे, उसे अपना 'खान महान्' या 'कागन' या सम्राट चुना। इससे कुछ साल पहले उसे चंगेज़ का नाम दिया जा चुका था।

'मंगोलों का गुप्त इतिहास' नाम की पुस्तक में, जो १३ वीं सदी में लिखी गई थी और १४ वीं सदी में चीन में प्रकाशित हुई, इस चुनाव का हाल इस तरह से लिखा हुआ है —"इस तरह 'चीता' नामक सम्वत् में, जब नमदे के ख़ीमों में रहनेवाली सारी क़ौम एक आदमी की मातहती में मिल कर एक हो गई, तब

अनान नदी के निकलने की जगह पर वे सब इकट्ठा हुए और 'नौ पैरों' पर अपने 'सफ़ेद झंडे' को खड़ा करके इन लोगों ने चंगेज़ को 'कागन' की उपाधि दी।"

चंगेज़ जब 'ख़ान महान्' या 'कागन' बना, उसकी उम्र ५१ वर्ष की हो चुकी थी। यह जवानी की उम्र नहीं थी और इस उम्र पर पहुँच कर आदमी शांति और आराम चाहता है। लेकिन उसने अपनी विजय-यात्रा इस उम्र से शुरू की। यह ग़ौर करने की बात है; क्योंकि विजेता लोग ज्यादातर अपनी जवानी में ही विजय का काम करते हैं। इससे हम यह नतीजा भी निकाल सकते हैं कि चंगेज़ जवानी के जोश में एशिया पर नहीं टूटा था, वह सावधान, सचेत, वृद्ध आदमी था और ठीक तौर से विचार करके और तैयारी करने के बाद ही वह हरेक बडे काम को करता था।

मंगोल लोग ख़ानाबदोश थे। शहरों और शहरों के रंग-ढंग से भी उन्हें नफ़रत थी। बहुत से आदमी यह समझते हैं कि चूंकि वे ख़ानाबदोश थे इसलिए जंगली रहे होंगे; लेकिन यह ख़याल ग़लत है। हां, उन्हें शहर की बहुत-सी कलायें अलबत्ता नहीं आती थीं; लेकिन उनकी ज़िन्दग़ी का अपना एक अलग तरीक़ा था और उनका संगठन बहुत पेचीदा था। लड़ाई के मैदान में अगर उन्हें बडी-बडी विजय प्राप्त होती थी तो इसकी वजह यह नहीं थी कि उनकी तादाद ज्यादा थी बल्कि यह कि उनमें नियंत्रण और संगठन था और सबसे बडी बात तो यह थी कि उनका सरदार चंगेज़ बड़ा क़ाबिल सिपहसालार था। बिना किसी शुबहे के यह बात कही जासकती है कि इतिहास में चंगेज़ सबसे बडी सैनिक प्रतिभा रखनेवाला और सबसे बड़ा सैनिक नेता हुआ है। सिकंदर और सीज़र इसके सामने नाचीज़ मालूम होते हैं। चंगेज़ न सिर्फ़ खुद बहुत बड़ा सिपहसालार था बल्कि उसने अपने बहुत से फौजी अफसरों को तालीम देकर होशियार नेता बना दिया था। अपने घर से हजारों मील दूर होते हुए, अपने ख़िलाफ़ लोगों और दुश्मनों से घिरे रहने पर भी, वे अपने से ज्यादा तादाद की फ़ौजों पर विजय प्राप्त करते थे।

(जिस वक्त चंगेज़ सामने आया एशिया और योरप का नकशा किस तरह का था? मंगोलिया के पूरब और दक्षिण चीन दो टुकडों में बँटा हुआ था। दक्षिण में संग साम्राज्य था जहाँ दक्षिणी संग शासन करते थे। उत्तर में 'किन' या 'सुनहले तातारियों' का साम्राज्य था और इसकी राजधानी पेकिंग थी। इन लोगों ने संगों को खदेड़ दिया था। पश्चिम में गोबी के रेगिस्तान पर और उसके पार हिसिया या तंगुओं का साम्राज्य था। ये लोग भी ख़ानाबदोश थे। हिन्दुस्तान में, दिल्ली में, ग़ुलाम खानदान के बादशाहों की हुकूमत थी। ईरान और इराक़ में, हिन्दुस्तान की

सरहद तक फैला हुआ ख़ारज़म या ख़ीवा का महान् मुसलमानी राज्य था जिसकी राजधानी समरकन्द थी। इसके पश्चिम में सेलजूक़ थे और मिस्र और फ़िलस्तीन में सलादीन के वारिसों का राज्य था। बग़दाद के इर्द-गिर्द, सेलजूक़ों की सरपरस्ती में ख़लीफ़ा लोग हुकूमत करते थे।)

(यह वह ज़माना था जब बाद के क्रूसेड चल रहे थे। होहेनस्टाफ़ेन खान्दान का फ्रेडरिक द्वितीय, जिसे 'दुनिया का आश्चर्य' कहा गया है, पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट था। इंग्लैंड में मैग्नाचार्टा और उसके बाद की घटनाओं का ज़माना था। फ्रांस में लुई नवम राज्य करता था, जो क्रूसेड में गया था और वहाँ तुर्कों द्वारा पकड़ लिया गया था और जिसे फिर बहुत-सा धन देकर छुड़ाना पड़ा था। पूर्वी योरप में रूस था, जो दो राज्यों में बँटा हुआ था—उत्तर में नोवेगरॉड और दक्षिण में कीफ़। रूस और रोमन साम्राज्य के दरमियान हंगरी और पोलैंड थे। विज़ेण्टाइन साम्राज्य कुस्तुन्तुनिया के इर्द-गिर्द फूल-फल रहा था।)

चंगेज़ ने बड़ी सावधानी के साथ अपने विजय की तैयारियाँ कीं। उसने अपनी फ़ौज को अच्छी तरह लड़ाई की तालीम दी। सबसे ज़्यादा इसने अपने घोड़ों को सिखाया था और इस बात का ख़ास इन्तज़ाम किया था कि एक घोड़ा मरने के बाद दूसरा घोड़ा तुरंत सिपाहियों के पास पहुँच सके, क्योंकि खानाबदोशों के लिए घोड़ों से ज़्यादा ज़रूरी चीज़ कोई नहीं है। इन सब तैयारियों के बाद वह पूर्व की तरफ़ बढ़ा और उत्तर चीन और मंचूरिया के 'किन' साम्राज्य को क़रीब-क़रीब ख़तम कर दिया और पेकिंग पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। उसने कोरिया जीत लिया। मालूम होता है कि वह दक्षिणी संगों से दोस्ती का रिश्ता रखता था क्योंकि इन संगों ने 'किन' लोगों के खिलाफ़ उसकी मदद की थी। बेचारे संग यह नहीं समझते थे कि इनके बाद उनकी बारी भी आनेवाली है। चंगेज़ ने इसके बाद तंगुओं को भी जीत लिया था।

इन विजयों के बाद चंगेज़ आराम कर सकता था। ऐसा मालूम होता है कि पश्चिम पर हमला करने की उसकी इच्छा नहीं थी। वह ख़ारज़म के बादशाह से दोस्ती का रिश्ता क़ायम करना चाहता था लेकिन यह हुआ नहीं। एक पुरानी लैटिन कहावत है कि 'देवता लोग जिसे नष्ट करना चाहते हैं पहले उसकी बुद्धि हर लेते हैं।' ख़ारज़म का बादशाह अपनी ही बरबादी पर तुला हुआ था और अपने नाश के लिए जो कुछ मुमकिन था, उसने किया। उसके एक सूबे के हाकिम (गवर्नर) ने मंगोल सौदागरों को क़त्ल कर दिया। चंगेज़ फिर भी सुलह चाहता था और उसने इसके लिए राजदूत भेजे कि उस गवर्नर को सज़ा दी जाय। लेकिन बेवकूफ़ शाह

घमण्डी था और अपने को बहुत-कुछ समझता था। उसने इन राजदूतों की बे-इज्ज़ती की और उनको मरवा डाला। चंगेज़ के लिए इस बेइज्ज़ती का सहना नामुमकिन था लेकिन उसने जल्दबाज़ी से काम नहीं लिया; सावधानी से तैयारी की और तब पश्चिम की तरफ अपनी फौज के साथ कूच किया।

यह कूच सन् १२१९ ई० में शुरू हुई और एशिया, और कुछ हद तक योरप, ने आँखें खोलकर इस ख़ौफनाक नज़ारे को देखा, जिसने बडे भारी बेलन (रोलर) की तरह बिना किसी हिचकिचाहट ने लाखों की तादाद में आदमियों को और शहरों को कुचल डाला। ख़ारज़म का साम्राज्य ख़त्म हो गया। बुख़ारा का बड़ा शहर, जिसमें बहुत से महल थे और दस लाख से ज्यादा आदमी रहते थे, मिट्टी में मिला दिया गया। समरकन्द, जो राजधानी था, नष्ट हो गया और उसकी दस लाख की आबादी में सिर्फ़ ५० हज़ार लोग ज़िन्दा बचे। हिरात, बलख़, और दूसरे अच्छे-अच्छे शहर नष्ट हो गये। लाखों आदमी मार डाले गये। जो कारीगरी और हुनर सैकडों वर्षों से मध्य एशिया में फूल-फल रहे थे, ग़ायब हो गये। ईरान और मध्य एशिया में सभ्य जीवन का ख़ात्मा हो गया। जहाँ-जहां से चंगेज़ गुज़रा, वहां की ज़मीन वीरान होगई।

ख़ारज़म के बादशाह का लड़का जलालुद्दीन इस तूफ़ान के ख़िलाफ़ बहादुरी से लड़ा। वह हटते-हटते सिन्धु नदी तक चला आया और वहाँ पर भी जब इस पर हमला हुआ तो वह घोडे पर बैठा हुआ, ३० फीट नीचे सिन्धु नदी में कूद पड़ा और तैरकर इस पार निकल आया। उसे दिल्ली दरबार में आश्रय मिला। चंगेज़ ने वहाँ तक उसका पीछा करना मुनासिब नहीं समझा।

सेलजूक तुर्कों की और बग़दाद की खुशक़िस्मती थी कि चंगेज़ ने इनको छोड़ दिया और वह उत्तर में रूस की तरफ बढ़ गया। उसने कीफ़ के ग्रैंड ड्यूक (बडे-नवाब) को हराकर क़ैद कर लिया और हीसियों या तंगुओं के बलवे को दबाने के लिए पूरब की तरफ़ वापस चला गया।

चंगेज़ ई० सन् १२२७ में ७२ वर्ष की उम्र में मर गया। उसका साम्राज्य पश्चिम में काले समुद्र से पूर्व में प्रशान्त महासागर तक फैला हुआ था। उसमें अब भी काफ़ी ताक़त थी और वह दिन-ब-दिन बढ़ ही रहा था। इसकी राजधानी अभी तक मंगोलिया में क़राकुरम नाम का छोटा-सा क़स्बा था। ख़ानाबदोश होते हुए भी चंगेज़ खाँ बड़ा ही योग्य संगठन करनेवाला था और उसनें अपनी मदद के लिए बहुत अच्छे मंत्री मुक़र्रर कर रखे थे। उसका इतनी तेज़ी के साथ बननेवाला साम्राज्य उसके मरने पर नहीं टूटा।

वह पढ़ा-लिखा न था, और उसके अनुयायी भी उसी की तरह थे। शायद वह बहुत दिनों तक यह भी नहीं जानता था कि लिखने-जैसी कोई चीज़ होती है। संदेश ज़बानी भेजे जाते थे और छन्द में उपमा या कहावत के रूप में होते थे। ताज्जुब की बात तो यह है कि ज़बानी संदेशों से किस तरह इतने बड़े साम्राज्य का कारबार चलाया जाता था? जब चंगेज़ को यह मालूम हुआ कि लिखने-जैसी कोई चीज़ होती है तो उसने फौरन ही यह महसूस कर लिया कि वह बड़ी फ़ायदेमन्द होगी और उसने अपने लड़के और ख़ास-ख़ास सरदारों को इसे सीखने का हुक्म दिया। उसने यह भी हुक्म दिया था कि मंगोलों के पुराने क़ानून-कायदे और उसकी अपनी कहावतें भी लिख ली जायँ। ख़याल था कि उनका यह पुराना कानून हमेशा के लिए अपरिवर्तनशील है, और इसके ख़िलाफ़ कोई नहीं जा सकता। बादशाह के लिए भी इसका मानना ज़रूरी था, लेकिन यह अपरिवर्तनशील क़ानून अब ग़ायब है और आजकल के मंगोलों को इसकी कोई याद नहीं।

हरेक देश और हरेक मज़हब का पुराना क़ानून होता है और लोग समझते हैं हैं कि वह अपरिवर्तनशील क़ानून हमेशा क़ायम रहेगा। कभी-कभी लोग कहते हैं कि इस क़ानून को ख़ुदा ने भेजा है, और ज़ाहिर है कि जो चीज़ ख़ुदा भेजेगा वह परिवर्तनशील या अस्थाई नहीं समझी जा सकती, लेकिन क़ानून एक ख़ास स्थिति के मुआफ़िक बनाये जाते हैं, और उनकी मंशा यह होती है कि हम उनकी मदद से अपने को बेहतर बना सकें। अगर हालत बदल जाती है तो पुराने क़ानून कैसे काम में आसकते हैं। हालत के साथ क़ानून को भी बदलना चाहिए। नहीं तो ये लोहे की ज़ंजीर की तरह हमें जकड़ रखते हैं जबकि दुनिया आगे बढ़ती जाती है। कोई भी क़ानून अपरिवर्तनशील नहीं हो सकता। क़ानून के लिए ज़रूरी है कि वह ज्ञान पर निर्भर हो, और ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़ेगा, क़ानून को भी उसके साथ बढ़ना पड़ेगा।

मैंने चंगेज़ ख़ाँ के बारे में तुम्हें कुछ बातें ज़रा तफ़सील के साथ बताई हैं जो शायद ज़रूरी नहीं था। लेकिन इस आदमी ने मुझे बहुत आकर्षित किया है। कितने ताज्जुब की बात है कि यह ख़ौफ़नाक, बेरहम और उद्दण्ड ख़ानाबदोश क़ौम का सामन्त सरदार मेरे समान एक ऐसे शान्त, अहिंसक और सादे आदमी को आकर्षित करे, जो सामन्त प्रथा की हरेक बात से नफ़रत रखनेवाला है।

: ६८ :

मंगोलों का दुनिया पर छा जाना

२६ जून, १९३२

जब चंगेज़ख़ां मरा, उसका लड़का ओग़ताई 'बड़ा ख़ान' हुआ। चंगेज़ और उस ज़माने के मंगोलों के मुक़ाबिले में वह दयावान और शान्तिप्रिय था और कहा करता था कि "हमारे कागन चंगेज़ ने बड़ी मिहनत से साम्राज्य की इस इमारत को बनाया है। अब वक़्त यह है कि हम अपने लोगों को शान्ति दें, ख़ुशहाल बनावें और उनके बोझ को हलका करें।" यहां देखने की बात यह है कि ओग़ताई किस तरह सामन्त सरदार की हैसियत से अपने वंश के बारे में सोचता था।

लेकिन विजय का युग ख़तम नहीं हुआ था और मंगोल अभी तक ताक़त और जोश में भरे हुए थे। एक बड़े सिपहसालार सबूताई की मातहती में योरप पर दूसरी मर्तबा हमला हुआ। योरप के सिपहसालार और फ़ौजें सबूताई का मुक़ाबिला नहीं कर सकती थीं। यह सबूताई दुश्मन के देश में हाल लाने के लिए पहले अपने जासूस भेजता था और इस तरह अपनी तैयारी पक्की कर लेता था। देश में दाख़िल होने के पहले वह वहाँ की राजनैतिक और सैनिक स्थिति अच्छी तरह जान लेता था। वह लड़ाई की कला का बड़ा भारी ज़ानकार था और यूरोपियन सेनापति उसके सामने बच्चे मालूम होते थे। सबूताई सीधे रूस चला गया और सेलजूकों को दक्षिण-पश्चिम बग़दाद में शान्ति से छोड़ गया। ६ वर्ष तक वह आगे बढ़ता ही गया और उसने मास्को, कीफ़, पौलैंड, हंगरी और क्राकाऊ को लूटा और नष्ट किया। १२४१ ई० में मध्य-योरप के लोअर साइलेशिया में लिबनिज़ नाम की जगह पर पोलैण्ड और जर्मनी की फ़ौजें बिलकुल तहस-नहस कर दी गईं। मालूम होता था कि सारा योरप ख़तम हो जायगा। मंगोलों को रोकने वाला कोई नहीं दिखाई देता था। फ्रेडरिक द्वितीय, जो 'संसार का चमत्कार' कहलाता था, मंगोलिया से आये हुए इस असली चमत्कार के सामने ज़रूर पीला पड़ गया होगा। योरप के बादशाह और शासक लोग हक्का-बक्का हो रहे थे कि एकाएक उनका कष्ट दूर होने का मौक़ा अपने आप आगया।

ओग़ताई की मृत्यु हो गई और उसकी विरासत के बारे में कुछ झगड़ा हो गया, इसलिए योरप की मंगोल फ़ौजें, जो कहीं हारी न थीं, पीछे लौट पड़ीं और १२४२ ई० में अपने देश को, पूरब, वापस चली गईं। योरप की जान में जान आई।

इस दरमियान मुग़ल लोग चीन भर में फैल चुके थे। और उत्तर में 'किन' लोगों को और दक्षिण चीन में संगों को उन्होंने बिलकुल ख़तम कर दिया था। १२५२

ई० में मंगूखां 'बड़ा ख़ान' हुआ और उसने कुबलाई को चीन का गवर्नर मुक़र्रर किया। क़राक़ुरम में, मंगू के दरबार में, एशिया और योरप से झुण्ड के झुण्ड लोग आया करते थे, लेकिन 'बड़ा ख़ान', ख़ानाबदोशों की तरह, अभीतक ख़ीमों में ही रहता था। हाँ, ख़ीमे बहुत सजे होते थे और वे अनेक महाद्वीपों की दौलत और लूट के माल से भरे रहते थे। सौदागर, ख़ास कर मुसलमान, आते थे और मंगोल लोग उनसे ख़ूब माल ख़रीदते थे। ज्योतिषी,कारीगर, गणितज्ञ और वे लोग जो उस ज़माने के विज्ञान के बारे में कुछ जानते थे, ख़ीमों के इस शहर में इकट्ठे हुआ करते थे। ऐसा मालूम होता था कि मानो यह ख़ीमों का शहर सारी दुनिया पर हावी है। इस विस्तृत मंगोल साम्राज्य भर में, एक हद तक, शांति और सुप्रबन्ध था। महाद्वीपों के बीच के कारवानी रास्ते ख़ूब चलते थे और उनपर मुसाफ़िरों और सौदागरों का ख़ूब आना-जाना होता था। यों, एशिया और योरप एक-दूसरे के घने सम्पर्क में आगये थे।

क़राक़ुरम में मज़हबी आदमियों के बीच होड़ लगी हुई थी। संसार के इन विजेताओं को सभी अपने ख़ास मज़हब में मिलाना चाहते थे। जो मज़हब, इन शक्तिशाली लोगों को अपनी तरफ़ खींच लेने में कामयाब होता वह ख़ुद सर्वशक्तिमान होजाता और दूसरे मज़हबों पर हावी होजाता इसलिए सभी कोशिश में थे। पोप ने रोम से अपने प्रतिनिधि भेजे थे। नेस्टोरियन ईसाई भी, मुसलमान भी और बौद्ध भी आये थे। मंगोलों को किसी मज़हब में शामिल होने की जल्दी नहीं थी क्योंकि वे कोई बड़ी मज़हबी क़ौम के नहीं थे। पता चला है कि किसी वक़्त 'बड़ा ख़ान' ईसाई मत की तरफ़ झुक रहा था लेकिन वह पोप के अधिकार को मानने को तैयार नहीं था। आख़िर मंगोलों ने उन्हीं जगहों के मज़हबों को इख़्तियार कर लिया, जहाँ-जहाँ वे बस गये थे। इस प्रकार चीन और मंगोलिया में वे बौद्ध हो गये; मध्य एशिया में मुसलमान हो गये; और रूस और हंगरी में बहुत-से ईसाई हो गये।

रोम में, पोप के पुस्तकालय में, अभी तक 'बड़े ख़ां' (मंगू) का एक असली ख़त मिलता है, जो उसने पोप को लिखा था। यह ख़त अरबी ज़बान में है। मालूम होता है कि पोप ने नये ख़ान के पास, ओग़ताई के मरने के बाद, अपना एक एलची भेजा था और उसे सूचना की थी कि योरप पर फिर हमला न करे। ख़ान ने जवाब दिया था कि उसने योरप पर इसलिए हमला किया कि यूरोपियनों ने उसके साथ मुनासिब बर्ताव नहीं किया था।

(मंगू के ज़माने में विजय और विनाश की एक और लहर भी चली। उसका भाई हलाकू ईरान का गवर्नर था। बग़दाद के ख़लीफ़ा से वह किसी बात पर नाराज़ हो गया और उसने उसके पास एक संदेसा भेजा जिसमें उसकी वादाख़िलाफ़ी पर उसे

फटकारा और हिदायत की कि अगर वह आइन्दा ठीक तौर से न रहेगा तो अपना राज्य खो बैठेगा। खलीफ़ा कोई बहुत अक्लमंद आदमी नहीं था और न वह तजुर्बे से फ़ायदा उठाना ही जानता था। उसने भी सख़्त जवाब दे दिया और बग़दाद में वहाँ के लोगों की एक भीड़ ने मंगोल एलचियों की बेइज्ज़ती भी की। इस पर हलाकू का मंगोल ख़ून उबल पड़ा। ग़ुस्से में उसने बग़दाद के ऊपर कूच कर दी और ४० दिन घेरा डालने के बाद उसपर क़ब्ज़ा कर लिया। अलिफ़ लैला के शहर बग़दाद का यह ख़ातमा था। साम्राज्य के ५०० वर्ष में इस शहर में जो बेशुमार दौलत इकट्ठी हुई थी वह भी चली गई। ख़लीफ़ा और उसके लड़के और रिश्तेदार क़त्ल कर दिये गये। हफ्तों तक क़त्लेआम जारी रहा, यहाँ तक कि दजला (टाइग्रिस) नदी का पानी मीलों तक ख़ून से लाल हो गया। कहते हैं कि १५ लाख आदमी मारे गये। कला और साहित्य के जो ख़ज़ाने और पुस्तकालय थे, नष्ट कर दिये गये। बग़दाद बिलकुल बरबाद हो गया। पश्चिमी एशिया की नहरों की पुरानी प्रणाली भी, जो हज़ारों वर्षों से चली आती थी, हलाकू ने नष्ट कर दी।)

यही हाल एलप्पो, एलिस्सा और दूसरे शहरों का हुआ। पश्चिमी एशिया पर रात का अंधेरा छागया। उस ज़माने का एक इतिहासकार लिखता है कि यह "विज्ञान और गुण के अकाल का युग था।" फ़िलस्तीन को एक मंगोल फौज भेजी गई थी लेकिन मिस्र के सुलतान बेबर ने उसे हरा दिया। इस सुलतान का एक अजीब उपनाम 'बन्दूकदार' था क्योंकि उसके पास बंदूक़चियों का एक फ़ौजी दस्ता था। अब हम उस ज़माने तक पहुँच गये हैं जब बन्दूकों का इस्तैमाल शुरू होगया था। चीन के लोग बहुत दिनों से बारूद के बारे में जानते थे। मंगोलों ने ग़ालिबन इसे चीनियों से सीखा और यह मुमकिन है कि इन लोगों को बारूदी हथियारों की वजह से विजय में सहायता मिली हो। मंगोलों के ज़रिये ही आग्नेयास्त्र (फायर आर्म—बंदूकें वग़ैरा) योरप में दाख़िल हुए।

१२५८ ई० में बग़दाद की बरबादी से अब्बासिया साम्राज्य का जो कुछ बचा था वह भी ख़त्म हो गया। पश्चिमी एशिया में इस ख़ास तरह की अरबी सभ्यता का इसे अन्त कहना चाहिए। दक्षिण स्पेन में ग्रेनाडा अभीतक अरब परिपाटी पर चल रहा था। यह भी २०० वर्ष बाद ख़तम होगया। अरबस्तान ख़ुद महत्त्व में घटता गया और वहाँ के लोगों ने इसके बाद इतिहास में कोई बड़ा हिस्सा नहीं लिया। ये लोग कुछ दिनों के बाद उस्मानी तुर्की साम्राज्य के अंग बन गये। १९१४ और १८ के यूरोपीय महायुद्ध में, अंग्रेज़ों के उभाड़ने से, अरबों ने तुर्कों के ख़िलाफ़ विद्रोह किया था और उस वक्त से अरबस्तान कमोबेश आज़ाद है।

दो वर्ष तक कोई ख़लीफ़ा नहीं रहा। मिस्र के सुलतान बेबर ने आख़िरी अब्बासिया ख़लीफ़ा के एक रिश्तेदार को ख़लीफ़ा नामज़द कर दिया लेकिन उसके पास कोई राजनैतिक अधिकार नहीं थे; वह तो सिर्फ़ धर्म-गुरु था। ३०० वर्ष बाद कुस्तुन्तुनिया के तुर्की सुलतान ने ख़लीफ़ा की इस उपाधि को उसके आख़िरी उपाधिधारी से ले लिया। तबसे तुर्की सुलतान ख़लीफ़ा भी कहलाने लगे। अभी कुछ ही साल हुए, मुस्तफ़ा कमालपाशा ने सुलतान और ख़लीफ़ा दोनों को ख़तम कर दिया।

में अपनी कहानी से भटक गया। 'बड़ा ख़ान' मंगू १२३९ ई० में मर गया। मरने के पहले उसने तिब्बत को जीत लिया था। उसके बाद चीन का गवर्नर कुबलाईखां 'बड़ा ख़ान' बना। कुबलाई बहुत दिनों तक चीन में रह चुका था और उसे यह देश पसन्द था, इसलिए उसने अपनी राजधानी क़राकुरम से हटाकर पेकिंग में क़ायम की और उसका नाम 'ख़ानबालिक' यानी 'ख़ान का नगर' रक्खा। कुबलाई चीन के मामलों में इतनी दिलचस्पी रखता था कि उसने अपने बड़े साम्राज्य का ख़याल नहीं किया और धीरे-धीरे बड़े-बड़े मंगोल गवर्नर आज़ाद हो गये।

कुबलाई ने चीन की विजय पूरी करली लेकिन इस हमले में और इसके पहले के मंगोल हमलों में फ़र्क़ था। इसमें बेरहमी और बरबादी बहुत कम थी। चीन ने कुबलाई को ठंडा कर दिया था और उसे सभ्य बना दिया था। चीनी लोग भी इसके साथ बहुत अच्छा बर्ताव करते और उसे अपना आदमी मानते थे। कुबलाई ने ही युआन वंश, जिसे कट्टर चीनी वंश कहना चाहिए, चलाया। कुबलाई ने ही टांकिंग, अनाम और बर्मा जीतकर अपने राज्य में मिलाया था। वह जापान और मलेशिया भी जीतना चाहता था लेकिन कामयाब नहीं हुआ। क्योंकि मंगोलों को समुद्रों में सफ़र करने और लड़ने की आदत नहीं थी और उनको जहाज़ बनाना भी नहीं आता था।

मंगूखां के ज़माने में, फ़्रांस के बादशाह लुई नवम की तरफ़ से एलची आये थे। लुई ने यह तजवीज़ की थी कि योरप की ईसाई ताक़तें और मंगोल मिलकर मुसलमानों का विरोध करें। बेचारे लुई को बहुत बुरे दिन देखने पड़े थे क्योंकि क्रूसेड के ज़माने में वह क़ैद कर लिया गया था। लेकिन मंगोलों को ऐसी दोस्ती में कोई दिलचस्पी नहीं थी और न उन्हें किसी जाति से धर्म की बिना पर लड़ाई करना ही अच्छा लगता था।

फिर वे योरप के छोटे-छोटे राजाओं से क्यों और किसके ख़िलाफ़ दोस्ती करते? उन्हें पश्चिमी यूरोपीय राज्यों या मुसलमानी राज्यों की सिपहगीरी से कोई डर नहीं था। यह इत्तिफ़ाक़ की बात थी कि पश्चिमी योरप इनसे बच गया था।

सेलजूक तुर्क इनके सामने सर झुकाते थे और ख़िराज देते थे। सिर्फ़ मिस्र का सुलतान ही ऐसा था जिसने मंगोल फ़ौज को हराया था लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि अगर मंगोल चाहते और कोशिश करते तो उसे हरा देते। एशिया और योरप भर में, विशाल मंगोल साम्राज्य फैला हुआ था। मंगोलों की विजय के बराबर इतिहास में दूसरी विजय नहीं हुई और न इतना बड़ा साम्राज्य ही हुआ है। मंगोल उस वक्त दुनिया के बादशाह मालूम होते थे। हिन्दुस्तान उनसे आज़ाद था सिर्फ़ इसलिए कि मंगोल उस तरफ़ झुके नहीं थे। पश्चिमी योरप, जो हिन्दुस्तान के बराबर था, इस साम्राज्य से बाहर था, लेकिन वे हिस्से सिर्फ़ इसलिए आज़ाद थे कि मंगोल लोग उधर ध्यान नहीं दे रहे थे वर्ना वे जब चाहते, इन्हें हज़म कर सकते थे। तेरहवीं सदी में लोगों को ऐसा ही मालूम होता रहा होगा।

लेकिन मंगोलों की ज़बरदस्त ताक़त कुछ घटने लगी थी और विजय करने की प्रेरणा कम होती जारही थी। तुम्हें यह न भूलना चाहिए कि उस ज़माने में लोग या तो घोडे पर या पैदल चलते थे। सफ़र का इससे ज्यादा तेज़ कोई ज़रिया नहीं था। मंगोलिया के अपने देश से, साम्राज्य के पश्चिमी सरहद पर, योरप में जाने के लिए सेना को सफ़र में सालभर लग जाते थे, और विजय के लिए इनमें इतना उत्साह नहीं था कि वे अपने साम्राज्य में से होकर इतने लम्बे-लम्बे सफ़र करते, जब कि लूटमार की कोई गुंजाइश न थी। इसके अलावा लड़ाई में बराबर कामयाबी हासिल होते रहने और लड़ाई के दिनों में लूटमार करने की वजह से मंगोल सिपाही बहुत अमीर हो गये थे। इनमें बहुतों के पास ग़ुलाम भी थे, इसलिए वे ठंडे पड़ गये और शान्तिमय तरीक़ों को इख़्तियार करने लगे। जिसे अपनी ज़रूरियात की सब चीज़ें हासिल होती हैं वह शान्ति और सुलह के ही पक्ष में हुआ करता है।

विशाल मंगोल साम्राज्य का शासन बड़ा मुश्किल काम रहा होगा इसलिए यह ताज्जुब की बात नहीं कि यह बिखरने लगा। कुबलाई खां १२९२ ई० में मरा। इसके बाद कोई बड़ा ख़ान नहीं हुआ और साम्राज्य इन पांच हिस्सों में बँट गया :—

१. चीन का साम्राज्य—जिसमें मंगोलिया, मंचूरिया और तिब्बत शामिल थे। यह मुख्य भाग था और कुबलाई के युआन राजवंश के लोग इसके मालिक थे।

२. सुनहले कबीलों का (यह मुग़लों का स्थानीय नाम था) साम्राज्य। यह बिलकुल पश्चिम, रूस, पोलैंड और हँगरी में था।

३. इलख़ान साम्राज्य। यह ईरान, इराक़ और मध्य एशिया के एक हिस्से में था। इसकी बुनियाद हलाकू ने डाली थी और सेलजूक़ तुर्क इसे ख़िराज देते थे।

४. चग़ताई साम्राज्य। यह मध्य एशिया में, तिब्बत के उत्तर में, था। इसे महान् तुर्की कहते थे।

५. साइबेरियन साम्राज्य। यह मंगोलिया और 'सुनहले कबीले राज्य के बीच में था।

हालाँकि इस विशाल मंगोलियन साम्राज्य के टुकड़े हो गये थे लेकिन ये पाँचों टुकड़े, अपनी-अपनी जगह पर खुद भी विशाल साम्राज्य थे।)

: ६९ :

महान् यात्री मार्कोपोलो

२७ जून, १९३२

मैंने तुमसे क़राकुरम में 'बड़े खां' के दरबार का जिक्र किया है कि मंगोलों की शोहरत और उनकी विजय की चमक-दमक से खिंचकर कैसे सैकड़ों सौदागर, कारीगर, विद्वान और उपदेशक वहाँ इकट्ठा होने लगे थे। ये लोग इसलिए भी आते थे कि मंगोल इनको प्रोत्साहन देते थे। ये मंगोल लोग अद्भुत थे। बाज़-बाज़ बातों में बेहद क़ाबिल थे और बाज बातों में बिलकुल बच्चे। इसकी बेरहमी और भीषणता में भी, हालांकि वह दिल को दहला देती है, एक तरह का बचपन पाया जाता है और इसी बचपन की वजह से, मैं समझता हूँ, ये खूँख़ार सिपाही किसी क़दर चित्ताकर्षक हैं। कई सौ बरस बाद एक मंगोल, या मुग़ल ने, जैसा कि वह हिन्दुस्तान में पुकारा जाता था, हिन्दुस्तान को जीता। इसका नाम बाबर था। उसकी माँ चंगेज़ खां के वंश की थी। हिन्दुस्तान जीतने के बाद यह काबुल और उत्तर की ठंडी-ठंडी हवा, फूलों, बग़ीचों और तरबूज़ों के लिए तरसता था। यह बहुत ही भला आदमी था और उसने अपने संस्मरणों की जो किताब लिखी है उसकी वजह से तो यह और भी दिल को खींचनेवाला और भला आदमी मालूम होने लगता है।

इस तरह से मंगोल लोग अपने दरबार में बाहर के यात्रियों को आने के लिए प्रोत्साहन देते थे। इनमें ज्ञान की प्यास थी और ये उनसे सीखना चाहते थे। तुम्हें याद होगा, मैंने तुमको बताया था कि जैसे ही चंगेज़ खाँ को मालूम हुआ कि लिखने-जैसी भी कोई चीज़ है उसने उसका महत्व समझ लिया और अपने अफ़सरों को सीखने का हुक्म दिया था। इनके दिमाग़ खुले रहते थे और ये दूसरों से सीख सकते थे। कुबलाई ख़ाँ, पेकिंग में बसने के बाद और शरीफ़ चीनी सम्राट् बन जाने पर, ख़ास तौर से विदेशी यात्रियों को प्रोत्साहन देता था। उसके पास वेनिस से दो मुसाफ़िर

आये थे—एक का नाम था निकोलो पोलो, और दूसरे का मॅफ़ियो पोलो। ये लोग व्यापार की तलाश में बुख़ारा तक गये थे और वहाँ इनसे, ईरान में हुलाकू के पास भेजे हुए कुबलाई ख़ां के कुछ प्रतिनिधि मिले। उन लोगों ने इन दोनों सौदागरों को कारवां में शामिल होने को कहा और इस तरह से निकोलो पोलो और मेफियो पोलो बड़े ख़ाँ के दरबार में पेकिंग पहुँचे।

कुबलाई खाँ ने निकोलो और मॅफ़ियो का अच्छा स्वागत किया। उन्होंने ख़ाँ को योरप, ईसाईधर्म और पोप के बारे में बताया। वह इनकी बातों से बहुत खुश हुआ और ऐसा मालूम होता था कि वह ईसाई धर्म की तरफ़ झुक रहा है। उसने १२६९ ई० में इन दोनों को योरप वापस भेजा और यह संदेशा पोप से कहलाया कि वह कुबलाई के पास १०० विद्वान, जो सातों कलाओं के जानने वाले और ईसाई-धर्म समझा सकनेवाले हों, भेज दें। लेकिन ये लोग जब योरप वापस आये, उस समय पोप और योरप दोनों की हालत बुरी थी। इस क़िस्म के सौ आदमी थे ही नहीं। दो वर्ष के बाद ये लोग दो ईसाई साधुओं को साथ लेकर वापस आये लेकिन इससे ज्यादा ख़ास बात इन्होंने यह की कि अपने साथ निकोलो के नौजवान लड़के मार्को को भी ले आये।

तीनो पोलो अपने लम्बे सफ़र पर रवाना हुए और ख़ुश्की के रास्ते से इन्होंने एशिया की पूरी लम्बाई तय की। कितना बड़ा सफ़र यह था। अगर आज भी कोई उसी रास्ते पर जाय जिस पर पोलो गये थे तो क़रीब-क़रीब साल भर लग जायगा। पोलो ने कुछ हद तक ह्यूएनत्सांग का पुराना रास्ता लिया था। वे फ़िलस्तीन होकर आरमीनिया आये और वहां से इराक़ और ईरान की खाडी पहुँचे। यहां उन्हें हिन्दुस्तान के सौदागर मिले। ईरान पार करके वे बलख़ पहुँचे और वहाँ से पहाडों में होते काशग़र। काशग़र से ख़ुतन, ख़ुतन से लाप-नोर झील जो चंचल झील (Wandering Lake) कहलाती है, होते और रेगिस्तान पार करते हुए चीन और पेकिंग के मैदानों में पहुँचे। उनके पास एक सबसे बड़ा पासपोर्ट था। बड़े खां ने खुद सोने की तख़्ती पर खुदवाकर उन्हें कहीं भी जाने का हुक्म दे रखा था।

प्राचीन रोम के ज़माने में, चीन और सीरिया के बीच में, कारवान का यही पुराना रास्ता था। कुछ दिन हुए मैंने स्वीडन के मशहूर सय्याह और मुसाफ़िर स्वेन हेडेन का गोबी के रेगिस्तान पार करने का हाल पढ़ा है। वह पेकिंग से पश्चिम की ओर चला था। उसने रेगिस्तान पार किया और लाप-नोर की झील को छूता हुआ ख़ुतन और उसके आगे पहुँचा। उसके पास आजकल के ज़माने की सारी सहूलियतें थीं। फिर भी उसे सफ़र में बड़ी परेशानी और तकलीफ़ हुई। फिर ७०० और १३०० वर्ष पहले, जब पोलो और ह्यूएनत्सांग ने सफ़र किया होगा, इस रास्ते की

्या हालत रही होगी ? स्वेन हेडेन ने एक दिलचस्प खोज की है। उसने यह मालूम किया कि लाप-नोर झील का स्थान बदल गया है। बहुत दिन हुए, चौथी सदी में, तारिन नदी ने, जो लाप-नोर में गिरती है, अपना मार्ग बदल दिया था। रेगिस्तान की बालू ने फ़ौरन आकर उन जगहों को ढक लिया जहाँ से नदी होकर गुजरी थी। लाउलन का पुराना शहर, जो वहाँ बसा था, बाहरी दुनिया से बिलकुल अलग होगया और इसके निवासी शहर को बरबादी की हालत में छोड़कर निकल पडे। झील ने भी नदी की वजह से अपना मुक़ाम बदल दिया और यही हालत पुराने कारवान और व्यापारी रास्ते की हुई। स्वेन हेडेन ने देखा कि हाल ही में, कुछ ही वर्ष हुए, तारिन नदी ने फिर अपना रास्ता बदल दिया और अपने पुराने रास्ते पर चली गई। झील भी इसके पीछे-पीछे गई और आज फिर तारिन की नदी पुराने लाउलन नगर के खँडहर से होकर बह रही है और मुमकिन है कि वह पुराना रास्ता, जो १६०० वर्ष से काम में नहीं आया, फिर चलने लगे। लेकिन ऊँट की जगह पर अब मोटरें चलेंगी। इसी वजह से लाप-नोर को 'चंचल' या घूमनेवाली झील कहते हैं। मैंने तुमसे लाप-नोर और तारिन नदी की चंचलता का इसलिए ज़िक्र कर दिया कि तुम्हें मालूम हो जाय कि नदी के रास्ते में तब्दीली आजाने की वजह से बडे-बडे क्षेत्रों पर कैसे तब्दीली आजाती है और इतिहास पर कैसे असर पड़ता है। पुराने ज़माने में मध्य एशिया में बडी घनी बस्ती थी और आदमियों के झुंड के झुंड उमड़-उमड़ कर पश्चिम और दक्षिण जीतने के लिए निकले थे। आज कल यह हिस्सा बिलकुल रेगिस्तान है। इसमें कोई शहर नहीं पाये जाते और आबादी बहुत बिखरी हुई है। शायद उस वक्त ज्यादा पानी रहा हो और यह हिस्सा बहुत बडी आबादी का पालन पोषण करता रहा हो। जैसे-जैसे मौसम खुश्क होता गया और पानी कम पड़ता गया, आबादी घटती गई।

इन लम्बे-लम्बे सफ़रों से एक फ़ायदा था। मुसाफ़िरों को नई ज़बानों के सीखने का समय मिलता था। तीनो पोलों को वेनिस से पेकिंग तक पहुँचते-पहुँचते साढ़े तीन वर्ष लग गये और इस लम्बे ज़माने में मार्को को मंगोलों की ज़बान और शायद चीनी भाषा को अच्छी तरह सीखने का मौक़ा मिल गया। मार्को 'बडे खाँ' का बहुत प्रिय हो गया और उसने क़रीब १७ साल तक उसकी सेवा की। उसे एक सूबे का गवर्नर बना दिया गया था और वह सरकारी काम पर चीन के जुदे-जुदे हिस्सों में जाया करता था। हालांकि मार्को और उसके पिता अपने देश को वापस जाने को बडे उत्सुक थे; उनको अपने घर और देश की याद सताती थी और वेनिस वापस जाना चाहते थे लेकिन खाँ की इजाज़त मिलना आसान नहीं था। आखिरकार

उनको वापस जाने का मौका मिल गया। ईरान में इलख़ान साम्राज्य के मंगोल शासक की बीवी मर गई। वह शासक कुबलाई का चचेरा भाई था। वह फिर शादी करना चाहता था लेकिन उसकी पुरानी स्त्री ने यह वादा करा लिया था कि वह अपने फ़िरक़े के बाहर शादी न करे इसलिए आरगोन ने (कुबलाई के चचेरे भाई का यही नाम था) कुबलाई ख़ाँ के पास पेकिंग संदेशा भेजा और उससे प्रार्थना की कि अपने ही फ़िरक़े की एक योग्य स्त्री उसके पास भेज दे।

कुबलाई खां ने एक नौजवान मंगोल राजकुमारी को चुना और तीनों पोलों को उसके साथ कर दिया क्योंकि ये लोग तजुर्बेकार मुसाफ़िर थे। ये लोग समुद्र के रास्ते दक्षिण चीन से सुमात्रा गये और वहां कुछ दिन ठहरे। सुमात्रा में उस वक्त श्रीविजय का बौद्ध साम्राज्य क़ायम था। सुमात्रा से ये लोग दक्षिण हिन्दुस्तान आये। मैं तुमको, पाण्ड्य राज्य के मशहूर बंदरगाह कायल में मार्कोपोलो के आने के बारे में पहले ही लिख चुका हूँ। राजकुमारी के साथ मार्को और दूसरे लोग हिन्दुस्तान में काफ़ी वक्त तक ठहरे। मालूम होता है कि इन्हें कोई जल्दी नहीं थी क्योंकि इन्हें ईरान पहुँचते-पहुँचते दो वर्ष लग गये, लेकिन इस दरमियान जिसके साथ शादी होने वाली थी वह दूल्हा मर चुका था। उसने काफ़ी इन्तिज़ार किया था। शायद उसका मरना कोई बहुत बडी आपत्ति नहीं थी। नौजवान राजकुमारी की शादी आरगोन के लड़के से हो गई, जो उसका हम उम्र था।

पोलों ने राजकुमारी को तो वहीं छोड़ दिया और ख़ुद कुस्तुन्तुनिया होते हुए अपने घर गये। सन् १२९५ ई० में, यानी घर छोड़ने के २४ वर्ष बाद, वे वेनिस पहुँचे। किसीने उनको नहीं पहचाना। कहते हैं कि अपने पुराने दोस्तों और दूसरों पर असर डालने के लिए उन्होंने एक दावत की और जब लोग खारहे थे, उसीके बीच उन्होंने अपने फटे-पुराने और रुई भरे कपडे तराश डाले। फौरन ही क़ीमती जवाहिरात, हीरा, लाल, पन्ना, ढेरों उनके कपडों से निकल पडे; मेहमान हैरत में आगये। फिर भी बहुत कम आदमियों ने पोलों की कहानियों पर और चीन और हिन्दुस्तान में उनके कारनामों पर यक़ीन किया। इन लोगों ने समझा कि मार्को और उसके पिता और चचा बढ़ाकर बात कर रहे हैं। वेनिस के अपने छोटे-से प्रजातंत्र में महदूद होने की वजह से इनको यह कल्पना ही नहीं हो सकती थी कि चीन और एशिया के देश इतने बडे और मालदार हो सकते हैं।

तीन वर्ष बाद वेनिस और जेनेवा के शहरों में लड़ाई हुई। ये दोनों समुद्री ताक़तें थीं और दोनों में लाग-डाँट थी। दोनों के दरमियान समुद्री लड़ाई हुई। वेनिस के लोग हार गये और जेनेवावालों ने कई हज़ार आदमियों को क़ैद कर

लिया। इन क़ैदियों में हमारे मित्र मार्कोपोलो भी थे। जेनेवा के क़ैदखाने में बैठकर मार्कोपोलो ने अपना यात्रा-वर्णन लिखा या यों कहिए, लिखाया। इस तरीक़े से 'मार्कोपोलो के यात्रा-वर्णन' का जन्म हुआ। अच्छे काम करने के लिए जेलख़ाना क्या ही उम्दा जगह है।

इस सफ़रनामे में मार्को ने ख़ास तौर से चीन का हाल लिखा है और उन अनेक यात्राओं का भी ज़िक्र किया है जो उसने चीन में की थीं। उसने स्याम, जावा सुमात्रा, लंका और दक्षिण हिन्दुस्तान का भी हाल लिखा है। उसने बताया है कि चीन में बडे-बडे बन्दरगाह थे, जहां पूरब के देशों से सैकडों जहाज़ आया करते थे और बाज़-बाज़ जहाज़ तो इतने बडे होते थे कि उनमें ३००, या ४०० मल्लाह हुआ करते थे। उसने लिखा है कि चीन एक हरा-भरा और दौलतमन्द देश था जिस में अनेक शहर और क़स्बे थे। "रेशमी और सुनहले कपडे और बहुत ही नफ़ीस ताफ्ता बनते थे।" यह देश "बाग़ों और अंगूर के बग़ीचों" से भरा हुआ था। सड़कों पर मुसाफ़िरों के ठहरने के लिए, अच्छी-अच्छी सरायें बनी हुई थीं। उसने यह भी लिखा है कि बादशाह के हुक्म और संदेश पहुँचाने के लिए ख़ास इन्तज़ाम था। ये शाही संदेश या हुक्मनामे घोडों की डाक से २४ घंटे में ४०० मील तक ले जाये जाते थे और यह दरअसल बहुत अच्छी रफ्तार है। बीच-बीच में घोडे बदल दिये जाते थे। उसने यह भी बतलाया है कि चीन के लोग काला पत्थर, जिसे वे ज़मीन से खोदते थे, ईंधन के काम में लाते थे। इससे साफ़ ज़ाहिर है कि चीनी लोग कोयले की खाने खोदते थे और कोयला इस्तेमाल करते थे। कुबलाई ख़ाँ ने काग़ज़ के नोट चला रखे थे, उनके बदले सोने के सिक्के देने का वायदा होता था, जैसे आज-कल चलते हैं। यह बडी दिलचस्प बात है; क्योंकि इससे पता चलता है कि उसने आज-कल के तौर-तरीक़े पर लेन-देन का इन्तज़ाम कर रखा था। मार्को ने यह भी लिखा है कि प्रेस्टर जॉन नाम के शासक की मातहती में ईसाइयों की एक आबादी चीन में रहती थी। इस ख़बर से योरप के लोगों को बड़ा अचम्भा हुआ। शायद ये लोग मंगोलिया के पुराने नेस्टोरियन रहे हों।

मार्को ने जापान, बर्मा और हिन्दुस्तान के बारे में भी लिखा है। बहुतसी बातें ऐसी लिखी हैं जो उसने ख़ुद देखी थीं, और बहुतसी ऐसी जो सुनी थीं। मार्को की कहानी अभी तक भी सफ़र की अदभुत कहानी मानी जाती है। इस कहानी ने योरप के लोगों की आँखें खोल दीं। जो लोग अपने छोटे-छोटे देशों में, अपने छोटे ईर्षा और द्वेष में फँसे हुए थे, उनकी आँखों के सामने विशाल संसार की महानता, संपत्ति और चमत्कार आगया। इससे उनकी कल्पना को उत्तेजना मिली; साहस की भावना बढ़ी और लोभ-लालच में तेज़ी पैदा

हो गई। इससे उन्हें समुद्र-यात्रा करने का प्रोत्साहन मिला। योरप बढ़ रहा था; उसकी नई सभ्यता अपने पैरों पर खड़ी हो रही थी और मध्य-काल की बंदिशों को तोड़कर बाहर आरही थी। वह जिन्दगी और जोश से भर रही थी और जवानी पर आरही थी। समुद्र-यात्रा की इसी प्रेरणा की वजह से और धन तथा साहस के ख़तरनाक कामों की तलाश में यूरोपियन लोग इसके बाद अमेरिका पहुँचे। केप आफ़ गुड होप (उत्तमाशा अन्तरीप) के चारों तरफ़ होते हुए प्रशांत महासागर, हिन्दुस्तान, चीन और जापान पहुँचे। समुद्र दुनिया का राजमार्ग बन गया और महाद्वीपों के कारवान के बड़े-बड़े रास्तों का महत्व कम हो गया।

मार्को के चले आने के थोड़े दिन बाद ही 'बड़े खां' कुबलाई की मृत्यु हो गई। युआन राजवंश, जिसका यह जन्मदाता था, इसके मरने के बाद बहुत दिन तक नहीं चला। मंगोलों की ताक़त तेज़ी के साथ घटने लगी और विदेशियों के खिलाफ़ चीन में एक राष्ट्रीय लहर पैदा हो गई। ६० वर्ष के अन्दर ही मंगोल दक्षिण चीन से निकाल दिये गये और नानकिंग में एक चीनी सम्राट बन बैठा। इसके १२ वर्ष बाद, १३६८ ई० में, यूआन राजवंश का बिलकुल ख़ातमा हो गया और मंगोल लोग चीन की 'बड़ी दीवार' के बाहर निकाल दिये गये। एक दूसरा चीनी राजवंश—ताईमिंग राजवंश—अब सामने आगया। इसने ३०० वर्ष तक चीन में राज किया। यह ज़माना सुशासन, संपन्नता और सभ्यता का ज़माना समझा जाता है। दूसरे देश को जीतने की या साम्राज्य बनाने की इन लोगों ने कोई कोशिश नहीं की।

चीन में मंगोल साम्राज्य टूट जाने की वजह से, चीन और योरप का संपर्क भी टूट गया। ख़ुश्की के रास्ते अब सुरक्षित नहीं रह गये थे और समुद्र के रास्तों का अभी इतना ज्यादा इस्तेमाल शुरू नहीं हुआ था।

: ७० :

रोमन चर्च का फ़ौजी बाना

२८ जून, १९३२

मैंने तुम्हें बताया है कि कुबलाईख़ां ने पोप के पास एक संदेसा भेजा था और कहा था कि चीन को सौ विद्वान आदमी भेज दे। लेकिन पोप इस संदेसे के मुताबिक़ काम नहीं कर सका। उस वक्त वह बुरी हालत में था। अगर तुम्हें याद हो तो यह सम्राट फ़्रेडरिक द्वितीय की मृत्यु के बाद का जमाना था, जबकि १२५० ई० से १२७३ ई० तक कोई गद्दी पर था ही नहीं। उस वक्त मध्य योरप की बड़ी बुरी हालत थी।

चारों तरफ़ बदइन्तिज़ामी थी और डाकू सरदार हर जगह लूट-मार करते फिरते थे। १२७३ ई० में हैप्सबर्ग का रूडोल्फ़ सम्राट हुआ लेकिन इससे हालत कुछ सुधरी नहीं बल्कि इटली साम्राज्य से निकल गया।

यहाँ इस समय खेल राजनैतिक अशान्ति ही नहीं थी; रोमन चर्च के दृष्टिकोण से धार्मिक अशान्ति की शुरूआत भी हो चुकी थी। लोग उतने फ़र्माबरदार नहीं रह गये थे और न चर्च के हुक्मों का ही नम्रता से पालन करते थे। लोग शंका करने लग गये थे और मज़हबी मामलों में शंका ख़तरनाक चीज़ होती है। हम देख चुके हैं, सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय पोप के साथ लापरवाही का बर्ताव करता था और समाज से निकाल दिये जाने से नहीं डरा था। उसने पोप के साथ ख़तों के ज़रिये बहस भी शुरू कर दी थी जिसमें पोप को नीचा देखना पड़ा था। फ़्रेडरिक की तरह योरप में उस वक्त बहुत से शंका करनेवाले रहे होंगे। बहुत से इस तरह के भी आदमी रहे होंगे जो चाहे पोप या चर्च के अधिकारों पर शंका न भी करते रहे हों लेकिन जिन्हें चर्च के बड़े आदमियों की विलासिता और दुष्टता का जीवन बुरा मालूम होता रहा होगा।

क्रूसेड की लड़ाइयाँ बदनामी और बेइज्ज़ती के साथ ख़तम हो रही थीं। इनकी शुरूआत बड़ी उम्मीदों और बड़े उत्साह से हुई थी लेकिन इनसे कुछ मतलब न निकला। इस क़िस्म की नाकायाबियों से फिर प्रतिक्रिया होती है। चर्च से असन्तुष्ट होकर लोग धीरे-धीरे प्रकाश की खोज में दूसरी जगहों पर नज़र दौड़ाने लगे। चर्च ने ज़ोर-ज़बर्दस्ती से इसका बदला लिया और आतंकवाद के साधनों से आदमियों के दिमाग़ के ऊपर कब्ज़ा क़ायम रखना चाहा। चर्च यह बात बिलकुल भूल गया कि आदमी का दिमाग़ अजीब होता है और पाशविक बल इसके ख़िलाफ़ बहुत ही कमज़ोर हथियार है। उसने कोशिश यह की कि व्यक्तियों के और समूहों के अंदर उठनेवाले ख़यालों का गला घोंट दे। उसने शंका का जवाब युक्ति और दलील से न देकर डंडे और यातना से दिया।

११५५ ई० में, ब्रेशिया (इटली) के लोकप्रिय और ईमानदार उपदेशक एर्नाल्ड पर चर्च का ग़ुस्सा उतरा। एर्नाल्ड पादरियों की विलासिता और भ्रष्टता के ख़िलाफ़ प्रचार करता था। उसे पकड़कर फाँसी पर लटका दिया गया। फिर उसकी लाश को जलाकर राख टाइबर नदी में फेंक दी गई कि कहीं लोग उसे यादगार की तरह न रख लें। मरते दम तक एर्नाल्ड शांत और गम्भीर रहा।

पोप इस मामले में यहाँतक बढ़ गया था कि ईसाइयों के गिरोह-के-गिरोह को, जो धार्मिक सिद्धान्तों में उससे ज़रा भी मतभेद रखता या पादरियों के तौर-तरीक़ों की ज़्यादा आलोचना करता, चर्च या समाज से बाहर निकाल देता। इन लोगों के

खिलाफ़ बाक़ायदा युद्ध की घोषणा कर दी जाती थी और इन पर हर क़िस्म की शर्मनाक बेरहमी और भीषणता का वार होता था। अलबिगुइस (या अलबिजेन्सस) लोगों के साथ, जो दक्षिण फ्रांस के टूलोज़ नगर के थे, और वाल्डेन्सेस के साथ, जो वाल्डो के अनुयायी थे, इसी क़िस्म का बर्ताव हुआ था।

इसी समय, या इससे कुछ पहले, इटली में एक आदमी रहता था, जो ईसाई धर्म के इतिहास में एक बड़ा ही आकर्षक व्यक्ति हुआ है। यह असीसी का फ्रांसिस था। यह बड़ा अमीर आदमी था लेकिन इसने अपनी अमीरी को छोड़कर ग़रीबी इख़्तियार करली थी और बीमारों और ग़रीबों की सेवा के लिए बाहर निकल पड़ा था। चूंकि कोढ़ी सबसे ज्यादा दुखी थे और लोग सबसे कम उनकी परवाह करते थे इसलिए ख़ास तौर से वह उनकी सेवा में लगा रहता था। उसने एक संघ चलाया, जो बौद्ध संघ की तरह था। इसे 'सेंट फ्रांसिस का आर्डर' यानी संघ कहते हैं। यह एक जगह से दूसरी जगह प्रचार करता हुआ और लोगों की सेवा करता हुआ फिरता था और हज़रत ईसा की तरह अपनी ज़िन्दगी बिताने की कोशिश करता था। हज़ारों आदमी इसके पास आते थे और बहुत से इसके शिष्य हो गये। जब क्रूसेड चल रहे थे तब यह मिस्र और फिलस्तीन गया था। हालाँकि वह ईसाई था लेकिन मुसलमान भी इस शान्त और हर-दिल-अज़ीज़ शख़्स की इज्ज़त करते थे और उन्होंने किसी तरह से उसके काम में दस्तंदाज़ी नहीं की। ११८१ से १२२६ तक वह ज़िन्दा रहा। उसके मरने के बाद उसके संघ की चर्च के ऊँचे अफ़सरों से टक्कर हो गई। शायद चर्च को यह पसन्द नहीं था कि ग़रीबी की ज़िंदगी पर इतना ज़ोर दिया जाय। ग़रीबी और सादगी से ज़िंदगी बिताने के इस पुराने ईसाई सिद्धान्त को चर्चवाले भूल गये थे। १३१८ ई० में मार्सेलीज़ में फ्रांसिस के संघ के चार साधु, काफ़िर होने के अपराध में, ज़िन्दा जला दिये गये।

कुछ साल हुए, असीसी के छोटे से शहर में संत फ्रांसिस की यादगार में एक बहुत बड़ा जलसा हुआ था। मुझे याद नहीं पड़ता कि उस साल यह जलसा क्यों किया गया। शायद यह उसके मरने का सातसौवाँ साल रहा हो।

फ्रांसिस के संघ की तरह, लेकिन भावना में उससे बिलकुल भिन्न, एक दूसरा संघ चर्च के अन्दर पैदा हुआ। उसका चलानेवाला एक स्पेन-निवासी सेण्ट डोमिनिक था। इस संघ को 'डोमिनिकन आर्डर' कहते हैं। यह संघ उग्र और कट्टर था। इन लोगों के ख़याल में मज़हब को क़ायम रखने के बड़े फ़र्ज़ के सामने दुनिया की सारी चीज़ें फ़िज़ूल थीं। उनका ख़याल था कि अगर ये फ़र्ज़ समझाने बुझाने से पूरे नहीं हो सकें तो ज़ोर जबर्दस्ती से भी काम लेना चाहिए।

मजहब में चर्च ने हिंसा और जब्र का राज्य बाक़ायदा और सरकारी तौर पर १२३३ में 'इन्क्विजिशन' को जारी करके शुरू किया। 'इन्क्विजिशन' एक क़िस्म की अदालत होती थी जो लोगों के धार्मिक सिद्धान्तों पर विचार करती थी। अगर इस अदालत की राय में लोग चर्च के धार्मिक सिद्धान्तों में पक्के साबित नहीं होते थे तो उनकी मामूली सजा यह थी कि वे जिन्दा जला दिये जाते थे। काफ़िरों यानी नास्तिकों की बाक़ायदा खोज होती रहती थी और उनमें से सैकड़ों जिन्दा जला दिये गये। जिन्दा जलानें से भी बदतर यातना पहुँचाने की प्रथायें थीं ताकि काफ़िर लोग पुराने धर्म में वापस आजायँ। बहुतेरी ग़रीब अभागी औरतों पर टोना-टोटका करने का अपराध लगाया जाता था और वे जिन्दा जला दी जाती थीं लेकिन यह बात, ख़ास कर इंग्लैण्ड और स्काटलैंड में, अक्सर जनता की उत्तेजित भीड़ करती थी। 'इनक्विजिशन' यानी मजहबी अदालत के फ़ैसले से ऐसा नहीं होता था।

पोप ने एक 'धर्माज्ञा' (Edict of Faith) निकाली जिसमें हरेक आदमी को हुक्म दिया गया कि मुख़बिर का काम करे। पोप ने केमिस्ट्री (रसायन शास्त्र) को शैतानी हुनर कहकर नाजायज क़रार दिया था, और मज़ा यह कि यह सारी हिंसा और अत्याचार ईमानदारी के साथ किया गया था। ये लोग ईमानदारी के साथ इस बात पर यक़ीन करते थे कि किसी आदमी को जिन्दा जलाकर उसकी आत्मा को और दूसरों की आत्मा को बचा रहे हैं! मजहबी आदमियों ने अक्सर दूसरों से अपने ख़याल जबर्दस्ती मनाने की कोशिश की है और दूसरों के हलक़ के नीचे अपने ख़यालात उतारे हैं और समझते रहे हैं कि हम जनता की सेवा कर रहे हैं। ईश्वर के नाम पर इन्होंने हत्यायें की हैं और लोगों की जानें ली हैं। और अविनाशी आत्मा को बचाने की बात करते हुए इन्होंने नाशमान शरीर को भस्म कर देने में जरा भी संकोच नहीं किया है। मजहब की करतूतें बड़ी ख़राब रही हैं पर इस अमानुषिक बेरहमी में 'इनक्विजिशन' यानी इस मजहबी अदालत का मुकाबिला करनेवाली कोई दूसरी चीज दुनिया में नहीं हुई। और फिर भी यह एक ताज्जुब की बात है कि बहुत से आदमी, जो इन अत्याचारों के लिए जिम्मेदार थे, इस काम को अपने जाती फ़ायदे के लिए नहीं लेकिन इस दृढ़ विश्वास से कर रहे थे कि वे ठीक काम कर रहे हैं।

जब पोपों ने योरप के ऊपर ख़ौफ़ का यह राज्य फैला रखा था तब उधर राजा और सम्राटों के ऊपर उनका जो रौब था वह दूर होता जारहा था। वे दिन चले गये थे, जब पोप सम्राट को समाज से बाहर करने की धमकी देकर और डराकर अपना ताबेदार बना लेता था। जब पवित्र रोमन साम्राज्य की बुरी हालत होगई; कोई सम्राट

नहीं रहा या सम्राट रोम से दूर रहे तब फ्रांस का राजा पोप के कामों में दख़ल देने लगा। १३०३ ई० में पोप की किसी बात से फ्रांस का राजा नाराज़ हो गया। उसने पोप के पास एक आदमी भेजा जो ज़बर्दस्ती पोप के महल में घुसकर पोप के सोने के कमरे में चला गया और वहाँ पर पहुंचकर उसके मुँह पर उसका अपमान किया। इस बात पर किसी देश में असन्तोष नहीं हुआ। कहाँ यह बात और कहाँ कनोज़ा में, नंगे पैर पोप से मिलने के लिए सम्राट के घंटों खड़े रहने की बात !

कुछ साल बाद, १३०९ ई० में, एक नया पोप जो फ्रांसीसी था, एविगनन (जो अब फ्रांस में है) में रहने लगा। पोप लोग यहाँ १३७७ ई० तक, फ्रांसीसी बादशाहों के प्रभाव में, रहते रहे। १३७८ ई० में पोप का चुनाव करनेवाले बड़े पादरियों के संघ (College of Cordinals) में मत-भेद हो गया। इसे 'महान् झगड़ा' (The Great Schism) कहते हैं। इनकी दो पार्टियों ने अपना-अपना पोप अलग चुन लिया। एक पोप तो रोम में रहने लगा और सम्राट और उत्तर योरप के बहुत से देश इसको मानते थे। दूसरा जो एण्टी-पोप कहलाने लगा, एविगनन में रहता था। फ्रांस का राजा और उसके कुछ साथी राजा और सरदार उसका समर्थन करते थे। ४० वर्ष तक यह हालत रही। पोप और एण्टी-पोप एक दूसरे को कोसते और समाज से बहिष्कृत करते रहे। १४१७ ई० में समझौता हो गया और दोनों पार्टियों ने मिल-कर एक नया पोप चुना जो रोम में रहता था लेकिन दोनों पोपों के बीच के इस अप्रिय झगड़े का असर योरप के लोगों पर बहुत ज्यादा पड़ा होगा। जब पादरी लोग, और इस संसार में ईश्वर के प्रतिनिधि लोग, इस तरह की हरकतें करते हैं तो लोग उनकी पवित्रता और ईमानदारी पर शंका करने लगते हैं। इस तरह इस झगड़े की वजह से, लोगों को मज़हबी अफ़सरों की अंधी ताबेदारी से बाहर निकलने में बड़ी मदद मिल गई। फिर भी उनको अभी काफ़ी ज़ोरदार धक्के की ज़रूरत थी।

(चर्च पर वाइक्लिफ़ नाम के एक अंग्रेज़ ने खुले आम आक्षेप करना शुरू कर दिया। वह पादरी था और आक्सफर्ड में प्रोफ़ेसर था। बाइबिल का अंग्रेज़ी में पहली मर्तबा तर्जुमा करने के लिए वह मशहूर है। अपनी ज़िन्दगी में तो वह रोम के पोप के कोप से किसी तरह बच गया। लेकिन १४१५ ई० में, मरने के ३१ वर्ष बाद, चर्च कौंसिल ने हुक्म दिया कि उसकी हड्डियां खोदकर निकाली और जला दी जायँ। इस हुक्म की पाबन्दी की गई।)

(हालांकि वाइक्लिफ़ की हड्डियों को क़ब्र खोदकर निकाला और जला दिया गया मगर उसके ख़यालात को आसानी से नहीं दबाया जा सका। वे फैलने लगे; यहाँतक कि बोहेमिया तक, जो अब ज़ेकोस्लोवाकिया कहलाता है, पहुँच गये और उनका असर

जॉन हस पर हुआ, जो बाद में प्रेग विश्व-विद्यालय का प्रमुख हुआ। पोप ने जॉन हस को उसके ख़यालात की वजह से समाज से निकाल दिया लेकिन इससे उसके शहर में उसका कुछ नहीं बिगड़ा, क्योंकि वहाँ वह बहुत लोकप्रिय था। इसलिए एक चाल चली गई। उसे कॉन्स्टेंस, जो स्वीजरलैंड में है और जहां चर्च कौंसिल की बैठक हो रही थी, बुलाया गया और सम्राट ने वादा किया कि हिफ़ाजत से वहां पहुँचा दिया जायगा। जॉन हस गया। उससे कहा गया कि तुम अपनी ग़लती मान लो लेकिन उसने जवाब दिया कि जबतक मैं समझ न लूं अपनी ग़लती नहीं मान सकता। इसपर हिफ़ाजत के वादे के बावजूद उन्होंने उसे जिन्दा जला दिया। यह १४१५ ई० की बात है। हस बड़ा बहादुर आदमी था और जिसे वह झूठ समझता था उसे मान लेने की बनिस्बत यातनापूर्ण मृत्यु को बेहतर समझता था। वह अन्तःकरण और भाषण की स्वतंत्रता की वेदी पर शहीद हो गया। यह जेक लोगों का एक वीर पुरुष समझा जाता है और जेकोस्लोवाकिया में इसकी यादगार की आजतक इज्जत है।)

जॉन हस की शहादत बेकार नहीं गई। चिनगारी के तरह इसने बोहेमिया में इसके अनुयायियों में विद्रोह की आग जला दी। पोप ने इन लोगों के ख़िलाफ़ क्रूसेड की घोषणा की। क्रूसेड एक सस्ती चीज थी; उसमें कुछ ख़र्च नहीं होता था और ऐसे भी बदमाशों की कमी नहीं थी जो ऐसे मौक़ों से फ़ायदा उठाते थे। इन जिहादियों ने, जैसा एच० जी० वेल्स ने लिखा है, "बेगुनाह लोगों पर बुरी तरह और दिल दहलादेने वाले अत्याचार किये"। लेकिन जब हस के अनुयायियों की फ़ौज अपना लड़ाई का गाना गाती हुई आई, तो ये धर्म के लिए लड़ने वाले ग़ायब हो गये। जिस रास्ते से ये आये थे उसी रास्ते तेज़ी से वापस चले गये। जब तक गाँव के बेगुनाह लोगों को मारने और लूटने का काम था, इन बहादुरों ने खूब जोश दिखाया, लेकिन संगठित सेना के आने पर वे भाग गये।

इस तरह से निरंकुश और अपनेको ही सच्चा माननेवाले मजहबी लोगों के ख़िलाफ़ बलवा और विद्रोह का सिलसिल शुरू हुआ, जो सारे योरप में फैल गया, उसको एक-दूसरे के ख़िलाफ़ दो दलों में बाँट दिया और ईसाई मजहब के दो टुकड़े हो गये—एक कैथलिक, दूसरा प्रोटेस्टेण्ट।

: ७१ :

अधिकारवाद के ख़िलाफ़ लड़ाई

३० जून, १९३२

मुझे डर है कि योरप के मज़हबी लड़ाई-झगड़ों का बयान तुम्हें नीरस मालूम होगा। लेकिन यह बयान महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे यह पता चलता है कि आज के योरप का विकास कैसे हुआ। इसकी मदद से हम योरप को समझ भी सकते हैं। मज़हबी आज़ादी के लिए जो लड़ाई योरप में चौदहवीं सदी में और उसके बाद बढ़ी और राजनैतिक आज़ादी की लड़ाई, जो इसके बाद हुई, दरअसल एक ही लड़ाई के दो पहलू हैं। इसे अधिकार या अधिकारवाद के ख़िलाफ़ युद्ध कहना चाहिए। पवित्र रोमन साम्राज्य और पैपसी (पोप राज्य) दोनों निरंकुश अधिकार के नुमाइंदे थे और आदमी की आत्मा को कुचलने कोशिश करते थे। सम्राट् 'ईश्वरीय अधिकार' से शासन करता था और पोप तो ईश्वर का प्रतिनिधि ही बना हुआ था। किसीको इस बारे में बोलने और उनके हुक्म को मानने से इन्कार करने का हक़ नहीं था। फ़रमाबरदारी बहुत बडी ख़ासियत समझी जाती थी। निजी विवेक या बुद्धि का इस्तेमाल भी पाप माना जाता था। इसी तरह दो रास्ते बिलकुल अलग-अलग थे। एक तो आँख मूंदकर ताबेदारी का रास्ता था और दूसरा आज़ादी का। अन्तः-करण की आज़ादी के लिए और, इसके बाद राजनैतिक आज़ादी के लिए, योरप में कई सदियों तक ज़बर्दस्त लड़ाई होती रही। बहुत ऊँचा-नीचा देखने और बडी तक-लीफ़ें उठाने के बाद कुछ हद तक कामयाबी हुई। लेकिन लोग ठीक उस वक्त, जब आज़ादी की मंज़िल तक पहुँचने के लिए आपस में एक दूसरे को मुबारकबादी दे रहे थे कि उन्हें यह पता चला कि वे ग़लती पर हैं। जब तक आर्थिक आज़ादी नहीं मिलती, जब तक ग़रीबी मौजूद है, तब तक यह कहना सही नहीं है कि असली आजादी मिल गई। भूखे आदमी से कहना कि तुम आज़ाद हो, उसका मुंह चिढ़ाना है। इसलिए दूसरा क़दम आर्थिक आज़ादी की लड़ाई की तरफ़ बढ़ाया गया और यह लड़ाई सारी दुनिया में आज जारी है। सिर्फ एक देश के बारे में यह कहा जासकता है कि वहां, आमतौर पर जनता को आर्थिक आज़ादी मिली है और वह देश रूस है या यों कहो कि सोवियट यूनियन है।

हिन्दुस्तान में अन्तःकरण की आज़ादी की कोई लड़ाई नहीं हुई क्योंकि बहुत ही पुराने ज़माने से यह हक़ हिन्दुस्तान में सब लोगों को मिला हुआ था। लोगों को हक़ था कि चाहे जो मानें। कोई मज़बूरी नहीं थी। लोगों के दिमाग़ पर असर

डालने का जरिया बहस मुबाहसा और दलीलें हुआ करती थीं, लाठी-डंडा नहीं। मुमकिन है, कभी-कभी जबर्दस्ती और हिंसा की भी गई हो, लेकिन पुराने आर्य सिद्धान्त में अन्तःकरण की आज़ादी मानी गई थी। अजीब बात यह है कि इसका नतीजा हमेशा अच्छा नहीं हुआ। सिद्धान्त में आज़ादी होने की वजह से लोग उसके बारे में सजग नहीं रहे और धीरे-धीरे असलियत से गिरते हुए मजहब के आचार-विचारों, रीति-रिवाजों और झूठे विश्वासों के जाल में फँसते गये। उन्होंने एक धार्मिक मनोदशा पैदा कर दी जिसकी वजह से लोग बहुत पीछे हट गये और धार्मिक सत्ता के ग़ुलाम हो गये। यह सत्ता किसी पोप या व्यक्ति की नहीं थी; यह सत्ता शास्त्रों या 'पवित्र ग्रंथों', रस्म-रिवाज और परम्परा की थी। इस तरह से हम अन्तःकरण की आज़ादी की बात-चीत करते थे और उस पर नाज़ करते थे, लेकिन असल में हम आज़ादी से बहुत दूर थे और पुरानी किताबों और रस्मों की जंजीरों में जकड़े हुए थे। अधिकार और अधिकारवाद हम पर हुकूमत करता था और हमारे दिमाग़ पर उसीका क़ब्ज़ा था। जंज़ीरें, जो कभी-कभी हमारे शरीर को बाँधती हैं, काफ़ी बुरी होती हैं लेकिन ख़यालात और तास्सुब की अदृश्य जंज़ीरें, जिनसे हमारा मन बंधा हो, उनसे कहीं ज्यादा ख़राब होती हैं। ये ज़ंजीरें हम खुद ही बनाते हैं और गोकि हम खुद यह नहीं जानते कि हम बँधे हुए हैं लेकिन असल में वे हमें बड़ी सख़्ती से जकड़े होती हैं।

हिन्दुस्तान में मुसलमानों के हमलावर की हैसियत से आने की वजह से मज़हब के मामले में किसी हद तक जोर-ज़बर्दस्ती का माद्दा आया। लड़ाई असल में जीतने और हारनेवाले के दरमियान, राजनैतिक, थी; लेकिन इसमें मज़हब का रंग आगया था और कभी-कभी मज़हबी जुल्म हुए। लेकिन यह समझना कि इस्लाम मज़हबी जुल्म का क़ायल था, ग़लती होगी। १६१० ई० में, जब अरब लोग स्पेन से निकाल दिये गये थे, तब एक स्पेनिश मुसलमान ने एक दिलचस्प तक़रीर की थी। 'इन्क्वि ज़िशन का विरोध करते हुए उसने कहा था—

"क्या हमारे विजयी पुरखों ने कभी एक दफ़ा भी ईसाई धर्म को स्पेन से नेस्तनाबूद करने की कोशिश की, जबकि वे आसानी से ऐसा कर सकते थे? जब तुम्हारे पुरखे ज़ंजीरें पहने हुए थे तब क्या हमारे पूर्वजों ने उन्हें अपने रस्म व रिवाज पर आज़ादी के साथ चलने का हक़ नहीं दे रखा था? अगर ज़बर्दस्ती मज़हब में मिला लेने की कुछ घटनायें मिलती भी हैं तो वे इतनी कम हैं कि उनका बयान बेकार है। ऐसी ज़बर्दस्ती उन लोगों ने की है जिनकी आँखों के सामने ख़ुदा और रसूल का डर नहीं था। अगर किसीने ऐसा किया तो इस्लाम के सिद्धान्त और शरीयत के ख़िलाफ़ किया और जो ऐसा करे वह मुसलमान कहलाने के क़ाबिल नहीं

हैं। तुम मुसलमानों में एक भी ऐसी बाक़ायदा बनाई गई और ख़ून की प्यासी अदालत नहीं पा सकते जो मज़हबी ख़यालात से विरोध होने की वजह से ज़ुल्म में तुम्हारे 'इनक्विज़िशन' की बराबरी कर सके। इसमें शक नहीं कि जो लोग हमारे मज़हब में आना चाहते हैं, हम उनको गले लगाने के लिए बिलकुल तैयार हैं; लेकिन कुरान पाक में इस बात की इजाज़त नहीं है कि किसी के अन्तःकरण के साथ ज़बरदस्ती की जाय।"

इस तरह, धार्मिक सहिष्णुता और आत्मा की स्वतंत्रता, जो पुराने हिन्दुस्तानी जीवन के ख़ास पहलू थे, किसी हद तक हममें से जाते रहे। उधर योरप हमारे बराबर पहुँच गया; बल्कि लम्बी कशमकश के बाद इन्हीं सिद्धान्तों को स्थिर करने में वह हमसे आगे बढ़ गया। आज कभी-कभी हिन्दुस्तान में मज़हबी झगडे होते हैं; हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे से लड़ते हैं और एक दूसरे को क़त्ल करते हैं। यह सच है कि ऐसा कभी-कभी और कहीं-कहीं ही होता हैं, और ज्यादातर हम लोग, हिन्दू और मुसलमान, दोस्ती और शान्ति के साथ, रहते हैं क्योंकि हमारे असली हित और स्वार्थ एक ही हैं। किसी हिन्दू या मुसलमान का, मज़हब के नाम पर, अपने भाई से लड़ना शर्म की बात है। हमें इसे ख़तम कर देना चाहिए और हम ज़रूर ख़तम कर देंगे। लेकिन ख़ास बात तो यह है कि अन्ध-विश्वास, परम्परा और रस्मरिवाज की मनोदशा के चक्कर से, जिसने मज़हब की आड़ में हमें जंजीर से बाँध रक्खा है, हम आज़ाद हो जायँ।

धार्मिक सहिष्णुता की तरह राजनैतिक आज़ादी के मामले में भी हिन्दुस्तान ने पहले अच्छी शुरुआत की थी। तुम्हें गाँवों के लोकतंत्रों या जनता की पंचायतों की याद होगी। तुम्हें ख़याल होगा कि पहले पहल राजा के अधिकार किस तरह महदूद थे और योरप की तरह हिन्दुस्तान में यह नहीं माना जाता था कि राजा को 'ईश्वरीय अधिकार' मिले हुए हैं। हमारा सारा राजशासन गाँवों की स्वतंत्रता पर बना हुआ था। लोग इस बात की परवाह नहीं करते थे कि राजा कौन है। अगर उनकी स्थानीय आज़ादी महफ़ूज़ रहती थी तो उनको इस बात की परवाह नहीं होती थी कि ऊपर का अफ़सर कौन है; लेकिन यह ख़याल ख़तरनाक और बेवक़ूफ़ी का था। धीरे-धीरे ऊपर के अफ़सरों ने अपने अख़्तियारात बढ़ा लिये और गाँव की आज़ादी में दख़ल देने लगे और एक ज़माना आया कि इस देश में बिलकुल निरंकुश सम्राट् होने लगे; गाँवों की अपनी कोई सत्ता नहीं रह गई और ऊपर से नीचे तक कहीं भी आज़ादी का नामो-निशान नहीं रहा।

: ७२ :

मध्य युग का अंत

१ जुलाई, १९३२

आओ, हम तेरहवीं से चौदहवीं सदी तक के योरप पर फिर से एक नज़र डाल लें। यहाँ हमें बहुत ज्यादा अशांति, हिंसा और लड़ाई-झगड़ा मिलेगा। हिन्दुस्तान की हालत भी काफ़ी खराब थी लेकिन योरप के मुक़ाबिले में उसे कुछ शान्तिमय कह सकते हैं।

मंगोल लोग योरप में बारूद लाये और अब बन्दूकों का इस्तैमाल होने लगा था। राजाओं ने इससे फ़ायदा उठाकर अपने बाग़ी सामन्त सरदारों को पस्त करना चाहा। इस काम में उन्हें शहर के नये व्यापारी वर्ग से मदद मिली। सरदारों की यह आदत थी कि वे आपस में भी लड़ते-झगड़ते रहते थे। इसकी वजह से वे कमज़ोर हो गये थे। लेकिन इससे गाँववालों को भी बडी परेशानी रहा करती थी। जब राजा ताक़तवर हुआ तो उसने इस आपसी लड़ाई को बन्द करवा दिया। कुछ जगहों पर गद्दी के दो विरोधी दावेदारों की वजह से घरेलू लड़ाइयाँ होती थीं—जैसे इंग्लैंड में दो खानदानों में झगड़ा था; एक तो यार्क का खानदान, और दूसरा लैन्केस्टर का खानदान। इन दोनों दलों ने गुलाब के फूल को अपना निशान बना लिया था, एक ने सफेद और दूसरे ने लाल गुलाब चुना था। इन लड़ाइयों को इसीलिए 'गुलाब के फूलों की लड़ाइयाँ' (The Wars of the Roses) कहा गया है। इन गृह-युद्धों में सामन्त सरदारों की काफ़ी संख्या मारी गई। क्रूसेड्स में भी बहुत से सामन्त सरदार मारे गये थे। इस तरह धीरे-धीरे वे क़ब्ज़े में आगये। लेकिन इसका मतलब यह न समझना चाहिए कि अधिकार सरदारों के हाथ से निकलकर जनता के हाथ में पहुँच गये। असल में ताक़त राजा की बढ़ी और आम लोग जैसे के तैसे ही रहे। हाँ, आपस के नये झगडों के कम हो जाने से इनकी हालत कुछ बेहतर ज़रूर हो गई। राजा धीरे-धीरे ज्यादा ताक़तवर और निरंकुश शासक हो गया। राजा और नये व्यापारी वर्ग का झगड़ा अभी शुरू नहीं हुआ था।

क़त्ले आम और लड़ाई से ज्यादा भयंकर प्लेग की वह भीषण महामारी थी जो योरप में १३४८ ई० के क़रीब फैली। यह महामारी सारे योरप में, रूस और एशिया माइनर से लेकर इंग्लैंड तक, फैल गई; यह मिस्र, उत्तर अफ्रीका और मध्य एशिया में भी फैली और वहाँ से पश्चिम की तरफ़ बढ़ गई। इसको 'काली मौत' (Black Death) कहते थे। इसमें लाखों आदमी मर गये। इंग्लैंड की एक तिहाई आबादी खतम हो गई और चीन और दूसरे देशों में भी बहुत ज्यादा आदमी मरे। यह एक ताज्जुब की बात है कि यह बीमारी हिन्दुस्तान में नहीं आई।

इस भयंकर आपत्ति की वजह से आबादी बहुत घट गई और जमीन जीतने के लिए काफ़ी आदमी नहीं रह गये। आदमियों की कमी की वजह से किसानों की मजदूरी बढ़ने लगी और उनकी दयाजनक स्थिति में ज़रा-सा सुधार हुआ लेकिन पार्लमेण्टें ज़मींदार और जायदाद के मालिकों के हाथ में थीं। इन लोगों ने ऐसे क़ानून बनाये कि लोग पुरानी तुच्छ मज़दूरी पर काम करने और ज्यादा न माँगने के लिए मजबूर हो गये। जब किसान और ग़रीब इतने पिसे और चूसे गये कि बात उनके सहने की शक्ति से आगे बढ़ गई, तब उन्होंने विद्रोह कर दिया। सारे पश्चिमी योरप में किसानों के ये बलवे एक के बाद एक करके होते रहे। फ्रांस में १३५८ में किसानों का एक बलवा हुआ जो 'ज़ेकेरी' (Jacquerie) के नाम से मशहूर है। इंग्लैण्ड में वेट टाइलर का बलवा हुआ जिसमें टाइलर १३८१ ई० में, अंग्रेज राजा के सामने, मारा गया। ये बलवे अक्सर बडी बेरहमी के साथ दबा दिये गये। लेकिन समानता के नये ख़यालात धीरे-धीरे फैल रहे थे। लोग ख़ुद अपने दिलों में पूछते थे कि हम ग़रीब क्यों रहें और भूखों क्यों मरें, जब कि दूसरे अमीर हैं और उनके पास हरेक चीज भरी पडी है ? क्या वजह है कि कोई सरदार कहलाये और कोई असामी या ग़ुलाम हो ? किसी के पास नफ़ीस कपडे क्यों जब कि दूसरों के पास शरीर ढकने के लिए काफ़ी चिथडे भी नहीं हैं ? हुकूमत की तावेदारी करने का पुराना ख़याल, जिस पर सारी सामन्त-प्रथा की बुनियाद थी, कमज़ोर पड़ता जाता था इसलिए किसान बार-बार सर उठाते थे, लेकिन वे कमज़ोर और असंगठित थे इसलिए दबा दिये जाते थे और कुछ दिन के बाद वे फिर उठ खडे होते थे।

इंग्लैण्ड और फ़्रांस के बीच क़रीब-क़रीब बराबर लड़ाई होती रही। चौदहवीं सदी के शुरू से पन्द्रहवीं सदी के मध्य तक, ये दोनों मुल्क लड़ते रहे। इस लड़ाई को 'सौ वर्ष की लड़ाई' (The Hundred Years' War) कहते हैं। फ़्रांस के पूरब में बरगंडी था। यह एक शक्तिशाली रियासत थी और नाम-मात्र के लिए फ़्रांस के राजा की मातहत थी। यह एक तूफ़ानी और झगड़ालू रियासत थी और अंग्रेज़ों ने, फ्रांस के ख़िलाफ़, इससे और दूसरी रियासतों से साज़िश-सी करली थी। थोडे दिनों के लिए फ़्रांस चारों ओर से जकड़ गया। पश्चिमी फ़्रांस का काफ़ी बड़ा हिस्सा, बहुत दिनों तक, अंग्रेज़ों के क़ब्ज़े में रहा और इंग्लैड का राजा अपने को फ़्रांस का राजा भी कहने लग गया था। जिस समय फ़्रांस की क़िस्मत का सितारा बहुत नीचे गिर गया था और उसके लिए कोई उम्मीद नहीं दिखाई देती थी, एक नौजवान किसान लड़की के रूप में आशा और विजय ने दर्शन दिया। तुम जीन द आर्क या जोन आफ़ आर्क, जिसे 'मेड आफ़् आर्लियन्स' यानी आर्लियन्स की कुमारी भी कहते थे, के बारे में

थोड़ा-बहुत जानती ही हो। वह एक बहादुर औरत या ऐसी नायिका है जिसे तुम पसंद करती हो। उसने अपने पस्तहिम्मत देशवासियों के दिल में विश्वास पैदा किया और बड़े-बड़े कारनामे करने के लिए उनको उत्साहित किया। उसके नेतृत्व में फ़्रांसीसियों ने अंग्रेज़ों को अपने देश से निकाल भगाया लेकिन इसका बदला उसे यह मिला कि 'इनक्विज़िशन' के सामने उसका मुक़दमा हुआ। अंग्रेज़ों ने पकड़कर चर्च से उसे फांसी की सज़ा दिला दी और राउन के बाज़ार में १४३० ई० में इन लोगों ने उसे ज़िन्दा जला दिया। बहुत वर्षों के बाद रोमन चर्च ने अपने फ़ैसले को बदल कर जो कुछ बुरा किया था उसे सुधारना चाहा और कुछ दिनों के बाद जोन द आर्क को 'संत' की पदवी दे दी।

जोन या जोन फ़्रांस और अपनी मातृभूमि को विदेशियों से बचाने की बात करती थी। बात करने का यह नया ढंग था। उस वक़्त लोगों में सामन्त प्रथा के ख़याल इतने भरे थे कि वे राष्ट्रीयता का ख़याल ही नहीं कर सकते थे। इसलिए जोन जिस ढंग से बात करती थी उससे उन्हें ताज्जुब होता था और लोग उसकी बात मुश्किल से समझ पाते थे। जोन द आर्क के ज़माने से फ़्रांस में राष्ट्रीयता की हलकी-सी शुरूआत दिखाई देती है।

अंग्रेज़ों को अपने मुल्क से निकालने के बाद फ़्रांस के राजा ने बरगंडी की तरफ़ ध्यान दिया, जिसकी वजह से उसे इतनी परेशानी हुई थी। यह शक्तिशाली रियासत, आख़िरकार, क़ाबू में आगई और १४८३ ई० में फ्रांस में शामिल कर ली गई। फ्रांस का राजा अब एक शक्तिशाली बादशाह हो गया। उसने अपने सारे सामन्त सरदारों को या तो क़ाबू में कर लिया था या पस्त कर दिया था। बरगंडी के फ्रांस में मिल जाने से जर्मनी और फ्रांस आमने-सामने आगये; इनकी सरहदें एक-दूसरे को छूने लगीं। लेकिन जहाँ फ़्रांस में एक मज़बूत केन्द्रीय बादशाहत थी, तहाँ जर्मनी कमजोर था और कई रियासतों बँटा हुआ था।

इंग्लैण्ड भी स्काटलैंड को जीतने की कोशिश कर रहा था। यह भी एक लम्बा संघर्ष रहा है जिसमें स्काटलैंडवाले इंग्लैण्ड के ख़िलाफ़ फ़्रांस की तरफ़दारी करते रहे। स्काटलैंडवालों ने १३१४ ई० में, राबर्ट ब्रूस की मातहती में, बैनकबर्न में, अंग्रेज़ों को हरा दिया।

इससे और पहले, बारहवीं सदी में अंग्रेज़ों ने आयरलैंड को जीतने की कोशिश शुरू की। इस बात को ७०० वर्ष हो गये; उस समय से कितनी लड़ाइयां हुईं, कितने बलवे हुए, कितनी भीषणता और भयंकरता रही फिर भी आयरलैंड का सवाल आज तक हल नहीं होसका। इस छोटे से देश ने विदेशी प्रभुत्व को मानने

से बराबर इन्कार किया है और पीढ़ी दर पीढ़ी लोगों ने बलवा किया और इस बात की घोषणा की है कि विदेशियों के सामने कभी सर नहीं झुकायेंगे। आयरिश समस्या का, और इसी तरह हिन्दुस्तान के सवाल का, सिवाय आज़ादी के दूसरा कोई हल नहीं हो सकता।

तेरहवीं सदी में योरप की एक दूसरी छोटी-सी क़ौम, यानी स्वीज़रलैंड, ने अपनी आज़ादी के हक़ का ऐलान किया। यह साम्राज्य में शामिल था और आस्ट्रियन इस पर हकूमत करते थे। तुमने विलियम टेल और उसके लड़के का क़िस्सा पढ़ा होगा लेकिन यह क़िस्सा सही नहीं है। इससे ज्यादा ताज्जुब की बात स्विस किसानों का विद्रोह है, जो उन्होंने विशाल साम्राज्य के खिलाफ़ किया था और उसके सामने सर झुकाने से इन्कार कर दिया था। पहले तीन ज़िलों ने बलवा किया और १२९१ ई० में 'अमर संघ' (Everlasting League) नाम की संस्था बनाई। दूसरे ज़िले भी उनमें शामिल हो गये और १४९९ ई० में स्वीज़रलैंड स्वतंत्र प्रजातंत्र हो गया। यह अनेक ज़िलों का एक फेडरेशन या संघ था और इसे 'स्विस संघतंत्र' (Swiss Confederation) कहते थे। क्या तुम्हें याद है कि पहली अगस्त को स्वीज़रलैंड में हम लोगों ने कई एक पहाड़ों की चोटियों पर आग जलती हुई देखी थी। यह स्विस लोगों का राष्ट्रीय दिन था; यह उनकी क्रान्ति के शुरू होने के दिन की सालगिरह थी। उन दिनों यह जलती हुई आग इस बात का संकेत था कि आस्ट्रियन शासक के ख़िलाफ बग़ावत शुरू करदो।

योरप के पूर्व में कुस्तुन्तुनिया में क्या हो रहा था? तुम्हें याद होगा कि लैटिन क्रूसेडवालों ने १२०४ ई० में यूनानियों से यह शहर छीन लिया था। १२६१ ई० में यूनानियों ने इन लोगों को फिर निकाल दिया और पूर्वी साम्राज्य फिर से क़ायम कर लिया। लेकिन एक दूसरा और ज्यादा बड़ा ख़तरा सामने आरहा था।

जब मंगोल एशिया को पार करते हुए बढ़ने लगे तो ५० हज़ार उस्मानी तुर्क उनसे जान बचाकर भागे। ये सेलजूक तुर्क नहीं थे; ये अपने को उस्मान का वंशज कहते थे इसलिए उस्मानी तुर्क कहलाते थे। इन उस्मानियों ने पश्चिमी एशिया में सेलजूकों की शरण ली। जान पड़ता है कि ज्यों-ज्यों सेलजूक तुर्क कमज़ोर पड़ते गये, उस्मानी ताक़त में बढ़ते गये। वे फैलते भी गये और कुस्तुन्तुनिया पर हमला करने के बजाय जैसा कि उनके पहले बहुतों ने किया था, वे उसे छोड़ गये और १३५३ ई० में एशिया को पार कर योरप चले गये। वहाँ वे तेज़ी से फैल गये। उन्होंने बलगोरिया और सर्बिया पर क़ब्ज़ा कर लिया और एड्रियानोपल को अपनी राजधानी बनाई। इस तरह से उस्मानी साम्राज्य कुस्तुन्तुनिया के दोनों तरफ़,

एशिया और योरप में फैल गया। यह कुस्तुन्तुनिया के इर्द-गिर्द चारों तरफ़ था लेकिन कुस्तुन्तुनिया शहर इसके बाहर था। हज़ारों वर्षों का अभिमानी पूर्वी रोमन साम्राज्य घटकर बस अब इस शहर तक ही रह गया था। इसके अलावा कुछ और नहीं था। हालांकि तुर्क लोग पूर्वी साम्राज्य को तेज़ी के साथ निगलते जारहे थे फिर भी सुलतानों और सम्राटों में मित्रता बनी हुई थी और इन दोनों के खानदानों में आपस में शादी-विवाह भी होते रहते थे। आखिरकार १४५३ ई० में कुस्तुन्तुनिया भी तुर्कों के क़ब्ज़े में आगया। अब हम सिर्फ उस्मानी तुर्कों का ज़िक्र करेंगे क्योंकि सेलजूकों का तो अब तस्वीर में कुछ पता न था।

कुस्तुन्तुनिया का पतन, हालांकि उसकी उम्मीद बहुत दिनों से की जारही थी, एक ऐसी घटना थी जिससे योरप हिल गया क्योंकि इसका मतलब यह था कि कई हज़ार वर्ष का पुराना यूनानी पूर्वी साम्राज्य समाप्त हो गया। इसका मतलब यह भी था कि योरप पर मुसलमानों का दूसरा हमला होगा। तुर्क लोग फैलते गये और कभी-कभी तो ऐसा मालूम होता था कि वे सारे योरप को जीत लेंगे लेकिन वियेना के फाटक पर वे रोक दिये गये।

सेण्ट सोफ़िया का बड़ा गिरजा, जिसे छठी सदी में सम्राट जस्टीनियन ने बनवाया था, बदल कर मसजिद कर दिया गया और उसका नाम आया सूफ़िया रख दिया गया। उसके खज़ाने की भी कुछ लूट-मार हुई। इसकी वजह से योरप में कुछ उत्तेजना भी फैली लेकिन वह कुछ कर-धर नहीं सकता था। सच तो यह है कि तुर्की सुल्तान कट्टर यूनानी चर्च के लिए बहुत सहिष्णु रहे यहाँ तक कि कुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा करने के बाद सुल्तान मुहम्मद द्वितीय ने अपने को यूनानी चर्च का संरक्षक घोषित कर दिया। बाद के एक सुल्तान ने, जो 'शानदार सुलेमान' के नाम से मशहूर हैं, अपने को पूर्वी सम्राटों का नुमाइन्दा समझकर 'सीज़र' का लक़ब इख़्तियार कर लिया। पुरानी परम्परा की यह ताक़त होती है!

जान पड़ता है कि उस्मानी तुर्कों की कुस्तुन्तुनिया के यूनानियों ने कोई मुखालिफ़त नहीं की। उन्होंने देख लिया था कि पुराना साम्राज्य गिर रहा है। उन्होंने पोप से और पश्चिमी ईसाइयों से तुर्कों को बेहतर समझा। लैटिन क्रूसेड वालों का बुरा तजुर्बा उन्हें होचुका था। कहते हैं कि १४५३ ई० के कुस्तुन्तुनिया के आखिरी घेरे में, एक बिज़ैण्टाइन सरदार ने कहा था कि "पोप के मुकुट से रसूल की पगड़ी अच्छी है।"

तुर्कों ने एक खास फ़ौज बनाई थी जिसे 'जाँनिसार' कहते थे। वे छोटे-छोटे ईसाई लड़कों को, ईसाइयों से कर के रूप में ले लेते थे और उनको खास शिक्षा देते

थे। छोटे-छोटे बच्चों को अपने माँ-बाप से अलहदा करदेना बडी बेरहमी की बात थी लेकिन उन लड़कों को इससे कुछ फ़ायदा भी होता था। उन्हें अच्छी तालीम मिलती थी और वे एक तरह के सैनिक रईस बन जाते थे। जाँनिसारियों की यह फ़ौज उस्मानी सुल्तानों की ताक़त का एक बड़ा आधार था। 'जाँनिसार' का मतलब है 'जान को निछावर करने वाला'।

इसी तरह, मिस्र में, ममलूकों की भी एक फ़ौज थी, जो जाँनिसारियों की तरह ही बनाई जाती थी। बाद में यह बहुत ताक़तवर होगई और इसमें से कई लोग मिस्र के सुलतान भी हुए।

उस्मानी सुल्तानों ने कुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा करने के बाद अपने से पहले के अधिकारियों से, यानी बिज़ैण्टाइन सम्राटों से, विलासिता और दुराचार की बहुत-सी बुरी आदतें भी सीख लीं। बिज़ैण्टाइन लोगों की सारी गिरी हुई साम्राज्य-प्रणाली ने इनको घेर लिया और धीरे-धीरे उनकी सारी ताक़त चूस ली। कुछ दिनों तक तो वे बडे मज़बूत रहे और ईसाई योरप उनसे डरता रहा। उन्होंने मिस्र जीत लिया और अब्बासियों के कमज़ोर नुमाइंदे से उसका ख़लीफ़ा का लक़ब छीन लिया और उस वक्त से उस्मानी सुल्तान अपने को ख़लीफ़ा भी कहते रहे। आठ वर्ष हुए, मुस्तफ़ा कमाल पाशा ने ख़िलाफ़त और सुल्तानियत दोनों को मंसूख़ करके इनका ख़ातमा कर दिया।

(कुस्तुन्तुनिया के पतन का दिन, इतिहास की एक बडी तारीख़ है। इस दिन से एक युग का ख़ातमा और दूसरे की शुरुआत होती है। मध्य युग ख़तम हो जाता है, 'अंधकार युग' के हज़ार वर्ष समाप्त होते हैं और योरप में नई ज़िन्दगी और नया उत्साह आता हुआ दिखाई देता है। इसे पुनर्जागृति यानी रिनेसाँ (Renaissance) की शुरुआत कहते हैं। विद्या और कला का फिर से जन्म होता है; जनता लम्बी नींद से जगती हुई दिखाई देती है। लोग सदियों उस पार प्राचीन यूनान की तरफ़ नज़र डालते हैं, जबकि वह अपनी शान की चोटी पर था, और उससे उत्साह और स्फूर्ति लेते हैं। ज़िन्दगी के वैराग्यपूर्ण और उदासी से भरे हुए दृष्टिकोण के प्रति, जिस पर चर्च ज़ोर देता था, लोगों के मन में विद्रोह खड़ा होता है और उन जंज़ीरों को, जिससे मनुष्य की आत्मा जकडी हुई थी, लोग तोड़ फेंकते हैं। पुराना यूनानी सौंदर्य-प्रेम फिर पैदा होता है और योरप में फिर सुन्दर शिल्पकला, चित्रकारी और मूर्तिकला फूलती-फलती और हरी-भरी होजाती है।)

कुस्तुन्तुनिया के पतन से ही ये सब बातें एक दम नहीं पैदा हो गईं। ऐसा ख़याल करना ग़लती होगी। तुर्कों के इस शहर पर कब्ज़ा कर लेने से तब्दीली में ज़रा

तेज़ी आगई क्योंकि बहुत से विद्वान इसे छोड़ कर पश्चिम चले गये। वे अपने साथ इटली में यूनानी साहित्य का ख़ज़ाना ले आये और यह वही वक़्त था जब कि पश्चिम इन बातों को समझने और उनकी इज्ज़त करने के लिए तैयार बैठा था। इस मानी में कह सकते हैं कि कुस्तुन्तुनिया के पतन से रिनेसाँ के आने में कुछ मदद मिल गई।

लेकिन इस भारी तब्दीली की इसे एक छोटी-सी वजह कह सकते हैं। पुराना यूनानी साहित्य या विचार मध्य काल के इटली या पश्चिम के लिए कोई नई चीज़ नहीं थी; विश्वविद्यालयों में लोग इसे पढ़ते थे और विद्वान लोग इसे समझते थे लेकिन यह चन्द ही आदमियों तक महदूद था और चूंकि ज़िन्दगी के बारे में जो ख़यालात फैले हुए थे उनके यह अनुकूल नहीं पड़ता था इसलिए इसका प्रचार नहीं हो पाता था। धीरे-धीरे ज़िन्दगी के नये दृष्टिकोण के लिए परिस्थिति अनुकूल हो गई क्योंकि जनता के मन में शंका की शुरुआत हो चुकी थी; लोग उस वक़्त की चीज़ों से असंतुष्ट थे और ऐसी चीज़ की तलाश में थे जो उन्हें कुछ ज्यादा संतोष दे सके। जब उनके मन शंका और आशा से भर गये तो उन्होंने यूनान की पुरानी फ़िलासफी का पता चलाया और उनके साहित्य के रस को छककर ख़ूब पिया। तब उन्हें मालूम हुआ कि बस इसी चीज़ की तो उन्हें ज़रूरत थी और इस नई चीज़ को पाकर वे उत्साह से भर गये।

यह पुनर्जागृति या रिनेसाँ पहले-पहल इटली में शुरू हुई। बाद को फ़्रांस और इंग्लैण्ड में गई और फिर दूसरी जगहों में फैल गई। यह सिर्फ़ यूनानी ख़याल और यूनानी साहित्य का फिर से आविष्कार ही न था; यह इससे कहीं बड़ी और महत्वपूर्ण बात थी। योरप के हृदय के अंदर ही अंदर बहुत दिनों से तब्दीली का जो सिलसिला चल रहा था वही अब एक शक्ल में ज़ाहिर हो गया। यह बेचैनी और यह तब्दीली बहुत-सी धाराओं और बहुतेरे ढंगों से फूटकर बहनेवाली थी। पुनर्जागृति तो उसका सिर्फ़ एक रूप था।

: ७३ :

समुद्री रास्तों की खोज

३ जुलाई, १९३२

अब हम योरप की उस मंज़िल तक पहुंच गये हैं जब मध्यकालीन संसार बिखरना शुरू होता है और उसकी जगह एक नई व्यवस्था आजाती है। मौजूदा

हालत से लोगों में असन्तोष है और इस एसहास यानी अनुभूति से ही तब्दीली और तरक़्क़ी पैदा होती है। सामन्ती और मज़हबी तौर-तरीक़े ने जिन-जिन वर्गों को चूस रक्खा था, वे सभी असन्तुष्ट थे। हमने देखा है कि किसानों के विद्रोह होने लगे थे। लेकिन किसान बहुत पीछे और कमज़ोर थे और बलवा करने पर भी कुछ फ़ायदा न उठा सके। उनके दिन अभीतक नहीं आये थे। असली संघर्ष पुरानी सामन्त-श्रेणी और नये जगे और उठते हुए मध्य वर्ग में, जो ताक़तवर होता जाता था, था। सामन्त-प्रथा का मतलब यह था कि धन की बुनियाद ज़मीन है या ज़मीन ही धन है। लेकिन अब एक नये क़िस्म का धन इकट्ठा होरहा था जो ज़मीन से नहीं पैदा होता था। यह धन व्यवसाय और तिजारत से आता था और नया मध्यमवर्ग यानी बुर्जुआ वर्ग इससे फ़ायदा उठाता था और इसी की वजह से उसकी ताक़त बढ़ी थी। यह संघर्ष पुराना था। अब हम यह देखते हैं कि इन दोनों पार्टियों की हालत बदल गई थी और एक-दूसरे के प्रति उनके रुख़ भी बदल गये थे। सामन्त-प्रथा, जो अभी तक जारी थी, अपने बचाव में लगी हुई थी और मध्यवर्ग, जिसे अपनी ताक़त पर भरोसा था, उसपर हमला करने लगा था। यह संघर्ष सैकड़ों बरसों तक जारी रहा और बुर्जुआ वर्ग की दिन-ब-दिन जीत होती गई। योरप के मुख़्तलिफ़ देशों में इस संघर्ष की जुदी-जुदी सूरत रही है। पूर्वी योरप में बहुत कम संघर्ष था। पश्चिम में ही यह मध्यवर्ग सबसे पहले आगे आया।

पुरानी बन्दिशों के टूट जाने की वजह से कई दिशाओं में, जैसे—विज्ञान में, कला में, साहित्य में और शिल्पकारी में, तरक़्क़ी हुई और नई-नई खोजें भी हुईं। जब मनुष्य की आत्मा अपने बन्धनों को तोड़ डालती है तो हमेशा यही होता है। वह विकसित हो जाती है और फैल जाती है। इसी तरह, जब हमारा देश आज़ाद होगा हमारे देश वासियों का और हमारी आत्मा का विकास होगा और हम सारी दिशाओं में आगे बढ़ेंगे।

ज्यों-ज्यों चर्च का बन्धन ढीला पड़ा और वह कमज़ोर हो गया, लोग गिरजों पर कम खर्च करने लगे। बहुत जगहों पर खूबसूरत इमारतें बनीं। ये टाउनहालों या इसी क़िस्म की दूसरी इमारतें थीं। गॉथिक शैली भी पीछे रह गई और एक नई शैली पैदा होने लगी।

ठीक इसी वक्त, जब पश्चिमी योरप में नई ज़िन्दगी भरी हुई थी, पूरब के सोने की लालच लोगों के दिलों में पैदा होने लगी। मार्कोपोलो और दूसरे मुसाफ़िरों की कहानियों से, जो हिन्दुस्तान और चीन में सफ़र कर चुके थे, योरप की कल्पना उत्तेजित हो पड़ी और पूर्व की अथाह सम्पत्ति की इस उत्तेजना ने बहुतों को समुद्र

की ओर खींचा। इसी वक्त कुस्तुन्तुनिया का पतन हुआ। तुर्कों ने पूरब जाने के खुश्की और समुद्री रास्तों पर क़ब्ज़ा कर रखा था और वे व्यापार को ज्यादा प्रोत्साहन नहीं देते थे। बड़े-बड़े सौदागर और व्यापारी इस बात से बहुत नाराज़ थे और साहसियों की नई जमात भी, जो पूरब के सोने पर दाँत लगाये बैठी थी, झल्ला रही थी। इसलिए इन लोगों ने सुनहरे पूर्व तक पहुँचने के लिए नया रास्ता खोज निकालने की कोशिश की।

स्कूल का हरएक बालक यह जानता है कि ज़मीन गोल है और सूर्य के चारों तरफ़ घूमती है। हम लोगों के लिए यह बिलकुल साफ़ बात है लेकिन पुराने ज़माने में यह इतनी साफ़ नहीं थी। जो लोग ऐसा करने का ख़याल करते थे या कहते थे उनसे चर्च जवाब तलब करता था और सज़ा देता था। लेकिन चर्च के डर के होते हुए भी ज्यादा-से-ज्यादा लोग इस बात को मानने लगे कि ज़मीन गोल है। अगर गोल है तो पश्चिम दिशा में चलने से भी चीन और हिन्दुस्तान पहुँचना मुमकिन है, ऐसा कुछ लोग सोचते थे। कुछ यह सोचते थे कि अफ़रीका के किनारे-किनारे घूमकर हिन्दुस्तान पहुँच सकते हैं। तुम्हें याद रखना चाहिए कि उस वक्त स्वेज़ की नहर नहीं थी और जहाज़ भूमध्यसागर से लाल समुद्र में नहीं जा सकते थे। भूमध्यसागर और लाल समुद्र के बीच व्यापार के माल-असबाब खुश्की के रास्ते से, ज्यादातर ऊँटों पर लादकर, जाते थे, और दूसरी तरफ़ नये जहाज़ों पर लदते थे। यह ढंग सुविधा-जनक नहीं था। मिस्र और सीरिया पर तुर्कों का क़ब्ज़ा होजाने से यह रास्ता और भी मुश्किल हो गया।

लेकिन हिन्दुस्तान की दौलत की लालच से लोग उत्तेजित और आकर्षित होते रहे। खोज करने के लिए समुद्र-यात्रा में स्पेन और पुर्तगाल सबसे पहले आगे बढ़े। स्पेन उस वक्त ग्रेनाडा से अरबों को निकाल रहा था। एरेगान के फ़र्डिनेण्ड और कैस्टाइल की आइज़ाबेला के विवाह से ईसाई स्पेन संयुक्त हो गया था और ई० सन १४९२ में ग्रेनाडा अरबों के हाथ से जाता रहा। यह उस वक्त की बात है जब योरप की दूसरी तरफ, तुर्कों को कुस्तुन्तुनिया पर कब्जा किये हुए ५० वर्ष हो चुके थे। स्पेन फौरन ही योरप की एक बडी ईसाई ताक़त बन गया।

पुर्तगालवालों ने पूर्व की तरफ़ जाने की कोशिश की; स्पेन वालों ने पश्चिम की तरफ़। १४४५ ई० में पोर्चुगीजों ने वर्डे का अन्तरीप खोज निकाला। इसे खोज की पहली बडी मंजिल कहना चाहिए। यह अन्तरीप अफ़रीका का आख़िरी पश्चिमी कोना है। अफ़रीका के नक़्शे को देखो। तुम्हें मालूम होगा कि अगर कोई योरप से जहाज़ के ज़रिये इस अन्तरीप को जाना चाहे तो उसे दक्षिण-पश्चिम जाना होगा।

वर्डे अन्तरीप पहुँचकर फिर उसे घूमकर दक्षिण-पूर्व जाना होता है। इस अन्तरीप के मिल जाने से लोगों में बड़ी उम्मीदें पैदा हो गईं और वे समझने लगे कि अब अफ़रीका के किनारे-किनारे घूमकर हिन्दुस्तान पहुँच सकेंगे।

अफ़रीका का चक्कर करने में ४० वर्ष और लग गये। १४८६ ई० में बेथलम्य डायज़, जो पुर्तगाल का रहनेवाला था, अफ़रीका की दक्षिणी नोक तक अपना जहाज़ ले जासका। इस दक्षिणी नोक को ही 'केप ऑव् गुड होप' यानी उत्तमाशा अन्तरीप कहते हैं। कुछ ही बरसों के बाद एक दूसरा पोर्चुगीज़, वास्को डि गामा, इस खोज से फ़ायदा उठाकर गुडहोप के अन्तरीप होता हुआ, हिन्दुस्तान आया। वास्को डि गामा १४९७ ई० में मलाबार के किनारे, कालीकट पहुँचा।

इस तरह पोर्चुगीज़ हिन्दुस्तान पहुँचने की दौड़ में जीत गये। लेकिन इसी दरमियान दुनिया की दूसरी तरफ़ बड़ी-बड़ी बातें हो रही थीं और स्पेन को उनसे और फ़ायदा होनेवाला था। क्रिस्टोफ़र कोलम्बस १४९२ ई० में अमेरिका पहुँचा। कोलम्बस जिनेवा का रहने वाला एक ग़रीब आदमी था। इस बात पर विश्वास करते हुए कि दुनिया गोल है वह पश्चिम की ओर जहाज़ ले जाकर जापान और हिन्दुस्तान पहुँचना चाहता था। उसका यह ख़याल नहीं था कि उसे इस सफ़र में इतने दिन लग जायँगे, जितने लग गये। वह एक दरबार से दूसरे दरबार में जाता था और राजाओं से अपनी इस खोजपूर्ण समुद्र-यात्रा में मदद चाहता था। आख़िरकार स्पेन के फ़र्डिनेण्ड और आइज़ाबेला मदद देने को तैयार होगये और कोलम्बस ८८ आदमियों और तीन छोटे जहाज़ों को लेकर रवाना हुआ। अज्ञात की ओर यह समुद्र-यात्रा असल में वीरता और साहस की यात्रा थी क्योंकि कोई यह नहीं जातना था कि आगे क्या है। लेकिन कोलम्बस के दिल में विश्वास था और वह विश्वास ठीक निकला। ६९ दिन के लगातार सफ़र के बाद वे ज़मीन पर पहुँचे। कोलम्बस ने समझा कि बस हिन्दुस्तान मिल गया लेकिन असल में यह वेस्टइण्डीज़ का एक टापू था। कोलम्बस कभी अमेरिका के महाद्वीप में नहीं पहुँचा और मरते वक़्त तक उसका विश्वास था कि वह एशिया पहुँच गया। उसकी यह अजीब ग़लती आज तक क़ायम है। इन टापुओं को आजतक वेस्ट इण्डीज़ कहते हैं और अमेरिका के आदिम निवासियों को आजतक इंडियन या 'रेड इंडियन' कहते हैं।

कोलम्बस वापस आया और दूसरे साल और ज्यादा जहाज़ों को लेकर फिर गया। लोग समझते थे कि हिन्दुस्तान का नया रास्ता मालूम हो गया। इससे योरप में काफी चहल-पहल मच गई। इसके बाद ही वास्को डि गामा कालीकट पहुँचा और पूरब और पश्चिम में इन नये देशों के मिलने की ख़बर से योरप में और उत्तेजना फैल

गई। इन दोनों नये देशों के ऊपर क़ब्ज़ा करने के दावेदार पुर्तगाल और स्पेन थे। स्पेन और पुर्तगाल के बीच झगड़ा बचाने के लिए पोप सामने आया और उसने दूसरे के बिरते पर उदारता दिखाने का निश्चय किया। १४९३ ई० में उसने एक 'बुल' (पोप की घोषणाओं और फ़तवों को 'बुल' कहते थे) या फ़तवा निकाला और अज़ोर्स के पश्चिम १०० लीग (१ लीग=३ मील) के फ़ासले पर उत्तर से दक्षिण तक एक काल्पनिक रेखा खींच दी और यह घोषित किया कि इस रेखा के पूरब जितना ग़ैर-ईसाई मुल्क है वह पुर्तगाल ले-ले और पश्चिम के मुल्क स्पेन ले ले। पोप ने योरप को छोड़कर सारी दुनिया का दान कर दिया और इस दान में पोप को कुछ भी ख़र्च न करना पड़ा। अज़ोर्स एटलाण्टिक महासागर के द्वीप हैं और १०० लीग यानी ३०० मील के फ़ासले पर पश्चिम की तरफ़ रेखा खींचने से सारा उत्तर अमेरिका और दक्षिण अमेरिका का ज्यादातर हिस्सा पश्चिम में पड़ जाता है। इस तरह से पोप ने अमेरिका महाद्वीप स्पेन की नज़र कर दिया और हिन्दुस्तान, चीन, जापान और दूसरे पूर्वी देशों को और सारे अफ़रीका को पुर्तगाल की भेंट कर दिया!

पुर्तगाल वालों ने ज़मीन के इन बड़े हिस्सों पर क़ब्ज़ा करना शुरू किया। यह कोई आसान बात नहीं थी। लेकिन वे तरक़्क़ी करते रहे और पूरब की तरफ़ बढ़ते गये। १५१० ई० में वे गोवा पहुँचे; १५११ में मलाया प्रायद्वीप में मलक्का पहुँचे; इसके बाद ही जावा और १५७६ ई० में चीन पहुँच गये। इसका यह मतलब नहीं है कि इन देशों पर उन्होंने क़ब्ज़ा कर लिया। सिर्फ़ कुछ जगहों पर उन्हें पाँव रखने को जगह मिल गई। हम किसी अगले ख़त में इस बात की चर्चा करेंगे कि पूर्व में इन लोगों का क्या हाल रहा।

पूर्व में पोर्चुगीज़ लोगों में फर्डिनेण्ड मैगेलन नाम का एक आदमी था। वह अपने पोर्चुगीज़ मालिक से लड़ पड़ा और योरप वापस जाकर, वह स्पेन का नागरिक बन गया। गुडहोप के अन्तरीप से होकर पूर्वी रास्ते से यह हिन्दुस्तान और पूर्वी द्वीपों को जा चुका था। अब वह पश्चिमी रास्ते से अमेरिका होकर इन देशों को जाना चाहता था। शायद उसको यह मालूम था कि जिस मुल्क का पता कोलम्बस ने लगाया है वह एशिया नहीं है। बाद में १५७३ ई० में बलबोआ नाम का एक स्पेनी मध्य अमरीका में पनामा के पहाड़ों को पार करके प्रशान्त महासागर तक पहुँचा। किसी कारण से उसने इस समुद्र को दक्षिण समुद्र कहा और इसके किनारे पर खड़े होकर उसने यह दावा किया कि यह नया समुद्र और वे तमाम देश जो इस समुद्र के किनारे बसे हैं उसके स्वामी स्पेन के राजा के क़ब्ज़े में हैं।

१५१९ ई० में मैगेलन अपने पश्चिमी समुद्री सफ़र पर रवाना हुआ। यह सफ़र

उसका सबसे बड़ा सफ़र साबित हुआ। उसके साथ ५ जहाज़ और २७० आदमी थे। वह एटलाण्टिक महासागर पार करके दक्षिण अमेरिका पहुँचा और वहाँ से अपने सफ़र को दक्षिण की तरफ़ जारी रखते हुए आख़िर में महाद्वीप के कोने तक पहुँच गया। उसका एक जहाज़ तो टूटकर नष्ट होगया और दूसरे के लोग उसे छोड़ गये। सिर्फ़ तीन जहाज़ उसके पास बचे। इन तीन जहाज़ों को लेकर वह दक्षिणी अमेरिका के महाद्वीप और एक दूसरे टापू के बीच के तंग जलडमरू मध्य को पार करके दूसरी तरफ़ के खुले समुद्र में आगया। इस समुद्र को उसने पैसिफ़क (प्रशान्त) महासागर कहा क्योंकि अटलाण्टिक के मुक़ाबिले में यह ज्यादा शान्त था। प्रशान्त महासागर तक पहुँचने में उसे १४ महीने लगे। जिस जलडरूमध्य से वह गुज़रा था, वह अभीतक उसी के नाम पर 'मैगेलन का जलडमरूमध्य' कहलाता है।

आगे भी मैगेलन ने, बहादुरी के साथ, अपनी यात्रा उत्तर की तरफ़ जारी रखी और इसके बाद अज्ञात समुद्र में उत्तर-पश्चिम की तरफ़ चल पड़ा। उसके सफ़र का यह हिस्सा बड़ा ख़ौफ़नाक था। कोई नहीं जानता था कि इसमें इतने दिन लग जायँगे। क़रीब-क़रीब ४ महीने, और बिलकुल ठीक दिन जानना चाहतो हो तो १०८ दिन, तक वे समुद्र के बीच में खाने-पीने की थोड़ी चीज़ों के साथ रहे। आख़िरकार, बड़ी तकलीफ़ उठाने के बाद, वे फ़िलीपाइन द्वीप पहुँचे। वहाँ के लोगों ने उनके साथ अच्छा सलूक किया; खाने पीने के लिए दिया और आपस में एक दूसरों से उपहार-परिवर्तन किया। लेकिन स्पेनवाले बड़े बदमिज़ाज और शेख़ीबाज़ थे। मैगेलन ने वहाँ के दो सरदारों की आपस की लड़ाई में भाग लिया और मारा गया। और भी कई स्पेनवालों को इन टापुओं के आदमियों ने मार डाला क्योंकि वे बड़ी शेख़ी बघारते और वहाँ के आदमियों पर शान गाँठते थे।

स्पेन के लोग स्पाइस यानी मसाले के द्वीपों की तलाश में थे, जहाँ से कि क़ीमती मसाले आया करते थे। वे इन्हींकी तलाश में आगे बढ़ते गये। एक दूसरे जहाज़ को भी छोड़ देना और उसे जला देना पड़ा सिर्फ़ दो बाक़ी बचे। यह निश्चय हुआ कि इनमें से एक प्रशांत महासागर होकर स्पेन वापस जाय और दूसरा गुडहोप के अन्तरीप से होकर। पहला जहाज़ तो बहुत दूर नहीं जासका क्योंकि पुर्तगालवालों ने पकड़ लिया, लेकिन दूसरा जहाज़, जिसका नाम 'विक्टोरिया' था, अफ़रीका के चारों तरफ़ रेंगता हुआ, रवाना होने के ठीक ३ वर्ष बाद, सेविले, जो स्पेन में है, १५२२ ई० में पहुँचा। इसमें सिर्फ़ १८ आदमी बच गये थे। यह सारी दुनिया की यात्रा करनेवाला पहला जहाज़ था।

मैंने तुमसे 'विक्टोरिया' के सफ़र का सविस्तार हाल बताया है क्योंकि यह

अद्भुत यात्रा थी। आजकल हम समुद्र बहुत आराम के पार कर लेते हैं और बड़े जहाज़ों पर लम्बे-लम्बे सफ़र करते हैं लेकिन इन शुरू के मुसाफ़िरों का ख़याल करो कि कैसे वे हर तरह के ख़तरे और तकलीफ़ें बरदाश्त करते थे; अज्ञात में ग़ोते लगाते थे और उन लोगों के लिए, जो बाद को आनेवाले थे, समुद्री रास्ते की तलाश करते थे। उस ज़माने के स्पेन और पुर्तगालवाले बड़े घमण्डी, शेख़ीबाज़ और बेरहम थे लेकिन वे अद्भुत रूप से बहादुर थे और साहस की भावना से भरे हुए थे।

जिस वक़्त मैगेलन दुनिया के चारों तरफ़ घूम रहा था, कोर्टे मैक्सिको के शहर में दाख़िल हो रहा था और अज़टेक साम्राज्य को स्पेन के बादशाह के लिए जीत रहा था। मैंने तुमसे इसके बारे में, और अमेरिका को 'माया' सभ्यता के बारे में, थोड़ा-बहुत बताया है। कोर्टे १५१९ ई० में मैक्सिको पहुँचा। पिज़ारो १५३० ई० में दक्षिण अमेरिका के 'इनका' साम्राज्य में (जिसे अब पेरू कहते हैं) पहुँचा। हिम्मत और बहादुरी से, बेरहमी और फरेब से, लोगों के घरेलू झगड़ों से फ़ायदा उठाकर कोर्टे और पिज़ारो ने दोनों पुराने साम्राज्यों का ख़ातमा कर दिया। लेकिन ये दोनों साम्राज्य बहुत पुराने हो चुके थे और बहुत-सी बातों में बड़े दकियानूसी थे। इसलिए बालू की दीवार की तरह पहले ही धक्के में भरभराकर गिर गये।

जहाँ ये बड़े-बड़े सय्याह और समुद्र-यात्री पहुँचे थे वहाँ झुंड के झुंड लोग पहुँचने लगे, जो लूटमार के लिए बेताब थे। स्पेन के अधीन अमेरिका का जितना हिस्सा था उसे इस झुंड से बहुत तकलीफ़ हुई। कोलम्बस के साथ भी इन लोगों ने बहुत बुरा बर्ताव किया। पेरू और मैक्सिको से स्पेन को सोने और चांदी को धारा बराबर बह रही थी। इन क़ीमती धातुओं की बहुत ज्यादा मात्रा स्पेन जाने लगी, जिससे योरप की आंखें चकाचौंध होगईं और स्पेन योरप का प्रभावशाली राज्य बन गया। यह सोना और चाँदी योरप के दूसरे देशों को भी गया और इस तरह से पूरब की पैदावार ख़रीदने के लिए उनके पास बहुत ज्यादा दौलत हो गई।

स्पेन और पुर्तगाल की कामयाबी से और देशों के लोगों की कल्पना, ख़ासकर फ़्रांस, इंग्लैण्ड, हालैण्ड और उत्तरी जर्मन शहरों के लोगों की कल्पना, जग गई। पहले इन लोगों ने इस बात की बड़ी कोशिश की कि उत्तर से एशिया और अमेरिका पहुँचने का यानी नार्वे के उत्तर से होकर पूर्व जाने का और ग्रीनलैण्ड होकर पश्चिम जाने का—कोई रास्ता ढूँढ़ लें। लेकिन वे नाकामयाब रहे और पुराने ही रास्ते से उन्हें जाना पड़ा।

वह ज़माना भी क्या ही अद्भुत रहा होगा जब कि दुनिया का दरवाजा खुलता हुआ दिखाई देता था और उसमें ख़ज़ाने और आश्चर्यजनक चीज़ें नज़र पड़ती रही

होंगी, नई-नई बातों का बराबर पता चलता जाता था और नये महाद्वीप, नये समुद्र, अथाह संपत्ति सामने थी। जरूरत सिर्फ़ इतनी थी कि लोग उसे खोलने का जादू भरा मंत्र पढ़ दें और वह उनके हाथ आजाय। उस जमाने की हवा में ही जादू का असर रहा होगा।

दुनिया अब तंग जगह हो गई है और इसमें खोज की गुंजाइश नहीं रही; कम-से-कम अभी तो ऐसा मालूम होता है। लेकिन ऐसा है नहीं क्योंकि विज्ञान ने बड़े-बड़े नये क्षेत्र खोल दिये हैं जिनमें खोज की जरूरत है और साहसपूर्ण कामों के लिए भी काफ़ी गुंजाइश है—खास करके आजकल के हिन्दुस्तान में।

: ७४ :

मंगोल साम्राज्य का विध्वंस

९ जुलाई, १९३२

मैंने तुमको कई दिनों से खत नहीं लिखा। मैं तो इसके लिए बहुत इच्छुक और तैयार था लेकिन मेरे दाहिने हाथ की सबसे छोटी उँगली (कनिष्ठिका) इसके लिए तैयार नहीं थी। यह छोटी-सी चीज कुछ दिनों से अपने मन की हो गई है और बहुत लिखना पसंद नहीं करती। जब मैं तुम्हें पिछला खत लिख रहा था तब, क़रीब एक हफ्ता हुआ, इसने बाक़ी हाथ से असहयोग करना शुरू कर दिया। मुझे उस खत को खतम करने में बड़ी दिक्क़त हुई। यह इतना जिद करने लगी और अपने मन की बात करने पर उतारू हो गई कि मैंने उसकी सनक के आगे झुक जाने का निश्चय किया और कुछ समय के लिए लिखना बंद कर दिया। मैंने इसे आराम दे दिया था और अब मैं लिखना शुरू करता हूँ। इस वक्त तो यह ठीक काम कर रही है लेकिन मुझे डर है कि भविष्य में यह शायद मुझे परेशान करेगी।

मैंने तुम्हें बताया है कि मध्य युग कैसे गुजर गया; योरप में नई भावना कैसे पैदा हुई और नई ताक़त कैसे आई, जो कई रास्तों से फूट निकली। योरप नई चीजें सोचने, खोजने और बनाने के कामों में तेजी से भिड़ गया था। अपने छोटे-छोटे देशों में सदियों तक बंद रहने के बाद वहाँ के रहनेवाले जैसे फूट निकले और बड़े-बड़े समुद्रों को पार करके दुनिया के कोने-कोने में पहुँचने लगे। वे अपनी ताक़त में पूरा भरोसा रखकर विजयी की हैसियत से बाहर निकले और इसी भरोसे से उनमें हिम्मत पैदा होगई और वे अद्भुत काम करने लगे।

लेकिन तुम्हें यह आश्चर्य जरूर हुआ होगा कि यह तब्दीली कैसे पैदा हुई।

१३वीं सदी के बीच में मंगोल एशिया और योरप के मालिक थे। पूर्वी योरप उनके क़ब्ज़े में था; पश्चिमी योरप उन महान् और ज़ाहिरा अजेय सिपाहियों के सामने थर्राता था। बड़े ख़ां के किसी सिपहसालार के सामने योरप के राजा और सम्राट क्या चीज़ थे?

२०० वर्ष बाद, कुस्तुन्तुनिया के राजनगर पर और दक्षिण-पूर्वी योरप के काफ़ी हिस्से पर, उस्मानी तुर्कों का क़ब्ज़ा हो गया था। मुसलमानों और ईसाइयों में ८०० वर्ष की लड़ाई के बाद वह बड़ा तोहफ़ा, जिसके लिए अरब और सेलजूक तुर्क ललचाया करते थे, उस्मानियों के हाथ में आया था। उस्मानी सुलतान इतने से संतुष्ट न हुए और पश्चिम पर ही नहीं बल्कि रोम पर भी लालच-भरी निगाह डालने लगे। उन्होंने जर्मन (पवित्र रोमन) साम्राज्य और इटली को धमकाया; हंगरी को जीत लिया और वियेना की दीवारों और इटली की सरहद तक पहुँच गये। पूर्व में उन्होंने बग़दाद को अपने साम्राज्य में मिला लिया और दक्षिण में मिस्र को जीत लिया। सोलहवीं सदी के मध्य में सुलतान सुलेमान, जिसे 'शानदार' का लक़ब मिला था, इस विशाल तुर्की साम्राज्य पर राज करता था। समुद्र में भी उसकी जल-सेना सबसे श्रेष्ठ थी।

फिर यह तब्दीली कैसे हुई? योरप मंगोलों की आफ़त से कैसे बचा? तुर्की ख़तरे से उसने अपनी जान कैसे बचाई? कैसे उसने न सिर्फ़ अपनी ही जान बचाई बल्कि ख़ुद दूसरों पर चढ़ दौड़ने लगा और दूसरों के लिए ख़तरा बन गया?

बहुत दिनों तक योरप को मंगोलों की घुड़कियां नहीं सहनी पड़ीं। वे ख़ुद ही एक नये ख़ान का चुनाव करने के लिए वापस चले गये और फिर लौट कर नहीं आये। पश्चिमी योरप मंगोलों की मातृभूमि से बहुत दूर था। शायद यह बात भी हो कि यह मुल्क झाड़ियों और जंगलों से भरा था इसलिए उन्हें अच्छा न लगा हो क्योंकि वे ख़ूब खुले मैदानों और घाटियों के रहनेवाले थे। बहरहाल पश्चिमी योरप मंगोलों से बच गया—अपनी किसी बहादुरी की वजह से नहीं बल्कि मंगोलों की लापरवाही और उनके दूसरे काम में लगे रहने की वजह से। पूर्वी योरप में वे कुछ ज़्यादा दिन रहे जबतक कि उनकी (मंगोल) ताक़त धीरे-धीरे बिखर न गई।

मैं तुमको पहले ही बता चुका हूँ कि १४५२ ई० में तुर्कों द्वारा कुस्तुन्तुनिया की विजय यूरोपियन इतिहास में एक ऐसी घटना मानी जाती है जिससे इतिहास का रुख़ बदल जाता है। सुभीते के ख़्याल से यह कह सकते हैं कि उस वक़्त से मध्य काल ख़तम हुआ और नई भावना और नई जागृति ('रिनेसां') आई, जो अनेक सोतों से बह निकली। इसी तरह ठीक उसी वक़्त, जब तुर्क योरप को दबोचनेवाले थे

और तुर्कों को कामयाबी का काफ़ी मौक़ा था, योरप के पैर जम गये और उसने अपने अन्दर ताक़त पैदा कर ली। तुर्क पश्चिमी योरप में थोड़े अरसे तक बढ़ते गये और जब वे बढ़ रहे थे, यूरोपियन नाविक नये-नये देशों और समुद्रों की तलाश कर रहे थे और पृथ्वी के चारों तरफ चक्कर लगा रहे थे। सुलतान सुलेमान के ज़माने में, जिसने १५२० से १५६६ ई० तक राज किया, तुर्की साम्राज्य वियेना से बग़दाद और काहिरा (कैरो) तक फैल गया था लेकिन इसके आगे वे नहीं बढ़ सके। तुर्क लोग कुस्तुन्तुनिया के यूनानियों की पुरानी कमज़ोरियों और दुराचारपूर्ण रस्म-रिवाजों में फँसते जाते थे। इधर योरप की ताक़त बढ़ती जाती थी; उधर तुर्क अपनी पुरानी ताक़त खोते जाते थे और कमज़ोर होते जाते थे।

पुराने ज़माने में भ्रमण करते-करते हमने देखा था कि एशिया ने योरप पर कई बार हमला किया। एशिया पर योरप ने भी कुछ हमले किये हैं लेकिन उनका कोई महत्व नहीं था। सिकन्दर एशिया पार करता हुआ हिन्दुस्तान आया था लेकिन इससे कोई ख़ास नतीजा न निकला। रोमन लोग इराक़ के आगे कभी नहीं बढ़े। इसके मुक़ाबिले में, योरप पर बहुत पुराने ज़माने से एशियाई क़ौमों का बराबर हमला होता रहा है। एशियाई हमलों में, योरप पर उस्मानी तुर्कों का हमला आख़िरी हमला समझना चाहिए। हम देखते हैं कि धीरे-धीरे पलड़ा उलट जाता है और योरप तेज़ और ताक़तवर बन जाता है। यह तब्दीली सोलहवीं सदी के बीच में पैदा होती है। अमेरिका, जिसका पता हाल ही में चला था, योरप के सामने बहुत जल्द पस्त हो गया। लेकिन एशिया ज्यादा कठिन समस्या साबित हुई। २०० वर्ष तक यूरोपियन लोग एशियाई महाद्वीप के अनेक हिस्सों में पैर जमाने की कोशिश करते रहे और अठारहवीं सदी के मध्य तक एशिया के कुछ हिस्सों पर हावी हो गये। कुछ लोग, जो इतिहास नहीं जानते, समझते हैं कि योरप ने हमेशा एशिया पर राज किया है। योरप की यह शान बहुत हाल की है और जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, अब स्थिति बदलती जारही है और इसकी ताक़त गिरती हुई दिखाई देरही है। पूरब के तमाम देशों में नये ख़यालात लहरें मार रहे हैं और बड़े-बड़े आन्दोलन, जिनका उद्देश्य आज़ादी हासिल करना है, योरप की प्रभुता को ललकार कर जड़ से हिला रहे हैं। इन क़ौमी ख़यालों से भी ज्यादा विस्तृत और गहरे समाजवाद के नये ख़यालात हैं जो सारे साम्राज्यवाद और शोषण का ख़ातमा कर देना चाहते हैं। भविष्य में यह सवाल नहीं रहेगा कि योरप एशिया पर हावी है या एशिया योरप पर या एक देश दूसरे का शोषण करता है।

यह एक लम्बी भूमिका होगई। अब हम फिर मंगोलों की चर्चा करेंगे। उनकी

क़िस्मत के पीछे-पीछे चलकर हमें देखना है कि उनकी क्या दशा हुई। तुम्हें याद होगा कि कुबलाईखाँ आख़िरी बड़ा खां था। १२९२ ई० में उसकी मौत के बाद वह विशाल साम्राज्य, जो एशिया में कोरिया से लेकर योरप में हंगरी और पोलैंड तक फैला हुआ था, पाँच साम्राज्यों में बँट गया। ये पाँचों साम्राज्य अपनी-अपनी जगह पर भी बड़े-बड़े साम्राज्य थे। मैंने अपने एक पिछले ख़त में इन पांचों के नाम दे दिये हैं।

इन पांचों में चीन का साम्राज्य सब-से बड़ा और ताक़तवर था, उसमें मंचूरिया, मंगोलिया, तिब्बत, कोरिया, अनाम, टांगकिंग, और बरमा के कुछ हिस्से शामिल थे। युवान ख़ानदान (जो कुबलाई का ख़ानदान था) इस साम्राज्य का अधिकारी हुआ। लेकिन बहुत दिनों के लिए नहीं। बहुत जल्दी दक्षिण में इसके टुकड़े टूट-टूटकर निकलने लगे और, जैसा मैंने तुम्हें बताया है, १३६८ ई० में, कुबलाई के मरने के ७६ वर्ष बाद, यह ख़ानदान ख़तम हो गया और मंगोल लोग भगा दिये गये।

बहुत दूर पश्चिम में, 'सुनहरे क़बीलों' (Golden Hordes) का साम्राज्य था। इन लोगों का क्या ही अच्छा नाम था। रूसी सरदारों ने कुबलाई की मृत्यु के बाद २०० वर्ष तक इन लोगों को कर दिया। इस ज़माने के अख़ीर में, यानी १४८० ई० में, साम्राज्य किसी क़दर क़मज़ोर पड़ रहा था। और मास्को के ग्रांड ड्यूक ने, जो रूसी सरदारों का प्रमुख बन बैठा था, कर देने से इन्कार कर दिया। उस ग्रांड ड्यूक का नाम महान् आइवन था। रूस के उत्तर में नवगोरोड का पुराना प्रजातंत्र था, जिस पर व्यापारियों और सौदागरों का अधिकार था। आइवन ने प्रजातंत्र को हरा कर अपने राज में मिला लिया। इसी दरमियान कुस्तुन्तुनिया तुर्कों के हाथ में पहुँच चुका था और पुराने सम्राटों का कुटुम्ब वहांसे भगा दिया गया था। आइवन ने इस पुराने राज-घरानें की एक लड़की से शादी करली और इस बात का दावा करनें लगा कि वह उस राजवंश का है और पुराने बिज़ेण्टियम का वारिस है। रूसी साम्राज्य, जो १९१७ की क्रान्ति में हमेशा के लिए ख़तम हो गया, इसी आइवन महान् की मातहती में, पर इस तरीक़े पर, शुरू हुआ। इसके पोते ने, जो बड़ा बेरहम था और इसीलिए 'भयंकर आइवन' (Ivan, the Terrible) कहलाता था, अपने लिए 'ज़ार' का लक़ब ले लिया जिसका अर्थ–सीज़र या सम्राट होता था।

इस तरह मंगोल हमेशा के लिए योरप से हट गये। सुनहरे क़बीलों और मध्य एशिया के दूसरे मंगोल साम्राज्यों का क्या हुआ, इसे जानने में हमें मगज़पच्ची करने की ज़रूरत नहीं है। मैं उनके बारे में ज्यादा जानता भी नहीं हूँ; लेकिन एक आदमी पर हमें ज़रूर ध्यान देना चाहिए।

लिए मैदानेजंग में उतर पड़े थे। लेकिन भीषणता की इस कहानी को दोहराते रहने की ज़रूरत नहीं है। रास्ते भर वह यही करता गया। तैमूर की फ़ौज के पीछे-पीछे अकाल और महामारी चलती थी। दिल्ली में वह १५ दिन तक रहा और उसने इस बड़े शहर को क़साईखाना बना दिया। बाद में काश्मीर को लूटता हुआ वह समरकंद वापस लौट गया।

हालाँकि तैमूर वहशी था, पर वह समरकंद में और मध्य एशिया में दूसरी जगहों पर खूबसूरत इमारतें बनवाना चाहता था इसलिए उसने, जैसा सुलतान महमूद ने पुराने ज़माने में किया था, हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े कारीगर, राजगीर और मिस्त्रियों को इकट्ठा किया और उन्हें अपने साथ ले गया। इनमें से जो सब से अच्छे राजगीर और कारीगर थे उन्हें उसने अपनी नौकरी में रख लिया; दूसरों को पश्चिमी एशिया के खास-खास शहरों में भेज दिया। इस तरह इमारतें बनाने की कला की एक नई तर्ज़ पैदा हुई।

तैमूर के जाने के बाद दिल्ली मुर्दों का शहर बन गया था। अकाल (क़हर) और महामारी ज़ोरों के साथ चल रही थी। दो महीने तक न कोई राजा था, न संगठन, न व्यवस्था। बहुत कम लोग वहाँ रह गये थे। जिस आदमी को तैमूर ने दिल्ली का वाइसराय मुकर्रर किया था, वह भी मुलतान चला गया था।

इसके बाद तैमूर ईरान और इराक़ में तबाही और बरबादी फैलाता हुआ पश्चिम की तरफ़ बढ़ा। अंगोरा में १४०२ ई० में उस्मानी तुर्कों की एक बड़ी फ़ौज के साथ इसका मुक़ाबिला हुआ। अपने सैनिक कौशल से इसने तुर्कों को हरा दिया। लेकिन समुद्र उसके लिए बड़ी ज़बर्दस्त रोक थी इसलिए यह बासफोरस पार न कर सका और योरप उससे बच गया।

तीन वर्ष बाद १४०५ ई० में, जबकि वह चीन की तरफ़ बढ़ रहा था, तैमूर मर गया। उसीके साथ उसका लम्बा-चौड़ा साम्राज्य भी बिखर गया, जो क़रीब-क़रीब सारे पश्चिमी एशिया भर में फैला हुआ था। उस्मानी तुर्क, मिस्रवाले और सुनहरे क़बीलेवाले इसे खिराज देते थे। तैमूर का रण-कौशल अद्भुत था, और यही उसकी योग्यता थी। साइबेरिया के बर्फ़िस्तान में उसकी रणयात्रा बहुत असाधारण रही है। असल में वह एक जंगली खानाबदोश था; उसने कोई संगठन नहीं बनाया और न चंगेज़ की तरह उसने साम्राज्य चलाने के लिए अपने पीछे कोई क़ाबिल आदमी ही छोड़े। इस तरह, तैमूर का साम्राज्य उसीके साथ खतम हो गया और बरबादी और क़त्लेआम की सिर्फ़ यादगार बाक़ी बची। मध्य एशिया में उन लोगों में जो विजयी की हैसियत से यहाँ से गुजरे हैं, चार आदमी अभी तक याद किये जाते हैं—सिकन्दर, सुलतान महमूद, चंगेज़ खाँ और तैमूर।

तैमूर ने उस्मानी तुर्कों को हराकर हिला दिया लेकिन वे बहुत जल्द फिर पनप गये और ५० वर्ष के अन्दर, यानी १४५३ में, उन्होंने कुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा कर लिया।

अब हमें मध्य एशिया से विदा ले लेनी चाहिए। सभ्यता के पलडे में वह हलका पड़ जाता है और उसकी तरफ़ कोई ध्यान नहीं देता। वहाँ कोई ऐसी बात नहीं होती जिसपर हम ध्यान दें। सिर्फ़ पुरानी सभ्यताओं की यादगार बाक़ी रह जाती है, जिन्हें आदमी ने अपने हाथ से नष्ट कर दिया। प्रकृति भी उसके प्रति कठोर होगई और धीरे-धीरे वहाँकी आबहवा ज्यादा खुश्क होगई और उसमें लोगों का बसना मुश्किल होता गया।

हमें मंगोलों से भी विदा ले लेनी चाहिए। हाँ, उनकी एक शाखा का खयाल रखना पड़ेगा जो बाद को हिन्दुस्तान में आई और जिसने यहाँ एक बड़ा और मशहूर साम्राज्य क़ायम किया। लेकिन चंगेज और उसके खानदानवालों का साम्राज्य बिखर गया। मंगोल फिर अपने छोटे-छोटे सरदारों की मातहती में वापस चले जाते हैं और अपनी पुरानी क़ौमी आदतों को इख्तियार कर लेते हैं।

छोटी अंगुली में फिर तकलीफ़ शुरू हो रही है इसलिए अब मैं खतम करता हूँ।

: ७५ :

हिन्दुस्तान में एक कठिन समस्या का समाधान

१२ जुलाई, १९३२

मैंने तुमको तैमूर के बारे में, उसके क़त्लेआम और सरों के ढेर (पिरेमिड) के बारे में बताया है। यह सब कितनी वीभत्स और वहशियाना बात मालूम होती है। हमारे इस सभ्य युग में ऐसी बात नहीं हो सकती। लेकिन इस बात को भी निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकते, क्योंकि हाल ही में हमने देखा है और सुना है कि हमारे जमाने में क्या हो सकता है। चंगेजखां और तैमूर द्वारा किया हुआ जान और माल का नुक़सान, गोकि बहुत ज्यादा था, फिर भी १९१४–१८ के महायुद्ध में हुई बरबादी के मुक़ाबिले में वह बिलकुल तुच्छ जँचता है और मंगोलों की हरेक बेरहमी की बराबरी करने के लिए भीषणता के नमूने, आज-कल के जमाने में भी, मिल सकते हैं।

फिर भी इसमें कोई शक नहीं कि चंगेज और तैमूर के जमाने से आज हमने सैकडों बातों में तरक्क़ी की है। यही नहीं कि उस जमाने से जिन्दगी कहीं ज्यादा पेचीदी

बन गई है, बल्कि वह ज्यादा सम्पन्न भी है। प्रकृति की बहुतेरी ताक़तें खोज निकाली गई हैं; उनको समझने की कोशिश की गई है और उन्हें इन्सान के फ़ायदे के लिए काम में लाया गया है। बिला शक दुनिया आज ज्यादा सभ्य और संस्कृत है। फिर हम लड़ाई के ज़माने में जंगली क्यों बन जाते हैं? इसकी वजह यह है कि लड़ाई खुद ही अपनी जगह पर सभ्यता और संस्कृति का प्रतिवाद या इन्कार है। युद्ध का सभ्यता और संस्कृति से सिर्फ़ इतना ताल्लुक़ है कि यह सभ्य लोगों के दिमाग़ की मदद से ज्यादा-से-ज्यादा ताक़तवर और ख़ौफ़नाक हथियार तैयार कराता है। जब लड़ाई शुरू होती है तो बहुत-से आदमी, जो इसमें शामिल होते हैं, जानबूझकर अपने को जोश की ख़ौफ़नाक हालत में पहुँचा देते हैं। जो कुछ सभ्यता ने उन्हें सिखाया है उसमें से बहुतेरी बातें वे भूल जाते हैं; वे सचाई और ज़िन्दगी की वज़ेदारी को भुला देते हैं और हज़ारों वर्ष पुराने अपने जंगली पुरखों-जैसे बन जाते हैं। फिर इसमें ताज्जुब की क्या बात है कि लड़ाई जब कभी छिड़ती है तो ख़ौफ़नाक बन जाती है।

अगर कोई अजनबी दूसरी दुनिया से इस दुनिया में लड़ाई के ज़माने में आजाय तो वह क्या कहेगा? मान लो कि उसने हमें और हमारी दुनिया को सिर्फ़ लड़ाई के वक्त ही देखा, शान्ति और सुलह के ज़माने में नहीं। वह सिर्फ़ लड़ाई के आधार पर हमारे बारे में अपनी राय क़ायम करेगा और इस नतीजे पर पहुँचेगा कि हम लोग बेरहम, संगदिल और जंगली हैं; कभी-कभी त्याग और साहस दिखा देते हैं, लेकिन आम तौर पर हमारी ज़िन्दगी में कोई नेक पहलू नहीं; सिर्फ़ एक ज़बर्दस्त ख़्वाहिश है कि एक दूसरे को क़त्ल करें और बरबाद करें। वह हमारे बारे में ग़लत राय क़ायम करेगा और हमारी दुनिया के बारे में ग़लत ख़याल बना लेगा, क्योंकि वह एक ख़ास वक़्त पर, जो हमारे कुछ ज्यादा अनुकूल नहीं, हमारा सिर्फ़ एक पहलू ही देखेगा।

इसी तरह अगर हम पुराने ज़माने के बारे में सिर्फ़ लड़ाई और क़त्ल का ख़याल करते हुए, राय क़ायम करेंगे तो वह ग़लत होगी। बदक़िस्मती से लड़ाई और क़त्ल की तरफ़ हमारा ध्यान बहुत ज्यादा खिंच जाता है और लोगों की रोज़मर्रा की ज़िन्दगी हमें नीरस मालूम होती है। इतिहास-लेखक इसके बारे में क्या लिखे? इसलिए इतिहास-लेखक किसी लड़ाई या युद्ध के ऊपर टूट पड़ता है और उसीके बारे में बहुत कुछ लिख डालता है। इसमें शक नहीं कि हम लड़ाइयों को न भूल सकते हैं और न उनके बारे में उदासीन हो सकते हैं लेकिन हमें यह भी न चाहिए कि हम उन्हें उतना महत्व दे दें जितने के वे मुस्तहक़ नहीं। हमें पुराने ज़माने पर मौजूदा ज़माने के लिहाज़ से

नज़र डालनी चाहिए और उस ज़माने के आदमियों के बारे में उसी तरह सोचना चाहिए जिस तरह हम अपने बारे में देखते और सोचते हैं । तभी हमें उनकी ज्यादा इन्सानी झलक मिल सकेगी और हम समझेंगे कि लोगों की रोज़मर्रा जिन्दगी और ख़यालात ही असल में महत्व रखते हैं; कभी-कभी होने वाली लड़ाइयाँ नहीं । इस बात का याद रखना बहुत ज़रूरी है क्योंकि तुम्हें इतिहास की किताबें लड़ाइयों के हाल से भरी मिलेंगी । मेरे ये ख़त भी अक्सर उसी तरफ़ बहक जाते हैं । असली वजह इसकी यह है कि पुराने ज़माने के लोगों की रोज़मर्रा की ज़िन्दगी के बारे में लिखना मुश्किल है । मुझे इसके बारे में काफ़ी जानकारी नहीं है ।

जैसा हमने देखा है, तैमूर हिन्दुस्तान पर आनेवाली सबसे बडी बलाओं में एक था । उन भयंकर बातों और कामों को सोचकर, जिसे उसने, जहाँ-जहाँ गया वहाँ किया, रोंगटे खडे हो जाते है । फिर भी दक्षिण हिन्दुस्तान पर उसका ज़रा भी असर नहीं पड़ा था । यही बात पूर्वी, पश्चिमी और मध्य हिन्दुस्तान के बारे में भी थी । आजकल का संयुक्त प्रान्त भी उसकी चोट से क़रीब-क़रीब बच गया था, सिवाय इसके कि देहली और मेरठ के नज़दीक उत्तर के छोटे-से हिस्से पर, कुछ असर पड़ा था । दिल्ली शहर के अलावा पंजाब ही ऐसा सूबा था जो तैमूर के हमले से ज्यादा बरबाद हुआ । पंजाब में भी असल बरबादी उन लोगों की हुई जो तैमूर के रास्ते में पडे । पंजाब के ज्यादातर लोग बिना विघ्न के अपने रोज़मर्रा के काम में लगे रहे । इसलिए हमें इस बात से होशियार रहना चाहिए कि हम हमलों और लड़ाइयों के महत्व को बढ़ाकर न कहें ।

चौदहवीं और पन्द्रहवीं सदियों के हिन्दुस्तान को देखो । दिल्ली की सुलतानियत सिकुड़ती जाती थी, यहाँ तक कि तैमूर के आने पर बिलकुल ख़तम हो गई । सारे हिन्दुस्तान में बहुत-सी बडी-बडी आज़ाद रियासतें थीं । इन पर ज्यादातर मुसलमानों का क़ब्ज़ा था लेकिन विजयनगर की एक ताक़तवर हिन्दू रियासत भी दक्षिण में थी। इस समय तक इस्लाम हिन्दुस्तान के लिए अजनबी या नई चीज़ नहीं रह गया था; उसके पाँव यहाँ अच्छी तरह से जम गये थे । शुरू के अफ़ग़ान हमला करनें वालों और ग़ुलाम बादशाहों की भयंकरता और बेरहमी ठंडी पड़ चुकी थी और मुसलमान बादशाह अब उतने ही हिन्दुस्तानी थे जितने कि हिंदू थे । उनका बाहरी मुल्कों से कोई रिश्ता नहीं रह गया था । मुख़्तलिफ़ रियासतों में लड़ाइयाँ होती थीं, लेकिन ये लड़ाइयाँ राजनैतिक थीं, मज़हबी नहीं । कभी-कभी मुसलमान रियासत हिन्दू फ़ौज रखती और हिन्दू रियासत मुसलमान फ़ौज रखती थी । मुसलमान बादशाह अक्सर हिन्दू औरतों से शादी करते थे । वे हिन्दुओं को वज़ीर

बनाते थे और ऊँचे-ऊँचे ओहदे देते थे। जीते और हारे या शासक और शासित का कोई ख़याल न था। सच तो यह है कि ज्यादातर मुसलमान, जिनमें चन्द शासक भी शामिल हैं, हिन्दुस्तानी थे। जो मुसलमान हो गये थे, उनमें बहुत से तो दरबार से रिआयत मिलने या आर्थिक फ़ायदे की उम्मीद में मुसलमान हो गये थे। मजहब बदल देने पर भी वे अपने पुराने रस्म-रिवाज से चिपटे हुए थे। बहुत-से मुसलमान शासकों ने जबरदस्ती मुसलमान बनाने की कोशिश की लेकिन इसमें भी लक्ष्य ज्यादातर राजनैतिक था क्योंकि यह समझा जाता था कि मुसलमान जनता ज्यादा वफ़ादार रिआया होगी। लेकिन मजहब बदलने में जबरदस्ती बहुत मदद नहीं देती थी। असली असर आर्थिक होता है। जो मुसलमान नहीं थे, उनको जजिया देना पड़ता था, इसलिए बहुत से इससे बचने के लिए मुसलमान हो गये।

लेकिन ये सब बातें शहरों की हैं, गाँवों पर बहुत कम असर पड़ता था और लाखों देहाती अपने पुराने रास्ते पर चलते रहते थे। यह सच बात है कि अब सरकारी अफ़सरों ने गाँव की जिन्दगी में पहले से ज्यादा दख़ल देना शुरू कर दिया था और गाँव की पंचायतों के जो अधिकार पहले थे, अब नहीं रह गये थे। फिर भी पंचायतें जारी रहीं। वे ग्रामीण जीवन की केन्द्र और रीढ थीं। सामाजिक दृष्टि से और धर्म और रस्म-रिवाज के मामलों में गाँव में बिलकुल तब्दीली नहीं आई। हिन्दुस्तान, जैसा तुम जानती हो, आज तक लाखों गाँवों का देश है। शहर और क़स्बे तो सिर्फ़ सतह के ऊपर ही ऊपर रहते हैं; असली हिन्दुस्तान उस वक़्त भी और आज भी ग्रामीण हिन्दुस्तान था और है। ग्रामीण हिन्दुस्तान को इस्लाम बहुत ज्यादा बदल नहीं सका।

इस्लाम के आने की वजह से हिन्दू धर्म को दो तरीक़ों से धक्का पहुँचा और ताज्जुब तो यह है कि ये दोनों तरीक़े एक दूसरे के ख़िलाफ़ थे। एक बात तो यह हुई कि वह ज्यादा कट्टर और संकीर्ण हो गया। वह सख़्त पड़ गया और हमलों से बचनें के लिए तंग दायरे के अन्दर घुस गया। जात-पांत का बन्धन ज्यादा मजबूत हो गया और परदा ज्यादा आम हो गया। दूसरी बात यह हुई कि जात-पांत, कट्टरता और संकीर्णता के ख़िलाफ़ एक अन्दरूनी विद्रोह पैदा हो गया और हिंदू धर्म में सुधार के लिए बहुतेरी कोशिशें हुईं।

इतिहास भर में शुरू के जमाने से ही हिन्दू धर्म में सुधारक पैदा होते रहे हैं, जिन्होंने इसकी बुराइयों को मिटाने की कोशिश की है। बुद्ध सबसे बड़े सुधारक थे और मैंने तुमसे शंकराचार्य का जिक्र किया ही है, जो आठवीं सदी में हुए थे। तीन सौ वर्ष बाद ग्यारहवीं सदी में एक दूसरे सुधारक पैदा हुए जो चोल साम्राज्य के अन्तर्गत

दक्षिण के रहनेवाले और शंकर के विरोधी मत के माननेवाले थे। इनका नाम रामानुज था। शंकर शैव थे और बुद्धि के मानने वाले थे; रामानुज वैष्णव थे और भक्ति के मानने वाले थे। रामानुज का असर सारे हिन्दुस्तान में फैल गया। मैंने तुम्हें बताया है कि सारे इतिहास-भर में हिंदुस्तान, संस्कृति की दृष्टि से, एक रहा है; राजनैतिक दृष्टि से चाहे इस देश में कई एक परस्पर लड़नेवाली रियासतें क्यों न रही हों। जब भी कोई महापुरुष पैदा हुआ या आन्दोलन चला, राजनैतिक सीमाओं का कुछ भी ख़याल न करते हुए वह सारे देश में फैल गया।

जब इस्लाम हिन्दुस्तान में बस गया, हिन्दू और मुसलमान, दोनों, में नये क़िस्म के सुधारक पैदा होने लगे। वे इन दोनों मज़हबों में जो बातें एक थीं उन पर ज़ोर देते और दोनों मज़हबों के बुरे रस्म-रिवाजों पर हमला करते थे और दोनों मज़हबों को नज़दीक लाने की कोशिश करते थे। इस तरह दोनों का सामञ्जस्य या मेल करने की कोशिश हुई। यह एक मुश्किल काम था क्योंकि दोनों तरफ़ वैमनस्य और तास्सुब काफ़ी था। लेकिन हम देखेंगे कि इस क़िस्म की कोशिश एक के बाद दूसरी सदी में बराबर की गई है। कुछ मुसलमान शासकों ने, और ख़ासकर महान अकबर ने भी इस सामञ्जस्य या दोनों की अच्छी बातों को मिलाने की कोशिश की।

इस सामञ्जस्य का प्रचार करनेवाले पहले मशहूर सुधारक रामानन्द थे। वह जात-पाँत के खिलाफ़ प्रचार करते थे और उसकी परवाह नहीं करते थे। कबीर नाम के एक मुसलमान जुलाहे उनके शिष्य थे, जो बाद को उनसे भी ज़्यादा मशहूर हुए। रामानंद चौदहवीं सदी में दक्षिण भारत में हुए थे। कबीर बहुत लोक-प्रिय हो गये। तुम जानती होगी कि हिन्दी में उनके भजन बहुत मशहूर हैं और उत्तर के दूर-दूर के गाँवों में भी गाये जाते हैं। वह न हिन्दू थे, न मुसलमान। वह हिन्दू मुसलमान दोनों थे या दोनों के बीच के थे। उनके अनुयायी दोनों मज़हबों के और सब जाति के लोग हुआ करते थे। कहते हैं कि जब वह मरे उनका बदन एक चादर से ढक दिया गया। उनके हिन्दू शागिर्द चाहते थे कि जलाने के लिए ले जायँ; मुसलमान शागिर्द दफ़न करना चाहते थे। इसलिए उनमें बहस-मुबाहिसा होने लगा और झगड़ा शुरू हुआ लेकिन इतने में किसी ने चादर उठा ली और वह शरीर, जिसके लिए वे झगड़ रहे थे, उसके नीचे से ग़ायब था। कुछ ताज़े फूल ज़रूर उस जगह पर मिले। मुमकिन है यह कहानी बिलकुल काल्पनिक हो लेकिन है बहुत सुन्दर।

कबीर के कुछ दिनों बाद उत्तर में एक दूसरे बड़े सुधारक और धार्मिक नेता

पैदा हुए। इनका नाम गुरु नानक था और इन्होंने सिक्ख धर्म चलाया। इनके बाद सिक्खों के दस गुरु हुए। आखिरी गुरू गुरु गोविन्दसिंह थे।

हिन्दुस्तान के धर्म और संस्कृति के इतिहास में एक दूसरा नाम भी बहुत मशहूर है, जिसका मैं यहाँ जिक्र करना चाहूँगा। वह नाम चैतन्य का है। चैतन्य सोलहवीं सदी के शुरू में बंगाल के एक मशहूर विद्वान हुए। उन्होंने एकाएक यह निश्चय कर लिया कि उनका ज्ञान और क़ाबलियत सब फिज़ूल की चीज़ है और उसे छोड़ दिया। वह भक्ति के मार्ग पर चल पड़े और बहुत बड़े भक्त होगये। वह सारे बंगाल में अपने शिष्यों को लेकर भजन गाते फिरते थे। उन्होंने भी एक वैष्णव सम्प्रदाय चलाया और अभी तक बंगाल में उनका बहुत ज्यादा असर है।

यह तो हुई धार्मिक सुधार और मेल की बात। जीवन के दूसरे हिस्सों में भी इसी तरह का मेल या इख़्तिलात का काम कभी, जान में और कभी अनजान में, जारी था। एक नई संस्कृति, एक नई भवन-निर्माण कला और एक नई ज़बान पैदा हो रही थी। लेकिन याद रक्खो कि ये सब बातें गाँव के बनिस्बत शहरों में, ख़ासकर साम्राज्य की राजधानी दिल्ली और सूबों और रियासतों की बड़ी राजधानियों में ज्यादा थीं। सबसे ऊपर बादशाह होता था। वह इतना निरंकुश था, जितना पहले कभी भी न रहा होगा। पुराने हिन्दुस्तानी शासकों की निरंकुशता रोकने के लिए कितनी ही बंदिशें और रस्म-रिवाज थे। नये मुसलमान बादशाहों के लिए इस क़िस्म की कोई चीज़ न थी। गोकि सिद्धान्त रूप से इस्लाम में कहीं ज्यादा समता है और, जैसा हमने देखा है, ग़ुलाम भी सुलतान बन सकता था, फिर भी बादशाहों की निरंकुशता और उनके अधिकार बढ़ने लगे। निरंकुशता की इससे ज्यादा हैरत में डालनेवाली मिसाल और कहाँ मिल सकती है कि पागल तुग़लक अपनी राजधानी दिल्ली से दौलताबाद ले जाय?

ग़ुलाम रखने का रिवाज भी खासकर सुलतानों में बहुत बढ़ गया था। लड़ाइयों में ग़ुलाम पकड़ने की ख़ास तौर से कोशिशें की जाती थीं। इनमें भी कारीगर और राजगीर ज्यादा क़ीमती समझे जाते थे। बाक़ी लोग सुलतान की गारद में भरती कर लिये जाते थे।

नालन्द और तक्षशिला के महान् विश्व-विद्यालयों का क्या हुआ? बहुत दिन से इनका नामनिशान जाता रहा था। लेकिन नये क़िस्म के विश्वविद्यालय बहुत से पैदा हो गये थे। इनको 'टोल' कहते थे और इनमें पुरानी संस्कृत विद्या पढ़ाई जाती थी। वे अप-टु-डेट (ज़माने की सबसे ताज़ी चलन के मुताबिक़) नहीं थे। वे गुज़रे ज़माने में रहते थे और संभवतः संकीर्णता और प्रतिक्रिया की भावना क़ायम रखते थे। बनारस बहुत दिनों से इस क़िस्म का एक बहुत बड़ा केन्द्र रहा है।

मैंने ऊपर हिन्दी में कबीर के भजनों का जिक्र किया है। उससे मालूम होता है कि पन्द्रहवीं सदी में हिन्दी न सिर्फ़ आम जनता की जबान थी बल्कि वह एक साहित्यिक भाषा भी बन गई थी। संस्कृत बहुत दिनों से जिन्दा जबान न रह गई थी। यहाँतक कि कालिदास और गुप्त राजाओं के जमाने में भी वह सिर्फ़ विद्वानों की ही जबान थी। साधारण लोग प्राकृत बोलते थे, जो संस्कृत की एक बिगडी हुई शक्ल थी। धीरे-धीरे संस्कृत की दूसरी पुत्रियाँ, हिन्दी, बंगाली, मराठी और गुजराती, बढ़ने लगीं। बहुत-से मुसलमान लेखक और कवियों ने हिन्दी में रचनायें कीं। जौनपुर के एक मुसलमान बादशाह ने पंद्रहवीं सदी में, महाभारत और भागवत को संस्कृत से बँगला में अनुवाद कराया था। दक्षिण के बीजापुर के मुसलमान राजाओं का हिसाब-किताब मराठी में रखा जाता था। इस तरह से हम देखते हैं कि पंद्रहवीं सदी में संस्कृत से पैदा होनेवाली ये जबानें काफ़ी तरक़्क़ी कर चुकी थीं। दक्षिण की द्रविड़ भाषायें—जैसे तमिल, तेलगू, मलयालम और कन्नड इनसे कहीं पुरानी थीं।

मुसलमानी दरबार की जबान फ़ारसी थी। ज्यादातर पढ़े-लिखे आदमी, जिन्हें दरबार से या सरकारी दफ़्तर से कोई सरोकार था, फ़ारसी पढ़ते थे। इस तरह हिन्दुओं की काफ़ी तादाद फ़ारसी पढ़ती थी। धीरे-धीरे बाज़ारों में और सिपाहियों के बीच एक नई जबान पैदा हो गई, जिसे उर्दू कहने लगे। उर्दू के मानी हैं 'लश्कर'। असल में उर्दू कोई नई जबान नहीं थी; हिन्दी पर एक नई पोशाक पहना दी गई थी। इसमें फ़ारसी के शब्द ज्यादा होते थे वर्ना यह बिलकुल हिन्दी ही थी। यह हिन्दी-उर्दू जबान या जैसा कि कभी-कभी कहा जाता है यह हिन्दुस्तानी जबान सारे उत्तर और मध्य हिन्दुस्तान में फैल गई। आज भी इसे मामूली फेर-फार से पंद्रह करोड़ आदमी बोलते हैं। और इससे कहीं ज्यादा लोग इसे समझते हैं। इस तरह तादाद के ख़याल से यह दुनिया की बडी जबानों में से एक है।

स्थापत्यशिल्प या इमारतें बनाने की कला में नई-नई शैलियों का विकास हुआ। और दक्षिण के बीजापूर और विजयनगर में, गोलकुंडा में, अहमदाबाद में (जो उस समय एक बड़ा खूबसूरत शहर था लेकिन आज नहीं है) और जौनपुर में (जो इलाहाबाद के नजदीक है) बहुतेरी ख़ूबसूरत इमारतें बनीं। क्या तुम्हें याद है कि हम हैदराबाद के पास गोलकुण्डा के पुराने खँडहरों को देखने गये थे? हम उस विशाल क़िले पर चढ़ गये थे और वहाँ से हमने देखा था कि हमारे नीचे पुराना शहर, उसके महल और बाजार सब टूटी-फूटी हालत में बिखरे हुए हैं।

इस तरह जब राजा लोग आपस में झगड़ते और एक दूसरे को बरबाद करने की कोशिश में लगे हुए थे, हिन्दुस्तान में बहुत सी ताक़तें चुपचाप, सामञ्जस्य

ओर मेल के लिए बराबर कोशिश कर रही थीं; ताकि हिन्दुस्तान के रहनेवाले शान्तिपूर्वक रह सकें और अपनी ताक़तों को मिलजुल कर तरक़्क़ी और बेहतरी के कामों में लगा सकें। सदियों की कोशिश के बाद उनको काफ़ी कामयाबी हासिल हुई लेकिन यह काम पूरा नहीं होने पाया था कि बिगड़ गया और जिस रास्ते से हम आगे बढ़े थे उसी पर कुछ दूर वापस आगये। फिर हमें आज उसी रास्ते पर चलना है और अच्छी-अच्छी बातों के मेल के लिए कोशिश करनी है। लेकिन इस मर्तबा हमें अपनी बुनियाद ज्यादा मजबूत करनी होगी। हमें इस मर्तबा आज़ादी और सामाजिक समता की बुनियाद पर रचना करनी चाहिए जिससे यह दुनिया के बेहतर तरीक़े के अनुकूल पड़े। तभी यह क़ायम रह सकती है।

सैकड़ों वर्षों तक हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े दिमाग़ धर्म और संस्कृति के इस सामञ्जस्य और मेल की पहेली में डूबे रहे हैं। हिन्दुस्तान का दिमाग़ इस बात में इतना फँसा रहा है कि राजनैतिक और सामाजिक आज़ादी बिलकुल भूल गई और ठीक उसी वक़्त योरप कितनी ही बातों में आगे बढ़ गया और हिन्दुस्तान बेदम, मुर्दा-सा, जिन्दगी की दौड़ में पीछे रह गया।

मैंने तुम्हें बताया है कि एक वक़्त था जब हिन्दुस्तान विदेशी बाज़ारों पर अपना क़ाबू रखता था क्योंकि रसायन विद्या में वह बहुत आगे था। हिन्दुस्तान रंग बना लेता था, फ़ौलाद पर पानी चढ़ा लेता था और इसी तरह की दूसरी बहुत-सी बातें थी। हिन्दुस्तान के जहाज़ दूर-दूर देशों को माल-असबाब ले जाते थे। जिस ज़माने का हम ज़िक्र कर रहे हैं, उससे बहुत पहले हिन्दुस्तान ये बातें खो चुका था। सोलहवीं सदी में नदी फिर पूरब की तरफ़ वापस बहने लगी। पहले तो, शुरू में, क़तरा-क़तरा टपकता रहा लेकिन धीरे-धीरे यह बढ़ गया—यहाँ तक कि वह एक विशाल धारा के रूप में बदल गई।

: ७६ :

दक्षिण भारत के राज्य

१४ जुलाई, १९३२

आओ, हिन्दुस्तान पर फिर एक नज़र डालें और साम्राज्यों और राज्यों के बदलते हुए दृश्यों को देखें। ये किसी बड़ी या बहुत ज्यादा लम्बी सिनेमा के फ़िल्म की ख़ामोश तस्वीरों की तरह हमें एकके बाद दूसरी, आती हुई दिखाई देंगी।

तुम्हें शायद पागल सुलतान मुहम्मद तुग़लक़ की बात याद होगी और यह भी

याद होगा कि वह दिल्ली का साम्राज्य के तोड़ने में कैसे कामयाब रहा। दक्षिण के बड़े सूबे निकल गये और वहाँ नये राज्य बन गये। इन राज्यों में विजयनगर की हिन्दू रियासत और गुलबर्गा की मुसलमान रियासत ख़ास थीं। पूर्व में गौड़ का सूबा, जिसमें बंगाल और बिहार शामिल था, एक मुसलमान शासक की मातहती में आज़ाद हो गया।

मुहम्मद का वारिस उसका भतीजा फ़ीरोज़शाह हुआ। वह अपने चचा से ज्यादा समझदार और रहमदिल था; लेकिन उसमें भी असहिष्णुता थी। फ़ीरोज़ एक कुशल शासक था और उसने अपने राज्य में बहुत सुधार किये। वह दक्षिण या पूर्व के खोये हुए सूबों को फिर से न पा सका, लेकिन साम्राज्य के बिखरने का जो सिलसिला शुरू हो गया था उसे उसने ज़रूर रोक दिया। उसे नये शहर, महल, मसजिदें, बाग़ीचे बनाने का बहुत शौक़ था। दिल्ली के नज़दीक फ़ीरोज़ाबाद और इलाहाबाद से थोड़े फ़ासले पर के जौनपुर शहर उसीके बसाये हुए हैं। उसने जमना में एक बड़ी नहर बनवाई थी और बहुत-सी पुरानी इमारतों की, जो टूट रही थीं, मरम्मत करवाई थी। उसे अपने इस काम पर बहुत नाज़ था और वह उन नई इमारतों की, जिन्हें उसने बनवाया था, और पुरानी इमारतों की, जिनकी उसने मरम्मत करवाई थी, एक लम्बी फेहरिस्त छोड़ गया है।

फ़ीरोज़शाह की माँ राजपूत स्त्री थी। उसका नाम बीबी नैला था और वह एक बड़े राजा की लड़की थी। कहते हैं कि उसके पिता ने पहले फ़ीरोज़ के बाप के साथ उसका विवाह करने से इनकार कर दिया था। इस पर लड़ाई शुरू हुई। नैला के देश पर हमला हुआ और वह बरबाद कर दिया गया। बीबी नैला को जब मालूम हुआ कि उसके लिए ही उसकी प्रजा की यह हालत हो रही है तो वह बहुत परेशान हुई और उसने निश्चय किया कि अपने को फ़ीरोज़शाह के पिता के हवाले करके इस तकलीफ़ को ख़तम कर दे और अपनी प्रजा को बचा ले। इस तरह फ़ीरोज़शाह में राजपूती ख़ून था। तुम देखोगी कि राजपूत स्त्रियों और मुसलमान शासकों में इस क़िस्म के विवाह अक्सर हुआ करते थे। इसकी वजह से एकदेशी भावना की तरक़्क़ी में ज़रूर मदद मिली होगी।

फ़ीरोज़शाह, ३७ वर्ष के लम्बे समय तक राज करने के बाद, १३८८ ई० में मर गया। फ़ौरन ही दिल्ली साम्राज्य का ढांचा, जिसे उसने जोड़ रखा था, टुकड़े-टुकड़े हो गया। कोई केन्द्रीय सरकार न रह गई और छोटे-छोटे शासक सब जगह राज्य करने लगे। बदइन्तज़ामी और कमज़ोरी के इसी युग में तैमूर उत्तर से आया था। फ़ीरोज़शाह की मृत्यु के ठीक १० वर्ष बाद उसने दिल्ली को क़रीब-क़रीब

क़तल कर दिया। बहुत धीरे-धीरे यह शहर पनपा; ५० वर्ष बाद फिर एक सुलतान की मातहती में एक केन्द्रीय सरकार की राजधानी बन गया। लेकिन वह छोटी-सी रियासत थी और दक्षिण, पश्चिम और पूर्वी हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े राज्यों से उसका कोई मुकाबिला नहीं था। सुलतान अफ़ग़ान थे। वे बड़े हलके दरजे के लोग थे; यहाँ तक कि उन्हींके अफ़ग़ानी सरदार उनसे ऊब गये थे। और आख़िरकार परेशान होकर उन सरदारों ने एक विदेशी को अपने यहाँ राज्य करने के लिए बुलाया। यह विदेशी बाबर था। वह तैमूर के वंश का था और उसकी मां चंगेज़ख़ाँ के ख़ानदान से थी। उस वक्त वह काबुल का शासक था। उसने हिन्दुस्तान आने के निमंत्रण को ख़ुशी से मंजूर कर लिया और अगर उसे यह निमंत्रण न मिला होता तब भी आया होता! दिल्ली के नज़दीक, पानीपत के मैदान में, १५२६ ई० में, बाबर ने हिन्दुस्तान का साम्राज्य जीता। एक विशाल साम्राज्य पैदा हुआ, जिसे हिन्दुस्तान का मुग़ल साम्राज्य कहते हैं। दिल्ली को फिर शोहरत मिली और वह साम्राज्य की राजधानी बन गई। लेकिन इस बात पर विचार करने के पहले हमें हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सों पर नज़र डालनी चाहिए और यह देखना चाहिए कि इन डेढ़सौ वर्षों में, जब दिल्ली नीचे की तरफ़ जारही थी, और जगहों में क्या घटनायें हो रही थीं।

इस ज़माने में हिन्दुस्तान में छोटी-छोटी बहुत-सी रियासतें थीं। नये बसे हुए जौनपुर में, मुसलमानों की एक छोटी-सी रियासत थी जिस पर शरक़ी बादशाह राज्य करते थे। यह रियासत कोई बड़ी या ताक़तवर नहीं थी, और राजनैतिक दृष्टि से भी उसका कोई महत्व नहीं था। लेकिन पन्द्रहवीं सदी में क़रीब सौ वर्ष तक वह धार्मिक सहिष्णुता और संस्कृति का बड़ा भारी केन्द्र थी। जौनपुर के मुसलमानी कालेज सहिष्णुता के इन ख़यालों को फैलाते थे और जौनपुर के एक शासक ने तो हिन्दू और मुसलमानों के बीच सामञ्जस्य और मेल की भी कोशिश की थी, जिसका ज़िक्र मैं अपने पिछले ख़त में कर चुका हूँ। कला और नफ़ीस इमारतों और इसी तरह से हिन्दी और बंगाली जैसी देश की उन्नतिशील भाषाओं को प्रोत्साहन दिया जाता था। उस बढ़ी हुई असहिष्णुता के बीच में जौनपुर की छोटी और चन्दरोज़ा रियासत विद्वत्ता, संस्कृति और सहिष्णुता का आश्रय स्थान होने की वजह से मशहूर है।

पूरब की तरफ़ इलाहाबाद की सरहद तक फैला हुआ गौड़ों का बड़ा राज्य था, जिसमें बिहार और बंगाल दोनों शामिल थे। गौड़ का नगर एक बन्दरगाह था, जिससे हिन्दुस्तान के समुद्री किनारे के शहरों का समुद्र के ज़रिये सम्पर्क था। मध्य हिन्दुस्तान में, इलाहाबाद के पश्चिम, क़रीब-क़रीब गुजरात तक फैला हुआ मालवा

का राज्य था, जिसकी राजधानी मांडव थी। मांडव शहर भी था और क़िला भी। वहाँ बहुत-सी सुन्दर और विशाल इमारतें बनीं जिनके खंड्हरों को देखने के लिए अभी तक लोग जाते हैं।

मालवा के उत्तर-पश्चिम राजपूताना था, जिसमें बहुत-सी राजपूत रियासतें ख़ासकर चित्तौड़ की—थीं। चित्तौड़, मालवा और गुजरात में अक्सर लड़ाइयां हुआ करती थीं। चित्तौड़ दूसरी दोनों शक्तिशाली रियासतों के मुक़ाबिले में छोटा था। लेकिन राजपूत लोग हमेशा बहादुर सिपाही रहे हैं और तादाद में कम होने पर भी अक्सर उनकी जीत हुई है। चित्तौड़ के राणा ने मालवा पर इस तरह की फतेह हासिल करने पर चित्तौड़ में एक 'विजयस्तम्भ' बनवाया था। मांडव के सुलतान ने भी इस ख़याल से कि कहीं पीछे न रह जायें मांडव में एक ऊँची मीनार बनवाई। चित्तौड़ की मीनार अभी तक क़ायम है; मांडव की ग़ायब हो गई है।

मालवा के पश्चिम में गुजरात था। वहां पर एक बड़ा ज़बरदस्त राज्य क़ायम हुआ। इसकी राजधानी अहमदाबाद थी। अहमदाबाद को सुलतान अहमदशाह ने बसाया था। वह बहुत बड़ा शहर हो गया और उसकी आबादी क़रीब १० लाख तक पहुँच गई। इस शहर में बडी खूबसूरत इमारतें बनीं और कहते हैं कि ३०० वर्षतक, यानी पंद्रहवीं सदी से अठारहवीं सदी तक, अहमदाबाद दुनिया के सबसे अच्छे शहरों में से एक था। यह एक विचित्र बात है कि इस शहर की जामी मसजिद रानपुर के जैन मन्दिर से, जिसे चित्तौड़ के राणा ने इसी ज़माने में बनवाया था, बहुत मिलती है। इससे ज़ाहिर होता है कि हिन्दुस्तान की पुरानी शिल्प कला पर नये ख़यालात का असर किस तरह पड़ रहा था और नई शिल्पकला किस प्रकार पैदा हो रही थी। यहाँ फिर तुम्हें कला के क्षेत्र में सामञ्जस्य और मेल के उदाहरण दिखाई देंगे, जिसका ज़िक्र में पहले कर चुका हूँ। आज भी अहमदाबाद में इनमें से कई नफ़ीस पुरानी इमारतें मिलती हैं जिनमें पत्थर की खुदाई का अद्भुत काम है। लेकिन नया तिजारती शहर, जो इन इमारतों के चारों तरफ़ बस गया है, बड़ा वीभत्स है और उसके अन्दर से गुज़रते समय आँख बन्द करलेने की इच्छा होती है।

यही वक़्त था जब पोर्चुगीज़ हिन्दुस्तान आये। तुम्हें याद ही होगा कि गुडहोप के अन्तरीप का फेरा लगाकर वास्को डि गामा ही पहले-पहल हिन्दुस्तान आया था। १४९८ ई० में वह दक्षिण के कालीकट मुक़ाम पर पहुँचा। इसके पहले भी बहुत-से यूरोपियन हिन्दुस्तान आचुके थे, लेकिन वे सिर्फ़ व्यापारी की हैसियत से या महज़ सफ़र करने के लिए आये थे। पोर्चुगीज़ अब दूसरे ख़याल से आये। इनके दिलों में अभिमान और आत्म-विश्वास भरा था और पोप ने पूर्वी दुनिया का बैनामा

इनके नाम लिख ही दिया था। ये लोग विजय के इरादे से आये थे। शुरू में इनकी तादाद कम थी लेकिन धीरे-धीरे ज्यादा जहाज़ आने लगे और इन्होंने समुद्र तट के गोआ जैसे कुछ शहरों पर क़ब्ज़ा भी कर लिया, लेकिन पोर्चुगीज़ लोग हिन्दुस्तान में कुछ ज्यादा न कर सके। वे देश के अन्दर कभी भी घुस न पाये; लेकिन हिन्दुस्तान पर समुद्र से हमला करनेवाले पहले यूरोपियन यही थे। इनके बहुत दिनों के बाद फ़ान्सीसी और अंग्रेज़ आये। इस तरह से समुद्र का रास्ता खुल जाने पर हिन्दुस्तान की सामुद्रिक कमज़ोरी मालूम हो गई। दक्षिण भारत के पुराने राज्य कमज़ोर पड़ गये थे और उनका ध्यान खुश्की के ख़तरों की तरफ़ ही लगा हुआ था।

गुजरात के सुलतानों ने समुद्र पर भी पोर्चुगीज़ों का मुक़ाबिला किया। उन्होंने उस्मानी तुर्कों से मिलकर पुर्तगाली जल-सेना को हरा दिया लेकिन बाद में पोर्चुगीज़ जीत गये और समुद्र पर उनका क़ब्ज़ा हो गया। उसी वक़्त दिल्ली के मुग़ल बादशाहों के डर से गुजरात के सुलतानों ने पोर्चुगीज़ों से सुलह करली लेकिन पोर्चुगीज़ों ने बाद में उन्हें धोखा दिया।

दक्षिण हिन्दुस्तान में चौदहवीं सदी की शुरुआत में दो बडी सल्तनतें उठ खडी हुई थीं। एक गुलबर्गा, जिसे बहमनी सल्तनत कहते थे और दूसरी उसके दक्षिण में विजयनगर। बहमनी सल्तनत सारे महाराष्ट्र क्षेत्र में और कर्नाटक के कुछ हिस्सों में फैली हुई थी। यह डेढ सौ बरस से ज्यादा समय तक क़ायम रही लेकिन इसका इतिहास बहुत कमीना है। असहिष्णुता, हिंसा, हत्या और सुलतानों और सरदारों में विलासिता का ख़ूब ज़ोर था और आम जनता बडी मुसीबत में थी। सोलहवीं सदी की शुरुआत में अपनी घोर अयोग्यता की वजह से बहमनी सल्तनत बिखर गई और उसके पांच टुकडे हो गये—बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुंडा, बीदर और बरार।

विजयनगर की रियासत को बने क़रीब २०० वर्ष हो चुके थे और उस समय भी वह ख़ूब अच्छी हालत में थी। इन ६ राज्यों के बीच अक्सर लड़ाइयाँ हुआ करती थीं और हरेक रियासत दक्षिण का मालिक बनने की पूरी कोशिश करतो थी। उनमें आपस में हर तरह की गुटबंदी होती और टूटती और बार-बार बदलती रहती थी। कभी-कभी कोई मुसलमान राज्य हिन्दू राज्य से लड़ता था; कभी मुसलमान और हिन्दू राज्य मिलकर किसी दूसरे मुसलमान राज्य से लड़ते थे। यह संघर्ष बिलकुल राजनैतिक था और जब कभी कोई एक राज्य ज्यादा ताक़तवर हो जाता था तो दूसरे राज्य उसके ख़िलाफ़ मिलकर संगठित हो जाते थे। अख़ीर में विजयनगर की ताक़त और दौलत को देखकर मुसलमान रियासतों ने उसके ख़िलाफ़ एका कर लिया और १५६५ ई० में, तालीकोटा की लड़ाई में उन्होंने इसे बिलकुल हरा दिया।

विजयनगर का साम्राज्य ढाई सदी के बाद ख़तम होगया और यह विशाल और शानदार शहर बिलकुल तबाह हो गया।

पर कुछ ही दिन बाद इन विजयी रियासतों के बीच आपस में झगड़ा उठ खड़ा हुआ और वे एक दूसरे से लड़ने लगीं और बहुत दिन न बीतने पाये थे कि दिल्ली के मुग़ल साम्राज्य के पंजे में सब-की-सब आगईं। इनको दूसरी मुसीबत पोर्चुगीज़ों से उठानी पड़ी, जिन्होंने गोवा पर १५१० ई० में क़ब्ज़ा कर लिया था। गोवा शहर बीजापुर राज्य में था। वहाँ से उनको निकालने की हरचन्द कोशिश करने पर भी वे गोवा में डटे रहे और उनका नेता अलबुकर्क, जिसको 'पूर्व के वाइसराय' का बड़ा ख़िताब मिला था, शर्मनाक बेरहमी के काम करता रहता था। पोर्चुगीज़ों ने लोगों को क़तल करवा दिया; औरतों और बच्चों को भी नहीं छोड़ा। तब से आज तक वे गोवा में मौजूद हैं।

उन दक्षिण रियासतों में, खासकर विजयनगर, गोलकुंडा और बीजापुर में, बड़ी सुन्दर इमारतें बनीं। गोलकुंडा तो आज खंडहर हो गया; बीजापूर में अभी तक इनमें से कई नफ़ीस इमारतें मौजूद हैं; विजयनगर मिट्टी में मिला दिया गया और अब उसका नाम-निशान भी नहीं है। इसी ज़माने में हैदराबाद का शहर गोलकुंडा के नज़दीक बसाया गया। कहा जाता है कि बाद में दक्षिण के राजगीर और कारीगर उत्तर की तरफ चले गये और उन्होंने आगरा के ताजमहल के बनाने में मदद दी।

एक दूसरे के धर्म के प्रति आमतौर पर उदारता के होते हुए भी कभी-कभी असहिष्णुता और तास्सुब की लहर उठती थी; लड़ाइयों में ख़ौफ़नाक क़त्ल और बरबादी हुआ करती थी। फिर भी याद रखने की दिलचस्प बात यह है कि बीजापुर की मुसलमान रियासत में हिन्दू घुड़सवार फ़ौज थी, और विजयनगर की हिन्दू रियासत में मुसलमान फ़ौज के कई दस्ते थे। काफ़ी ऊँचे पाये की सभ्यता पाई जाती थी। लेकिन सारा टीमटाम अमीरों तक महदूद था। खेत में करनेवाला आदमी इससे बिलकुल अलग था। वह ग़रीब था, और जैसा हमेशा होता है अमीरों की विलासिता का बोझ बरदाश्त करता था।

: ७७ :

विजयनगर

१५ जुलाई, १९३२

अपने पिछले ख़त में दक्षिण के जिन राज्यों की चर्चा हमने की है, उनमें विजयनगर का इतिहास सबसे लम्बा है। ऐसा हुआ कि बहुत-से विदेशी यात्री वहाँ आये और इस राज्य और शहर का हाल लिख गय हैं। निकोलो काण्टी नाम का एक इटैलियन १४२० ई० में आया था। हेरात का अब्दुर-रज्ज़ाक मध्य एशिया से बडे खां के दरबार से १४४३ ई० में आया था। पाईज़ नाम का एक पोर्चुगीज़ १५२२ ई० में इस शहर में आया और इसी तरह और भी बहुत-से मुसाफिर आये। हिन्दुस्तान का एक इतिहास भी है जिसमें दक्षिण हिन्दुस्तान की रियासतों, ख़ासकर बीजापुर, का हाल है। इस इतिहास को अकबर के ज़माने में फ़रिश्ता ने फ़ारसी में लिखा था। जिस युग की हम चर्चा कर रहे हैं उससे थोडे ही दिन बाद यह किताब लिखी गई। उस ज़माने के इतिहास अक्सर तास्सुब से भरे हुए हैं और बातों को बढ़ा-चढ़ा कर लिखते हैं। लेकिन उनसे मदद बहुत मिलती है। काश्मीर की 'राजतरंगिणी' को छोड़-कर मुसलमानों के पहले के ज़माने का कोई इतिहास नहीं मिलता इसलिए फ़रिश्ता का इतिहास एक बडी अनोखी बात थी। दूसरों ने इसके बाद लिखा।

अनेक विदेशी यात्रियों ने विजयनगर का जो हाल लिखा है उससे इस शहर की एक निष्पक्ष और सच्ची तस्वीर सामने आजाती है। उन कमबख़्त लड़ाइयों के हाल से, जो अक्सर होती रहती थीं, हमें उतना पता नहीं चलता जितना इन बयानों से चलता है इसलिए मैं तुम्हें वे बातें बताऊँगा जो इन लोगों ने लिखी हैं।

१३३६ ई० के क़रीब विजयनगर की बुनियाद पडी। यह शहर दक्षिण भारत में कर्नाटक प्रदेश में था। हिन्दू रियासत होने की वजह से दक्षिण में मुसलमान राज्यों के सताये हुए लोग काफ़ी तादाद में इस शहर में जाकर आश्रय लेते थे। यह बहुत तेज़ी से बढ़ने लगा। चन्द ही साल में यह रियासत दक्षिण में सबसे ताक़तवर होगई और उसकी राजधानी पर उसकी दौलत और ख़ूबसूरती की वजह से लोगों का ध्यान जाने लगा। बिजयनगर दक्षिण में सबसे प्रभावशाली राज्य हो गया।

फ़रिश्ता ने इसकी दौलत का ज़िक्र किया है और १४०६ ई० में, जब गुलबर्गा का एक मुसलमान बहमनी बादशाह विजयनगर की एक राजकुमारी से शादी करने आया था तब, राजधानी की क्या हालत थी, यह भी बयान किया है। फरिश्ता कहता है कि सड़क के ऊपर ६ मील तक सोने के कपडे, मख़मल और इसी क़िस्म की क़ीमती चीज़ें बिछाई गई थीं। यह धन की कितनी भयंकर और दूषित फज़ूलखर्ची थी।

१४२० ई० में इटैलियन निकोलो काण्टी आया। उसने लिखा है कि शहर का घेरा साठ मील था, इसका क्षेत्र इतना बड़ा इसलिए था कि इसमें बहुत-से बग़ीचे थे। काण्टी की यह राय थी कि विजयनगर का शासक या राय (जैसा कि वह कहलाता था) उस वक्त हिन्दुस्तान का सबसे शक्तिशाली राजा था।

इसके बाद मध्य एशिया से अब्दुर-रज्ज़ाक आया। विजयनगर जाते हुए इसने मंगलौर के पास एक अद्भुत मन्दिर देखा जो ख़ालिस गले हुए पीतल का बना हुआ था। वह १५ फुट ऊँचा था और नीचे ३० फुट लम्बा और ३० फुट चौड़ा था। और ऊपर जाकर बेलूर में उसने एक दूसरे मंदिर को देखकर और भी ताज्जुब ज़ाहिर किया। उसने इस मंदिर का हाल नहीं लिखा क्योंकि उसे डर था कि अगर वह लिखेगा तो लोग उसपर यह "इल्ज़ाम लगायेंगे कि अत्युक्ति करता है।" इसके बाद वह विजयनगर पहुँचा और उसको देखकर उसका दिल बाग़-बाग़ होगया। उसने लिखा है--"यह शहर ऐसा है कि सारी दुनिया में किसी जगह पर इसकी बराबरी का शहर न तो आँखों ने देखा, न कानों ने सुना।" बाज़ारों के बारे में वह लिखता है--"हरेक बाज़ार के कोने पर ऊँचे मेहराबदार फाटक और शानदार गैलरी हैं लेकिन राजा का महल इन सबसे ऊँचा है।" "बाज़ार बहुत लम्बे-चौडे हैं......ख़ूबसूरत और खुशबूदार ताज़े फूल इस शहर में हमेशा मिलते हैं और रोज़ाना इस्तेमाल की ज़रूरी चीज़ समझे जाते हैं, जिनके बिना मानो लोग ज़िन्दा नहीं रह सकते। हरेक पेशे के व्यापारी और कारीगरों की दूकान एक ही जगह है। जौहरी लोग अपने लाल, मोती और पन्ना खुल्लमखुल्ला बाज़ार में बेचते हैं।" अब्दुर-रज़्ज़ाक ने आगे चलकर लिखा है कि "इस मनोहर क्षेत्र में, जिसमें राजा का महल है, बहुत-सी नहरें और सोते बहते हैं, जिनकी नालियाँ कटे हुए और चमकदार पत्थरों की बनी हुई हैं। यह देश इतना घना बसा हुआ है कि थोडी-सी जगह में इसके बारे में कुछ बता सकना नामुमकिन है।" और इसी तरह से वह बयान करता जाता है। १५वीं सदी के मध्य में आया हुआ मध्य एशिया का यह यात्री विजयनगर की शान में बडी प्रशंसा के शब्द कह गया है।

यह हो सकता है कि अब्दुर-रज्ज़ाक ने बहुत से बडे-बडे शहरों को न देखा हो इसलिए जब उसने विजयनगर देखा तो हक्का-बक्का हो गया लेकिन बाद में आनेवाला यात्री काफ़ी सफर किया हुआ आदमी था। यह पेज़ नाम का पोर्चुगीज़ १५२२ ई० में आया था। यह वही समय था जब इटली में पुनर्जागृति (रिनैसाँ) का असर बढ़ रहा था और इटली के शहरों में खूबसूरत इमारतें बन रही थीं। पेज़ को इटली के इन शहरों का पता था इसलिए उसकी शहादत बहुत क़ीमती है। उसने लिखा है

कि विजयनगर का "शहर रोम के बराबर बड़ा है और देखने में बहुत सुन्दर मालूम होता है।" उसने विस्तारपूर्वक इस शहर की अद्भुत बातें बयान की हैं और इसकी अनेक झीलों, सोतों और फल के बग़ीचों की ख़ूबसूरती के बारे में लिखा है। उसने लिखा है कि "दुनिया भर में यह सबसे भरा-पुरा शहर है·········इस शहर की हालत वैसी नहीं है जैसी अक्सर और शहरों की होती है, जहाँ सामान नहीं मिलता या अक्सर कम पड़ जाया करता है। यहाँ हरेक चीज़ भरी पड़ी है।" इसने राजमहल में एक कमरा देखा था। यह कमरा "सारा हाथी दाँत का बना हुआ था। दीवारें ऊपर से नीचे तक और कमरा सबका सब हाथी दाँत का था और लकड़ी के खम्भों की चोटियों पर गुलाब और कमल के फूल थे जो सबके सब हाथी दाँत के बने हुए थे। और ये सब इतनी ख़ूबसूरती से बनाये गए थे कि इनसे बेहतर नहीं हो सकता था। यह सब इतना सुन्दर है कि इस तरह का दूसरी जगह मुश्किल से मिलेगा।"

पेज़ ने अपनी यात्रा के समय के विजयनगर के राजा का भी बयान किया है। यह दक्षिणी भारत के इतिहास में बड़ा प्रसिद्ध राजा हुआ है और उसकी सिपहगिरी, दुश्मनों के लिए उसकी दरियादिली, साहित्य की सहायता, लोकप्रियता और उसकी उदारता की तारीफ़ दक्षिण में अभी तक की जाती है। इसका नाम कृष्णदेव राय था। उसने १५०९ से १५२९ तक यानी २० वर्ष राज्य किया। पेज़ ने उसकी लम्बाई, उसकी शकल-सूरत और उसके रंग का भी बयान किया है। वह गोरा था। "लोग इससे बहुत डरते हैं और यह इतना अच्छा राजा है जितना होना मुमकिन है। यह खुशमिज़ाज और बड़ा हँसमुख है। विदेशियों की इज़्ज़त करता है; उनका आदरपूर्वक स्वागत करता है और जो कुछ उनकी हालत होती है उसके बारे में पूछता है।" राजा के अनेक ख़िताबों के बयान करने के बाद पेज़ लिखता है—"लेकिन सच तो यह है कि वह हरएक चीज़ में इतना निपुण और संपूर्ण है कि जो कुछ उसके पास है वह उसके ऐसे आदमी के लिए कुछ भी नहीं।"

यह तारीफ़ असल में बहुत ज़्यादा हो गई। विजयनगर का साम्राज्य इस वक्त सारे दक्षिण और पूर्वी समुद्री किनारे तक फैला हुआ था। इसके अन्दर मैसूर, ट्रावनकोर और आजकल के मद्रास का सारा सूबा आ जाता था।

इसके अलावा मैं एक बात और बताऊंगा। ई० सन् १४०० के क़रीब शहर में अच्छा पानी लाने के लिए बहुत बड़ी नहरें बनाई गई थीं। एक नदी सारी की सारी बाँध दी गई थी और उसका पानी एक जगह इकट्ठा कर दिया गया था और इसी जगह से १५ मील लम्बी नहर के ज़रिये, जो पहाड़ को काट कर बनाई गई थी, शहर को पानी ले गये थे। विजयनगर इस तरह का था। इसे अपनी दौलत और

खूबसूरती पर नाज़ था और अपनी ताक़त पर ज़रूरत से ज्यादा भरोसा था। किसी को यह खयाल भी नहीं था कि इस शहर और साम्राज्य के आखिरी दिन इतने नज़दीक हैं। पेज़ के आने के ४३ वर्ष बाद एकदम से खतरा पैदा हो गया। दक्षिण की दूसरी रियासतें विजयनगर से जलती थीं, इसलिए इसके खिलाफ़ एक दूसरे से मिल गईं और इसको बरबाद करने का उन्होंने निश्चय कर लिया। उस वक्त भी विजयनगर ग़लती से अपने पर विश्वास करता रहा पर जल्द ही उसका अन्त हो गया और यह अन्त अपनी भीषणता में सम्पूर्ण था।

जैसा मैंने तुमसे बताया है, १५६५ ई० में रियासतों के इस गुट ने विजयनगर को हरा दिया। भारी क़त्लेआम हुआ और बाद को यह विशाल नगर लूट लिया गया। तमाम सुन्दर इमारतें, मन्दिर और महल बरबाद कर दिये गये। पत्थर की मूर्तियाँ और सुन्दर खुदाई का काम सब नष्ट हो गया। जितनी चीजें जलाई जा सकती थीं, जलादी गईं। उस वक्त यह शहर यहाँ तक बरबाद किया गया कि खंडहरों के ढेर हो गये। एक अंग्रेज़ इतिहासज्ञ कहता है कि दुनिया के इतिहास में शायद ही कभी ऐसी तबाही, और यों एकाएक, की गई होगी, जिसमें एक विशाल नगर जो एक दिन इतना सम्पन्न और भरपूर हो, जिसमें अमीर और मेहनती लोग खूब बसे हों, और जो दूसरे ही दिन पराजित हो जाय, लूटा जाय और खंडहर बना दिया जाय और वहशियाना क़त्लेआम और भीषणता के ऐसे दृश्य हों कि जिनका बयान करना नामुमकिन है!

: ७८ :

मज्जापहित और मलक्का का मलेशिया साम्राज्य

१७ जुलाई, १९३२

हम लोगों ने मलेशिया और पूर्वी द्वीपों के बारे में बहुत कम ध्यान दिया है और इनके बारे में लिखे हुए भी बहुत दिन हो गये। मैंने उलटकर देखा तो मुझे मालूम हुआ कि मैंने अपने ४६ नम्बर के ख़त में इनके बारे में कुछ लिखा था। उस वक़्त से ३१ ख़त हमने लिख डाले और अब ७८वें ख़त तक पहुँचे हैं। हरेक देश को बराबर-बराबर एक सीध में रखना भी मुश्किल होता है।

आज से ठीक दो महीने पहले मैंने जो कुछ तुम्हें लिखा था, तुम्हें याद है? क्या कम्बोडिया, अंगकोर, सुमात्रा और श्रीविजय याद हैं? क्या तुम्हें कम्बोडिया का साम्राज्य याद है, जो हिन्दी-चीन में पुरानी हिन्दुस्तानी बस्तियों से बढ़कर, कई सौ वर्षों में, एक बड़ा राज्य हो गया था? और तब इस साम्राज्य पर प्रकृति ने कठोरता

के साथ और अचानक चोट की और इस नगर और साम्राज्य को ख़तम कर दिया। यह सन् १३०० ई० की बात है।

क़रीब-क़रीब इसी कम्बोडियन साम्राज्य के वक़्त में एक दूसरा बड़ा साम्राज्य समुद्र के उस पार सुमात्रा के टापू में था। लेकिन श्रीविजय साम्राज्य बनाने की दौड़ में कुछ देर में शामिल हुआ था और कम्बोडिया के बाद भी बना रहा। इसका अन्त भी एकाएक हुआ लेकिन इसका ख़ातमा क़ुदरत ने नहीं बल्कि आदमी ने किया। ३०० वर्ष तक श्रीविजय का बौद्ध साम्राज्य फूला-फला। पूर्व के सारे टापुओं पर उसका क़ब्ज़ा था और कुछ दिनों तक तो उसने हिन्दुस्तान, लंका और चीन में भी अपने पैर रखने की जगह निकाल ली थी। यह व्यापारिक साम्राज्य था और तिजारत इसका ख़ास काम था, लेकिन उसी समय जावा द्वीप के पूर्वी हिस्से में एक दूसरा साम्राज्य उठ खड़ा हुआ। यह हिन्दू राज्य था जिसने श्रीविजय के सामने सर झुकाने से इनकार कर दिया।

नवीं सदी के शुरू से चार सौ वर्ष तक पूर्वी जावा के इस राज्य को श्रीविजय की बढ़ती हुई ताक़त परेशान करती रही, लेकिन इसने अपनी आज़ादी क़ायम रक्खी और साथ ही पत्थर के बहुत-से सुन्दर मन्दिर बनवाये। इन मन्दिरों में सब से मशहूर मन्दिर, जिसे बोरोबुदर भी कहते हैं, अभी तक पाया जाता है और बहुत-से यात्री इसे देखने जाते हैं। श्रीविजय के अधिकार से बच जाने के बाद पूर्वी जावा ख़ुद जबर्दस्ती करने लगा और अपने पुराने प्रतिद्वन्द्वी श्रीविजय के लिए उलटा एक ख़तरा बन गया। दोनों व्यापारिक राज्य थे। व्यापार के लिए समुद्रों को पार करना पड़ता था, इसलिए उनका एक-दूसरे से झगड़ा होता रहता था।

मेरा दिल चाहता है कि जावा और सुमात्रा की इस होड़ का आजकल की ताक़तों में होनेवाली होड़ से, जैसे जर्मनी और इंग्लैण्ड की होड़ से, मुक़ाबिला करूँ। जावा ने यह समझकर कि श्रीविजय को रोकने का और अपनी तिजारत के बढ़ाने का सिर्फ़ एक ही उपाय यह है कि अपनी समुद्री ताक़त बढ़ाई जाय, अपनी जल-सेना ख़ूब बढ़ा ली। बड़े-बड़े जंगी बेड़े भेजे जाते थे लेकिन वर्षों तक इनका मुक़ाबिला दुश्मनों से नहीं होता था। इस तरह जावा बढ़ता चला गया और दिन-दिन ज़बरदस्त होने लगा। तेरहवीं सदी के अख़ीर में एक शहर बसाया गया जिसका नाम मज्जापहित था और यह बढ़ते हुए जावा की राजधानी होगया।

यह जावा राज्य इतना गुस्ताख़ और घमण्डी होगया था कि इसने 'बड़े ख़ान' कुबलाई के एलचियों को, जो ख़िराज लेने के लिए यहाँ भेजे गये थे, अपमानित किया। यही नहीं कि ख़िराज न दिया हो, बल्कि एक एलची के माथे पर अपमान-

जनक सन्देशा गोद-गोदकर लिख दिया गया। मंगोल ख़ां के साथ इस तरह का खेल करना बहुत ही ख़तरनाक और बेवक़ूफ़ी की बात थी। इसी तरह के संदेश से चिढ़कर चंगेज़ ने मध्य एशिया को तबाह कर दिया था और बाद को हलाकू ने बग़दाद को ऐसी ही बेइज्ज़ती की वजह से बरबाद किया था। फिर भी जावा के छोटे टापूवाले राज्य ने इस तरह की बेइज्ज़ती की। जावा वालों की खुशक़िस्मती थी कि मंगोल लोग बहुत कुछ ठंडे पड़ गये थे और उन्हें विजय की कोई इच्छा नहीं थी। समुद्री लड़ाई भी उन्हें बहुत पसन्द न थी; उन्हें तो ठोस ज़मीन पर ज्याद मज़बूती मालूम होती थी। फिर भी कुबलाई ने जावा के अपराधी राजा को सज़ा देने के लिए फ़ौज भेजी। चीनियों ने जावा वालों को हरा दिया। और राजा को मार डाला लेकिन उन्होंने ज्यादा नुक़सान नहीं किया। चीनी मंगोलों में कितनी तब्दीली आगई थी!

चीनी हमले की वजह से मज्जापहित साम्राज्य, अन्त में, जैसा आगे चलकर हम देखेंगे, ज्यादा मज़बूत हो गया। क्योंकि चीनियों ने जावा में बन्दूकों का प्रचार कर दिया और शायद यह बन्दूकों की ही वजह थी, जिससे मज्जापहित को आगे चलकर लड़ाइयों में कामयाबी हुई।

मज्जापहित का साम्राज्य फैलता गया। इसकी तरक़्क़ी अचानक या बेतुके ढंग से नहीं हो रही थी। साम्राज्य के विस्तार का काम राज्य की तरफ़ से संगठित किया गया था और कुशल जल-सेना और फ़ौज इसमें मदद करती थी। विस्तार के इस ज़माने में महारानी सुहिता रानी थीं। शासन बहुत ही केन्द्रित और कुशल था। पश्चिमी इतिहास-लेखकों ने लिखा है कि टैक्स, चुंगी और विदेशी व्यापार पर कर और मालगुज़ारी की प्रणाली बहुत अच्छी थी। सरकार के अलग-अलग महकमे थे—जैसे उपनिवेश का महकमा, व्यापार का महकमा, सार्वजनिक स्वास्थ्य और हित का महकमा, देश के अन्दरूनी इन्तज़ाम का महकमा और लड़ाई महकमा। एक सबसे ऊँची अदालत (सुप्रीम कोर्ट) थी जिसमें दो प्रधान और सात जज हुआ करते थे। ब्राह्मण पुरोहितों को बहुत अख़्तियार थे, लेकिन राजा इनपर अपना अंकुश रखता था।

इन महकमों से, और इनके नामों से भी, हमें कुछ हद तक कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र की याद आती है। लेकिन उपनिवेश का महकमा नया था। मुल्क के अन्दरूनी इन्तज़ाम के महकमे का वज़ीर 'मन्त्री' कहलाता था। इससे यह ज़ाहिर होता है कि हिन्दुस्तानी संस्कृति और परिपाटी इन द्वीपों में दक्षिणी हिन्दुस्तान के पल्लवों की पहली बस्ती बसने के १२ सौ वर्ष बाद तक क़ायम रही। यह तभी हो सकता है जब सम्पर्क बराबर बना रहा हो और इसमें शक नहीं कि इस प्रकार का सम्पर्क व्यापार के ज़रिये बना हुआ था।

चूँकि मज्जापहित एक व्यापारिक साम्राज्य था इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि निर्यात और आयात व्यापार अच्छी तरह से संगठित रहे हों। निर्यात उस व्यापार को कहते हैं, जिसमें माल विदेशों को भेजा जाता है और आयात उस व्यापार को कहते हैं जिसमें बाहर के देशों से अपने मुल्क में माल आता है। यह व्यापार ख़ास तौर से हिन्दुस्तान, चीन और उसके अपने उपनिवेशों से हुआ करता था। लेकिन जब तक श्रीविजय से लड़ाई रहती थी, उसके साथ या उसके उपनिवेशों के साथ, व्यापार मुमकिन नहीं था।

जावा का राज्य कई सौ वर्षों तक रहा लेकिन मज्जापहित साम्राज्य का मशहूर युग १३३५ से १३८० तक हुआ है। ठीक ४५ वर्ष तक। इसी ज़माने में, १३७७ ई० में, श्रीविजय पर क़ब्ज़ा हुआ और उसको बरबाद कर डाला गया। अनाम, स्याम और कम्बोडिया से मज्जापहित की दोस्ती थी।

मज्जापहित की राजनगरी बहुत सुन्दर और सम्पन्न थी। शहर के बीचों-बीच शिव का बहुत बड़ा मन्दिर था। इसके अलावा बहुत-सी शानदार इमारतें थीं। सच तो यह है कि मलेशिया के सारे हिन्दुस्तानी उपनिवेशों ने सुन्दर इमारतें बनाने में कमाल हासिल किया था। जावा में और भी बडे-बडे शहर और बन्दरगाह थे।

यह साम्राज्यवादी राज्य अपने पुराने दुश्मन श्रीविजय के तबाह होने के बाद ज़्यादा दिनतक ज़िन्दा नहीं रहा। घरेलू झगडे शुरू हो गये और चीन से भी लड़ाई हो गई। इसकी वजह से चीनियों की विशाल जल-सेना जावा आई। उपनिवेश धीरे-धीरे टूटते गये। १४२६ ई० में बड़ा भारी अकाल पड़ा और दो वर्ष बाद मज्जापहित साम्राज्य नहीं रह गया। फिर भी यह एक स्वतन्त्र राज्य की हैसियत से ५० वर्ष और क़ायम रहा। इसके बाद मलक्का के मुसलमान राज्य ने इस पर क़ब्ज़ा कर लिया। इस तरह से मलेशिया की पुरानी हिन्दुस्तानी बस्तियों से पैदा होने वाले साम्राज्यों में से तीसरा साम्राज्य ख़तम हुआ। अपने छोटे ख़तों में हमने बडे-बडे युगों का हाल लिखा है। ईसाई सन् की क़रीब-क़रीब शुरूआत में पहली बार हिन्दुस्तान से बस्तियाँ बसाने के लिए लोग यहाँ आये थे और इस वक्त हम पन्द्रहवीं सदी में हैं। इस तरह हमने इन उपनिवेशों या बस्तियों के इतिहास के १४०० वर्षों का सिंहावलोकन किया है। हमने जिन तीन साम्राज्यवादी राज्यों, यानी कम्बोडिया, श्रीविजय और मज्जापहित पर, अलग-अलग ख़ास तौर से ग़ौर किया है, वे सब कई सौ वर्षों तक क़ायम रहे। इन लम्बे युगों को याद रखना अच्छा होगा क्योंकि इससे उन रियासतों की कुशलता और मज़बूती का कुछ पता चल जाता है। सुन्दर स्थापत्य-शिल्प से उन्हें विशेष प्रेम था और व्यापार उनका ख़ास पेशा था। वे हिन्दुस्तानी

संस्कृति की परिपाटी क़ायम रखे हुए थे और चीनी संस्कृति की बहुत-सी बातों को भी उन्होंने बडी अच्छी तरह मिला लिया था।

तुम्हें यह याद होगा कि इन तीनों हिन्दुस्तानी उपनिवेशों के अलावा, जिनका हमने जिक्र किया है, और भी बस्तियाँ थीं लेकिन हम हरेक पर अलग-अलग विचार नहीं कर सकते; और न दो पडौसी देशों यानी बरमा और स्याम के बारे में ही कुछ ज्यादा कर सकते हैं। इन दोनों देशों में भी बडे ताक़तवर राज्य बने और कला की भी काफ़ी तरक़्क़ी हुई। दोनों में बौद्ध-धर्म फैला। मंगोलों ने एक दफ़ा बरमा पर हमला किया था लेकिन स्याम पर चीनवालों ने कभी हमला नहीं किया। बरमा और स्याम दोनों चीन को ख़िराज देते थे लेकिन यह एक क़िस्म की भेंट थी, जिसे कोई इज्जत करने वाला छोटा भाई बडे भाई के सामने पेश करता है। इस ख़िराज के बदले छोटे भाइयों के पास चीन से वहुत क़ीमती नजरें आती थीं।

बरमा पर मंगोलों का हमला होने के पहले वहां की राजधानी पगान थी। यह शहर उत्तर बरमा में था। २०० वर्षों से ज्यादा समय तक यह शहर राजधानी रहा। कहते हैं, यह बड़ा ख़ूबसूरत शहर था और अंगकोर के अलावा कोई दूसरा शहर इसका मुक़ाबिला नहीं कर सकता था। आनन्द मन्दिर इसकी सबसे अच्छी इमारत थी। दुनिया भर में यह बौद्ध स्थापत्य-शिल्प के सबसे ख़ूबसूरत नमूनों में समझा जाता है। इसके अलावा भी बहुत-सी शानदार इमारतें थीं। सच तो यह है कि पगान शहर के खँडहर आज भी देखने में सुन्दर हैं। पगान का शानदार जमाना ग्यारहवीं से तेरहवीं सदी तक था। इसके बाद बरमा में कुछ झगड़ा-फ़िसाद शुरू हुआ और उत्तर बरमा दक्षिण बरमा से अलग हो गया। सोलहवीं सदी में दक्षिण में एक बड़ा राजा पैदा हुआ और उसने बरमा को फिर मिलाकर एक कर दिया। उसकी राजधानी पेगू में थी, जो दक्षिण में है।

मुझे उम्मीद है कि बरमा और स्याम के इस मुख़्तसर और अचानक ज़िक्र से तुम घपले में न पड़ जाओगी। हम मलेशिया और इण्डोनेशिया के इतिहास के एक अध्याय के अन्त तक पहुँच गये हैं। और मैं अपना सिंहावलोकन पूरा कर लेना चाहता हूँ। अभी तक जमीन के इन हिस्सों के ऊपर जितने ख़ास-ख़ास प्रभाव पडे, फिर चाहे वे राजनैतिक रहे हों या सांस्कृतिक, हिन्दुस्तान या चीन से आये थे। जैसा मैंने तुमको बताया है, एशिया महाद्वीप के दक्षिण-पूर्वी देशों यानी बरमा, स्याम और हिन्दी-चीन पर चीन का ज्यादा प्रभाव पडा था। मलाया प्रायद्वीप और दूसरे टापुओं पर हिन्दुस्तान का ज्यादा असर पड़ा था।

अब एक नया असर और पैदा होता है। यह असर अरबों का था। बरमा और

स्याम पर यह असर नहीं पड़ा लेकिन मलाया और उसके टापू इसके प्रभाव में आगये और बहुत जल्द एक मुसलमान साम्राज्य पैदा हो गया।

अरब व्यापारी इन टापुओं में हज़ार वर्षों से आते थे और वहाँ बस भी गये थे, लेकिन वे सौदागरी में लगे रहते थे और हुकूमत के काम-काज में दख़ल नहीं देते थे। चौदहवीं सदी में अरब मज़हबी उपदेशक अरबस्तान से आये और उन्हें कामयाबी हुई, खास तौर से चन्द स्थानीय शासकों को मुसलमान बनाने में।

इसी दरमियान राजनैतिक तब्दीलियां शुरू हो गई थीं। मज्जापहित फैल रहा था और श्रीविजय को दबा रहा था। जब श्रीविजय का पतन हुआ, बहुत से लोग भागकर मलाया प्रायद्वीप के दक्षिण में जा बसे और वहाँ उन्होंने मलक्का नाम का शहर बसाया। यह शहर और रियासत तेज़ी से बढ़ी और १४०० ई० में मलक्का बड़ा शहर हो गया था। मज्जापहित के जावा लोगों को उनकी रियाया पसन्द नहीं करती थी। जैसा आमतौर पर साम्राज्यवादी क़ौमों का तरीक़ा है, ये लोग ज़ालिम होते थे, इसलिए बहुत-से लोग मज्जापहित में रहने के बजाय मलक्का की नई रियासत में बसना ज्यादा पसन्द करने लगे। स्याम भी इस वक्त किसी क़दर जबर्दस्ती कर रहा था। इस तरह से मलक्का बहुत-से लोगों का आश्रय बन गया। इन लोगों में मुसलमान और बौद्ध दोनों थे। यहाँ के शासक पहले बौद्ध थे लेकिन बाद को मुसलमान हो गये।

मलक्का की नई रियासत को एक तरफ जावा से और दूसरी तरफ़ स्याम से ख़तरा था। इसने टापुओं की दूसरी छोटी-छोटी मुसलमान रियासतों से समझौता और दोस्ती करने की कोशिश की। इसने चीन से भी रक्षा के लिए मदद माँगी। उस वक़्त मिंग लोग, जिन्होंने मंगोलों को हराकर खदेड़ दिया, चीन पर राज्य करते थे। यह ग़ौर करने की बात है कि मलेशिया की छोटी-छोटी मुसलमान रियासतों ने एक साथ ही चीन से मदद माँगी। इससे ज़ाहिर होता है कि ताक़तवर दुश्मनों ने इन्हें ज़रूर धमकियाँ दी होंगी।

चीन ने मलेशिया के देशों से दोस्ती की पर साथ ही उनसे दूर रहने की नीति हमेशा बरती। वह विजय के लिए भी उत्सुक नहीं था। उसका ख़याल था कि इन देशों से उसे कोई फ़ायदा नहीं हो सकता लेकिन वह इन्हें अपनी सभ्यता सिखाने के लिए तैयार था। मिंग सम्राट ने इस पुरानी नीति को बदल देना चाहा और वह इन देशों में ज्यादा दिलचस्पी लेने लगा। लेकिन जान पड़ता है कि उसने जावा और स्याम की ज़बरदस्ती की नीति को पसंद नहीं किया। इसलिए इनको बन्दिश में रखने के वास्ते और चीन की ताक़त को दूसरों पर ज़ाहिर करने के लिए उसने एक

बहुत बड़ी जल-सेना एडमिरल यानी जल सेनापति चेंग-हो की मातहती में भेजी। इस बेड़े में कई जहाज ४०० फ़ीट लम्बे थे।

चेंग-हो ने कई सफ़र किये और क़रीब-क़रीब सभी टापुओं—फ़िलिपाइन, जावा, सुमात्रा, मलाया प्रायद्वीप वग़ैरा में गया। वह सीलोन भी आया और उसे जीत कर उसके राजा को चीन पकड़ ले गया। अपने आख़िरी सफ़र में वह ईरान की खाड़ी तक गया था। चौदहवीं सदी की शुरूआत में चेंग-हो की इन यात्राओं से उन देशों पर बहुत असर पड़ा, जहाँ-जहाँ वह गया था। हिन्दू मज्जापहित और बौद्ध स्याम को दबाने के लिए उसने जान-बूझकर इस्लाम को प्रोत्साहन दिया और मलक्का की रियासत उसकी विशाल जल-सेना के साये में बहुत मज़बूती से क़ायम हो गई। चेंग-हो की मंशा बिलकुल राजनैतिक थी; धर्म से इसका कोई ताल्लुक़ न था। वह खुद बौद्ध था।

इस तरह मलक्का की रियासत मज्जापहित के दुश्मनों का नेता बन गई। इसकी ताक़त बढ़ने लगी और इसने धीरे-धीरे जावा के उपनिवेशों पर क़ब्ज़ा करना शुरू कर दिया। १४७८ ई० में मज्जापहित शहर पर भी उसका क़ब्ज़ा हो गया। इसके बाद इस्लाम शहर का और दरबार का मज़हब बन गया, लेकिन गाँवों में, हिन्दुस्तान की तरह, पुराना धर्म और रस्म व रिवाज क़ायम रहे।

मलक्का का साम्राज्य श्रीविजय और मज्जापहित के साम्राज्यों की तरह बहुत दिनों तक क़ायम रह सकता था और महान हो सकता था, लेकिन इसे मौका न मिला। चन्द ही वर्षों में, यानी १५११ ई० में, पोर्चुगीज़ों ने उसमें दख़ल देना शुरू कर दिया और उन्होंने मलक्का पर क़ब्ज़ा भी कर लिया। इस तरह चौथे की जगह पाँचवाँ साम्राज्य आगया और वह भी बहुत दिनों तक ज़िन्दा न रह सका। इतिहास में पहली मर्तबा पूर्वी समुद्रों में योरप जबर्दस्त और हावी हो गया।

: ७६ :

योरप पूर्वी एशिया को हड़पना शुरू करता है

१९ जुलाई, १९३२

हमने अपना आख़िरी ख़त उस मौके पर ख़तम किया था, जब मलेशिया में पोर्चुगीज़ लोग आगये थे। तुम्हें याद होगा कि मैंने तुम्हें कुछ दिन पहले बताया था कि समुद्र के रास्ते कैसे मालूम किये गये और पुर्तगाल और स्पेन के लोगों में पहले पूर्व पहुँचने के लिए कैसी दौड़-सी मची थी। पुर्तगाल पूर्व की तरफ़ गया था और स्पेन

पश्चिम की तरफ़। पुर्तगाल अफ़रीका के इर्द-गिर्द घूमकर हिन्दुस्तान पहुँच गया। स्पेन ने ग़लती से अमेरिका का पता चला लिया और बाद को वह दक्षिण अमेरिका के इर्द-गिर्द घूमकर मलेशिया पहुँचा। अब हम अपनी कुछ बातों को मिलाकर मलेशिया की अपनी कहानी आगे बढ़ा सकते हैं।

शायद तुम्हें मालूम हो कि मसाले (मिर्च वग़ैरा) गरम मुल्क में यानी उन देशों में, जो भूमध्य रेखा के नज़दीक हैं, पैदा होते हैं। योरप में मसाले बिलकुल नहीं होते। दक्षिण हिन्दुस्तान और लंका में कुछ होते हैं लेकिन ये मसाले ज़्यादातर मलेशिया द्वीप से, जिन्हें मलक्का कहते हैं, आते हैं। असल में इन टापुओं को ही 'मसाले के टापू' कहते हैं। बहुत पुरानें ज़माने से योरप में इन मसालों की बहुत मांग थी और वे बराबर भेजे जाते थे। योरप पहुँचते-पहुँचते इनकी क़ीमत बहुत बढ़ जाती थी। रोमन लोगों के ज़माने में काली मिर्च सोने के बराबर बिकती थी। हालांकि मसाले इतने क़ीमती होते थे और पश्चिम में उनकी इतनी मांग थी लेकिन योरप इनके मँगाने का ख़ुद कोई इन्तज़ाम नहीं करता था। बहुत दिनों तक मसाले का व्यापार हिन्दुस्तानियों के हाथ में था। फिर अरबों के हाथ में आगया। यह मसाले की लालच थी कि पोर्चुगीज़ और स्पेन के लोग एक दिशा की ओर आगे बढ़ते चले गये, यहाँ तक कि मलेशिया में आकर मिल गये। पोर्चुगीज़ इस खोज में आगे थे, क्योंकि स्पेन के लोग रास्ते में अमेरिका में फँस गये और बहुत मुनाफ़े से फँसे रहे।

इसके बाद ही वास्को डि गामा गुडहोप के अन्तरीप से होता हुआ हिन्दुस्तान पहुँचा। बहुत से पोर्चुगीज़ जहाज़ इसी रास्ते आये और पूर्व की तरफ़ आगे बढ़ गये। उसी वक्त मसाले और दूसरी चीज़ों का व्यापार मलक्का के नये साम्राज्य के हाथ में था। इसलिए पोर्चुगीज़ इस साम्राज्य से और अरब व्यापारियों से आम तौर पर संघर्ष में आगये। पोर्चुगीज़ों के वाइसराय अलबुकर्क़ ने १५११ ई० में मलक्का पर क़ब्ज़ा कर लिया और मुसलमानी तिजारत का ख़ातमा कर दिया। योरप का व्यापार अब पोर्चुगीज़ों के हाथ में आगया और इनकी राजधानी लिस्बन योरप-भर में मसालों और दूसरे पूर्वी मालों की बड़ी-भारी व्यापारिक मंडी बन गई।

यह बात नोट करने लायक़ है कि अलबुकर्क़ अरबों का बड़ा ज़ालिम और बेरहम दुश्मन था। फिर भी वह पूर्व की दूसरी व्यापारिक जातियों के साथ दोस्ती रखने की कोशिश करता था। तमाम चीनियों के साथ, जिनके सम्पर्क में वह आता, वह ख़ास तौर से शराफ़त से पेश आता था। जिसका नतीजा यह हुआ कि चीन में पोर्चुगीज़ों के बारे में बहुत अच्छे ख़यालात फैल गये। शायद अरबों के साथ उसकी दुश्मनी की वजह यह थी कि अरब लोग पूर्वी व्यापार के बाज़ार पर हावी थे।

इस दरमियान मसाले के टापुओं की तलाश जारी रही। मैगेलन, जिसने बाद को प्रशांत महासागर पार किया और दुनिया के चारों तरफ़ घूमा था, उस जहाज़ी बेड़े का एक सभासद था जिसने मलक्का खोज निकाला था। ६० वर्ष तक योरप के मसाले के व्यापार में पोर्चुगीज़ों का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था। १५६५ ई० में स्पेन ने फ़िलीपाइन टापुओं पर क़ब्ज़ा कर लिया और इस तरह से पूर्वी समुद्र पर एक दूसरी यूरोपियन ताक़त का उदय हुआ। लेकिन स्पेन की वजह से पोर्चुगीज़ों के व्यापार में कोई ख़ास फ़रक़ नहीं आया क्योंकि स्पेन के लोग व्यापारी नहीं थे। ये लोग पूर्व को अपने सैनिक और उपदेशक भेजते थे। पोर्चुगीज़ों का मसाले के व्यापार पर एकछत्र अधिकार हो गया। यहाँतक कि ईरान और मिस्र को भी पोर्चुगीज़ों के ज़रिये ही मसाला मिलता था। पोर्चुगीज़ किसी दूसरे को मसाले के इन टापुओं से सीधे व्यापार करने की इजाज़त नहीं देते थे। इस तरह पुर्तगाल दौलतमन्द हो गया लेकिन उसने उपनिवेश बढ़ाने की कोई कोशिश नहीं की। तुम जानती हो कि पुर्तगाल छोटा-सा देश है। उसके यहां बाहर भेजने के लिए भी काफ़ी आदमी नहीं थे। इस छोटे-से देश ने १०० वर्ष तक, यानी सारी सोलहवीं सदी-भर पूर्व में जो कुछ किया, उसे देख कर बड़ा ताज्जुब होता है।

इस दरमियान स्पेन के लोग फ़िलिपाइन से चिपके रहे और जितना पैसा मुमकिन था, कमाने की कोशिश करते रहे। ज़बर्दस्ती ख़िराज लेने के अलावा इनका कोई दूसरा काम नहीं था। पूर्वी समुद्र में संघर्ष बचाने के लिए उन्होंने पोर्चुगीज़ों से सुलह करली थी। स्पेन की सरकार फ़िलिपाइन को इस बात की इजाज़त नहीं देती थी कि वह स्पेनिश अमेरिका से व्यापार कर सके, क्योंकि उसे डर था कि मैक्सिको और पेरू का सोना और चाँदी खिचकर पूर्व चला जायगा। सिर्फ़ एक जहाज़ साल भर में आता था। इसको 'मनिल्ला गैलियन' कहते थे और तुम समझ सकती हो कि इसके सालाना आमद की फ़िलिपाइन के स्पेनी लोग कितनी बेचैनी के साथ इन्तज़ार करते थे। २४० वर्ष तक यह 'मनिल्ला गैलियन' अमेरिका और द्वीपों के बीच प्रशांत महासागर पार करके आया-जाया करता था।

योरप में स्पेन और पुर्तगाल की इन कामयाबियों को देखकर दूसरी क़ौमें जलकर ख़ाक हुई जारही थीं। जैसा हमें बाद को मालूम होगा, उस वक़्त स्पेन योरप पर हावी था। इँग्लैण्ड अव्वल दर्जे की ताक़त न था। निदरलैंड में यानी हालैंड और बेलजियम के एक हिस्से में स्पेन की एक हुकूमत के ख़िलाफ़ बलवा हो गया था। अंग्रेज़ स्पेन से डाह रखने के कारण डच लोगों से हमदर्दी रखते थे। और उन्हें निजी तौर से मदद देते थे। इनके कुछ जल सैनिक खुले समुद्रों में जहाज़ों

पर डाका मारा करते थे और स्पेन के उन जहाजों को लूट लिया करते थे जो अमेरिका से खजाना लेकर स्पेन जाते थे। इस खतरनाक लेकिन फायदेमंद काम का नेता सर फ्रांसिस ड्रेक था।

१५७७ ई० में ड्रेक पाँच जहाजों को लेकर स्पेन के उपनिवेशों को लूटने के लिए निकला। लूट में तो वह कामयाब रहा लेकिन उसके चार जहाज तबाह हो गये। उसका सिर्फ एक जहाज 'गोल्डन हिन्द' प्रशांत महासागर में पहुँचा और ड्रेक 'गुडहोप' अंतरीप होता हुआ इंग्लैण्ड वापिस आया। इस तरह से उसने 'गोल्डन हिन्द' में सारी दुनिया का चक्कर लगा लिया। 'गोल्डन हिन्द' 'मैगेलन विट्टोरिया' के बाद दूसरा जहाज था जिसने पृथ्वी की परिक्रमा की थी। इस परिक्रमा में तीन वर्ष लगे।

स्पेन के जहाजों का लूटना बहुत दिन जारी नहीं रह सका और इंग्लैंड और स्पेन में बहुत जल्द लड़ाई छिड़ गई। डच तो स्पेन से लड़ाई कर ही रहे थे; पुर्त्तगाल भी इस लड़ाई में फंस गया क्योंकि कुछ वर्षों से स्पेन और पुर्त्तगाल पर एक ही राजा राज करता था। अपनी खुशकिस्मती से और दृढ़ता के कारण इंग्लैंड इस लड़ाई में फतेहमंद हुआ जिससे योरप को बड़ी हैरत हुई। स्पेन ने ब्रिटेन को जीतने के लिए जंगी जहाजों का बेड़ा भेजा था। इसको 'अजेय आर्मेडा' (Invincible Armada) कहते थे। तुम्हें याद होगा कि यह बेड़ा डूब गया था लेकिन अभी तो हम पूर्व की बातें कर रहे हैं।

अंग्रेज और डचों ने दूर के पूर्वी देशों पर धावा बोल दिया और स्पेन और पुर्त्तगाल के लोगों पर हमला किया। स्पेन वाले सब फ़िलीपाइन में जमा थे और उसकी आसानी से हिफ़ाजत कर सकते थे, लेकिन पोर्चुगीजों को बहुत धक्का पहुँचा। उनका पूर्वी साम्राज्य ६ हजार मील तक, लाल समुद्र से लेकर मलक्का तक, जगह-जगह फैला हुआ था। ये लोग ईरान की खाडी में अदन के पास और लंका में बसे हुए थे और भारतीय सागर से किनारे पर कितनी ही जगहों में, मलाया में और सारे पूर्वी टापुओं में इनकी बस्तियाँ थीं। धीरे-धीरे इनका पूर्वी साम्राज्य नष्ट हो गया। इनके शहर और इनकी बस्तियाँ एक-एक करके या तो डचों को या अँग्रेजों को मिल गईं। मलक्का भी १६४१ ई० में इनके हाथ से निकल गया। हिन्दुस्तान में और दूसरी जगहों पर दो-चार चौकियाँ इनके पास रह गईं। पश्चिमी हिन्दुस्तान में गोवा इन्हीं का है और पोर्चुगीज अभी तक वहाँ हैं। गोवा अब पोर्चुगीज लोकतंत्र का, जो कुछ साल पहले ही बना है, एक हिस्सा है। अकबर ने गोवा लेना चाहा था लेकिन वह कामयाब नहीं हुआ।

इस तरह, पुर्तगाल पूर्वी इतिहास से गायब हो जाता है। इस छोटे-से देश ने

बहुत बड़ा कौर अपने मुंह में रख लिया था, उसे निगल न सका। निगलने की कोशिश में पस्त हो गया। स्पेन फ़िलिपाइन में चिपका रहा लेकिन पूर्वी मामलों में वह कोई खास हिस्सा नहीं ले रहा था। पूर्व के बेशक़ीमत और फ़ायदेमंद व्यापार पर अब इंग्लैण्ड और हालैण्ड का क़ब्ज़ा था। इन दोनों देशों ने इस काम के लिए दो व्यापारिक कम्पनियाँ बनवाई थीं। इंग्लैण्ड में रानी एलिज़ाबेथ ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को १६०० ई० में एक चार्टर यानी अधिकार पत्र दिया था। दो वर्ष बाद डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी क़ायम हुई। ये दोनों कम्पनियाँ व्यापार के लिए थीं। हालांकि दोनों निजी कम्पनियां थीं लेकिन इन्हें अक्सर सरकारी मदद मिलती थी। इनकी सबसे ज्यादा दिलचस्पी मलेशिया के मसाले के व्यापार में थी। हिन्दुस्तान उस वक्त मुग़ल सम्राटों के मातहत एक ताक़तवर देश था, जिसे नाराज़ करने की किसी की हिम्मत नहीं पड़ती थी।

डच और अंग्रेज़ अक्सर एक दूसरे से लड़ते भी थे। आखिरकार अंग्रेज़ पूर्वी द्वीपों से अलग हो गये और हिन्दुस्तान पर ज्यादा ध्यान देने लगे। विशाल मुग़ल साम्राज्य उस वक्त कमज़ोर पड़ रहा था। इसलिए विदेशियों को मौक़ा मिल गया। हम आगे चलकर देखेंगे कि किस तरह से दुस्साहसी लोग इँग्लैंड और फ़्रांस से आये और जालसाज़ी, धोखेबाज़ी और लड़ाई करके इस बिखरते हुए साम्राज्य के हिस्सों पर कब्ज़ा करने की कोशिश की।

: ८० :

चीन में शान्ति और समृद्धि का युग

२२ जुलाई, १९३२

इन्दु बेटी, मुझे मालूम हुआ कि तुम बीमार थी और मुमकिन है अभी तक बीमार हो। जेल के अन्दर ख़बरों के पहुँचने में देर लग जाती है। मैं तुम्हारी मदद के लिए यहाँ से कुछ भी नहीं कर सकता। तुम्हें अपनी ख़बरदारी ख़ुद ही करनी पड़ेगी। लेकिन मैं तुम्हारी याद करता रहूँगा। कितने ताज्जुब की बात है कि हम सब किस तरह से फैले हुए हैं। तुम पूना में हो; ममी इलाहाबाद में बीमार है, और हममें से बाक़ी मुख़्तलिफ़ जेलों के अन्दर पड़े हुए हैं।

कुछ दिनों से इन ख़तों के लिखने में मुझे कुछ कठिनाई होने लगी है। तुम से बात-चीत करने का बहाना क़ायम रखना आसान काम नहीं था। मुझे ख़याल आता है कि तुम पूना में बीमार पड़ी हो और किसे मालूम मैं तुमको फिर कब देख सकूँगा।

हमारे मिलने के पहले न जाने कितने महीने या वर्ष बीत जायँगे और इस दरमियान तुम कितनी बढ़ जाओगी !

लेकिन बहुत ज्यादा सोच-विचार करना, खास कर जेल में, अच्छा नहीं। मुझे अपने को सम्भाल लेना चाहिए और थोडी देर के लिए आज को भूल कर गुजरे हुए कल का ख़याल करना चाहिए।

हम लोग मलेशिया में थे और हमने वहाँ एक अजीब घटना घटती देखी योरप एशिया में जबर्दस्त होता जा रहा था। पोर्चुगीज आये, फिर स्पेन के लोग आये और बाद को अंग्रेज और डच आये; लेकिन इन यूरोपियन लोगों की हरकतें बहुत दिनों तक मलेशिया और टापुओं के अन्दर ही महदूद रहीं। पश्चिम की तरफ़ मुग़लों की हुकूमत में एक मजबूत हिन्दुस्तान था। उत्तर में चीन था, जो अपनी हिफ़ाजत अच्छी तरह कर सकता था। इसलिए हिन्दुस्तान और चीन में यूरोपियन लोगों ने दखल नहीं दिया।

मलेशिया से चीन सिर्फ एक क़दम पर है। अब हमें वहाँ चलना चाहिए। युआन राजवंश, जिसे मंगोल कुबलाई खां ने चलाया था, ख़तम हो गया था १३६८ ई० में लोगों ने बग़ावत करके बची-खुची मंगोल फ़ौजों को भी चीन की 'बडी दीवार' के उस पार भगा दिया था। इस विद्रोह का नेता हाँग-वू था, जो एक ग़रीब मजदूर का लड़का था और जिसे बहुत कम शिक्षा मिली थी। लेकिन जिन्दगी की बडी पाठशाला का वह बड़ा अच्छा विद्यार्थी था। यह बड़ा सफल नेता निकला और बादको बड़ा अक्लमन्द शासक हुआ। सम्राट होते हुए भी वह अभिमान और अहंकार से फूल नहीं उठा बल्कि सारी जिन्दगी उसने इस बात को याद रखा कि मैं एक ग़रीब का लड़का हूँ। वह तीस वर्ष तक राज्य करता रहा। लोग आज भी उसके राज्य की याद इसलिए करते हैं कि उसने जन-साधारण की, जिनमें से वह उठा था, हालत सुधारने के लिए बराबर कोशिश की। अखीर वक्त तक उसने अपनी जिन्दगी की सादगी क़ायम रखी।

हाँग-वू नये मिंग राजवंश का पहला सम्राट था। उसका लड़का युंग-लो भी बड़ा शासक हुआ है। वह १४०२ से १४२४ ई० तक सम्राट रहा लेकिन इन चीनी नामों से मैं तुम्हें परेशान न करूँगा। बहुत से अच्छे शासक हुए लेकिन जैसा कि अकसर होता है, पतन होने लगा। लेकिन हम सम्राटों को भूल जायँ और इस जमाने के चीन के इतिहास पर ग़ौर करें। यह बहुत ही रौशन जमाना था और उसमें विशेष मनोहरता पाई जाती थी। 'मिंग' के मानी ही चमकदार या 'रौशन' के हैं। मिंग खानदान २७६ वर्षों तक, यानी १३६८ से १६४४ ई० तक रहा।

तमाम राजवंशों में यह राजवंश ख़ास तौर से चीनी कहा जा सकता है। इनके ज़माने में चीनियों को अपनी प्रतिभा के विकास का पूरा मौक़ा मिला। यह वह ज़माना है जबकि घरेलू और वैदेशिक शान्ति रही। वैदेशिक नीति में कोई उग्रता नहीं दिखाई गई और न साम्राज्य बढ़ाने के ख़तरनाक काम ही किये गये। आस-पास के मुल्कों से दोस्ती थी; सिर्फ़ उत्तर में ख़ानाबदोश तातारियों से कुछ ख़तरा था। बाक़ी की पूर्वी दुनिया के लिए चीन एक ऐसे बडे भाई के बराबर था, जो बुद्धिमान, सभ्य, प्रिय था और जिसे अपनी श्रेष्ठता का मान था; पर जो सब छोटे भाइयों की भलाई चाहता था और उन्हें अपनी सभ्यता और संस्कृति सिखाने और उसमें हिस्सा देने के लिए तैयार था। दूसरे देश उसकी तरफ़ आशा और आदर से देखते थे। कुछ ज़माने तक जापान ने भी चीन का प्रभुत्व माना और शोगन, जो जापान पर शासन करता था, अपने को मिंग सम्राटों के मातहत मानता था। कोरिया और इण्डोनेशियन द्वीपों से, जैसे सुमात्रा, जावा वग़ैरा से और हिन्दी-चीन से, ख़िराज आता था।

युंग-लो के राज-काल में ही एडमिरल यानी जलसेनापति चेंग-हो की मातहती में वह बड़ा सैनिक बेड़ा मलेशिया गया था। तीस वर्ष तक चेंग-हो सारे पूर्वी समुद्रों का चक्कर लगाता रहा और ईरान की खाडी तक पहुँच गया। यह द्वीप-राज्यों को डराने की साम्राज्यवादी कोशिश मालूम पड़ती है। ज़ाहिरा तौर से विजय का या किसी दूसरे फ़ायदे का कोई इरादा नहीं था। स्याम और मज्जापहित की बढ़ती हुई ताक़त की वजह से शायद युंग-लो ने यह बेड़ा भेजा हो। पर वजह चाहे जो रही हो, इस बेडे से बहुत बडे नतीजे निकले। इसने मज्जापहित और स्याम की बाढ़ को रोक दिया; मलक्का के नये मुसलमानी राज्य को बढ़ाया और चीनी संस्कृति को सब जगह पूर्व और इण्डोनेशिया भर में फैला दिया।

चूंकि चीन और पडोसी देशों में दोस्ती थी, घरेलू मामलों पर ज्यादा ध्यान दिया जा सकता था। शासन अच्छा था और टैक्सों को कम करके किसानों का बोझ कम कर दिया गया था। सड़कों, नहरों, जलमार्गों और तालाबों में सुधार किया गया। ख़राब फ़सल और अकाल के लिए सार्वजनिक खत्तियाँ क़ायम करने का इन्तज़ाम किया गया। सरकार ने नोट चलाया और इस तरह-से साख बढ़ाकर व्यापार की तरक़्क़ी और माल के विनिमय में मदद पहुँचाई। नोट खूब इस्तेमाल होते थे और ७० फ़ीसदी टैक्स नोट की सूरत में ही दिये जाते थे।

इस ज़माने का सांस्कृतिक इतिहास और भी उल्लेखनीय है। चीनी लोगों की क़ौम बहुत काल से कला-कुशल और सभ्य क़ौम रही है। मिंग युग के अच्छे शासन

और कला को प्रोत्साहन देने की वजह से जनता की आत्मा विकसित हो उठी शानदार इमारतें बन गईं और मिंग युग के चीनी के बर्तन और सुन्दर चित्र अपने कारीगरी और नफ़ीस काट के लिए मशहूर हैं। ये चित्र उन चित्रों का मुक़ाबिल करते हैं जो इन्हीं दिनों इटली 'रिनैसाँ' की स्फूर्ति में पैदा कर रहा था।

पंद्रहवीं सदी के अख़ीर में चीन दौलत, उद्योग-धंधे और सभ्यता में योरप से आगे था। सारे मिंग युग में जितना आनन्द और कला-सम्बन्धी प्रवृत्ति चीन के लोगों में थी योरप के किसी देश में नहीं थी, और याद रक्खो कि यह वही ज़माना है जब योरप में रिनैसाँ का युग चल रहा था।

कला की दृष्टि से मिंग युग के अच्छी तरह से मशहूर होने की एक वजह यह भी है कि उस ज़माने के नफ़ीस कामों के अनेक नमूने आज भी मिलते हैं। उस ज़माने की बड़ी-बड़ी यादगारें पाई जाती हैं। लकड़ी और हाथी-दाँत की खुदाई का काम बहुत ही बढ़िया है। चीनी बर्तन और पीतल के कलश बहुत बढ़िया होते थे। मिंग युग के अख़ीर में कला के कामों में विस्तार को ज्यादा महत्व दिया जाने लगा जिसकी वजह से खुदाई और चित्रों की सुन्दरता कम हो गई।

इसी ज़माने में पोर्चुगीज़ जहाज़ पहले-पहल चीन आये। वे १५१६ ई० में कैण्टन पहुँचे। अलबुकर्क चीनियों का ख़ास तौर से ख़याल रखता था और जिन चीनियों से मिलता था उनसे बड़ा अच्छा बर्ताव करता था। इसकी वजह से चीन में इन लोगों के बारे में बहुत अच्छी रिपोर्ट पहुँची थी। इसलिए पोर्चुगीज़ जब चीन पहुँचे तो उनका बड़ा स्वागत हुआ लेकिन बहुत जल्द उन्होंने कई तरह की शरारतें शुरू कर दीं और कई जगह पर क़िले बना लिये। चीन की सरकार को इस जंगलीपन पर बड़ा ताज्जुब हुआ। उसने कोई जल्दबाज़ी नहीं की लेकिन अख़ीर में सब को बाहर निकाल दिया। तब पोर्चुगीज़ों ने समझा कि उनका मामूली तरीक़ा चीन में फ़ायदेमंद नहीं हुआ। इसलिए वे ज्यादा शान्त और ठंडे हो गये और १५५७ ई० में कैण्टन के नज़दीक बसने के लिए इजाज़त लेली। तभी उन्होंने 'मकाओ' बसाया।

पोर्चुगीज़ों के साथ ईसाई उपदेशक या पादरी आये। इनमें से सेंट फ्रांसिस ज़ेवियर एक बहुत ही मशहूर पादरी था। वह हिन्दुस्तान में बहुत दिनों तक रहा और कितने ही ईसाई कालेज उसके नाम पर अभी तक मिलेंगे। वह जापान भी गया था। ज़मीन पर उतरने की इजाज़त मिलने के पहले ही एक चीनी बन्दरगाह में वह मर गया। चीनी लोग ईसाई उपदेशकों को प्रोत्साहन नहीं देते थे। पर दो जेसुयिट पादरियों ने, बौद्ध विद्यार्थी के वेष में अपने को छिपाकर, वर्षों तक चीनी भाषा पढ़ी। वे कनफ्यूशियन धर्म के बड़े विद्वान् हो गये और वैज्ञानिक होने की शोहरत

भी उन्हें मिली। इनमें से एक का नाम मैटियो रिक्की था। वह बड़ा क़ाबिल और अद्भुत विद्वान् था और इतना होशियार था कि उसने सम्राट् को भी अपने पक्ष में कर लिया। बाद को उसने अपना असली रूप ज़ाहिर कर दिया। उसकी कोशिश से ईसाई धर्म की चीन में पहले से अच्छी हालत होगई।

डच सत्रहवीं सदी के शुरू में 'मकाओ' आये। उन लोगों ने व्यापार करने की इजाज़त माँगी लेकिन उनके और पोर्चुगीज़ों के बीच में बहुत वैमनस्य था और पोर्चुगीज़ों ने इस बात की बडी कोशिश की कि चीनी डच लोगों के ख़िलाफ़ हो जायँ। पोर्चुगीज़ों ने चीनियों से कहा कि डच बडी ख़ूँख़ार और जहाज़ों पर डाका डालने वाली क़ौम है इसलिए चीनियों ने इजाज़त नहीं दी। कुछ दिनों के बाद डचों ने अपने शहर बटाविया से, जो जावा में था, एक बड़ा जंगी जहाज़ों का बेड़ा मकाओ को भेजा और बेवक़ूफ़ी से मकाओ पर ज़बरदस्ती क़ब्ज़ा करने की कोशिश की लेकिन चीनी और पोर्चुगीज़ उनसे कहीं ज्यादा मज़बूत थे।

डचों के पीछे-पीछे अंग्रेज़ भी गये लेकिन उनको कोई कामयाबी नहीं हुई। चीन के व्यापार में उनको मिंग युग के ख़तम होने पर मौक़ा मिला है।

मिंग युग दुनिया की तमाम अच्छी और बुरी चीज़ों की तरह सत्रहवीं सदी के मध्य में ख़तम हुआ। तातारियों का छोटा-सा बादल उत्तर में उठा और बढ़ता गया यहाँ तक कि उसका साया चीन पर भी पड़ने लगा। तुम्हें 'किन' या सुनहले तातारियों की याद होगी। उन्होंने संगों को भगा दिया था और बाद में वे खुद मंगोलों के ज़रिये खदेड़ दिये गये थे। इन्हीं किन लोगों का भाई-बन्द एक नया क़बीला उत्तर चीन में, जहाँ आज मंचूरिया बसा है, उठ खड़ा हुआ। वे अपने को मंचू कहते थे। इन्हीं मंचू लोगों ने ही अख़ीर में मिंगों से हुकूमत अपने हाथ में ले ली।

लेकिन अगर चीन में दलबन्दी और फूट न होती तो मंचू लोगों को चीन के जीतने में बड़ी दिक्क़तें पड़तीं। हरेक देश में, चीन हिन्दुस्तान वग़ैरा सब जगहों पर, विदेशी हमलों के कामयाब होने की वजह यही रही है कि देश कमज़ोर था और लोग आपस में ही लड़ते रहते थे। इसी तरह चीन में भी सारे देश में झगडे-फ़िसाद हुए। शायद बाद के मिंग सम्राट नालायक़ और बेईमान थे या आर्थिक अवस्था ऐसी रही हो कि जिससे सामाजिक क्रान्ति हो जाय। मंचुओं के ख़िलाफ़ लड़ना भी बहुत ख़र्चीला और एक क़िस्म का बोझ हो गया। सब जगहों पर डाकू नेता पैदा होने लगे। और इनमें जो सबसे बड़ा था वह कुछ दिनों तक सम्राट भी रहा। मिंगों का सेनापति, जो मंचुओं के खिलाफ़ लड़ रहा था, वू-सान-क्वी था। वह इस मुश्किल में फँसा था कि डाकू सम्राट और मंचुओं के बीच क्या किया जाय। मूर्खता-वश

और शायद धोखे से उसने डाकुओं के खिलाफ़ मंचुओं से मदद मांगी। मंचू लोगों ने खुशी के साथ मदद दी और पेकिंग में रह गये। वू-सान-क्वी ने, यह देखकर कि अब मिंगों का पक्ष बिलकुल कमज़ोर हो गया है, देश का साथ छोड़ दिया और हमला करने वाले विदेशी मंचुओं से मिल गया।

यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि यह वू-सान-क्वी आज तक चीन में नफ़रत की निगाह से देखा जाता हो और चीनी लोग इसे अपने इतिहास का सबसे बड़ा विश्वासघाती समझते हों। देश की रक्षा की ज़िम्मेदारी लेकर फिर वह दुश्मन से मिल गया और दक्षिणी सूबों को गुलाम बनाने के काम में दुश्मनों की अमली तौर पर मदद की। मंचुओं ने उसे उन्हीं सूबों का वाइसराय बना दिया, जिन्हें जीतने में वू-सान-क्वी ने मदद दी थी और इस तरह से उसकी खिदमतों के लिए उसे इनाम दिया गया।

सन् १६५० में मंचुओं ने कैण्टन नगर को भी जीत लिया और चीन की फतेह पूरी होई। शायद वे इसलिए भी जीत गये कि वे चीनियों से बेहतर सिपाही थे। शायद शांति और समृद्धि के लम्बे युग के कारण चीनी लोग सैनिक दृष्टि से कमज़ोर पड़ गये थे लेकिन मंचुओं की विजय की तेज़ी के दूसरे कारण भी थे। वे चीनियों को खुश रखने और अपने में मिलाने की पूरी कोशिश करते थे। पुराने ज़माने में तातारी लोगों के हमलों के साथ-साथ क़त्लेआम और बेरहमी भी हुआ करती थी पर इस मौक़े पर चीनी अफ़सरों को मिलाने की सब तरह से कोशिश की गई और इन्हीं अफ़सरों को ऊँचे-ऊँचे ओहदों पर नियुक्त किया गया। इस प्रकार चीनी अफ़सर बडे-बडे पदों पर थे; शासन का पुराना तरीक़ा भी, जो मिंगों के ज़माने में चलता था, बदला नहीं गया। प्रणाली वही बनी रही सिर्फ़ ऊपर की हुकूमत में तब्दीली होगई थी।

लेकिन दो बातें खास थीं, जिनसे मालूम होता था कि चीनी लोग विदेशी हुकूमत की मातहती में है। एक तो ख़ास-ख़ास मुक़ामों पर मंचू फ़ौजें रख दीगई थीं और दूसरे लम्बी चोटी रखने का मंचुओं का रिवाज हरेक चीनी के लिए ज़रूरी कर दिया गया था जो उनकी गुलामी का निशान था। हम लोगों में से बहुत-से समझते हैं कि हमेशा से चीनियों में लम्बी चोटी रखने का रिवाज रहा है; लेकिन असल में यह रिवाज़ चीनियों में बिलकुल न था। यह ग़ुलामी का वैसा ही एक चिन्ह था जैसे कई चिन्ह बहुत-से हिन्दुस्तानी आज भी इख़्तियार किये हुए हैं और उनके पीछे छिपी हुई शर्म और गिरावट को महसूस नहीं करते। अब चीनियों ने लम्बी चोटी रखना छोड़ दिया है।

इस तरह चीन का मिंग युग ख़तम हुआ। ताज्जुब होता है कि ३०० वर्ष के अच्छे शासन के बाद यह इतनी तेज़ी से गिर क्यों गया? अगर यह अच्छा शासन था तो बलवे क्यों होते थे और अन्दरूनी झगडे क्यों थे? मंचूरिया से विदेशों के

हमले क्यों नहीं रोके जा सके? शायद बाद को सरकार जालिम हो गई और यह भी हो सकता है कि ऐसी सरकार जो रिआया को बच्चों की तरह समझे, क़ौम को कमज़ोर कर देती है। बच्चों के लिए और क़ौम के लिए भी यह अच्छा नहीं होता कि उन्हें हमेशा गोद में खिलाते रहें।

हर शख़्स को यह ताज्जुब हो सकता है कि चीन, जो इस ज़माने में सभ्यता में इतना ऊँचा हो गया था, दूसरी दिशाओं, जैसे विज्ञान खोज, वग़ैरा में आगे क्यों न बढ़ा? योरप के लोग उससे बहुत पीछे थे। फिर भी तुम यह देखोगी कि रिनैसां के ज़माने में वे (योरप के लोग) स्फूर्ति, साहस और जिज्ञासा के भाव से भरे थे। इन दोनों का मुक़ाबिला इस तरह किया जा सकता है कि इनमें एक तो अधेड़ उम्र के सभ्य आदमी की तरह था जो शान्ति का जीवन चाहता हो, नये साहस के कामों में जिसे उत्सुकता न हो और न वह अपने रोज़मर्रा के कार्यक्रम में किसी क़िस्म का विघ्न पसन्द करता हो; जो कला और प्राचीन पुस्तकों के पढ़ने में दिन भर लगा रहता हो और दूसरा एक नौजवान लड़के की तरह था जो किसी क़दर अनगढ़ हो, लेकिन जिसमें जिज्ञासा और स्फूर्ति खूब पाई जाती हो और जो सब जगहों पर साहस की तलाश में रहे। चीन में सौन्दर्य बहुत है लेकिन यह तीसरे पहर का या शाम के वक्त का शान्त और स्थिर सौन्दर्य है।

: ८१ :

जापान अपने को बन्द कर लेता है

२३ जुलाई, १९३२

चीन से हम जापान जा सकते हैं और रास्ते में थोड़ी देर के लिए कोरिया में ठहर सकते हैं। मंगोलों ने कोरिया में अपना अधिकार जमा रक्खा था। उन्होंने जापान पर भी हमला करने की कोशिश की, लेकिन कामयाबी नहीं हुई। कुबलाई ख़ां ने कई जंगी जहाज़ी बेड़े जापान भेजे लेकिन वे सब भगा दिये गये। मंगोलों को समुद्र पर कभी अनुकूलता महसूस नहीं हुई। वे क़ुदरती तौर पर खुश्की के आदमी थे। टापू होने की वजह से जापान उनकी पकड़ में आने से बच गया।

मंगोलों के चीन से खदेड़ दिये जाने के थोड़े ही दिन बाद कोरिया में एक क्रान्ति हुई और वे शासक जिन्होंने मंगोलों की मातहती इख़्तियार कर ली थी, निकाल दिये गये। इस बग़ावत का नेता ई-ताई-जो नाम का एक देशभक्त कोरियन था। वह वहाँ का नया शासक बनाया गया। उसने एक राजवंश चलाया जो कि ५००

वर्षों से ज्यादा वक्त तक यानी १३९२ से हाल तक क़ायम रहा और उसका ख़ातमा कुछ ही साल पहले हुआ, जब जापान ने कोरिया को अपने राज्य में मिला लिया। सिओल राजधानी बनाया गया था और वह तबसे आज तक है। हम कोरिया के इन ५०० वर्षों के इतिहास में प्रवेश नहीं कर सकते। कोरिया, या चोसन, जैसा कि यह फिर कहलाने लगा था, क़रीब-क़रीब स्वतन्त्र मुल्क की हैसियत से बना रहा लेकिन चीन का साया उसपर पड़ता रहा और वह अक्सर चीन को ख़िराज भी देता था। जापान से कई दफ़ा लड़ाइयाँ हुईं और कई मौक़ों पर कोरिया कामयाब रहा लेकिन आज दोनों का कोई मुक़ाबिला नहीं। जापान एक विशाल और ताक़तवर साम्राज्य है और साम्राज्यवादी क़ौमों में जो बुराइयां पाई जाती हैं वे सब उसमें मौजूद हैं। बेचारा कोरिया इस साम्राज्य का छोटा-सा हिस्सा है, जिसका जापानी लोग शासन और शोषण करते हैं और जो असहाय-सा पर बहादुरी के साथ अपनी आज़ादी के लिए लड़ रहा है। लेकिन यह तो हाल का इतिहास है और हम अभी तक बहुत पुराने ज़माने की चर्चा कर रहे थे।

तुम्हें याद होगा कि जापान में, बारहवीं सदी के आख़िरी हिस्से में, शोगन असली शासक हो गया था। सम्राट तो नाम-मात्र के लिए हुआ करता था। पहली शोगनशाही, जिसे 'कामकुरा शोगनशाही' कहते हैं, करीब डेढ़ सौ वर्षों तक रही और उसनें देश में योग्यता और शान्तिपूर्वक शासन किया। उसके बाद जैसा आम तौर पर होता है, शासक राजवंश का पतन शुरू हुआ। इसके साथ-साथ बदइन्तज़ामी, विलासिता और गृहयुद्ध आये। सम्राट में, जो अपने अधिकारों को काम में लाना चाहता था, और शोगन में झगडे हुए। सम्राट् नाकामयाब रहा और साथ-ही-साथ पुरानी शोगनशाही भी ख़तम हो गई। १३१८ ई० में शोगनों के एक नये खानदान की शुरू-आत हुई। उसे 'अशीकागा शोगनशाही' कहते हैं और वह २३५ वर्ष तक चलती रही। लेकिन यह लड़ाई-झगडों का ज़माना था। यह क़रीब-क़रीब वही ज़माना था जब चीन में मिंग लोग राज कर रहे थे। इस घराने के एक शोगन की यह ज़बर्दस्त ख्वाहिश थी कि मिंगों से दोस्ती करले और वह इस हद तक गया कि उसने मिंग सम्राट की मातहती क़बूल कर ली। जापानी इतिहास-लेखक जापान के प्रति इस अप-मान पर बहुत नाराज़ हुए हैं और उन्होंने इस आदमी की ख़ूब लानत-मलामत की है।

चीन के साथ स्वभावतः बड़ी दोस्ती थी और जापान में चीनी संस्कृति के बारे में, जो उस समय मिंगों की अध्यक्षता में विकसित हो रही थी, एक नई दिलचस्पी पैदा हो गई। हरेक चीज़ का अध्ययन किया जाता था और उसकी तारीफ़ होती थी; चित्रकला, कविता, गृहनिर्माण शिल्प, फ़िलासफ़ी, और युद्ध-शास्त्र सभी के बारे

में यही बात थी। इस जमाने में दो मशहूर इमारतें बनीं। एक 'किनकाकुजी' यानी सोने का मण्डप और दूसरी 'जिनकाकुजी' यानी चांदी का मण्डप।

कला की उन्नति और विलासिता के साथ-साथ किसानों को बहुत ज्यादा तकलीफ़ और मुसीबत थी। उनपर बहुत ज्यादा टैक्स था और गृह-युद्धों का सारा बोझा ज्यादातर उन्हीं बेचारों पर पड़ता था। हालत दिन-ब-दिन ख़राब होती गई; यहांतक कि केन्द्रीय सरकार का कोई भी असर राजधानी के बाहर नहीं रह गया।

१५४२ ई० में, जब कि ये लड़ाइयाँ चल रही थीं, पोर्चुगीज़ आये। याद रखने की दिलचस्प बात यह है कि ये ही लोग जापान में पहले-पहल बन्दूक तथा दूसरे आग्नेयास्त्र (Fire Arms) लाये थे। यह एक अजीब-सी बात मालूम होती है; क्योंकि चीन में बहुत दिन पहले से ये चीज़ें पाई जाती थीं और योरप में चीन से ही मंगोलों के जरिये ये चीज़ें पहले-पहल पहुँची थीं।

आख़िरकार जापान को इस १०० वर्ष के पुराने घरेलू युद्ध से तीन आदमियों ने बचा लिया। इनमें एक नारबुनागा जो एक 'दाइम्यो' या रईस, दूसरा हिदेयोशी जो एक किसान और तीसरा तोकूगावा आयेयासू जो एक बहुत बड़ा सरदार या रईस था। सोलहवीं सदी के ख़तम होते-होते सारा जापान फिर एक सूत्र में बँध गया था। किसान हिदेयोशी जापान के सबसे क़ाबिल राजनीतिज्ञों में से एक हुआ है। लेकिन कहते हैं कि वह बहुत बदसूरत था—छोटे क़द और चपटे मुंह का बनमानुष-जैसा।

जापान को एक सूत्र में बाँधने के बाद इन लोगों की समझ में यह बात नहीं आई कि इतनी बडी फ़ौज को लेकर क्या किया जाय। इसलिए कोई दूसरा काम न पाकर उन्होंने कोरिया के ऊपर हमला कर दिया; लेकिन बहुत जल्द उनको पछताना पड़ा। कोरिया के लोगों ने जापान की जल-सेना को हरा दिया और जापान और कोरिया के बीच के समुद्र पर हावी हो गये। यह कामयाबी कोरियावालों को एक नये क़िस्म के जहाज़ की वजह से हुई जिसकी छत लोहे की चद्दरों की और कछुये की पीठ की तरह हुआ करती थी। इन जहाज़ों को 'कच्छप नौका' कहते थे। ये जहाज़ इच्छानुसार आगे-पीछे खेये जा सकते थे। इन नावों ने जापान के जंगी जहाज़ों को नष्ट कर दिया।

ऊपर बताये हुए तीसरे आदमी, तोकूगावा आयेयासू ने गृह-युद्ध से बहुत फ़ायदा उठाया। वह बड़ा मालदार हो गया और जापान के सातवें हिस्से पर इसकी मिलकियत हो गई। उसीने अपनी रियासत के बीचोंबीच यैदो नाम का शहर बसाया। यही शहर बाद को टोकियो हो गया। १६०३ ई० में आयेयासू शोगन बन गया और इस तरह से तीसरी और आख़िरी शोगनशाही शुरू हुई जिसका नाम 'तोकूगावा शोगनशाही' था और जो २५० वर्ष से ज्यादा रही।

इसी दरमियान पोर्चुगीज़ों ने अपना व्यापार एक छोटे पैमाने पर जारी रक्खा। करीब ५० वर्षों तक उनका कोई यूरोपियन प्रतिद्वन्द्वी नहीं था क्योंकि स्पेनवाले १५९२ ई० में आये और डच और अंग्रेज़ इसके भी बाद आये। संट फ़्रांसिस जेवियर ने १५४९ ई० में इस देश में ईसाई धर्म की शुरुआत की। जेसुइट लोगों को प्रचार करने की इजाज़त दी गई और उनको प्रोत्साहन भी दिया जाता था। असल में इसकी वजह राजनैतिक थी क्योंकि बौद्ध बिहार या मठ षड्यन्त्रों के अड्डे समझे जाते थे। इस वजह से इन भिक्षुओं को दबाया जाता था और ईसाई उपदेशकों के साथ रिआयत की जाती थी। लेकिन बहुत जल्द जापानियों ने यह अनुभव कर लिया कि ये (ईसाई) उपदेशक ख़तरनाक हैं। फ़ौरन ही उन्होंने अपनी नीति बदल दी और इनको बाहर निकालने की कोशिश करने लगे। १५८७ ई० में ईसाइयों के ख़िलाफ़ एक डिग्री यानी राजाज्ञा निकाली गई, जिसमें इस बात का ऐलान किया गया कि जो ईसाई उपदेशक २० दिन के अन्दर जापान से बाहर न चला जायगा, उसको फांसी की सज़ा दी जायगी। यह डिग्री व्यापारियों के ख़िलाफ़ नहीं थी। उसमें यह बता दिया गया था कि ईसाई व्यापारी रह सकते और व्यापार कर सकते हैं लेकिन अगर वे अपने जहाज़ में किसी मिशनरी को लायेंगे तो जहाज़ और माल दोनों ज़ब्त कर लिये जायेंगे। यह डिग्री शुद्ध राजनैतिक कारणों से ही जारी की गई थी। हिदेयोशी को सन्देह हो गया था कि ख़तरा आनेवाला है। उसने समझा कि मुमकिन है ये ईसाई उपदेशक और उनके ज़रिये ईसाई बने हुए दूसरे लोग राजनैतिक दृष्टि से ख़तरनाक हो जायँ, और उसका ख़याल ग़लत नहीं था।

थोड़े ही दिनों बाद एक घटना ऐसी हुई, जिससे हिदेयोशी को पूरा यक़ीन हो गया कि उसका भय सही था और वह बहुत नाराज़ हो गया। तुम्हें याद होगा कि 'मनिल्ला गैलियन' जहाज़ साल में एक दफ़ा फिलीपाइन और स्पेनिश अमेरिका के बीच में आया-जाया करता था। तूफ़ान ने एक दफ़ा इसे बहाकर जापानी किनारे पर पहुँचा दिया। स्पेनिश कप्तान ने स्थानीय जापानियों को दुनिया का नक़्शा दिखाकर और उसमें स्पेन के राजा का विस्तृत साम्राज्य बताकर उन्हें डराना चाहा। लोगों ने कप्तान से पूछा कि स्पेन ने इतना बड़ा साम्राज्य कैसे पाया। उसने जवाब दिया कि यह तो मामूली-सी बात है। पहले ईसाई मिशनरी गये और जब वहाँ बहुत से ईसाई हो गये तो फ़ौज भेजी गई कि नये ईसाइयों से मिलकर वह वहाँ की सरकार को उलट दे। इसकी रिपोर्ट जब हिदेयोशी को पहुँची तो वह बहुत खुश नहीं हुआ। बल्कि ईसाई मिशनरियों के और भी खिलाफ़ हो गया। उसने 'मनिल्ला गैलियन' को तो जाने दिया लेकिन कुछ मिशनरियों और नये ईसाई हुए जापानियों को क़त्ल करा दिया।

१६४० ई० में एक पोर्चुगीज जहाज आया, जिसमें एलची थे और वे व्यापार को फिर से शुरू करने की दरख़्वास्त लेकर आये थे। लेकिन कुछ हुआ नहीं। जापानियों ने एलचियों और जहाज के बहुतेरे मल्लाहों को मार डाला। कुछ मल्लाहों को जिन्दा छोड़ दिया ताकि वे वापस जाकर ख़बर दे दें।

२०० वर्ष से ज्यादा समय तक जापान ने अपने को दुनिया से बिलकुल अलग रक्खा। वह अपने पडोसी चीन और कोरिया से भी अलग रहा। कुछ डच जो उस द्वीप में रहते थे और थोडे चीनी, जिन पर कडी नजर रहती थी, बस यही बाहरी दुनिया से उनके सम्पर्क के जरिये थे। अपने को इस तरह से अलहदा कर लेना बडी ग़ैर-मामूली बात है। लिखित इतिहास के किसी भी युग में या किसी भी देश में इस तरह का दूसरा उदाहरण नहीं पाया जाता। रहस्यमय तिब्बत और मध्य अफ़रीका भी अपने पडोसियों से काफ़ी सम्पर्क रखते थे। अपने को अलहदा कर लेमा बहुत ख़तरनाक चीज होती है, व्यक्ति के लिए भी और देश के लिए भी। लेकिन जापान इससे जिन्दा निकल आया और उसको आन्तरिक शान्ति मिली। और लम्बी-लम्बी लड़ाइयों के बुरे असर से वह बच गया। और अख़ीर में जब सन् १८५३ ई० में उसने अपने दरवाजे और अपनी खिड़कियां खोलीं तो उसने ग़ैर-मामूली काम करके दिखला दिया। वह तेजी के साथ आगे बढ़ा और जो समय खो चुका था उसकी पूर्ति कर ली। दौड़ में यूरोपियन क़ौमों को पकड़ लिया और उन्हीं के खेल में उन्हें हरा दिया।

इतिहास की कोरी रूप-रेखा कितनी नीरस होती है और जो शक्लें उस रूप-रेखा के बीच में चलती हुई दिखाई देती हैं, वे कितनी दुबली-पतली और निर्जीव नजर आती है। फिर भी कभी-कभी जब हम पुराने जमाने की कोई किताब पढ़ते हैं, मुर्दा भूतकाल में भी जान आ जाती है और रंग-मंच हमारे नजदीक आजाता है। हम देखते हैं कि रंग-मंच के ऊपर जीते जागते, ईर्ष्या-द्वेष और प्रेम में भरे स्त्री पुरुष डोलने लगते हैं। मैंने पुराने जापान की एक सुन्दर स्त्री के बारे में एक किताब पढ़ी है। उस स्त्री का नाम मुरासाकी था और वह कई सौ वर्ष पहले हुई थी जबकि ये, गृह-युद्ध जिनका जिक्र हमने आज के ख़त में किया है, नहीं हुए थे। उसने जापान के सम्राट के दरबार में अपनी जिन्दगी का लम्बा-चौड़ा हाल लिखा है। जब मैंने इस बयान का कुछ अंश पढ़ा जिसमें उसकी दिलपसंद जबान और दरबार की फ़िजूल और बेकार बातों और अनेक प्रेम-कथाओं का हाल भरा हुआ है, तो यह मुरासाकी, मेरे लिए एक बडी सच्ची चीज़ बन गई और पुराने जापानी दरबार की कलापूर्ण किन्तु सीमित दुनिया की एक साफ़-साफ़ तस्वीर मेरी आंखों के सामने आ गई।

: ८२ :

योरप में खलबली

८ अगस्त १९३२

कई दिन होगये, मैंने तुम्हें ख़त नहीं लिखे; मुझे लिखे हुए क़रीब दो हफ़्ते तो ज़रूर हो गये होंगे। जेल-ख़ाने में भी, बाहरी दुनिया के समान, आदमी की चित्त की हालत (Moods) बदलती रहती हैं। पिछले दिनों मुझे भी इन पत्रों के प्रति, जिन्हें सिवाय मेरे और दूसरा नहीं देखता-पढ़ता, कोई ख़ास उत्साह नहीं रह गया। ये ख़त नत्थी करके रख दिये जाते हैं और उस वक्त तक, शायद महीनों या वर्षों तक, इन्तज़ार करेंगे, जब तुम उन्हें देख पाओगी। महीनों और बरसों बाद! जब हम फिर मिलेंगे और एक दूसरे को अच्छी तरह देखेंगे और मुझे यह देखकर हैरत होगी कि तुममें कितनी तब्दीली आगई है और तुम कितनी बढ़ गई हो? उस वक्त हमें बहुत-सी बातें और काम करने होंगे और तुम इन खतों पर बहुत कम ध्यान दोगी। उस वक़्त तक इन ख़तों का ढेर लग जायगा और मेरी जेल की ज़िन्दगी के सैकड़ों घण्टे इन ख़तों को लिखने में लग चुके होंगे!

लेकिन फिर भी मैं इन ख़तों को जारी रखूंगा और लिखे हुए ख़तों के ढेर को बढ़ाता रहूँगा। शायद तुम्हें भी इनमें दिलचस्पी हो; मुझे तो दिलचस्पी है ही:

हम कुछ दिन से एशिया में रह रहे हैं और हमने हिन्दुस्तान, मलेशिया, चीन और जापान में उसकी कहानी का सिलसिला जारी रखा है। हमने योरप को, ठीक उस वक्त, जब वह जग रहा था और उसकी कहानी दिलचस्प हो रही थी, एकाएक छोड़ दिया था। उसमें 'रिनैसां' का आगमन हो चुका था और योरप का पुनर्जन्म हो रहा था; बल्कि यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि उसका नया जन्म हो रहा था क्योंकि सोलहवीं सदी में जिस योरप का विकास हो रहा था वह किसी पुराने युग की प्रतिमा नहींथी। यह बिलकुल ही नई चीज़ थी। अगर पुरानी चीज़ कहें भी तो यह मानना पड़ेगा कि उसपर का ग़िलाफ़ बिलकुल नया था।

योरप में हर जगह खलबली और बेचैनी दिखाई देती थी और चारों ओर से घिरी हुई चीजें एकाएक फूटकर बाहर निकल रही थीं। कई सौ वर्ष तक सामन्त-प्रथा पर बना हुआ एक सामाजिक और आर्थिक ढांचा सारे योरप में फैला हुआ था और उसने योरप को अपने पंजे में दबा रखा था। कुछ दिनों तक इस खोल की वजह से तरक्क़ी रुकी रही लेकिन कई जगहों पर यह खोल फटने लगा। कोलम्बस, वास्को डि गामा और समुद्री रास्तों का पता चलानेवाले दूसरे लोगों ने इस खोल को फाड़ डाला और

अमेरिका और पूर्व के देशों से आई हुई स्पेन और पुर्तगाल की बेशुमार दौलत से योरप की आँखें चकाचौंध हो गईं और तब्दीली में तेजी आगई। योरप अपने तंग दायरे से बाहर देखने लगा और दुनिया के बारे में विचार करने लगा। संसारव्यापी व्यापार और हुकूमत की बड़ी-बड़ी सम्भावनायें सामने खुल गईं। मध्यमवर्ग के लोग अधिक ताक़तवर होगये और पश्चिम योरप में सामन्त प्रथा दिन-दिन विघ्न साबित होती गई।

सामन्त-प्रथा पुरानी चीज़ हो चुकी थी। बेरहमी के साथ किसानों का ख़ून चूसना इस प्रणाली का सार था। किसानों से ज़बरदस्ती बेगार ली जाती थी। तरह-तरह की नज़र और नज़राने मालिक को देने पड़ते थे और वह मालिक ही न्यायाधीश यानी इन्साफ़ करनेवाला भी हुआ करता था। किसानों की मुसीबतें इतनी ज्यादा थीं कि, जैसा कि हमनें देखा है, किसानों के बलवे और किसानों की लड़ाइयाँ अक्सर हुआ करती थीं। किसानों की ये लड़ाइयाँ फैलने लगीं और अक्सर होने लगीं। योरप के बहुत-से हिस्सों में आर्थिक क्रान्ति हो गई। सामन्तशाही की जगह बुर्ज़ुआ या मध्यमवर्ग के लोग आगये। इस आर्थिक क्रान्ति की कामयाबी की वजह किसानों की बग़ावत ही थी।

लेकिन यह ख़याल न करना कि ये तब्दीलियाँ फौरन हो गईं। इनमें बहुत दिन लगे और पचासों बरस तक ये गृह-युद्ध योरप में जारी रहे। इन लड़ाइयों की वजह से योरप का बहुत बड़ा हिस्सा वीरान हो गया। सिर्फ़ किसानों की बग़ावतें ही नहीं हुईं बल्कि, जैसा आगे चलकर हम देखेंगे, प्रोटेस्टेण्टों और कैथलिक लोगों में मजहबी लड़ाइयाँ भी हुईं; आज़ादी के लिए क़ौमी लड़ाइयाँ भी छिड़ीं—जैसे निदरलैंड में, और बादशाह के निरंकुश अधिकारों के ख़िलाफ़ 'बुर्ज़ुआ' या मध्यमवर्ग के लोगों ने भी बलवे किये। ये सब बातें तुम्हें घपले की और पेचीदा मालूम होती होंगी। ज़रूर ये पेचीदा और घपले की चीजें हैं लेकिन अगर हम बड़ी-बड़ी घटनाओं और आन्दोलनों को नज़र में रखें तो कुछ ज़रूर समझ सकेंगे।

पहली याद रखने की बात यह है कि किसान बड़ी तकलीफ़ और मुसीबत में थे और इसी वजह से किसानों की लड़ाइयाँ हुईं। दूसरी याद रखने की बात यह है कि मध्यमवर्ग पैदा हो गया था और उपज की शक्तियां बढ़ रही थीं। चीज़ों के बनाने में ज्यादा मज़दूर लगाये जाते थे और व्यापार भी ज्यादा हो गया था। तीसरी बात याद रखने की यह है कि चर्च सबसे बड़ा ज़मींदार था। उसका ज़मींदारी में बहुत बड़ा स्वार्थ फैला हुआ था इसलिए उसकी यही इच्छा रहती थी कि सामन्तशाही क़ायम रहे। चर्च, किसी क़िस्म की ऐसी तब्दीली नहीं चाहता था जिससे उसकी जायदाद और दौलत का बहुत बड़ा हिस्सा उनके हाथ से निकल जाय। इस तरह, जब रोम में मज़हबी बग़ावत फैली तो आर्थिक क्रान्ति ने भी उसीका साथ दिया।

इस महान् आर्थिक क्रान्ति के साथ-साथ या इसके बाद, सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक, हर तरह की तब्दीलियाँ होने लगीं। अगर तुम सोलहवीं और सत्रहवीं सदी के योरप पर दूर से और विस्तृत नजर डालो तो तुम्हारी समझ में यह बात आजायगी कि ये सारी प्रवृत्तियाँ, आन्दोलन और तब्दीलियाँ कैसे एक दूसरे के साथ गुथी हुई और मिली-जुली थीं। आमतौर पर इस जमाने की तीन तहरीकों पर ख़ास जोर दिया जाता है—'रिनैसाँ' या पुनर्जागरण, 'रिफ़ार्मेशन' या सुधार और 'रेवोल्यूशन' या क्रान्ति। लेकिन याद रखो कि इन सब के पीछे आर्थिक मुसीबत और हलचल छिपी हुई थी जिसकी वजह से आर्थिक क्रान्ति पैदा हुई और आर्थिक क्रान्ति ही सारी तब्दीलियों में सबसे महत्वपूर्ण हुई है।

'रिनैसाँ' असल में विद्या का पुनर्जन्म था, जिसमें कला, विज्ञान, साहित्य और यूरोपियन भाषाओं में तरक्क़ी हुई। 'रिफ़ार्मेशन' यानी सुधार आन्दोलन रोमन चर्च के ख़िलाफ़ एक बग़ावत थी। वह चर्च की बदचलनी के ख़िलाफ़ जनता का विद्रोह था। इसके अलावा वह पोप के ख़िलाफ़ योरप के राजाओं की बग़ावत भी थी, जो पोप के इस दावे को मानने से इन्कार कर रहे थे कि वह इन लोगों पर शान जमा सकता है। तीसरे वह चर्च को अन्दर से सुधारने की एक कोशिश थी। 'रेवोल्यूशन' यानी क्रान्ति, राजाओं पर अंकुश रखने के लिए और उनके अधिकारों को सीमित कर देने के वास्ते, बुर्जुआ या मध्यमवर्ग का एक राजनैतिक संघर्ष था।

इन सब तरीक़ों के पीछे एक दूसरी बात भी छिपी थी—छपाई। तुम्हें याद होगा कि अरबों ने काग़ज़ बनाना चीनियों से सीखा था और योरप ने अरबों से सीखा। फिर भी काग़ज़ को सस्ता और काफ़ी मात्रा में बनते-बनते बहुत दिन लग गये। पन्द्रवीं सदी के अख़ीर में योरप के बहुतेरे हिस्सों, हालैंड, इटली, इंग्लैंड, हंगरी वग़ैरा, में किताबें छपने लग गई थीं। ख़याल तो करो कि काग़ज़ और छपाई के पहले दुनिया किस तरह की रही होगी। आज हम लोग काग़ज़ और किताब और छपाई के इतने आदी हो गये हैं कि इस बात की कल्पना भी मुश्किल है कि इन चीज़ों के बिना भी दुनिया हो सकती है। छपी हुई किताबों के बग़ैर ज्यादा आदमियों को सिर्फ़ लिखना-पढ़ना तक सिखाना भी क़रीब-क़रीब नामुमकिन है। पहले किताबों को मेहनत के साथ हाथ से नक़ल करना पड़ता था, फिर भी वे कुछ ही आदमियों के पास पहुँच सकती थीं। पढ़ाई ज़बानी हुआ करती थी और विद्यार्थी हरेक चीज ज़बानी याद कर लेते थे। यह बात तुम अभी तक पुराने क़िस्म के मकतबों और पाठशालाओं में पाओगी।

काग़ज़ और छपाई के आजाने से बहुत बड़ी तब्दीली हो गई। छपी हुई स्कूली

और दूसरी किताबें सामने आईं। बहुत जल्दी ही लिखने-पढ़ने वालों की तादाद बढ़ गई। जितना ही लोग पढ़ने लगे, उतना ही ज्यादा सोचने लगे (लेकिन जहाँ तक गम्भीर पुस्तकों का सम्बन्ध है वहीं तक यह बात सही है। आज कल जो बहुत ज्यादा रद्दी किताबें निकल रही हैं उनके बारे में नहीं) और जितना ज्यादा आदमी सोचता है, उतना ही ज्यादा वह मौजूदा हालात की छान-बीन करता है और उन पर ऐतराज़ करता है। इसका नतीजा अक्सर यह होता है कि वर्तमान प्रणाली को लोग चुनौती देने लगते हैं। अज्ञान तब्दीली से हमेशा डरता है। वह अज्ञात वस्तु से डरता है इसलिए वह अपनी जानी-बूझी लीक पर ही चलना पसंद करता है, चाहे उसमें उसे कितनी ही मुसीबत क्यों न हो। वह अपने अन्धेपन में गिरता पड़ता और लुढ़कता हुआ, किसी तरह चलता है। लेकिन ठीक तौर से पढ़ने या अध्ययन करने से कुछ ज्ञान हो जाता है और किसी क़दर आँखें खुल जाती हैं।

(काग़ज़ और छपाई के कारण आंखों के इस प्रकार खुल जाने की वजह से ही इन बडी तहरीकों में, जिनका अभी हम ज़िक्र कर चुके हैं, बडी मदद मिली। पहले-पहल बाइबिल छपी और बहुत से आदमी, जिन्होंने बाइबिल को सिर्फ़ लैटिन भाषा में सुना था, अब अपनी ही ज़बान में पढ़ सकते थे। इस तरह पढ़ने की वजह से वे हरेक बात के जानने और समझने की कोशिश करने लगे और पादरियों से किसी क़दर आज़ाद हो गये।) स्कूल की किताबें भी बहुत बडी तादाद में छपने लगीं। इसके बाद हम योरप की ज़बानों को तेज़ी के साथ तरक्क़ी करते देखते हैं। अभी तक तो लेटिन ने उन्हें दबा रखा था।

इस ज़माने में योरप के इतिहास में बहुत बडे-बडे आदमी हुए हैं। उनसे हमारा बाद में परिचय होगा। हमेशा, जब कभी, किसी देश या महाद्वीप ने अपनी खोल को, जिसकी वजह से उसकी तरक्क़ी रुकी हुई थी, तोड़ फेंका है तो वह कई दिशाओं में आगे बढ़ निकला है। इस बात को हम योरप में पाते हैं और इस युग का यूरोपियन इतिहास सब से ज्यादा दिलचस्प और शिक्षाप्रद है। क्योंकि इसी ज़माने में आर्थिक और दूसरी बडी तब्दीलियां हुईं। हिन्दुस्तान के या चीन के इसी युग के इतिहास का योरप से मुक़ाबिला करो। जैसा मैंने तुमको बताया है, ये दोनों देश उस वक्त योरप से बहुत-सी बातों में आगे थे। फिर भी हम हिन्दुस्तान और चीन के इतिहास में अकर्मण्यता और उसीके मुक़ाबिले में इस युग के यूरोपियन इतिहास में अद्भुत प्रयत्नशीलता देखते हैं। हिन्दुस्तान और चीन में बडे-बडे आदमी और बडे-बडे महाराजा हुए। संस्कृति का पाया बहुत ऊँचा था लेकिन जनता, ख़ास तौर से हिन्दुस्तान में, बिलकुल अकर्मण्य और निर्जीव हो रही थी। कोई भी राजा हो

उन्हें कोई ऐतराज़ नहीं हुआ करता था। इस बात का उनको आदी बना दिया गया था और हुक्म मानने के इतने आदी होगये थे कि हुकूमत का मुकाबिला करना उनके लिए नामुमकिन था। इसलिए उनका इतिहास, कहीं-कहीं दिलचस्पी होते हुए भी, सार्वजनिक आन्दोलनों के इतिहास की जगह शासकों और घटनाओं का बयान ही ज्यादा है। में नहीं कह सकता कि यह बात चीन के बारे में कहाँ तक सही है लेकिन हिन्दुस्तान के लिए तो यह बात कई सौ वर्षो से सही है। इस युग में हिन्दुस्तान में जितनी बुराइयां आईं, हमारे देश-वासियों की इसी दुर्भाग्यपूर्ण अवस्था के कारण थीं।

हिन्दुस्तान में एक दूसरी प्रवृत्ति यह देखी जाती है कि लोग पीछे देखना चाहते हैं, आगे नहीं। वे उस ऊँचाई की तरफ़ देखते हैं जिस पर कभी वे थे; उस ऊँचाई की तरफ़ नहीं, जिस पर उनको आगे पहुँचना है। इस तरह हमारे देश-वासी गुज़रे हुए ज़माने के लिए लम्बी-लम्बी सांसें लेते रहे और आगे बढ़ने की बजाय जो कोई भी आया उसका हुक्म मानते रहे। असल में साम्राज्य अपनी ताक़त पर उतना नहीं निर्भर करते जितना उन लोगों की गुलाम तबीयत पर, जिनके ऊपर वे हुकूमत करते हैं।

: ८३ :

'रिनैसाँ' या पुनर्जागरण

५ अगस्त, १९३२

उस हलचल और मुसीबत से, जो सारे योरप में फैल रही थी, रिनैसाँ या पुनर्जागरण का सुन्दर फूल पैदा हुआ। पहले यह इटली की ज़मीन में उगा। लेकिन अपनी पुष्टि और बाढ़ के लिए वह सदियों का फासला पारकर पुराने यूनान की तरफ़ उम्मीद की निगाह से देखता था। यूनान से इसने सौन्दर्य का प्रेम सीखा और इस शारीरिक सौन्दर्य में इसने एक नई चीज़ जोड़ दी जो ज्यादा गहरी थी। जो मन से पैदा हुई थी और आत्मा से सम्बन्ध रखती थी। यह नागरिक उन्नति थी और उत्तर इटली के शहरों ने इसे आश्रय दिया। फ्लोरेंस ख़ास तौर से प्रारम्भिक 'रिनैसाँ' का घर रहा है।

तेरहवीं और चौदहवीं सदियों में फ्लोरेंस ने इटैलियन भाषा के दो महान् कवि, दान्ते और पेट्रार्क, पैदा किये थे। मध्य काल में यह योरप की आर्थिक राजधानी बन गया था, जहां बड़े-बड़े महाजन इकट्ठा होते थे। यह मालदार और ऐसे

लोगों का छोटा-सा लोकतन्त्र था, जिनकी बहुत तारीफ़ नहीं की जा सकती और जो खुद अपने महापुरुषों के साथ अक्सर बुरा बर्ताव करते थे। इस शहर को 'सनकी-फ्लोरेंस' के नाम से पुकारा गया है। लेकिन महाजनों, अत्याचारियों और निरंकुश लोगों के होते हुए भी इस शहर ने पन्द्रहवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में तीन मशहूर आदमी पैदा किये—ल्यूनार्डो द विंसी, माइकेल एंजेलो और राफ़ेल। ये तीनों बहुत बड़े कलाकार और चित्रकार हुए हैं। ल्यूनार्डो और माइकेल एंजेलो, दूसरी बातों में भी महान् थे। माइकेल एंजेलो अद्भुत मूर्तिकार था। ठोस संगमरमर से विशाल मूर्तियाँ गढ़कर निकालता था। वह बहुत बड़ा स्थापत्य शिल्पकार भी था। रोम का सेन्ट पीटर का विशाल गिरजा मुख्यतः उसीने निर्माण किया था। उसने बहुत लम्बी, क़रीब ९० वर्ष की, उम्र पाई और अपने मरने के दिन तक सेन्ट पीटर के गिरजे के बनाने में मेहनत करता रहा। वह दुखिया था और चीज़ों की गहराई में घुसकर किसी-न-किसी चीज़ की तलाश किया करता था। वह हमेशा सोचता रहता था और हमेशा अद्भुत काम करने की कोशिश करता था। एक दफ़ा उसने कहा था कि "चित्र सर से बनाये जाते हैं, हाथ से नहीं।"

इन तीनों में उम्र में सबसे बड़ा ल्यूनार्डो था और कई बातों में सबसे अद्भुत भी था। सच तो यह है कि वह अपने ज़माने का सबसे अद्भुत आदमी था और याद रखो कि यह वह युग था कि जिसम अनेक महापुरुष हुए। चित्रकार और प्रतिमाकार तो वह था ही, पर साथ ही वह बड़ा विचारक और वैज्ञानिक भी था। हमेशा प्रयोग करता था, हमेशा चीज़ों के मूल में धँसने की कोशिश करता था और यह जानने की फ़िक्र में रहता था कि किसी बात की असली वजह क्या है। वह उन महान् वैज्ञानिकों में से था जिन्होंने शुरू-शुरू में अर्वाचीन विज्ञान की बुनियाद डाली थी। उसने कहा है—"कृपालु प्रकृति इस बात की कोशिश में रहती है कि तुम दुनिया में हर जगह कुछ-न-कुछ सीखो।" उसने जो कुछ पढ़ा था, खुद ही पढ़ा था। ३० वर्ष की उम्र में उसने लैटिन और गणित का अध्ययन खुद ही शुरू किया। वह एक बड़ा इंजीनियर भी हो गया और उसीने पहले-पहल इस बात का पता चलाया कि आदमी के शरीर में खून गर्दिश करता है। वह मनुष्य-शरीर की बनावट पर मोहित था। उसने कहा है—"बुरी आदत और छोटी बुद्धि के अनगढ़ आदमी इस क़ाबिल नहीं कि मनुष्य-शरीर जैसी एक पेचीदा हड्डी-पंजर से बनी खूबसूरत मशीन उन्हें दी जाय, उनको तो एक थैला मिलना चाहिए जिससे वे खाना निकाल लें और उसे फिर बाहर करदें क्योंकि वे लोग भोजन की नालियों के सिवा और क्या हैं ?" वह गोश्त नहीं खाता था और जानवरों से बड़ी मुहब्बत करता था। उसकी एक आदत यह थी कि वह

बाज़ार से पिंजड़े के अन्दर बन्द चिड़ियों को ख़रीद लेता और फ़ौरन उन्हें छोड़ देता था।

ल्यूनार्डो की कोशिशों में से सबसे अद्‌भुत् कोशिश यह थी कि वह हवा में उड़ना चाहता था। उसे कामयाबी तो नहीं हुई। लेकिन कामयाबी की तरफ़ बहुत-दूर तक बढ़ा ज़रूर था। उसके प्रयोगों और सिद्धान्तों पर अमल करने वाला उसके बाद कोई दूसरा नहीं हुआ। अगर उसके बाद उसी की तरह दो-तीन आदमी और हो गये होते तो शायद आजकल का हवाई जहाज़ आज से दो या तीन सौ वर्ष पहले ही बन चुका होता। यह अद्‌भुत और विचित्र आदमी १४५२ से १५१९ ई० तक जिन्दा रहा। कहते हैं कि उसका जीवन क्या था "प्रकृति के साथ वार्तलाप-सा था।" वह हर वक्त सवाल पूछता रहता और प्रयोग करके उसके जवाब मालूम करता रहता था। वह हमेशा आगे बढ़ता जाता था और भविष्य को पकड़ने की कोशिश करता था।

मैंने फ्लोरेंस के इन तीनों आदमियों के बारे में विस्तार से लिख दिया, खासकर ल्यूनार्डो के बारे में क्योंकि मैं उसे बहुत पसन्द करता हूँ। फ्लोरेंस के लोकतंत्र का इतिहास बहुत दिलचस्प या शिक्षाप्रद नहीं है। उसमें तरह-तरह की बेईमानियाँ और साज़िशें होती रहती थीं और वहाँ ज़ालिम और बदमाश शासक पैदा होते रहे। लेकिन फ्लोरेंस बहुत-सी बातों के लिए माफ़ किया जा सकता है; यहाँतक कि महाजनों के लिए भी उसे माफ़ी मिल सकती है क्योंकि उसने अनेक महापुरुष पैदा किये। इन सुपुत्रों का साया अभी तक फ्लोरेंस पर है और जिस वक़्त कोई इस खूबसूरत शहर की सड़कों पर होकर गुजरता है और मध्यकालीन पुलों के नीचे से मनोहर आर्नो को बहते हुए देखता है तो उसके ऊपर जादू-सा छा जाता है और गुज़रा हुआ ज़माना साफ़-साफ़ और ज़िन्दा होकर सामने आ जाता है। कहीं दान्ते आँखों के सामने से गुज़रता है और कहीं बीएट्रिस, जिससे वह मुहब्बत करता था, सामने से गुजरती है और अपने पीछे एक हल्की खुशबू उड़ाती हुई चली जाती है। ल्यूनार्डो भी तंग गलियों में टहलता हुआ दिखाई देता है—विचार में निमग्न और जीवन और कुदरत के रहस्यों की तलाश में डूबा हुआ।

इस प्रकार रिनैसां इटली में पन्द्रहवीं सदी में फूला-फला और वहाँ से धीरे-धीरे पश्चिमी देशों को फैल गया। बड़े-बड़े कलाकारों ने पत्थर और कनवैस में जान डालने की कोशिश की और योरप के अजायबख़ाने और चित्रमंदिर उनकी बनाई हुई तस्वीरों और मूर्तियों से भरे हुए हैं। सोलहवीं सदी के अख़ीर में इटली में कला में होनेवाली जागृति गिरने और ख़तम होने लगी। सत्रहवीं सदी में हालैण्ड में बड़े-बड़े चित्रकार पैदा हुए। इनमें रैमब्रैण्ड सबसे मशहूर है। स्पेन में इसी समय

वेलेस्क्वीज़ नाम का चित्रकार हुआ। लेकिन अब मैं तुम्हारे सामने ज्यादा नाम न रक्खूंगा। उनकी तादाद बहुत ज्यादा है। अगर तुमको महान् चित्रकारों में दिलचस्पी हो तो चित्रालयों में जाकर उनकी बनाई हुई तस्वीरों को देखो। उनके नाम से कोई ख़ास मतलब नहीं। हमें उनका सन्देश तो उस कला और सौन्दर्य में मिलता है जिसे उन्होंने जन्म दिया।

(इस ज़माने में, यानी पंद्रहवीं से सत्रहवीं सदी के बीच, विज्ञान की भी धीरे-धीरे तरक्क़ी हुई और उसने अपनी जड़ मजबूत कर ली। चर्च से उसे सख्त लड़ाई करनी पडी क्योंकि चर्च यह नहीं चाहता था कि लोग विचार और प्रयोग करें। उसके ख़याल में तो विश्व का केन्द्र पृथ्वी थी और सूरज पृथ्वी के चारों तरफ़ घूमता था और तारे आसमान में अपनी जगह पर जडे हुए थे। जो कोई इसके खिलाफ़ कहता, वह काफ़िर समझा जाता था और उसे मज़हबी अदालत (इनक्वीज़िशन) सज़ा देती थी। फिर भी कोपरनिकस नाम के एक पोलैण्ड-निवासी ने इस विश्वास को चुनौती दी और साबित किया कि ज़मीन सूरज के चारों तरफ़ घूमती है। इस तरह उसने विश्व के अर्वाचीन सिद्धान्तों की बुनियादी रखी। वह १४७३ से १५४३ ई० तक जिन्दा रहा और किसी वजह से अपने बाग़ी और विधर्मी उसूलों के लिए चर्च के ग़ुस्से से बच गया। उसके बाद जो हुए, उनकी किस्मत इतनी अच्छी नहीं थी। जोर्डानो ब्रूनो नाम के इटैलियन को १६०० ई० में रोम में चर्च ने इसलिए ज़िन्दा जलवा दिया कि वह इस बात पर ज़ोर देता था कि दुनिया सूरज के चारों तरफ़ घूमती है और सितारे ख़ुद भी सूरज हैं। इसके ज़माने में गैलीलियो भी हुआ जिसने दूरबीन ईजाद की थी। उसे भी चर्च ने धमकी दी लेकिन वह ब्रूनो की तरह बहादुर नहीं था और उसने अपनी बात वापस ले लेना ज्यादा मुनासिब समझा। उसने पादरियों की मण्डली के सामने अपनी ग़लती और बेवकूफ़ी मान ली और कह दिया कि पृथ्वी ही विश्व का केन्द्र है और सूरज उसके चारों तरफ़ घूमता है। फिर भी उसे प्रायश्चित्त करने के लिए कुछ दिनों तक जेल में रहना पड़ा था।

सोलहवीं सदी के मशहूर वैज्ञानिकों में हारवे भी था। उसने पूरी तौर से यह साबित कर दिया कि ख़ून गर्दिश करता है। सत्रहवीं सदी में विज्ञान के सबसे बडे आदमियों में एक शख़्स पैदा हुआ जिसका नाम आइज़क न्यूटन था। वह बहुत बड़ा गणितज्ञ था। उसीने 'लॉ ऑफ् ग्रेविटेशन' यानी पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का पता लगाया जिससे उसने यह बताया कि चीज़ें ज़मीन पर क्यों गिरती हैं। इस तरह उसने कुदरत का एक बड़ा रहस्य खोज निकाला।

इतनी बात, या इतनी थोडी-सी बात तो विज्ञान के बारे में हुई। इस ज़माने में

साहित्य भी आगे बढ़ा। नई भावना ने जो सब जगह फैली हुई थी, यूरोपियन भाषाओं पर भी बहुत असर डाला था। ये ज़बानें कुछ दिन से मौजूद थीं और हमने देखा है कि इटैलियन भाषा ने अच्छे-अच्छे कवि भी पैदा किये थे। इंग्लैण्ड में चॉसर[1] हुआ। लेकिन लैटिन, जो पादरियों और विद्वानों की भाषा थी, इन सब पर हावी थी। ये भाषायें गँवारू यानी 'वरनाक्यूलर' कहलाती थीं। आश्चर्य है, यह शब्द अभी तक कुछ लोग हिन्दुस्तानी ज़बानों के लिए इस्तैमाल लरते हैं। इन ज़बानों में लिखना शान के ख़िलाफ़ समझा जाता था। लेकिन नई भावना ने, काग़ज़ और छपाई ने, इन भाषाओं को प्रोत्साहन दे दिया। इटैलियन भाषा पहले-पहल मैदान में आई, फिर फ्रेंच, अंग्रेज़ी और स्पेनिश और सबसे आख़िर में जर्मन। फ़्रांस में चन्द नौजवान लेखकों ने सोलहवीं सदी में इस बात का पक्का इरादा कर लिया कि लैटिन में न लिखकर अपनी भाषा में ही लिखेंगे, अपनी ही 'गँवारू भाषा' की तरक़्क़ी करेंगे ताकि अच्छे-से-अच्छे साहित्य की यह उचित माध्यम बन सके।

कुछ दिन हुए, मैं इन नौजवान फ्रांसीसी लेखकों में से एक के—योआकिम दु बेले के—किसी निबन्ध या मज़मून का एक उद्धरण पढ़ रहा था। इस मज़मून का नाम है—'La Deffense et Illustration de la Langue Francoyse' (फ्रेंच भाषा का समर्थन और व्याख्या)। मैंने इसे पढ़कर महसूस किया कि हिन्दुस्तान में आज हालत इसके बिलकुल ख़िलाफ़ है हालांकि हमारा पक्ष कहीं ज़ोरदार है। फ्रांसीसी भाषा आज बडी सुन्दर भाषा हो गई है। इसका साहित्य बहुत बड़ा है और इसमें बारीक-से-बारीक भाव और अर्थ को ज़ाहिर करने की ताक़त आ गई है। लेकिन योआकिम के ज़माने में फ्रांसीसी उन्नत नहीं थी। वह दरअसल 'गँवारू भाषा' थी। लेकिन हमारी ज़बानें हिन्दी और उर्दू, बंगला, मराठी और गुजराती काफ़ी पुरानी और उन्नत हैं और इनमें बहुत अच्छा साहित्य पाया जाता है, चाहे यह साहित्य उतनी तरह का न हो जितनी तरह का यूरोपियन ज़बानों में है। द्रविड भाषायें इनसे भी पुरानी और सम्पन्न हैं। इसलिए अपनी प्रवृत्तियों और मनोदशाओं को ज़ाहिर करने के लिए हमारे पास बना बनाया माध्यम मौजूद है। इसलिए यह मुनासिब है कि हम इनके इस्तेमाल के लिए ज़ोर दें और विदेशी भाषा के इस्तेमाल को किसी तरह के ग़रूर की बात न समझें। तुम कहोगी कि मैं भी कितना धोखेबाज़ आदमी हूँ। मैं ख़ुद वही करता हूँ जिसके ख़िलाफ़ तुम्हें उपदेश देता हूँ! मैं ये ख़त अंग्रेज़ी में क्यों लिखता हूँ? इसलिए कि मेरी अपनी शिक्षा दूषित रही है। मैं चाहता हूँ कि मैं हिन्दी आसानी से

१. चॉसर—अंग्रेज़ी भाषा का आदि कवि। इसकी लिखी 'कैंटरबरी टेल्स' बहुत मशहूर है। यह १३४० ई० पैदा हुआ था और १४०० में मरा।

लिख सकूँ। लेकिन अब भविष्य में मैं ज्यादा कर्तव्यपरायण होने की कोशिश करूँगा।

इस तरह से योरप की भाषाओं ने तरक्क़ी की और उनमें ताक़त पैदा हुई। तरक्क़ी करके ये इतनी अच्छी भाषायें होगईं, जितनी आज हम इन्हें देखते हैं। इंग्लैण्ड में १५६४ से १६१६ तक मशहूर नाटककार शेक्सपियर हुआ। उसके बाद ही सत्रहवीं सदी में 'पैरेडाइज़ लास्ट' का रचयिता अन्धा कवि मिल्टन हुआ। फ्रांस में सत्रहवीं सदी में डेस्कार्टे नाम का फ़िलासफ़र और मॉलियर नाम के नाटककार हुए। मॉलियर पेरिस के सरकारी थियेटर 'फ्रांसीसी प्रहसन मंडली' का जन्मदाता था। शेक्सपियर के ही ज़माने में स्पेन का सुरवेंटीज़ हुआ, जिसने 'डान क्विक्सॉट' नाम की मशहूर किताब लिखी है।

एक दूसरे नाम का भी मैं जिक्र करूंगा, इसलिए नहीं कि वह महान् है बल्कि इसलिए कि वह मशहूर है। वह मैकियावेली का नाम है, जो फ्लोरेन्स का रहनेवाला था। वह पंद्रहवीं और सोलहवीं सदी का मामूली राजनीतिज्ञ था लेकिन उसने 'प्रिन्स' (राजा) नाम की एक किताब लिखी जो बहुत मशहूर हुई। इस किताब से उस ज़माने के राजाओं और राजनीतिज्ञों की मानसिक दशा की झलक मिल जाती है। मेकियावेली ने लिखा है कि सरकार के लिए मज़हब की जरूरत है, इसलिए नहीं कि आदमी सदाचारी बने, बल्कि इसलिए कि उनपर हुकूमत की जासके, उनको मस्त रखा जासके। किसी शासक का यह कर्तव्य भी हो सकता है कि वह ऐसे मज़-हब का भी समर्थन करे जिसे वह झूठ समझता हो। मैकियावेली ने लिखा है :—

"राजा को जानना चाहिए कि एक ही साथ हैवान और इंसान का, शेर और लोमड़ी का पार्ट कैसे अदा किया जा सकता है। उसे न तो अपने वादे का पालन करना चाहिए और न वह कर ही सकता है, जबकि वैसा करने से उसका नुक़सान होता हो...... । मैं इस बात के कहने का दावा करता हूँ कि हमेशा ईमानदार रहना बहुत नुकसानदेह होता है, लेकिन सदाचारी, श्रद्धालु, दयावान का आडम्बर क़ायम रखने में फ़ायदा है। सद्गुणों का दिखावा बनाये रखनें से ज्यादा फ़ायदेमंद और दूसरी चीज़ नहीं।"

कितनी बुरी बात है! जितनी ज्यादा बदमाशी करे उतना ही बेहतर वह राजा होगा। जब औसत राजा के मन की योरप में उस वक्त यह हालत थी तो कोई ताज्जुब नहीं कि वहाँ झगड़े और फ़िसाद कायम रहें! लेकिन इतनी दूर जाने की क्या ज़रूरत है? आजकल की साम्राज्यवादी क़ौमें भी मैकियावेली के राजा की तरह ही बर्ताव करती हैं। सदाचार के आडम्बर के नीचे लालच, बेईमानी और सिद्धान्तहीनता छिपी रहती है; सभ्यता के मुलायम दस्ताने में हैवान का खूनी पंजा छिपा रहता है।

: ८४ :

'प्रोटेस्टेण्टों' की बग़ावत और किसानों की लड़ाई

८ अगस्त, १९३२

मैं तुमको पन्द्रहवीं सदी से लेकर सत्रहवीं सदी तक के योरप के बारे में पहले ही कई ख़त लिख चुका हूँ। मध्य युग के गुज़रने, किसानों की मुसीबत, मध्यमवर्ग (बुर्जुआ) के उदय, अमेरिका, और पूर्व तक जाने के समुद्री रास्तों की खोज और योरप में कला, विज्ञान और भाषाओं की तरक़्क़ी के बारे में मैंने कुछ-न-कुछ तुमको बता दिया है। लेकिन तस्वीर की रूप-रेखा पूरी करने लिए मुझे इस ज़माने की बाबत अभी बहुत कुछ कहना बाक़ी है। याद रखो कि मेरे दो आख़िरी ख़त और वह ख़त जो मैं समुद्री रास्तों के बारे में लिख चुका हूँ, यह ख़त जो लिख रहा हूँ और शायद आगे लिखे जानेवाले एक-दो ख़त और, ये सब योरप के इसी ज़माने का बयान करते हैं। हालांकि मैं मुख़्तलिफ़ तहरीकों और कामों के बारे में जुदा-जुदा लिख रहा हूँ लेकिन ये सब बातें कमोबेश, एक ही ज़माने में हुई और आपस में, एक-दूसरे पर असर भी डालती रहीं

'रिनैसाँ' के ज़माने के पहले से ही रोमन चर्च में गड़गड़ाहट सुनाई दे रही थी। योरप के राजाओं और जनता दोनों ने चर्च के ग़ैरमुनासिब बर्ताव को महसूस करना शुरू कर दिया था; वे ग़ुर्राने और शंका करने लगे थे। तुम्हें याद होगा कि सम्राट फ्रेडरिक द्वितीय ने पोप से बहस करने की भी जुर्रत की थी और समाज-बहिष्कार की ज़रा भी परवा न की थी। इस शंका और नाफ़रमानी से रोम (पोप) चिढ़ गया और उसने इस नई नास्तिकता को कुचल देने का फ़ैसला कर लिया। इसी मतलब से 'इनक्विज़िशन' जारी किया गया और योरप भर में ये शंका और तर्क करनेवाले, नास्तिक या क़ाफ़िर क़रार दिये जाकर और औरतें टोना-टटका की मुजरिम कहकर जलाई गईं। प्रेग के जॉन हस को धोखे से जाल में फँसा कर जला दिया गया; इसपर उसके बोहेमिया के अनुयायियों ने बग़ावत का झण्डा खड़ा किया। रोमन चर्च के ख़िलाफ़ इस बग़ावत की नई भावना—'स्पिरिट'—को 'इनक्विज़िशन' का ख़ौफ़ और ज़ुल्म भी दबा न सका। वह फैलती ही गई और इसमें शक नहीं कि इसके साथ ही किसानों का असन्तोष भी शामिल हो गया, जो चर्च से, उसकी ज़मींदाराना हैसियत में, उनको था। बहुत जगह राजाओं ने भी ख़ुदग़र्ज़ी के ख़ातिर बग़ावत की इस भावना को बढ़ाया। उनकी ईर्ष्या और लालच से भरी आँखें, चर्च की विशाल सम्पत्ति पर लगी हुई थीं। इसी वक़्त किताबों और बाइबिलों की छपाई से भीतर-ही-भीतर सुलगती हुई आग को मदद मिल गई।

सोलहवीं सदी की शुरुआत में, जर्मनी में, मार्टिन लूथर पैदा हुआ जो आगे चलकर रोम के ख़िलाफ़ इस बग़ावत का एक बड़ा नेता होने वाला था। वह एक ईसाई पादरी था। एक बार वह रोम गया और वहाँ चर्च के भ्रष्टाचार और विलासिता को देखकर उसको बड़ी नफ़रत हुई। बहस और झगड़ा बढ़ता गया, यहाँ तक कि रोमन चर्च के दो टुकड़े हो गये और पश्चिमी योरप, राजनैतिक और मजहबी, दोनों मामलों में दो दलों में बँट गया। पूर्वी योरप और रूस का पुराना कट्टर यूनानी चर्च इस झगड़े से अलग ही रहा। जहाँ तक उसका ताल्लुक़ था वह नये मत की कौन कहे, रोम को भी सच्चे धर्म से बहुत दूर समझता था।

इस तरह 'प्रोटेस्टेण्ट' बग़ावत शुरू हुई। इसे प्रोटेस्टेण्ट इसलिए कहा गया कि यह रोमन चर्च की ही बहुतेरी बातों के ख़िलाफ़ 'प्रोटेस्ट' यानी विरोध करता था। तभी से पश्चिमी योरप में ईसाई धर्म के दो ख़ास हिस्से रहे हैं—रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट। लेकिन प्रोटेस्टेण्ट भी कितने ही सम्प्रदायों या उपविभागों में बँट गये हैं।

चर्च के ख़िलाफ़ इस आन्दोलन या तहरीक को 'रिफ़ार्मेशन' कहते हैं। असल में यह चर्च की निरंकुश सत्ता और भ्रष्टाचार के ख़िलाफ़ एक सार्वजनिक बग़ावत थी। इसके साथ ही बहुत से राजाओं की यह ख़्वाहिश थी कि पोप का उन पर हुक्म चलाना हमेशा के लिए बन्द हो जाय। वे उनके राजनैतिक मामलों में पोप की दस्तंदाज़ी से बहुत चिढ़े हुए थे। इसके अलावा रिफार्मेशन का एक तीसरा पहलू भी था और वह यह कि बहुत-से वफ़ादार चर्चवाले भी चर्च की बुराइयों को दूर करने के लिए अन्दर से कोशिश कर रहे थे।

शायद तुम्हें चर्च के दो संघों—फ़्रांसिस्कन और डोमिनिकन—की याद होगी। जब मर्टिन लूथर की ताक़त बढ़ रही थी, क़रीब-क़रीब उसी ज़माने में, सोलहवीं सदी में एक नया चर्च-संघ चलाया गया। इस संघ को लोयोला के रहनेवाले इग्नेशियस नाम के एक स्पेनवासी ने चलाया था। उसने इसका नाम 'सोसायटी ऑफ जीसस' यानी जीसस का संघ रखा। इसके सदस्य जेसुइट कहलाये। मैं पहले इन जेसुइटों के चीन और पूर्व के सफ़र करने का ज़िक्र कर चुका हूँ। यह 'जीसस-संघ' एक बड़ी महत्वपूर्ण जमात थी। रोमन चर्च और पोप की सेवा के लिए ऐसे आदमी तैयार करना इसका उद्देश्य था जो अपना सारा वक़्त इस काम (उनकी सेवा) में लगा सकें। वह बड़ी सख़्त तालीम देता था और वह इतना कामयाब हुआ कि उसने चर्च के बड़े ही क़ाबिल और श्रद्धालु सेवक पैदा किये। ये सेवक लोग चर्च के प्रति इतने श्रद्धालु थे कि वे बिना कोई तर्क या सवाल किये अन्धे की तरह उसका

हुक्म मानते थे और उन्होंने अपना सब कुछ उसकी भेंट कर दिया। यदि चर्च को कोई फ़ायदा हो तो वे ख़ुशी से अपनी क़ुरबानी देने को तैयार रहते थे। यहाँ तक कि उनके बारे में यह मशहूर था कि जहाँतक चर्च की सेवा का सवाल है, उनको कोई काम करने में किसी तरह की हिचकिचाहट नहीं थी। जिस किसी भी काम से चर्च की भलाई हो वह सब उनके ख़याल में मुनासिब था।

ये महत्त्वपूर्ण लोग रोमन चर्च के लिए सबसे बड़े मददगार साबित हुए। उन्होंने न सिर्फ़ चर्च का नाम और उसका संदेश दूर-दूर के देशों तक पहुँचाया बल्कि योरप में चर्च की इज्ज़त और वक़त भी बढ़ा दी। कुछ तो सुधार की अन्दरूनी हलचल की वजह से, और ख़ास तौर से प्रोटेस्टेण्ट बग़ावत के खौफ से, रोम में भ्रष्टाचार बहुत कम हो गया। इस तरह 'रिफामेंशन' ने चर्च को दो हिस्सों में बाँट दिया और साथ ही कुछ दूर तक अन्दर से भी उसे सुधारने में कामयाब हुआ।

ज्यों-ज्यों प्रोटेस्टेण्ट बग़ावत बढ़ी, योरप के बहुतेरे राजा-महाराजा एक न एक पक्ष का साथ देने लगे। कुछ ने एक पक्ष लिया, कुछ ने दूसरे का पक्ष लिया। इसमें उनका कोई धार्मिक या मजहबी उद्देश्य नहीं था। इसमें ज्यादातर राजनीति थी और ज्यादा से ज्यादा फायदा उठाने का इरादा था। उस वक्त 'पवित्र रोमन साम्राज्य' का सम्राट हैप्सबर्ग ख़ानदान का चार्ल्स पंचम था। अपने दादा और पिता की शादी की वजह से विरासत में उसे एक बड़ा साम्राज्य मिल गया था जिसमें आस्ट्रिया, जर्मनी (नाम मात्र को), स्पेन, नेपल्स और सिसली, निदरलैण्ड और स्पेनिश अमेरिका शामिल थे। उन दिनों शादी करके दहेज या विरासत के ज़रिये, अपना साम्राज्य बढ़ाने का तरीक़ा योरप में ख़ूब चल निकला था। इसी वजह से, न कि अपनी किसी क़ाबलियत की वजह से, चार्ल्स आधे से ज्यादा योरप पर राज्य करता था और कुछ वक़्त के लिए तो वह एक बहुत बड़ा आदमी हो गया था। उसने प्रोटेस्टेण्टों के ख़िलाफ़ पोप की मदद करने का फ़ैसला किया। 'रिफ़ामेंशन' का ख़याल ही साम्राज्य के ख़याल से कुछ मेल नहीं खा सकता था। लेकिन बहुत-से छोटे-छोटे जर्मन राजाओं या जागीरदारों ने प्रोटेस्टेण्टों का साथ दिया और सारे जर्मनी में, रोमन और लूथरन ये, दो दल बन गये। इसका स्वाभाविक नतीजा यह हुआ कि जर्मनी में गृह-युद्ध छिड़ गया।

इंग्लैण्ड में बार-बार शादियाँ करने वाले बादशाह हेनरी अष्टम ने पोप के ख़िलाफ़ प्रोटेस्टेण्टों का, या यों कहो कि ख़ुद अपना, साथ दिया। उसकी आँखें चर्च की सम्पत्ति पर लगी हुई थीं, इसलिए रोम से सम्बन्ध तोड़कर उसने गिरजों, मठों और धर्मालयों की सारी क़ीमती ज़मीन ज़ब्त कर ली। पोप से सम्बन्ध तोड़ने का

एक निजी कारण यह भी था कि वह अपनी पत्नी को तलाक़ देकर दूसरी औरत से शादी करना चाहता था।

फ़्रांस में कुछ अजीब ही हालत थी। वहाँ बादशाह का प्रधान मंत्री मशहूर कार्डिनल (बड़ा पादरी) रिशेल्यू था और असली शासक वही था। रिशेल्यू ने फ़्रांस को रोम और पोप के पक्ष में रक्खा और अपने यहाँ प्रोटेस्टेण्टों का ख़ूब दमन किया। लेकिन राजनीति की जालसाज़ी तो देखो कि उसीने जर्मनी में प्रोटेस्टेण्टों और प्रोटेस्टेण्ट सिद्धान्तों को उत्तेजन दिया। उसका मतलब यह था कि इससे जर्मनी में गृहयुद्ध हो जायँ, वह कमज़ोर हो जाय और वहाँ फूट पड़ जाय। फ़्रांस और जर्मनी की एक दूसरे के प्रति यह दुश्मनी योरप के इतिहास में बराबर, एक सिलसिले से, शुरू से अंत तक चलती गई है।

लूथर एक महान् प्रोटेस्टेण्ट था और उसने रोम की सत्ता की मुख़ालफ़त की। लेकिन यह ख़याल न कर लेना कि वह धर्म के मामले में सहिष्णु था; वह उतना ही असहिष्णु था जितना पोप, जिससे वह लड़ रहा था। इस तरह मालूम होता है कि 'रिफ़ार्मेशन' से योरप में कोई मज़हबी आज़ादी नहीं आई। इसने एक नये ढंग के धर्मान्ध पैदा कर दिये—'प्यूरिटन' (कट्टर—ईसाई धर्म का एक पंथ) और कालविनिस्ट। कालविन प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन के बाद के नेताओं में से एक था। उसमें संगठन करने का काफ़ी माद्दा था और कुछ दिनों तक उसने जेनेवा के शहर पर अपना अधिकार जमा रखा। क्या तुम्हें जेनेवा के पार्क में बना हुआ 'रिफ़ार्मेशन' का वह बड़ा स्मारक याद है, जिसकी दीवारें दूर-दूर तक फैली हैं और जिसमें कालविन और दूसरे लोगों की मूर्तियाँ हैं ? कालविन इतना असहिष्णु था कि उसने बहुत से लोगों को सिर्फ़ इसलिए जलवा दिया था कि वे उससे सहमत नहीं होते थे और 'फ़्री थिंकर्स' यानी स्वतंत्र विचारक थे।

लूथर और प्रोटेस्टेण्टों की आम लोगों ने भी ख़ूब मदद की क्योंकि उनमें रोमन चर्च के ख़िलाफ़ बड़ा ज़बर्दस्त असंतोष था। जैसा मैं तुमसे कह चुका हूँ। किसान लोग बड़ी मुसीबत में थे और बार-बार दंगे होते थे। ये दंगे बढ़कर जर्मनी में किसान-युद्ध की सूरत में तब्दील हो गये। बेचारे ग़रीब किसान उस प्रणाली के ख़िलाफ़ उठ खड़े हुए जो उनको पीस रही थी और बहुत ही मामूली और न्यायोचित अधिकारों की माँग की--यानी यह कि असामी या दास प्रथा (Serfdom) उठा दी जाय और उन्हें मछली मारने और शिकार करने के हक़ दिये जायँ। लेकिन इन मामूली हक़ों को मंजूर करने से भी इन्कार कर दिया गया और जर्मनी के सामन्तों ने उनको दबाने के काम में सब तरह की बर्बरता का इस्तेमाल किया। और उस

महान् सुधारक, लूथर, का क्या रुख था ? क्या उसने ग़रीब किसानों का साथ दिया और उनकी न्यायोचित माँगों का समर्थन किया ? उसने यह सब कुछ नहीं किया, बल्कि किसानों की माँग पर कि असामी या दास प्रथा तोड़ दी जाय उसने कहा—"इससे तो सब आदमी बराबर हो जायँगे और ईसा का आध्यात्मिक राज्य एक ऊपरी दुनियावी राज्य में तब्दील हो जायगा। असंभव ! पृथ्वी पर कोई राज्य लोगों की असमता के बग़ैर टिक नहीं सकता। कुछ को आज़ाद, दूसरों को गुलाम, कुछ को शासक, दूसरों को रिआया रहना ही पड़ेगा।" उसने किसानों को श्राप दिया और बरबाद कर देने का हुक्म दिया। "इसलिए जो लोग भी क़ाबिल हों, उनको (किसानों को) पामाल करदो; उनको सबके सामने खुल्लमखुल्ला या गुप्तरूप से क़त्ल करो या छुरा भोंक दो और याद रखो कि एक बाग़ी से बढ़कर ज़हरीला, घृणित और पिशाच कोई नहीं है। तुम उसे ज़रूर मार डालो, जैसे तुम पागल कुत्ते को मार डालते हो। अगर तुम उस पर टूट नहीं पड़ोगे तो वह तुम्हारे और सारे देश पर टूट पड़ेगा।" एक मज़हबी नेता और सुधारक के मुँह से निकलने वाले ये कैसे सुन्दर शब्द हैं !

इन सब बातों से साफ़ हो जाता है कि स्वतन्त्रता और मुक्ति की सारी बातें सिर्फ़ बड़े लोगों के लिए थीं, आम लोगों के लिए नहीं। क़रीब-क़रीब हरेक युग में आम जनता की ज़िन्दगी जानवरों से कुछ ज्यादा बेहतर नहीं रही है। लूथर के मुताबिक़ उनकी यही ज़िन्दगी जारी रहनी चाहिए क्योंकि स्वर्ग या ख़ुदा ने उनके लिए वैसा ही क़ायदा बना रखा है। रोम के ख़िलाफ़ प्रोटेस्टेण्ट बग़ावत के बढ़ने और कामयाब होने की एक बड़ी वजह जनता की बुरी आर्थिक हालत और मुसीबत थी। बग़ावत ने उसका फ़ायदा उठा लिया लेकिन जब यह ख़याल पैदा हुआ कि कहीं ये किसान बहुत आगे न बढ़ जायँ और अपनी गुलामी से छुटकारा पाने की माँग न कर बैठें (और यह कोई छोटी बात थी !) तो प्रोटेस्टेण्ट नेता उनको कुचलने के लिए राजा और सामन्तों से मिल गये। बेचारी ग़रीब जनता के दिन अभी दूर थे। नया ज़माना, जो क्षितिज पर उदय हो रहा था, 'बुर्जुआ' या मध्यमवर्ग के लोगों का ज़माना था। सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों के संघर्षों और लड़ाइयों के बीच, इस वर्ग को, अनिवार्य रूप से, पर क़दम-क़दम, उठता हुआ देखा जा सकता है।

जहाँ कहीं भी यह बढ़ता हुआ 'बुर्जुआ' वर्ग काफ़ी शक्तिमान् था, वहाँ-वहाँ प्रोटेस्टेण्ट मत फैल गया। प्रोटेस्टेण्टों में भी कई सम्प्रदाय थे। इंग्लैण्ड में बादशाह खुद चर्च का प्रधान—'धर्म का रक्षक' Defender of the Faith—बन गया और वहाँ चर्च अमली तौर पर बिलकुल चर्च नहीं रह गया बल्कि सरकार का एक महकमा हो गया। तब से 'चर्च आफ़ इंग्लैण्ड' (इंग्लैण्ड के चर्च) की वही हालत है।

दूसरे मुल्कों, ख़ास तौर से जर्मनी, स्वीज़रलैण्ड और निदरलैण्ड, में दूसरे सम्प्रदायों का ज़ोर बढ़ा। कालविन सम्प्रदाय खूब फैला, क्योंकि वह 'बुर्जुआ' या मध्यम वर्ग के विकास के अनुकूल था। मज़हबी मामलों में कालविन भयंकर रूप से असहिष्णु था। नास्तिकों पर तरह-तरह के जुल्म किये जाते और उनको जला दिया जाता था और श्रद्धालुओं पर पूरा अनुशासन (पाबन्दी) था। लेकिन व्यापार के मामले में, रोमन शिक्षा के ख़िलाफ़, उसकी शिक्षा बढ़ते हुए उद्योग–धंधों और व्यापार के ज्यादा अनुकूल थी। व्यापार में फ़ायदे की नीति को आशीर्वाद दिया जाता था और साख को प्रोत्साहन दिया जाता था। इस तरह नये 'बुर्जुआ' या मध्यमवर्ग ने पुराने धर्म का नया संस्करण अंगीकार कर लिया और हलके मन से दौलत पैदा करने में लग गया। उन्होंने सामन्त सरदारों के ख़िलाफ़ अपनी लड़ाई में आम जनता का उपयोग कर लिया था और अब, जब सरदारों पर उनको फ़तह मिल चुकी थी, उन्होंने जनता की उपेक्षा की या उसकी छाती पर चढ़ बैठे।

लेकिन अब भी 'बुर्जुआ' या मध्यम वर्ग को बहुतेरी मुसीबतों का सामना करना बाक़ी था। अभी बादशाह उनके रास्ते का काँटा था। बादशाह ने सामन्तों से लड़ने में शहर के आदमियों और व्यापारियों की मदद की थी। अब सामन्त बिलकुल कमज़ोर और बेदम हो गये तो बादशाह की ताक़त बहुत बढ़ गई। अब वही स्थिति पर हावी था। उसके और मध्यम वर्गों के बीच का संघर्ष अभी शुरू नहीं हुआ था और आगे आनेवाला था।

: ८५ :

सोलहवीं और सत्रहवीं सदी के योरप में तानाशाही

२६ अगस्त, १९३२

मैं फिर बड़ा लापरवाह हो गया। इन ख़तों को लिखे हुए मुझे बहुत समय हो गया है। यहाँ मुझसे न तो कोई जवाब तलब करने वाला है और न कोई बढ़ावा ही देने वाला है। इसीलिए मैं अक्सर ढीला पड़ जाता हूँ और दूसरे कामों लग जाता हूँ। अगर हम साथ होते तो शायद यह बात न होती। क्यों ठीक है न? लेकिन अगर तुम और मैं एक दूसरे से बात-चीत कर सकते तो मुझे इन ख़तों के लिखने की ज़रूरत ही क्यों पड़ती?

पिछले ख़तों में मैंने तुम्हें योरप के उस ज़माने का हाल लिखा था जबकि वहाँ बड़ी गड़बड़ थी और बड़ा परिवर्त्तन हो रहा था। उन ख़तों में सोलहवीं और

सत्रहवीं सदी के महत्वपूर्ण परिवर्त्तनों का ज़िक्र किया गया था। ये परिवर्त्तन उस आर्थिक क्रांति के साथ या बाद में आये जिसने मध्य युग का ख़ात्मा करके बुर्जुआ वर्ग को ऊपर चढ़ाया था। आख़िरी ख़त में मैंने पश्चिमी योरप के ईसाई साम्राज्य के टूटने और दो फ़िरक़ों प्रोटेस्टेन्ट और रोमन कैथलिक में बँट जाने का ज़िक्र किया था। इन दोनों फ़िरक़ों की धार्मिक लड़ाई का ख़ास मैदान जर्मनी बना हुआ था, क्योंकि वहाँ दोनों दल क़रीब-क़रीब बराबर की जोड़ के थे। पश्चिमी योरप के दूसरे देश भी कुछ हद तक इस लड़ाई में उलझे हुए थे। लेकिन इंग्लैण्ड योरप की इस मज़हबी लड़ाई से अलग था। अपने बादशाह हेनरी के राज्य में इस देश ने बिना किसी अन्दरूनी फ़िसाद के रोम से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया और अपना निजी चर्च स्थापित कर लिया जो कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट चर्चों के बीच का था। हेनरी मज़हब की कुछ भी परवाह नहीं करता था। उसे चर्च की ज़मींदारियों की ज़रूरत थी; वह उसने ले ली। वह दूसरी शादी करना चाहता था सो वह भी उसने करली। इस तरह रिफ़ार्मेशन का ख़ास नतीजा यह हुआ कि राजा और बादशाह पोप के हथकंडों से बरी हो गये।

जिस वक्त 'रिनैसाँ' और 'रिफ़ार्मेशन' के ये आन्दोलन और आर्थिक उफान योरप के नक़शे को बदल रहे थे उस वक़्त वहाँ कैसी राजनैतिक घटनायें हो रही थीं? सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों में योरप का नक़शा किस तरह का था? इन दो सौ वर्षों में योरप का नक़शा दरअसल बदलता जारहा था। इसलिए हमें सोलहवीं सदी के शुरू के नक़शे पर ग़ौर करना चाहिए।

दक्षिण-पूर्व में तुर्क लोग कुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा जमाये हुए थे और उनका साम्राज्य हंगरी की तरफ़ बढ़ रहा था। दक्षिण पश्चिमी कोने में अरब विजेताओं के वंशज, मुस्लिम सरासीन लोग, ग्रेनेडा से खदेड़कर बाहर निकाल दिये गये और स्पेन फ़र्डिनेण्ड तथा आइज़ाबेला के सम्मिलित शासन में एक ईसाई ताक़त बनकर उठ चुका था। स्पेन में ईसाइयों और मुसलमानों की सदियों की मुठभेड़ ने स्पेन निवासियों को अपने कैथलिक मज़हब से बडे जोश और कट्टरता के साथ चिपके रहने को मजबूर कर दिया था। स्पेन में ख़ौफ़नाक 'इनक्विज़िशन' की जड़ जम गई थी। अमेरिका की खोज के घमंड और उससे मिलनेवाली दौलत की वजह से स्पेन योरप की राजनीति में बड़ा महत्वपूर्ण भाग लेने लगा था।

नक़शे पर फिर निगाह दौड़ाओ। इंग्लैंड और फ्रांस लगभग वैसे ही थे जैसे कि आज हैं। नक़शे के बीच में एक साम्राज्य था जो बहुत-सी जर्मन रियासतों में बँटा हुआ था; इनमें से हरेक क़रीब-क़रीब स्वतंत्र था। राजाओं, ड्यूकों, पादरियों, नवाबकों वग़ैरा की मातहत छोटी-छोटी रियासतों का यह एक अजीब झुण्ड था।

इसमें ख़ास इख़्तियारात वाले कुछ नगर भी थे और उत्तर के व्यापारिक नगरों ने मिलकर एक संघ भी बना लिया था। इसके बाद स्वीज़रलैंड का प्रजातन्त्र था जो असल में स्वतंत्र था लेकिन अभी तक ज़ाहिरा तौर से स्वतन्त्र माना नहीं गया था। वेनिस का प्रजातन्त्र और उत्तर इटली के और भी कई प्रजातन्त्र नगर थे। रोम के चारों ओर पोप की ज़मींदारी थी, जो 'पेपल स्टेट्स' कहलाती थी। इसके दक्षिण में नेपल्स और सिसली के राज्य थे। पूर्व में जर्मन साम्राज्य और रूस के बीच में पोलैंड और हँगरी का बड़ा राज्य था जिसपर उस्मानी तुर्कों की छाया पड़ रही थी। पूर्व में 'सुनहले फ़िरक़े' मंगोलों के चंगुल से निकलकर एक शक्ति-शाली राज्य बन रहे थे। उत्तर और पश्चिम में कुछ और भी देश थे।

सोलहवीं सदी के शुरू में योरप की यह हालत थी। ई० सन् १५२० में चार्ल्स पंचम बादशाह हुआ। यह हैप्सबर्ग ख़ानदान का था और जैसा कि पीछे लिखा जा चुका है, स्पेन, नेपल्स और सिसिली के राज्य और निदरलैंड की विरासत इसके हाथ लग गई। यह एक अजीब बात है कि कुछ बादशाहों की शादियों की वजह से योरप के बहुत से देशों और राष्ट्रों के स्वामी ही बदल गये। करोड़ों जनता और बड़े-बड़े देश विरासत में मिल गये। कहीं-कहीं वे दहेज में दिये गये। बम्बई का टापू इसी तरह इंग्लैंड के एक बादशाह चार्ल्स द्वितीय को उसकी स्त्री ब्रैगेंज़ा (पुर्तगाल)की कैथ-राइन के साथ दहेज में मिला था। इसलिए चतुराई के साथ शादियाँ करके हैप्सबर्गों ने एक साम्राज्य इकट्ठा कर लिया और चार्ल्स पंचम इसका अधिकारी हुआ। यह एक बहुत साधारण आदमी था और खासतौर पर इसलिए मशहूर था कि वह ख़ूब खाता था। लेकिन उस वक़्त तो अपने बड़े साम्राज्य के कारण वह योरप में बड़ा ज़ब-रदस्त जँच रहा था।

जिस साल चार्ल्स सम्राट् हुआ, उसी साल सुलेमान उस्मानी साम्राज्य का स्वामी हुआ। इसके ज़माने में यह साम्राज्य पूर्वी योरप की ओर ख़ूब बढ़ा। तुर्क लोग ठेठ वियेना के दरवाज़ों तक पहुँच गये मगर इस सुन्दर पुराने शहर को जीतने में ज़रा-सी कसर रह गई। लेकिन हैप्सबर्ग सम्राट् उनके रोब में आगया और उसने सुलेमान को कर के रूप में धन देकर उससे पिंड छुड़ाना ही ठीक समझा।

पवित्र रोमन साम्राज्य के साम्राट् का तुर्की के सुलतान को कर देना ज़रा ग़ौर करने की बात है। सुलेमान 'प्रतापी सुलेमान' के नाम से मशहूर है। उसने सम्राट् का ख़िताब अपने आप ले लिया क्योंकि वह अपने आपको पूर्व बिज़ेण्टाइन सीज़रों का प्रतिनिधि समझता था।

सुलेमान के समय में कुस्तुन्तुनिया में इमारतें बनाने का काम बड़े ज़ोरों से हुआ।

बहुत-सी सुन्दर मसजिदें बनवाई गईं। इटली में कलाओं का जैसा पुनर्जीवन हो रहा था वैसा ही पूर्व में भी होता हुआ नज़र आरहा था। कलाओं की यह जागृति सिर्फ़ कुस्तुन्तुनिया में ही नहीं थी बल्कि ईरान और मध्य-एशिया के ख़ुरासान में भी बड़े सुन्दर चित्र बनाये जारहे थे।

हम देख चुके हैं कि किस तरह उत्तर-पश्चिम से बाबर ने आकर हिन्दुस्तान में एक नया राजघराना क़ायम किया। यह ई० सन् १५५६ की बात है, जब चार्ल्स पंचम योरप में सम्राट था और सुलेमान कुस्तुन्तुनिया में राज कर रहा था। बाबर और उसके योग्य वारिसों के बारे में हमें अभी बहुत-कुछ कहना है। यहां तो सिर्फ़ यह बात ध्यान में रखने की है कि बाबर ख़ुद 'रिनेसां' के राजाओं के ढंग का राजा था। लेकिन वह उस वक्त के यूरोपियन नमूनों से कहीं अच्छा था। वह एक ख़तरनाक कामों में दिलचस्पी लेनेवाला बहादुर सूरमा था, जिसे साहित्य और कला से बड़ा प्रेम था। उस समय इटली में भी ऐसे राजा थे जो साहसी और साहित्य और कला के प्रेमी थे और जिनके राजदरबारों में ऊपरी तड़क-भड़क और शान-शौक़त भी थी। फ्लोरेंस का मेडीसी और बोर्जिया ख़ानदान मशहूर थे। लेकिन इटली के ये राजा लोग, और उस वक्त योरप के भी ज्यादातर राजा, मैकियावैली के सच्चे अनुयायी थे। ये धर्म-अधर्म का विचार न करनेवाले, साज़िश करनेवाले और स्वेच्छाचारी थे और अपने विरोधियों का काम तमाम करने के लिए ज़हर का प्याला और क़ातिल का छुरा भी इस्तेमाल करते थे। सूरमा बाबर की इस गिरोह से तुलना करना वैसे ही अनुचित है, जैसे इनके टुच्चे राजदरबारों की दिल्ली या आगरे के मुग़ल सम्राटों—अकबर, शाहजहां वग़ैरा—के दरबार से तुलना करना ख़याल से बाहर की बात है। कहा जाता है कि ये मुग़ल दरबार बड़े शानदार थे और शायद इनके जैसी शान-शौक़त और तड़क-भड़क के दरबार कभी रहे ही नहीं।

योरप का ज़िक्र करते-करते, हम, अनजाने ही, हिन्दुस्तान की बातों को ले बैठे। लेकिन मैं तुम्हें यह बतलाना चाहता था कि योरप के 'रिनेसाँ' के समय हिन्दुस्तान और दूसरे देशों में क्या हो रहा था? उस समय तुर्की, ईरान, मध्य-एशिया और हिन्दुस्तान में भी कला सम्बन्धी जागृति हो रही थी। चीन में मिंग राजाओं का शान्तिमय और सुखमय ज़माना था जब कि कला और कारीगरी बहुत ऊँचे दर्जे पर पहुँच चुकी थी। लेकिन रिनेसाँ-काल की यह सारी कला, शायद चीन को छोड़कर, बहुत-कुछ दरबारी कला थी। यह प्रजा की कला न थी। इटली में कुछ मुख्य-मुख्य कलाकारों के मरने के बाद, जिनमें से कइयों के नाम मैं लिख चुका हूँ, पिछले रिनेसाँ-युग की कला बिलकुल नीचे दर्जे की और मामूली बन गई।

इस तरह सोलहवीं सदी का योरप कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट राजाओं के बीच में बँटा हुआ था। उस वक्त राजाओं की गिनती थी, रैयत की नहीं। इटली, आस्ट्रिया, फ़्रांस, और स्पेन कैथलिक थे; जर्मनी आधा कैथलिक और आधा प्रोटेस्टेण्ट था; इंग्लैंड सिर्फ़ इसलिए प्रोटेस्टेण्ट था कि उसके बादशाह की ऐसी मर्ज़ी थी; और चूंकि इंग्लैंड प्रोटेस्टेण्ट था इसलिए आयर्लैण्ड के लिए कैथलिक बने रहने की काफी वजह थी, क्योंकि इंग्लैंड उसे जीतने और तंग करने की कोशिश करता था। लेकिन यह कहना सिर्फ़ एक हद तक ही सही है कि प्रजा का मज़हब किसी गिनती में ही न था। अन्त में जाकर जनता के मज़हब का भी असर पड़ता था और इसके कारण बहुत-सी लड़ाइयाँ और क्रान्तियाँ हुई हैं। मज़हबी पहलू को राजनैतिक या आर्थिक पहलुओं से अलग करना मुश्किल है। मेरे ख़याल से, मैं तुम्हें पहले यह बतला चुका हूँ कि रोम के ख़िलाफ़ प्रोटेस्टेण्टों की बग़ावत ख़ास तौर पर वहीं हुई जहाँ नया व्यापारी-वर्ग जोर पकड़ रहा था। इससे हम समझ सकते हैं कि धर्म और व्यापार के बीच सम्बन्ध था। इसी तरह बहुतसे राजा लोग धार्मिक सुधार-आन्दोलन से इसलिए डरते थे कि कहीं इसकी आड़ में ग़दर न फैल जाय और उनका अधिकार न छिन जाय। अगर कोई आदमी पोप के धार्मिक शासन को नामंजूर करने के लिए तैयार हो जाता, तो क्या उसके लिए यह मुमकिन न होता कि वह बादशाह या राजा के राजनैतिक शासन को भी न माने? बादशाहों के लिए यह नियम बड़ा ख़तरनाक था। वे अभीतक यही मानते थे कि उनको राज्य करने का अधिकार परमात्मा की तरफ़ से मिला हुआ है। प्रोटेस्टेण्ट राजा भी इस विचार को छोड़ने के लिए तैयार न थे।

इस तरह, बावजूद रिफार्मेशन के, योरप में बादशाहों का बोलबाला था और वे सर्वशक्तिमान थे। पहले कभी वे इतने स्वेच्छाचारी न थे, क्योंकि बड़े-बड़े माण्डलिक सरदार और सामन्त उनपर दबाव डालते रहते थे और अक्सर उनकी सत्ता को भी मानने से इन्कार कर देते थे। व्यापारी और मध्यम वर्ग के लोग इन माण्डलिक सरदारों से खुश न थे और न बादशाह ही इनको पसंद करता था। इसलिए व्यापारी और कृषक-वर्ग की मदद से बादशाह ने सरदारों को दबा दिया और खुद बहुत शक्तिशाली बन बैठा। हालांकि मध्यम-वर्ग ने अपनी ताक़त और अपना महत्व बहुत बढ़ा लिया था, मगर अभी वह इतना ताक़तवर नहीं हुआ था कि बादशाह के कामों में दख़ल देसके। लेकिन थोड़े ही अर्से के बाद मध्यम-वर्ग बादशाह के बहुत से कामों का विरोध करने लगा। ख़ासकर उसने बार-बार लगाये जानेवाले भारी करों का और धर्म के मामलों में दख़ल देने का विरोध किया। बादशाह को

ये बातें बिल्कुल अच्छी न लगीं। वह इस बात से बहुत चिढ़ा कि इन लोगों ने उसके किसी भी काम का विरोध करने की हिम्मत की। इसलिए उसने इनको जेल में ठूँस दिया और दूसरी सजायें भी दीं। उन दिनों क़ैद की सजा बादशाह की मर्जी पर निर्भर होती थी, जैसा कि आजकल हिन्दुस्तान में है, क्योंकि हम अंग्रेज सरकार के आगे सर झुकाने से इन्कार करते हैं। बादशाह व्यापार में भी दखल देता था। इससे हालत और भी बिगड़ती गई और बादशाह का विरोध बढ़ने लगा। बादशाहों की तानाशाही को दबाने के लिए उनके खिलाफ़ मध्यम-वर्ग की यह लड़ाई सदियों तक चलती रही और इसे खत्म हुए ज्यादा अर्सा नहीं हुआ। कई बादशाहों के सर उड़ा दिये जाने के बाद कहीं जाकर बादशाहों के दैवी अधिकार का ख़याल हमेशा के लिए खत्म हो गया और बादशाह अपनी असली जगह पर पहुँचा दिये गये। कुछ देशों में यह जीत जल्दी हो गई और कुछ में देर से। आगे के पत्रों में हम इस लड़ाई के उतार-चढ़ाव का जिक्र करेंगे।

लेकिन सोलहवीं सदी में योरप में क़रीब-क़रीब सब जगह बादशाह की धाक थी—पूरे तौर पर नहीं बल्कि क़रीब-क़रीब। तुम्हें याद होगा कि स्वीज़रलैण्ड के ग़रीब पहाड़ी किसानों ने हैप्सबर्ग के बादशाह का मुक़ाबिला करने की हिम्मत दिखलाई थी और अपनी आज़ादी हासिल करली थी। इस तरह मनमानी तानाशाही के यूरोपियन समुद्र में स्वीज़रलैण्ड का छोटा-सा कृषक प्रजातन्त्र राज्य एक टापू के समान था जिसमें बादशाहों के लिए कोई जगह न थी।

जल्द ही एक दूसरे देश—निदरलैण्ड—में भी मामले ने तूल पकड़ा और जनता और धर्म की आजादी की लड़ाई लड़ी जाकर फ़तह हासिल करली गई। यह एक छोटा-सा देश है, लेकिन यह लड़ाई बड़ी जबरदस्त थी, क्योंकि यह उस ज़माने में योरप की सबसे जबरदस्त शक्ति—स्पेन—के ख़िलाफ़ लड़ी गई थी। इस तरह निदरलैण्ड ने योरप को रास्ता बतलाया। इसके बाद इंग्लैण्ड में भी जनता की आजादी के लिए एक लड़ाई हुई, जिसमें एक बादशाह को अपने सिर से हाथ धोना पड़ा और उस वक्त की पार्लमेंट की जीत हुई। इस तरह निदरलैण्ड और इंग्लैण्ड ने तानाशाही के खिलाफ़ मध्यमवर्ग की लड़ाई में सबसे आगे क़दम बढ़ाया और चूँकि इन मुल्कों में मध्यमवर्ग की जीत हुई इसलिए नई परिस्थितियों का फ़ायदा उठाकर ये और देशों से आगे बढ़ गये। दोनों ने, आगे चलकर, शक्तिशाली जहाजी बेड़े बनाये; दोनों ने दूर-दूर देशों से व्यापार क़ायम किया और दोनों ने एशिया में साम्राज्य की नींव रक्खी।

इन खतों में अभीतक हमने इंग्लैण्ड के बारे में ज्यादा नहीं लिखा है।

लिखने के लिए कुछ था भी नहीं; क्योंकि इंग्लैण्ड योरप का कोई महत्त्वपूर्ण देश नहीं था। लेकिन अब एक तब्दीली आती है और जैसा कि आगे बतलाया जायगा, इंग्लैंड बडी तेजी के साथ आगे बढ़ता है। हम 'मैग्नाचार्टा', पार्लमेण्ट की शुरुआत, किसानों में असंतोष और शाही खानदानों के आपसी झगडों का जिक्र कर चुके हैं। इन लड़ाइयों में बादशाहों के हाथ से खून और हत्यायें आमतौर पर हुईं। माण्डलिक सरदारों और सामन्तों की एक बहुत बडी संख्या लड़ाइयों में काम आई, जिससे उनका बल बहुत घट गया। उन्होंने तानाशाही का ख़ूब अभिनय किया। आठवाँ हेनरी टयूडर था और उसकी लड़की एलिज़ाबेथ भी टयूडर थी।

सम्राट पंचम चार्ल्स के बाद साम्राज्य के टुकडे-टुकडे हो गये। स्पेन और निदरलैण्ड उसके पुत्र द्वितीय फ़िलिप के हिस्से में आये। उस वक़्त सबसे ताक़तवर बादशाहत होने की वजह से स्पेन सारे योरप के ऊपर सिर उठाये हुए था। तुम्हें याद होगा कि पेरू और मैक्सिको उसके क़ब्ज़े में थे और अमेरिका से सोने की नदी उसके पास चली आ रही थी। लेकिन कोलम्बस, कोर्टे और पिज़ारो की जन्मभूमि होकर भी स्पेन नई परिस्थितियों से फ़ायदा नहीं उठा सका। व्यापार में उसे कोई दिलचस्पी नहीं थी। उसे अगर परवा थी तो ऐसे धर्म की जो बड़ा ही कट्टर और बेरहम था। सारे देश में इनक्विज़िशन की तूती बोलती थी और काफ़िर कहे जानेवालों को दिल दहलानेवाली तकलीफ़ें दी जाती थीं। समय-समय पर बडे आम जलसे किये जाते थे और इन 'क़ाफ़िर' स्त्री-पुरुषों के झुंड-के-झुंड बादशाह, शाही खानदान, राजदूतों और हज़ारों मनुष्यों के सामने बडी-बडी चिताओं पर ज़िन्दा जला दिये जाते थे। सबके सामने ज़िन्दा जलाने के काम को धार्मिक कार्य कहा जाता था। इस तरह की बातें आज कितनी ख़ौफ़नाक और ख़ूंख़ार मालूम पड़ती हैं। पर इस ज़माने का योरप का इतिहास हिंसा, खूंख़ारी, वहशियाना बेरहमी और मज़हबी कठमुल्लेपन से इस क़दर भरा हुआ है कि उसपर यक़ीन करना मुश्किल है।

स्पेन का साम्राज्य ज्यादा दिनों तक न टिक सका। छोटे-से हालैण्ड की बहादुरी ने उसे बिल्कुल हिला डाला। कुछ दिनों बाद, सन् १५८८ ई० में, इंग्लैंड को जीतने की कोशिश बिल्कुल बेकार गई और स्पेन की फौजों को ले जानेवाला 'अजेय आर्मेडा' इंग्लैण्ड तक पहुँच भी न सका। समुद्री तूफ़ान ने उसे तहस-नहस कर डाला। इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं है, क्योंकि 'आर्मेडा' का कमाण्डर समुद्र या जहाज़ों के बारे में कुछ न जानता था। दरअसल उसने बादशाह फ़िलिप द्वितीय के पास जाकर यह प्रार्थना भी की थी कि उसे इस काम का भार न सौंपा जाय क्योंकि उसे समुद्री लड़ाई के बारे में कुछ भी जानकारी न थी और वह अच्छा

नाविक भी न था। लेकिन बादशाह ने जवाब दिया कि स्पेन के जहाज़ी बेड़े का संचालन तो खुद ईसा मसीह करेंगे।

इस तरह धीरे-धीरे स्पेन का साम्राज्य ग़ायब होता गया। चार्ल्स पंचम के जमाने में यह कहा जाता था कि उसके साम्राज्य में सूरज अस्त नहीं होता। यही कहावत आजकल के एक अभिमानी और मद में चूर साम्राज्य के बारे में भी अक्सर दोहराई जाती है।

: ८६ :

निदरलैण्ड की आज़ादी की लड़ाई

२७ अगस्त, १९३२

पिछले ख़त में मैंने तुम्हें बतलाया था कि सोलहवीं सदी में क़रीब-क़रीब सारे योरप में बादशाहों का कितना ज़ोर हो गया था। इंग्लैण्ड में ट्यूडर थे और स्पेन और आस्ट्रिया में हैप्सबर्ग थे। रूस, जर्मनी और इटली के ज्यादातर हिस्सों में स्वेच्छाचारी राजाओं का राज्य था। फ्रांस में ख़ासतौर पर ऐसा राजा था जिसकी हुकूमत बिलकुल निजी और मनमानी थी, यानी सारा साम्राज्य बादशाह की क़रीब-क़रीब व्यक्तिगत जायदाद समझा जाता था। कार्डिनल रिशलू नाम के एक बड़े योग्य मंत्री ने फ़्रांस और उसकी बादशाहत को मज़बूत बनाने में बड़ी मदद की। फ़्रांस का हमेशा यह ख़याल रहा है कि उसकी ताक़त और हिफ़ाज़त जर्मनी की कमज़ोरी में है। इसलिए रिशलू ने, जो खुद एक कैथलिक पादरी था और फ़्रांस में प्रोटेस्टेण्टों को बड़ी बेरहमी से कुचल रहा था, जर्मनी में प्रोटेस्टेण्टों को उलटा उकसाया। ऐसा करने का उद्देश्य यह था कि जर्मनी में अन्दरूनी लड़ाई-झगड़े और अशान्ति बढ़े, जिससे वह कमज़ोर हो जाय। यह नीति कामयाब भी खूब हुई। जैसा कि आगे ज़िक्र किया जायगा, जर्मनी में बड़े ज़बरदस्त घरेलू झगड़े पैदा हो गये, जिन्होंने देश का सत्यानाश कर दिया।

फ़्रांस में भी सत्रहवीं सदी के बीच में गृह-युद्ध हुआ, जो फ़्राँद का युद्ध कहलाता है। लेकिन बादशाह ने उमरावों और व्यापारियों दोनों को कुचल दिया। उमरावों के हाथ में कुछ ताक़त तो रह ही नहीं गई थी, लेकिन अपनी तरफ़ मिलाये रखने के लिए बादशाह ने उन्हें बहुत-सी सहूलियतें देदीं। उनको क़रीब-क़रीब कुछ भी टैक्स न देने पड़ते थे। उमराव लोग और पादरी दोनों ही टैक्सों से बरी थे। टैक्सों का सारा बोझ आम जनता और ख़ासकर किसानों पर पड़ता था। इन ग़रीब

अभागों को चूसकर जो धन इकट्ठा किया जाता था उससे बड़े-बड़े आलीशान महल बनाये गये और बड़े ठाठ-बाट का दरबार बादशाह के नज़दीक पैदा हो गया। पेरिस के पास जो वर्साई नगर है उसका तुमको ख़याल होगा। वहाँके आलीशान महल, जिनको देखने के लिए आजकल लोग जाते हैं, सत्रहवीं सदी में फ्रांस के किसानों के ख़ून से बने थे। वर्साई स्वेच्छाचारी और ख़ुदमुख़्तार बादशाहत का नमूना समझा जाता था, और इसमें कुछ भी ताज्जुब की बात नहीं कि इसी वर्साई ने फ्रांस की उस राज्य-क्रान्ति की नींव डाली जिसने तमाम बादशाहत का ही ख़ात्मा कर दिया। लेकिन उन दिनों राज्य-क्रान्ति फिर भी बहुत दूर थी। उस समय चौदहवाँ लुई बादशाह था, जो 'महान् बादशाह' कहलाता था, और यह वह 'सूरज' था जिसके चारों तरफ़ दरबार के ग्रह चक्कर लगाते रहते थे। उसने ७२ साल के लम्बे समय तक, यानी १६४३ से १७१५ ई० तक, राज्य किया और उसका प्रधान मंत्री मैज़ारिन नामक एक दूसरा बड़ा कार्डिनल था। ऊपर-ऊपर तो बड़ा राग-रंग और विलास था और साहित्य, विज्ञान और कला पर शाही कृपा थी, लेकिन शान-शौक़त की इस पतली चादर के नीचे बड़ी ग़रीबी, तकलीफ़ और तड़प थी। वह ज़माना सुन्दर नक़ली बालों और लैस के कफ़ों तथा क़ीमती पोशाकों का था, लेकिन जिस शरीर पर ये चीज़ें पहनी जाती थीं उसे शायद ही कभी नहलाया जाता था और वह मैल और गन्दगी से भरा रहता था।

हम सबपर शान-शौक़त और तड़क-भड़क का बड़ा असर पड़ता है, इसलिए अगर अपने शासन-काल में चौदहवें लुई ने योरप पर अपना काफ़ी सिक्का जमा लिया था तो इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं है। वह बादशाहों में नमूना समझा जाता था और दूसरे उसकी नक़ल करने की कोशिश करते थे। लेकिन यह 'महान बादशाह' आख़िर था क्या? मशहूर अंग्रेज़-लेखक कार्लाइल ने लिखा है—"अपने चौदहवें लुई पर से बादशाहत का चोग़ा उतार दो तो सिवा, एक भद्दी दो जड़ों वाली मूली के, जिसमें अजीब तौर से सिर बना दिया गया हो, और कुछ नहीं रहता।" यह बयान भोंडा ज़रूर है, मगर शायद बहुत से लोगों—क्या राजा और क्या प्रजा—पर लागू हो सकता है।

चौदहवें लुई का इतिहास हमको १७१५ ई० यानी अठारहवीं सदी के शुरू तक ले आता है। इस समय तक योरप के दूसरे मुल्कों में बहुत-कुछ हो गया था और इनमें से कुछ घटनायें तो हमारे लिए ध्यान देने लायक़ हैं।

निदरलैंड की स्पेन के ख़िलाफ़ बग़ावत का हाल मैं तुमको बतला चुका हूँ। उनकी यह बहादुराना लड़ाई अच्छी तरह ग़ौर करने लायक़ है। जे० एल० मोटले नामक एक अमेरिकन ने आज़ादी की इस लड़ाई का मशहूर इतिहास लिखा है, जो बड़ा रोचक और दिलचस्प है। साढ़े तीन सौ वर्ष पहले योरप के इस छोटेसे कोने

में जो कुछ हुआ उसके इस हृदय-स्पर्शी वर्णन से ज्यादा दिलचस्प कोई उपन्यास मैं नहीं जानता। इस किताब का नाम 'राइज़ ऑफ दि डच रिपब्लिक' है[1] और मैंने इसे जेल में पढ़ा है। जेल के बाहर शायद ही मुझे इसे पढ़ने का वक्त मिलता। इसके लिए मुझे जेल को कितना धन्यवाद देना चाहिए!

निदरलैण्ड में हालैण्ड और बेल्जियम दोनों शामिल हैं। इनका नाम ही यह बतलाता है कि ये नीची ज़मीन में हैं। इनके बहुत-से हिस्से समुद्र की सतह से दर-असल नीचे हैं और उत्तरी समुद्र के पानी को रोकने के लिए बडे-बडे बाँध और और दीवारें बनाई गई हैं। इन्हें 'डाइक' कहते हैं। ऐसे देश के निवासी, जहाँ उनको हमेशा समुद्र से लड़ना पड़ता है, जन्म से ही मज़बूत और निडर मल्लाह होते हैं और समुद्र-यात्रा करनेवाले अक्सर व्यापार का पेशा करने लगते हैं। इसलिए निदरलैण्ड के निवासी व्यापारी हो गये। वे ऊनी कपडे और दूसरी चीज़ें तैयार करने लगे और पूर्वी देशों के गरम मसाले भी ले जाने लगे नतीजा यह हुआ कि ब्रुग्स, घेण्ट और ख़ासकर एण्टवर्प जैसे मालदार और तिजारती शहर वहाँ खडे हो गये। जैसे-जैसे पूर्वी देशों से व्यापार बढ़ता गया वैसे-वैसे इन शहरों की दौलत भी बढ़ती गई और सोलहवीं सदी में एण्टवर्प योरप का व्यापारिक केन्द्र या राजधानी बन गया। कहते हैं कि उसकी मंडी में रोज पाँच हज़ार व्यापारी इकट्ठे होकर आपस में सौदा करते थे; उसके बन्दर में एकसाथ ढाई हज़ार जहाज़ लंगर डाले रहते थे। रोजमर्रा क़रीब-क़रीब पांच सौ जहाज़ वहाँ आते-जाते थे। इन्हीं व्यापारी वर्गों के हाथ में इन शहरों के शासन की बागडोर थी।

यह व्यापारियों की ठीक ऐसी जाति थी जो 'रिफ़ार्मेशन' के नये धार्मिक ख़यालों की ओर झुक सकती थी। यहाँ पर ख़ासकर उत्तरी भागों में, प्रोटेस्टेण्ट मत फैलने लगा। विरासत के इत्तफ़ाक़ से हैप्सबर्ग का पाँचवाँ चार्ल्स और उसके बाद उसका पुत्र दूसरा फ़िलिप निदरलैण्ड का राजा हुआ। इन दोनों में से कोई भी किसी भी तरह की राजनैतिक या मज़हबी आज़ादी को सहन नहीं कर सकता था। फ़िलिप ने शहरों के अधिकारियों को और नये मत को कुचल डालना चाहा। उसने एल्वा के ड्यूक को गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा, जो अपनी बेरहमी और ज़ुल्म के लिए मशहूर हो गया है। 'इनक्विज़िशन' क़ायम हुआ और एक 'ख़ूनी मजलिस' बनाई गई जिसने हज़ारों को ज़िन्दा जला दिया, या फांसी पर लटका दिया।

यह एक बडी लम्बी कहानी है, जिसे मैं यहाँ बयान नहीं कर सकता। जैसे-जैसे

१. यह पुस्तक हिन्दी में 'नरमेध' के नाम से सस्ता साहित्य मण्डल से प्रकाशित हुई है। इसकी क़ीमत १।।) है।

स्पेन का अत्याचार बढ़ता गया, उसका मुक़ाबिला करने की ताक़त भी लोगों में बढ़ती गई। उनमें प्रिंस विलियम ऑफ ऑरेञ्ज, जो विलियम दि साइलेन्ट (शांत विलियम) भी कहलाता है, नामक एक ऐसा बड़ा और बुद्धिमान नेता पैदा हुआ, जिसका मुक़ाबिला एल्वा का ड्यूक नहीं कर सकता था। १५६८ ई० में "इनक्विजिशन' ने, कुछ थोडेसे आदमियों के सिवा, निदरलैण्ड के सारे निवासियों को काफ़िर क़रार देकर मौत की सज़ा दे दी। यह एक अजीब और इतिहास में लासानी फ़ैसला था, जिसने तीन-चार लाइनों में ही तीस लाख आदमियों को इतना बड़ा दण्ड दे दिया।

शुरू में तो यह लड़ाई निदरलैण्ड के अमीरों और स्पेन के बादशाह के बीच ही चलती मालूम पडी। दूसरे देशों में बादशाह और अमीरों की जो लड़ाइयाँ चल रही थीं, उन्हीं जैसी यह भी थी। एल्वा ने उनको कुचल डालने की कोशिश की और बहुत-से अमीरों को ब्रसेल्स में फाँसी पर चढ़ना पड़ा। इन फाँसी दिये जानेवालों में से काउण्ट एग्मौंट नामक एक लोकप्रिय और मशहूर अमीर भी था। इसके बाद एल्वा को जब रुपये की तंगी मलूम पड़ने लगी तो उसने नये-नये भारी टैक्स लगाने की कोशिश की। इससे जब व्यापारी-वर्ग की जेबों पर असर पड़ा तो उन लोगों ने बग़ावत करदी। इसके साथ-साथ कैथलिक और प्रोटेस्टेण्टों के बीच भी झगड़ा चल रहा था।

(स्पेन एक बड़ा ज़बरदस्त राज्य था, जिसे अपने बड़प्पन का बड़ा घमण्ड था; उधर बेचारे निदरलैण्ड में सिर्फ़ व्यापारियों और बेदम और फिज़ूल-खर्च अमीरों के कुछ सूबे थे। दोनों में कोई बराबरी न थी। लेकिन फिर भी इनको दबाना स्पेन के लिए मुश्किल हो गया) बार-बार क़त्लेआम होते रहते थे; नगरों के तमाम निवासियों को मौत के घाट उतार दिया जाता था। आदमियों को क़त्ल करने के मामले में एल्वा और उसके सेनापति चंगेज़ खां और तैमूर की बराबरी कर रहे थे। कभी तो वे इन मंगोलों से भी आगे बढ़ जाते थे। एल्वा एक के बाद दूसरे शहर पर घेरा डाल रहा था और शहर के युद्ध-कला से अनजान पुरुष और अक्सर औरतें भी एल्वा के सैनिकों से जल और थल पर तब-तक लड़ते थे जबतक कि भोजन का अभाव उनके लिए लड़ाई जारी रखना नामुमकिन न कर देता था। स्पेन की ग़ुलामी इख़्तियार करने के बदले अपनी ज़िन्दगी की तमाम क़ीमती चीज़ों के विनाश को बेहतर समझकर हालैंड-निवासियों ने 'डाइक' तोड़ डाले, जिससे उत्तरी समुद्र के पानी की बाढ़ स्पेन की फौज़ों को डुबो दे और उन्हें देश से बाहर निकाल दे। जैसे-जैसे लड़ाई गहरी होती गई वैसे-ही-वैसे उसमें कड़ाई भी आती गई और दोनों पक्ष बहुत ही ज्यादा बेरहम हो गये। सुन्दर हार्लेम नगर का घेरा एक मार्के की घटना

है। इन लोगों ने आख़िरी दम तक शहर की रक्षा की। लेकिन अन्त वही हुआ—हस्ब-मामूल स्पेन के सैनिकों द्वारा क़त्लेआम और लूटपाट। इसी तरह अल्कमार का घेरा भी है, लेकिन यह नगर 'डाइक' तोड़ने से बच गया। और लीडन को जब दुश्मनों ने घेर लिया तो भूख और महामारी से हज़ारों आदमी मर गये। लीडन के पेड़ों में एक भी हरा पत्ता बाक़ी न रहा था। लोगों ने सब खा डाले। घरों पर जूठन के टुकड़ों के लिए स्त्री और पुरुष भुखमरे कुत्तों तक से छीना-झपटी करते लेकिन फिर भी वे लड़े जाते थे और शहर की दीवारों पर से सूखकर काँटा हुए और भूख से अधमरे लोग दुश्मन को चुनौती देते थे और स्पेनवालों से कहते थे कि वे चूहे, कुत्ते और चाहे जो कुछ खाकर ज़िन्दा रहेंगे लेकिन हार न मानेंगे। "और जब हमारे सिवा कुछ भी बाक़ी न रहेगा तो यक़ीन रक्खो कि हममें से हरेक अपने बायें हाथ को खा डालेगा और दाहिने हाथ को विदेशी ज़ालिमों से अपनी औरतों, अपनी आज़ादी और अपने धन की रक्षा करने के लिए बचा रक्खेगा। अगर परमात्मा भी नाराज़ होकर हमें विनाश की गोद में छोड़ दे और सारी आसाइशें हमसे छीन ले तो भी हम तुमको भीतर घुसने से रोकने के लिए हमेशा मुस्तैद रहेंगे। जब हमारी आख़िरी घड़ी आ जायगी तो हम खुद अपने ही हाथों से शहर में आग लगा देंगे और पुरुष, स्त्रियाँ, बच्चे सब एकसाथ आग में जलकर मर जायँगे, बजाय इसके कि हम अपने घरों को भ्रष्ट होने और अपने हक़ों को कुचल जाने दें।"

लीडन के निवासियों में ऐसा उत्साह था। लेकिन जैसे दिन-पर-दिन बीतते जाते और कहीं से मदद की सूरत नज़र नहीं आती थी वैसे ही उनकी मायूसी भी बढ़ती जाती थी। आख़िर उन्होंने हालैंड की जागीरों के अपने दोस्तों को संदेश भेजा। इन जागीरों ने यह ज़बरदस्त फैसला किया कि लीडन को शत्रुओं के हाथ में जाने देने से यह बेहतर है कि अपने प्यारे देश को पानी में डुबो दिया जाय। "खोये हुए देश से डूबा हुआ देश अच्छा है।" और उन्होंने घोर संकट में पड़े हुए अपने साथी शहर को यह जवाब भेजा—"ऐ लीडन, हम तुझे संकट में छोड़ने की बनिस्बत यह बेहतर समझेंगे कि हमारा सारा देश और हमारी सारी सम्पत्ति समुद्र की लहरों से नष्ट हो जाय।"

आख़िरकार एक के बाद दूसरा 'डाइक' तोड़ दिया गया और हवा की मदद पाकर समुद्र का पानी भीतर घुस गया और उसके साथ हालैंड के जहाज़ खाना और सहायता लेकर पहुँचे। इस नये दुश्मन समुद्र से डरकर स्पेन के सैनिक जल्दी में भाग खड़े हुए। इस तरह लीडन बच गया और उसके निवासियों की वीरता की यादगार में सन् १५७५ ई० में लीडन का विश्वविद्यालय क़ायम किया गया, जो तबसे आज तक मशहूर है।

बहादुरी और ख़ौफ़नाक क़त्ल की ऐसी कितनी ही कहानियाँ हैं। सुन्दर एण्टवर्प में बड़ा भयंकर क़त्लेआम और लूटमार हुई जिसमें आठ हज़ार आदमी मारे गये। इसे 'स्पेन-कोप' (Spanish Fury) कहा जाता था।

लेकिन इस जबरदस्त लड़ाई में हालैण्ड ने हीं ज्यादातर हिस्सा लिया, निदरलैण्ड के दक्षिणी हिस्से ने नहीं। स्पेन के शासक घूस और दबाव से निदरलैण्ड के बहुत-से अमीरों को अपनी तरफ़ मिला लेने में कामयाब हो गये और उनके ज़रिये उन्हींके देशवासियों को कुचलवाया। उनको इस बात से बडी मदद मिली कि दक्षिण में प्रोटेस्टेण्टों से कैथलिकों की तादाद बहुत ज्यादा थी। उन्होंने कैथलिकों को मिलाने की कोशिश की और कुछ हद तक वे कामयाब भी हो गये। और भला अमीर-उमरा ! यह कहते हुए शर्म लगती है कि इन लोगों में से बहुत-से स्पेन के बादशाह से अपने लिए दौलत और रुतबे हासिल करने की ख़ातिर देश-द्रोह और धोखेबाज़ी में कितने नीचे गिर गये थे ! भले ही उनके कामों से देश जहन्नुम में चला जाय ! फूट डालकर हुकूमत करने की साम्राज्यों की यह पुरानी नीति है। हमने यहाँ अपने देश में भी इस नीति का पूरी तरह अमल में लाया जाना देखा है। बहुतसे लोग इसके फन्दे में फँस गये हैं और बहुत-से हिन्दुस्तानियों ने देश को धोखा देने का काम किया है।

निदरलैंण्ड की एक आम सभा में भाषण देते हुए विलियम ऑफ ऑरेञ्ज ने कहा था—"निदरलैण्ड को कुचलने वाले कुछ निदरलैण्ड के लोग ही हैं। एल्वा के ड्यूक को जिस ताक़त का घमंड है वह अगर तुम्हारी ही—निदरलैण्ड के नगरों की—दी हुई नहीं है, तो कहाँ से आई ? उसके जहाज़, रसद, धन, हथियार, सैनिक, ये सब कहाँ से आये ? निदरलैण्ड के लोगों के पास से।"

इस तरह, आख़िरकार, स्पेन वाले निदरलैण्ड के उस हिस्से को अपनी ओर मिला लेने में कामयाब हुए जो आज मोटे तौर पर बेलजियम कहलाता है। लेकिन हरचन्द कोशिश करने पर भी वे हालैण्ड को क़ाबू में न लासके। यहाँ यह बात ख़ास तौर पर ग़ौर करने लायक़ है कि लड़ाई के दौरान में, क़रीब-क़रीब उसके ख़तम होने तक, हालैण्ड ने स्पेन के फिलिप द्वितीय की मातहती से कभी इन्कार नहीं किया। वे उसे अपना बादशाह मानने के लिए तैयार थे, बशर्त्ते कि वह उनके हक़ों को मान लेता। लेकिन आख़िरकार उनको उससे सम्बन्ध तोड़ना ही पड़ा। उन्होंने अपने महान् नेता विलियम के सिर पर ताज रखना चाहा, लेकिन उसने इन्कार कर दिया। इस तरह परिस्थिति ने उनको, अपनी इच्छा के विरुद्ध, प्रजातंत्र बनने के लिए मजबूर किया, हालांकि उस ज़माने में राज-परम्परा का बहुत ज़ोर था।

हालैण्ड की यह लड़ाई कितने ही वर्षों तक चली। सन् १६०९ ई० में कहीं जाकर हालैंड आज़ाद हुआ। लेकिन निदरलैण्ड में असली लड़ाई १५६७ से १५८४ ई० तक रही। स्पेन का फिलिप द्वितीय जब विलियम आफ़ ऑरेञ्ज को हरा न सका तो उसने उसे एक हत्यारे के ज़रिये मरवा डाला। उसकी हत्या के लिए उसने एक सार्वजनिक इनाम का ऐलान किया। उस ज़माने में योरप की नैतिकता ऐसी ही थी। विलियम को मारने की कितनी ही कोशिशें नाकामयाब हुईं। १५८४ ई० में छठवीं बार की कोशिश में कामयाबी हुई, और यह महापुरुष—जो हालैंड भर में 'पिता विलियम' के नाम से पुकारा जाता था—मारा गया; लेकिन उसका काम ख़तम हो चुका था। बलिदान और कष्टों की भट्टी में से निकलकर डच रिपब्लिक (हालैण्ड का प्रजातन्त्र राष्ट्र) तैयार हो गई थी। बेरहम और स्वेच्छाचारी शासकों का मुक़ाबिला करने से हरेक देश और जाति को फ़ायदा पहुँचता है। इससे नसीहत मिलती है और ताक़त बढ़ती है। मज़बूत और स्वावलम्बी हालैंड बहुत जल्दी एक बडी समुद्री ताक़त बन गया और बहुत दूर पूर्व तक उसका साम्राज्य फैल गया। बेलजियम, जो हालैंड से अलग हो गया था, स्पेन के ही क़ब्ज़े में रहा।

योरप की इस तस्वीर को पूरा करने के लिए अब हमें जर्मनी की तरफ़ देखना चाहिए। यहाँ १६१८ से १६४८ ई० तक एक ज़बरदस्त घरेलू झगड़ा रहा, जो 'तीस साल का युद्ध' कहलाता है। यह लड़ाई कैथलिक और प्रोटेस्टेण्टों के बीच हुई और जर्मनी के छोटे-छोटे राजा और निर्वाचक आपस में, और साम्राट् से भी, लडे; और फ़्रांस के कैथलिक बादशाह ने प्रोटेस्टेण्टों को शह दी, सिर्फ़ इसलिए कि यह गड़बडी ज़रा बढ़ जाय। आख़िरकार स्वीडन का बादशाह गस्टावस अडोल्फ़स—जो 'उत्तर का शेर' कहलाता था—चढ़कर आया और उसने सम्राट को हराकर प्रोटेस्टेण्टों को बचा लिया। लेकिन जर्मनी का सत्यानाश हो चुका था। पैसे के ग़र्ज़ी सैनिक लुटेरे बन गये थे। उन्होंने चारों तरफ़ लूट-खसोट मचा रक्खी थी। यहाँतक कि फ़ौजों के सेनापति भी सिपाहियों की तनख़्वाह या ख़ूराक के लिए पैसा न रहने पर लूटमार करने लगे। और ख़याल करो कि यह सब लगातार तीस साल तक होता रहा! क़त्लेआम, सत्यानाश और लूटमार साल-दर-साल चलते रहे। ऐसी हालत में व्यापार बिलकुल नहीं हो सकता था, और न खेतीबाडी ही हो सकती थी। इसलिए दिन पर दिन खाने की चीज़ें कम होती गईं और फ़ाक़ाकशी बढ़ने लगी। और इसका लाज़िमी नतीजा यह हुआ कि डाकू बढ़ने लगे और लूटमार ज्यादा होने लगी। जर्मनी एक तरह से पेशेवर और पैसे के ग़र्ज़ी सिपाहियों का क्रीडास्थल बन गया।

आख़िरकार यह लड़ाई ख़तम हुई—जबकि शायद लूटने के लिए कुछ भी

बाक़ी न रहा। लेकिन जर्मनी को यह नुकसान पूरा करने और अपनी हालत सुधारने में बहुत लम्बा वक्त लगा। १६४८ ई० में 'वेस्टफ़ैलिया' की सुलह के ज़रिये इस घरेलू लड़ाई का ख़ातमा हो गया। इससे पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट् एक परछाईं-भर रह गया और उसमें कुछ भी ताक़त न रही। फ़्रांस ने एक बड़ा टुकड़ा, आल्सस, ले लिया, जिसपर दो सौ वर्ष से अधिक उसका क़ब्ज़ा रहा। बाद में उसे यह टुकड़ा फिर से उठे हुए जर्मनी को लौटाना पड़ा। लेकिन १९१४–१८ ई० के यूरोपीय महायुद्ध के बाद फ्रांस नें इसे फिर ले लिया। इस तरह इस सुलह से फ्रांस को फायदा हुआ। लेकिन अब जर्मनी में एक दूसरी ताक़त पैदा होगई, जो आगे चलकर फ्रांस के रास्ते का काँटा बन गई। यह प्रशिया था, जिसपर 'हॉयनज़ॉलर्न' का घराना राज्य करता था।

वेस्टफ़ैलिया की सुलह ने, आख़िरकार, स्वीजलैंण्ड और हालैण्ड के प्रजातन्त्रों को मान लिया।

मैंने तुमको कैसी लड़ाइयों, हत्याओं, लूटमार और मज़हबी कट्टरपन की कहानी सुनाई है। लेकिन यही उस रिनैसां के बाद का योरप था, जिसमें कला और साहित्य ने इतनी तरक्क़ी की थी। मैंने योरप का मुक़ाबिला एशिया के देशों से किया है और उस नई ज़िन्दगी का ज़िक्र किया है जो उस वक्त योरप में हिलोरें मार रही थी। इस नई ज़िन्दगी को कोई भी मुसीबतों के बीच आगे बढ़ते हुए देख सकता है। नये बालक और नये युग का जन्म बडी तकलीफ़ों के साथ हुआ करता है। जब जड़ में आर्थिक खोखलापन हो तो उसके ऊपर समाज और राजनीति दोनों डांवाडोल होने लगते हैं। योरप की यह नई ज़िन्दगी बिलकुल स्पष्ट है। लेकिन इसके चारों ओर कितना जंगली आचरण है! उस ज़माने का यह उसूल था—"झूठ बोलने की विद्या ही राज्य की विद्या है।" उस वक्त का सारा वातावरण ही धोखेबाज़ियों और साज़िशों, हत्या और अत्याचार से भरा था, और ताज्जुब तो यह होता है कि लोग इसे बर्दाश्त किस तरह करते थे!

: ८७ :

इंग्लैण्ड ने अपने बादशाह का सिर उड़ा दिया

२९ अगस्त, १९३२

अब हम कुछ वक्त इंग्लैंड के इतिहास को देंगे। अभीतक हमने ज्यादातर इसे दरगुज़र किया है क्योंकि मध्यकालीन युग में वहाँ कोई ऐसी ख़ास बात नहीं

हुई । यह देश फ़्रांस और इटली से भी पिछड़ा हुआ था । हाँ, ऑक्सफर्ड-विश्व-विद्यालय बहुत पहले एक विद्या का केन्द्र मशहूर हो चुका था और कुछ दिन बाद केम्ब्रिज की भी शोहरत होगई । वाइक्लिफ़, जिसके बारे में मैं पहले लिख चुका हूँ, ऑक्सफर्ड की ही देन था ।

इंग्लैंड के प्रारंभिक इतिहास में खास दिलचस्पी की चीज़ पार्लमेण्ट का विकास है । शुरू से ही अमीर-उमरा की यह कोशिश थी कि बादशाह के अधिकारों को महदूद कर दिया जाय । १२१५ ई० में मैग्नाचार्टा बना । इसके कुछ दिन बाद पार्लमेण्ट की शुरुआत दिखलाई पड़ती है । शुरू-शुरू की ये बातें अधकचरी-सी थीं । उस वक्त जो बडे-बडे अमीर-उमरा और पादरी थे वही बढ़ते-बढ़ते हाउस ऑफ़ लाड्र्स (लार्डसभा) के रूप में संगठित हो गये । लेकिन आख़िरकार सबसे महत्व-पूर्ण जो चीज़ बनी वह थी एक चुनी हुई कौंसिल, जिसमें नाइट लोग, छोटे-छोटे ज़मींदार और शहरों के कुछ नुमाइन्दे शामिल थे । यही चुनी हुई कौंसिल बढ़कर आगे "हाउस ऑफ़ कॉमन्स" (कॉमन्स सभा) की शक्ल में तब्दील हो गई । ये दोनों कौंसिलें या सभायें ज़मींदारों और धनवान लोगों की थीं । कॉमन्स सभा के लोग भी कुछ दौलतमन्द ज़मींदारों और व्यापारियों के नुमाइन्दे थे ।

कॉमन्स सभा के हाथ में कुछ भी ताक़त नहीं थी । वे लोग बादशाह के पास अर्ज़ियाँ भेजते थे और लोगों की शिकायतें पेश करते थे । धीरे-धीरे वे टैक्सों के मामले में भी दख़ल देने लगे । उनकी मर्ज़ी के बिना नये टैक्सों का जारी करना या वसूल करना बहुत मुश्किल था; इसलिए बादशाह ने ऐसे टैक्स लगाने के बारे में उनकी मंज़ूरी लेने का रिवाज शुरू कर दिया । आमदनी पर अधिकार हमेशा एक बडी ताक़त होती है, इसलिए पार्लमेण्ट और ख़ास कर कॉमन्स सभा का जैसे-जैसे यह अधिकार बढ़ता गया वैसे ही वैसे उसकी ताक़त और उसकी शान भी बढ़ती गई । अक्सर कॉमन्स सभा और बादशाह में मतभेद होने लगे । लेकिन फिर भी पार्लमेण्ट एक कमज़ोर चीज़ थी और ट्यूडर शासक, जैसा कि मैं पहले बतला चुका हूँ, क़रीब-क़रीब स्वेच्छाचारी राजा थे । लेकिन ट्यूडर लोग चालाक थे और वे पार्लमेण्ट से लड़ाई मोल लेना बचा जाते थे ।

इंग्लैंड योरप की ख़ौफ़नाक मज़हबी लड़ाइयों से बचा रहा । मज़हबी झगडों, दंगे-फिसादों और कट्टरपन की बहुत ज्यादती रही, और औरतों की एक बडी तादाद ज़िन्दा जला दी गई, क्योंकि उन्हें जादूगरनियाँ समझा गया था । लेकिन योरप के मुकाबिले में इंग्लैंड में फिर भी, शान्ति रही । आठवें हेनरी के राज्यकाल में यह समझा जाने लगा कि इंग्लैंड ने प्रोटेस्टेण्ट मत को मान लिया है । देश में बहुत-से कैथलिक

जरूर थे, मगर बहुत-से कट्टर प्रोटेस्टेण्ट भी थे। लेकिन नया 'चर्च ऑफ इंग्लैंड' कुछ-कुछ इन दोनों के बीच का था; और हालांकि वह अपने को प्रोटेस्टेण्ट कहता था मगर प्रोटेस्टेण्ट की बनिस्बत कैथलिक ज्यादा था, और सच पूछें तो वह राज्य का एक महकमा था जिसका हाकिम खुद बादशाह था। हाँ, रोम और पोप से रिश्ता बिलकुल टूट चुका था और बहुत-से 'एन्टी-पोपरी' (पोप-विरोधी) दंगे हुए। रानी एलिज़ाबेथ (यह आठवें हैनरी की लड़की थी) के वक़्त में पूर्वी देशों और अमेरिका के जो नये समुद्री रास्ते खुले और व्यापार की नई-नई गुंजाइशें हुईं उन्होंने बहुत-से लोगों को अपनी तरफ़ खींचा। स्पेन और पुर्तगाल के जहाज़ियों की कामयाबी से खिंचकर और दौलत मिलने के लालच से इंग्लैंड ने भी समुद्र का रास्ता पकड़ा। सर फ्रांसिस ड्रेक वग़ैरा शुरू में समुद्री डाकू बन गये और अमेरिका से आनेवाले स्पेन के जहाज़ों को लूटने लगे। इसके बाद ड्रेक ने दुनिया का चक्कर लगाने के लिए ज़बरदस्त यात्रा की। सर वाल्टर रैले ने एटलांटिक समुद्र को पार करके उस देश के पूर्वी किनारे पर उपनिवेश या बस्तियाँ बसाने की कोशिश की जिसे आज युनाइटेड स्टेट्स या संयुक्त राष्ट्र, अमेरिका कहते हैं। वर्जिन (अविवाहित) रानी एलिज़ाबेथ की तारीफ़ में इसे वर्जिनिया नाम दिया गया। रैले ही पहला आदमी था जो अमेरिका से तमाखू पीने का रिवाज योरप में लाया। इसके बाद स्पेनिश आर्मेडा आया और इस घमंड-भरे हौसले के पूरी तौर पर नाकामयाब हो जाने से इंग्लैंड को बहुत-कुछ उत्साह मिला। इन बातों का बादशाह और पार्लमेण्ट के झगडे से कोई ताल्लुक़ नहीं है, सिवा इसके कि लोगों का ध्यान इन बातों में लग गया और देश से बाहर के मामलों की तरफ़ बँट गया। लेकिन ट्यूडरों के ज़माने में भी भीतर-ही-भीतर आग सुलग रही थी।

एलिज़ाबेथ का ज़माना इंग्लैंड के सबसे अच्छे ज़मानों में से है। एलिज़ाबेथ एक महान् रानी थी और उसके वक्त में इंग्लैंड में बहुत-से बडे-बडे काम करनेवाले पैदा हुए। लेकिन इस रानी और उसके साहसी सूरमाओं से भी बढ़कर थे इस पीढ़ी के कवि और नाटककार, और अमर विलियम शेक्सपीयर इन सबसे भी ऊपर है। इसके नाटक सारी दुनिया में मशहूर हैं, हालांकि निजी तौर पर इसके बारे में हम बहुत कम जानते हैं। यह उन लेखकों के उस चमकनेवाले समूह में से एक था जिसने अंग्रेज़ी भाषा के भंडार को बेशुमार बेशक़ीमत हीरों से भर दिया है, जो हमारे दिल की कली को खिला देते हैं। एलिज़ाबेथ के ज़माने की छोटी-छोटी गीत-कविताओं में भी एक विशेष रस है जो औरों में नहीं पाया जाता। ये बडी सीधी और मीठी ज़बानों में बडे मज़े के साथ गाई जाती हैं और रोज़मर्रा की बातें एक

निराले ही ढंग से बयान करती हैं। इस ज़माने का ज़िक्र करते हुए लिटन स्ट्राची नामक एक अंग्रेज़ समालोचक हमको बतलाता है कि "एलिज़ाबेथ-काल के इन महान् व्यक्तियों की ऊँची और सुन्दर भावना ने इंग्लैंड को एक ही पीढ़ी में जादू के जैसी नाटकों की ऐसी गौरव से भरी विरासत भेंट की है जो दुनिया में आजतक बेजोड़ है।"

भारत में अकबर महान् की मौत के ठीक दो वर्ष पहले, १६०३ ई० में, एलिज़ाबेथ की मौत हुई (उसके बाद स्कॉटलैंड का तत्कालीन राजा गद्दी पर बैठा, क्योंकि वारिसों में वही सबसे नज़दीकी रिश्तेदार था। वह पहला जेम्स हुआ और इस तरह इंग्लैंड और स्काटलैंड का एक सम्मिलित राज्य बन गया। जिस बात को इंग्लैंड ख़ून-ख़राबी से न पासका वही शान्ति-पूर्वक होगई। जेम्स राजाओं के दैवी अधिकार का हामी था और पार्लमेण्ट को पसन्द नहीं करता था। वह एलिज़ाबेथ की तरह होशियार भी नहीं था और जल्दी ही पार्लमेण्ट और उसके बीच झगड़ा पैदा हो गया। इसीके राज्य-काल में इंग्लैंड के बहुतसे कट्टर प्रोटस्टेण्ट अपनी जन्मभूमि को हमेशा के लिए छोड़ गये और अमेरिका में बसने के लिए १६२० ई० में 'मेफ्लावर' नामक जहाज़ से रवाना हो गये। वे जेम्स प्रथम की मनमानी की मुख़ालफ़त करते थे और नये 'चर्च ऑफ इंग्लैंड' को नापसन्द करते थे, क्योंकि वे उसे काफी तौर पर प्रोटेस्टेण्ट नहीं समझते थे। इसलिए वे अपने घर और देश को छोड़ गये और अटलांटिक समुद्र के पार नये जंगली देश के लिए रवाना हुए। वे उत्तरी किनारे के एक मुक़ाम पर उतरे, जिसे उन्होंने न्यू प्ले माउथ का नाम दिया। उनके बाद और भी कितने ही लोग पहुँचे और धीरे-धीरे पूर्वी किनारे पर इन बस्तियों की तादाद बढ़ते-बढ़ते तेरह तक पहुँच गई। ये बस्तियाँ बाद में मिलकर 'यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका' यानी अमेरिका का संयुक्त राष्ट्र बन गईं। लेकिन यह तो अभी बहुत बाद की बात है।)

जेम्स प्रथम का पुत्र था चार्ल्स प्रथम। १६२५ ई० में उसके गद्दी पर बैठने के बाद, मामला बहुत बिगड़ गया। इसलिए १६२८ ई० में पार्लमेण्ट ने उसको एक 'पिटीशन ऑफ राइट' यानी अधिकारों का प्रार्थनापत्र पेश किया जो इंग्लैंड के इतिहास में एक महत्वपूर्ण ख़रीता है। इस अर्जी में कहा गया था कि बादशाह स्वेच्छाचारी शासक नहीं है। वह ग़ैरक़ानूनी तौर पर न तो प्रजा पर टैक्स लगा सकता है और न उसे गिरफ्तार करवा सकता है। वह सत्रहवीं सदी में भी वह बात नहीं कर सकता था जो आज बीसवीं सदी में हिन्दुस्तान का अँग्रेज़ वाइसराय कर सकता है—यानी आर्डिनेन्स जारी करना और प्रजा को जेल में डाल देना।

जब उसको यह बतलाया गया कि उसे क्या करना चाहिए, क्या नहीं तो चार्ल्स ने खीझकर पार्लमेण्ट को तोड़ दिया और उसके बिना ही शासन करने लगा। लेकिन

कुछ ही वर्ष बाद उसे रुपये की इतनी तंगी महसूस हुई कि दूसरी पार्लमेण्ट बुलानी पड़ी। पार्लमेण्ट के बिना चार्ल्स ने जो कुछ किया उसपर लोग बहुत नाराज़ थे और नई पार्लमेण्ट तो उससे लड़ाई मोल लेने का मौक़ा ही ताक रही थी। दो साल में ही, १६४२ ई० में, गृह-युद्ध शुरू हो गया जिसमें एक तरफ़ तो था बादशाह, जिसकी मदद पर बहुत से अमीर-उमरा और फौज का ज्यादातर हिस्सा था, और दूसरी तरफ़ थी, पार्लमेण्ट, जिसके मददगार थे धनी व्यापारी और लंदन के नागरिक। कई वर्षों तक यह लड़ाई चलती रही, और आख़िरकार पार्लमेण्ट की तरफ़ एक बड़ा भारी नेता, ओलिवर क्रॉमवेल, उठ खड़ा हुआ। वह बड़ा ज़बर्दस्त संगठन करनेवाला, कड़ा अनुशासन रखनेवाला और अपने उद्देश्य में कट्टर विश्वास रखनेवाला था। कार्लाइल[१] ने क्रॉमवेल के बारे में लिखा है—"लड़ाई के मायूसी पैदा करनेवाले ख़तरों में, युद्धक्षेत्र की विकट परिस्थितियों में, और उस वक़्त जब कि सब निराश हो जाते थे, उसके भीतर उम्मीद की रोशनी, दहकती हुई आग की तरह चमकती थी।" क्रॉमवेल ने एक नई फ़ौज का संगठन किया—इसको 'लौह शरीर' (Ironsides) कहते थे—और उसको अपने ख़ुद के अनुशासित उत्साह और जोश से भर दिया। पार्लमेण्ट की फ़ौज के 'प्यूरिटन्स' (पवित्रता के पालकों) ने चार्ल्स के 'कैवेलियर्स' (घुड़-सवारों) का मुक़ाबिला किया। आख़िरकार क्रामवेल की जीत हुई और बादशाह चार्ल्स पार्लमेण्ट का क़ैदी हो गया।

पार्लमेण्ट के बहुत से मेम्बर अब भी बादशाह से समझौता करना चाहते थे, लेकिन क्रॉमवेल की फ़ौज इस बात को सुनना भी नहीं चाहती थी और इस फ़ौज के एक अफ़सर कर्नल प्राइड ने बेधड़क पार्लमेण्ट भवन में घुसकर ऐसे मेम्बरों को निकाल बाहर किया। इस घटना को 'प्राइड्स पर्ज' यानी प्राइड की सफ़ाई कहा जाता है। यह उपाय बड़ा सख़्त था और पार्लमेण्ट का गौरव बढ़ानेवाला न था। अगर पार्लमेण्ट ने बादशाह की मनमानी का विरोध किया तो ख़ुद पार्लमेण्ट की सेना ही एक दूसरी ऐसी ताक़त बन गई जो ख़ुद पार्लमेण्ट की क़ानूनी बातों की परवाह नहीं करती थी। क्रान्तियाँ इसी तरह हुआ करती हैं।

कॉमन्स सभा के बचे हुए मेबरों ने—जिनको 'रम्प पार्लमेण्ट' का नाम दिया गया था—लार्ड सभा के विरोध करने पर भी चार्ल्स पर मुक़दमा चलाने का फ़ैसला

१. **कार्लाइल**—यह अंग्रेज़ी भाषा का बहुत बड़ा इतिहास और निबंध-लेखक होगया है। अपने समय के साहित्यिक, धार्मिक और राजनैतिक विचारों पर उसका बड़ा भारी प्रभाव था। यह स्कॉटलैण्ड का रहनेवाला था। इसका समय १७९५ से १८८१ है।

कर लिया और उसे 'ज़ालिम, देश-द्रोही,' हत्यारा और देश का शत्रु' क़रार देकर फाँसी की सज़ा दे दी। १६४७ ई० में इस शख़्स का, जो उनका बादशाह रह चुका था और राजाओं के दैवी अधिकार की बात करता था, लंदन के 'व्हाइट हॉल' में सिर उड़ा दिया गया।

राजा लोग भी उसी तरह मरते हैं जिस तरह मामूली आदमी मरते हैं। इतिहास बतलाता है कि इनमें से बहुतों की मौत बडी भयंकर हुई है। मनमानी और बादशाहत ये गुप्त हत्याओं और हत्याओं को जन्म देते हैं और इंग्लैंड के बादशाहों ने अबतक काफ़ी गुप्त हत्यायें करवाईं थीं। लेकिन एक चुनी हुई सभा का अपने आपको अदालत मानने की हिम्मत करना, बादशाह का न्याय करना, उसे फाँसी की सज़ा देना और फिर उसका सिर उड़वा देना, एक बिलकुल नई और हैरत में डालने वाली बात थी। यह एक निराली बात है कि अँग्रेज़ों ने, जो हमेशा से कट्टर और तब्दीलियों के ख़िलाफ़ रहे हैं, इस तरह से इस बात का उदाहरण पेश कर दिया कि एक बेरहम और देशद्रोही राजा के साथ कैसा बर्ताव किया जाना चाहिए। लेकिन यह काम सारी अँग्रेज़ जाति का नहीं समझना चाहिए जितना कि क्रॉमवैल के अनुयायियों (Ironsides) का।

इस घटना से योरप के बादशाहों, सीज़रों, राजाओं और छोटे-मोटे शाही खानदान वालों को बड़ा धक्का पहुँचा। अगर आम लोग इतने दुस्साहसी हो जायँ और इंग्लैंड के उदाहरणों पर चलने लगें तो उनका क्या हाल होगा ? अगर बस चलता तो इनमें से बहुत से इंग्लैंड पर हमला करके उसे कुचल डालते, लेकिन इंग्लैंड की बागडोर उस वक्त किसी निकम्मे बादशाह के हाथों में न थी। पहली दफ़ा इंग्लैंड एक प्रजातंत्र बना था और उसकी हिफ़ाज़त करने के लिए क्रॉमवैल और उसकी फ़ौज तैयार थी। क्रॉमवैल क़रीब-क़रीब डिक्टेटर था। वह 'लार्ड-प्रोटैक्टर' यानी रक्षक स्वामी कहलाता था। उसकी कडी और अच्छी हुकूमत में इंग्लैंड की ताक़त बढ़ने लगी और उसके जहाज़ी बेडे ने हालैंड, फ़्रान्स और स्पेन के बेडों को खदेड़ दिया। पहली ही बार इंग्लैंड योरप की एक ख़ास समुद्री ताक़त बन गया।

लेकिन इंग्लैंड का यह प्रजातन्त्र ज्यादा दिन नहीं टिका, चार्ल्स प्रथम की मौत के बाद ग्यारह वर्ष भी न बीतने पाये कि १६५८ ई० में क्रॉमवैल की मृत्यु हो गई और दो वर्ष बाद प्रजातन्त्र का भी अन्त हो गया। चार्ल्स प्रथम का पुत्र, जिसने भागकर दूसरे देशों में शरण ली थी, इंग्लैण्ड लौट आया। उसका स्वागत किया गया और चार्ल्स द्वितीय के नाम से उसे गद्दी पर बिठाया गया। यह दूसरा चार्ल्स एक कमीना और चरित्रहीन आदमी था और बादशाहत को वह ख़ाली एक मौज उड़ाने का साधन समझता था। लेकिन वह चतुर इतना था कि पार्लमेण्ट का ज्यादा विरोध

नहीं करता था। असल में फ़्रान्स का बादशाह उसे छिपे-छिपे धन की मदद देता था। क्रॉमवैल के वक्त में इंग्लैंड ने योरप में जो नाम पैदा किया था वह गिर गया और हालैंड का जहाज़ी बेड़ा टेम्स नदी तक में घुसकर अंग्रेज़ी बेडे को आग लगा गया।

चार्ल्स द्वितीय के बाद उसका भाई जेम्स द्वितीय गद्दी पर बैठा और उसने फ़ौरन ही पार्लमेण्ट से झगड़ा ठान लिया। जेम्स कट्टर कैथलिक था और पोप की ताक़त को इंग्लैंड में क़ायम करना चाहता था। लेकिन मज़हब के बारे में अंग्रेज़ लोगों के विचार चाहे जैसे रहे हों—और ये विचार काफ़ी धुँधले भी थे—लेकिन उनमें से ज्यादातर लोग पोप और पोपलीला के बिलकुल ख़िलाफ़ थे। इस फैली हुई विचारधारा के ख़िलाफ़ जेम्स कुछ भी न कर सका। उल्टा पार्लमेण्ट की नाराज़गी मोल लेने की वजह से उसे जान बचाने के लिए फ़्रान्स भाग जाना पड़ा।

एकबार फिर पार्लमेण्ट ने बादशाह पर फ़तेह पाई, लेकिन इसबार बिलकुल शान्ति के साथ और बिना घरेलू लड़ाई-झगडे के। बादशाह तो भाग ही चुका था। देश बिना बादशाह का हो गया था। लेकिन अब इंग्लैण्ड दुबारा प्रजातन्त्र होनेवाला नहीं था। कहा जाता है कि अंग्रेज़ अपने ऊपर एक स्वामी चाहता है और इससे भी ज्यादा वह शाही शान-शौक़त और तड़क-भड़क से प्रेम करता है। इसलिए पार्लमेण्ट को एक नये बादशाह की तलाश हुई और उनको उसी ऑरेञ्ज के घराने का एक बादशाह मिल गया जिसने सौ वर्ष पहले स्पेन के ख़िलाफ़ निदरलैण्ड की उस बडी आज़ादी की लड़ाई का नेतृत्व करने के लिए 'विलियम दि साइलैण्ट' को पैदा किया था। इस वक़्त एक दूसरा ऑरेञ्ज का शहज़ादा विलियम था, जिसने अंग्रेज़ी शाही घरानें की मेरी से विवाह किया था। बस, विलियम और मेरी १६८८ ई० में इंग्लैण्ड के संयुक्त शासक बना दिये गये। अब तो पार्लमेण्ट ही सबसे बडी शक्ति थी और पार्लमेण्ट में भेजे हुए नुमाइन्दों के ज़रिये जनता के हाथ में राज्य शक्ति देनेवाली इंग्लैण्ड की राज्यक्रान्ति पूरी हो चुकी थी। उसदिन से आजतक किसी भी ब्रिटिश बादशाह या बेगम की यह हिम्मत नहीं हुई है कि पार्लमेण्ट की सत्ता को मानने से इन्कार करे। लेकिन सीधे तौर पर विरोध या इन्कार करने के अलावा भी साज़िश करने और दबाव डालने के सैकडों तरीके हो सकते हैं, और कई ब्रिटिश बादशाहों ने इन उपायों का सहारा लिया है।

पार्लमेण्ट का पूरा अधिकार हो गया था। लेकिन यह पार्लमेण्ट थी क्या? यह ख़याल न करना कि वह इंग्लैण्ड के लोगों की नुमाइन्दा थी। वह तो उनके एक छोटे से हिस्से की नुमाइन्दा थी। जैसा कि उसके नाम से ज़ाहिर होता है, लार्ड सभा तो लार्डों या बड़े-बडे ज़मींदारों और पादरियों की नुमाइन्दा थी; और कॉमन्स सभा ऐसे

अंग्रेज़ी जानता हो। इस तरह इंग्लैण्ड में 'हनोवर का घराना' (House of Honover) या हनोवर का शाही खानदान, क़ायम किया गया जो आजतक वहाँ राज कर रहा है। इसे राज्य करना नहीं कहा जासकता क्योंकि राज्य और शासन तो पार्लमेण्ट करती है। चार जार्जों के बाद विलियम चतुर्थ हुआ। उसके बाद तिरसठ साल के लम्बे समय तक विक्टोरिया का राज रहा और उसके बाद एडवर्ड सप्तम हुआ। इस श्रेणी में अन्तिम नम्बर जार्ज पंचम का है जो आजकल इंग्लैण्ड के बादशाह हैं[1]।

सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों में आयर्लैण्ड और इंग्लैण्ड के बीच बहुत गड़-बड़ और झगड़ा रहा। आयर्लैण्ड को जीतने की कोशिश और बग़ावत और हत्यायें, एलिज़ाबेथ और जेम्स प्रथम के शासन-काल में बराबर जारी रहीं। आयर्लैण्ड के उत्तर में, अल्स्टर में जेम्स ने बहुत सी ज़मीन-जायदाद ज़ब्त करली और स्कॉटलैण्ड से प्रोटेस्टेण्टों को लाकर वहाँ बसा दिया। तब से ये प्रोटेस्टेण्ट प्रवासी वहीं हैं और इनके कारण आयर्लैण्ड के दो टुकडे हो गये हैं; आयर्लैण्ड वासी और स्कॉटलैण्ड के प्रवासी, या रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट। दोनों के बीच में बडी कट्टर दुश्मनी रही है और इंग्लैण्ड ने तो इस फूट से फायदा उठाया ही है। हमेशा से ही राज्य करनेवाले फूट डालकर शासन करने की नीति में विश्वास रखते हैं। आजकल भी आयर्लैण्ड के सामने सबसे बडी समस्या अल्स्टर की है।

इंग्लैण्ड की घरेलू लड़ाई के ज़माने में आयर्लैण्ड में अंग्रेज़ों की बहुत हत्यायें हुईं। क्रॉमवेल ने इसका बदला आयर्लैण्ड के निवासियों की हत्यायें करके निकाला। इस बात को आयर्लैण्ड वाले आजतक बडे ग़ुस्से के साथ याद करते हैं। इसके बाद और लड़ाई हुई, समझौता हुआ और इनको अंग्रेज़ों ने तोड़ भी डाला— आयर्लैण्ड की तकलीफ़ों का यह इतिहास बड़ा लम्बा और दुःख-भरा है।

यह जानकर तुम्हें शायद दिलचस्पी होगी कि गुलिवर्स ट्रैवल्स[2] का लेखक जोनाथन स्विफ़्ट इसी ज़माने में यानी १६६७ से १७४५ ई० में हुआ था। इस मशहूर किताब का बाल-साहित्य में बड़ा ऊँचा स्थान है, लेकिन वास्तव में वह तत्का-लीन इंग्लैण्ड पर एक कडुआ निन्दोपाख्यान यानी कहानी के बहाने उस ज़माने की

१. १९३६ ई० में जार्ज पंचम की मौत के बाद उनके पुत्र एडवर्ड अष्टम गद्दी पर बैठे लेकिन छः महीने बाद ही उन्होंने एक साधारण महिला के प्रेम के कारण गद्दी छोड़दी और अब उनका छोटा भाई जार्ज षष्टम इंग्लैंड का बादशाह है।

२. **'गुलिवर्स ट्रैवल्स'**—में डाक्टर गुलिवर की यात्राओं का बड़ा दिलचस्प बयान है। एकबार वह एक-एक इंच के मनुष्यों के देश में जापहुँचा और दूसरी बार ५०-६० फ़ीट लम्बे मनुष्यों के देश में।

स्थिति की निन्दा है। 'रॉबिन्स क्रूसो'[1] का लेखक डेनियल डिफ़ो भी स्विफ़्ट के ही वक्त में हुआ था।

: ८८ :

बाबर

३ सितम्बर, १९३२

आज हम फिर हिन्दुस्तान की तरफ़ आते हैं। हमने योरप को काफ़ी समय दिया है और, कई पत्रों में, गड़बड़, लड़ाई-झगडों और युद्धों की गहराई को जानने और सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों में वहाँ क्या हो रहा था, यह समझने की कोशिश की है। मैं नहीं जानता कि योरप के इस ज़माने के बारे में तुम्हारे क्या विचार हुए होंगे। तुम्हारे ख़याल चाहे जो कुछ हों, पर वे ज़रूर मिले-जुले होंगे, और इसमें ताज्जुब की भी कोई बात नहीं है, क्योंकि उस वक्त योरप एक बड़ा अजीब और झमेलों से भरा देश हो रहा था। लगातार जंगली लड़ाइयाँ, मज़हबी कट्टरपन और बेरहमी, जिसका उदाहरण इतिहास में दूसरी जगह मिलना मुश्किल है, बादशाहों की मनमानी और 'दैवी अधिकार', नीचे गिरे हुए अमीर लोग, और जनता का शर्मनाक तौर पर चूसा जाना। चीन इससे सदियों आगे बढ़ा हुआ मालूम होता था—वह एक सुसंस्कृत, कलामय, सहनशील और क़रीब-क़रीब शान्तिमय देश था। फूट और गिरावट होते हुए भी हिन्दुस्तान बहुत-सी बातों में इससे अच्छा था।

लेकिन इंग्लैंड का भी एक दूसरा और ख़ुशनुमा पहलू दिखाई पड़रहा था। आधुनिक विज्ञान की शुरूआत नज़र आरही थी और लोगों में आज़ादी की भावना ज़ोर पकड़कर बादशाही राज्यसिंहासनों को डावाँडोल कर रही थी। इनकी और बहुत-सी दूसरी हलचलों की वजह, पश्चिम और उत्तर-पश्चिम के देशों का तिजारती और औद्योगिक विकास था। बडे-बडे शहर बस रहे थे जो दूर देशों से व्यापार करने वाले सौदागरों से भरे थे और कारीगरों की औद्योगिक हलचल के शोर से गूँज रहे थे। सारे पश्चिमी योरप में 'शिल्प-संघ' (Craft Guilds) यानी शिल्पकारों और कारीगरों के संघ बन रहे थे। यही व्यापारी और औद्योगिक वर्ग 'बुर्जुआ' यानी नया मध्यम वर्ग कहलाया। यह वर्ग बढ़ा तो सही लेकिन इसके रास्ते में बहुत-सी

२. 'राबिन्सन क्रूसो' अंग्रेज़ी की एक बड़ी मशहूर और दिलचस्प किताब है। इसमें एक मल्लाह की कहानी है जिसने लगभग बीस वर्ष अकेले ही एक टापू पर बिताये थे और अपने लिए सब तरह की सहूलियतें इकट्ठी करली थीं।

राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक रुकावटें आईं। राजनैतिक और सामाजिक संगठन में पुरानी सामन्तशाही के निशान अब भी बाक़ी थे। यह प्रणाली बीते हुए ज़माने की थी। वह इस ज़माने से मेल नहीं खाती थी और व्यापार और उद्योग में रुकावट भी डालती थी। सामन्त-सरदार तरह-तरह के टोल और टैक्स वसूल करते थे जिनसे व्यापारी वर्ग को झुंझलाहट पैदा होती थी। इसलिए मध्यमवर्ग ने सामन्तों के अधिकार छीनने की कोशिश करनी शुरू की। बादशाह भी इन सामन्त सरदारों से नाराज़ था क्योंकि ये लोग उसकी ताक़त में भी दख़ल देना चाहते थे। इसलिए इन सामन्त सरदारों के ख़िलाफ़ बादशाह और मध्यवर्ग दोनों मिलकर एक हो गये और उनके असली प्रभाव को मिटा दिया। नतीजा यह हुआ कि बादशाह और भी ज्यादा ताक़तवर और स्वेच्छाचारी हो गया।

इसी तरह यह भी महसूस किया गया कि उस ज़माने में पश्चिमी योरप की धर्म-संस्था और व्यापार करने के बारे में जो मज़हबी ख़यालात फैले हुए थे वे भी व्यापार और उद्योग की तरक्क़ी में रुकावट डाल रहे थे। खुद मज़हब का बहुत-सी बातों में सामन्तशाही से ताल्लुक़ था और जैसा कि मैं तुमको बतला चुका हूँ, 'चर्च' सब से बड़ा सामन्त सरदार था। बहुत साल पहले कितने ही आदमी और गिरोह रोमन चर्च की आलोचना करने और उसकी हस्ती से इन्कार करने के लिए उठ खडे हुए थे। लेकिन वे कुछ तब्दीली न करा सके। मगर अब सारा बढ़ता हुआ मध्यमवर्ग तब्दीली चाहता था इसलिए सुधार की तहरीक ने बड़ा ज़ोर पकड़ लिया।

ये सब तब्दीलियाँ, और इनके अलावा कितनी ही दूसरी तब्दीलियाँ, जिन पर एक साथ हम पहले विचार कर चुके हैं, उस क्रांति के अलग-अलग पहलू और रुख़ थे जिसने मध्यमवर्ग को सबसे आगे बढ़ा दिया। पश्चिमी योरप के सब देशों में क़रीब-क़रीब यही बात हुई होगी, लेकिन अलग-अलग मुल्कों में वह अलग-अलग वक़्त में हुई। इस वक्त और इसके बहुत दिन बाद तक भी, उद्योग-धंधों के लिहाज़ से पूर्वी योरप बहुत पिछड़ा हुआ था। इसलिए वहाँ कोई तब्दीली न हुई।

चीन और हिन्दुस्तान में शिल्प-संघ थे और शिल्पकारों और कारीगरों की एक बडी भारी तादाद थी। उद्योग-धंधे आगे बढ़े हुए थे और पश्चिमी योरप की बनिस्बत तो बहुत बढ़े हुए थे। लेकिन अभी यहाँ विज्ञान का उतना विकास नहीं था जितना योरप में था और न यहाँ योरप जैसी आम जनता के लिए आज़ादी की लहर थी। दोनों देशों में मज़हबी आज़ादी और नगरों, गाँवों और गिल्डों यानी संघों में स्थानीय स्वतंत्रता का रिवाज पुराना था। बादशाह की ताक़त और मनमानी की लोगों को ज़रा भी परवाह न थी जबतक कि ये चीज़ें उनके स्थानीय मामलों में दख़ल न

डालती हों। दोनों देशों ने एक सामाजिक संगठन बना लिया था, जो बहुत दिनों तक टिका रहा और जो योरप के ऐसे किसी भी संगठन से ज्यादा टिकाऊ था। शायद इस संगठन के टिकाऊपन और मज़बूती ने ही तरक़्क़ी को रोक रक्खा था। हमने देखा है कि हिन्दुस्तान में फूट और गिरावट का नतीजा यह हुआ कि उत्तरी हिस्से पर मुग़ल बाबर ने क़ब्ज़ा कर लिया। मालूम होता है कि लोग आज़ादी की पुरानी आर्य भावना को बिलकुल भूल गये थे और चापलूस बनकर किसी भी शासक की मातहती स्वीकार कर लेते थे और यहाँतक कि मुसलमान भी, जो देश में एक नई ज़िन्दगी लेकर आये थे, मालूम होता है, उतने ही पतित और चापलूस हो गये जितने दूसरे लोग।

इस तरह योरप, उस ज़िंदगी और जोश से भरा हुआ था जिसका पुरानी पूर्वी सभ्यता में अभाव था, और धीरे-धीरे इनसे आगे बढ़ता जा रहा था। उसके निवासी संसार के कोने-कोने में फैल रहे थे। व्यापार और धन की लालच ने उसके जहाजियों को अमेरिका और एशिया की ओर खींच लिया था। दक्षिण-पूर्वी एशिया में पुर्तगाल वालों ने मलक्का के अरब साम्राज्य का ख़ातमा कर दिया था। उन्होंने हिन्दुस्तान के किनारे-किनारे और पूर्वी समुद्रों में सब जगह चौकियाँ बिठला दी थीं। लेकिन जल्द ही उनके मसालों के व्यापार के प्रभुत्व को हॉलैंड और इंग्लैंड, इन दो नई ताक़तों ने छीनना शुरू कर दिया। पुर्तगालवाले पूर्व से खदेड़ दिये गये और उनका पूर्वी साम्राज्य और व्यापार ख़तम हो गया। कुछ हद तक हालैंड ने पुर्तगाल की जगह लेली और बहुत से पूर्वी टापुओं पर कब्ज़ा कर लिया। १६०० ई० में रानी एलिज़ाबेथ ने लंदन के व्यापारियों की एक कम्पनी, 'ईस्ट इंडिया कम्पनी', को हिन्दुस्तान में तिजारत करने का फ़रमान दिया और दो साल बाद 'डच ईस्ट-इंडियन कम्पनी' बनी। इस तरह योरप का एशिया को हड़प करने का युग शुरू होता है। बहुत दिनों तक तो यह मलाया और पूर्वी टापुओं तक ही महदूद रहा। मिंग राजाओं और सत्रहवीं सदी के बीच में राज करने वाले मंचुओं के शासन-काल में चीन योरप से ज्यादा ताक़तवर था। जापान तो इतना आगे बढ़ गया कि उसने १६४१ ई० में सब विदेशियों को बाहर निकाल दिया और अपने देश को बाहरवालों के लिए बिलकुल बन्द कर दिया। और हिन्दुस्तान में क्या हुआ? हिन्दुस्तान की कहानी को हम बहुत पीछे छोड़ आये हैं इसलिए अब इस कमी को पूरा करना चाहिए। जैसा कि हम देखेंगे, नये मुग़ल खानदान की मातहत हिन्दुस्तान एक ताक़त-वर राज्य बन गया। योरप के हमले का उसे कुछ भी ख़तरा न था। लेकिन समुद्र पर योरप का क़ब्ज़ा पहले ही हो चुका था।

इसलिए अब हम हिन्दुस्तान की तरफ़ वापस आते हैं। योरप, चीन, जापान और मलेशिया में हम सत्रहवीं सदी के अख़ीर तक आपहुँचे हैं। हम अठाहरवीं सदी के किनारे पर हैं। लेकिन हिन्दुस्तान में अभी तक हम सोलहवीं सदी के शुरू में ही हैं जब कि बाबर यहाँ आया था।

१५२६ ई० में दिल्ली के कमज़ोर और कमीने अफ़ग़ान सुलतान पर बाबर की विजय से हिन्दुस्तान में एक नया ज़माना और नया साम्राज्य—मुग़ल साम्राज्य—शुरू होता है। बीच में थोडे समय को छोड़कर यह १५२६ से १७०७ ई० तक यानी १८१ वर्ष तक रहा। ये वर्ष उसकी ताक़त और शासन के थे, जबकि हिन्दुस्तान के महान मुग़ल की कीर्त्ति सारे एशिया और योरप में फैल गई थी। इस घराने के छः महान बादशाह हुए, जिनके बाद यह साम्राज्य टुकडे-टुकडे होगया और मराठे, सिख, वग़ैरा ने उसमें से रियासतें बांट लीं। इनके बाद अंग्रेज़ आये जिन्होंने केन्द्रीय शक्ति के विनाश और देश में फैली हुई गड़बड़ से फायदा उठाकर धीरे-धीरे अपना सिक्का जमा लिया।

मैं बाबर के बारे में पहले ही कुछ कह चुका हूँ। चंगेज़ ख़ां और तैमूर के ख़ानदान का होने की वजह से इसमें कुछ-कुछ उनका बड़प्पन और लड़ने की क़ाबलियत थी। लेकिन चंगेज़ के ज़माने से अब तक मंगोल लोग बहुत सभ्य हो गये थे और बाबर जैसा लायक़, क़ाबिल और दिलपसंद आदमी उस ज़माने में मिलना मुश्किल था। उसमें जाति-द्वेष बिलकुल न था, न मज़हबी कट्टरता थी और न उसने अपने पुरखों की तरह विनाश ही किया। वह कला और साहित्य का पुजारी था और ख़ुद भी फ़ारसी का कवि था। वह फूलों और बाग़ों से प्रेम करता था और हिन्दुस्तान की गर्मी में उसे अक्सर अपने देश मध्य एशिया की याद आजाती थी। अपने संस्मरणों में उसने लिखा है—"फरग़ाना में बनफ़शा के फूल बडे सुन्दर होते हैं; वह तो गुलेलाला और गुलाब का ढेर है।"

अपने पिता की मृत्यु पर जब बाबर समरकन्द का राजा हुआ तब वह सिर्फ़ ग्यारह वर्ष का बालक था। यह काम आसान न था। उसके चारों तरफ़ दुश्मन थे। इसलिए जिस उम्र में छोटे लड़के और लड़कियाँ स्कूल जाते हैं, उस उम्र में उसे तलवार लेकर लड़ाई के मैदान में जाना पड़ा। उसकी राजगद्दी छिन गई, लेकिन उसने फिर से उसे फ़तह किया और अपनी तूफ़ानी ज़िन्दगी में उसे कई दिक्क़तें उठानी पडीं। इस पर भी वह साहित्य, कविता और कला का अभ्यासी रहा। महत्वाकांक्षा नें उसे आगे बढ़ने को मजबूर किया। काबुल को जीत कर वह सिंध नदी पार करके हिन्दुस्तान में आया। उसके साथ फ़ौज तो थोडी-सी थी

लेकिन उसके पास नई तोपें थीं, जो उन दिनों योरप और पश्चिमी एशिया में काम में लाई जा रही थीं। अफ़ग़ानों की जो बड़ी भारी फ़ौज उससे लड़ने आई वह इस छोटी सी लेकिन अच्छी तरह सिखाई हुई फ़ौज और उसकी तोपों के आगे तहस-नहस हो गई और विजय बाबर के हाथ लगी। लेकिन उसकी मुसीबतों का ख़ातमा नहीं हुआ और कितनी ही बार उसके नसीब का पलड़ा डाँवाडोल होगया था। एक बार जब वह बहुत ख़तरे में था तो उसके सिपहसालारों ने उसे वापस भाग चलने की सलाह दी। लेकिन वह बड़ी जीवटवाला था और उसने कहा कि वापस भाग जाने से तो वह मौत को बेहतर समझता है। वह शराब से प्रेम करता था। 'लेकिन इस ज़िन्दगी और मौत के सवाल के वक्त उसनें शराब छोड़ देने का निश्चय किया और अपने सब प्याले तोड़ डाले। इत्तफ़ाक़ से वह जीत गया और उसने शराब छोड़ने की अपनी प्रतिज्ञा को आख़िर तक निभाया।

हिन्दुस्तान में आने के चार वर्ष बाद ही बाबर की मृत्यु हो गई। लेकिन ये चार वर्ष लड़ाई-झगडों में ही बीते और उसे ज़रा भी आराम न मिला। वह हिन्दुस्तान के लिए एक परदेशी ही रहा और यहाँ के बारे में कुछ न जान सका। आगरे में उसने एक ख़ूबसूरत राजधानी की नींव डाली और कुस्तुन्तुनिया से एक मशहूर कारीगर को बुलवाया। यह वह ज़माना था जब शानदार सुलेमान कुस्तुन्तुनिया में इमारतें बनवा रहा था। सीनन एक मशहूर उस्मानी (तुर्की) शिल्पकार था। उसने अपने ख़ास शागिर्द यूसुफ़ को हिन्दुस्तान भेजा।

बाबर ने अपने संस्मरण लिखे हैं और इस दिलचस्प किताब में बाबर की मनुष्यता की अन्दरूनी झलक मिलती है। उसने हिन्दुस्तान और उसके जानवरों, फूलों, पेडों, फलों का वर्णन किया है, यहाँ तक कि मेढकों को भी नहीं छोड़ा है! वह अपने वतन के ख़रबूज़ों, अंगूरों और फूलों के लिए रोता है। वह हिन्दुस्तानियों के बारे में बडी मायूसी जाहिर करता है। उसके कहने के मुताबिक तो हिन्दुस्तानियों के पक्ष में कोई बात ही नहीं है। शायद चार वर्षों तक लड़ाइयों में फँसा रहने के कारण वह हिन्दुस्तानियों को पहचान न सका और इस नये विजेता से सभ्य वर्गवाले दूर-दूर भी रहे। शायद एक अजनबी आदमी दूसरे देश के निवासियों की ज़िन्दगी, और सभ्यता के साथ आसानी से हिलमिल भी नहीं सकता है। जो कुछ भी हो, उसे न तो अफ़ग़ानों में—जो कुछ दिनों से हिन्दुस्तान में राज कर रहे थे—और न ज्यादातर हिन्दुस्तानियों में ही कोई अच्छी बात नज़र आई। वह एक कुशल निरीक्षक था और एक विदेशी की पक्षपात से भरी दृष्टि का ख़याल रखते हुए भी उसके बयान से मालूम होता है कि उत्तर भारत की हालत उस वक़्त बहुत ख़राब थी। वह दक्षिण भारत की तरफ़ बिलकुल न जासका।

बाबर ने लिखा है—"हिन्दुस्तान का साम्राज्य बड़ा लम्बा-चौड़ा घना बर
हुआ और मालदार है। उसकी पूर्व, दक्षिण, और पश्चिम की सरहदों पर समुद्र है
उसके उत्तर में काबुल, गज़नी और क़न्धार हैं। सारे हिन्दुस्तान की राजधान
दिल्ली है।" यह बात ध्यान में रखने लायक़ है कि बाबर सारे हिन्दुस्तान व
एक देश समझता था हालाँकि जब वह यहाँ आया था तब देश कई राज्यों
टुकड़े-टुकड़े हो रहा था। हिन्दुस्तान के एक ही देश होने का ख़याल इतिहास
शुरू से चला आरहा है।

हिन्दुस्तान का वर्णन करते-करते बाबर लिखता है:

"यह एक बहुत ही ख़ूबसूरत मुल्क है। हमारे देशों के मुक़ाबिले में यह एक दूसरी ही दुनिया है। इसके पहाड़ और नदियाँ, इसके जंगल और मैदान, इसके जानवर और पौधे, इसके निवासी और उनकी ज़बानें, इसकी हवा और बरसात, सब एक अलग ही तरह के हैं····सिंध को पार करते ही जो देश, पेड़, पत्थर, खानाबदोश कबीले और लोगों के रस्म और रिवाज दिखलाई पड़ते हैं वे ठेठ हिन्दुस्तान के ही हैं। साँप तक दूसरी तरह के हैं······हिन्दुस्तान के मेढक गौर करने लायक हैं। हालाँकि ये उसी जाति के हैं जिस जाति के हमारे यहाँ होते हैं, लेकिन ये पानी की सतह पर छः-सात गज़ तक दौड़ सकते हैं।"

इसके बाद वह हिन्दुस्तान के जानवरों, फूलों, पेड़ों और फलों की एक सूची देता है और इसके बाद वह यहाँ के रहनेवालों का वर्णन करता है:—

"हिन्दुस्तान के देश में इसे अच्छा कहने के लिए आराम की कोई भी चीज़ नह
है। यहाँ के निवासी ख़ूबसूरत नहीं हैं। उनको दोस्तों में मिल बैठने की ख़ूबियों व
या दिल खोलकर एक दूसरे से मिलने का या आपसी घरू बर्ताव का कुछ भी इल
नहीं है। उनमें न तो प्रतिभा है, न दिमाग़ की सूझ, न आचरण की नम्रता, न दय
या सहानुभूति, न दस्तकारी के कामों का ढांचा बनाने और उनको अच्छी तरह कर
की क़ाबलियत और कला कौशल की सूझ, न नक़शे और मकानात बनाने की योग्यत
या ज्ञान। उनके यहाँ न तो अच्छे घोड़े हैं, न अच्छा मांस, न अंगूर और न ख़रबूज़े
न अच्छे फल, न बर्फ़, न ठंडा पानी, न बाज़ारों में अच्छा खाना और रोटी, न हम्मा
(स्नानागार) न कॉलेज, न मोमबत्तियाँ, न मशालें, यहाँ तक कि शमादान भी नहीं हैं।
इसपर यह पूछने को तबियत हो उठती है कि आख़िर उनके यहाँ है क्या? मालूम होत
है जिस वक़्त बाबर ने ये बातें लिखीं उस वक़्त वह शायद बिलकुल दिक़ आगया होगा

बाबर कहता है—"हिन्दुस्तान की सबसे बड़ी अच्छाई यह है कि वह बहुत ब
देश है और यहाँ सोना और चाँदी ख़ूब है।······हिन्दुस्तान में एक सहूलियत व
बात यह भी है कि यहाँ हर पेशे और व्यापार के लोग बहुतायत से और चाहे जित

मिलते हैं। किसी काम या धंधे के लिए गिरोह का गिरोह तैयार मिलता है जिनके यहाँ वही काम-धंधा हजारों वर्षों से, पुश्त-दरपुश्त चला आरहा है।"

बाबर के संस्मरणों से मैंने कुछ लम्बे बयान यहाँ दिये हैं। ऐसी किताबों के जरिये हमको किसी व्यक्ति के बारे में जो बातें मालूम होती हैं वे किसी दूसरे वर्णन से नहीं मालूम हो सकतीं।

१५३० ई० में ४९ वर्ष की उम्र में बाबर की मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के बारे में एक मशहूर क़िस्सा है। उसका लड़का हुमायूँ बीमार पड़ा और कहते हैं कि उसकी मुहब्बत में बाबर अपनी जिंदगी भेंट करने के लिए तैयार होगया, बशर्ते कि उसका पुत्र अच्छा हो जाय। कहते हैं कि हुमायूँ बीमारी से अच्छा होगया और उसके अच्छा होने के कुछ ही दिन बाद बाबर की मौत होगई।

बाबर की लाश को लोग क़ाबुल ले गये और वहाँ उसी बाग़ में उसे दफ़नाया जो बाबर को बहुत पसंद था। जिन फूलों के लिए वह तरसता था, अन्त में वह उन्हीं के पास वापस चला गया।

: ८६ :

अकबर

४ सितम्बर, १९३२

अपने सेनापतित्व और अपनी सैनिक योग्यता के बल पर बाबर ने उत्तर हिन्दुस्तान का बहुत-सा भाग जीत लिया। उसने दिल्ली के अफ़गान सुलतान को हरा दिया और बाद में चित्तौड़ के बहादुर राणा साँगा--जो राजपूत इतिहास का एक मशहूर योद्धा है--के नेतृत्व में लड़नेवाले राजपूतों को हराया। यह एक ज्यादा मुश्किल काम था। लेकिन इससे भी ज्यादा मुश्किल काम वह अपने पुत्र हुमायूँ के लिए छोड़ गया। हुमायूँ बहुत सभ्य और विद्वान था लेकिन अपने पिता की तरह बहादुर न था। उसके नये साम्राज्य में सब जगह गड़बड़ फैल गई और आख़िर में १५४० ई० में, बाबर की मृत्यु के दस वर्ष बाद, शेरख़ां नामक बिहार के एक अफ़गान सरदार ने उसे हराकर हिन्दुस्तान के बाहर निकाल दिया। इस तरह दूसरा मुग़ल बादशाह इधर-उधर छिपता हुआ और बडी मुसीबतें झेलता हुआ मारा-मारा फिरने लगा। इसी दर-दर मारे फिरने की हालत में, नवम्बर सन् १५४२ ई० में, राजपूताना के रेगिस्तानों में, उसकी स्त्री को एक लड़का पैदा हुआ। रेगिस्तान में पैदा हुआ यह लड़का आगे जाकर अकबर के नाम से मशहूर हुआ।

हुमायूं भागकर ईरान पहुँचा और वहाँ के बादशाह शाह तामस्प (तहमास्प) ने उसे शरण दी। इस अर्से में उत्तरी भारत में शेरखां का दबदबा खूब फैला और उसने शेरशाह के नाम से पाँच वर्ष तक राज्य किया। इस थोड़े से समय में ही उसने बतला दिया कि वह बहुत क़ाबिल आदमी था। वह बड़ा ज़बरदस्त संगठन करनेवाला था और उसका शासन फ़ुरतीला और बहुत योग्य था। अपनी लड़ाइयों के बीच में भी उसने किसानों पर टैक्स लगाने की एक नई और अच्छी लगान प्रणाली जारी करने का समय निकाल लिया। वह एक सख़्त और कठोर व्यक्ति था लेकिन हिन्दुस्तान के सारे अफ़ग़ान बादशाहों में, और दूसरे बादशाहों में भी, वह सबसे योग्य और अच्छा था। लेकिन जैसाकि अक्सर योग्य स्वेच्छाचारी शासकों का हाल हुआ करता है—वह खुद ही सारे शासन का कर्त्ता-धर्त्ता था—इसलिए उसकी मृत्यु के बाद सारा ढांचा टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो गया।

हुमायूं ने इस गड़बड़ से फ़ायदा उठाया और १५५६ ई० में वह एक फ़ौज लेकर ईरान से लौटा, उसकी जीत हुई और सोलह वर्ष बाद वह फिर दिल्ली के सिंहासन पर बैठा। लेकिन वह ज्यादा दिन राज न कर सका। छः महीने बाद ही वह ज़ीने पर से गिरकर मर गया।

शेरशाह और हुमायूं के मक़बरों का मुक़ाबिला करने से एक दिलचस्प बात मालूम होती है। अफ़ग़ान शेरशाह का मक़बरा बिहार में सहसराम में है और यह इमारत उसीकी तरह कठोर, मज़बूत और शाही बनावट की है। हुमायूं का मक़बरा दिल्ली में है। यह एक चमकदार और ख़ूबसूरत इमारत है। इन पत्थर की इमारतों से सोलहवीं सदी के इन दो साम्राज्य के लिए लड़नेवालों के बारे में बहुत-कुछ अन्दाज़ लगाया जासकता है।

अकबर उस वक़्त तेरह वर्ष का था। अपने दादा की तरह इसे भी राजगद्दी बहुत जल्दी मिल गई। बैरमखां, जिसे खानबाबा भी कहते हैं, इसका निगहबान और रक्षक था। लेकिन चार ही वर्षों में अकबर इस निगहबानी और दूसरे के इशारे पर चलने से तंग आगया और उसने राज की बागडोर अपने हाथों में ले ली।

१५५६ ई० से १६०५ ई० तक, यानी क़रीब पचास वर्ष तक, अकबर ने हिन्दुस्तान पर राज किया। यह ज़माना योरप में निदरलैण्ड के विद्रोह का और इंग्लैंड में शेक्सपीयर का था। अकबर का नाम हिन्दुस्तान के इतिहास में जगमगा रहा है और कुछ बातों में वह हमें अशोक की याद दिलाता है। यह एक अजीब बात है कि ईसा से तीन सौ वर्ष पहिले का एक बौद्ध सम्राट और ईसा के बाद सोलहवीं सदी के हिन्दुस्तान का एक मुसलमान बादशाह, दोनों एक ही तरह से और क़रीब-

क़रीब एक ही आवाज़ में बोल रहे हैं। ताज्जुब नहीं कि यह ख़ुद हिन्दुस्तान की ही आवाज़ हो, जो उसके दो महान पुत्रों के ज़रिये से बोल रही हो। अशोक के बारे में हम सिर्फ़ उतना ही जानते हैं जितना उसने ख़ुद पत्थरों पर खुदा हुआ छोड़ा है। लेकिन अकबर के बारे में हम बहुत-कुछ जानते हैं। उसके दरबार के दो इतिहास लिखनेवालों ने बड़े लम्बे बयान लिखे हैं, और जो विदेशी उससे मिलने आये थे--ख़ासकर जेसुइट[1] लोग, जिन्होंने उसे ईसाई बनाने की बहुत कोशिश की थी--उन्होंने भी लम्बे-चौड़े हाल लिखे हैं।

यह बाबर की तीसरी पीढ़ी में था। लेकिन मुग़ल लोग अभी इस देश के लिए नये थे। वे विदेशी समझे जाते थे और उनका अधिकार उनकी फ़ौजी ताक़त के बल पर था। अकबर के राज ने मुग़ल ख़ानदान की जड़ जमादी और उसको ख़ास हिन्दुस्तान की ज़मीन का और उसके ख़यालों को बिलकुल हिन्दुस्तानी बना दिया। इसीके राज्य-काल में योरप में 'महान् मुग़ल' (Great Mughal) का ख़िताब काम में लाया जाने लगा। वह बहुत स्वेच्छाचारी था और उसकी ताक़त को कोई रोकनेवाला न था। उस वक़्त हिन्दुस्तान में राजा के अधिकारों को कम करने की कोई चर्चा तक नहीं थी। ख़ुशक़िस्मती से अकबर एक अक़्लमन्द स्वेच्छाचारी राजा था और वह हिन्दुस्तान के लोगों की भलाई के लिए दिन-रात कोशिश करता रहता था। एक तरह से तो वह हिन्दुस्तान में राष्ट्रीयता का जन्मदाता समझा जासकता है। ऐसे समय में, जबकि देश में राष्ट्रीयता का कुछ भी निशान न था और धर्म लोगों को एक-दूसरे से अलग कर रहा था, अकबर ने जुदा-जुदा मज़हबों के दावों का ख़याल न करके एक आम हिन्दुस्तानी राष्ट्रीयता के ख़याल को अधिक महत्त्व दिया। वह अपनी कोशिश में पूरी तरह कामयाब तो नहीं हुआ, लेकिन यह ताज्जुब की बात है कि वह कितना आगे बढ़ गया और उसकी कोशिशों को कितनी ज्यादा कामयाबी मिली।

लेकिन फिर भी जो कुछ कामयाबी अकबर को मिली वह सब बिना किसी की मदद के ही नहीं थी। जबतक कि ठीक मौक़ा न आगया हो और वातावरण सहायक न हो तब तक कोई भी बड़े काम में सफल नहीं हो सकता। एक बड़ा आदमी ख़ुद आपना वातावरण पैदा करके ज़माने को जल्दी बदल सकता है। लेकिन

१. जेसुइट—जेसुइट शब्द जीसस (ईसामसीह) से बना है। १५३९ ई० में एक 'सोसाइटी ऑफ जीसस' बनाई गई थी जिसके मेम्बर जेसुइट कहलाते थे। ये लोग दुनिया में घूमते फिरते थे और इनका सरदार 'ब्लैक-पोप' कहलाता था, हालाँकि ये अपना धर्मगुरु पोप को ही मानते थे।

वह बड़ा आदमी खुद भी तो जमाने और उस वक्त के वातावरण का ही फल होता है। इसी तरह अकबर हिन्दुस्तान के उस जमाने का फल था।

पिछले एक खत में मैंने तुमको बतलाया था कि जिन दो संस्कृतियों (तहज़ीबों) और मज़हबों का इस देश में साथ आपड़ा था उन दोनों के एकीकरण या मेल के लिए उस वक़्त हिन्दुस्तान में कैसी अन्दरूनी ताक़तें काम कर रहीं थीं। मैंने तुम को गृह-शिल्प की नई शैली और हिन्दुस्तानी भाषाओं खासकर उर्दू या हिन्दुस्तानी के विकास के बारे में लिखा था। और मैं तुमको रामानन्द, कबीर और गुरुनानक जैसे सुधारक और धार्मिक नेताओं के बारे में भी बतला चुका हूँ जिन्होंने इस्लाम और हिन्दू-धर्म के एक से पहलुओं पर ज़ोर देकर और उनके बहुत-से रस्म-रिवाज की निन्दा करके दोनों मज़हबों को एक-दूसरे के नज़दीक़ लाने की कोशिश की थी। उस वक्त एकीकरण या मेल का यह ख़याल चारों तरफ़ फैला हुआ था। और अकबर ने, जिसका दिमाग़ बहुत जल्दी प्रभावित होनेवाला और नई अच्छी-अच्छी बातों को पकड़ने वाला था, इसको जरूर इख्तियार किया होगा और बहुत-कुछ उसके मुताबिक़ काम किया होगा। असल में वह इसका ख़ास संरक्षक हो गया था।

एक राजनीतिज्ञ की हैसियत से भी वह इसी नतीजे पर पहुँचा होगा कि उसकी और क़ौम की ताक़त इसी एकीकरण या मेल से बढ़ सकती है। वह एक बहुत बहादुर योद्धा और क़ाबिल सेनानायक था। अशोक की तरह वह लड़ाई से नफ़रत नहीं करता था। लेकिन तलवार की विजय से वह प्रेम की विजय को अच्छी समझता था और यह भी जानता था कि ऐसी विजय ज्यादा टिकाऊ होती है। इसलिए वह पक्का इरादा करके इस कोशिश में लगा कि हिन्दू सरदारों और हिन्दू जनता का प्रेम प्राप्त करे। उसने ग़ैर मुस्लिमों से वसूल किया जानेवाला जज़िया, और हिन्दू-तीर्थ यात्रियों पर लगाया जानेवाला टैक्स बन्द कर दिया। उसने ख़ुद अपनी शादी एक राजपूत सरदार की लड़की से की; बाद में उसने अपने लड़के का विवाह भी एक राजपूत लड़की से किया; और उसने ऐसी मिश्रित शादियों को प्रोत्साहन दिया। उसने अपने साम्राज्य के सबसे ऊँचे ओहदों पर राजपूत सरदारों को तैनात किया। उसके सबसे बहादुर सिपहसालारों और सबसे क़ाबिल वज़ीरों और गवर्नरों में कितने ही हिन्दू थे। राजा मानसिंह को तो उसने कुछ दिनों के लिए क़ाबुल तक का गवर्नर बनाकर भेजा था। असल में राजपूतों और अपनी हिन्दू प्रजा को ख़ुश करने के लिए कभी-कभी तो वह इतना आगे बढ़ जाता था कि मुसलमान प्रजा के साथ अक्सर अन्याय हो जाता था। बहरहाल वह हिन्दुओं का प्रेम जीतने में कामयाब हुआ और उसकी नौकरी और उसे इज्जत देने के लिए चारों तरफ़ से क़रीब-क़रीब सब राजपूत लोग इकट्ठे

होने लगे, सिवाय राणा प्रताप के जिसने कभी सिर नहीं झुकाया। राणा प्रताप ने अकबर को नाममात्र के लिए भी अपना सम्राट मानने से इन्कार कर दिया। लड़ाई में हार जाने पर भी उसने अकबर का दास होकर ऐश-आराम की ज़िन्दगी बिताने के बनिस्बत जंगल में भटकना अच्छा समझा। ज़िन्दगी भर यह राजपूत दिल्ली के महान् सम्राट् से लड़ता रहा, और उसके सामने सिर झुकाना मंजूर नहीं किया। इस बांके राजपूत की यादगार राजपूताने की एक बेशक़ीमती धरोहर है और इसके नाम के साथ कितनी ही कहानियाँ जुड़ गई हैं।

इस तरह अकबर ने राजपूतों को अपनी तरफ़ कर लिया और वह जनता का प्यारा हो गया। वह पारसियों और उनके दरबार में आनेवाले जेसुइट पादरियों तक के प्रति बड़ा उदार था। लेकिन इस उदारता की वजह से और मुस्लिम शरियत से कुछ-कुछ लापरवाह होने की वजह से मुसलमान लोग उससे नाराज़ हो गये और उसके ख़िलाफ़ कई बलवे उठ खड़े हुए।

मैंने अकबर की बराबरी अशोक से की है। लेकिन इस मुक़ाबिले से तुम कहीं धोखे में न पड़ जाना। बहुत-सी बातों में वह अशोक से बिलकुल जुदा था। वह बड़े लम्बे-चौड़े मनसूबे रखने वाला था, और अपनी ज़िन्दगी के आख़िरी दिनों तक अपने साम्राज्य बढ़ाने का इरादा करता रहा और मुल्क जीतता रहा। जेसुइट लोगों ने लिखा है कि वह

> "होशियार और तेज़ दिमाग़ वाला था; वह फैसले करने में बड़ा सच्चा, मामलों में बहुत समझदार, और इन सबके अलावा रहमदिल, मिलनसार और उदार था। इन गुणों के साथ उसमें ऐसे लोगों की हिम्मत भी थी जो बड़े-बड़े जोखिम के कामों को उठाते हैं और पूरा करते हैं। वह बहुत-सी बातों में दिलचस्पी रखता था, और उनके बारे में जानने का इच्छुक रहता था, उसे न सिर्फ़ फ़ौजी और राजनैतिक बातों का ही बल्कि कला-कौशल का भी काफ़ी इल्म था···। जो लोग उसके व्यक्तित्व पर हमला करते थे उनपर भी इस राजा की दया और नम्रता की रोशनी फैलती रहती थी। उसे ग़ुस्सा बहुत कम आता था और अगर कभी आता था तो उस वक्त वह ग़ुस्से से पागल हो जाता था; लेकिन उसका यह ग़ुस्सा ज्यादा देर तक न टिकता था।"

याद रहे कि यह बयान किसी चापलूस मुसाहब का नहीं है, लेकिन एक विदेशी अजनबी का है, जिसे अकबर पर ग़ौर करने के काफ़ी मौके मिलते थे।

शारीरिक दृष्टि से अकबर अपूर्व ताक़तवाला और फुर्तीला था और वह जंगली और ख़ूँख़ार जानवरों के शिकार से ज्यादा किसी चीज़ से प्रेम नहीं करता था। एक सिपाही की हैसियत से तो वह इतना बहादुर था कि उसे अपनी जान तक की बिलकुल पर-

वाह न थी। उसकी आश्चर्यभरी ताक़त का अंदाजा आगरे से अहमदाबाद तक के उस मशहूर सफ़र से लगाया जा सकता है जो उसने नौ दिन में पूरा किया था। गुजरात में बलवा हो गया था और अकबर एक छोटी-सी फ़ौज के साथ राजपूताने के रेगिस्तान को पार करके साढ़े चारसौ मील की दूरी तय करके वहाँ जा धमका। यह एक ग़ैर-मामूली काम था। यह बतलाने की जरूरत नहीं है कि उस ज़माने में न तो रेलें थीं और न मोटरें।

लेकिन इन गुणों के अलावा महान पुरुषों में कुछ और भी होता है; उनमें एक तरह की आकर्षण-शक्ति होती है जो लोगों को उनकी तरफ खींचती है। अकबर में यह व्यक्तिगत आकर्षण शक्ति और जादू बहुत ज्यादा था; जेसुइट लोगों के अद्भुत बयान के मुताबिक उनकी आकर्षक आंखें "इस तरह झिलमिलाती थीं जिस तरह सूरज की रोशनी में समुद्र।" फिर इसमें ताज्जुब की क्या बात है, यदि यह पुरुष हमको आज तक आकर्षित करता हो और उसका बहादुराना और शाही व्यक्तित्व उन लोगों के बहुत ऊपर दिखलाई पड़ता हो जो सिर्फ़ बादशाह हुए हैं?

विजेता की दृष्टि से अकबर ने सारे उत्तर भारत और दक्षिण को भी जीत लिया था। उसने गुजरात, बंगाल, उडीसा, काश्मीर, और सिंध अपने साम्राज्य में मिला लिये। मध्य भारत और दक्षिण भारत में भी उसकी विजय हुई और उसने ख़िराज वसूल किया। लेकिन मध्य प्रान्त की रानी दुर्गावती को हराकर उसने अच्छा नहीं किया। यह रानी एक बहादुर और न्यायप्रिय रानी थी और उसने अकबर को कुछ नुक़सान नहीं पहुँचाया था। लेकिन महत्वाकांक्षा और साम्राज्य को बढ़ाने की ख़्वाहिश इन छोटी-मोटी बातों की बिलकुल परवाह नहीं करती है। दक्षिण में भी उसकी फ़ौजों ने अहमदनगर की रानी (दरअसल वह रानी न थी बल्कि राज की देख-रेख करने के लिए 'रीजेंट' थी) मशहूर चांदबीबी से लड़ाई लडी। इस औरत में दिलेरी और क़ाबलियत थी और उसने युद्ध में जो लोहा लिया उसका असर मुग़ल फ़ौज पर इतना पड़ा कि उन्होंने अच्छी शर्तों पर उसके साथ सुलह मंजूर करली। बदक़िस्मती से कुछ दिन बाद उसके ही कुछ असन्तुष्ट सिपाहियों ने उसे मार डाला।

अकबर की फ़ौजों ने चित्तौड़ पर भी घेरा डाला। यह राणा प्रताप से पहले की बात है। जयमल ने बडी बहादुरी से चित्तौड़ की रक्षा की। उसके मारे जाने पर भयंकर 'जौहर' व्रत फिर हुआ और चित्तौड़ जीत लिया गया।

अकबर ने अपने चारों तरफ़ बहुत से योग्य सहायक इकट्ठा कर लिये जो उसके प्रति बड़े वफ़ादार थे। इनमें मुख्य फ़ैजी और अबुलफ़जल दो भाई थे, और एक था

बीरबल जिसके बारे में अनगिनती कहानियाँ कही जाती हैं। अकबर का अर्थ-मंत्री था टोडरमल। इसीने लगान के सारे तरीक़े को बदल दिया था। तुम्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि उन दिनों ज़मींदारी प्रथा न थी और न ज़मींदार थे, न ताल्लुक़ेदार। रियासत ख़ुद किसानों या रैयत से लगान वसूल करती थी। यही प्रणाली आजकल रैयतवारी प्रणाली कहलाती है। आज कल के ज़मींदार अंग्रेज़ों के बनाये हुए हैं।

जयपुर का राजा मानसिंह अकबर के सबसे क़ाबिल सिपहसालारों में से था। अकबर के दरबार में एक और मशहूर आदमी था—गवैयों का सिरताज तानसेन, जिसे आज हिन्दुस्तान के सारे गवैये अपना गुरू मानते हैं।

शुरू में अकबर की राजधानी आगरा थी, जहां उसने क़िला बनवाया। इसके बाद उसने आगरे से १५ मील दूर फ़तहपुर-सीकरी में एक नया शहर बसाया। उसने यह जगह इसलिए पसन्द की कि यहाँ शेख़ सलीम चिश्ती नाम के एक मुस्लिम संत रहते थे। यहाँ उसने एक आलीशान शहर बनवाया जो उस वक़्त के एक अँग्रेज़ मुसाफ़िर के लफ़्ज़ों में "लन्दन से ज्यादा आलीशान" था और यही पन्द्रह वर्ष से ज्यादा उसके साम्राज्य की राजधानी रहा। बाद में उसने लाहौर को अपनी राजधानी बनाया। अकबर का दोस्त और मंत्री अबुल फ़ज़ल लिखता है—"बादशाह सलामत आलीशान इमारतों के नक़शे सोचते हैं और दिमाग़ के काम को मिट्टी और पत्थर का जामा पहिना देते हैं।"

फ़तहपुर-सीकरी और उसकी ख़ूबसूरत मस्जिद, उसका ज़बरदस्त बुलंद दरवाज़ा और बहुत-सी दूसरी आलीशान इमारतें आज भी मौजूद हैं। यह शहर उजड़ गया है और उसमें किसी तरह की हलचल अब नहीं है; लेकिन उसकी गलियों में और उसके चौड़े सहनों में एक मिटे हुए साम्राज्य के भूत चलते हुए मालूम पड़ते हैं।

हमारा मौजूदा इलाहाबाद शहर भी अकबर का बसाया हुआ है लेकिन जगह यह ज़रूर बहुत पुरानी है और प्रयाग नगर तो रामायण के युग से चला आरहा है। इलाहाबाद का क़िला अकबर का बनवाया हुआ है।

एक नये साम्राज्य को जीतने और उसे मज़बूत बनाने में अकबर को ज़िन्दगी भर कोशिश करनी पड़ी होगी। लेकिन इसके अन्दर अकबर का एक और विचित्र गुण नज़र आता है। यह थी उसकी असीम ज्ञान पिपासा—दुनिया की वस्तुओं को जानने की इच्छा और उसकी सत्य की खोज। जो कोई किसी भी विषय को समझा सकता था, उसे बुलाया जाता था। अलग-अलग मज़हबों के लोग इबादतख़ाने में उसके चारों तरफ़ बैठते थे और इस महान बादशाह को अपने धर्म में शामिल करने

की आशा रखते थे। वे अक्सर एक दूसरे से झगड़ पड़ते थे और अकबर बैठा-बैठा उनकी बहस सुनता रहता और उनसे बहुत-से सवाल करता रहता था। उसे शायद यह विश्वास हो गया था कि सत्य का ठेका किसी ख़ास धर्म या फ़िरक़े ने नहीं ले रक्खा है और उसने यह ऐलान कर दिया था कि वह धर्म में सबके साथ सहिष्णुता के सिद्धान्त को मानता है।

उसके राज्यकाल के इतिहास-लेखक बदायूनी[1] ने, जो ऐसे बहुत से जलसों में शामिल होता रहा होगा, अकबर का बड़ा मज़ेदार बयान लिखा है, जो मैं यहां देना चाहूँगा। बदायूनी ख़ुद एक कट्टर मुसलमान था और वह अकबर की इन कार्रवाइयों को बिलकुल नापसन्द करता था। वह कहता है—"जहांपनाह हरेक की राय इकट्ठी करते थे, ख़ासकर ऐसे लोगों की जो मुसलमान नहीं थे, और उनमें से जो उनको अच्छी लगती उन्हें रख लेते और जो उनके मिज़ाज के ख़िलाफ़ और उनकी इच्छा के विरुद्ध जातीं उन सबको फेंक देते थे। शुरू बचपन से जवानी तक और जवानी से बुढ़ापे तक, जहाँपनाह बिलकुल अलग-अलग तरह की हालतों में से और सब क़िस्म के मज़हबी क़ायदों और फ़िरक़ों के विश्वासों में से गुज़रे हैं, और जो कुछ किताबों में मिल सकता है उस सबको उन्होंने चुनाव करने के उस विचित्र गुण से, जो ख़ास उन्हींमें पाया जाता है, इकट्ठा किया है और खोज करने की उस भावना से इकट्ठा किया है, जो मुस्लिम शरियत के बिलकुल ख़िलाफ़ है। इस तरह उनके दिल के आईने पर किसी मूल सिद्धान्त के आधार पर एक विश्वास का नक़्शा खिंच गया है और उनपर जो-जो असर पड़े हैं उनका नतीजा यह हुआ कि उनके दिल में पत्थर की लकीर की तरह यह ज़बर्दस्त यक़ीन पैदा होता और जमता गया है कि सब मज़हबों में समझदार आदमी हैं और सब जातियों में संयमी विचारक और अद्भुत शक्तिवाले आदमी हैं। अगर कोई सच्चा ज्ञान इस तरह हर जगह मिल सकता हो तो सत्य किसी एक ही मज़हब में बन्द होकर कैसे रह सकता है? ...."

तुम्हें याद होगा कि इस ज़माने में योरप में मज़हबी मामलों में बड़ी ज़बर्दस्त असहिष्णुता फैली हुई थी। स्पेन, निदरलैण्ड और दूसरे देशों में इनक्विज़िशन का दौर-दौरा था और कैथलिक और कोलविनिस्ट दोनों एक दूसरे को सहन करना बड़ा भारी पाप समझते थे।

१. **बदायूनी**—इसका पूरा नाम मिर्ज़ा अब्दुल क़ादिर बदायूनी (बदायूँ का रहनेवाला) था। इसने मुग़ल साम्राज्य का इतिहास लिखा है जिसके हरेक पन्ने पर इसके कट्टरपन की छाप है। यह हिन्दुओं से बहुत चिढ़ता था।

अकबर ने वर्षों तक सब धर्मों के आलिमों से अपनी धर्म-चर्चा और बहस जारी रक्खी, लेकिन आख़िर में वे उकता गये और उन्होंने अकबर को अपने-अपने मज़हब में मिला सकने की उम्मीद बिलकुल छोड़ दी। जब हरेक मज़हब में सच्चाई का कुछ न कुछ हिस्सा था तो वह उनमें से किसी एक को कैसे चुन सकता था? जेसुइट लोगों के लिखे मुताबिक़ वह कहा करता था—"चूंकि हिन्दू लोग अपने धर्म को अच्छा समझते हैं और इसी तरह मसलमान और ईसाई भी समझते हैं; तो फिर हम इनमें से किसको अपनावें?" अकबर का सवाल बड़ा मानी रखनेवाला था लेकिन जेसुइट लोग इससे चिढ़ते थे और उन्होंने अपनी किताब में लिखा है—"इस बादशाह में हम उस नास्तिक की सी आम ग़लती देखते हैं जो बुद्धि को विश्वास का ग़ुलाम बनाने से इनकार करता है और जिस बात की गहराई को उसका कमज़ोर दिमाग़ न पा सके उसे सच न क़बूल करता हुआ उन मामलों को अपने अधकचरे फ़ैसले पर छोड़कर सन्तुष्ट हो जाता है, जो इन्सान की सबसे ऊँची विचार शक्ति की हद से भी बाहर हैं।" अगर नास्तिक की यही परिभाषा है तो जितने ज्यादा नास्तिक हों उतना ही अच्छा!

अकबर का उद्देश्य क्या था, यह साफ़ नहीं मालूम पड़ता। क्या वह इस सवाल को ख़ाली राजनैतिक निगाह से देखता था? सबके लिए एक राष्ट्रीयता ढूंढ निकालने के इरादे से कहीं वह भिन्न-भिन्न मज़हबों को ज़बरदस्ती एक ही रास्ते में तो नहीं डालना चाहता था? क्या अपने उद्देश्य और उसकी तालाश में वह धार्मिक था? मैं नहीं जानता। लेकिन मेरा ख़याल है कि वह मज़हबी सुधारक की बनिस्बत राजनीतिज्ञ ज्यादा था। उसका उद्देश्य चाहे जो रहा हो, उसने वाक़ई एक नये मज़हब 'दीने इलाही' का ऐलान कर दिया जिसका पीर वह ख़ुद था। दूसरी बातों की तरह मज़हबी मामलों में भी उसकी मनमानी में कोई दख़ल नहीं दे सकता था और उसके आगे लेटना, क़दम चूमना वग़ैरा की क़वायद करनी पड़ती थी। यह नया मज़हब चला नहीं। इसने तो उलटा मुसलमानों को चिढ़ा दिया।

अकबर हुकूमतपरस्ती का तो ख़ास पुतला था। फिर भी यह सोचने में मज़ा आता है कि उदार राजनैतिक विचारों का उस पर क्या असर हुआ होता। अगर मज़हबी आज़ादी थी तो लोगों को कुछ राजनैतिक आज़ादी क्यों न हो? विज्ञान की तरफ़ वह ज़रूर ख़ूब खिंचा होता। बदक़िस्मती से ये ख़यालात, जिन्होंने उस वक़्त योरप के कुछ लोगों को हैरान करना शुरू कर दिया था, उस ज़माने के हिन्दुस्तान में चालू नहीं हुए थे। छापेखानों का भी उस ज़माने में कोई इस्तेमाल नहीं नज़र आता। इसलिए शिक्षा का दायरा बहुत छोटा था। यह जानकर तुमको

सचमुच ताज्जुब होगा कि अकबर बिलकुल अनपढ़ था, यानी वह बिलकुल पढ़-लिख नहीं सकता था। लेकिन फिर भी वह बहुत ऊँचे दर्जे का शिक्षित था। और किताबें पढ़वा कर सुनने का बड़ा भारी शौक़ीन था। उसके हुक्म से बहुत सी संस्कृत किताबों का फ़ारसी में तर्जुमा किया गया।

यह भी एक मार्के की बात है कि उसने हिन्दू विधवाओं के सती होने के रिवाज को बन्द करने का हुक्म निकाला था और लड़ाई के क़ैदियों को ग़ुलाम बनाये जाने की भी मनाई कर दी थी।

चौंसठ साल की उम्र में, क़रीब पचास वर्ष राज करने के बाद, अक्तूबर सन् १६०५ ई० में अकबर की मृत्यु हुई। उसकी लाश आगरे के पास सिकन्दरे में एक ख़ूबसूरत मक़बरे में दफ़न की हुई है।

यह ख़त बहुत ही लम्बा हो गया है। यह उन बयानों का क़सूर है जो मैंने इसमें उद्धृत किये हैं। लेकिन मैं एक बात और कहना चाहता हूँ। अकबर के राज्यकाल में उत्तर हिन्दुस्तान—काशी में—एक आदमी हुआ जिसका नाम युक्तप्रान्त के हरेक ग्रामीण की ज़बान पर है। वहाँ वह इतना मशहूर है और इतना लोकप्रिय है जितना अकबर या दूसरा कोई बादशाह नहीं हो सकता। मेरा मतलब तुलसीदास से है जिन्होंने हिन्दी में रामचरित मानस या रामायण लिखी है।

: ९० :

भारत में मुग़ल साम्राज्य का पतन

९ सितम्बर, १९३२

मेरी इच्छा होती है कि अकबर के बारे में मैं तुमको कुछ और बतलाऊँ लेकिन इस इच्छा को दबाना पडेगा। मगर पोर्चुगीज पादरियों के बयानों में से कुछ और बातें यहाँ देने के लोभ को मैं नहीं रोक सकता। उनकी राय मुसाहिबों की राय से बहुत ज्यादा क़ीमती है और यह बात भी ध्यान में रखने की है कि जब अकबर ईसाई न बना तो उसकी तरफ़ से उनको बहुत निराशा हुई थी। फिर भी वे लिखते हैं कि "वह दरअसल एक बड़ा बादशाह था; क्योंकि वह जानता था कि अच्छा शासक वही हो सकता है, जो अपनी रिआया की फ़रमाबरदारी, इज्जत, मुहब्बत और डर सब साथ पासके। यह बादशाह सब का प्यारा था, बडे आदमियों पर सख़्त, छोटे आदमियों पर मेहरबान, और सब लोगों के साथ—चाहे वह ऊँच हों या नीच, पडोसी हों या अजनबी, ईसाई हों या मुसलमान या हिन्दू—एकसां इन्साफ़

करता था; इसलिए हरेक आदमी यही समझता था कि बादशाह उसीके पक्ष में है।" जेसुइट लोग आगे कहते हैं—"अभी वह राजकीय मामलों में मशग़ूल है या अपनी प्रजा को मुजरा दे रहा है तो दूसरे ही क्षण वह ऊँटों के बाल कतरता हुआ या पत्थर फोड़ता हुआ या लकड़ी काटता हुआ या लोहा कूटता हुआ नज़र आता था; और इन सब कामों को वह इतनी होशियारी से करता था मानो ख़ुद अपने ही ख़ास पेशे को कर रहा हो।" हालांकि वह एक शक्तिशाली और स्वेच्छाचारी राजा था लेकिन वह मज़दूरी को अपनी शान के ख़िलाफ़ नहीं समझता था, जैसा कि आजकल के कुछ लोग ख़याल करते हैं।

आगे चलकर हमको यह बतलाया गया है कि "वह बहुत थोड़ा खाना खाता था और साल में सिर्फ़ तीन या चार महीने ही माँस खाता था...... । सोने के लिए वह बड़ी मुश्किल से रात के तीन घंटे निकालता था...... । उसकी याद्दाश्त ग़ज़ब की थी। उसके हज़ारों हाथी थे लेकिन वह सबके नाम जानता था; अपने घोड़ों के, हिरनों के और कबूतरों के नाम भी उसे याद थे !" इस अद्भुत स्मरणशक्ति पर मुश्किल से भरोसा किया जासकता है और शायद इस बारे में कुछ बढ़ाकर भी लिखा गया हो। लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि उसका दिमाग़ अद्भुत था। "हालांकि वह पढ़ लिख नहीं सकता था लेकिन अपनी बादशाहत में होने वाली तमाम बातें उसे मालूम थीं।" और "उसकी ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा" इतनी ज़बरदस्त थी कि वह "सब बातें एक साथ सीखने की कोशिश करता था, जैसे भूखा आदमी सारे भोजन को एक ही लुक़मे में निगल जाना चाहता हो।"

ऐसा था यह अकबर। लेकिन वह स्वेच्छाचारिता का पुतला था और हाँलाकि उसने प्रजा को बहुत कुछ महफ़ूज़ कर दिया था और किसानों पर से करों का बोझ भी हलका कर दिया था, लेकिन उसके दिमाग़ में यह बात न आई थी कि शिक्षा और तालीम के ज़रिये आम लोगों की ज़िन्दगी को ऊँचा उठावे। वह ज़माना हर जगह स्वेच्छाचारिता का था, मगर दूसरे स्वेच्छाचारी राजाओं के मुक़ाबिले में अकबर बादशाह और उसका व्यक्तित्व बड़ी शान के साथ चमकते हैं।

हालांकि अकबर बाबर की तीसरी पीढ़ी में था लेकिन हिन्दुस्तान में मुग़ल राजघराने की नींव डालनेवाला असल में यही था। चीन के कुबलाई खां के युआन राजघराने की तरह, अकबर के बाद मुग़ल बादशाहों का एक हिन्दुस्तानी राजवंश बन गया। अकबर ने अपने साम्राज्य को मज़बूत बनाने के लिए जो बड़ी भारी मेहनत की थी उसका नतीजा यह हुआ कि उसका राजघराना उसकी मृत्यु के बाद सौ वर्ष से ज़्यादा राज्य करता रहा।

अकबर के बाद तीन और क़ाबिल बादशाह हुए लेकिन उनमें कोई ग़ैर मामूली बात नहीं थी। जब कोई बादशाह मरता तो उसके पुत्रों में राजगद्दी के लिए बड़े शर्मनाक लड़ाई-झगड़े होते। महलों की साजिशें और विरासत की लड़ाइयाँ होती थीं। पुत्रों का पिताओं से विद्रोह, भाइयों का भाइयों से विद्रोह, क़त्ल और रिश्तेदारों की आँखें फोड़ना—मतलब यह कि स्वेच्छाचारिता और निरंकुश शासन के साथ जितनी शर्मनाक बातें हो सकती हैं वे सब होती थीं। शान-शौकत और तड़क-भड़क ऐसी थी जिसकी बराबरी कहीं न थी। तुम्हें याद होगा कि यह वह ज़माना था जब फ़्रांस में चौदहवाँ लुई, जो दुनिया का चमत्कार कहलाता था, राज करता था जिसने वर्साई बनवाया था और जिसका दरबार शान-शौक़तवाला था। लेकिन मुग़ल के ऐश्वर्य के मुक़ाबिले में लुई की शान-शौकत फीकी जँचती थी। शायद ये मुग़ल बादशाह उस ज़माने के बादशाहों में सब से ज्यादा मालदार थे। लेकिन फिर भी कभी-कभी अकाल, महामारी और रोग फैल जाते थे और बेशुमार आदमियों को खा जाते थे, जबकि दूसरी तरफ़ बादशाही दरबार आराम से मौज मारता था।

अकबर के ज़माने की धर्मों की सहिष्णुता उसके पुत्र जहांगीर के राज्य में भी जारी रही, लेकिन फिर यह धीरे-धीरे ग़ायब होती गई और ईसाईयों और हिन्दुओं को थोड़ा बहुत तंग किया जाने लगा। बाद में, औरंगज़ेब के राज्य में, हिन्दुओं के मन्दिरों को तोड़कर और बदनाम जज़िया टैक्स को दुबारा जारी करके हिन्दुओं पर ज़ुल्म करने की जान-बूझकर कोशिश की गई। साम्राज्य की जो नींव अकबर ने इतनी मेहनत से डाली थी वह इस तरह एक-एक पत्थर करके खोद डाली गई और साम्राज्य एकदम भहराकर गिर पड़ा।

अकबर के बाद जहाँगीर गद्दी पर बैठा जो उसकी राजपूत रानी का पुत्र था। उसने कुछ हद तक अपने पिता की रस्म को जारी रक्खा लेकिन शायद उसे हुकूमत की बनिबस्बत कला और चित्रकारी और बाग़ों तथा फूलों में ज्यादा दिलचस्पी थी उसके यहाँ बड़ी चित्रशाला या आर्ट-गैलरी थी। वह हर साल काश्मीर जाता था और मेरे ख़याल से श्रीनगर के पास शालिमार और निशात नाम के मशहूर बाग़ इसी ने लगवाये थे। जहाँगीर की बेगम—या यों कहो कि उसकी बहुतसी बेगमों से एक बेगम सुन्दरी नूरजहाँ थी जिसके हाथों में राज की असली ताक़त थी। ऐतमादुद्दौला की क़ब्र पर ख़ूबसूरत इमारत जहाँगीर के ही राज में बनी थी। जब कभी मैं आगरे जाता हूँ तो शिल्प-कला के इस रत्न को देखने की कोशिश करता हूँ ताकि उसकी सुन्दरता से अपनी आँखों को तृप्त कर सकूँ।

जहाँगीर के बाद उसका पुत्र शाहजहाँ गद्दी पर बैठा और उसने तीस वर्ष यानी

१६२८ से १६५८ तक राज्य किया। यह फ़्रांस के चौदहवें लुई का समकालीन था और इसके राज्य में जहाँ मुग़लों की शान शौक़त सबसे ऊँची चोटी पर पहुँच गई, वहाँ उसकी गिरावट के भी बीज नज़र आने लगे थे। बादशाह के बैठने लिए बेशक़ीमती जवाहरात से जड़ा हुआ मशहूर तख़्त-ताऊस बनाया गया और इसीके राज्य में आगरे में जमना के किनारे 'सुन्दरता का स्वप्न' वह ताजमहल बना। शायद तुम्हें मालूम होगा कि यह उसकी प्यारी बेगम मुमताजमहल का मक़बरा है। शाहजहाँ ने बहुत से ऐसे काम किये जिनसे उसकी इज़्ज़त और शान को बट्टा लगता है। वह मज़हब के मामले में असहिष्णु था और जब दक्षिण गुजरात में ज़ोरों का अकाल पड़ा तो उसनें अकाल-पीडितों की मदद के लिए कुछ भी न किया। उसकी रिआया की इस कम्बख़्ती और ग़रीबी के मुक़ाबिले में उसके धन और ऐश्वर्य—दौलत और हश्मत बडे घृणित मालूम पड़ते हैं। फिर भी पत्थर और संगमरमर में उसने सुन्दरता के जो आश्चर्य छोडे हैं उनकी वजह से शायद उसकी बहुत-सी बातें माफ़ की जासकती हैं। इसीके वक़्त में मुग़ल शिल्प-कला अपनी चोटी पर पहुँची थी। ताज के अलावा इसने आगरे की मोती मस्जिद, दिल्ली की जामा मस्जिद, और दिल्ली के महलों में 'दीवाने आम' और 'दीवाने खास' बनवाये। इन इमातों में ऊँचे दरजे की सादगी है और इनमें से कुछ तो बडी विशाल, सुडौल और मनोहर हैं और अपनी ख़ूबसूरती में परियों के समान हैं।

लेकिन परिस्तान की इस ख़ूबसूरती के पीछे उस रिआया की बढ़ती हुई ग़रीबी थी जिससे इन महलों के लिए पैसा वसूल किया जाता था, जब कि उनमें से बहुत-से बेचारों के पास रहने को मिट्टी के झोंपडे भी न थे। निरंकुश स्वेच्छाचारिता का बोलबाला था और सम्राट या उसके वाइसराय और हाकिमों को नाराज़ करनेवालों को ख़ौफ़नाक सज़ायें दी जाती थीं। दरबार की साज़िशों में मैकियावैली के उसूल काम में लाये जाते थे। अकबर की दरियादिली, सहिष्णुता और अच्छी राज्य-व्यवस्था गुज़री हुई बात होगई थी। घटनायें विनाश की ओर ले जारही थीं।

इसके बाद महान मुग़ल ख़ानदान का आख़री आदमी औरंगज़ेब आया। उसने अपने शासन की शुरुआत अपने पिता को जेलख़ाने में डालकर की। उसने १६५९ से १७०७ ई० तक ४८ वर्ष राज्य किया। वह अपने दादा जहाँगीर की तरह न तो कला और साहित्य से प्रेम करता था और न उसे अपने पिता शाहजहाँ की तरह शिल्प-कला से प्रेम था। वह तो एक पक्का ज़ाहिद यानी तपस्वी और कट्टर मुसलमान था, जो अपने मज़हब के सिवा और किसी मज़हब को सहन नहीं करता था। औरंग-ज़ेब बहुत सादामिज़ाज और क़रीब-क़रीब संन्यासी था। उसने हिन्दुओं पर ज़ुल्म

करने की नीति जानबूझ कर इख़्तियार की। जानबूझ कर ही उसने अकबर की, सबको खुश रखने और सबको मिलाने की, नीति को उलट दिया और इस तरह जिस नींव पर अभीतक साम्राज्य टिका हुआ था उसको बिलकुल हटा दिया। उसने हिंदुओं पर जज़िया टैक्स फिर लगा दिया। जहाँतक होसका हिन्दुओं से सब ओहदे छीन लिये। जिन राजपूत सरदारों ने अकबर के वक़्त से इस राजघराने की मदद की थी उन्हींको उसने नाराज़ करके राजपूतों से लड़ाई मोल ले ली। उसने हज़ारों हिन्दू मन्दिरों को बरबाद करवा दिया और पुराने ज़माने की कितनी ही इमारतें धूल में मिला दी गईं। जहाँ एक ओर दक्षिण में उसका साम्राज्य बढ़ रहा था, बीजापुर और गोलकुंडा उसके कब्ज़े में आगये थे और दूर दक्षिण से उसे ख़िराज मिलने लगा था, वहाँ दूसरी ओर इस साम्राज्य की नींव ढीली होकर दिन-पर-दिन कमज़ोर होती जा रही थी और चारों तरफ़ दुश्मन पैदा होरहे थे। जज़िया के विरोध में हिन्दुओं की तरफ़ से जो अर्ज़ी उसे पेश की गई थी उसमें लिखा था कि यह कर "इन्साफ़ के ख़िलाफ़ है, यह नीति के भी ख़िलाफ़ है क्योंकि यह देश को निर्धन कर देगा, इसके अलावा यह एक बिलकुल नई बात है और हिन्दुस्तान के नियमों को भंग करती है।" साम्राज्य की जो हालत हो रही थी उसके बारे में उसमें लिखा था—"जहाँपनाह के राज में बहुत से लोग साम्राज्य के ख़िलाफ़ हो गये हैं जिसका लाज़मी नतीज़ा यह होगा कि और भी हिस्से हाथ से निकल जावेंगे क्योंकि सब जगह बेरोक-टोक मारकाट और लूट-खसोट का बाज़ार गरम हो रहा है। आपकी रिआया पैरों तले रौंदी जाती है। आपके साम्राज्य का हरेक सूबा ग़रीब होता जारहा है, आबादी कम हो रही है और मुसीबतें बढ़ती जारही हैं।"

आम लोगों में फैली हुई यह मुसीबत और ग़रीबी उन भारी तब्दीलियों की शुरूआत थी जो अगले पचास-साठ वर्षों में हिन्दुस्तान में होने वाली थीं। औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद महान् मुग़ल साम्राज्य का एकदम और पूरी तौर पर विनाश इन्हीं तब्दीलियों में से एक था। बडी-बडी तब्दीलियों और बडी-बडी तहरीकों के असली कारण आर्थिक हुआ करते हैं। हम देख चुके हैं कि योरप और चीन के बडे-बडे साम्राज्यों के पतन के शुरू में, और साथ-साथ, आर्थिक गिरावट हुई और बाद में क्रान्ति होगई। यही हाल हिन्दुस्तान में हुआ।

जिस तरह तमाम साम्राज्यों का पतन हुआ करता है, उसी तरह मुग़ल साम्राज्य का पतन उसीकी अन्दरूनी कमज़ोरियों की वजह से हुआ। वह बिल्कुल टुकडे-टुकडे हो गया। लेकिन हिन्दुओं में जो विद्रोह की भावना पैदा हो रही थी और जो औरंगज़ेब की नीति की वजह से उबलने पर आगई थी, उससे इस सिलसिले में

बड़ी मदद मिली। मगर यह खास तरह की मजहबी हिन्दू राष्ट्रीयता औरँगजेब के राज्य से पहले ही जड़ पकड़ चुकी थी और बहुत मुमकिन है कि कुछ-कुछ इसीकी वजह से औरँगजेब इतना कड़ुवा और असहिष्णु हो गया हो। मराठे और सिक्ख इस हिन्दू जागृति की तेज नोक थे और, जैसा कि मैं अगले ख़त में लिखूंगा, मुग़ल साम्राज्य का ख़ातमा इन्हींके हाथों से हुआ। लेकिन इस क़ीमती विरासत से वे कुछ फ़ायदा न उठा सके। जब कि ये लोग आपस में लड़ रहे थे, अँग्रेज़ चुपचाप चालाकी के साथ घुस आये और लूट का माल हड़प कर गये।

तुमको यह जानकर दिलचस्पी होगी कि जब मुग़ल सम्राट फ़ौज के साथ सफ़र करते थे तो उनका शाही डेरा किस तरह का होता था? वह एक बड़ा ज़बरदस्त मजमा होता था जिसका घेरा तीस मील और आबादी क़रीब पांच लाख होती थी! इस आबादी में सम्राट के साथ चलनें वाली फ़ौज तो होती ही थी लेकिन उसके अलावा इस चलते-फिरते भारी शहर में लाखों दूसरे लोग और सैंकड़ों बाज़ार होते थे। इन्हीं चलते-फिरते डेरों में उर्दू यानी 'लश्कर' की ज़बान का विकास हुआ।

मुग़ल काल के बहुत-से चित्र अब भी मिलते हैं जो बड़े सुन्दर और बारीक हैं। सम्राटों की तसवीरों की तो एक पूरी चित्रशाला ही मिलती है। बाबर से लगा कर औरँगजेब तक तमाम बादशाहों के व्यक्तित्व को ये तसवीरें बड़ी खूबी के साथ प्रकट करती हैं।

मुग़ल सम्राट दिन में कम से कम दो बार झरोखे में से लोगों को दर्शन दिया करते थे और अर्जियाँ लिया करते थे। जब १९११ ई० में अंग्रेज़ सम्राट जार्ज पंचम दिल्ली में ताजपोशी के दरबार के लिए हिन्दुस्तान आये थे तो उनका भी मुजरा इसी तरह करवाया गया था। अँग्रेज़ लोग समझते हैं कि हिन्दुस्तान का राज्य उनको मुग़लों से विरासत में मिला है और इसलिए वे शान-शौक़त और बेहूदा तड़क-भड़क में मुग़लों की नक़ल उतारने की कोशिश करते हैं। मैं तुमको पहले बतला चुका हूँ कि अँग्रेज़ बादशाह को मुग़ल शासकों का ख़िताब 'कैसरे हिन्द' तक दे दिया गया है। आजकल भी दुनिया भर में इतनी शान-शौक़त और नुमायशी ठाठ-बाट शायद और कहीं न मिले, जितना हिन्दुस्तान में अँग्रेज़ी वाइसराय के व्यक्तित्व के साथ लगा हुआ है।

मैंने अभी तक तुम्हें यह नहीं बतलाया है कि पिछले मुग़ल बादशाहों का विदेशियों के साथ कैसा ताल्लुक़ था। अकबर के दरबार में पोर्चुगीज पादरियों पर ख़ास मेहरबानी रहती थी और योरप की दुनिया के साथ अकबर का जो कुछ भी सम्पर्क था, वह इन्हींके ज़रिये था। अकबर इनको योरप की सबसे ताक़तवर क़ौम समझता

था क्योंकि समुद्र पर इनका क़ब्ज़ा था। अँग्रेज़ों का उस वक़्त पता भी न था। अकबर की गोआ लेने की बडी इच्छा थी और उसने उस पर हमला भी किया मगर कामयाबी न मिली। मुग़ल लोग समुद्र-यात्रा को पसंद नहीं करते थे और जहाज़ी शक्ति के सामने उनकी दाल न गलती थी। यह एक विचित्र बात है क्योंकि उस ज़माने में पूर्व बंगाल में जहाज़ बनाने का काम ज़ोरों से चल रहा था। लेकिन ये जहाज़ ज़्यादातर माल लादने के काम के थे। समुद्र पर मुक़ाबिला करने की यह लाचारी मुग़ल साम्राज्य के पतन की एक वजह बतलाई जाती है। अब जहाज़ी ताक़त का ज़माना आगया था।

जब अँग्रेज़ लोगों ने मुग़ल दरबार में आने की कोशिश की तो पोर्चुगीज़ों को उनसे डाह हुई और उन्होंने जहांगीर के कान उनके ख़िलाफ़ भरने में कोई कसर न उठा रक्खी। लेकिन इंग्लैंड के जेम्स प्रथम का एलची सर टामस रो १६१५ ई० में किसी तरह जहांगीर के दरबार में जापहुँचा। उसने साम्राट से बहुत-सी सहूलियतें हासिल कर लीं और ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यापार की जड़ जमा दी। इसी अर्से में अँग्रेज़ी बेडे ने हिन्दुस्तान के समुद्र में पुर्तगाल के बेडे को हरा दिया। इंग्लैंड का सितारा आसमान में ऊँचा चढ़ रहा था और पुर्तगाल का सितारा पश्चिम में डूब रहा था। डच लोगों और अंग्रेज़ों ने धीरे-धीरे पोर्चुगीज़ों को पूर्वी समुद्रों से बाहर निकाल दिया और तुम्हें याद होगा कि मलक्का का बड़ा बन्दरगाह भी १६४१ ई० में डच लोगों के हाथ आगया था। १६२९ ई० में हुगली में शाहजहाँ और पोर्चुगीज़ों के बीच लड़ाई हुई। पोर्चुगीज़ बाक़ायदा ग़ुलामों का व्यापार करते थे और लोगों को ज़बरदस्ती ईसाई बना रहे थे। पोर्चुगीज़ों ने बडी बहादुरी से रक्षा की लेकिन मुग़लों ने हुगली पर क़ब्ज़ा कर लिया। छोटा-सा पुर्तगाल देश बार-बार की इन लड़ाइयों से थक गया। उसने साम्राज्य के लिए लड़ना-झगड़ना छोड़ दिया; लेकिन वह गोआ और दूसरी कई जगहों से चिपका रहा और आज भी इन जगहों पर उसका क़ब्ज़ा है।

इसी दौरान में अँग्रेज़ों ने मदरास और सूरत के पास, हिन्दुस्तान के समुद्रतट के नगरों में, कारख़ाने खोल दिये। ख़ास मदरास की नींव उन्होंने १६३९ ई० में डाली। १६६२ ई० में इंग्लैंड के बादशाह चार्ल्स द्वितीय ने पुर्तगाल की कैथराइन ऑफ़ ब्रैगैन्ज़ा के साथ शादी की और बम्बई का टापू उसे दहेज में मिला। कुछ दिनों बाद उसने इसे बहुत सस्ते दाम में ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ बेच दिया। यह घटना औरँगज़ेब के राज्य काल में हुई। पोर्चुगीज़ों के ऊपर फ़तेह पाने के नशे में चूर ईस्ट इंडिया कंपनी ने यह सोचकर कि मुग़ल साम्राज्य कमज़ोर होता जा रहा है, १६८५ ई० में हिन्दुस्तान में ज़बरदस्ती अपना राज्य बढ़ाने की कोशिश की।

लेकिन नुक़सान उठाना पड़ा। इंग्लैंड से लड़ाई के जहाज़ दौड़े हुए आये और औरंगज़ेब के राज्य में पूर्व में बंगाल पर और पश्चिम में सूरत पर हमले किये गये। लेकिन अभी मुग़लों में उनको पूरी तरह हरा देने की ताक़त थी। अँग्रेजों ने इससे सबक़ लिया और आगे के लिए वे बहुत सावधान होगये। औरंगजेब की मत्यु पर भी, जबकि मुग़ल-शक्ति ज़ाहिरा तौर पर नष्ट होरही थी, बहुत वर्षों तक कोई बड़ा हमला करने से पहले आगा-पीछा सोचते रहे। १६९० ई० में जॉब चार्नोक नाम के एक अँग्रेज़ ने कलकत्ता शहर की नींव डाली। इस तरह मदरास, बम्बई और कलकत्ता इन तीनों शहरों की स्थापना अँग्रेजों के हाथों से हुई और शुरू-शुरू में ये शहर अंग्रेजों की ही मेहनत से बढ़े।

अब फ़्रांस ने भी हिन्दुस्तान में क़दम रक्खा। एक फ़्रांसीसी व्यापारी कम्पनी बनी और १६६८ ई० में उसने सूरत और दूसरी कई जगहों में कारखाने खोले। कुछ साल बाद उसने पांडिचरी शहर ख़रीद लिया जो पूर्वी तट पर सबसे महत्वपूर्ण व्यापारिक बन्दरगाह बन गया।

१७०७ ई० में क़रीब नव्वे वर्ष की बडी उम्र में औरंगजेब की मृत्यु हुई। उसकी छोडी हुई शानदार सम्पत्ति यानी हिन्दुस्तान को हथियाने के लिए लड़ाई-झगडों की शुरूआत हुई। इन झगड़नेवालों में एक तो खुद उसकी ही नाक़ाबिल औलाद और बडे-बडे हाकिम थे; उधर मराठे और सिक्ख थे; दूसरी तरफ उत्तर-पश्चिम सीमा के पार के लोग दाँत लगाये हुए थे; और समुद्र पार के दो शक्तिशाली राष्ट्र अँग्रेज़ और फ्रांसीसी थे। ऐसी हालत में बेचारे हिन्दुस्तान के लोगों का तो परमात्मा ही मालिक था!

: ९१ :

सिक्ख और मराठे

१२ सितम्बर, १९३२

औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद के सौ वर्षों में हिन्दुस्तान अजीब तौर से टुकडे-टुकडों में बँटा रहा। उसकी हालत एक सैरबीन की तरह हो रही थी जिसमें हर वक्त तब्दीलियाँ होती रहती थीं लेकिन देखने में वे कोई ख़ूबसूरत न थीं। ऐसा जमाना ले-भग्गुओं के या ऐसे लोगों के काम का होता है, जो साधनों और उपायों की परवाह नहीं करते और मौक़े को हाथ से न निकलने देने के लिए दुस्साहसी होने के अलावा भले-बुरे का भी कुछ विचार नहीं करते। इसलिए सारे हिन्दुस्तान में इस

तरह के ले-भग्गू पैदा होगये। इनमें ख़ास हिन्दुस्तान के रहने वाले थे, उत्तर-पश्चिम के देशों से आने वाले थे, और वे लोग थे जो अंग्रेज़ों और फ़्रांसीसियों की तरह समुद्र पार से आये। हरेक आदमी या गिरोह अपना-अपना उल्लू सीधा करना चाहता था और दूसरों को भट्टी में झोंकने के लिए तैयार था। कभी-कभी दो मिलकर तीसरे को ख़तम कर देते थे लेकिन बाद में ये दोनों आपस में ही लड़ मरते थे। रियासतें छीनने के लिए, जल्दी से मालदार बनने के लिए और लूटमार करने के लिए जी तोड़कर कोशिशें हो रही थीं। लूट-मार ज्यादा-तर खुल्लम-खुल्ला और बेशर्मी के साथ होती थी; लेकिन कभी-कभी व्यापार के पतले परदे से भी ढकी रहती थी। और इस सब के पीछे था खिसकता हुआ मुग़ल साम्राज्य, जो 'चेशायर की बिल्ली'[1] की तरह ग़ायब हो रहा था और जिसकी मुस्कराहट भी बाक़ी न रही थी। बेचारे नाम-मात्र के बादशाह को या तो पेन्शन दे दी जाती थी या वह दूसरों का क़ैदी हो जाता था।

लेकिन ये सब उथल-पुथल और उफान, और तोड़-मरोड़ उस क्रान्ति के बाहरी लक्षण थे जो भीतर ही भीतर हो रही थी। पुरानी आर्थिक रूढ़ियां टूट रही थीं; सामन्तशाही के दिन पूरे हो गये थे और वह भी ख़तम हो रही थी। देश में जो नई हालतें पैदा होरही थीं, यह उनके अनुकूल न थी। ये ही घटनायें हम योरप में देख चुके हैं और व्यापारी वर्ग की तरक्क़ी भी देख चुके हैं, जिसे स्वेच्छाचारी शासकों ने रोक दी थी। सिर्फ़ इँग्लैंड में, और कुछ हद तक हॉलैंड में, बादशाहों पर लगाम लगादी गई थी। जिस वक़्त औरंगज़ेब गद्दी पर बैठा उस वक्त इँग्लैंड में वह थोडे दिन टिकने-वाला प्रजातन्त्र शासन था जो चार्ल्स प्रथम की फाँसी के बाद बना। और औरंगज़ेब के ही राज्यकाल में जेम्स द्वितीय के भाग जाने से और १६८८ ई० में पार्लमेण्ट की विजय से इँग्लैंड की क्रान्ति पूरी हुई। इँग्लैंड में जो पार्लमेंट-जैसी एक आधी लोक सत्तावाली कौंसिल थी उससे इस लड़ाई में बहुत मदद मिली। वह एक ऐसी चीज़ थी जो सामन्त सरदारों के और बाद में बादशाह के ख़िलाफ़ खडी हो सकती थी।

योरप के बहुत से दूसरे देशों में और ही तरह की हालतें थीं। फ़्रांस में अभी तक औरंगज़ेब का समकालीन महान् सम्राट चौदहवाँ लुई, औरंगज़ेब के राज्यकाल के अन्त तक था, और उससे भी आठ वर्ष बाद मरा। वहाँ क़रीब-क़रीब अठारहवीं सदी के अख़ीर तक स्वेच्छाचारी शासन जारी रहा जब तक कि फ़्रांस की, इतिहास में मशहूर, राज्य क्रान्ति के रूप में ज़बरदस्त उफ़ान नहीं आगया। जर्मनी में, जैसा कि

१. 'एलिस इन दि वंडरलैंड' नामकी कहानी की पुस्तक में बयान की हुई एक कल्पित बिल्ली जो सदा मुस्कराती रहती थी।

हम देख चुके हैं, सत्रहवीं सदी बडी ख़ौफ़नाक गुज़री। इसी सदी में 'तीससाल की लड़ाई' हुई जिसने देश के टुकडे-टुकडे करके उसका सत्यानाश कर दिया।

अठारहवीं सदी में हिन्दुस्तान की हालत का मुक़ाबिला कुछ-कुछ जर्मनी की उस हालत से किया जा सकता है जो वहाँ तीस साल की लड़ाई के ज़माने में थी। लेकिन यह मुक़ाबिला ज्यादा आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। दोनों देशों में आर्थिक संकट पैदा होरहा था और पुराना सामन्त वर्ग अपना महत्व खो चुका था। हालाँकि हिन्दुस्तान में सामान्तशाही आख़री सांसें ले रही थी लेकिन उसका ख़ातमा बहुत दिनों तक नहीं हुआ। और क़रीब-क़रीब मर चुकने पर भी उसके ऊपरी चिन्ह बने ही रहे। असल में आज दिन भी हिन्दुस्तान में और योरप के कुछ हिस्सों में सामन्तशाही के बहुत से पुराने निशान बाक़ी हैं।

इन आर्थिक तब्दीलियों का नतीजा यह हुआ कि मुग़ल साम्राज्य टूट गया, लेकिन इस मौक़े से फ़ायदा उठाकर अधिकार छीनने के लिए कोई मध्यमवर्ग मौजूद न था। इँग्लैण्ड की तरह इन वर्गों का नेतृत्व करनेवाला कोई संगठन या कौंसिल भी न थी। हद दरजे के निरंकुश शासन ने आम लोगों को बहुत-कुछ चापलूस बना दिया था और आज़ादी के जो कुछ भी पुराने ख़यालात थे, वे सब भुलाये जाचुके थे। लेकिन, जैसाकि आगे चलकर इसी ख़त में ज़िक्र किया जायगा, कुछ-कुछ सामन्त वर्ग ने, कुछ-कुछ मध्यमवर्ग ने और कुछ-कुछ किसानों ने अधिकार छीनने की कोशिशें कीं और इनमें से कुछ कोशिशें कामयाबी के नज़दीक भी पहुँच गईं। ध्यान देने की ख़ास बात यह है कि सामंतशाही के ख़ातमे और अधिकार हाथ में लेने को तैयार मध्यमवर्ग के विकास के बीच में, मालूम होता है, अन्तर पड़ गया। जब इस तरह का अन्तर पड़ जाता है तो ज़रूर गड़बड़ और उथल-पुथल होती है, जैसा कि जर्मनी में हुआ। यही हाल हिन्दुस्तान में भी हुआ। छोटे-मोटे बादशाह और राजा देश पर अपना-अपना क़ब्ज़ा जमाने के लिए लड़ने लगे लेकिन वे सब एक सडी हुई प्रणाली के नुमाइंदे थे इसलिए उनकी नींव मज़बूत न थी। उनको एक नये ही वर्ग के लोगों से लड़ना पड़ा जो इंग्लैंड के मध्यमवर्ग के नुमाइंदे थे और उन्हीं दिनों अपने देश में विजय प्राप्त कर चुके थे। समाजिक क्षेत्र में इस अंग्रेज़ी मध्यम वर्ग का स्थान सामन्त वर्ग से ऊँचा था क्योंकि वह संसार की तरक़्क़ी करती हुई नई परस्थिति के मुआफ़िक़ था; उसका संगठन ज्यादा अच्छा और कारगर था; उसके पास ज्यादा अच्छे हथियार और औज़ार थे जिनके ज़रिये वह अधिक कारगर तरीकों से लड़ सकता था और समुद्र पर भी उसका क़ब्ज़ा था। हिन्दुस्तान के सामन्त राजाओं का इस नई ताक़त से मुक़ाबिला करना नामुमकिन था और वे एक-एक करके इससे हारते गये।

इस ख़त की यह भूमिका काफी लम्बी हो गई। अब हमको ज़रा पीछे चलना चाहिए। औरंगज़ेब के शासन के पिछले दिनों में आम लोगों के जो बलवे हुए और हिन्दुओं में जो धार्मिक राष्ट्रीयता का ख़याल दुबारा पैदा हुआ, उनका जिक्र मैं अपने आख़री ख़त में और इस ख़त में भी कर चुका हूँ। अब मैं इस बारे में कुछ और बतलाऊंगा। मुग़ल साम्राज्य के अलग-अलग हिस्सों में उस वक़्त कुछ-कुछ धार्मिक रूपवाले सार्वजनिक आन्दोलन शुरू होते दिखलाई पड़ने लगे थे। कुछ समय तक तो ये आन्दोलन शान्तिमय रहे; राजनीति से इनका कोई ताल्लुक़ न था। हिन्दी, मराठी, पंजाबी वग़ैरा देशी ज़बानों में गीत और धार्मिक भजन बनें जिन का प्रचार भी ख़ूब हुआ। इन गीतों और भजनों से जनता में जागृति पैदा हो गई। लोकप्रिय धर्मोपदेशकों के पीछे बहुत से धार्मिक मत बन गये। आर्थिकप रिस्थितियों के दबाव ने जल्द ही इन मतों का ध्यान राजनैतिक सवालों की तरफ़ खींचा; शासक वर्ग यानी मुग़ल साम्राज्य से झगड़ा होने लगा। नतीजा यह हुआ कि इन मतों के दबाने की कोशिश की गई। इस ज़ुल्म ने शान्तिमय धार्मिक मतों को सैनिक बिरादरी के रूप में बदल दिया। इस तरह सिक्खों और कई दूसरे फ़िरकों का विकास हुआ। मराठों का इतिहास ज्यादा पेचीदा है लेकिन वहाँ भी असल में यही दिखलाई पड़ता है कि मज़हब और राष्ट्रीयता ने मिलकर मुग़लों के ख़िलाफ़ तलवार उठाई। मुग़ल साम्राज्य का नाश अंग्रेज़ों के हाथों से नहीं हुआ बल्कि इन धार्मिक राष्ट्रीय आन्दोलन और ख़ासकर मराठों की वजह से हुआ। इन आन्दोलनों के बढ़ने में औरंगज़ेब की असहिष्णु नीति से क़ुदरती तौर पर मदद मिली। यह भी मुमकिन है कि अपने शासन के ख़िलाफ़ इस बढ़ती हुई धार्मिक जागृति ने औरंगज़ेब को और भी चिढ़ा दिया हो और असहिष्णु बना दिया हो।

१६६९ ई० में ही मथुरा के जाट किसानों ने बलवा कर दिया। बार-बार उनको दबाया गया लेकिन वे तीस साल तक, जबतक औरंज़ेब की मृत्यु न हो गई, बार-बार सिर उठाते रहे। याद रहे कि मथुरा आगरे के बहुत नज़दीक है, इसलिए ये बलवे राजधानी के पास ही हुए थे। दूसरा बलवा सतनामियों ने किया जो मामूली लोगों का एक मज़हबी फिरक़ा था। इसलिए यह भी ग़रीब आदमियों का विद्रोह था और सरदारों, हाकिमों वग़ैरा की बग़ावत से बिलकुल जुदा था। उस ज़माने का एक मुग़ल अमीर तंग आकर इनके बारे में लिखता है कि यह "ख़ून के प्यासे नीच बाग़ियों का एक गिरोह था जिसमें सुनार, बढ़ई, भंगी, चमार और दूसरे नीच लोग शामिल थे।" उसकी राय में ऐसे 'नीच लोगों' का अपने से बड़ों के ख़िलाफ़ बग़ावत करना बड़ी शर्म की बात थी।

अब हम सिक्खों की तरफ़ आते हैं और उनके इतिहास का बयान कुछ समय पहले से शुरू करेंगे। तुम्हें याद होगा कि मैंने तुमको गुरु नानक के बारे में बतलाया था। इनकी मृत्यु बाबर के हिन्दुस्तान में आने के कुछ ही साल बाद होगई। वह उन लोगों में से थे जिन्होंने हिन्दू धर्म और इस्लाम को एक ही तख़्ते पर लाने की कोशिश की। इनके बाद तीन 'गुरु' और हुए जो इन्हीं की तरह शान्तिप्रिय थे और सिर्फ़ मजहबी मामलों में ही दिलचस्पी रखते थे। अकबर ने चौथे गुरु को अमृतसर के तालाब और सुनहरे मन्दिर के लिए ज़मीन दी थी। तबसे अमृतसर सिक्ख धर्म का केन्द्र बन गया है।

इसके बाद पाँचवें गुरु अर्जुन सिंह हुए जिन्होंने ग्रन्थ साहब का संकलन किया, जो कहावतों और भजनों का संग्रह है और सिक्खों का पवित्र धर्म-ग्रन्थ माना जाता है: एक राजनैतिक जुर्म की सजा में जहाँगीर ने अर्जुनसिंह को बड़ी बेरहमी से क़त्ल करवा डाला। सिक्खों की जिन्दगी की घड़ी बस यहीं से बदल गई। गुरू के साथ जुल्म और बेरहमी के इस बर्ताव से वे लोग आग हो उठे और उन्होंने तलवार उठाली। छठवें गुरु हरगोविंद की मातहती में वे एक सैनिक बिरादरी बन गये और राज्य-शक्ति से टक्करें लेने लगे। गुरु हरगोविंद ख़ुद दस साल तक जहाँगीर की क़ैद में रहे। नवें गुरु तेग़बहादुर हुए। ये औरंगज़ेब के राज्य में थे। औरंगज़ेब ने इनको इस्लाम क़बूल करने का हुक्म दिया और इन्कार करने पर इनको क़त्ल करवा डाला। दसवें और आख़िरी गुरु गोविंदसिंह थे। उन्होंने सिक्खों को एक ताक़तवर सैनिक जाति बना दिया, जिसका मुख्य उद्देश्य दिल्ली के बादशाह का मुक़ाबिला करना था। ये औरंगज़ेब की मृत्यु से एक साल बाद मरे। इनके बाद से अबतक कोई गुरु न हुआ। कहते हैं कि गुरु के अधिकार अब सारी सिक्ख जाति में हैं, जो 'खालसा' यानी 'स्वीकृत' या 'विशिष्ट' कहलाती है।

औरंगज़ेब के मरने के कुछ ही दिन बाद सिक्खों ने बग़ावत कर दी। इसको दबा तो दिया गया लेकिन सिक्ख लोग अपनी ताक़त बढ़ाते रहे और पंजाब में स्थिति को मज़बूत बनाते रहे। आगे चलकर, इस सदी के अख़ीर में, पंजाब में रणजीतसिंह के अधीन एक सिक्ख रियासत पैदा होनेवाली थी।

ये सब बग़ावतें मुसीबत पैदा करने वाली जरूर थीं मगर मुग़ल सम्राज्य को असली ख़तरा दक्षिण-पश्चिम में मराठों की बढ़ती हुई ताक़त से था। शाहजहाँ के राज्य में भी शाहजी भोंसले नाम के एक मराठा सरदार ने काफ़ी तंग किया था। वह पहले तो अहमद नगर की रियासत और बाद में बीजापुर रियासत में अफ़सर रहा था। लेकिन मराठों का गौरव और मुग़ल साम्राज्य को थर्रा देने वाला अगर कोई था तो वह इसका

शिवाजी था, जिसका जन्म १६२७ ई० में हुआ था। वह उन्नीस वर्ष का भी न हुआ था कि उसने लूट-मार शुरू करदी और पूना के पास पहली ही बार एक क़िला जीत लिया। वह एक बाहादुर सिपहसालार, छापे मारकर लड़ाई करने में पूरा होशियार नायक और जोखिम उठाने वाला था। उसने बहादुर और मज़बूत पहाड़ियों का एक गिरोह इकट्ठा कर लिया जो उसपर जान देता था। इनकी मदद से उसने बहुत से क़िलों पर क़ब्ज़ा कर लिया। बीजापुर ने उसके ख़िलाफ़ एक सिपहसालार भेजा जिसे उसने मार डाला। औरंगज़ेब के सिपहसालारों का तो उसने नाक में दम कर दिया। १६६५ ई० में उसने अचानक सूरत पर धावा बोल दिया, जहाँ अंग्रेज़ों का कारख़ाना था, और शहर को लूट लिया। बातों में आकर वह आगरे में औरंगज़ेब के दरबार में भी गया, लेकिन जब उसके साथ एक आज़ाद राजा का-सा बर्ताव नहीं किया गया तो उसने इसमें अपनी हतकइज्ज़ती और अपना अपमान समझा। उसे वहाँ क़ैद कर लिया गया लेकिन वह छूटकर भाग निकला। फिर भी औरंगज़ेब ने उसे राजा का ख़िताब देकर अपनी तरफ़ मिलाने की कोशिश की।

लेकिन शिवाजी ने फिर लड़ाई का रास्ता इख़्तियार कर लिया और दक्षिण के मुग़ल हाकिम तो उससे इतने डर गये कि वे अपनी हिफ़ाज़त करने के लिए उसे धन देनें लगे। यही इतिहास में मशहूर 'चौथ', यानी लगान का चौथा अंश, थी जिसे मराठे लोग जहाँ जाते वहीं वसूल करते थे। इस तरह मराठों की ताक़त तो बढ़ती गई और दिल्ली का साम्राज्य कमज़ोर होता गया। १६७४ ई० में शिवाजी ने रायगढ़ में बडी शान-शौकत के साथ अपनी तख़्तनशीनी का जलसा किया। १६८० ई० में, उसकी मृत्यु तक, बराबर उसकी जीतें जारी रहीं।

तुम्हें मराठा देश के केन्द्र पूना शहर में रहते कुछ वक़्त हो गया है और तुम्हें मालूम पड़ गया होगा कि वहाँ के लोग शिवाजी से कितना प्रेम करते हैं और उसकी कितनी पूजा करते हैं। जिस मज़हबी और राष्ट्रीय जागृति का ज़िक्र मैं अभी कर चुका हूँ, उसका यह प्रतिनिधि था। आर्थिक संकट और आम जनता की बुरी हालत ने ज़मीन तैयार करदी थी, और रामदास और तुकाराम नामक दो मराठी सन्त कवियों ने अपनी कविता और भजनों से इसमें खाद डाल दी। इस तरह मराठा लोगों को जागृति और एकता हासिल हुई और उसी समय उनका नेतृत्व करके फ़तह हासिल करने के लिए एक बड़ा और होशियार नेता पैदा हो गया।

शिवाजी के पुत्र संभाजी को मुग़लों ने बेरहमी के साथ मरवा डाला लेकिन कुछ धक्कों के बाद मराठों की ताक़त फिर बढ़ने लगी। औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य हवा में गायब होने लगा। सारे हाकिम राजधानी से अपना ताल्लुक़

तोड़कर आज़ाद बन बैठे। बंगाल अलग हो गया। यही हाल अवध और रुहेलखण्ड का हुआ। दक्षिण में वज़ीर आसफ़ जाह ने एक राज्य क़ायम किया, जो आजकल रियासत हैदराबाद कहलाता है। मौजूदा निज़ाम आसफ़ जाह के ख़ानदान के हैं। औरंगज़ेब के मरने के बाद सत्रह वर्ष के भीतर ही साम्राज्य क़रीब-क़रीब ख़तम हो गया। लेकिन दिल्ली और आगरा में, बिना साम्राज्य के, नाम मात्र के कई बादशाह एक के बाद एक गद्दी पर बैठते रहे।

जैसे-जैसे साम्राज्य कमज़ोर हुआ वैसे-ही-वैसे मराठों की ताक़त बढ़ती गई। उनका प्रधान मंत्री, जो पेशवा कहलाता था, राजा को भी पीछे ढकेलकर असली अधिकारी बन बैठा। पेशवाओं की गद्दी, जापान के शोगनों की तरह, पुश्तैनी मानी जानी लगी और राजा की कोई वक़त न रही। दिल्ली का बादशाह इतना कमज़ोर हो गया कि उसने सारे दक्षिण में चौथ वसूल करने के मराठों के अधिकार को मंज़ूर कर लिया। पेशवा को इतने पर भी संतोष न हुआ और उसने गुजरात, मालवा और मध्य भारत पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। १७३७ ई० में उसकी फ़ौजें ठेठ दिल्ली के फाटक पर जा पहुँचीं। ऐसा मालूम होता था कि हिन्दुस्तान पर सिर्फ़ मराठों का ही अधिकार होनेवाला है। सारे देश में उनकी धाक थी। लेकिन १७३९ ई० में उत्तर-पश्चिम की तरफ़ से अचानक एक हमला हुआ जिसने ताक़त की तराज़ू का पलड़ा उलट दिया और उत्तर भारत के नक़शे को ही बदल दिया।

यह ख़त क़ाफी लम्बा हो गया है और अब मैं इसे ख़तम करना चाहता हूँ। हिन्दुस्तान के इतिहास के इस युग के बारे में जितना मैं लिखना चाहता था उससे ज्यादा लिख गया। लेकिन लाचार होकर मुझे इस बयान को अगले पत्र में जारी रखना पड़ेगा।

: ९२ :

हिन्दुस्तान में अपने प्रतियोगियों पर अंग्रेज़ों की विजय

१३ सितम्बर, १९३२

हम देख चुके हैं कि दिल्ली के मुग़ल साम्राज्य की हालत बहुत ख़राब थी। असल में यह कहा जा सकता है कि साम्राज्य के लिहाज से तो उसका कोई निशान ही बाक़ी न था। लेकिन दिल्ली और उत्तरी हिन्दुस्तान का इससे भी अधिक पतन होनेवाला था। जैसा कि मैं तुम्हें बतला चुका हूँ, हिन्दुस्तान में उन दिनों ले-भग्गुओं

का बोलबाला था। उत्तर-पश्चिम से अचानक एक लुटेरों के सरदार ने आकर धावा बोल दिया और बहुत सी ख़ून-ख़राबी और लूट-मार करके वह बेशुमार दौलत लेकर चम्पत हो गया। यह नादिरशाह था जो ईरान का शाह बन बैठा था। वह शाहजहाँ के बनवाये हुए मशहूर तख़्त ताऊस को भी साथ ले गया। यह भयंकर हमला १७३९ ई० में हुआ और इसने उत्तर भारत को बरबाद कर दिया। नादिरशाह ने अपने राज्य की सरहद ठेठ सिन्ध नदी तक बढ़ाली। इस तरह अफ़ग़ानिस्तान हिन्दुस्तान से अलग होगया। महाभारत और गंधार के ज़माने से लगाकर भारत के सारे इतिहास में अफ़ग़ानिस्तान का हिन्दुस्तान से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। लेकिन अब वह बिलकुल अलग हो गया।

सत्रह वर्ष के भीतर दिल्ली पर एक और लुटेरा चढ़कर आया। यह अहमदशाह दुर्रानी था जो अफ़ग़ानिस्तान में नादिरशाह का वारिस हुआ था। लेकिन इन हमलों के होते हुए भी मराठों की ताक़त लगातार बढ़ती ही गई और १७५८ ई० में पंजाब पर भी उनका क़ब्ज़ा हो गया था। उन्होंने इन सब जीते हुए हिस्सों पर कोई संगठित सरकार क़ायम करने की कोशिश नहीं की। वे तो अपनी मशहूर 'चौथ' वसूल कर लेते थे और राज्य का भार वहीं के लोगों पर छोड़ देते थे। ऐसे उनको एक तरह से दिल्ली का सारा साम्राज्य विरासत में मिल गया। लेकिन इसके बाद ही गाडी बिलकुल रुक गई। उत्तर-पश्चिम से दुर्रानी फिर चढ़ आया और उसने १७६१ ई० में पानीपत के पुराने लड़ाई के मैदान में औरों की मदद से मराठों की एक बडी फ़ौज को बुरी तरह हराया। अब दुर्रानी तमाम उत्तरी हिन्दुस्तान का मालिक बन बैठा और उसे रोकने वाला कोई न था। लेकिन विजय के इस समय में उसे खुद अपने ही आदमियों में फ़िसाद और बग़ावत का सामना करना पड़ा और वह अपने देश को वापस लौट गया।

कुछ दिनों तक तो ऐसा मालूम होता था कि मराठों के तरक़्क़ी के दिन पूरे हो गये और उनकी कोई गिनती न रही। जिस बड़े पुरस्कार को वे जीतना चाहते थे वह उनके हाथ से निकल गया। लेकिन उन्होंने धीरे-धीरे अपनी हालत फिर सुधार ली और वे एक बार फिर हिन्दुस्तान के अन्दर सबसे जबर्दस्त अन्दरूनी ताक़त बन गये। मगर इसी अर्से में, जैसा कि मैं आगे बताऊँगा, इससे भी ज्यादा जबर्दस्त दूसरी शक्तियाँ प्रकट हुईं और हिन्दुस्तान के भाग्य का निबटारा कुछ सदियों तक के लिए हो गया। इसी समय में कई मराठे सरदार पैदा हो गये, जो पेशवा के मातहत समझे जाते थे। इनमें सबसे मुख्य ग्वालियर का सिन्धिया था बड़ौदा का गायकवाड़ और इन्दौर का होल्कर भी इन्हींमें से थे।

अब जिन घटनाओं का मैंने ऊपर इशारा किया है, हमें उनपर आना चाहिए। दक्षिणी हिन्दुस्तान में इस ज़माने की ख़ास घटना अँग्रेज़ों और फ़्रांसीसियों की लड़ाई है। अठारहवीं सदी में योरप में इंग्लैंड और फ़्रांस की अक्सर मुठभेड़ होती रहती थी और उनके प्रतिनिधि हिन्दुस्तान में भी लड़ते थे। लेकिन कभी-कभी योरप में दोनों देशों में बाक़ायदा सुलह होने पर भी हिन्दुस्तान में ये लड़ते रहते थे। दोनों तरफ़ दुस्साहसी और भले-बुरे का विचार न करनेवाले ले-भग्गू थे, जिनकी सबसे बड़ी ख़्वाहिश थी धन और शक्ति प्राप्त करना, इसलिए आपस में इनमें बड़ा ज़बर्दस्त मुक़ाबिला रहता था। फ़्रांसीसियों के दल में उस समय सबसे ज़ोरदार आदमी डुप्ले था और अँग्रेज़ों में क्लाइव। डुप्ले ने दो रियासतों के आपसी झगड़ों में दख़ल देने का फ़ायदेमन्द खेल शुरू किया। पहले तो वह अपने शिक्षित सैनिक किराये पर देदेता और बाद में रियासत हड़प जाता। फ़्रांसीसियों का प्रभाव बढ़ने लगा, लेकिन अँग्रेज़ों ने भी बहुत जल्दी उसकी तरकीबों और तरीक़ों को अपना लिया और उससे भी आगे बढ़ गये। भूखे गिद्धों की तरह दोनों दल कहीं की गड़बड़ी की ताक में रहते थे और उस वक़्त ऐसी गड़बड़ें काफ़ी मिल भी जाती थीं। दक्षिण में जब कभी विरासत के बारे झगड़ा होता तो शायद अँग्रेज़ एक दावेदार की ओर फ़्रांसीसी दूसरे की तरफ़दारी करते दिखाई पड़ते थे। पन्द्रह साल के लड़ाई-झगड़े (१७४६–१७६१ ई०) के बाद अँग्रेज़ों ने फ़्रांसीसियों पर फ़तह पाई। हिन्दुस्तान पर हाथ पर हाथ मारने का साहस करने वाले इन लोगों को इंग्लैंड की पूरी मदद मिलती थी; लेकिन डुप्ले और उसके साथियों को फ़्रांस से ऐसी कोई मदद नहीं मिली। इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं है। हिन्दुस्तान में रहने वाले अँग्रेज़ों की पीठ पर ब्रिटिश व्यापारी लोग और ईस्ट-इंडिया कम्पनी के दूसरे शेयर-होल्डर यानी हिस्सेदार थे और वे लोग पार्लमेण्ट और सरकार पर दबाव डाल सकते थे; लेकिन फ़्रांसीसियों के ऊपर उस वक़्त पन्द्रहवाँ लुई (महान् साम्राट् चौदहवें लुई का पोता) था, जो मज़े के साथ सत्यानाश की ओर दौड़ रहा था। समुद्र पर अंग्रेज़ों का जो क़ब्ज़ा था, उससे भी उनको बड़ी मदद मिली। अंग्रेज़ों और फ़्रांसीसी दोनों ही हिन्दुस्तानी सैनिकों को, जो सिपाही कहलाते थे, फ़ौजी तालीम देते थे, और चूंकि इन सिपाहियों के पास देशी फ़ौजों से अच्छे हथियार होते थे और इनका अनुशासन भी उनसे अच्छा होता था, इसलिए इनकी बड़ी भारी माँग रहती थी।

बस, अँग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान में फ़्रांसीसियों को हरा दिया और चन्द्रनगर तथा पांडिचरी नाम के फ़्रांसीसी शहरों को बिलकुल तहस-नहस कर डाला। यह बरबादीऐसी हुई कि दोनों जगह एक भी मकान या उसकी छत बाक़ी न रहे। इस वक़्त से फ़्रांसीसियों

का हिन्दुस्तान की रंगभूमि से खिसकाना जारी हो गया। बाद में उन्होंने पाँडिचरी और चन्द्रनगर हासिल कर लिये और आज भी ये शहर उनके क़ब्ज़े में हैं। लेकिन उनका महत्व कुछ नहीं है।

इस ज़माने में अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों की युद्ध भूमि सिर्फ़ हिन्दुस्तान तक ही सीमित न थी। योरप के अलावा वे कनाडा और दूसरी जगहों में भी लड़े। कनाडा में भी अँग्रेज़ों की जीत हुई। लेकिन थोड़े दिन बाद ही इंग्लैंड अमेरिका के उपनिवेशों से हाथ धो बैठा और फ़्रांस ने इन उपनिवेशों को मदद देकर अँग्रेज़ों से अपना बदला ले लिया। लेकिन इन सब बातों के बारे में हम आगे के किसी ख़त में विस्तार के साथ विचार करेंगे।

फ़्रांसीसियों को निकाल बाहर करने के बाद अंग्रेज़ों के रास्ते में और क्या रुकावटें रह गईं थीं? पश्चिम में, मध्य भारत में और कुछ हद तक उत्तर में भी मराठे तो थे ही। हैदराबाद का निज़ाम भी था लेकिन वह किसी गिनती में न था। हाँ, दक्षिण में एक नया और ताक़तवर विरोधी हैदरअली था। वह पुराने विजय-नगर साम्राज्य के बचे-खुचे टुकडों का, जिनसे आजकल की मैसूर रियासत बन गई है, स्वामी बन बैठा। उत्तर में बंगाल सिराजुद्दौला नाम के एक बिलकुल निकम्मे आदमी के क़ब्ज़े में था। दिल्ली का साम्राज्य तो, जैसाकि हम देख चुके हैं, एक ख़याल ही ख़याल रह गया था। लेकिन काफ़ी मज़ेदार बात यह है कि १७५६ ई० तक यानी नादिरशाह के हमले के, जिसने केन्द्रीय सरकार की परछाईं तक ख़त्म कर दी थी, बहुत वर्षों बाद तक भी अँग्रेज़ लोग दिल्ली साम्राज्य को अपनी मातहती के चिन्ह-रूप नज़राने भेंट करते रहे। तुम्हें याद होगा कि औरंगज़ेब के समय में एक बार बंगाल में अँग्रेज़ों ने सिर उठाने की कोशिश की थी लेकिन वे बुरी तरह हारे थे और इस हार ने उनका जोश इस तरह ठंडा कर दिया था कि दुबारा हिम्मत करने के लिए वे बहुत दिन तक आगा-पीछा सोचते रहे, हालाँकि उत्तर की हालत तो मानों खुल्लम-खुल्ला किसी दिलेर आदमी को न्यौता दे रही थी।

क्लाइव नाम के एक अँग्रेज़, जिसकी उसके देश-वासी एक ज़बरदस्त साम्राज्य बनाने वाले की हैसियत से बहुत तारीफ़ करते हैं, ऐसा ही हौसले वाला आदमी था। अपने व्यक्तित्व और अपने कार्यों से वह बतलाता है कि साम्राज्य किस तरह निर्माण किये जाते हैं। वह बड़ा साहसी, जोख़िम उठानेवाला, हद दरजे का लालची था और अपने इरादे के सामने वह जालसाज़ी और धोखेबाज़ी से भी नहीं चूकता था। बंगाल का नवाब सिराजुद्दौला, जो अँग्रेज़ों की बहुत-सी कार्रवाइयों से चिढ़ गया था, अपनी राजधानी मुर्शिदाबाद से चढ़कर आया और उसने कलकत्ते पर

क़ब्ज़ा करलिया। कही जानेवाली 'काल-कोठरी' की दुखद घटना, कहते हैं, इसी समय हुई थी। क़िस्सा यों बतलाया जाता है कि नवाब के अफसरों ने बहुत से अँग्रेज़ों को रात में एक छोटी-सी दम घोटने वाली कोठरी में बन्द कर दिया और रात भर में उनमें बहुत से दम घुटकर मर गये। यह काम बिला शक जंगली और दिल दहलाने वाला है लेकिन यह सारा क़िस्सा एक ऐसे आदमी के बयान पर निर्भर है जो ज्यादा विश्वास के योग्य नहीं समझा जाता। इसलिए बहुत से लोगों का ख़याल है कि यह सारा क़िस्सा ज्यादातर झूठा है और, जो कुछ भी हो, बढ़ाकर ज़रूर बयान किया गया है।

नवाब ने कलकत्ते पर क़ब्ज़ा करके जो कामयाबी हासिल की उसका बदला क्लाइव ने ले लिया। लेकिन इस साम्राज्य-निर्माता ने नवाब के वज़ीर मीर जाफ़र को देश-द्रोह करने के लिए घूस देकर और एक जाली दस्तावेज़, जिसका क़िस्सा बहुत लम्बा है, बनाकर बदला लेने का अपना निराला ढंग इख़्तियार किया। जालसाज़ी और धोखे के ज़रिये रास्ता साफ़ करके क्लाइव ने १७५७ ई० में नवाब को प्लासी की लड़ाई में हरा दिया। जैसी लड़ाइयाँ हुआ करतीं हैं उनके मुक़ाबिले में यह लड़ाई छोटी थी, और इसे तो असल में क्लाइव ने, अपनी साज़िशों से, लड़ाई शुरू होने के पहले ही, क़रीब-क़रीब जीत लिया था। लेकिन प्लासी की इस छोटी-सी लड़ाई का नतीजा बहुत बड़ा निकला। इसने बंगाल की क़िस्मत का फ़ैसला कर दिया, और हिन्दुस्तान में ब्रिटिश राज्य की शुरूआत अक्सर प्लासी से ही मानी जाती है। छल-कपट और जालसाजी की इस शर्मनाक नींव पर हिन्दुस्तान का ब्रिटिश साम्राज्य बनाया गया। लेकिन सब साम्राज्यों और साम्राज्य बनाने वालों का क़रीब-क़रीब यही ढंग होता है।

भाग्य चक्र का यह अचानक परिवर्त्तन बंगाल के ले-भग्गू और लालची अँग्रेजों के सरदार के कारण हुआ। वे बंगाल के स्वामी बन बैठे और उनके हाथ रोकने वाला कोई न रहा। बस, क्लाइव को अगुआ बनाकर उन्होंने बंगाल के ख़ज़ाने पर हाथ मारना शुरू किया और उसे बिलकुल खाली कर डाला। क्लाइव ने क़रीब २५ लाख रुपये नक़द ख़ुद अपनी नज़र किये और इतने पर भी संतोष न करके कई लाख रुपये साल की आमदनी की एक बड़ी क़ीमती जागीर भी हड़प कर ली। बाक़ी के सब अँग्रेज़ लोगों ने भी इसी तरह अपना 'हर्जाना वसूल किया'। दौलत हासिल करने के लिए बड़ी छीना-झपटी मची और ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारियों का लालच और विवेक तो सब बाँधों को पाकर गया। अँग्रेज़ लोग बंगाल के नवाब-निर्माता बन गये और अपनी मर्जी के माफ़िक़ नवाबों को बदलने लगे। हरेक तबादले के साथ घूस

और बेशकीमत नज़राने चलते थे। शासन की ज़िम्मेदारी उनपर न थी, यह तो बेचारे बदले हुए नवाब का काम था; उनका काम तो था जल्दी से जल्दी धनवान बन जाना।

कुछ वर्ष बाद, १७६४ ई० में, अँग्रेज़ों ने बक्सर में एक और लड़ाई जीती जिसका नतीजा यह हुआ कि दिल्ली का नाम मात्र का बादशाह भी उनकी शरण में आगया। उन्होंने उसे पेन्शन दे दी। अब बंगाल और बिहार में अँग्रेजों का अटल प्रभुत्व हो गया। देश से जो अपार धन वे लूट रहे थे उससे उनको संतोष न हुआ और उन्होंने रुपया बटोरने के नये-नये तरीक़े निकालने शुरू किये। देश के अन्दरूनी व्यापार से उनको कुछ लेना-देना नहीं था। लेकिन अब वे उन ज़कातों को, जो देशी माल के व्यापारियों को देनी पड़ती थीं, दिये बिना ही व्यापार करने पर उतारू होगये। भारत की कारीगरी और व्यापार पर अँग्रेजों की यह पहली चोट थी।

उत्तर हिन्दुस्तान में अँग्रेजों की स्थिति अब ऐसी होगई थी कि ताक़त और दौलत तो उनके हाथ में थी लेकिन ज़िम्मेदारी उनपर कुछ भी न थी। ईस्ट-इंडिया कंपनी के व्यापारी लुटेरों को यह पता लगाने की ज़रूरत न थी कि ईमानदारी के व्यापार और खुल्लम-खुल्ला लूट-मार में क्या फ़र्क है। यह वह ज़माना था जब अँग्रेज़ लोग हिन्दुस्तान से मालामाल होकर इंग्लैंड लौटते थे और 'नबॉब' कहलाते थे। अगर तुमने थैकरे का 'वैनिटीफेयर'[१] पढ़ा है तो उसमें आये हुए ऐसे ही एक घमंडी आदमी का तुमको ख़याल होगा।

राजनैतिक जोखिम और गड़बड़ें, वर्षा की कमी, और अंग्रेज़ों की हड़पने की नीति वग़ैरा इन सब कारणों का नतीजा यह हुआ कि १७७० ई० में बँगाल और बिहार में एक बड़ा भयंकर अकाल पड़ा। कहा जाता है कि इन प्रान्तों की एक-तिहाई से ज्यादा आबादी ख़तम हो गई। इस दिल दहलाने वाली संख्या का खयाल तो करो! कितने लाख आदमी भूख से तड़प-तड़प कर मर गये। प्रान्त के प्रान्त उजाड़ हो गये और वहाँ जंगल पैदा हो गये जिन्होंने उपजाऊ खेतों और गाँवों को बरबाद कर दिया। भूख से मरनेवालों की मदद के लिए किसीने कुछ न किया। नवाब के पास न तो ताक़त थी, न अधिकार और न प्रवृत्ति। ईस्ट इंडिया कम्पनी के पास ताक़त और अधिकार तो थे लेकिन वे कोई ज़िम्मेदारी या मदद देने की तरफ़ झुकाव महसूस न करते थे। उनका काम तो रुपया इकट्ठा करना और मालगुज़ारी वसूल करना था और उन्होंने यह काम अपनी जेबें भरने के लिए इतनी क़ाबलियत और ख़ूबी के साथ किया कि तुम्हें ताज्जुब होगा कि भयंकर अकाल के बावजूद भी उन्होंने बचे हुए

१. वैनिटीफेयर—थैकरे का लिखा हुआ अँग्रेज़ी का एक मशहूर उपन्यास। थैकरे अंग्रेज़ी भाषा का मशहूर उपन्यासकार होगया है।

लोगों से मालगुज़ारी की पूरी रक़म वसूल करली ! असल में उन्होंने तो मालगुज़ारी से भी ज़्यादा वसूली करली और सरकारी रिपोर्ट के मुताबिक़ यह काम उन्होंने 'ज़ोर-ज़बर्दस्ती के साथ' किया । महान् विपत्ति से बचे हुए भूख से अधमरे और कम्बख़्त लोगों से जो यह ज़बरदस्ती के साथ और अत्याचारपूर्ण वसूली की गई उसकी हैवानियत यानी अमानुषिकता को पूरी तरह ख़याल में लाना भी मुश्किल है ।

बँगाल में और फ़्रांसीसियों पर फ़तेह हासिल कर चुकने पर भी दक्षिण में अंग्रेज़ों को बड़ी दिक़्क़तों का सामना करना पड़ा । आख़िरी फ़तेह मिलने से पहले उनको कई बार हारना और बेइज्ज़त होना पड़ा । मैसूर का हैदरअली उनका कट्टर दुश्मन था । वह एक क़ाबिल और ख़ूँख़ार सेनानायक था और उसने अंग्रेज़ी फ़ौजों को बार-बार हराया । १७६९ ई० में उसने ठेठ मदरास के क़िले के नीचे अपने माफ़िक़ सुलह की शर्तें लिखवालीं । दस साल बाद उसे फिर बहुत बड़ी कामयाबी मिली और उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र टीपू सुलतान अंग्रेज़ों की राह का काँटा बन गया । टीपू को पूरी तौर पर हराने में मैसूर की दो लड़ाइयाँ और हुईं । बहुत से साल लग गये और तब फिर मौजूदा मैसूर महाराजा का एक पूर्वज अंग्रेज़ों की छत्रछाया में राजा बनाकर गद्दी पर बिठलाया गया ।

१७८२ ई० में दक्षिण में मराठों ने भी अंग्रेज़ों को हराया । उत्तर में ग्वालियर के सिन्धिया की तूती बोलती थी और दिल्ली का बेचारा ग़रीब बादशाह उसकी मुट्ठी में था ।

इसी अर्से में इँग्लैंड से वॉरन हेस्टिंग्स भेजा गया । वह यहाँ का पहला गवर्नर-जनरल हुआ । ब्रिटिश पार्लमेंट अब हिन्दुस्तान के मामलों में दिलचस्पी लेने लगी । हेस्टिंग्स हिन्दुस्तान के अंग्रेज़ शासकों में सबसे बड़ा माना जाता है, लेकिन उसके शासनकाल में भी सरकारी इन्तज़ाम बहुत बिगड़ा हुआ और बुराइयों से भरा हुआ मशहूर था । हेस्टिंग्स के ज़रिये बहुत सा रुपया ऐंठे जाने के कई उदाहरण मशहूर हैं । जब हेस्टिंग्स इँग्लैंड लौटा तो हिन्दुस्तान के शासन के बारे में पार्लमेंट के सामने उस पर मुक़दमा चलाया गया लेकिन बहुत दिन मुक़दमा चलने के बाद वह बरी कर दिया गया । पहले क्लाइव की भी पार्लमेंट ने निन्दा की थी और वह असल में आत्महत्या करके मरा । इस तरह इन लोगों की निन्दा करके या इन पर मुक़दमे चलाकर इँग्लैंड ने अपनी आत्मा को संतुष्ट कर लिया लेकिन दिल ही दिल में वह इनकी तारीफ़ करता था और इनकी नीति से फ़ायदा उठाने के लिए हरदम तैयार था । क्लाइव और हेस्टिंग्स भले ही निन्दा के पात्र बनें, लेकिन ये लोग साम्राज्य बनानेवालों के नमूने हैं, और जब तक गुलाम क़ौमों पर ज़बरदस्ती साम्राज्य लादे जाँयगे और उनको चूसा जायगा,

तब तक ऐसे लोग आगे आवेंगे और बहुत से लोग उनकी तारीफ़ भी करेंगे। चूसने की तरकीबें अलग-अलग युगों में भले ही बदलती रहें लेकिन तत्व वही रहता है। पार्लमेंट ने क्लाइव की निन्दा भले ही करदी हो लेकिन इन लोगों ने लंदन के ह्वाइट हाल में, इंडिया ऑफिस के बाहर, सामने ही, उसकी एक मूर्त्ति खड़ी कर रक्खी है; भीतर भी उसकी आत्मा आजतक मौजूद है और भारत में ब्रिटिश नीति पर असर डालती रहती है।

हेस्टिंग्स ने अंग्रेज़ों के मातहत कठपुतली के समान हिन्दुस्तानी राजाओं को रखने की नीति शुरू की। भारतीय रंगमंच पर सोने में मढ़े हुए और बेवकूफ़ महाराजाओं और नवाबों की जो भीड़ की भीड़ जो आज अंकड़ती फिरती है और लोगों को बुरी मालूम होती है, उसका कुछ-कुछ श्रेय हमें हेस्टिंग्स को देना पड़ेगा।

हिन्दुस्तान में जैसे-जैसे ब्रिटिश साम्राज्य बढ़ा वैसे ही वैसे मराठों, अफ़ग़ानों, सिक्खों, बर्मनों वग़ैरों से बहुत सी लड़ाइयाँ हुईं। लेकिन इन लड़ाइयों के बारे में एक ताज्जुब की बात यह थी कि हालाँकि ये इँग्लैंड के फ़ायदे के लिए लड़ी गई थीं लेकिन इनका ख़र्चा हिन्दुस्तान को देना पड़ा। इँग्लैंड के रहनेवालों पर कुछ भी बोझ न पड़ा। उन्होंने तो मज़े से फ़ायदा उठा लिया।

याद रहे कि हिन्दुस्तान पर ईस्ट इंडिया कंपनी, जो एक व्यापारी कंपनी थी, राज्य कर रही थी। ब्रिटिश पार्लमेंट का अधिकार बढ़ रहा था लेकिन ज्यादातर हिन्दुस्तान की क़िस्मत व्यापारी लुटेरों के एक गिरोह के हाथों में थी। शासन अधिकांश में व्यापार था और व्यापार अधिकांश में लूट थी। इनके बीच में भेद की बड़ी बारीक रेखा थी। कंपनी अपने हिस्सेदारों को हर साल १००, १५०, और २०० फ़ी सदी से ऊपर ज़बरदस्त मुनाफ़े बाँटती थी। इसके अलावा हिन्दुस्तान में उसके एजेंट अपने लिए अच्छी रक़में बना लेते थे, जैसा कि हम क्लाइव के मामले में देख चुके हैं। कंपनी के कर्मचारी व्यापारी ठेके भी ले लेते थे और इस तरह बहुत जल्द बेशुमार दौलत बटोर लेते थे। हिन्दुस्तान में कंपनी की हुकूमत इस तरह की थी।

: ९३ :

चीन का एक बड़ा मंचू राजा

१५ सितम्बर १९३२

मैं बिलकुल घबरा गया हूँ और मेरी समझ में नहीं आता कि क्या करूँ। बड़ी भयानक ख़बर यह आई है कि बापू ने अनशन करके प्राण दे देने का इरादा

के उत्तरी पडौसी मंचुओं ने हमला करके उसे जीत लिया। इस आधे विदेशी राजवंश के राज्य में चीन बहुत ताक़तवर होगया और दूसरों पर हमले तक करने लगा। मंचू लोग एक नई ताक़त लेकर आये, और जहाँ एक ओर वे चीन के घरू मामलों में कम-से-कम रुकावटें डालते थे, वहाँ वे अपनी फालतू ताक़त को उत्तर, पश्चिम और दक्षिण की तरफ़ अपना साम्राज्य बढ़ाने में ख़र्च करते थे।

एक नया राजघराना शुरू-शुरू में अक्सर थोडे से क़ाबिल राजा पैदा करता है और बाद में नालायकों से उसका ख़ातमा हो जाता है। इसी तरह मंचुओं में भी कुछ ग़ैर-मामूली योग्यतावाले और निपुण राजा और राजनीतिज्ञ पैदा हुए। कांग-ही दूसरा सम्राट हुआ। जब यह गद्दी पर बैठा तो इसकी उम्र सिर्फ़ ८ वर्ष की थी। ६१ वर्ष तक वह ऐसे साम्राज्य का बादशाह रहा जो अपने ज़माने की दुनिया के किसी भी साम्राज्य से बड़ा और ज्यादा आबाद था। लेकिन इतिहास में उसका महत्त्व इस वजह से नहीं है, और न उसकी सैनिक योग्यता के कारण है। उसका नाम अमर हुआ है उसकी राजनीतिज्ञता और उसके असाधारण साहित्यिक कामों के कारण। वह १६६१ से १७२२ ई० तक सम्राट रहा, यानी चौव्वन वर्ष तक वह फ़्रांस के महान सम्राट चौदहवें लुई का समकालीन रहा था। इन दोनों ने बहुत ही लम्बे अर्से तक राज्य किया, और एक रिकार्ड क़ायम करने की इस दौड़ में ७२ वर्ष राज्य करके लुई ने बाजी मारली। इन दोनों का मुक़ाबिला करना मज़ेदार बात है लेकिन यह मुक़ाबिला सब तरह से लुई को ही नीचा गिरानेवाला है। उसने अपने देश का सत्यानाश कर दिया और भारी कर्ज़ों का बोझ उसके सिर पर लादकर उसे बिलकुल कमज़ोर बना दिया। मज़हबी मामलों में भी वह असहिष्णु था। कांग-ही कन्फ्यूशियस का पक्का अनुयायी था लेकिन वह दूसरे मज़हबों के प्रति उदार था। उसके राज्य में, और असल में पहले चार मंचू सम्राटों के राज्य में, मिंग संस्कृति से कोई छेड़-छाड़ नहीं की गई। उसका ऊँचा आदर्श बना रहा और कुछ हद तक तो उसमें तरक़्क़ी भी हुई। उद्योग-धंधे, कला-कारीगरी, साहित्य और शिक्षा उसी तरह चलते रहे जैसेकि मिंग राजाओं के ज़माने में थे। चीनी मिट्टी के अद्भुत बरतनों का बनना जारी रहा। रंगीन छपाई की खोज हुई और तांबे पर खुदाई का काम जेसुइट लोगों से सीखा गया।

मंचू राजाओं की नीतिकुशलता और कामयाबी का भेद इस बात में था कि वे चीन की संस्कृति के पूरे हामी बन गये थे। चीन के विचारों और संस्कृति को अपना कर भी उन्होंने कम सभ्य मंचुओं की ताक़त और क्रियाशीलता को खोया नहीं। इस तरह से (कांग-ही एक ग़ैर-मामूली और अजीब खिचडी था यानी दर्शन और साहित्य का लगन के साथ अध्ययन करने वाला और संस्कृति के कामों में डूबा

हुआ, और बड़ा क़ाबिल सिपहसालार। उसे मुल्क जीतने का ज़रा ज्यादा शौक़ था। वह साहित्य और कला-कौशल का कोई दिखाऊ प्रेमी न था। उसके साहित्यिक कार्यों में से नीचे लिखी तीन किताबों से तुम उसकी गहरी दिलचस्पी और विद्वत्ता का कुछ अन्दाजा लगा सकती हो, जो उसकी सलाह से और ज्यादातर खुद उसीकी देखरेख में तैयार की गईं थीं।

तुम्हें याद होगा कि चीनी भाषा में चिन्ह (शब्द-संकेत) हैं; अक्षर नहीं है। कांग-ही ने चीनी भाषा का एक कोष तैयार करवाया। यह एक ज़बर्दस्त ग्रंथ था जिसमें चालीस हज़ार से ज्यादा चिन्ह थे और उनके प्रयोग बतलाने वाले कितने ही वाक्यांश यानी जुमले थे। आजतक भी उसकी जोड़ का कोई ग्रंथ नहीं है।

कांग-ही के उत्साह ने हमको जो एक और ग्रंथ दिया, वह था एक बड़ा भारी सचित्र विश्वकोष – यानी कई सौ जिल्दों में पूरा होनेवाला एक अद्भुत ग्रंथ। यह एक पूरा पुस्तकालय था; इसमें हरेक बात का बयान था, हरेक विषय पर लिखा गया था। कांग-ही की मृत्यु के बाद यह ग्रन्थ तांबे के उठाऊ छापों से छापा गया।

जिस तीसरे महत्वपूर्ण ग्रंथ का मैं यहाँ ज़िक्र करूँगा, वह था सारे चीन के साहित्य का निचोड़ यानी ऐसा कोष जिसमें शब्दों और पुस्तकों के अंशों का संग्रह और उनका मुक़ाबिला किया गया था। यह भी एक ग़ैर-मामूली काम था क्योंकि इस-के लिए सारे चीनी साहित्य का गहरा अध्ययन ज़रूरी था। कवियों, इतिहास लेखकों और निबन्ध लेखकों की पूरी-पूरी रचनायें इस ग्रंथ में दी गई थीं।)

कांग-ही ने और भी कितने ही साहित्यिक काम किये। लेकिन किसी पर भी असर डालने के लिए ये तीन ही काफ़ी हैं। इनमें से किसी की भी टक्कर का ऐसा कोई आधुनिक ग्रंथ मेरी निगाह में नहीं आता, सिवाय उस बडी 'ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी' के जिसे बनाने में कितने ही विद्वानों ने पचास वर्ष से ज्यादा मेहनत की और जो अभी कुछ वर्ष हुए पूरी हुई है।

कांग-ही ईसाई धर्म और ईसाई मिशनरियों के प्रति काफ़ी उदार था। वह विदेशों के साथ तिजारत बढ़ाने की कोशिश करता था और उसने चीन के सारे बन्दर-गाह इसके लिए खोल दिये थे। लेकिन उसे जल्दी ही पता लग गया कि योरप के लोग बदमाशी करते हैं और उनपर निगाह रखने की ज़रूरत है। उसे यह शक हो गया, जिसके लिए क़ाफी सबूत थे, कि मिशनरी लोग चीन को आसानी से जीत लेने के लिए अपने-अपने देश की सरकारों के साम्राज्यवादियों के साथ साज़िश कर रहे हैं। इसका नतीजा यह हुआ कि उसने ईसाई धर्म के प्रति अपनी उदारता के भावों को बदल दिया। बाद में कैण्टन के चीनी फ़ौजी अफसर से जो रिपोर्ट मिली उससे उसके

शुबहों के काफ़ी सबूत मिले। इस रिपोर्ट में बतलाया गया कि फ़िलिपाइन और जापान में योरप की सरकारों और उनके सौदागरों और मिशनरियों के बीच में कितना गहरा ताल्लुक़ था। इसलिए इस अफ़सर ने यह सिफ़ारिश की थी कि हमलों और विदेशियों की साज़िशों से साम्राज्य को बचाने के लिए विदेशी व्यापार पर पाबन्दी लगाई जाय और ईसाई धर्म के प्रचार को रोका जाय।

यह रिपोर्ट १७१७ ई० में पेश की गई थी। पूर्वी देशों में विदेशियों की साज़िशों पर और उनके इन इरादों पर यह काफ़ी रोशनी डालती है, जिनकी वजह से इन देशों को विदेशी व्यापार कम करना पड़ा और ईसाई धर्म के प्रचार को रोकना पड़ा। तुम्हें शायद याद होगा कि जापान में भी ऐसी ही एक घटना हुई थी जिसके कारण देश को दूसरों के लिए बन्द कर दिया गया था। अक्सर यह कहा जाता है कि चीनी और दूसरे लोग पिछडे हुए और अज्ञान हैं और ये विदेशियों से नफ़रत करते हैं और उनकी तिजारत के रास्ते में दिक्क़तें पैदा करते हैं। पर हमने इतिहास का जो सिंहावलोकन किया है उससे तो यह साफ़ ज़ाहिर हो जाता है कि बहुत पुराने ज़माने से हिन्दुस्तान चीन और दूसरे देशों के बीच काफ़ी तिजारत होती थी। विदेशियों या विदेशी व्यापार से नफ़रत करने का कोई सवाल ही न था। सच तो यह है कि बहुत वर्षों तक तो विदेशी मंडियों पर हिन्दुस्तान का ही क़ब्ज़ा रहा। जब विदेशी व्यापारियों के रिसाले खुल्लम-खुल्ला पश्चिमी योरप की ताक़तों के साम्राज्य को बढ़ाने के काम में लाये जाने लगे, तभी जाकर पूर्व में उनको शक और शुबहे की नज़र से देखा जाने लगा।

कैण्टन के अफ़सर की रिपोर्ट पर चीन की बडी राज्यसभा (Chinese Grand Council of State) ने विचार करके उसे मँज़ूर कर लिया। इसका नतीजा यह हुआ कि सम्राट काँग-ही ने उसके मुताबिक कर्रवाई करके विदेशी व्यापार और पादरियों के प्रचार पर सख़्त पाबन्दी लगाने के हुक्म जारी किये।

अब मैं थोडी देर के लिए ख़ास चीन को छोड़कर तुम्हें एशिया के उत्तर की ओर, यानी साइबेरिया, ले जाना चाहता हूँ और यह बतलाना चाहता हूँ कि वहाँ क्या हो रहा था। साइबेरिया का लम्बा-चौड़ा मैदान सुदूर पूर्व के चीन को पश्चिम के रूस से मिलाता है। मैं कह चुका हूँ कि चीन का मंचू साम्राज्य बड़ा लम्बा-चौड़ा था। इसमें मंचूरिया तो शामिल था ही, लेकिन यह मंगोलिया और उसके परे तक भी फैला हुआ था। सुनहरे क़बीले के मंगोलों को बाहर निकालकर रूस भी एक मज़बूत केन्द्रीय राज्य बन गया था और पूर्व में साइबेरिया के मैदानों की तरफ़ बढ़ रहा था। ये दोनों साम्राज्य अब साइबेरिया में आकर मिलते हैं।

एशिया में मंगोलों का तेज़ी के साथ कमज़ोर होकर नष्ट होजाना इतिहास की अजीब घटना है। ये लोग, जिनका डंका सारे एशिया और योरप में बजता था और जिन्होंने चंगेज़ खाँ और उसके वारिसों के राज्य में उस वक्त की दुनिया का ज्यादातर हिस्सा जीत लिया था, अपना नाम तक खो बैठे। तैमूर के राज्य में कुछ दिनों तक इन्होंने फिर सिर उठाया था लेकिन उसका साम्राज्य उसीके साथ खतम होगया। उसके बाद उसके ख़ानदान के कुछ लोग, जो तैमूरिया कहलाते थे, मध्य एशिया में हुकूमत करते रहे और हमको मालूम है कि उनके दरबारों में चित्रकला की एक मशहूर शैली ईरानी कला का प्रचार हुआ। हिन्दुस्तान में आने वाला बाबर तैमूर के ही ख़ानदान का था। लेकिन तैमूरिये राजाओं के होते हुए भी रूस से लगाकर अपनी जन्मभूमि मंगोलिया तक सारे एशिया में मंगोल जाति गिरकर अपनी सारी ताक़त खो बैठी। उसने ऐसा क्यों किया, यह कोई नहीं बतला सकता। कुछ लोगों की राय है कि आबहवा का इसमें कुछ हाथ है, और लोगों की दूसरी राय है। जो कुछ भी हो, आज तो इन पुराने विजेताओं और आक्रमणकारियों पर ख़ुद ही इधर-उधर से हमले हो रहे हैं।

मंगोल साम्राज्य के टूट जाने के बाद क़रीब-क़रीब दो सौ वर्षों तक एशिया में होकर जानेवाले खुश्की के रास्ते बन्द रहे। सोलहवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में रूसवालों ने ज़मीन के रास्ते चीन को एलची भेजे। उन्होंने मिंग सम्राटों से राजनैतिक रिश्ता क़ायम करने की कोशिश की लेकिन कामयाब न हुए। थोड़े दिन बाद ही 'यरमक' नाम के एक रूसी डाकू ने कज्ज़ाकों का एक गिरोह लेकर यूराल पहाड़ को पार किया और एक छोटे से राज्य सिबिर को जीत लिया। साइबेरिया का नाम इसी राज्य के नाम से निकला है।

यह घटना १५८१ ई० की है। इस तारीख से रूसी लोग पूर्व की तरफ लगातार आगे ही बढ़ते गये यहाँ तक कि लगभग पचास वर्ष में वे प्रशांत महासागर तक पहुँच गये। जल्द ही आमूर की घाटी में उनकी चीनियों से मुठभेड़ हुई। दोनों में लड़ाई हुई जिसमें रूसवालों की हार हुई। १६८९ ई० में दोनों देशों में नरख़िन्स की सुलह हुई। सरहदें तय कर दी गई और व्यापार का इन्तज़ाम किया गया। योरप के एक देश के साथ चीनवालों की यह पहली सुलह थी। इस सुलह से रूस का आगे बढ़ना तो रुक गया लेकिन कारवानों के व्यापार में बड़ी भारी तरक़्क़ी हुई। उस ज़माने में महान् पीटर (पीटर दि ग्रेट) रूस का ज़ार था और वह चीन से नज़दीक़ी सम्बन्ध क़ायम करने का इच्छुक था। उसने कांग-ही के पास दो बार एलची भेजे और बाद में चीन के दरबार में एक दायमी एलची मुक़र्रर कर दिया।

चीन में तो बहुत पुराने जमाने से ही विदेशी एलची या राजदूत आते रहते थे। शायद मैं किसी ख़त में जिक्र कर चुका हूँ कि रोमन सम्राट मार्कस ऑरेलियस एण्टोनियस ने ईसा के बाद दूसरी सदी में एक राजदूत मंडल भेजा था। यह भी दिलचस्पी की बात है कि जब १६५६ ई० में हालैंड और रूस के राजदूत-मंडल चीन के दरबार में पहुँचे तो वहाँ उन्होंने 'महान् मुग़ल' के एलची देखे। ये जरूर शाहजहाँ के भेजे हुए होंगे।

: ९४ :

चीनी सम्राट का अंग्रेज़ बादशाह को पत्र

१६ सितम्बर, १९३२

(मालूम होता है कि मंचू सम्राट ग़ैरमामूली तौर पर लम्बी उम्र वाले होते थे। कांग-ही का पोता शियन-लुंग चौथा सम्राट हुआ। इसने भी १७३६ से १७९६ तक, यानी साठ वर्ष के बहुत ही लम्बे अर्से तक, राज्य किया। दूसरी बातों में भी यह अपने दादा के ही जैसा था। इसकी भी ख़ास दिलचस्पी दो बातों में थी, साहित्यिक कार्य और साम्राज्य की वृद्धि। इसने हिफ़ाजत करने लायक़ सब साहित्यिक ग्रंथों की बड़ी भारी खोज करवाई। इनको इकट्ठा किया गया और बड़ी बारीकी के साथ इनकी फेहरिस्त बनाई गई। इसके लिए फेहरिस्त लफ्ज ठीक नहीं है क्योंकि हरेक ग्रंथ के बारे में जितनी भी बातें मालूम हो सकीं वे सब लिखी गईं और साथ ही उनकी आलोचना भी जोड़ दी गई। शाही पुस्तकालय की यह बड़ी फेहरिस्त, जिसमें किताबों का जिक्र था, चार हिस्सों में थी--कन्फ्यूशियन धर्म-सम्बन्धी; इतिहास, दर्शन और सामान्य साहित्य। कहा जाता है कि इस जोड़ का ग्रंथ दुनिया में और कहीं नहीं है।)

इसी जमाने में चीनी उपन्यासों, छोटी कहानियों और नाटकों की तरक़्क़ी हुई और ये बड़े ऊँचे दर्जे तक जापहुँचे। यह बात ध्यान देने लायक़ है कि उन दिनों इंग्लैण्ड में भी उपन्यास का विकास हो रहा था। चीनी के बरतनों और चीनी कला की दूसरी ख़ूबसूरत चीजों की योरप में माँग थी और इनकी तिजारत का तार बंध रहा था। चाय के व्यापार की शुरुआत और भी दिलचस्प है। यह पहले मंचू सम्राट के जमाने में शुरू हुआ। इंग्लैण्ड में चाय शायद दूसरे चार्ल्स के जमाने में पहुँची थी। अंग्रेजी के मशहूर डायरी यानी दिनचर्या लिखने वाले सेम्युएल पोपीज की डायरी में १६६० ई० में सबसे पहले 'टी' (एक चीनी पेय) पीने के बारे में एक

लिखावट है। चाय के व्यापार में बड़ी ज़बरदस्त तरक़्क़ी हुई और दो सौ वर्ष बाद, १८६० ई० में अकेले फूचू नाम के चीन के बन्दरगाह से, एक मौसम में, दस करोड़ पौंड चाय बाहर भेजी गई। बाद में दूसरे स्थानों में भी चाय की खेती होने लगी, और जैसा कि तुमको मालूम है, आजकल हिन्दुस्तान और सीलोन (लंका) में चाय बहुतायत से पैदा होती है।

शियन-लुंग ने मध्य एशिया में तुर्किस्तान को जीतकर और तिब्बत पर क़ब्जा करके अपना साम्राज्य बढ़ाया। कुछ वर्ष बाद, १७९० ई० में, नेपाल के गुरखों ने तिब्बत पर चढ़ाई की। इस पर शियन लुंग ने न केवल गुरखों को तिब्बत से ही मार भगाया बल्कि हिमालय के ऊपर होकर नेपाल तक उनका पीछा किया और नेपाल को चीनी साम्राज्य की मातहती क़बूल करने को मजबूर किया। नेपाल की यह फ़तेह एक मार्के की बात है। चीन की फौज का तिब्बत और फिर हिमालय को पार करना और गुरखों जैसी लड़ाकू जाति को, खास उन्हींके घर में, हरा देना एक ताज्जुब की बात है। सिर्फ २२ वर्ष बाद, १८१४ ई० में, ऐसी घटना हुई कि हिन्दुस्तान के अंग्रेजों का नेपाल से झगड़ा हो गया। उन्होंने नेपाल को एक फ़ौज भेजी लेकिन उसे बड़ी दिक्क़तों का सामना करना पड़ा, हालांकि उसे हिमालय को पार नहीं करना पड़ा था।

शियन-लुंग के राज के आख़िरी साल यानी १७९६ ई० में, जो साम्राज्य सीधा उसके क़ब्ज़े में था उसमें, मंचूरिया, मंगोलिया, तिब्बत और तुर्किस्तान शामिल थे। उसकी सत्ता को माननेवाली मातहत रियासतें थीं कोरिया, अनाम, स्याम और बरमा। लेकिन देश विजय और सैनिक कीर्ति की लालसा बड़े ख़र्चीले खेल हैं। इनमें बड़ा भारी ख़र्चा होता है और टैक्सों का भार बढ़ता जाता है। यह भार सबसे ज्यादा ग़रीबों पर ही पड़ता है। उस वक़्त आर्थिक तब्दीलियाँ भी होरही थीं जिससे असन्तोष की आग और भी बढ़ी। देशभर में राज्य के विरुद्ध गुप्त समितियाँ क़ायम हो गई। इटली की तरह चीन भी गुप्त समितियों के लिए काफ़ी मशहूर रहा है। इनमें से कुछ के नाम भी मजेदार थे, जैसे श्वेतकमल समिति (व्हाइट लिली सोसाइटी); दैवीन्याय समिति (सोसाइटी ऑफ डिवाइन जस्टिस); श्वेत पंख समिति (व्हाइट फ़ैदर सोसाइटी); स्वर्ग और पृथ्वी की समिति (हैवन ऐन्ड अर्थ सोसाइटी)।

सब तरह की पाबन्दियों के होते हुए भी विदेशी व्यापार साथ-साथ बढ़ रहा था। इन पाबन्दियों के कारण विदेशी व्यापारियों में बड़ा भारी असन्तोष था। व्यापार का सबसे बड़ा हिस्सा ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ में था, जिसने कैण्टन तक पैर फैला रक्खे थे, इसलिए पाबन्दियाँ सबसे ज्यादा इसीको अखरती थीं। जैसा

कि हम आगे के ख़तों में देखेंगे, यह ज़माना वह था जबकि औद्योगिक क्रान्ति के नाम से पुकारी जाने वाली क्रान्ति शुरू हो रही थी और इंग्लैंड इसका अगुआ बन रहा था। भाप का एंजिन ईजाद हो चुका था और नये तरीकों और मशीनों के इस्तेमाल से काम आसान हो रहा था और पैदावार बढ़ रही थी—ख़ासकर सूती माल की। यह जो फालतू माल बन रहा था उसका बिकना भी लाज़मी था, इसलिए नई-नई मण्डियाँ तलाश की जाती थीं। इंग्लैंड बड़ा ख़ुशक़िस्मत था कि ठीक इसी वक़्त हिन्दुस्तान उसके क़ब्ज़े में था जिससे वह यहाँ अपने माल को ज़बरदस्ती बिकवाने का इंतज़ाम कर सकता था, जैसाकि उसने असल में किया भी। लेकिन वह चीन के व्यापार को भी हथियाना चाहता था।

इसलिए १७९२ ई० में ब्रिटिश सरकार ने लार्ड मैकार्टनी के नेतृत्व में एक राजदूत मंडल पेकिंग भेजा। उस समय तीसरा जार्ज इंग्लैंड का बादशाह था। शियन-लुंग ने उसको दरबार में मुलाकात के लिए बुलाया और दोनों ओर से नज़राने दिये-लिये गये। लेकिन सम्राट ने विदेशी व्यापार पर लगी हुई पुरानी पाबन्दियों में कुछ भी हेर-फ़ेर करने से इनकार कर दिया। शियन-लुंग ने जो जवाब तीसरे जार्ज को भेजा था वह बड़ा मज़ेदार ख़रीता है और मैं उसमें से एक लम्बा हिस्सा यहाँ देता हूँ। उसमें लिखा है :—

> "·········ऐ बादशाह, तू बहुत से समुद्रों की सीमा से परे रहता है, फिर भी हमारी सभ्यता से कुछ फायदा उठाने की नम्र इच्छा से प्रेरित होकर तूने एक राजदूत मंडल भेजा है जो बाइज़्ज़त तेरी अर्ज़ी लेकर आया है······। अपनी भक्ति का सबूत देने के लिए तूने अपने देश की बनी हुई चीज़ें भेंट में भेजी हैं। मैंने तेरी अर्ज़ी या प्रार्थनापत्र को पढ़ा है : जो दिली अल्फ़ाज़ उसमें लिखे हैं उनसे मेरे प्रति तेरी आदरपूर्ण विनम्रता प्रकट होती है, जो क़ाबिल तारीफ़ है।·········
>
> "सारी दुनिया पर राज्य करते होते हुए, मेरी निगाह में केवल एक ही मक़सद है यानी आदर्श शासन क़ायम करना और राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों पर अमल करना; आश्चर्यभरी और बेशक़ीमत चीज़ों से मुझे दिलचस्पी नहीं है। मुझे······तेरे देश की बनी हुई चीज़ों की ज़रूरत नहीं है। ऐ बादशाह, तुझे मुनासिब है कि मेरी भावनाओं का आदर करे और भविष्य में इससे भी ज्यादा श्रद्धा और राज्यभक्ति दिखलावे, ताकि तू सदा हमारे राज्यसिंहासन की छत्रछाया में रहकर अपने देश के लिए आगे को शान्ति और सुख प्राप्त करे·········।
>
> "डर से कांपते हुए आज्ञापालन कर और लापरवाही मत कर!"

तीसरे जार्ज और उसके मंत्रियों ने जब यह उत्तर पढ़ा होगा तो वे ज़रा सकते में आगये होंगे! लेकिन जिस ऊँची सभ्यता में स्थिर विश्वास और जिस ताक़त

के बड़प्पन का पता इस जवाब से मिलता है, उसका पाया असल में टिकाऊ न था। मंचू सरकार मज़बूत दिखलाई पड़ती थी और शियन-लुंग के राज्य में वह मज़बूत थी भी। लेकिन उसकी जड़ें तब्दील होती हुई माली हालत की वजह से खोखली होती जा रही थीं। जिन गुप्त समितियों का मैंने ज़िक्र किया है वे इसी असन्तोष को बतलानेवाली थीं। असली दिक़्क़त यह थी कि देश को इन नई आर्थिक तब्दीलियों के अनुकूल नहीं बनाया जारहा था। दूसरी तरफ़ पश्चिम के देश इन नई तब्दीलियों के अगुआ थे। वे बड़ी तेज़ी के साथ आगे बढ़ रहे थे और दिन-पर दिन ताक़तवर होते जाते थे। सम्राट शियनलुंग ने इंग्लैंड के तीसरे जार्ज को जो बड़ा घमंड-भरा जवाब भेजा था। उसके बाद सत्तर साल भी न बीतने पाये थे कि इंग्लैंड और फ़्रांस ने चीन को नीचा दिखा दिया और उसके घमंड को मिट्टी में मिला दिया।

चीन के बारे का यह क़िस्सा तो मैं अपने दूसरे ख़त में बयान करूँगा। १७९६ ई० में, शियन लुंग की मृत्यु पर, हम अठारहवीं सदी के क़रीब-क़रीब अख़ीर तक पहुँच जाते हैं। लेकिन इस सदी के ख़तम होने से पहले अमेरिका और योरप में बहुत सी ग़ैर-मामूली घटनायें हो चुकी थीं। असल में योरप में होने वाली लड़ाइयों और गड़बड़ों के ही कारण क़रीब-क़रीब पच्चीस वर्ष तक चीन में योरप का असर कम होता रहा। इसलिए अगले ख़त में हम योरप की तरफ रुख़ करेंगे और अठारहवीं सदी के शुरू से कहानी का सिलसिला शुरू करेंगे और हिन्दुस्तान तथा चीन की घटनाओं से उसका मेल मिलावेंगे।

लेकिन इस ख़त को ख़त्म करने के पहले मैं पूर्व में रूस की तरक़्क़ी का हाल तुमको बतलाऊँगा। रूस और चीन में १६८९ ई० में जो नरख़िन्स्क की सुलह हुई, उसके बाद क़रीब डेढ़सौ वर्ष तक पूर्व में रूस का असर बढ़ता ही गया। १७२८ ई० में वाइटस बेरिंग नाम के एक डेनमार्क के कप्तान ने, जो रूस में नौकर था, एशिया और अमेरिका को अलग करने वाले जलडमरूमध्य (आबनाय) की खोज की। शायद तुम जानती हो कि यह डमरूमध्य आज भी उसके नाम पर बेरिंग का जलडमरूमध्य कहलाता है। बेरिंग समुद्र को पार करके अलास्का जा पहुँचा और उस देश को रूस के मातहत होने का एलान कर दिया। अलास्का समूरों[1] के लिए खासतौर पर मशहूर है और चूंकि समूर की खालों की चीन में बड़ी भारी मांग थी इसलिए रूस और चीन के बीच समूर की खालों की एक खास तिजारत का सिलसिला क़ायम

१. समूर—अलास्का (उत्तरी अमेरिका) में एक लोमड़ी होती है जिसके बाल बहुत मुलायम होते हैं। इसकी खाल के गुलूबन्द बनते हैं जो बड़े क़ीमती होते हैं। अंग्रेज़ी में समूर के बालों को फ़र (Fur) कहते हैं।

हो गया। अठारहवीं सदी के अख़ीर में समूर की खालों वग़ैरा की माँग चीन में इस क़दर बढ़ गई कि रूस इनको कनाडा की हडसन खाडी से इंग्लैंड के रास्ते मंगवाकर साइबेरिया में बैकाल झील के पास कियाख़्ता की समूर की खालों की बडी भारी मंडी को रवाना करने लगा। ये समूर की खालें कितना ज़बरदस्त रास्ता तय करके आती थीं।

ज़रा तब्दीली के लिए यह ख़त इस तरह के और ख़तों से छोटा हो गया है। मुझे उम्मीद है कि यह परिर्वन तुम पसन्द करोगी।

: ९५ :

अठारहवीं सदी के योरप में विचारों की लड़ाई

१० सितम्बर, १९३२

अब हम वापस योरप की तरफ़ चलेंगे और उसके बदले हुए भाग्य पर ग़ौर करेंगे यह उन ज़बरदस्त तब्दीलियों की शुरूआत का वक़्त है जिनका असर संसार के इतिहास पर पड़ा। इन तब्दीलियों को समझने के लिए हमको चीज़ों की भीतरी तह में झाँकना पडेगा और यह जानने की कोशिश करनी पडेगी कि लोगों के दिमाग़ में क्या-क्या बातें चक्कर लगा रही थीं। क्योंकि जो कुछ क्रिया हमको दिखलाई पड़ती है वह विचारों और इच्छाओं, तआस्सुबों (पक्षपात) और अन्ध विश्वासों, उम्मीदों और ख़तरों की गुत्थी का नतीजा होती है; और जब तक कि हम किसी काम के साथ-साथ उसके कारणों पर विचार न करें तब तक उस काम को यों ही समझना मुश्किल हो जाता है। लेकिन यह आसान बात नहीं है, और अगर मैं इस क़ाबिल भी होऊँ कि इतिहास की महत्वपूर्ण घटनाओं को ढालने वाले इन कारणों और उद्देश्यों पर अच्छी तरह लिख सकूं, तो भी मैं यह कभी न चाहूँगा कि इन ख़तों को और भी ज्यादा नीरस और उकता देनेवाला बनादूं। मुझे डर रहता है कि कभी-कभी किसी विषय के बारे में या किसी ख़ास ख़याल के बारे में जोश ही जोश में मैं ज़रूरत से ज्यादा गहराई में न पहुँच जाऊँ। लेकिन मैं लाचार हूँ। तुम्हें यह बर्दाश्त करनी पडेगी। फिर भी हम इन कारणों की ज्यादा गहराई में नहीं जा सकते। लेकिन इनको छोड़ देना भी परले दरजे की बेवकूफ़ी होगी; और अगर हम ऐसा करें भी तो इतिहास की कशिश या आकर्षण और ख़ासियत से महरूम रह जावेंगे।

सोलहवीं सदी और सत्रहवीं सदी के पहले आधे हिस्से में योरप में जो उथल-पुथल और हलचलें मचीं उनपर हमने विचार कर लिया है। सत्रहवीं सदी के बीच

के समय में (१६४८) वेस्ट फ़ैलिया की सुलह हुई जिससे उस भयानक 'तीस साला लड़ाई' का ख़ातमा हो गया। एक साल बाद ही इंग्लैंड की घरेलू लड़ाई ख़तम हो गई और चार्ल्स प्रथम का सर उड़ा दिया गया। इसके बाद कुछ-कुछ शान्ति का जमाना आया। योरप बिलकुल पस्त हो गया था। अमेरिका और दूसरी जगहों के उपनिवेशों में व्यापार से योरप को धन मिलने लगा जिससे कुछ मदद मिली और जुदे-जुदे गिरोहों की आपसी तनातनी कम हुई।

१६८८ में इंग्लैंड में वह शान्तिपूर्ण क्रान्ति हुई जिसने दूसरे जेम्स को निकाल बाहर किया और पार्लमेण्ट को विजयी बना दिया। असली लड़ाई तो पार्लमेण्ट ने चार्ल्स प्रथम के ख़िलाफ़ गृह-यद्ध में जीती थी। क्रांति ने तो ख़ाली उसी नतीजे पर मुहर लगा दी जो चालीस साल पहले तलवार के ज़ोर से हासिल हुआ था।

इस तरह इंग्लैड में बादशाह का महत्व कम हो गया। लेकिन योरप में, सिवाय स्वीज़रलैंड और हॉलैंड-जैसे कुछ छोटे-छोटे मुल्कों के हालत इससे उलटी थी। वहाँ तो अभी आज़ाद और निरंकुश राजाओं का बोलबाला था और फ़्रांस के महान बादशाह चौदहवें लुई को आदर्श मानकर उसकी नक़ल की जाती थी। योरप में सत्रहवीं सदी क़रीब-क़रीब चौदहवें लुई की ही सदी थी। योरप के राजा लोग पूरी शान-शौक़त और बेवक़ूफी के साथ मनमानी मौज कर रहे थे, आगे आनेवाली अपनी बुरी हालत की उनको कोई फ़िक्र न थी और न वे इंग्लैण्ड के चार्ल्स प्रथम पर जो बीती उससे ही सबक़ लेना चाहते थे। उनका दावा था कि देश की सारी ताक़त और सारी दौलत उनकी ही है और देश तो मानो उनकी निजी जागीर है। चारसौ वर्ष से ज्यादा हुए तब इरैस्मस नामके हालैंड के एक विद्वान ने लिखा था :—"बुद्धिमानों को तमाम चिड़ियों में से एक ईगल (उक़ाब या गरुड़) ही बादशाही का नमूना नज़र आया है, जो न तो सुन्दर है, न सुरीला, न खाने लायक़, बल्कि मांसभक्षी, भुक्खड़, सबकी घृणा का पात्र, सबसे बुरा, नुक़सान पहुँचाने की बहुत बडी ताक़त रखनेवाला और नुकसान पहुँचाने की इच्छा रखने में सब से बढ़कर है।" आज बादशाहों का क़रीब-क़रीब लोप हो चुका है और जो कुछ बचे हैं, वे पुराने ज़माने के चिन्ह मात्र हैं, उनके हाथ में कुछ भी ताक़त नहीं है। अब हम उनको दरगुज़र कर सकते हैं। लेकिन उनकी जगह दूसरे और उनसे ज्यादा ख़तरनाक आदमियों ने लेली है और नये युग के इन साम्राज्यवादियों तथा लोहे और तेल और चाँदी और सोने के बादशाहों की ठीक अलामत अब भी ईगल ही है।

योरप की बादशाहतें मज़बूत केन्द्रीय रियासतें बन गईं। राजा और सरदार की पुरानी सामन्तशाही ख़तम हो चुकी थी या होरही थी। देश के एक इकाई और

एक हस्ती होने का नया ख़याल इसकी जगह ले रहा था। रिशेल्यू और मैज़ैरिन नाम के दो बड़े क़ाबिल मंत्रियों के समय में फ़्रांस इसका अगुआ बना। इस तरह राष्ट्रीयता का और कुछ हद तक देशभक्ति का उदय हुआ। धर्म, जो अभी तक इन्सान की ज़िन्दगी की सबसे महत्वपूर्ण चीज़ थी, अब अपना महत्व खोने लगा और उसकी जगह नये विचारों ने ले ली, जैसा कि मैं इसी ख़त में आगे चलकर बतलाऊँगा।

सत्रहवीं सदी इस कारण और भी ज्यादा महत्वपूर्ण है कि उसमें आधुनिक विज्ञान की नींव रक्खी गई और सारी दुनिया का व्यापार खुल गया। इस बड़े भारी नये बाज़ार ने क़ुदरती तौर पर योरप की पुरानी माली हालत को डाँवाडोल कर दिया और इसके बाद योरप, एशिया और अमेरिका में जो कुछ भी हुआ वह तभी समझ में आसकता है जब इस नये बाज़ार को नज़र के सामने रक्खा जाय। बाद में विज्ञान की तरक़्क़ी हुई और इसने दुनिया-भर के बाज़ार की माँग को पूरा करने के साधन पैदा कर दिये।

अठारहवीं सदी में उपनिवेश और साम्राज्य बढ़ाने की दौड़ का, जो ख़ासकर इंग्लैंड और फ़्रांस के बीच चली, नतीजा यह हुआ कि न सिर्फ़ योरप में ही बल्कि कनाडा और, जैसाकि मैं लिख चुका हूँ, हिन्दुस्तान में भी, लड़ाई चेत गई। सदी के बीच में इन लड़ाइयों के बाद फिर एक शान्ति का ज़माना आया। योरप की ऊपरी सतह शान्त और हलचल से सूनी नज़र आने लगी। योरप के सारे शाही दरबार बड़े ही विनीत, सभ्य और नफ़ीस महिलाओं और पुरुषों से भरे थे। लेकिन यह शान्ति सिर्फ़ ऊपरी सतह पर थी। भीतर ही भीतर खलबली और हलचल मच रही थी और नये ख़याल तथा नई भावनायें लोगों के दिमाग़ को परेशान कर रही थीं; और शानदार दरबारियों और कुछ ऊपर के वर्गों को छोड़कर बाकी के ज्यादातर लोगों को बढ़ती हुई ग़रीबी के कारण, दिन पर दिन ज्यादा मुसीबतें झेलनी पड़ रही थीं। इसलिए अठाहरवीं सदी के पिछले हिस्से में योरप में जो शान्ति नज़र आती थी वह बड़ी धोखा देनेवाली थी; वह तो आनेवाले तूफ़ान की सूचक थी। १७८९ ई० की १४ वीं जुलाई को योरप की सबसे बड़ी बादशाहत की राजधानी पेरिस में तूफ़ान की शुरुआत हुई। इस तूफ़ान में यह बादशाहत और सैकड़ों ही दूसरे पुराने और घुने हुए रिवाज और अधिकार बह गये।

इस तूफ़ान और बाद में होनेवाली तब्दीली की तैयारी फ़्रांस और कुछ-कुछ योरप के दूसरे देशों में भी, बहुत दिनों से नये विचारों के ही कारण हो रही थी। सारे मध्य युग में योरप में मज़हब का ही दौरदौरा था। बाद में, रिफ़ार्मेशन के ज़माने में भी, यही हालत रही, हरेक सवाल पर, चाहे वह राजनैतिक हो या

आर्थिक, मज़हबी पहलू से विचार किया जाता था। मज़हब एक संगठित चीज़ था और उसका मतलब था पोप और चर्च के दूसरे ऊँचे अफ़सरों की मर्ज़ी। समाज का संगठन बहुत कुछ ऐसा ही था, जैसा हिन्दुस्तान में जातियों का। शुरू-शुरू में जाति का मतलब था समाज के धन्धों या कामों के मुताबिक होनेवाला बँटवारा। मध्ययुग में समाज के सम्बन्ध में लोगों के जो ख़याल थे उनकी जड़ यही पेशों के मुताबिक बने हुए सामाजिक वर्ग थे। हरेक वर्ग में, हिन्दुस्तान की हरेक जाति की तरह, बराबरी की भावना थी। लेकिन किन्हीं दो या ज्यादा जातियों के बीच में यह बराबरी की भावना न थी। समाज का सारा ढांचा ही इस असमानता की नींव पर खड़ा था और कोई इस पर ऐतराज़ करनेवाला न था। इस बँटवारे से जिनको तकलीफ़ होती थी उनसे कहा जाता था कि "इसका इनाम तुमको स्वर्ग में मिलेगा।" इस तरह मज़हब इस अन्याय से भरे हुए सामाजिक ढांचे को बनाये रखने की कोशिश करता था और परलोक की बात करके लोगों का ध्यान इस तरफ़ से हटाने की कोशिश करता था। अमानतदारी या ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त जो कहलाता है उसका भी यह मज़हब प्रचार करता था, यानी उसके मुताबिक दौलतमंद आदमी एक तरह से ग़रीब आदमी का अमानतदार था; ज़मींदार अपनी ज़मीन को काश्तकार की 'अमानत' की तरह रखता था। एक बड़ी बेतुकी स्थिति को समझाने का चर्च का यह तरीक़ा था। इससे अमीरों का कुछ बनता-बिगड़ता न था और ग़रीबों को कोई आराम न पहुँचता था। भूखे पेट में भोजन की जगह ख़ाली स्थानपन की बातों से काम नहीं चल सकता।

*(कैथलिकों और प्रोटेस्टेण्टों की सख़्त मज़हबी लड़ाई, कैथलिक और कालविन के अनुयायियों—दोनों—की असहिष्णुता, और इनक्विज़िशन, ये सब इस कट्टर मज़हबी और जातिगत दृष्टिकोण के ही नतीजे थे। ज़रा इसका विचार तो करो! कहा जाता है कि योरप में प्यूरिटनों ने लाखों स्त्रियों को जादूगरनी बतलाकर ज़िन्दा जला डाला। विज्ञान के नये ख़यालात को दबाया जाता था क्योंकि ये चर्च के मत के ख़िलाफ़ थे। जीवन को बिलकुल स्थिर और प्रगतिहीन समझा जाता था; तरक़्क़ी का कोई सवाल न था।)

सोलहवीं सदी के बाद ये ख़याल हमको धीरे-धीरे बदलते हुए मालूम होते हैं। विज्ञान का उदय होता है और मज़हब का सब चीज़ों को जकड़ने वाला शिकजा ढीला पड़ जाता है; राजनीति और अर्थशास्त्र मज़हब से अलग समझे जाते हैं। कहते हैं कि सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों में बुद्धिवाद की, यानी अंधविश्वास के मुक़ाबिले में तर्क की बढ़ती होती है। यह माना जाता है कि सहिष्णुता की विजय दरअसल

अठारहवीं सदी में ही क़ायम हुई है। लेकिन इस विजय का असली मतलब यह था कि लोग मज़हब को अब उतना महत्व नहीं देते थे जितना पहले दिया जाता था। यह सहिष्णुता क़रीब-क़रीब उदासीनता थी। जब लोगों में किसी बात के लिए बहुत ज्यादा जोश होता है तो वे उस बारे में सहनशील बहुत कम होते हैं; जब वे उस बात की पर्वाह नहीं करते सिर्फ तभी वे उदारता के साथ अपनी सहनशीलता का ऐलान करते हैं। उद्योगवाद और मशीनों के प्रचार के साथ मज़हब के बारे में और भी उदासीनता बढ़ने लगी। विज्ञान ने योरप की पुरानी रूढ़ियों की जड़ ही काट दी; नये उद्योग-धन्धों और आर्थिक हालतों ने नये सवाल पैदा कर दिये, जिन्होंने लोगों का ध्यान अपनी तरफ़ खींच लिया। इस तरह योरप में लोगों ने मज़हबी विश्वास और रूढ़ि के सवालों पर एक दूसरे का सिर फोड़ने की आदत छोड़ दी (लेकिन पूरी तरह से नहीं); इसके बजाय अब उनमें आर्थिक और सामाजिक मामलों पर सिर-फुटव्वल होने लगी।

योरप के इस मज़हबी ज़माने का मुक़ाबिला आजकल के हिन्दुस्तान से करना दिलचस्प भी है और शिक्षाप्रद भी। अक्सर तारीफ़ और हिकारत दोनों के तौर पर, यह कहा जाता है कि हिन्दुस्तान तो धार्मिक और आध्यात्मिक देश है। उसका मुक़ा-बिला योरप से किया जाता है जो अधार्मिक और ज़िन्दगी के ऐश-आराम को ज़रूरत से ज्यादा पसन्द करनेवाला कहा जाता है। जहाँतक हिन्दुस्तान के दृष्टिकोण पर धर्म का रंग चढ़ा हुआ है, वहाँतक तो वास्तव में यह मज़हबी हिन्दुस्तान सोलहवीं सदी के योरप से अजीब तौर पर मेल खाता है। अलबत्ता इस तुलना को बहुत ज्यादा नहीं बढ़ाया जा सकता। लेकिन यह स्पष्ट है कि क्या तो धार्मिक विश्वास और रूढ़ियों को हमारी ज़रूरत से ज्यादा महत्व दिया जाना, क्या हमारा राजनैतिक और आर्थिक प्रश्नों को मज़हबी फिरकों के हितों से मिलाना, क्या हमारे साम्प्रदायिक झगडे और इसी तरह के सवाल, इन सब में वही घटनाचक्र है जो मध्यकाल के योरप में चल रहा था। अमली और जड़वादी योरप और आध्यात्मिक और परलोक-वादी पूर्व का तो वहाँ कोई सवाल ही नहीं है। फ़र्क़ है तो एक उद्योगी और मशीन का ख़ूब प्रयोग करनेवाले योरप में——उसकी तमाम अच्छी और बुरी बातों के साथ——और उस पूर्व में जहाँ अभी तक उद्योग-धन्धों की ज्यादा शुरूआत नहीं हुई थी और जहाँ ज्यादातर खेती-बाडी का ही काम होता था।

योरप में सहिष्णुता और बुद्धिवाद का यह विकास बहुत धीरे-धीरे हुआ। शुरू-शुरू में इसे पुस्तकों से ज्यादा मदद नहीं मिली क्योंकि लोग ईसाई धर्म की खुल्लम-खुल्ला आलोचना करनें से डरते थे। ऐसा करने का नतीजा था क़ैद या और

कोई सजा। एक जर्मन दार्शनिक को प्रशिया से इसलिए निकाल दिया गया कि उसने कनफ्यूशियस की बहुत ज्यादा तारीफ़ करदी थी। यह ईसाई धर्म पर आक्षेप समझा गया। लेकिन अठारहवीं सदी में, जबकि ये नये ख़याल स्पष्ट और सार्वजनिक हो गये, तो इन विषयों के बारे में पुस्तकें निकलने लगीं। बुद्धिवाद सम्बन्धी और दूसरे विषयों पर उस समय का सबसे मशहूर लेखक वाल्टेयर नाम का एक फ्रांसीसी था जिसको क़ैद करके देश से निकाल दिया गया और जो आख़िरकार जिनेवा के पास फ़र्नी में जाकर रहा। जेल में उसे काग़ज़ और कलम-दवात नहीं दिये गये। इसलिए उसने किताबों की लाइनों के बीच-बीच में सीसे के टुकडों से कवितायें लिखीं। बहुत थोडी उम्र में ही वह एक मशहूर आदमी हो गया। दरअसल जब लोगों का ध्यान उसकी असाधारण योग्यता की तरफ़ खिंचा तब वह सिर्फ़ दस ही बरस का था। वाल्टेयर अन्याय और कट्टरपन्थी से सख़्त नफ़रत करता था। और इनके ख़िलाफ़ वह बहुत लड़ा। उसकी मशहूर पुकार थी---Ecrasez l'infame यानी 'इस घृणित चीज (झुठे विश्वास) को नष्ट कर दो'। वह बहुत दिन यानी १६९४ से १७७८ तक जिया और उसने कितनी ही किताबें लिखीं। चूंकि वह ईसाई धर्म की आलोचना करता था इसलिए कट्टर ईसाई लोग उससे सख़्त नफ़रत करते थे। अपनी एक किताब में उसने लिखा है कि "जो आदमी बिना जांच-पड़ताल किये किसी धर्म को इख़्तियार कर लेता है, वह उस बैल के समान है जो अपने कन्धे पर जुआ रखवा लेता है।" लोगों को बुद्धिवाद और नये विचारों की तरफ़ झुकाने में वाल्टेयर की रचनाओं का बड़ा भारी असर पड़ा। फ़र्नी में उसका पुराना मकान अब भी बहुत लोगों के लिए एक तीर्थस्थान है।

एक दूसरा बड़ा लेखक, जो वाल्टेयर का समकालीन लेकिन उम्र में उससे छोटा था, जीन जैकस रूसो था। उसका जन्म जिनेवा में हुआ और जिनेवा को उसपर बड़ा नाज है। क्या तुमको वहाँ पर जो उसकी मूर्ति है उसका ख़याल है? रूसो ने धर्म और राजनीति पर जो कुछ लिखा उससे बड़ा हो-हल्ला मचा। लेकिन फिर भी उसके नवीन और जरा साहसपूर्ण सामाजिक और राजनैतिक मतों ने बहुतों के दिमाग़ में नये ख़यालात और नये इरादों की आग सुलगा दी। उसके राजनैतिक विचार आजकल के जमाने के अनुकूल नहीं रहे हैं, लेकिन उन्होंने फ़्रांस के लोगों को उस महान् राजक्रांति के लिए तैयार कराने में बडा भारी हिस्सा लिया। रूसो ने राज्यक्रांति का प्रचार नहीं किया, शायद उसे किसी क्रान्ति की उम्मीद भी न थी। लेकिन उसकी किताबों और ख़यालों ने ज़रूर लोगों के दिमाग़ में ऐसा बीज बो दिया जिसका फल क्रांति के रूप में प्रकट हुआ। इसकी सबसे मशहूर पुस्तक 'सोशल

ाण्ट्रैक्ट' यानी सामाजिक शर्तनामा है और इस मशहूर वाक्य से शुरू होती है (मैं दवाश्त से लिख रहा हूँ): "Man is born free but is everywhere in chains." नी "मनुष्य जन्म से स्वतन्त्र है, लेकिन वह सब जगह ज़ंजीरों में जकड़ा हुआ है।"

रूसो एक ज़बरदस्त शिक्षा-प्रचारक भी था और उसके बतलाये हुए शिक्षा के ;त से नये तरीक़े आज भी स्कूलों में बरते जाते हैं।

अठारहवीं सदी में फ्रांस में वाल्टेयर और रूसो के अलावा और भी बहुत से सेद्ध विचारक और लेखक हुए। मैं सिर्फ़ माण्टेस्क्यू[१] के नाम का ज़िक्र और करूँगा ासने 'एस्प्रित दी लोई' नामकी किताब लिखी। पेरिस में इसी के समय में एक विश्व ाष भी प्रकाशित हुआ जो दिदरोत और राजनैतिक और सामाजिक विषयों के दूसरे द्वान् लेखकों के लेखों से भरा पड़ा था। फ्रांस दार्शनिकों और विचारकों से भरा हुआ ज़र आता था। इतना ही नहीं, इनकी पुस्तकें भी खूब पढ़ी जाती थीं और यह इसमें ामयाब हो गये कि हज़ारों मामूली लोग इन्हींकी तरह सोचने और ख़याल करने ो और इनके मतों पर बात-चीत करने लगे। इस तरह फ्रांस में एक ऐसा ज़ोरदार ाकमत पैदा हो गया जो धार्मिक असहिष्णुता और राजनतिक और समाजिक आयतों के ख़िलाफ़ था। लोगों पर आज़ादी की अस्पष्ट इच्छा का एक भूत-सा ार हो गया। लेकिन अजीब बात तो यह है कि न तो जनता ही और न दार्शनिक ाग ही बादशाह से पिंड छुड़ाना चाहते थे। उस वक़्त प्रजातन्त्र की भावना सब ागों में न थी, और जनता तो यही उम्मीद करती थी कि उसे प्लेटो के दार्शनिक दशाह से मिलता जुलता एक आदर्श राजा मिले जो उनकी तकलीफ़ों को दूर करे ार उनको न्याय और थोडी बहुत स्वाधीनता दे दे। जो कुछ भी हो, दार्शनिकों ने ा ही लिखा है। इस बारे में शक होने लगता है कि आख़िर पीड़ित जनता दशाह से कितनी मुहब्बत करती थी!

इंग्लैण्ड में फ़्रांस की तरह का राजनैतिक विचारों का कोई विकास नहीं हुआ। ा जाता है कि अंग्रेज़ राजनैतिक जन्तु नहीं है। लेकिन फ्रांसीसी हैं। इसके ावा १६८८ ई० की क्रान्ति ने भी तनातनी को कुछ कम कर दिया था। लेकिन छ वर्ग अब भी बहुतेरी सुविधाओं और रिआयतों का उपभोग कर रहे थे। नई

१. **माण्टेस्क्यू**--(१६८९-१७५५) फ्रांस का प्रसिद्ध विचारक, तत्ववेत्ता और तेहासकार। १७४८ ई० में इसकी मशहूर किताब 'Esprit des Lois' प्रकाशित हुई, ससे उसके गहरे अध्ययन का पता लगता है। यह पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई उस ज़माने में भी, १८ महीने के अन्दर उसके २२ संस्करण हो गये। उसके चारों के कारण चर्च ने उस पर ज़बर्दस्त आक्रमण किया था।

ार्थिक परिस्थितियों, जिनके बारे में जल्दी ही किसी अगले ख़त में मैं तुमको लिखूंगा, र व्यापार और अमेरिका तथा हिन्दुस्तान की उलझनों में अंग्रेज़ों का दिमाग़ लगा आ था। जब सामाजिक तनातनी बहुत बढ़ गई तो एक काम चलाऊ-समझौते ने स्फोट या धड़ाके के ख़तरे को दूर कर दिया। फ्रांस में इस तरह के समझौते की जाइश न थी, और इसीलिए उथल-पुथल हो गई।

यह भी ध्यान देने की बात है कि इंग्लैण्ड में आधुनिक उपन्यास का विकास ठारहवीं सदी के बीच में हुआ। 'गुलिवर्स ट्रैवल्स' और 'रॉबिन्सन क्रूसो' अठारहवीं दी के शुरू में लिखे गये थे, जैसा कि मैं पहले ही बतला चुका हूँ। इनके बाद असली पन्यास निकले। इस वक्त इंग्लैण्ड में पाठकों का एक नया गिरोह पैदा हुआ।

अठारहवीं सदी में ही गिबन नाम के एक अंग्रेज़ ने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'डिक्ला-न एण्ड फॉल ऑफ दि रोमन एम्पायर' यानी रोमन साम्राज्य का ह्रास और पतन ख़ा। रोमन साम्राज्य का बयान करते वक़्त अपने किसी पिछले ख़त में मैं इस बात ोर इस किताब का ज़िक्र कर चुका हूँ।

: ९६ :

महान् परिवर्त्तनों के पहले का योरप

२४ सितम्बर, १९३२

हमने अठारहवीं सदी में योरप के, और ख़ासकर फ्रांस के, स्त्री-पुरुषों के लों में ज़रा झांकने की कोशिश की है। यह सिर्फ़ एक झांकी रही है जिसने हमको छ ख़यालात की बढ़ती और पुराने विचारों से उनकी लड़ाई का दृश्य दिखलाया । अभी तक हम परदे के पीछे रहे हैं, लेकिन अब हम योरप की रंगभूमि के पात्रों : निगाह डालेंगे।

फ्रांस में बुड्ढा चौदहवाँ लुई आख़िरकार १७१५ ई० में मरने में कामयाब हो गया। वह कई पीढ़ियों तक ज़िन्दा रहा और उसके बाद उसका पोता, पंद्रहवें ई के नाम से, गद्दी पर बैठा। फिर एक ५९ वर्ष की लम्बी हुकूमत चली। इस तरह दहवें और पंद्रहवें लुई, फ्रांस के इन दो सिलसिलेवार बादशाहों ने, कुल १३१ वर्ष क राज किया।

चीन के दो मंचू बादशाह कांग-ही और शियन-लुंग, हरेक ने साठ-साठ वर्ष राज या, लेकिन ये एकके बाद दूसरा यानी एक सिलसिले से नहीं हुए और इन दोनों बीच में एक तीसरे का भी राज रहा।

असाधारण लम्बे वक़्त के अलावा पंद्रहवें लुई का शासन ख़ास तौर पर शर्मनाक बुराइयों और षड्यंत्रों के लिए मशहूर है। राज्य की सारी दौलत बादशाह के ऐश-आराम में ख़र्च होती थी। सब दरबारी लोग अपने-अपने आदमियों का ख़ूब फ़ायदा करवाते थे जिससे फ़िज़ूलख़र्ची बढ़ गई थी। जो दरबारी स्त्री या पुरुष बादशाह को ख़ुश कर लेते उनको मुफ़्त की ज़मींदारियाँ और फ़ालतू ओहदे बख़्शे जाते थे, जिनका मतलब था बिना मेहनत की आमदनी। और इन सबका भार जनता पर ज्यादा ही ज्यादा बढ़ता जाता था। निरंकुशता, अयोग्यता, और अनाचार, बड़े मज़े से हाथ मिलाये हुए आगे बढ़ रहे थे, फिर इसमें ताज्जुब की क्या बात है अगर सदी के ख़तम होते न होते वे अपने रास्ते के किनारे पर पहुँच गये और गहरी खाई में जा गिरे? ताज्जुब तो यह है कि रास्ता इतना लम्बा निकला और गिरावट इतनी देर बाद हुई। पंद्रहवाँ लुई जनता के इन्साफ़ और बदले से बच गया; इनका मुक़ाबिला तो उसके वारिस सोलहवें लुई को १७७४ ई० में करना पड़ा।

अपनी अयोग्यता और कमीनेपन के बावजूद भी पंद्रहवें लुई को राज्य में उसकी एकमात्र सत्ता के बारे में कोई संदेह न था। उसके पास सब कुछ था और उसे अपनी मर्ज़ी के मुताबिक करने से रोकनेवाला कोई न था। पेरिस में १७७६ ई० में एक सभा के सामने बोलते हुए उसने जो शब्द कहे थे वे सुनने लायक़ हैं :-—

"C'est en ma personne seul que re'side l'antorite souveraine·· C'est a moi seul qu'appartient le pouvoir lejislatif sans dependance et sans partage. L'ordre public tout entier emane de moi; j'en suis le guardien supreme. Mon peuple n'est qu'un avec moi; les droits et les interets de la nation, dont on ose, faire un corps separe du monarque, sont necessairement unis avec les miens et ne reposent qu'entre mes mains."

यानी "राज्य-सत्ता पूरे तौर पर सिर्फ़ मेरे ही व्यक्तित्व में निवास करती है····। सिर्फ़ मुझको ही, बिना किसी का सहारा या मदद लिये, क़ानून बनाने का पूरा हक़ है। प्रजा की शान्ति का एकमात्र स्रोत मैं ही हूँ; मैं ही उसका सबसे बड़ा रक्षक हूँ। मेरी प्रजा की मुझसे अलहदा कोई हस्ती नहीं है; राष्ट्र के अधिकार और हित, जो कुछ लोगों के दावे के मुताबिक़ बादशाह से कोई अलग चीज़ हैं, वे ज़रूरी तौर पर मेरे ही अधिकार और हित हैं और मेरी ही मुट्ठी में रहते हैं।"

अठारहवीं सदी के ज्यादातर हिस्से में फ़्रांस का राजा इस तरह का था। कुछ दिनों तक तो योरप में उसका दबदबा मालूम होने लगा था। लेकिन बाद में दूसरे राजाओं और राष्ट्रों की महत्वाकांक्षाओं से उसकी मुठभेड़ हुई और उसे हार माननी पड़ी। फ़्रांस के कुछ पुराने प्रतियोगियों का भी योरप के स्टेज पर कोई ज़ोरदार पार्ट

न रहा। लेकिन उनकी जगह फ़्रांस की ताक़त का मुकाबिला करने के लिए और दूसरे पैदा हो गये। थोडे दिन की शहंशाही शानशौकत भुगतकर घमंडी स्पेन योरप में, और दूसरी जगहों में भी, नीचे गिर गया। लेकिन अमेरिका और फ़िलिपाइन, टापुओं में बडे-बडे उपनिवेश अब भी उसके क़ब्ज़े में थे। आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग भी जिन्होंने साम्राज्य के शिरोमणि होने का और उसके ज़रिये योरप की नेतागिरी का ठेका-सा ले रक्खा था, अब पहले जैसे महत्वपूर्ण नहीं रह गये थे। आस्ट्रिया अब साम्राज्य की अगुआ रियासत नहीं थी; एक दूसरी रियासत प्रशिया आगे बढ़ गई थी और आस्ट्रिया की बराबरी करने लगी थी। आस्ट्रिया की राजगद्दी की विरासत के लिए लड़ाइयाँ हुईं और बहुत दिनों तक मेरिया थैरेसा नाम की एक महिला ने उसको घेर रक्खा।

तुम्हें याद होगा कि १६४८ ई० की वेस्टफैलिया की सन्धि ने प्रशिया को योरप की महत्वपूर्ण शक्ति बना दिया था। वहाँ पर हॉहेनज़ॉर्लेन का घराना राज कर रहा था और दूसरे जर्मन राजवंश, आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग के घराने, की सत्ता का मुक़ाबिला करने के लिए तैयार हो रहा था। छियालीस वर्ष यानी १७४० से १७८६ ई० तक प्रशिया पर फ़्रेडरिक ने राज किया जो फ़ौजी कामयाबी के कारण 'ग्रेट' यानी महान् कहलाता है। योरप के दूसरे राजाओं की तरह यह भी एक स्वेच्छाचारी राजा था लेकिन उसने दार्शनिक का चोग़ा पहन लिया था और वाल्टेयर से दोस्ती करने की कोशिश की थी। उसने एक ताक़तवर फ़ौज तैयार कर ली थी और वह एक होशियार और कामयाब सिपहसालार था। वह अपने आपको 'बुद्धिवादी' कहता था और सुनते हैं कि वह कहा करता था कि "हरेक को यह छुट्टी रहनी चाहिए कि जिस तरह वह चाहे स्वर्ग प्राप्त करे।"

सत्रहवीं सदी के बाद से योरप में फ़्रांस की संस्कृति का बोलबाला रहा। अठारहवीं सदी के बीच के समय में तो इसने और भी ज़ोर पकड़ा और वाल्टेयर को सारे योरप में बडी भारी शोहरत मिली। असल में कुछ लोग तो इस सदी को 'वाल्टे-यर की सदी' कहते हैं। योरप के तमाम राजदरबारों में, यहाँतक कि पिछडे हुए सेंट पीटर्सबर्ग में भी, फ्रेंच साहित्य पढ़ा जाता था और सभ्य और शिक्षित लोग फ्रेंच भाषा में लिखना और बोलना पसन्द करते। मसलन प्रशिया का फ्रेडरिक महान् क़रीब-क़रीब हमेशा फ्रेंच भाषा में ही लिखता और बोलता था। उसने तो फ्रेंच भाषा में कविता भी लिखने की कोशिश की और यह चाहा था कि वाल्टेयर उसे, उसके लिए, ठीक कर दिया करे।

प्रशिया के पूर्व में रूस था, जिसका एक बडी ताक़त की सूरत में बढ़ना शुरू

होगया था। चीन के इतिहास का बयान करते वक़्त हम लिख चुके हैं कि किस तरह रूस साइबेरिया को पार करके प्रशान्त महासागर तक जापहुँचा और उसे पार करके अलास्का तक भी पहुँच गया। सत्रहवीं सदी के अख़ीर में रूस में महान पीटर नामक ताक़तवर राजा का राज्य था। रूस में जो बहुत से पुराने मंगोलियन रिश्ते और ख़यालात बहुत दिनों से घुसे थे पीटर उनका ख़ातमा करना चाहता था। वह रूस को ऐसा बनाना चाहता था जिसे आजकल लोग 'वेस्टरनाइज़'[१] करना यानी पश्चिमीकरण कहते हैं। इसलिए उसने पुरानी परम्पराओं से भरी हुई पुरानी राजधानी मॉस्को को छोड़ दिया और अपने लिए एक नया शहर और राजधानी बसाई। यह उत्तर में नेवा नदी के किनारे और फिनलैंड की खाडी के मुहाने पर था। इसका नाम सेंट पीटर्सबर्ग था। यह शहर सुनहरी गुम्बज़ोंवाले मॉस्को से बिलकुल जुदा था; वह ज्यादातर पश्चिमी योरप के बडे शहरों के जैसा था। पीटर्सबर्ग पश्चिमीकरण का चिन्ह बन गया और रूस योरप की राजनीति में ज्यादा हिस्सा लेने लगा। शायद तुम्हें मालूम होगा कि पीटर्सबर्ग नाम अब नहीं रहा है। पिछले बीस वर्षों में उसका नाम दो बार बदला है। पहली बार उसका नाम बदल कर पेट्रोग्रेड किया गया और दूसरी बार लैनिनग्रेड हुआ। आज कल यही नाम चालू है।

पीटर महान ने रूस में बहुत-सी तब्दीलियाँ कीं। मैं यहां पर उनमें से एक का ज़िक्र करूँगा, जो तुम्हें दिलचस्प मालूम होगी। उसने स्त्रियों को घरों में बन्द रखने के रिवाज का, जिसे 'टैरम' कहते थे, और जो उन दिनों रूस में जारी था, ख़ातमा कर दिया। पीटर का ध्यान हिन्दुस्तान की तरफ भी था। और वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में हिन्दुस्तान के महत्व को समझता था। उसने अपने वसीयत-नामे में लिखा है:—"याद रक्खो कि हिन्दुस्तान का व्यापार सारी दुनिया का व्यापार है; और जो उसको मुट्ठी में रख सकता है वही योरप का डिक्टेटर होगा।" हिन्दुस्तान की सल्तनत हासिल करने के बाद इंग्लैंड की ताक़त में जो एकदम तरक्क़ी हुई उससे पीटर के आख़िरी शब्दों की सचाई साबित हो जाती है। हिन्दुस्तान की लूट से इंग्लैंड को गौरव और धन मिला जिससे कई पीढ़ियों तक वह संसार की सबसे बडी ताक़त बना रहा।

एक तरफ़ एशिया और आस्ट्रिया तथा दूसरी तरफ़ रूस के बीच में पोलैंड था। वह एक पिछड़ा हुआ देश था जहाँ के किसान बहुत ग़रीब थे। वहां कोई व्यापार और उद्योग-धन्धे न थे और न बडे-बडे शहर थे। उसका विधान भी अजीब-सा था।

१. 'वेस्टरनाइज़' करना अर्थात् पश्चिम जैसा बनाना, अर्थात पश्चिम (योरप) की सभ्यता को अपनाना।

जिसमें बादशाह तो चुना हुआ होता था और ताक़त सामन्त सरदारों के हाथों में रहती थी। जैसे-जैसे आसपास के देश ताक़तवर होते गये, पोलैंड कमज़ोर होता गया। प्रशिया, रूस और आस्ट्रिया तीनों ही उसे हड़पना चाहते थे।

लेकिन वह पोलैंड का ही राजा था जिसने १६८३ ई० में वियेना पर आख़िरी हमला करनेवाले तुर्कों को मार भगाया था। उस्मानी तुर्क फिर सिर न उठा सके। उनकी ताक़त पूरी हो चुकी थी और पलड़ा धीरे-धीरे पलट रहा था। आगे से वे अपना बचाव करने में ही रहे और धीरे-धीरे योरप में तुर्की साम्राज्य कम होने लगा। लेकिन जिस ज़माने का हम ज़िक्र कर रहे हैं, यानी अठारहवीं सदी के पहले आधे हिस्से में टर्की दक्षिण-पूर्वी योरप का एक शक्तिशाली देश था, और उसका साम्राज्य बाल्कन की रियासतों से लगाकर हँगरी के पार पोलैंड तक फैला हुआ था।

दक्षिण में इटली कई राज्यों में बँटा हुआ था और योरप की राजनीति में उसकी कोई गिनती न थी। पोप का पहले वाला दबदबा नहीं रहा था और राजा और बादशाह उसकी इज्ज़त तो करते थे लेकिन राजनैतिक मामलों में उसे पूछते भी न थे। धीरे-धीरे योरप में एक नया ढंग यानी बडी शक्तियों का ढंग, पैदा होरहा था। जैसा कि मैं बतला चुका हूँ, ताक़तवर एक-सत्तात्मक या केन्द्रीय राज्य राष्ट्र या राष्ट्रीयता के ख़याल की बढ़ती में मदद दे रहे थे। लोग अपने-अपने देशों का विचार एक ख़ास तरीके से करने लगे थे जो आजकल तो बहुत फैल गया है लेकिन इस ज़माने के पहले एक ग़ैर-मामूली बात थी। फ्रांस, इंग्लैंड या ब्रिटैनिया, इटैलिया और इस तरह की दूसरी सूरतें ज़ाहिर होने लगीं। ये राष्ट्र के प्रतीक या निशान-से मालूम होने लगे। कुछ दिन बाद, उन्नीसवीं सदी में, ये शक्लें लोगों के दिमाग़ में मूर्त्तिमान होने लगीं और उनके दिलों पर एक अजीब तौर से असर डालने लगीं। ये देश नई देवियाँ बन गये जिनकी वेदी पर हरेक देश-भक्त को पूजा करनी पड़ती है और जिसके नाम पर और जिसके लिए देश-भक्त लोग लड़ते हैं और एक दूसरे की हत्या करते हैं। तुम जानती हो कि 'भारत-माता' की भावना किस तरह हम लोगों को प्रेरित करती है और किस तरह लोग इस स्वर्गीय और ख़याली मूर्ति के लिए ख़ुशी-ख़ुशी मुसीबतें झेलते हैं और मर मिटते हैं। दूसरे देशों के लोग भी अपनी मातृभूमि के लिए इसी तरह के ख़याल रखते थे। लेकिन यह सब तो बाद की बातें हैं। अभी तो मैं तुमको यह बतलाना चाहता हूँ कि अठारहवीं सदी में राष्ट्रीयता और देश-प्रेम की इस भावना का अंकुर पैदा हुआ। फ्रांसीसी दार्शनिकों ने इस प्रगति को बढ़ाया और फ्रांस की जबर्दस्त राज्य-क्रान्ति ने इस भावना पर मुहर लगा दी।

ये राष्ट्र 'शक्तियां' थे। बादशाह आते-जाते रहते थे लेकिन राष्ट्र बना

रहता था। इन ताकतों में से कुछ धीरे-धीरे दूसरी ताकतों से ज्यादा महत्व-पूर्ण बन गईं। मसलन अठारहवीं सदी के शुरू में फ्रांस, इंग्लैंड, आस्ट्रिया, एशिया और रूस बिलाशक 'बडी ताक़तें' थीं। स्पेन की तरह कहने भर को कुछ और भी ताक़तें बडी थीं लेकिन उनका पतन हो रहा था।

इंग्लैंड बहुत तेज़ी के साथ धन और महत्व में बढ़ रहा था। एलिज़ाबेथ के वक्त तक वह योरप के ख़याल से कोई महत्व-पूर्ण देश न था और दुनिया के लिहाज़ से तो और भी कम था। उसकी आबादी थोडी थी; शायद उस वक़्त वह साठ लाख से ज्यादा न थी, जो आज लन्दन की आबादी से भी कम है। लेकिन प्यूरिटन क्रान्ति और बादशाह पर पार्लमेण्ट की विजय के बाद इंग्लैंड ने अपने आपको नई परिस्थितियों के मुताबिक बना लिया और वह आगे बढ़ने लगा। स्पेन से पिंड छुड़ाने के बाद हालैंड ने भी ऐसा ही किया।

अठारहवीं सदी में अमेरिका और एशिया में उपनिवेशों के लिए छीना-झपटी मची। इसमें योरप की कई ताक़तों ने हिस्सा लिया मगर असली मुक़ाबिला सिर्फ इंग्लैंड और फ़्रांस इन दोनों में ही रहा। इस दौड़ में, अमेरिका में भी और हिन्दुस्तान में भी, इंग्लैंड बहुत आगे बढ़ा हुआ था। पंद्रहवें लुई के अयोग्य शासन में होने के अलावा फ्रांस, योरप की राजनीति में बहुत ज्यादा लिपटा हुआ था। १७५६ से १७६३ ई० तक योरप, कनाडा और हिन्दुस्तान में भी इन दोनों ताक़तों में तथा औरों में भी इस बात का निपटारा करने के लिए लड़ाई मची कि इन देशों का मालिक कौन हो। यह लड़ाई 'सात साल की लड़ाई' कहलाती है। इसका कुछ हिस्सा हम हिन्दुस्तान में देख चुके हैं जिसमें फ़्रांस की हार हुई थी। कनाडा में भी इंग्लैंड की विजय हुई। योरप में इंग्लैंड ने वह नीति चली जिसके लिए वह मशहूर हो चुका है, यानी पैसा देकर अपनी ओर से दूसरों को लड़वाना। फ़्रेडरिक महान इंग्लड का दोस्त था।

इस सात वर्ष की लड़ाई का नतीजा इँग्लैंड के लिए बहुत फ़ायदेमन्द रहा। हिन्दुस्तान और कनाडा, दोनों ही देशों में उसका कोई भी यूरोपियन प्रतियोगी बाक़ी न रहा। समुद्र पर भी उसका दबदबा क़ायम हो गया। इस तरह इँग्लैंड की ऐसी हालत होगई कि वह अपने साम्राज्य को मज़बूत करे और बढ़ावे और संसार की एक बडी ताक़त बन जाय। प्रशिया का महत्व भी बढ़ा।

इस लड़ाई-झगडे से योरप फिर पस्त हो गया और देश भर में फिर कुछ शान्ति नज़र आने लगी। लेकिन यह शान्ति प्रशिया, आस्ट्रिया और रूस को पोलैंड की रियासत हड़प जाने से न रोक सकी। पोलैंड की ऐसी हालत न थी कि इन

ताक़तों से लड़ता, इसलिए ये तीनों भेड़िये उस पर टूट पड़े और बार-बार उसके हिस्से बांटकर पोलैंड के आज़ाद मुल्क का ख़ातमा कर दिया। १७७२, १७९३ और १७९५ ई०, में तीन बार बँटवारा हुआ। पहले बँटवारे के बाद पोलैण्ड के लोगों ने, जो पोल कहलाते हैं अपने देश को सुधारने और मज़बूत बनाने के लिए ज़बरदस्त कोशिश की। उन्होंने पार्लमेण्ट क़ायम की और कला और साहित्य का उद्धार हुआ। लेकिन पौलैंड के चारों तरफ़ के निरंकुश राजाओं के मुँह ख़ून लग चुका था और वे रुकनेवाले न थे। इसके अलावा पार्लमेण्टों से उनको नफ़रत थी इसलिए पोल लोगों के देश प्रेम और महान् योद्धा को सियस्को के नेतृत्व में बहादुरी के साथ लड़ने पर भी, १७९५ ई० में योरप के नक्शे पर पोलैंड का निशान बाक़ी न रहा। उस वक़्त उसका ख़ातमा तो हो गया लेकिन पोल लोगों ने अपने देश-प्रेम को ज़िन्दा रक्खा और आज़ादी का स्वप्न देखते ही रहे। एक सौ बीस वर्ष बाद उनका स्वप्न सच्चा हुआ और योरप के महायुद्ध के बाद पोलैंड फिर एक आज़ाद देश की शकल में प्रकट हुआ।

मैं लिख चुका हूँ कि अठारहवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में योरप में थोड़ी बहुत शान्ति थी। लेकिन वह ज्यादा दिन न टिक सकी क्योंकि वह ज्यादातर ऊपरी सतह पर ही थी।। उस सदी में जो बहुत-सी घटनायें हुईं उनको भी मैं बतला चुका हूँ। लेकिन असल में अठारहवीं सदी तीन घटनाओं यानी तीन क्रान्तियों, के लिए मशहूर है, और इन सौ वर्षों में योरप में और जो कुछ भी हुआ वह इन तीन घटनाओं के सामने तुच्छ मालूम होता है। ये तीनों क्रान्तियाँ इस सदी के आख़िरी पच्चीस वर्षों में हुईं। ये क्रान्तियाँ तीन तरह की थीं—राजनैतिक, औद्योगिक और सामाजिक। राजनैतिक क्रान्ति अमेरिका में हुई। यह वहां के अँग्रेज़ी उपनिवेशों की बग़ावत थी जिसका नतीजा यह हुआ कि 'युनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका' यानी अमेरिका का संयुक्त राज्य का स्वाधीन प्रजातन्त्र बना जो हमारे आज के जमाने में इतना शक्तिशाली होने वाला था। औद्योगिक क्रान्ति इंग्लैंड में शुरू हुई। वहां से पहले तो वह पश्चिम योरप के देशों में फैली; और फिर दूसरे देशों में। वह एक शान्तिमय लेकिन बहुत गहरी क्रान्ति थी और सारी दुनिया की जिन्दगी पर जितना इसका असर हुआ उतना आज तक इतिहास में लिखी हुई किसी भी घटना का नहीं हुआ। इसका नतीजा हुआ भाप और बड़ी मशीन और आख़िर में उद्योगवाद की उन अन-गिनती शाखाओं का आगमन, जो आज हम अपने चारों तरफ़ देख रहे हैं। फ़्रांस की महान् क्रान्ति सामाजिक क्रान्ति थी जिसने फ्रांस में न केवल राजाओं का ही खात्मा कर दिया बल्कि बहुत से विशेषाधिकारों यानी रियायतों को भी ख़तम कर दिया और

नये-नये वर्गों को आगे ला खड़ा किया । इन तीनों क्रान्तियों पर हम जरा खुलासा तौर से अलग-अलग विचार करेंगे ।

हम देख चुके हैं कि इन परिवर्त्तनों की शुरुआत से पहले योरप में बादशाहतों का जोर था । इंग्लैंड और हालैंड में पार्लमेण्ट तो थीं लेकिन उनकी नस अमीर-उमरा के हाथ में थी । क़ानून बनाये जाते थे तो धनवानों के लिए, उनके माल, अधिकारों और विशेषाधिकारों की हिफाजत के लिए । शिक्षा भी सिर्फ़ धनवान और विशेषाधिकार वाले लोगों के लिए थी । असल में खुद सरकार ही इन लोगों के लिए थी । उस जमाने की सबसे बड़ी समस्या ग़रीबों की समस्या थी । हालांकि ऊपर के लोगों की हालत में कुछ सुधार हुआ लेकिन ग़रीबों की मुसीबतें वैसी ही बनी रहीं, बल्कि ज्यादा बढ़ गईं ।

अठारहवीं सदी भर में योरप के राष्ट्र ग़ुलामों का बेरहम और शर्मनाक व्यापार करते रहे । वैसे तो योरप में ग़ुलामी ख़त्म हो चुकी थी हालाँकि काश्तकार लोगों की हालत, जिन्हें 'सर्फ़' या असामी कहते थे, ग़ुलामों से अच्छी न थी । लेकिन अमेरिका की खोज के बाद पुराना ग़ुलामों का व्यापार बड़ी बेरहमी की शक्ल में फिर चेत गया । स्पेन और पुर्तगाल वालों ने इस तरह शुरूआत की कि वे अफ़रीका के किनारों पर से हबशियों को पकड़-पकड़ कर अमेरिका ले जाते थे और उनसे खेती-बाड़ी का काम लेते थे । इस बहुत ही शर्मनाक व्यापार में इंग्लैंड ने भी भरपूर हिस्सा लिया । अफ़रीका के लोगों की भयानक मुसीबतों का और जैसे जानवरों की तरह शिकार करके उनको पकड़ा जाता था और जंज़ीरों से कसकर अमेरिका को लादा जाता था, उसका कुछ भी अन्दाज़ा लगाना तुम्हारे लिए या हममें से किसी के लिए बहुत मुश्किल है । हज़ारों तो सफ़र खत्म होने पहले ही चल बसते थे । इस दुनिया में जितने लोगों ने मुसीबतें झेली हैं उनमें सबसे ज्यादा मुसीबतों का भार शायद हबशियों पर ही पड़ा है । उन्नीसवीं सदी में ग़ुलामी की प्रथा का क़ानूनन ख़ातमा हुआ और इंग्लैंड इस बात में अगुआ रहा । अमेरिका में इस सवाल का निपटारा करने के लिए एक गृह-युद्ध हुआ । आज अमेरिका के संयुक्त राज्य में बसने वाले करोड़ों हबशी इन्हीं ग़ुलामों की सन्तान हैं ।

मैं इस ख़त को यह बतलाकर एक अच्छी बात के साथ ख़तम करूँगा कि इस सदी में जर्मनी और आस्ट्रिया में संगीत की बड़ी भारी तरक़्क़ी हुई । तुम जानती हो कि योरप के संगीत के नेता जर्मन लोग हैं । इनमें से कुछ बड़े-बड़े संगीतज्ञों के नाम सत्रहवीं सदी में भी दिखाई पड़ते हैं । दूसरे देशों की तरह ही योरप में भी संगीत क़रीब-क़रीब मज़हबी कामों का अंग था । धीरे-धीरे ये अलग होने लगे और संगीत

मजहब से भिन्न एक अलग ही कला बन गया। मोज़ार्ट और बीथोवन—ये दो नाम अठारहवीं सदी में रोशन होते हैं। दोनों बालगन्धर्व थे। दोनों ही असाधारण योग्यता वाले राग-लेखक थे। यह अजीब बात है कि बीथोवन, जो शायद पश्चिम का सबसे महान् राग-लेखक माना जाता है, बिलकुल बहरा हो गया था और जिस अद्भुत संगीत की रचना उसने दूसरों के लिए की उसे वह खुद न सुन सका। लेकिन उस संगीत को पकड़ने से पहले उसके हृदय ने ज़रूर उसे गाकर सुनाया होगा।

: ९७ :

बड़ी मशीन का आगमन

२६ सितम्बर, १९३२

अब हम उस चीज़ का वर्णन करेंगे जो औद्योगिक क्रान्ति कहलाती है। इसकी शुरूआत इंग्लैंड में हुई और इंग्लैंड में ही हम संक्षेप में इस पर ग़ौर करेंगे। मैं इसके लिए कोई ठीक सन् नहीं बतला सकता क्योंकि यह तब्दीली जादू की तरह किसी खास वर्ष में नहीं हुई। लेकिन फिर भी वह काफ़ी तेज़ी के साथ हुई और अठारहवीं सदी के बीच से लगाकर आगे के सौ वर्ष से कम वक़्त में ही उसने ज़िंदगी की सूरत बदलदी। इन खतों में तुमने और मैंने, दोनों ने, दुनिया की शुरुआत से लगाकर हज़ारों वर्ष के इतिहास के सिलसिले का सिंहावलोकन किया है और बहुत सी तब्दीलियाँ हमारी निगाह में आई हैं। लेकिन ये सब तब्दीलियाँ, जो कि कभी-कभी बहुत बडी-बडी भी हुईं, लोगों की जिन्दगी और रहन-सहन के ढंग को हक़ीक़त में बदल नहीं सकीं। अगर सुकरात या अशोक या जूलियस सीज़र हिन्दुस्तान में अकबर के दरबार में अचानक चले आते, या अठारहवीं सदी के शुरू में इंग्लैंड या फ्रांस में आते, तो बहुत से परिवर्त्तन उनकी नज़र में आते। इनमें से कुछ परिवर्त्तनों को वे पसन्द करते और कुछ को नापसन्द। लेकिन सरसरी तौर पर, कम से कम बाहर से, वे दुनिया को पहचान लेते, क्योंकि खयालात में तो बहुत फ़र्क़ मालूम होता। और जहाँ तक ऊपरी बातों से ताल्लुक है वे अपने को बिलकुल अजनबी नहीं महसूस करते। अगर वे सफ़र करना चाहते तो घोडे पर या घोड़ा-गाडी पर करते, जैसाकि अपने ज़माने में किया करते थे; और सफ़र में वक्त भी क़रीब-क़रीब उतना ही लगता।

लेकिन इन तीनों में से एक भी अगर हमारे ज़माने की दुनिया में आजायें तो उन्हें बड़ा ज़बरदस्त अचम्भा होगा। और शायद यह अचम्भा उन्हें तकलीफ़देह भी मालूम हो। वह देखेंगे कि आजकल लोग तेज़ से तेज़ घोडे से भी ज्यादा तेज़ी

के साथ, या शायद कमान से छूटे हुए तीर से भी ज्यादा तेजी के साथ, सफ़र करते हैं। रेल, स्टीमर, मोटर और हवाईजहाज में वे अद्भुत तेजी के साथ सारी दुनिया में दौड़ते फिरते हैं। फिर उसकी दिलचस्पी तार, टेलीफोन, बेतार के तार, छापेखानों से प्रकाशित होनेवाली अनगिनती किताबों, अखबारों, और सैकड़ों दूसरी चीजों में होगी जो सब अठारहवीं सदी और उसके बाद की औद्योगिक क्रान्ति के लाये हुए उद्योग के नये तरीकों के नतीजे हैं। सुकरात या अशोक या जूलियस सीजर इन नये तरीकों को पसन्द करेंगे या नापसन्द, यह मैं नहीं कह सकता, लेकिन इसमें शक नहीं कि वे उनको अपने जमाने के तरीक़ों से बिलकुल भिन्न पावेंगे।

औद्योगिक क्रान्ति ने दुनिया को बड़ी मशीन दी। उसने मशीन-युग या यांत्रिक युग की शुरुआत की। पहले भी मशीनें जरूर थीं, लेकिन इतनी बड़ी नहीं, जितनी नई मशीनें। मशीन है क्या? वह इनसान को उसके काम में मदद देनेवाला बड़ा औज़ार है। आदमी औज़ार बनानेवाला जन्तु कहा जाता है और अपनी जिन्दगी के शुरू से वह औज़ार बनाता रहा है और उनको अच्छा बनाने की कोशिश करता रहता है। दूसरे जानवरों पर, जिनमें से बहुत से उससे ज्यादा ताक़तवर थे, उसका दबदबा औज़ारों के ही कारण हुआ था। औज़ार या हथियार उसके हाथ का ही बढ़ा हुआ रूप है; या उसे तीसरा हाथ भी कह सकते हैं। मशीन औज़ार का बढ़ा हुआ रूप है। औज़ार और मशीन ने मनुष्य को पशुजगत से ऊपर उठा दिया। इन्होंने मनुष्य-समाज को कुदरत की ग़ुलामी से छुड़ाया। औज़ार और मशीन की मदद से इन्सान के लिए चीज़ें बनाना आसान हो गया। वह ज्यादा चीजें बनाने लगा और फिर भी उसे ज्यादा फ़ुरसत रहने लगी। और इसका नतीजा यह हुआ कि सभ्यता की कलाओं, विचारों और विज्ञान की उन्नति हुई।

लेकिन बड़ी मशीन और उसके सब मददगार निरी बरकतें ही नहीं साबित हुए। अगर इसने सभ्यता की तरक्की में मदद दी है तो लड़ाई और बरबादी के ख़ौफ़नाक हथियारों को ईजाद करके बर्बरता को बढ़ाने में भी मदद की है। अगर इसने चीज़ों को इफ़रात या बहुतायत के साथ पैदा किया है तो यह इफरात जनता के लिए नहीं बल्कि कुछ थोड़े से लोगों के लिए हुई है। इसने तो दौलतमंदों के ऐश-आराम और ग़रीबों की ग़रीबी के अन्तर को पहले से भी ज्यादा बढ़ा दिया है। यह इनसान का औज़ार और सेवक होने के बजाय उसका स्वामी बनने का दावा करने लगी है। एक तरफ़ तो इसने सहयोग, संगठन, मुस्तैदी वग़ैरा गुण सिखाये हैं; दूसरी तरफ़ लाखों की ज़िन्दगी को एक ऐसी नीरस दिनचर्या वाला और ऐसा भार बना दिया है जिसमें ज़रा भी सुख और आज़ादी नहीं है।

लेकिन मशीन से जो बुराइयाँ पैदा हुई हैं उनके लिए हम उस बेचारी को क्यों दोष दें ? दोष तो इन्सान का है जिसने उसका ग़लत इस्तेमाल किया है, और समाज का है जिसने उससे पूरा फ़ायदा नहीं उठाया । यह तो ध्यान में भी नहीं आसकता कि दुनिया या कोई देश, औद्योगिक क्रान्ति से पहले के जमाने को लौट जावे; और यह बात न तो जरूरी मालूम होती है, न अक़्लमंदी की कि हम लोग कुछ बुराइयों से छुटकारा पाने के लिए उद्योगवाद की लाई हुई बेशुमार फ़ायदेमंद चीज़ों को फेंक दें । चाहे जो हो, मशीन तो अब आगई और यहीं बनी रहेगी । इसलिए हमारे सामने सवाल यही है कि उद्योगवाद की फ़ायदेमंद चीज़ों को रखलें और उससे पैदा होनेवाली बुराइयों से पिंड छुड़ावें । इससे पैदा होनेवाली दौलत से हमको फायदा उठाना चाहिए लेकिन इस बात का ख़याल रखना चाहिए कि यह दौलत उन लोगों में बराबर-बराबर बँट जाय जो उसे पैदा करते हैं ।

इस ख़त में मेरा इरादा तुमको इंग्लैण्ड में होनेवाली औद्योगिक क्रान्ति के बारे में कुछ बतलाने का था । लेकिन जैसी कि मेरी आदत है, मैं असली बात से अलग हट गया हूँ और उद्योगवाद के प्रभावों की विवेचना करने लगा हूँ। मैंने तुम्हारे सामने वह सवाल रख दिया है जो आज लोगों को तंग कर रहा है । लेकिन आजतक आ पहुँचने से पहले हमको कल की बातों का वर्णन करना है; उद्योगवाद के नतीजों पर विचार करने से पहले हमको यह अध्ययन करना है कि वह कब और कैसे आया । मैंने यह भूमिका इतनी लम्बी इसलिए की है कि तुमको इस क्रान्ति का महत्त्व बता सकूँ । यह कोई ख़ाली राजनैतिक क्रान्ति न थी जिससे सबसे ऊपर के राजा और शासक बदल गये हों । यह ऐसी क्रान्ति थी जिसका असर सब वर्गों पर और असल में हर आदमी पर पड़ा । मशीन और उद्योगवाद की विजय का मतलब था मशीन पर क़ब्ज़ा रखने वाले वर्गों की विजय । जैसा कि मैं बहुत पहले बता चुका हूँ, राज्य वही वर्ग करता है जो उपज यानी पैदावार के साधनों पर क़ब्ज़ा रखता है । पुराने ज़माने में उपज का मुख्य साधन सिर्फ़ ज़मीन थी, इसलिए जो लोग ज़मीन के मालिक यानी ज़मींदार थे, उन्हींका राज्य था । सामन्तशाही के ज़माने में भी यही हाल रहा । इसके बाद ज़मीन के अलावा दूसरी तरह का धन प्रकट हुआ और जमींदार वर्ग के लोगों की ताक़त पैदावार के नये साधनों के मालिकों में बँटनी शुरू होगई । इसी वक़्त बड़ी मशीन का आगमन होता है जिससे उसपर क़ब्ज़ा रखनेवाले वर्ग क़ुदरती तौर पर आगे आजाते हैं और हुकूमत करने लगते हैं ।

इन ख़तों के सिलसिले में कई बार मैं तुमको बतला चुका हूँ कि शहरों के बुर्जुआ यानी मध्यमवर्गों का महत्त्व किस तरह बढ़ा और किस तरह वे सामन्त सरदारों से

कशमकश करते रहे और कहीं-कहीं कुछ हदतक विजयी भी हुए। मैंने तुमको सामन्त-शाही की बरबादी का हाल बतलाया है और शायद तुम्हारे दिल में यह ख़याल पैदा कर दिया है कि इस नये बुर्जुआ या मध्यम वर्ग ने उसकी जगह ले ली। अगर ऐसा है तो मैं अपनी ग़लती दुरुस्त करना चाहता हूँ क्योंकि मध्यमवर्ग बहुत धीरे-धीरे ताक़त हासिल करके ऊँचा चढ़ा और यह तरक्क़ी इस ज़माने में नहीं हुई जिसका हम ज़िक्र कर रहे हैं। फ्रांस में महान क्रान्ति ने और इंग्लैण्ड में इसी तरह की क्रान्ति के डर ने कहीं जाकर मध्यमवर्ग को ताक़त हासिल करने का मौक़ा दिया। इंग्लैण्ड की १६८८ ई० की क्रान्ति का नतीजा यह हुआ कि पार्लमेण्ट की विजय हो गई, लेकिन तुम्हें याद होगा कि ख़ुद पार्लमेण्ट भी लोगों की, ख़ासकर ज़मींदारों की, एक छोटी-सी तादाद की नुमाइन्दा थी। शहरों के कुछ बड़े-बड़े व्यापारी उसमें भले ही घुस जाते हों, लेकिन असल में व्यापारी वर्ग, यानी मध्यमवर्ग के लिए उसमें कोई गुंजाइश न थी।

इसलिए राजनैतिक ताक़त उन लोगों के हाथों में थी जो ज़मींदारियों के मालिक थे। इंग्लैण्ड में ऐसा ही था और दूसरे देशों में तो और भी ज्यादा था। ज़मींदारी पिता से पुत्र को विरासत में मिलती थी। इस तरह राजनैतिक ताक़त भी एक पुश्तैनी विरासत बन गई। मैं इंग्लैण्ड के 'जेबी निर्वाचन क्षेत्रों' (Pocket Boroughs) यानी पार्लमेण्ट में प्रतिनिधि भेजनेवाले ऐसे चुनाव-क्षेत्रों के बारे में पहले ही लिख चुका हूँ जिनमें सिर्फ़ कुछ गिने-चुने चुनाव करनेवाले होते थे। ये गिने-चुने निर्वाचक मामूली तौर पर किसी के मातहत होते थे और इसलिए वह चुनाव क्षेत्र उसकी जेब में समझा जाता था। ऐसे चुनाव लाज़मी तौर पर ख़ाली एक तमाशा होते थे; ख़ूब रिश्वतें चलती थीं और वोट और पार्लमेण्ट की सीटें ख़ूब बिकती थीं। उन्नतिशील मध्यमवर्ग के कुछ दौलतमन्द लोग इस तरह से पार्लमेण्ट की सीट ख़रीद सकते थे। लेकिन जनता के लोग दोनों में से एक तरफ़ भी निगाह नहीं डाल सकते थे। उनको विरासत (उत्तराधिकार) में तो कोई विशेषाधिकार या शक्ति मिलती ही न थी, और यह भी ज़ाहिर है कि वे ताक़त ख़रीद भी नहीं सकते थे। इसलिए जब धनवान और विशेषाधिकार वाले लोग उनपर बैठकर उनको चूसते थे तो वे कर ही क्या सकते थे? पार्लमेण्ट में या पार्लमेण्ट के मेम्बरों के चुनाव में भी उनकी कोई आवाज़ न थी। अधिकारी लोग उनके बाहरी प्रदर्शनों तक से बहुत नाराज़ होते थे और उनको ज़बर्दस्ती दबा दिया जाता था। वे असंगठित, कमज़ोर और असहाय थे। लेकिन जब ज़ुल्म और मुसीबतों का प्याला पूरा भर गया तो वे न्याय और शान्ति को भूलकर दंगा कर बैठे। इस तरह इंग्लैण्ड में अठारहवीं सदी में दंगों का ख़ूब ज़ोर रहा। जनता की माली हालत आम तौर पर बहुत ख़राब थी। छोटे-

मोटे काश्तकारों को नुकसान पहुँचा कर और उन्हें चूसकर बडे-बडे जमींदार अपनी रियासतें बढ़ाने की कोशिशें कर रहे थे, जिससे यह हालत और भी बिगड़ती जारही थी। गाँवों की मुश्तरका जमीन भी हड़प ली जाती थी। ये सब बातें आम लोगों की मुसीबतों को बढ़ानेवाली थीं। राज्यशासन में कोई आवाज़ न होने से भी सब लोग नाराज़ थे और कुछ ज्यादा आज़ादी के लिए दबी-दबी सी माँग भी करते थे।

फ़्रांस में तो हालत और भी ख़राब थी जिसका नतीजा यह हुआ कि वहाँ राज्य-क्रान्ति हो गई। इंग्लैंड में बादशाह का महत्व कुछ नहीं रहा था और ताक़त ज्यादा लोगों के हाथ में आगई थी। इसके अलावा इंग्लैंड में फ़्रांस की तरह ऐसे राजनैतिक विचारों का विकास भी नहीं हुआ था। इसलिए इंग्लैंड एक बडे भारी विस्फोट या धड़ाके से बच गया और वहाँ परिवर्त्तन ज़रा धीरे-धीरे हुए। इसी अर्से में उद्योगवाद और नये आर्थिक संगठन के कारण होनेवाली तब्दीलियों ने इस चाल को तेज़ कर दिया।

अठारहवीं सदी में इंग्लैंड की यही राजनैतिक परिस्थिति थी। ख़ासकर विदेशी कारीगरों के आ बसने से इंग्लैंड घरू उद्योग-धंधों में बहुत आगे बढ़ गया। योरप की मज़हबी लड़ाइयों ने बहुत से प्रोटेस्टेण्टों को अपना देश और घर छोड़कर इंग्लैंड में शरण लेने के लिए मजबूर किया। जिस वक़्त स्पेनवाले निदरलैंड की बग़ावत को दबाने की कोशिश कर रहे थे उस समय बहुत से कारीगर निदरलैंड से भाग कर इंग्लैंड आगये। कहा जाता है कि इनमें से तीस हज़ार इंग्लैंड के पूर्वी हिस्से में बस गये और रानी एलिज़ाबेथ ने उनको इस शर्त पर वहाँ बसने की आज्ञा दी कि हरेक घर में एक अंग्रेज 'अप्रेन्टिस' (काम सीखने वाला) नौकर रक्खा जाय। इससे इंग्लैंड को अपने कपड़ा बुनने के उद्योग को बनाने में मदद मिली। जब यह उद्योग जम गया तो अंग्रेज़ों ने निदरलैंड के बने हुए कपडों का इंग्लैंड में आना रोक दिया। उधर निदरलैंड अभी तक आज़ादी की गहरी लड़ाई में लगा हुआ था जिससे उनके उद्योग-धंधों को नुक़सान पहुँच रहा था। नतीजा यह हुआ कि जहाँ पहले निदरलैंड के कपडों से भरे हुए जहाज़ के जहाज़ इंग्लैंड जाया करते थे, वहाँ बहुत जल्दी यह रफ्तनी बन्द ही नहीं हो गई बल्कि उल्टे अंग्रेज़ी कपडे निदरलैंड के लिए रवाना होने लगे और इसकी तादाद बढ़ती ही गई।

इस तरह बेलजियम के वॉलून लोगों ने अंग्रेज़ों को कपड़ा बुनना सिखाया। बाद में फ़्रांस से ह्यूजीनॉट, यानी भागे हुए प्रोटेस्टेण्ट, आये और इन्होंने अंग्रेज़ों को रेशमी कपड़ा बुनना सिखाया। सत्रहवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में योरप के बहुत से होशयार कारीगर इंग्लैंड चले आए और अंग्रेज लोगों ने इनसे बहुत-से धन्धे सीखे, जैसे, कागज़, काँच, चाभी के खिलौने, तथा जेबी और दीवार की घड़ियाँ बनाना।

इस तरह इंग्लैंड, जो अभी तक योरप का एक पिछड़ा हुआ देश था, महत्व और धन में बढ़ने लगा। लन्दन की भी बढ़ती हुई और वह सौदागरों और व्यापारियों की बढ़ती हुई आबादीवाला एक काफ़ी महत्वपूर्ण बन्दरगाह बन गया। एक दिलचस्प कहानी से हमको पता लगता है कि सत्रहवीं सदी के शुरू में ही लन्दन एक बड़ा-भारी बन्दरगाह और व्यापार का केन्द्र था। इंग्लैंड का बादशाह पहला जेम्स, जो पहले चार्ल्स का, जिसका कि सर उड़ा दिया गया था, पिता था, राजाओं की निरंकुशता और दैवी अधिकार को पूरी तरह मानने वाला था। वह पार्लमेण्ट को और लन्दन के इन कल के व्यापारियों को पसन्द नहीं करता था। और उसने गुस्से में आकर लन्दन के नागरिकों को अपनी राजधानी ऑक्सफोर्ड लेजाने की धमकी दी। लन्दन के लॉर्ड मेयर पर इस धमकी का कुछ भी असर न हुआ। और उसने कहा—"मुझे उम्मीद है कि हिज़ मैजेस्टी हमारे लिए टेम्स नदी तो छोड़ जाने की मेहरबानी करेंगे!"

पार्लमेण्ट की मदद पर यही दौलतमंद व्यापारी वर्ग था और इसीने चार्ल्स प्रथम के साथ होने वाली लड़ाई में उसको खूब रुपया दिया था।

इंग्लैंड में जिन उद्योग-धंधों की तरक्क़ी हुई ये सब घरू-धंधे या ग्राम-उद्योग कहलाते हैं। यानी कारीगर या दस्तकार लोग ज्यादातर अपने घरों में या छोटे-छोटे गिरोहों में काम करते थे। हरेक धन्धे के दस्तकारों की 'गिल्ड' या समितियाँ होती थीं जो हिन्दुस्तान की बहुत सी जातियों से मिलती थीं लेकिन जातियों का-सा मज़हबी पहलू उनमें न होता था। दस्तकारों के उस्ताद या मिस्तरी शागिर्द बनाते थे और उनको अपना हुनर सिखलाते थे। जुलाहों के निजी करघे होते थे, कातनेवाले निजी चरखे रखते थे। कताई का खूब प्रचार था और यह काम लड़कियाँ और औरतें फालतू वक़्त में किया करती थीं। कहीं-कहीं छोटे-छोटे कारखाने होते थे जहाँ बहुत से करघे इकट्ठे कर लिये जाते थे और जुलाहे मिलकर काम करते थे। लेकिन हरेक बुनकर अपने करघे पर अलग ही काम करता था, और चाहे वह इस करघे पर अपने घर ही काम करता या दूसरे बुनकरों और उनके करघों के साथ किसी दूसरी जगह काम करता, इन दोनों बातों में दर असल कोई फ़र्क न था।

उस जमाने में उद्योग-धन्धों का यह घरू दर्जा सिर्फ़ इंग्लैण्ड में ही नहीं बल्कि हरेक देश में, जहाँ उद्योग-धन्धे होते थे, तरक्क़ी कर रहा था। मसलन हिन्दुस्तान में ये घरू उद्योग-धन्धे बहुत बढ़े-चढ़े हुए थे। इंग्लैण्ड में घरू उद्योग-धन्धों का क़रीब-क़रीब बिलकुल खातमा होगया है लेकिन हिन्दुस्तान में अब भी बहुत-से मौजूद हैं। हिन्दुस्तान में बड़ी मशीन और घरू करघा दोनों साथ-साथ चल रहे हैं, और इनकी

समानता और भिन्नता की तुलना की जा सकती है। तुम जानती हो कि जो कपड़ा हम पहनते हैं वह खादी है। यह हाथ-कता और हाथ-बुना है, और इसलिए बिलकुल हिन्दुस्तान की कच्ची झोंपड़ियों में बना हुआ है। बापू और हमारी कांग्रेस हाथ-कताई की उन्नति पर बहुत ज़ोर देते हैं और कोशिश करते रहे हैं कि यह हमारे किसानों के फालतू वक्त का धन्धा बन जाय क्योंकि उनके पास बहुत-सा वक़्त फालतू रहता है। असल में पुराने ज़माने में हिन्दुस्तान में ही नहीं बल्कि इंग्लैण्ड और दूसरे देशों में भी यह फालतू समय का ही धन्धा था।

नये यांत्रिक आविष्कारों या मशीन की ईजाद ने इंग्लैंड के घरू उद्योग-धन्धों की काया ही पलट कर दी। मशीनें आदमी का काम दिन-पर-दिन करने लगीं और उनके ज़रिये कम मेहनत से ज्यादा माल पैदा करना बहुत आसान होगया। ये ईजादें अठारहवीं सदी के बीच में शुरू हुई; इनका वर्णन हम अगले ख़त में करेंगे। यह ख़त पहले ही लम्बा हो गया है।

मैंने मुख़्तसर में अपने खादी आन्दोलन का ज़िक्र किया है। इसके बारे यहाँ मैं ज्यादा नहीं लिखना चाहता। लेकिन मैं तुमको बतला देना चाहता हूँ कि यह आन्दोलन या चरखा बडी मशीन से मुक़ाबिला करने के लिए नहीं हैं। बहुत से इस ग़लती में पड़ जाते हैं और यह ख़याल करने लगते हैं कि चरखे का अर्थ है मध्य युग को लौट जाना और मशीनों और उद्योग-वाद के सब नतीजों को रद्दी समझकर फेंक देना। यह सब ग़लती की बात है। हमारा आन्दोलन न तो उद्योगवाद के ख़िलाफ़ है और न मशीनों और कारख़ानों के। हम तो चाहते हैं कि हिन्दुस्तान को दुनिया की सबसे अच्छी चीज़ें मिलें और जहाँ तक हो सके बहुत जल्दी मिलें। लेकिन हिन्दुस्तान की मौजूदा हालत को, और ख़ासकर अपने किसानों की भयंकर ग़रीबी को देखते हुए, ज़ोर देकर कहते हैं कि वे अपने फ़ालतू वक्त में चरखा कातें। इस तरह वे न सिर्फ़ कुछ हदतक अपनी हालत सुधारते हैं बल्कि विदेशी कपडे पर हमारी उस निर्भरता को भी कम करते हैं जिसकी वजह से हमारे देश का रुपया बाहर चला जाता है।

: ९८ :

इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति की शुरूआत

२७ सितम्बर, १९३२

अब मैं तुमको कुछ यान्त्रिक आविष्कारों के बारे में लिखना चाहता हूँ, जिनकी वजह से उत्पत्ति या पैदावार के तरीक़ों में बड़ा ज़बर्दस्त फ़र्क़ पड़ गया। आज जो

हम उनको किसी मिल या कारखाने में देखते हैं तो वे बड़े आसान मालूम पड़ते हैं। लेकिन पहले-पहल उनका ख़याल करना और उनको ईजाद करना बड़ी मुश्किल बात थी। सबसे पहला आविष्कार १७३८ ई० में हुआ जब 'के' नामक आदमी ने कपड़ा बुनने की सरकवाँ ढरकी (फ्लाई शटल) की खोज की। इस आविष्कार से पहले बुनकर के हाथ की ढरकी का धागा लम्बे फैले हुए ताने के तारों में सरकाया जाता था। सरकवाँ ढरकी के जरिये यह काम बहुत जल्दी होने लगा जिससे बुनकर दूना माल तैयार करने लगा। इसका मतलब यह था कि अब बुनकर पहले से बहुत ज्यादा सूत काम में ला सकता था। सूत की इस बढ़ती हुई माँग को पूरा करने में कातने वालों को बड़ी दिक़्क़त हुई और वे भी अपनी पैदावार बढ़ाने की कुछ तरकीब निकालने की कोशिश करने लगे। १७६४ ई० में हारग्रीव्ज़ ने कातने की 'जेनी' आविष्कार करके इस समस्या को कुछ-कुछ हल कर दिया। इसके बाद रिचार्ड आर्करराइट और दूसरे लोगों ने और-और आविष्कार किये; जलशक्ति का और बाद में भाप की ताक़त का इस्तेमाल होने लगा। शुरू में ये सब आविष्कार सूती कपड़े के उद्योग में काम में लाये गये और सूती कारखाने या मिलें धड़ा-धड़ बनने लगीं। इसके बाद इन नये तरीक़ों को उपयोग में लानेवाला ऊनी कपड़ों का उद्योग था।

इसी अर्से में १७६५ ई० में जेम्सवाट ने भाप का इंजन बनाया। यह एक बड़ी भारी घटना थी और इसका नतीजा यह हुआ कि कारख़ानों को चलाने में भाप का इस्तेमाल होने लगा। इन नये कारख़ानों के लिए कोयले की ज़रूरत पड़ी इसलिए कोयले के उद्योग की तरक़्क़ी हुई। कोयले के इस्तेमाल से लोहा गलाने के यानी कच्चे लोहे को गला कर शुद्ध धातु अलग करने के नये तरीके ईजाद हुए। इस पर लोहे का उद्योग बड़ी तेज़ी से बढ़ने लगा। नये-नये कारख़ाने कोयले की खानों के पास बनाये जाने लगे क्योंकि वहाँ कोयला सस्ता पड़ता था।

इस तरह इंग्लैंड में तीन बड़े उद्योगों—कपड़ा, लोहा और कोयला—का विकास हुआ और कोयले के क्षेत्रों और दूसरी माकूल जगहों में कारख़ाने खड़े होने लगे। इंग्लैंड की काया ही पलट गई। हरे-हरे खुशनुमा देहातों के बजाय अब बहुत सी जगहों पर ये नये कारखाने पैदा हो गये जिनकी लम्बी-लम्बी चिमनियाँ धुआँ उगल कर आसपास अँधेरा करने लगीं। कोयलों के ऊँचे टीलों और कूड़े-कचरे के ढेरों से घिरे हुए ये कारखाने देखने में ख़ूबसूरत नहीं मालूम होते थे। इन कार-खानों के पास बनने वाले औद्योगिक नगर भी कोई ख़ूबसूरती की चीज़ न थे। वे तो किसी तरह खड़े कर लिये गये थे, क्योंकि मिल-मालिकों का तो असली मक़सद था रुपया बनाते रहना। ये नगर भद्दे, बड़े और गंदे थे और भूखों मरते

मजदूरों को इनके सिवा कोई चारा न था, और इन कारखानों की बुरी और नुकसानदेह हालत में भी उनको काम करना पड़ता था।

तुम्हें याद होगा कि मैं तुमको बड़े जमींदारों के जरिये छोटे-छोटे काश्तकारों के चूसे जाने और बेकारी के बढ़ने के बारे में लिख चुका हूँ, जिससे इँग्लैंड में दंगे हुए और अशान्ति पैदा हुई। शुरू-शुरू में इन नये तरीक़ों ने हालत और भी ख़राब कर दी। खेती-बाड़ी को नुक़सान पहुँचा और बेकारी बढ़ने लगी। असल में जैसे ही कोई नई खोज होती, वैसे ही उसका नतीजा यह होता कि हाथ के काम की जगह मशीनें ले लेती। उसका फल यह होता था कि बहुत बार मजदूर लोग नौकरी से निकाल दिये जाते थे, जिससे उनमें बहुत असन्तोष पैदा हो जाता था। इनमें से बहुत से तो मशीनों से नफ़रत करने लगे और उनको तोड़ डालने की भी कोशिश करने लगे। ये लोग 'मशीन तोड़नेवाले' कहलाने लगे।

योरप में मशीन-तोड़ाई का एक लम्बा इतिहास है जो सोलहवीं सदी से शुरू होता है जब कि जर्मनी में एक मामूली मशीन का करघा ईजाद हुआ। इटली के एक पादरी की १५७९ ई० में लिखी एक पुरानी पुस्तक में इस करघे के बारे में लिखा है कि डैनज़िग की नगर-सभा ने "इस डर से कि यह आविष्कार सैकड़ों कारीगरों को दर-दर का भिखारी बना देगा, मशीन को नष्ट करवा दिया और ईजाद करनेवाले को चुपचाप गला घोटकर या पानी में डुबोकर मरवा डाला!" इस अविष्कारक का इस तरह झट-पट खातमा कर दिये जाने पर भी सत्रहवीं सदी में यह मशीन फिर प्रकट हुई और इसके कारण सारे योरप में दंगे-फिसाद हुए। इसके इस्तेमाल को रोकने के लिए कितनी ही जगह क़ानून बनाये गये और कहीं-कहीं तो बीच बाज़ार में सब लोगों के सामने इसमें आग लगाई गई। अगर यह मशीन जिस समय ईजाद हुई थी उसी समय इस्तेमाल में आजाती तो मुमकिन है इसके बाद दूसरे आविष्कार होते और मशीन-युग जरा जल्दी आजाता। लेकिन सिर्फ़ यही बात कि इसका इस्तेमाल नहीं किया गया यह साबित करती है कि उस वक्त परिस्थितियाँ इसके अनुकूल न थीं। जब माक़ूल वक़्त आगया तो इंग्लैंड में बहुत से दंगे-फिसाद होने पर भी मशीन की सत्ता क़ायम हो गई। मजदूरों की मशीन के प्रति नाराजगी स्वाभाविक थी। लेकिन धीरे-धीरे वे जान गये कि क़ुसूर मशीन का न था, बल्कि उस तरीक़े का था जिससे वह थोड़े से लोगों के फ़ायदे के लिए काम में लाई जाती थी। लेकिन अब हमको इंग्लैंड में मशीन और कारखानों के विकास की तरफ़ लौटना चाहिए।

नये कारख़ाने बहुत से घरू उद्योगों और घर पर काम करनेवालों को निगल

गये। इन घर पर काम करनेवालों के लिए यह मुमकिन न था कि मशीन का मुक़ाबिला करते। इसलिए या तो उनको अपने पुराने हुनर और धंधों को छोड़कर उन्हीं कारख़ानों में मज़दूरी तलाश करनी पड़ती थी, जिनसे वे नफ़रत करते थे, या बेकारों में शामिल होना पड़ता था। घरू उद्योगों का विनाश एकदम तो नहीं हुआ। लेकिन हुआ काफ़ी तेज़ी के साथ। सदी के अन्त तक, यानी क़रीब १८०० ई० तक, बहुत से बड़े-बड़े कारखानें नज़र आने लगे। तीस साल बाद इंग्लैण्ड में स्टीफेन-सन के 'रॉकेट' नामक प्रसिद्ध इंजन के साथ भाप से चलनेवाली रेलें शुरू हुईं। इस तरह से सारे देश में और क़रीब-क़रीब हर तरह के उद्योग-धन्धों में और ज़िन्दगी के हरेक काम में मशीन दिन-पर-दिन तरक्क़ी करती गई।

यह एक दिलचस्प बात है कि सारे आविष्कारक, जिनमें से कइयों का ज़िक्र मैं कर चुका हूं, दस्तकारों की जमात में पैदा हुए थे। इसी वर्ग में से शुरू-शुरू के बहुत से औद्योगिक नेता निकले। लेकिन उनके आविष्कारों और उनके कारण पैदा होने वाले कारखानों के ढंग का नतीजा यह हुआ कि मालिक और मज़दूर के बीच की खाईं और भी ज्यादा चौड़ी हो गई। कारख़ाने का मज़दूर मशीन का सिर्फ़ एक किर्रा बन गया और उन ज़बर्दस्त आर्थिक शक्तियों के हाथ में असहाय हो गया जिनको वह समझ तक नहीं सकता था; उनपर काबू पाना तो दूर रहा। दस्तकार और कारीगर को सबसे पहले खटका तो तभी हुआ था जब उसे पता लगा कि नये कारख़ाने उन लोगों से मुकाबिला कर रहे हैं और चीज़ें इतनी सस्ती बनाकर बेच रहे हैं, जितनी सस्ती अपने सादे और पुराने औज़ारों से घर पर बनाकर बेचना उनके लिए मुमकिन न था। अपना कोई क़सूर न होते हुए भी उनको अपनी दूकानें बन्द करनी पड़ीं। अगर वे अपने ही हुनर को नहीं चला सकते थे तो नये काम में कामयाबी हासिल करना तो दूर की बात थी। बस वे बेकारों की फ़ौज में शामिल हो गये और भूखों मरने लगे। अंग्रेज़ी कहावत है कि "भूख मिल-मालिक का ड्रिल-सारजैण्ट[१] है", और इसी भूख ने आख़िर इन कारीगरों को नौकरी की तलाश में नये कारखानों के दरवाज़ों पर ला पटका। मालिकों ने उनके साथ दया का बर्ताव नहीं किया। उन्होंने इनको काम तो दिया लेकिन सिर्फ़ कौड़ी भर मज़दूरी पर, जिसके लिए इन कम्बख़्त मज़दूरों को कारख़ानों में अपना ख़ून पानी कर देना पड़ता था। औरतें और छोटे-छोटे बच्चे तक भी, दम घोट देने वाली और तन्दुरुस्ती को नुक़सान पहुँचाने वाली जगहों में, दिन रात पिसते थे। यहां तक कि उनमें से बहुत से तो थकान के

१. ड्रिल-सारजैण्ट—फ़ौज को ड्रिल कराने वाला अफ़सर जिसकी आज्ञा पर फ़ौज चलती है।

मारे बेहोश हो कर गिर पड़ते थे। लोग कोयले की खानों के ठेठ भीतर सारे-सारे दिन काम करते थे और महीनों तक उनको सूरज के दर्शन न होते थे।

लेकिन यह खयाल न कर बैठना कि यह सब मालिकों की बेरहमी का ही नतीजा था। वे जान-बूझकर बेरहम कभी न थे; क़ुसूर तो उस प्रणाली का था। वे तो जिस तरह हो अपना व्यापार बढ़ाना चाहते थे और दुनिया की दूर-दूर की मंडियों को दूसरे देशों के क़ब्जे से छीनना चाहते थे, और ऐसा करने के लिए वे सब कुछ करने को तैयार थे। नये कारखानों के बनाने में और मशीन खरीदने में बहुत रुपया खर्च होता है। यह रुपया तभी वापस मिलता है, जब कारखाना चालू हो जाय और उसका माल बाजार में बिकने लगे। इसलिए नये कारखाने बनाने के लिए इन कारखानों के मालिकों को किफ़ायत से चलना पड़ता था और जब माल बिककर रुपया आ भी जाता था तो भी वे नये-नये कारखाने बनाते ही चले जाते थे। इंग्लैंड में तेज़ी से कारखाने बनने के कारण ये लोग दुनिया के दूसरे देशों से आगे थे और वे इससे फ़ायदा उठाना चाहते थे—और असल में उन्होंने फ़ायदा उठाया भी। बस अपना व्यापार बढ़ाने और ज्यादा धन कमाने की धुन में वे उन बेचारे मजदूरों का खून चूसते थे जिनकी मेहनत उनका दौलत पैदा करने का ज़रिया थी।

उद्योग-धन्धों का यह नया तरीक़ा बलवानों के द्वारा निर्बलों को चूसने के लिए खास तौर पर इख्तियार किया गया था। सारे इतिहास में हम बलवानों द्वारा निर्बलों को चूसा जाता देखते हैं। कारखानों की प्रणाली ने इसे और भी आसान कर दिया। क़ानून में वहाँ ग़ुलामी नहीं थी लेकिन हकीक़त में भूखों मरनेवाला मज़दूर, कारखाने की मज़दूरी का ग़ुलाम, पुराने ज़माने के ग़ुलामों से अच्छी हालत में न था। क़ानून बिलकुल मालिकों का ही साथ देता था। मज़हब भी उन्हींके साथ था और ग़रीबों से कहता था कि इस जन्म में अपनी बदक़िस्मती को बरदाश्त करोगे तो अगले जन्म में तुमको परमात्मा की तरफ़ से इसका मुआवज़ा मिलेगा। असल में अधिकारी वर्गों ने बड़ी सुभीते की फिलासफी बना ली थी कि समाज के लिए ग़रीबों का होना जरूरी है और इसलिए कम मज़दूरी देना बिलकुल नेक काम है। अगर अच्छी मज़दूरी दी जायगी तो ग़रीब लोग मौज उड़ाने की कोशिश करेंगे और कड़ी मेहनत न करेंगे। खयालात का यह तरीक़ा बड़ा तसल्ली देने वाला और फ़ायदेमन्द था। क्योंकि कारखाने के मालिकों और दौलतमन्द दूसरे लोगों के दुनियावी स्वार्थों के साथ यह फ़िट बैठ जाता था।

इन युगों का बयान बड़ा दिलचस्प और शिक्षाप्रद है। इससे कितनी जानकारी हासिल होती है। हम देख सकते हैं कि आर्थिक मामलों और समाज पर उत्पत्ति के इन

यांत्रिक या बड़ी-बड़ी मशीनों से काम लेने के क़ायदों का कितना जबरदस्त असर पड़ता है। सारा सामाजिक तख़्ता ही उलट जाता है; नये-नये वर्ग आगे आते हैं और अधिकार प्राप्त करते जाते हैं; कारीगरों का वर्ग कारखानों का मज़दूरी कमानेवाला वर्ग बन जाता है। साथ-ही-साथ नई आर्थिक बातें धर्म और नीति के बारे में भी लोगों के विचारों को नये सांचे में ढाल देती हैं। आम लोगों के विश्वास उनके हितों या वर्ग की भावनाओं के साथ-साथ दौड़ते हैं, और जब उनको अधिकार मिल जाय तो वे अपने हितों की हिफ़ाज़त करने के लिए क़ानून बनाने में पूरी सावधानी रखते हैं। अलबत्ता यह सब नेकी की दिखावट के साथ किया जाता है और यह यक़ीन दिलाया जाता है कि क़ानून की तह में सिर्फ़ मनुष्य जाति की भलाई करने का ही उद्देश्य है। हम हिन्दुस्तानियों को हिन्दुस्तान के अंग्रेज़ वाइसराय और दूसरे अफ़सरों से ऐसी नेक बातें क़ाफी तौर पर सुनने को मिलती रहती हैं। हमसे हमेशा कहा जाता है कि हिन्दुस्तान की भलाई के लिए वे लोग कितनी मेहनत करते हैं। लेकिन दूसरी तरफ़ वे आर्डिनेंसों और तलवारों के ज़ोर से राज करते हैं और हमारे देशवासियों के कलेजे का ख़ून चूसते हैं। हमारे ज़मींदार लोग कहते हैं कि वे काश्तकारों से कितनी मुहब्बत रखते हैं, लेकिन उनको चूसने और उनसे कसकर लगान वसूल करने में वे ज़रा भी नहीं हिचकते, यहाँतक कि उन बेचारों के पास सिवाय भुखमरे शरीरों के और कुछ नहीं छोड़ते। हमारे पूँजीपति और बड़े-बड़े मिल मालिक मज़दूरों के प्रति अपनी सदिच्छाओं का विश्वास दिलाते हैं, लेकिन यह सदिच्छा अच्छी मज़दूरी या मज़दूरों के लिए अच्छी हालत के रूप में ज़ाहिर नहीं होती। सारे मुनाफ़े नये-नये महल बनवाने में ख़र्च हो जाते हैं; मज़दूरों की कच्ची झोंपड़ियों को सुधारने में नहीं।

ताज्जुब है कि लोग अपने आपको और दूसरों को किस क़दर धोखा देते हैं, अगर ऐसा करने में उनका फ़ायदा होता हो। इसीलिए हम अठारहवीं सदी और उसके बाद के अंग्रेज़ मालिकों को मज़दूरों की हालत सुधारने की सारी कोशिशों में अड़ंगा डालते हुए पाते हैं। उन्होंने कारखानों के बारे में क़ानून बनाये जाने और मज़दूरों के रहन-सहन का सुधार किये जाने पर भी ऐतराज़ किया और यह मानने से इनकार किया कि दुःख के इन कारणों को दूर करना समाज का फ़र्ज़ है। वे तो इस ख़याल से अपने आपको तसल्ली देते रहते थे कि सिर्फ़ निकम्मे लोग ही मुसीबत उठाते हैं। कुछ भी हो, वे तो मज़दूरों को अपने-जैसा आदमी भी नहीं समझते थे। उन्होंने 'दख़ल न देने' (Laissez-Faire) की एक नई फिलासफ़ी निकाली, यानी वे चाहते थे कि अपने व्यापार में वे जो मन में आवे सो करें और सरकार उसमें कोई दख़ल न दे। दूसरे देशों से पहले चीज़ें बनाने के कारख़ाने खुल जाने के कारण वे

आगे बढ़ चुके थे और अब तो वे सिर्फ यही चाहते थे कि रुपया कमाने के लिए उनको खुली छुट्टी मिल जावे। 'लेसे-फेयर' क़रीब-क़रीब एक दैवी मत बन गया जिसके बारे में यह माना जाता था कि अगर इससे कोई फायदा उठा सकता तो यह हरेक को बराबर मौक़ा देने वाला था। आगे बढ़ने के लिए हरेक स्त्री-पुरुष को बाक़ी संसार से लड़ना पड़ता था और अगर इस लड़ाई में बहुत-से काम आ जाते थे तो इसमें हर्ज क्या था ?

इन खतों के दौरान में मैं तुमको मनुष्यों में आपसी सहयोग की उन्नति के बारे में लिख चुका हूँ, जो सभ्यता का आधार रहा था। लेकिन 'लेसे-फेयर' और नये पंजीवाद ने 'जंगल का नियम' या मत्स्य-न्याय[1] चालू कर दिया। कार्लाइल ने इसे 'पिग-फिलासफी' यानी शूकर-नीति का नाम दिया है। जिन्दगी और व्यापार का यह नया क़ायदा किसने बनाया ? मजदूरों ने तो नहीं ही। उन बेचारों की तो सुनता ही कौन था। इसके बनाने वाले तो ऊँचे वर्ग के कामयाब मिल-मालिक थे, जो बेहूदी भावनाओं के नाम पर अपनी कामयाबी में किसी तरह की दस्तंदाजी नहीं चाहते थे। बस आजादी और जायदाद के अधिकार की दुहाई देकर वे इसकी भी मुखालफ़त करते थे कि लोगों के खानगी मकानों की कानून के जोर से सफ़ाई कराई जाय और माल में मिलावट करना रोका जाय।

मैंने अभी पूंजीवाद शब्द का प्रयोग किया है, किसी न किसी रूप में पूंजीवाद बहुत दिनों से सब देशों में चला आ रहा था, यानी इकट्ठा किये हुए धन से तिजारत की जाती थी। लेकिन बड़ी मशीन और उद्योगवाद के प्रचार का नतीजा यह हुआ कि कारखानों में माल तैयार करने के लिए बहुत ज्यादा रुपये की जरूरत पड़ने लगी। यह 'औद्योगिक पूंजी' कहलाती थी और पूंजीवादी शब्द आज कल उस आर्थिक प्रणाली के लिए काम में लाया जाता है, जो औद्योगिक क्रान्ति के बाद पैदा हुई। इस प्रणाली के मुताबिक़ पूंजीपति यानी पूंजी के मालिक, कारखानों का नियंत्रण करते थे और मुनाफ़ा उठाते थे। औद्योगीकरण यानी बड़े-बड़े कल-कारखाने खुलने के साथ-साथ, सिवाय आज कल सोवियट यूनियन[2] के या शायद एक-दो दूसरे देशों के, पूंजीवाद

१. **मत्स्य-न्याय**—बलवानों के द्वारा निर्बलों के नाश का नियम, जिसके अनुसार मनुष्य के सिवा संसार के सब प्राणी आचरण करते हैं। जंगल में छोटे जानवरों को बड़े जानवर मार कर खा जाते हैं और उनसे बड़े उनको मार कर खा जाते हैं। इसलिए यह 'जंगल का नियम' भी कहलाता है।

२. **सोवियट-यूनियन**—रूस का नाम 'आजकल यूनियन ऑफ सोशलिस्ट सोवियट रिपब्लिक्स' (यू० एस० एस० आर०) है। इसे ही सोवियट यूनियन भी कहते हैं।

सारी दुनिया में फैल गया। पूंजीवाद अपनी शुरुआत के दिनों से ही अमीर और ग़रीब के भेद पर ज़ोर देता रहा है। उद्योग-धन्धों के यन्त्रीकरण यानी मशीन की शक्ति से माल की उपज बहुत ज्यादा बढ़ गई और इसलिए धन भी खूब पैदा होने लगा। लेकिन यह नया धन एक छोटी सी जमात की ही जेब में जाता था—यानी नये उद्योगों के मालिकों की जेबों में। मज़दूर ग़रीब के ग़रीब ही बने रहे। इंग्लैंड में मज़दूरों की हालत बहुत ही धीरे-धीरे सुधरी, और वह भी ज्यादातर हिन्दुस्तान तथा दूसरे देशों की लूट की बदौलत। लेकिन व्यवसाय के मुनाफे में मज़दूरों का हिस्सा बहुत कम था। औद्योगिक क्रान्ति और पूंजीवाद ने पैदावार के सवाल को हल कर दिया। लेकिन जो नया धन पैदा हुआ उसके बंटवारे का सवाल इनसे हल न हुआ। और धनिकों और ग़रीबों की पुरानी कशमकश सिर्फ जारी ही न रही बल्कि और भी तेज़ हो गई।

औद्योगिक क्रान्ति अठारहवीं सदी के दूसरे आधे हिस्से में हुई। यह वही ज़माना था जबकि अँग्रेज़ लोग हिन्दुस्तान और कनाडा में लड़ाइयाँ लड़ रहे थे। यही 'सात साल की लड़ाई' का भी ज़माना था। इन घटनाओं का एक दूसरो पर जबर्दस्त असर पड़ा। ईस्ट इंडिया कम्पनी और उसके नौकर-चाकरों (तुम्हें क्लाइव का नाम याद होगा) ने प्लासी की लड़ाई के बाद बहुत दिनों तक जो रुपया हिन्दुस्तान से लूटा उस से इन नये उद्योग-धन्धों को चालू करने में बड़ी मदद मिली। मैं इस ख़त में पहले लिख चुका हूँ कि औद्योगीकरण शुरू-शुरू में बड़े ख़र्चे का काम है। इसमें जो रुपया फँस जाता है, कुछ दिन तक उससे फ़ायदा नहीं मिलता। अगर बहुत-सा धन हाथ में न आजाय, चाहे कर्ज़े से या दूसरी तरह से, तो जबतक व्यवसाय चल न निकले और रुपया न पैदा करने लगे तबतक उसका नतीजा ग़रीबी और मुसीबत ही होता है। यह ख़ास तौर पर इंग्लैण्ड की ख़ुशक़िस्मती थी कि ठीक जिस वक्त उसे अपने उद्योग-धन्धों और कारख़ानों को क़ायम करने के लिए बेहद रुपये की ज़रूरत हुई तभी उसे यह धन हिन्दुस्तान से मिल गया।

इन नये कारखानों के बन जाने पर नई ज़रूरतें पैदा हुईं। कारखानों को बनी हुई चीज़ें तैयार करने के लिए कच्चे माल की ज़रूरत हुई। मसलन कपड़ा बनाने के लिए रुई की ज़रूरत थी। इससे भी ज्यादा ज़रूरत थी नई-नई मंडियों की, जिनमें कारखानों में तैयार किया हुआ नया माल खपाया जा सके। कारखाने पहले जारी करके इंग्लैंड दूसरे देशों से आगे बढ़ा हुआ था। लेकिन इस पेशकदमी के होते हुए भी उसे ऐसी मंडियां मुश्किल से मिलतीं जहाँ माल आसानी से खपाया जा सकता। एक बार फिर हिन्दुस्तान ने, अपनी मर्जी के बिलकुल खिलाफ़, इंग्लैंड की

यह दिक्क़त दूर करदी। हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों ने हिन्दुस्तानी उद्योग-धन्धों का सत्यानाश करने और हिन्दुस्तान पर विलायती कपड़ा लादने के लिए सब तरह की चालबाज़ियों से काम लिया। इसका ज्यादा हाल मैं आगे बतलाऊँगा। यहाँ यह बात ख़ास तौर पर ध्यान देने की है कि अंग्रेज़ों ने जो हिन्दूस्तान पर क़ब्ज़ा कर रक्खा था और उसको ज़बरदस्ती अपनी स्कीमों में 'फ़िट' कर लिया था, इससे इँग्लैंड की औद्योगिक क्रान्ति को बहुत मदद मिली।

उन्नीसवीं सदी में उद्योगवाद सारी दुनिया में फैल गया और पूंजीवादी उद्योग दूसरे देशों में भी उसी आम लाइन पर तरक्क़ी करता गया जो इंग्लैंड में तय हो चुकी थी। पूंजीवाद ने लाज़मी तौर पर एक नये साम्राज्यवाद को जन्म दिया क्योंकि हर जगह माल तैयार करने के लिए कच्चे माल की और तैयार माल को खपाने के लिए मंडियों की माँग बढ़ने लगी। मंडियों और कच्चा माल प्राप्त करने का सबसे आसान तरीक़ा यही था कि उस देश पर क़ब्ज़ा कर लिया जाय। बस, ज्यादा शक्तिशाली देशों में आपस में नये उपनिवेशों के लिए बडी ज़बरदस्त छीना-झपटी होने लगी। इस बारे में भी हिन्दुस्तान पर क़ब्ज़ा होने और अपनी समुद्री ताक़त की वजह से इँग्लैंड आगे बढ़ा हुआ था। लेकिन साम्राज्यवाद और उसके नतीजों के बारे में मुझे आगे चलकर कुछ कहना है।

औद्योगिक क्रान्ति का नतीजा यह हुआ कि अँग्रेज़ी दुनिया पर लंकाशायर के बडे-बडे कपड़ा बनाने वालों, और लोहे के मालिकों और खान के मालिकों का दबदबा दिन-पर-दिन बढ़ता ही गया।

: ६६ :

अमेरिका का इंग्लैंड से विच्छेद

२ अक्तूबर, १९३२

अब हम अठारहवीं सदी की दूसरी महान् क्रान्ति पर विचार करेंगे,—यानी अमेरिकन उपनिवेशों का इंग्लैंड से विद्रोह। यह तो ख़ाली राजनैतिक क्रान्ति थी, जो न तो औद्योगिक क्रान्ति जैसी महत्त्वपूर्ण थी, जिस पर हम विचार कर चुके हैं, और न उस फ़्रांस की राज्यक्रान्ति जैसी थी जो इसके थोडे ही दिनों बाद होनेवाली थी और जिसने योरप की सामाजिक नींव को ही हिला डाला। लेकिन फिर भी अमेरिका में होनेवाला यह राजनैतिक परिवर्त्तन महत्त्वपूर्ण था और इससे बडे-बडे नतीजे निकलने वाले थे। उस वक्त जो अमेरिकन उपनिवेश आज़ाद हो गये थे वे आज बढ़कर दुनिया

के सबसे ताक़तवर, सबसे मालदार और, औद्योगिक दृष्टि से, सबसे ज्यादा उन्नतिशील देश बन गये हैं।

तुम्हें 'मे-फ्लावर' जहाज़ का नाम याद है जो १६२० ई० में थोड़े से प्रोटेस्टेण्टों को इंग्लैंड से अमेरिका ले गया था? वे जेम्स प्रथम की मनमानी को नापसन्द करते थे; और उसके मज़हबी ख़्यालात को भी। इसलिए ये लोग, जो तबसे 'पिल्ग्रिम-फादर्स' (यात्री-पूर्वज) कहलाते हैं, इंग्लैंड की ज़मीन को हमेशा के लिए सलाम करके अटलांटिक समुद्र के पार एक अजनबी देश को चले गये। उनका इरादा यह था कि वहाँ ऐसा उपनिवेश क़ायम करें जिसमें उनको ज्यादा आज़ादी रहे। वे उत्तर में उतरे और उस जगह का नाम उन्होंने न्यू-प्लाइमाउथ रक्खा। उत्तरी अमेरिका के समुद्री किनारे के दूसरे हिस्सों में इनसे पहले भी प्रवासी लोग जा बसे थे। इनके बाद बहुत से लोग और जा पहुँचे और पूर्वी किनारे पर उत्तर से लगाकर दक्षिण तक बहुत से छोटे-छोटे उपनिवेश क़ायम हो गये। वहाँ कैथेलिक उपनिवेश थे; इंग्लैंड से आये हुए 'कैवेलियर' सरदारों के क़ायम किये हुए उपनिवेश थे; और 'क्वेकर'[1] उपनिवेश थे—पैनसिलवेनिया शहर का नाम पैन नाम के क्वेकर नेता के ऊपर ही पड़ा है। वहाँ हालैंड के लोग भी बसते थे, जर्मन और डेनमार्क के निवासी भी, और कुछ फ्रांस वाले भी। इनमें सभी देशों के निवासी मिले हुए थे लेकिन सबसे ज्यादा तादाद अंग्रेज़ प्रवासियों की थी, हालैंडवालों ने एक शहर बसाया और उसका नाम न्यू-एमस्टर्डम रक्खा। जब बाद में यह अंग्रेज़ों के हाथ में आया तो उन्होंने इसका नाम बदल कर न्यू-यार्क कर दिया जो आजकल इतना मशहूर है।

अंग्रेज़ प्रवासी इंग्लैंड के बादशाह और पार्लमेण्ट को मानते रहे। बहुत से लोगों ने अपने घर इसलिए छोड़े थे कि वे इंग्लैंड में अपनी हालत से बेज़ार थे और बादशाह या पार्लमेण्ट के बहुत से कामों को नापसन्द करते थे। लेकिन उनकी सम्बन्ध-विच्छेद करने की ख़ाहिश बिलकुल न थी। दक्षिण के उपनिवेश, जिनमें कैवेलियर लोग और बादशाह के समर्थकों का ज़ोर था, इंग्लैंड से और भी ज्यादा चिपके हुए थे। ये सब उपनिवेश अपने-अपने हाल में मस्त थे और इनमें आपस में कोई ऐसी बात न थी जो सबमें एक-सी पाई जाती हो। अठारहवीं सदी तक पूर्वी किनारे पर तेरह उपनिवेश

१. क्वेकर—१६४९ ई० में विलियम फ़ाक्स ने एक 'सोसाइटी ऑफ फ़्रेन्ड्स' (मित्र-मण्डली) क़ायम की थी जिसका उद्देश्य मज़हब के ढकोसलों को छोड़ देना और शान्ति स्थापित करना था। इन लोगों का मुँह-बोला नाम 'क्वेकर' पड़ गया। अमेरिका में इस सोसायटी का संगठन विलियम पैन ने किया था। क्वेकर लोगों का ज़बरदस्त अन्तर्राष्ट्रीय और सामाजिक प्रभाव रहा है।

थे, और ये सब इँग्लैंड के मातहत थे। उत्तर में कनाडा था और दक्षिण में स्पेन का इलाक़ा। इन तेरहों उपनिवेशों में जितनी हालैंड या डेनमार्क वालों की बस्तियाँ थीं वे सब इन्हींमें मिल गई थीं और अंग्रेज़ों के क़ब्जे में थीं। लेकिन याद रहे कि ये सब उपनिवेश किनारे पर ही और किनारे के पास ही भीतर की तरफ़ थे। इनके परे पश्चिम में प्रशान्त महासागर तक विशाल देश फैला हुआ था जो आकार में इन तेरहों उपनिवेशों से क़रीब दस गुना बड़ा था। इन इलाक़ों में कोई यूरोपियन प्रवासी बसे हुए न थे। इनमें तो 'रेड-इंडियनों[1]' के जुदे-जुदे कबीले और जातियाँ बसती थीं और ये उन्हींके क़ब्जे में थे। इनमें मुख्य 'आइरोकोइस' थे।

अठारहवीं सदी के बीच में, जैसाकि तुम्हें ख़याल होगा, सारी दुनिया में इंग्लैण्ड और फ्रांस की कशमकश चली थी। यह 'सात साल की लड़ाई' (१७५६ से १७६३ ई० तक) कहलाती है जो सिर्फ योरप में ही नहीं बल्कि हिन्दुस्तान और कनाडा में भी चली। इंग्लैण्ड की जीत हुई और फ़्रांस को कनाडा उसके हवाले करना पड़ा। इस तरह अमेरिका से फ़्रांस का टिकट कट गया और उत्तरी अमेरिका के सारे उपनिवेश इंग्लैण्ड के क़ब्ज़े में आगये। कनाडा के सिर्फ क्यूबेक प्रान्त में ही कुछ फ़्रेंच लोगों की आबादी थी; बाक़ी उपनिवेशों में अंग्रेज़ ही ज्यादा थे। ताज्जुब की बात है कि क्यूबेक अभी तक 'ऐंग्लो-सैक्सन[2]' आबादी से घिरा हुआ फ़्रेंच भाषा और संस्कृति का एक टापू-सा है। क्यूबेक प्रान्त के सबसे बडे शहर मॉन्ट्रील (मॉन्ट रायल का अपभ्रंश) में, मैं समझता हूँ, इतने फ्रेंच भाषा बोलनेवाले लोग हैं, जितने पेरिस के सिवा और किसी शहर में नहीं होंगे।

पिछले किसी ख़त में मैं उस गुलामों के व्यापार का जिक्र कर चुका हूँ जो योरप के देशों ने अफ़रीका से हब्शी मज़दूरों को पकड़-पकड़ कर अमेरिका लाने के लिए चला रक्खा था। यह भयानक और जंगली व्यापार ज्यादातर स्पेनवालों, पुर्तगाल वालों और अंग्रेज़ों के हाथ में था। अमेरिका में मज़दूरों की ज़रूरत थी, खासकर दक्षिणी रियासतों में जहाँ तमाखू की खेती ख़ूब होने लगी थी। अमेरिका के बाशिन्दे

१. **रेड-इंडियन**—कोलम्बस जब हिन्दुस्तान की तलाश में निकला तो अमेरिका जापहुँचा। वहाँ के निवासियों को देखकर उसने उनको हिन्दुस्तानी समझा और तभी से उनको 'इंडियन' कहा जाने लगा। लेकिन जब मालूम हुआ कि ये लोग हिन्दुस्तानी न थे तो उनका तांबे जैसा रंग होने के कारण 'रेड-इंडियन' का नाम दे दिया गया। ये लोग अब भी थोड़ी-बहुत तादाद में उत्तरी अमेरिका में पाये जाते हैं।

२. **ऐंग्लो सैक्सन**—इंग्लैण्ड के निवासी ऐंग्लो-सैक्सन जाति के माने जाते हैं। कहते हैं कि पहले-पहल जर्मनी के सैक्सनी प्रान्त से लोग यहाँ आकर बसे थे।

'रेडइंडियन' कहलानेवाले लोग, ख़ाना-बदोश थे और एक जगह टिककर नहीं रहना चाहते थे। इसके अलावा उन्होंने गुलामों की तरह काम करने से भी इन्कार किया। वे झुकनेवाले न थे; बरबाद हो जाना उन्होंने बेहतर समझा, और बाद में वे तबाह हो भी गये। उनका क़रीब-क़रीब ख़ातमा कर दिया गया और नई परिस्थितियों में वे ज़िन्दा न रह सके। इन लोगों में से, जो किसी वक़्त सारे महाद्वीप में बसे हुए थे, आज बहुत कम बाक़ी बचे हैं।

चूंकि रेड-इंडियन लोग तो खेतों में काम करने के लिए मजबूर नहीं किये जा सके, और मजदूरों की बड़ी भारी ज़रूरत थी, इसलिए अफ़रीका के कम्बख़्त, निवासियों को भयंकर नर-आखेट (मनुष्यों के शिकार) के ज़रिये पकड़ा जाता था, और जिस तरह उनको समुद्र पार भेजा जाता था, उसकी बेरहमी पर यक़ीन करना मुश्किल है। ये अफ़रीका के हबशी वर्जिनिया, कैरोलिना और जॉर्जिया की दक्षिणी रियासतों को भेजे जाते थे जहाँ इनकी टोलियाँ बनाकर इनसे ज्यादातर तमाखू के बड़े-बड़े खेतों (प्लैन्टेशन) में काम लिया जाता था।

उत्तरी रियासतों में दशा इससे जुदी थी। 'मे-फ़्लावर' जहाज़ में आये हुए 'पिल्ग्रिम फादर्स' की पुरानी कट्टर परम्परायें अभीतक चल रही थीं। वहाँ छोटे-छोटे खेत थे, दक्षिण की तरह बड़े-बड़े 'प्लैन्टेशन' न थे। इन खेतों में ग़ुलामों या बड़ी तादाद में मज़दूरों की ज़रूरत न थी। चूंकि नई ज़मीन की कमी न थी, इसलिए हरेक आदमी की ख़्वाहिश यही रहती थी कि अपना निजी खेत रखकर आज़ाद बना रहे। इसलिए इन बसनेवालों में बराबरी का भाव बढ़ने लगा।

इस तरह हम इन उपनिवेशों में दो आर्थिक प्रणालियों का विकास देखते हैं; एक तो उत्तर में, जो छोटे-छोटे खेतों और समानता के कुछ-कुछ भावों पर निर्भर थी, और दूसरी दक्षिण में, जिसका आधार बड़े-बड़े प्लैन्टेशन और ग़ुलामी था। रेड-इंडियनों के लिए इन दोनों में से किसी में भी जगह न थी। इसलिए ये लोग, जो इस देश के आदिम निवासी थे, धीरे-धीरे पश्चिम की तरफ़ खदेड़ दिये गये।

इंग्लैण्ड के बादशाह और बहुतसे अंग्रेज़ ज़मींदारों का इन उपनिवेशों में, ख़ास कर दक्षिण में, बहुत रुपया फँसा हुआ था। वे इनसे जितना फ़ायदा हो सके, उठाने की कोशिश करते थे। सात साल की लड़ाई के बाद अमेरिका के उपनिवेशों से रुपया वसूल करने के लिए ख़ासतौर पर कोशिश की गई। अंग्रेज़ी पार्लमेण्ट, जिसमें ज़मींदारों की ही तूती बोलती थी, उपनिवेशों को चूसने को तैयार बैठी थी और उसने बादशाह का साथ दिया। टैक्स लगा दिये गये और व्यापार पर पाबन्दियाँ लगा दी गईं। तुम्हें याद होगा कि इसी ज़माने में हिन्दुस्तान में भी अंग्रेज़ों के ज़रिये बंगाल की

जबरदस्त लूट शुरू हो गई थी और हिन्दुस्तान के व्यापार के रास्ते में रुकावटें डाली गई थीं।

प्रवासी लोगों ने इन पाबन्दियों और नये टैक्सों की मुख़ालफ़त की, लेकिन 'सात साल की लड़ाई' में जीत होने के बाद ब्रिटिश सरकार को अपनी ताक़त का इतना भरोसा हो गया था कि उसने इनकी मुख़ालफ़त की ज़रा भी परवा न की। उधर सात साल की लड़ाई से प्रवासियों ने भी बहुत-सी बातें सीख ली थीं। अलग-अलग रियासतों या उपनिवेशों के लोग आपस में मिले और एक दूसरे को जानने-पहचानने लगे। वे शिक्षित अंग्रेज़ी फौजों के साथ फ्रेंच फौजों के ख़िलाफ़ लड़ चुके थे और लड़ने के तरीकों और युद्ध के ख़ौफ़नाक खेल से वाक़िफ हो गये थे। इसलिए अपनी तरफ से ये प्रवासी लोग भी इस बात को सीधी तरह मानने के लिए तैयार न थे, जिसे वे अन्यायपूर्ण और अपने प्रति ज्यादती समझते थे।

१७७३ ई० में जब ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इंडिया कम्पनी की चाय जबरन उनके सिर पटकनी चाही तो मामला काबू से बाहर हो गया। ईस्ट इंडिया कम्पनी में इंग्लैंड के बहुतसे मालदारों के हिस्से थे, जिससे वे उसके फायदे में बहुत दिल-चस्पी रखते थे। सरकार इन्हीं लोगों की मुट्ठी में थी, और शायद खुद सरकार के मेम्बर लोग भी ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यापार में दिलचस्पी रखते थे। इसलिए सरकार ईस्ट इंडिया कंपनी को अमेरिका चाय भेजने और वहाँ उसे बेचने की सहूलियत देकर व्यापार को मदद पहुँचाने की कोशिश करती थी। लेकिन इससे उपनिवेशों के चाय के स्थानीय व्यापार को धक्का पहुँचा और लोग बहुत नाराज़ हुए। इसलिए इस विदेशी चाय के बायकाट का निश्चय किया गया। १७७३ ई० में जब ईस्ट इंडिया कंपनी की चाय बोस्टन पर उतारी जाने लगी तो उसे रोका गया। कुछ प्रवासी लोग रेड-इंडियनों का भेष बनाकर माल के जहाज़ पर चढ़ गये और चाय को समुद्र में फेंक दिया। यह काम खुल्लमखुल्ला एक बडी भारी सहानुभूति रखनेवाली भीड़ के सामने किया गया। यह एक चुनौती थी, जिसका नतीजा यह हुआ कि बाग़ी उपनिवेशों और इंग्लैंड के बीच लड़ाई ठन गई।

इतिहास की घटनायें ठीक उसी तरह दुबारा कभी नहीं होतीं, लेकिन फिर भी यह अजीब बात है कि कभी-कभी वे कितनी मिलती-जुलती होती हैं। बोस्टन में १७७३ ई० में चाय के समुद्र में फेंके जाने की यह घटना बडी मशहूर हो गई है। यह 'बोस्टन टी-पार्टी' कहलाती है। ढाई साल हुए, जब बापू ने अपनी नमक की लड़ाई और दांडी की महान् यात्रा और नमक पर धावे शुरू किये थे तो अमेरिका के बहुत-से लोगों को 'बोस्टन टी-पार्टी' का ख़याल आगया था और वे इस नई 'साल्ट-पार्टी'

(नमक-दल) का उससे मुक़ाबिला करने लगे थे । लेकिन असल में इन दोनों में बहुत फ़र्क़ था ।

डेढ़ साल बाद, १७७५ ई० में, इंग्लैंड और उसके अमेरिकन उपनिवेशों के बीच लड़ाई ठन गई । उपनिवेश किस बात के लिए लड़ाई लड़ रहे थे ? आज़ादी के लिए नहीं, न इंग्लैंड से अलहदा होने के लिए । यहाँतक कि जब लड़ाई शुरू हो गई और दोनों तरफ़ ख़ून बह चुका तब भी प्रवासियों के नेता, इंग्लैंड के तीसरे जार्ज को 'मोस्ट ग्रेशस सॉवरेन' (महा कृपालु राजा) मानते रहे और अपने आपको उसकी वफ़ादार रिआया समझते रहे । यह बात बडी दिलचस्प है, क्योंकि ऐसी बातें तुम्हें बहुत बार होती हुई दिखाई देंगी । हॉलैंड में स्पेन का दूसरा फिलिप बादशाह कहलाता था हालांकि उसकी फ़ौजों के साथ ज़बरदस्त लड़ाई छिडी हुई थी । बहुत वर्षों की लड़ाई के बाद कहीं जाकर हॉलैंड को मजबूर होकर अपनी आज़ादी का ऐलान करना पड़ा । हिन्दुस्तान में भी बहुत वर्षों तक शंका और हिचकिचाहट और औपनिवेशिक स्वराज्य (डोमीनियन स्टेटस) की भावना से खिलवाड़ करने के बाद हमारी राष्ट्रीय महासभा (इंडियन नेशनल कांग्रेस) ने पहली जनवरी १९३० ई० को मुकम्मल आज़ादी यानी पूर्ण स्वराज्य के हक़ में ऐलान किया । अब भी कुछ लोग ऐसे हैं जो, मालूम होता है, आज़ादी के ख़याल से घबराते हैं और हिन्दुस्तान में औपनिवेशिक शासन की बातचीत करते हैं । लेकिन इतिहास हमको यह बतलाता है और हॉलैंड और अमेरिका के उदाहरण स्पष्ट कर देते हैं कि ऐसी जद्दोजहद का नतीजा सिर्फ़ आज़ादी ही हो सकता है ।

१७७४ ई० में, उपनिवेशों और इंग्लैंड के बीच लड़ाई छिड़ने से कुछ ही दिन पहले, वाशिंगटन ने कहा था कि उत्तरी अमेरिका का कोई समझदार आदमी आज़ादी नहीं चाहता है । और यही वाशिंगटन अमेरिका के प्रजातन्त्र का सबसे पहला राष्ट्रपति होने वाला था । १७७४ ई० में, लड़ाई छिड़ जाने के बाद, औपनिवेशिक कांग्रेस के छियालीस प्रमुख नेताओं ने वफ़ादार रिआया की हैसियत से बादशाह जार्ज तृतीय के पास यह प्रार्थनापत्र भेजा कि शान्ति क़ायम की जाय और जो 'ख़ून की नदी' बह चुकी है वह रोकी जाय । इंग्लैंड और उसकी अमेरिकन संतान के बीच में दुबारा मेल और मुहब्बत क़ायम करने की उनकी दिली ख़्वाहिश थी । वे तो सिर्फ़ किसी तरह का औपनिवेशिक शासन चाहते थे और वाशिंगटन के लफ़्ज़ों में उन्होंने ऐलान किया था कि कोई भी समझदार आदमी आज़ादी नहीं चाहता । यह 'ओलिव-ब्रांच[1] पिटीशन' (शान्ति की प्रार्थना) कहलाने लगी । ये शब्द कितने

१. 'ओलिव-ब्रांच'—(जैतून के पेड़ की डाली) योरप में जैतून का पेड़

परिचित मालूम होते हैं ! आज हिन्दुस्तान में यही आवाज़ बार-बार सुनाई पड़ती है।

लेकिन सालभर भी न बीतने पाया था कि इस प्रार्थनापत्र पर दस्तख़त करने-वालों में से पच्चीस ने एक दूसरे ही ख़रीते पर दस्तख़त किये—वह थी 'स्वाधीनता की घोषणा'।

ज़ाहिर है कि उपनिवेशों ने कोई आज़ादी के लिए लड़ाई नहीं छेड़ी थी। उनकी शिकायतें तो टैक्सों और व्यापार पर पाबन्दियों के बारे में थीं। वे लोग उन-पर उनकी मर्ज़ी के खिलाफ़ टैक्स लगाने के पार्लमेण्ट के हक़ को मानने के लिए तैयार नहीं थे। उनकी मशहूर पुकार यह थी कि 'प्रतिनिधित्व नहीं तो टैक्स नहीं' (No taxation without representation.) क्योंकि ब्रिटिश पार्लमेण्ट में उनका प्रतिनिधित्व न था।

इन प्रवासियों के पास कोई फ़ौज तो न थी, लेकिन एक बड़ा देश ज़रूर था, जिसमें वे ज़रूरत पड़ने पर पीछे हटकर शरण ले सकते थे। उन्होंने एक फ़ौज तैयार की और वाशिंगटन उसका सिपहसालार हुआ। उनको कुछ कामयाबी भी मिली, और फ़्रांस भी अपने पुराने दुश्मन इंग्लैंड से बदला निकालने का अच्छा मौक़ा देखकर इन उपनिवेशों से मिल गया। स्पेन ने भी इंग्लैंड के ख़िलाफ़ लड़ाई का ऐलान कर दिया। अब इंग्लैंड का पासा हलका हो गया, लेकिन लड़ाई बहुत वर्षों तक चलती रही। १७७६ ई० में उपनिवेशों का मशहूर 'स्वाधीनता का घोषणापत्र' प्रकट हुआ। १७८२ ई० में लड़ाई ख़तम हो गई और १७८३ ई० में सब लड़नेवालों ने पेरिस के सुलहनामे पर दस्तख़त कर दिये।

इस तरह अमेरिका के ये तेरह उपनिवेश एक स्वाधीन प्रजातन्त्र बन गये, जिनको 'यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका' (अमेरिका का संयुक्त राज्य) का नाम दिया गया। लेकिन बहुत दिनों तक इन राज्यों में आपसी फूट बनी रही और हरेक राज्य अपने आपको क़रीब-क़रीब आज़ाद समझता रहा। सबकी एक राष्ट्रीयता का ख़याल बहुत धीरे-धीरे पैदा हुआ। यह एक बहुत बड़ा देश था जो पश्चिम की तरफ़ फैलता ही जारहा था। यह वर्तमान संसार का सबसे पहला बड़ा प्रजातन्त्र था—छोटा-सा स्वीज़रलैंड उस ज़माने का एक दूसरा असली प्रजातन्त्र था। हॉलैंड प्रजातन्त्र ज़रूर था, लेकिन वह धनवालों के हाथ में था। इंग्लैंड खाली एक सल्तनत ही न था बल्कि वहाँकी पार्लमेण्ट एक छोटे-से धनवान ज़मींदार वर्ग के हाथों में थी। इसलिए यूनाइटेड स्टेट्स (संयुक्तराज्य) का प्रजातन्त्र एक नये तरह का देश था। योरप और

शान्ति का चिन्ह समझा जाता है। इसलिए जैतून के पेड़ की डाली पेश करने का मतलब होता है शान्ति का प्रस्ताव करना।

एशिया की तरह उसका पुराना इतिहास कुछ नहीं था। सामन्तशाही का भी वहां कोई निशान न था, सिवाय दक्षिण में प्लैण्टेशन-प्रणाली और गुलामी के। वहां पुश्तैनी अमीर-उमरा न थे। इसलिए 'बुर्जुवा' यानी मध्यमवर्ग की तरक्की के रास्ते में कोई रुकावटें न थीं और उसने तेजी के साथ तरक्की की। आजादी की लड़ाई के वक्त यहां की आबादी चालीस लाख से भी कम थी। दो साल पहले, १९३० ई० में, यह १२ करोड़ ३० लाख के क़रीब थी।

जॉर्ज वाशिंगटन संयुक्त राज्य का पहला राष्ट्रपति हुआ। यह वर्जिनिया राज्य का एक बड़ा भारी ज़मींदार था। उस ज़माने के और महापुरुष, जो प्रजातन्त्र की नींव जमानेवाले समझे जाते जाते हैं, टॉमस पेन, बेञ्जामिन फ्रैंकलिन, पैट्रिक हेनरी, टॉमस जैफरसन[1], जॉन ऐडम्स[2], और जेम्स मैडीसन[3] हैं। बेञ्जामिन फ्रैंकलिन खास तौर पर प्रसिद्ध पुरुष हुआ है। यह बड़ा भारी वैज्ञानिक था। बच्चों की पतंगें उड़ाकर इसने यह साबित कर दिया कि बादलों की कौंध और बिजली एक ही चीज़ है।

१७७६ ई० की प्रजातन्त्र की घोषणा में यह कहा गया था कि "जन्म से सब मनुष्य बराबर हैं।" अगर छानबीन की जाय तो यह बयान पूरी तौर पर सही नहीं है, क्योंकि कुछ कमज़ोर हैं, कुछ बलवान हैं, कुछ दूसरों से ज्यादा ज़हीन (चतुर) और योग्य हैं। लेकिन इस बयान की तह में जो ख़याल है वह बिलकुल साफ़ और तारीफ़ के लायक़ है। प्रवासी लोग योरप की सामन्तशाही की असमानताओं से छुटकारा पाना चाहते थे। यह अकेली ही बहुत आगे बढ़ी हुई चीज़ थी। शायद 'स्वाधीनता की घोषणा' की रचना करने वालों में से बहुतों पर वाल्टेयर और रूसो वग़ैरा फ्रांस की अठारहवीं सदी के दार्शनिकों और विचारकों का असर पड़ा था।

"सब लोग जन्म से बराबर हैं"—लेकिन फिर भी वहां बेचारा हबशी था, एक ग़ुलाम, जिसके कुछ भी हक़ न थे। उसे कौन पूछता था ? विधान की रचना में वह किस तरह फिट होता था ? यह फिट नहीं होता था, और आजतक भी फिट नहीं हो सका है। बहुत साल बाद उत्तर और दक्षिण के राज्यों में ज़बर्दस्त गृह-युद्ध हुआ, जिसका नतीजा यह निकला कि ग़ुलामी की प्रथा तोड़ दी गई। लेकिन हबशियों का सवाल अमेरिका में अभीतक मौजूद है।

१. जैफरसन—(१७४३-१८२६); अमेरिका का तीसरा राष्ट्रपति।

२. एडम्स (१७३५-१८२६); अमेरिका दूसरा राष्ट्रपति।

३. मैडीसन—(१७५१-१८३६) अमेरिका का चौथा राष्ट्रपति।

: १०० :

बैस्तील का पतन

७ अक्तूबर, १९३२

हम मुख़्तसर में अठारहवीं सदी की दो क्रान्तियों का बयान कर चुके हैं। इस ख़त में मैं तुमको तीसरी यानी फ़्रांस की राज्यक्रान्ति के बारे में कुछ बतलाऊँगा। तीनों क्रान्तियों में फ़्रान्स की इस क्रान्ति ने सबसे ज्यादा हलचल मचाई। इंग्लैंड में शुरू होनेवाली औद्योगिक क्रान्ति बहुत ज्यादा महत्वपूर्ण थी, लेकिन वह धीरे-धीरे आई और बहुत-से लोगों की तो वह निगाह में भी न आ सकी। उस समय उसका असली महत्व कोई महसूस नहीं करता था। लेकिन इसके ख़िलाफ़ फ़्रांस की राज्य-क्रान्ति आश्चर्य-चकित योरप पर एकदम बिजली की तरह गिर पड़ी। योरप अभीतक बहुतसे राजाओं और बादशाहों के क़ब्ज़े में था। पुराने पवित्र रोमन साम्राज्य की हस्ती मिट चुकी थी, लेकिन काग़ज़ी तौर पर वह अब भी क़ायम था और उसकी प्रेतात्मा का साया अब भी योरप पर पड़ रहा था। राजाओं और बादशाहों तथा दरबारों और राजमहलों की इस दुनिया में, आम जनता की तह में से, यह अजीब और ख़ौफ़नाक जीव निकल पड़ा जिसने सड़े हुए रीति-रिवाजों और ख़ास रिआयतों और हक़ों की ज़रा भी परवा न की और जिसने एक बादशाह को तख़्त से गिराया तो दूसरों की भी ऐसी ही हालत कर डालने का डर दिखलाया। फिर इसमें क्या आश्चर्य है, अगर योरप के बादशाह तथा विशेषाधिकारों वाले तमाम लोग उस जनता की इस बग़ावत के आगे थर्राने लगे, जिसको उन्होंने इतने दिनों तक न-कुछ समझकर कुचला था ?

फ़्रांस की राज्यक्रान्ति ज्वालामुखी पहाड़ की तरह फट पड़ी। लेकिन क्रान्तियाँ और ज्वालामुखी पहाड़ बिना कारण या बिना बहुत दिनों की तैयारी के एकाएक नहीं फूट पड़ते। हम एकाएक होनेवाले विस्फोट (धड़ाके) को देखकर ताज्जुब करते हैं; लेकिन ज़मीन की सतह के नीचे युगों तक बहुत-सी ताक़तें आपस में टकराया करती हैं और आग में सुलगा करती हैं। आख़ीर में ऊपर की पपड़ी उसको ज्यादा देर दबाकर नहीं रख सकती और ये ज्वालायें आकाश तक उठनेवाली विकट लपटों के साथ फूट पड़ती हैं और पिघला हुआ पत्थर (लावा) पहाड़ पर से नीचे की तरफ़ बहने लगता है। ठीक इसी तरह वे ताक़तें, जो आख़िरकार क्रान्ति की शकल में ज़ाहिर होती हैं, समाज की सतह के नीचे बरसों तक खेला करती हैं। पानी गरम करने पर उबलता है, लेकिन तुम जानती हो कि गरम होते-होते बाद में वह उबाल

आने की हालत पर पहुँचा है। भावनायें और आर्थिक परिस्थितियाँ क्रान्तियों का कारण होती हैं। बेवकूफ़ राज्याधिकारी लोग, जिनको ऐसी कोई बात दिखलाई नहीं पड़ती जो उनके विचारों से मेल न खाती हो, यह ख़याल करते हैं कि क्रान्तियाँ भड़कानेवालों के कारण होती हैं। भड़कानेवाले वे लोग होते हैं जो मौजूदा हालतों से असन्तुष्ट होते हैं और तब्दीली चाहते हैं और उसके लिए कोशिश करते हैं। हरेक क्रान्ति के युग में इनकी बहुतायत होती है; वे तो ख़ुद ही उस ज़माने की उथल-पुथल और असन्तोष का परिणाम होते हैं। लेकिन हज़ारों और लाखों आदमी ख़ाली एक भड़कानेवाले के इशारे पर ही नहीं नाचने लगते हैं। ज़्यादातर लोग हिफ़ाज़त को सबसे अच्छी चीज़ समझते हैं; जो-कुछ उनके पास है उसे वे छिन जाने के ख़तरे में नहीं डालना चाहते। लेकिन जब आर्थिक हालतें ऐसी हो जाती हैं कि इनकी रोज़मर्रा की मुसीबतें बढ़ती जाती हैं और ज़िन्दगी एक असह्य बोझ हो उठती है, तो कमज़ोर से कमज़ोर भी ख़तरा उठाने के लिए तैयार हो जाते हैं। तभी जाकर वे भड़कानेवाले की आवाज़ पर कान देते हैं, जो उनको अपनी मुसीबत से छुड़ाने का रास्ता बतलाता हुआ मालूम होता है।

अपने बहुत से ख़तों में मैं जनता की मुसीबतों और किसानों की बग़ावतों का ज़िक्र कर चुका हूँ। एशिया और योरप के हरेक देश में किसानों के ऐसे बलवे हुए हैं जिनकी वजह से बहुत ख़ून-ख़राबी और कठोर दमन हुआ है। किसानों को उनकी मुसीबतों ने बग़ावत करने के लिए मजबूर किया है, लेकिन आम तौर पर उनको अपने उद्देश्य का साफ़ तौर पर इल्म न था। ख़यालात की इस अस्पष्टता यानी विचारधारा के अभाव के कारण उनकी कोशिशें ज़्यादातर बेकार गईं। फ्रांस की राज्यक्रान्ति में हम एक नई बात देखते हैं, कम-से-कम इतने बड़े पैमाने पर, और वह है क्रान्ति करने की आर्थिक प्रेरणा के साथ-साथ विचारों का मेल। जहाँ ऐसा मेल होता है वहीं क्रान्ति होती है, और असली क्रान्ति ज़िन्दगी और समाज की सारी रचना—राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक—पर असर करती है। अठारहवीं सदी के आख़िरी वर्षों में हम फ्रांस में यही होता हुआ पाते हैं।

मैं तुमको फ़्रांस के बादशाहों के ऐश-आराम, अयोग्यता, दुराचार और आम जनता को पीस डालनेवाली ग़रीबी के बारे में पहले ही लिख चुका हूँ। इस तरह आर्थिक परिस्थितियाँ ज़रूरी तौर पर विस्फोट का सामान तैयार कर रही थीं। फ्रांस की जनता के हृदय में जो उथल-पुथल मच रही थी उसका भी कुछ ज़िक्र कर चुका हूँ; और उन नये ख़यालात का भी, जिनकी शुरुआत वाल्टेयर, रूसो और मांतेस्क्यू और दूसरे लोगों ने की थी। यानी आर्थिक मुसीबत और विचारधारा का निर्माण

ये दो क्रियायें साथ-साथ चल रही थीं और आपस में एक-दूसरी पर क्रिया और प्रतिक्रिया कर रही थीं यानी असर डाल रही थीं। किसी क़ौम की विचारधारा को बनाने में बहुत वक़्त लगता है क्योंकि नये ख़यालात बहुत धीरे-धीरे छन-छनकर लोगों के पास पहुँचते हैं, और पुराने रिवाजों और ख़यालों को छोड़ देने के लिए बहुत कम लोग उत्सुक रहते हैं। बहुत बार ऐसा होता है कि जबतक कोई नई विचारधारा क़ायम हो, और लोग आख़िरकार नये तरह के ख़यालों को अपनाने में कामयाब हों, तबतक ख़ुद वे ख़याल ही पुराने पड़ जाते हैं। यह बड़ी दिलचस्पी की बात है कि अठारहवीं सदी के फ्रेंच दार्शनिकों के विचार योरप के पूर्व-औद्योगिक (बड़ी-बड़ी मशीनों और कारख़ानों के पहले के ज़माने) के आधार पर बने हुए थे; और फिर भी क़रीब-क़रीब ठीक उसी वक़्त इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति शुरू हो रही थी, जो उद्योग-धन्धों और जिन्दगी को इस क़दर बदल रही थी कि हक़ीकत में वह बहुतसे फ़्रांसीसी उसूलों की जड़ ही खोखली कर रही थी। औद्योगिक क्रान्ति का विकास असल में बाद में हुआ और फ्रेंच विचारक क़ुदरती तौर पर यह कल्पना न कर सके कि आगे क्या होनेवाला था। लेकिन फिर भी बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों के आने की वजह से उनके विचार, जिनपर फ़्रांस की राज्यक्रान्ति की विचारधारा ज्यादातर निर्भर थी, पुराने हो चुके थे।

जो कुछ भी हो, यह ज़ाहिर है कि फ्रेंच दार्शनिकों के इन ख़यालों और उसूलों का राज्यक्रान्ति पर बड़ा ज़बरदस्त असर पड़ा। आम जनता की हलचलों और बग़ावतों के बहुत-से उदाहरण पहले हो चुके थे; अब हमारे सामने जगी हुई जनता के आन्दोलन का, या यों कहिए कि जानकारी के साथ आगे बढ़नेवाली जनता की तहरीक का, महत्वपूर्ण उदाहरण था। फ़्रांस की इस महान् राज्यक्रांति का महत्व इसी कारण है।

मैं बतला चुका हूँ कि १७१५ ई० में पंद्रहवाँ लुई अपने दादा चौदहवें लुई का वारिस हुआ और इसने ५९ वर्ष तक राज किया। कहते हैं कि वह कहा करता था—"आप मुये तो डूब गई दुनिया" (Apres moi le deluge) और इसीके मुताबिक वह बर्त्ताव भी करता था। बड़े मज़े के साथ वह अपने देश को गड्ढे में गिरा रहा था। उसने इंग्लैंड की क्रान्ति और वहाँ के बादशाह का सिर उड़ा दिये जाने की घटना से भी कुछ नसीहत न ली। उसके बाद, १७७४ ई० में उसका पोता सोलहवाँ लुई गद्दी पर बैठा जो बड़ा बेवकूफ़ और बुद्धिहीन था। उसकी रानी मेरी एन्तोइनेत थी जो आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग सम्राट की बहन थी। यह भी बिलकुल बेवकूफ़ थी; लेकिन उसमें एक तरह की जिद की ताक़त थी जिससे सोलहवाँ लुई बिलकुल उसकी मुट्ठी में था। उस

में 'बादशाहों के दैवी अधिकार' की भावना लुई से भी ज्यादा थी, और वह आम लोगों से नफ़रत करती थी। इन दोनों, पति और पत्नी, ने सल्तनत के ख़याल को लोगों के लिए घृणापूर्ण बनाने में कोई कसर न रक्खी। राज्यक्रान्ति शुरू होने के बाद तक भी फ़्रांस के लोगों का सल्तनत के सवाल के बारे में कोई सुलझा हुआ ख़याल न था, लेकिन लुई और मेरी एन्तोइनेत ने अपने कारनामों से प्रजातन्त्र को अनिवार्य कर दिया। लेकिन इनसे ज्यादा बुद्धिमान लोग भी कुछ नहीं कर सकते थे। ठीक इसी तरह १९१७ ई० में रूस की राज्यक्रान्ति शुरू होने से पहले रूस के ज़ार और ज़ारीना ने अजीब बेवकूफी का बर्त्ताव किया था। लैटिन की एक प्रसिद्ध कहावत इन पर ठीक तरह लागू होती है—"परमात्मा जिसका नाश करना चाहता है उसको पहले पागल बना देता है।" (quem deus perdere vult, prius dementat) बिलकुल ऐसी ही कहावत संस्कृत में भी है—'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः'

बादशाहत और डिक्टेटरशिप ज्यादातर फौजी शान-शौकत के सहारे खडी रहती है। जब कभी देश में गड़बड़ पैदा होती है तो बादशाह या सरकार का गुट्ट लोगों का ध्यान उस तरफ़ से हटाने के लिए बाहर के देशों में अपनी फौजी क़िस्मत आज़माने की सोचते हैं। लेकिन फ़्रांस में इन फ़ौजी किस्मत-आज़माइयों का नतीजा अच्छा नहीं रहा था। सात साल की लड़ाई में फ़्रांस की पराजय हुई और सल्तनत को धक्का लगा। दिवालियापन की दिन-पर-दिन नौबत आ रही थी। अमेरिका की आज़ादी की लड़ाई में फ़्रांस ने जो हिस्सा लिया उससे ख़र्चा और भी बढ़ गया। यह सब रुपया कहाँ से आता? अमीर-उमरा और पादरियों को ख़ास हक़ मिले हुए थे। वे बहुत से टैक्सों से बरी थे और अपनी ख़ास रिआयतों को ज़रा भी नहीं छोड़ना चाहते थे। लेकिन न सिर्फ़ कर्ज़ चुकाने के लिए बल्कि राजदरबार की फिज़ूलखर्ची के लिए भी रुपया तो वसूल होना ही चाहिए था। जनता की या आम लोगों की कौन परवा करता था? फ़्रांस की राज्यक्रान्ति पर लिखनेवाले कार्लाइल नाम के एक अंग्रेज लेखक ने इनका जो बयान किया है वह मैं तुमको बतलाना चाहता हूँ। तुम देखोगी कि उसकी अपनी ही एक ख़ास शैली है, लेकिन उसके बयान अक्सर बहुत असर पैदा करने वाले होते हैं:

"श्रमजीवियों पर फिर आफ़त आ रही है। बड़े दुर्भाग्य की बात है! क्योंकि इनकी तादाद दो-ढाई करोड़ है। जिनको हम एक तरह के संक्षिप्त, अस्पष्ट—हैवानी लेकिन धुंधले, बहुत दूर के—ढेर में इकट्ठा करके कमीन, या ज्यादा इन्सानियत से, 'जनता' कहते हैं। सचमुच जनता; लेकिन फिर भी यह अजीब बात है कि अगर अपने ख़याल को दौड़ाकर आप इनके साथ-साथ सारे फ़्रांस में, इनकी मिट्टी की मडैयों में, इनकी कोठरियों और झोंपड़ियों में, चलें तो मालूम होगा कि

जनता सिर्फ़ अलग-अलग व्यक्तियों की ही बनी हुई है। इसके हरेक व्यक्ति का अपना अलग-अलग दिल है और तकलीफ़ें हैं; वह अपनी ही खाल में खड़ा है, और अगर आप उसे नोचेंगे तो खून बहने लगेगा।"

यह वर्णन १७८९ ई० के फ्रांस पर ही नहीं बल्कि १९३२ ई० के हिन्दुस्तान पर कितनी अच्छी तरह लागू होता है! क्या हममें से बहुत से लोग हिन्दुस्तान की जनता को, बीसियों करोड़ किसानों और मजदूरों को, एक में मिलाकर, उनको एक दुखी और एकदम वहशी नहीं समझते? वे लोग लम्बे अरसे से बोझा ढोनेवाले जानवर रहे हैं और अब भी हैं। हम उनके साथ हमदर्दी दिखलाते हैं और उनको भलाई करने की बड़ी कृपापूर्ण बातें करते हैं। लेकिन फिर भी हम यह नहीं सोचते कि वे भी हमारी ही तरह आदमी हैं, हमारी ही तरह उनके भी आत्मा है। यह खूब याद रखना चाहिए कि अपनी कच्ची झोंपड़ियों में वे अलग-अलग ज़िंदगी बिताते हैं और हमारी ही तरह भूख और सर्दी और तकलीफ़ महसूस करते हैं। हमारे बहुत से राजनीतिज्ञ, जो क़ानून के पंडित हैं, विधानों वग़ैरा की बातचीत करते हैं लेकिन उन इन्सानों को भूल जाते हैं जिनके लिए विधान और क़ानून बनाये जाते हैं। हमारे देश की करोड़ों कच्ची झोंपड़ियों और क़स्बों के निवासियों की राजनीति का अर्थ है भूखों के लिए भोजन, पहनने को कपड़ा और रहने को मकान।

*(सोलहवें लुई के राज में फ्रांस की यही हालत थी। उसके शासन-काल के शुरू में ही भुक्खड़ों ने दंगे-फ़िसाद किये। ये कई साल तक जारी रहे और इसके बाद कुछ दिन शान्ति रही और फिर किसानों के बलवे हुए। दिजन में खाने की चीज़ों के लिए जो दंगा हुआ तो वहाँ के गवर्नर ने लोगों से कहा—"घास उग आई है; खेतों में जाकर उसे चरो"। हज़ारों आदमी भीख माँगने का पेशा करने लगे। सरकारी तौर पर यह ज़ाहिर किया गया था कि १७७७ ई० में फ्रांस में ग्यारह लाख भिखमंगे थे। इस ग़रीबी और कम्बख़्ती पर विचार करते-करते हिन्दुस्तान का ख़याल किस तरह बरबस हमारे दिमाग़ में आ जाता है!)

किसान लोग सिर्फ भोजन के ही भूखे न थे, उनको ज़मीन की भी उतनी ही ज़रूरत थी। सामन्तशाही में सामन्त लोग ज़मीन के मालिक होते थे और उसकी आमदनी का ज्यादातर हिस्सा उन्हींके पेट में जाता था। किसानों के कोई सुलझे हुए विचार न थे, न उनका कोई निश्चित उद्देश्य था, लेकिन वे अपने लिए ज़मीन चाहते थे और उनको कुचलने वाली इस सामन्तशाही से नफ़रत करते थे। वे सामन्तों से, पादरियों से और (हिन्दुस्तान का फिर ख़याल करो!) 'गबैल' या नमक-कर से नफ़रत करते थे जो ख़ास तौर पर ग़रीबों पर पड़ता था।

किसानों की यह हालत थी लेकिन फिर भी बादशाह और रानी रुपये के लिए चिल्लाते थे। सरकार के पास खर्च के लिए ही रुपया न था, इसलिए क़र्ज़े बढ़ते चले जारहे थे। मेरी एन्तोइनेत का लक़ब 'मैदम डैफ़िसिट' (घाटा देवी) रख दिया गया। ज्यादा रुपया वसूल करने का कोई ढंग नज़र न आता था। आख़िरकार हार कर सोलहवें लुई ने मई सन् १७८९ ई० में 'स्टेट्स जनरल' की बैठक बुलाई। इस सभा में सामन्त, पादरी तथा साधारण लोग, इन तीन वर्गों के, जो राज्य की जागीरें कही जाती थीं, नुमाइन्दे होते थे। उसकी रचना ब्रिटिश पार्लमेण्ट से मिलती जुलती थी जिसमें सामन्तों और पादरियों का 'हाउस आफ लॉर्डस' और एक 'हाउस आफ कामन्स' होता था। लेकिन इन दोनों में फ़र्क़ भी बहुत-सा था। ब्रिटिश पार्लमेण्ट की बैठकें कई सौ वर्षों से क़रीब-क़रीब नियमित रूप से होती चली आई थीं और अपने रिवाजों, क़ायदों और तौर-तरीक़ों के साथ वह अच्छी तरह जम चुकी थी। 'स्टेट्स जनरल' की बैठकें बहुत ही कम होती थीं और उसकी कोई परम्परा नहीं बनी थी दोनों संस्थाओं में ऊँचे वर्गों का ही प्रतिनिधित्व था; ब्रिटिश 'हाउस आफ कामन्स' में तो 'स्टेट्स जनरल' से भी ज्यादा। किसानों का प्रतिनिधित्व किसी में भी न था।

४ मई १७८९ ई० को वर्साई में बादशाह ने 'स्टेट्स जनरल' का उद्घाटन किया। लेकिन शीघ्र ही बादशाह को पछतावा होने लगा कि उसने इन तीनों जागीरों के नुमाइन्दों को इकट्ठा क्यों बुलाया। तीसरी जागीर यानी 'कामन्स' या मध्यम वर्ग खुल्लम-खुल्ला विरोध करने लगा और इस बात पर ज़ोर देने लगा कि उसकी मरज़ी के बिना कोई टैक्स नहीं लिया जा सकता। उसके सामने इंग्लैंड का उदाहरण था, जहाँ कामन्स सभा ने अपना हक़ महफ़ूज़ कर लिया था। अमेरिका का नया उदाहरण भी उनके सामने था। वे बडी भारी ग़लत-फ़हमी में थे कि इंग्लैंड आज़ाद मुल्क था। असल में यह एक धोखा था क्योंकि इंग्लैंड पर दौलतमंद और ज़मींदार वर्गों का अधिकार और शासन था। वोट देने का हक़ बहुत थोडे लोगों को था जिससे पार्लमेण्ट पर भी इन्हीं लोगों का इजारा होगया था।

बहरहाल तीसरी जागीर या 'कामन्स' ने जो कुछ भी ज़रा-सी हिम्मत की वही बादशाह लुई की बरदाश्त से बाहर की बात हो गई। उसने उनको हाल में से बाहर निकलवा दिया। डिप्टी लोगों की चले जाने की मंशा नहीं थी। वे तुरन्त ही नज़दीक़ के एक टैनिस कोर्ट पर इकट्ठे हुए और उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि जब तक एक विधान की स्थापना न कर लेंगे तब तक न टलेंगे। यह 'टैनिस कोर्ट की शपथ' कहलाती है। इसके बाद वह मौका आया जब बादशाह ने ज़ोर-ज़बर्दस्ती करनी चाही और ख़ुद उसीके सिपाहियों ने उसकी आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया। क्रान्ति

में हमेशा नाजुक वक़्त तभी आता है जब फौज, जो सरकार का ख़ास पाया होती है, भीड़ में अपने भाइयों पर गोलियाँ चलाने से इन्कार कर देती है। लुई ने घबराकर हार मान ली और इसके बाद उसने बेवकूफ़ी से, विदेशी फौजों से यह साजिश की कि वे उसकी रिआया पर गोलियाँ चलावें। जनता इसे बर्दाश्त न कर सकी और १४ जुलाई १७८९ ई० के स्मरणीय दिन उन्होंने बैस्तील[1] के पुराने जेलखाने पर क़ब्ज़ा करके कैदियों को छोड़ दिया।

बैस्तील का पतन इतिहास की एक बहुत बड़ी घटना है। इसने क्रान्ति की शुरूआत की; यह सारे देश में जनता की बग़ावत के लिए एक इशारा था; इसका अर्थ था फ़्रांस में पुरानी बातों, सामन्तशाही, सल्तनत और विशेषाधिकार का ख़ातमा; यह योरप के तमाम राजाओं और बादशाहों लिए बड़ा भयानक और भयंकर बदशगुन था। जिस फ्रांस ने महान बादशाहों का फैशन क़ायम किया था वही अब एक नया फैशन क़ायम कर रहा था, जिसने तमाम योरप को हैरत में डाल दिया था। कुछ लोग इस लक्ष्य को देखकर डर से काँपने लगे। लेकिन बहुत से लोग इसमें उम्मीद और अच्छे दिनों के लक्षण देख रहे थे। चौदहवीं जुलाई आजतक फ्रांस का राष्ट्रीय त्यौहार है और यह हरसाल सारे देश में मनाया जाता है।

चौदहवीं जुलाई को बैस्तील पेरिस निवासियों के झुण्ड के क़ब्ज़े में आगया। लेकिन अधिकारी लोग इतने अन्धे होते हैं कि इस दिन से पहले की यानी १३ जुलाई की शाम को वर्साई में एक शाही जलसा किया गया था। नाच और गाने के साथ राजा और रानी के सामने विद्रोही पैरिस पर होनेवाली भावी विजय की ख़ुशी में 'टोस्ट'[2] पिये गये। कैसी ताज्जुब की बात है कि योरप में बादशाहत की भावना इतनी ज़बरदस्त थी! इस ज़माने में हम लोग प्रजातन्त्रों के आदी हो गये हैं और बादशाहों को मखौल समझते हैं। दुनिया के कुछ बचे-खुचे बादशाह बहुत फूँक-फूँक क़दम रखते हैं कि उनपर कहीं मुसीबत न आ जाय। फिर भी ज्यादातर लोग बादशाहत के ख़याल

१. बैस्तील—पेरिस शहर के बीच में एक पुराना और बहुत मज़बूत क़िला जिसमें राजनैतिक कैदी बंद किये जाते थे और उनको तकलीफ़ें दी जाती थीं। पैरिस के लोगों ने इस पर हमला किया। लेकिन वे इसका कुछ भी न बिगाड़ सकते अगर क़िले के भीतर के सैनिक उनका साथ न देते।

२. टोस्ट—शराब के प्याले हाथ में लेकर, किसी व्यक्ति या घटना के उपलक्ष में पीना 'टोस्ट' पीना कहलाता है। यह रिवाज योरप में और योरप के रहनेवालों में अब भी मनाया जाता है और आजकल अंग्रेज़ी सभ्यता के भक्त हिन्दुस्तानी लोग भी इसकी नक़ल करने लगे हैं।

के ख़िलाफ़ हैं क्योंकि यह वर्ग-भेदों को बनाये रखती है और बड़प्पन और झूठी टीम-टाम की भावना को बढ़ाती है। लेकिन अठाहरवीं सदी के योरप में यह बात न थी। उस ज़माने के लोगों के लिए बिना बादशाह के देश की कल्पना करना ज़रा मुश्किल था। इसलिए हुआ यह कि लुई की बेवक़ूफ़ी और लोगों की मरज़ी के ख़िलाफ़ जाने की कोशिश के बावजूद भी उसे गद्दी से उतार देने की कोई चर्चा न थी। क़रीब दो साल तक लोगों ने उसको और उसकी साज़िशों को सहन किया और फ़्रांस ने बिना बादशाह के काम चलानें का फ़ैसला तभी किया जब वह भागने की कोशिश करता हुआ पकड़ा गया।

लेकिन यह बाद की बात है। इस अर्से में 'स्टेट्स जनरल', 'नेशनल असेम्बली' (राष्ट्रीय सभा) बन गई और बादशाह एक वैधानिक या नियमित राजा बन गया, यानी ऐसा राजा जो असेम्बली के कहने के मुताबिक़ चलता था। लेकिन वह इस बात से नफ़रत करता था, और मेरी एन्तोइनेत तो और भी ज्यादा नफ़रत करती थी। पैरिस के लोग उनसे कुछ ज्यादा प्रेम नहीं करते थे और उनपर तरह-तरह की साज़िशें करने का शक भी करते थे। वर्साई जहाँ राजा और रानी कचहरी या दरबार करते थे, पैरिस से इतनी दूर था कि राजधानी के लोग उनपर निगाह नहीं रख सकते थे। वर्साई की दावतों और ऐश-आराम के क़िस्सों और अफ़वाहों ने पैरिस के भूखे लोगों को और भी उतेजित कर दिया। बस, राजा और रानी पैरिस की त्यूलरीज़[१] में एक बहुत-ही अजीब जुलूस बनाकर ले जाये गये।

यह ख़त निश्चित नाप से ज्यादा बढ़ चुका है। मैं क्रान्ति का बयान अपनें अगले ख़त में भी जारी रक्खूंगा।

: १०१ :

फ़्रांस की राज्यक्रान्ति

१० अक्तूबर, १९३२

फ़्रांस की राज्यक्रान्ति का बयान करने में मुझे ज़रा दिक्क़त मालूम होती है। इस कारण नहीं कि उसके लिए मसाला कम है बल्कि इसलिए कि मसाला बहुत ज्यादा है। यह क्रान्ति एक अजीब और सदा बदलते रहनेवाले नाटक की तरह थी और ऐसी असाधारण घटनाओं से भरी हुई है जो अब तक हमको मोह लेती हैं, सहमा

१. त्यूलरीज़—पैरिस का राजमहल, जिसमें सोलहवें लुई को क़ैद किया गया था।

देती है और थर्रा देती है। राजाओं और राजनीतिज्ञों की नीतियां कोठरियों और ख़ानगी कमरों में रहती हैं और उनपर एक रहस्य की चादर ढकी रहती है। बहुत-से पाप चतुराई के पर्दे में ढक जाते हैं और हविसों और लालच की आपसी कश-मकश शिष्टाचार की भाषा में छिप जाती है। यहाँतक कि जब यह कशमकश लड़ाई की शक्ल में बदल जाती है और इस लालच और हविस की ख़ातिर हज़ारों नौजवान मौत के मुंह में भेज दिये जाते हैं, तब भी ऐसी किन्हीं नीच भाव-नाओं का नागवार ज़िक्र हमारे कानों में नहीं पड़ता। इसके बजाय हमसे तो ऐसे ऊँचे उद्देश्य और महान हित की बातें की जाती हैं जिनके लिए भारी-से-भारी कुर्बानी की जानी चाहिए।

लेकिन क्रान्ति इससे बिलकुल जुदे ढंग की चीज़ है। उसका मुक़ाम तो खेत, गली और बाज़ार है और उसके तरीके भोंडे और गँवारू होते हैं। राज्यक्रान्ति करनेवालों को राजाओं और राजनीतिज्ञों की सी तालीम मिली हुई नहीं होती। उनकी बात-चीत चापलूसी से भरी हुई और सभ्य नहीं हुआ करतीं, जिसमें अनगिनती साज़िशें और बुरी हरकतें छिप जायँ। उनमें कोई रहस्य की बात नहीं होती, न उनके दिमाग़ की बातों पर कोई परदे ढके रहते हैं; यहां तक कि उनके पास शरीर ढकने को काफ़ी कपड़ा नहीं होता। राज्यक्रान्ति में राजनीति ख़ाली राजाओं और पेशेवर राजनीतिज्ञों का खेल नहीं रह जाती। उसका ताल्लुक तो असलियत से होता है और उसकी तह में होता है सीधा-सादा मनुष्य-स्वाभाव और भूखे लोगों का ख़ाली पेट।

इसलिए १७८९ से १७९४ ई० तक के पाँच वर्ष के मनहूस वक़्त में हम फ़्रांस में भूखी जनता की हरकत देखते हैं। यही लोग डरपोक राजनीतिज्ञों को मजबूर करते हैं और उन्हींके हाथों से बादशाहत, सामन्तशाही और चर्च की रिआयतों का ख़ातमा करवाते हैं। यही लोग ख़ूंख़ार 'मैदम गिलोटीन'[1] (सिर उड़ानेवाली देवी) को भेंट चढ़ाते हैं और जिन लोगों ने इनको पहले कुचला है और जिन लोगों पर ये अपनी नई मिली हुई आज़ादी के ख़िलाफ़ साज़िश करने का शुबहा करते हैं उनसे बड़ी बेरहमी के साथ बदला लेते हैं। यही फटे-हाल और नंगे पैरों वाले लोग काम-चलाऊ हथियार लेकर अपनी राज्यक्रान्ति के पक्ष में लड़ने के लिए रणभूमि की तरफ़ दौड़ते हैं और अपने ख़िलाफ़ इकट्ठा होकर आनेवाली योरप की शिक्षित फौजों को पीछे खदेड़ देते हैं। फ़्रांस के ये लोग आश्चर्यजनक काम कर दिखाते हैं, लेकिन भयंकर खिंचाव और लड़ाई-झगड़े के कुछ ही साल बाद राज्यक्रान्ति की ताक़त ख़तम

१. **गिलोटीन**—मध्यकालीन योरप में अपराधियों के सिर उड़ाने के काम में आनेवाली एक मशीन।

हो जाती है और वह अपने ही ख़िलाफ़ उल्टी लौटकर खुद अपनी ही सन्तान को खाने लगती है । और इसके बाद प्रति-क्रान्ति यानी क्रांति के ख़िलाफ़ दूसरी क्रांति होती है जो क्रान्ति को हड़प कर जाती है और जिस आम जनता ने इतनी हिम्मत की थी और इतनी मुसीबतें झेलीं थीं उसको दुबारा फिर 'ऊँचे' वर्गों की हुकूमत में कर दिया जाता है । इस प्रतिक्रान्ति में से डिक्टेटर और सम्राट नेपोलियन का उदय होता है । लेकिन न तो यह प्रतिक्रान्ति और न नेपोलियन जनता को उसकी पुरानी जगह पर पहुँचा सके । क्रान्ति की ख़ास-ख़ास कामयाबियों को कोई न मिटा सका; और उस दिन की जोशीली यादगार को, जबकि थोडी ही देर के लिए सही सताये हुओं ने अपने जुये को उतार फेंका था, फ्रेंच लोगों से और हक़ीकत में योरप की दूसरी जातियों से कोई न छीन सका ।

क्रान्ति के शुरू के दिनों में बहुत सी पार्टियाँ और गिरोह हुकूमत के लिए लड़ रहे थे । एक तो रायलिस्ट यानी राजा के पक्षपाती थे जो सोलहवें लुई को आज़ाद राजा बनाये रखने की थोथी आशा लगा रहे थे; दूसरे नरम विचारों वाले लिबरल थे, जो विधान चाहते थे और बादशाह को एक नियंत्रित शासक बनाकर रखना चाहते थे; तीसरे नरम विचारोंवाले प्रजातन्त्रवादी थे जो 'गिरोंदे'[1] की पार्टी कहलाते थे; चौथे गरम प्रजातन्त्रवादी थे जो जैकोबिन[2] कहलाते थे क्योंकि वे जैकोबिन कान्वेन्ट के हाल में अपनी सभा में किया करते थे । मुख्य दल यही थे और इन सब में और इनके अलावा भी, बहुत से ले-भग्गू थे । इन सब दलों और व्यक्तियों के पीछे थी फ्रांस की और ख़ासकर पैरिस की जनता जो अपने ही में के कई गुमनाम नेताओं के इशारे पर चलती थी । विदेशों में, ख़ासकर इंग्लैंड में, वे फ्रेंच सरदार 'ईमिग्रीस' थे जो क्रान्ति से मुंह छिपाकर भाग गये थे और लगातार उसके ख़िलाफ़ साज़िशें कर रहे थे । योरप की सारी ताक़तवर क़ौमें क्रान्तिकारी फ़्रांस के ख़िलाफ़ हो रही थीं । पार्लमेण्ट वाला लेकिन धनसत्ता वाला इंग्लैंड, और योरप के राजा और बादशाह भी, आम जनता के इस अद्भुत धड़ाके से बहुत डर गये थे और इसे कुचल देना चाहते थे ।

१. गिरोंदे—यह फ्रांस के एक प्रान्त का नाम है । गिरोंदे पार्टी के नेता ज्यादातर इसी प्रान्त के निवासी थे ।

२. जैकोबिन—फ्रांस की राज्यक्रांति में भाग लेने वाला एक शक्तिशाली राजनैतिक दल । ये लोग जेलियों की-सी टोपी पहनते थे जो 'जैकोबिन कैप' के नाम से मशहूर हो गई और क्रांति का चिन्ह मानी जाने लगी । इस दल की स्थापना १७८९ ई० में वर्साई में हुई और रोब्सपियर की हार के बाद इसका ख़ातमा हो गया ।

रायलिस्टों और बादशाह ने मिलकर साज़िश की लेकिन इससे उन्होंने अपने ही पैरों पर कुल्हाडी मारी। नेशनल असेम्बली यानी राष्ट्रीय सभा में शुरू-शुरू में जिस पार्टी का ज़ोर था वह नरम लिबरलों की थी जो कुछ-कुछ इंग्लैंड या अमेरिका की तरह का कोई विधान चाहती थी। उनका नेता था मिराबो[1] जिसके नाम से तुम पहले ही से परिचित हो। तक़रीबन दो वर्ष तक असेम्बली में इन्हींका ज़ोर रहा और क्रान्ति के शुरूआत के दिनों की कामयाबी से फूलकर इन्होंने कितनी ही साहसपूर्ण घोषणायें कीं और कुछ महत्वपूर्ण परिवर्त्तन भी किये। बैस्तील के पतन के बीस दिन बाद, ४ अगस्त १७८९ ई० को, असेम्बली में एक मज़ेदार घटना हुई। असेम्बली में सामन्तशाही हक़ों और रिआयतों के तोड़ दिये जाने पर विचार हो रहा था। उस वक़्त फ़्रांस की हवा में कुछ ऐसी बात थी, जो लोगों के दिमाग़ में भर गई थी, यहाँतक कि सामन्त सरदार भी कुछ देर के लिए आज़ादी की नई शराब के नशे में मतवाले हो गये थे। बडे-बडे सरदार और चर्च के नेता असेम्बली के अधिवेशन में उठ खडे हुए और अपने मांडलिक हक़ों और रिआयतों को छोड़ने में एक दूसरे से आगे बढ़ने लगे। यह एक हार्दिक और उदार प्रदर्शन था, हालाँकि कुछ साल तक इसका ज्यादा असर न हुआ। रिआयती वर्ग के दिल में ऐसी उदार भावनायें कभी-कभी, लेकिन बहुत ही कम, उठती हैं; या शायद यह बात हो कि उसे यह महसूस होने लगता है कि विशेषाधिकारों का अन्त तो होने वाला है ही, इसलिए नेकी के साथ उदारता दिखाने में ही भलाई है। थोडे ही दिन हुए जब बापू ने छुआछूत को हटाने के लिए अनशन किया था, तब हिन्दुस्तान के सवर्ण हिन्दुओं ने इसी तरह का एक अद्‌भुत काम कर दिखाया था और जादू की तरह सारे देश में हमदर्दी की लहर फैल गई थी। हिन्दुओं ने जिन जंजीरों में अपने बहुत से भाइयों को जकड़ रक्खा था वे कुछ हद तक टूट गईं और हज़ारों दरवाज़े, जो युगों से अछूतों के लिए बन्द थे, उनके लिए खुल गये।

बस, क्रान्तिकारी फ़्रांस की नेशनल असेम्बली ने जोश में आकर कम-से-कम प्रस्ताव तो पास कर ही दिया कि ज़मीन के साथ काश्तकार की बिक्री की प्रथा, विशेषाधिकार, मांडलिक कचहरियाँ, सरदारों और पादरियों को टैक्स की छूट, और इख़्तियार, ये सब बातें बन्द की जायें। यह अजीब बात है कि बादशाह तो था लेकिन सरदारों के सब इख़्तियार छीन लिये गये।

तब असेम्बली ने आगे चलकर मनुष्य के अधिकारों की एक घोषणा पास की।

१. मिराबो—(१७४९–१७९१); एक फ्रेंच राजनीतिज्ञ; (बादशाह का विरोधी) नेशनल असेम्बली का प्रधान (१७९१)।

इस मशहूर घोषणा का ख़याल शायद अमेरिका की आज़ादी की घोषणा से हुआ हो। लेकिन अमेरिकावाली घोषणा मुख्तसर और सहल है; फ़्रांस वाली लम्बी और ज़रा पेचीदा है। मनुष्य के अधिकार वे अधिकार थे जो उसको समानता, स्वाधीनता और आनन्द प्राप्त करानेवाले माने गये थे। उस वक़्त मनुष्यों के अधिकार की यह घोषणा बड़ी ही साहसपूर्ण और निडर मालूम होती थी और बाद के तक़रीबन सौ वर्षों तक यह योरप के लिबरलों और लोकसत्तावादियों का परवाना रही। लेकिन इतने पर भी आज यह बिलकुल रद्दी होगई है और हमारे ज़माने के किसी भी सवाल को हल नहीं करती। जनता को यह पता लगाने में बहुत दिन लगे कि सिर्फ़ क़ानूनी बराबरी और वोट देने का हक़ असली समानता, या स्वाधीनता या आनन्द नहीं दे सकते, और यह कि जिनके हाथ में ताक़त है वे उनको अब भी दूसरे तरीक़ों से चूस सकते हैं। फ़्रांस की राज्यक्रान्ति से अब तक राजनैतिक विचार बहुत आगे बढ़ गये हैं और बदल गये हैं, और शायद इन्सानी हक़ूक़ के ऐलान के उन थोथे लफ़्ज़ी असूलों को बहुत से अनुदार विचारवाले तो आज भी मंजूर कर लेंगे। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है, जैसा कि हम आसानी से देख सकते हैं, कि ये लोग असली समानता और आज़ादी देने के लिए तैयार हैं। यह घोषणा ख़ानगी सम्पत्ति की वास्तव में रक्षा करती थी। बड़े-बड़े सरदारों की और चर्च की जागीरें मांडलिक हक़ों और विशेष अधिकारों से सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे कारणों से ज़ब्त की गई थीं। लेकिन सम्पत्ति रखने का जो अधिकार था वह पवित्र और अटूट समझा गया था। तुम शायद जानती हो कि आजकल के आगे बढ़े हुए राजनैतिक विचारों के मुताबिक़ ख़ानगी सम्पत्ति एक बुराई है जो, जहाँतक हो सके, मिटा दी जानी चाहिए।

इन्सानी हक़ूक़ का ऐलान आज हमको शायद एक मामूली दस्तावेज़ मालूम पड़े। कल के साहसपूर्ण आदर्श बहुत करके आज की एक मामूली बात बन जाते हैं। लेकिन जिस वक्त इसका ऐलान किया गया था, सब पीड़ितों और पामाल लोगों के लिए यह अच्छे दिनों की मीठी उम्मीद का संदेश लानेवाला मालूम होता था। लेकिन बादशाह ने इसे पसंद नहीं किया; वह इस कुफ़्र से हैरत में आगया और उसने इसे मंजूर करने से इन्कार कर दिया। वह अभी वर्साई में ही था। इसी वक्त यह हुआ कि पैरिस के लोगों का झुण्ड, जिसके आगे स्त्रियां थीं, वर्साई के महलों पर बढ़ आया और उसने बादशाह को न सिर्फ यह घोषणा ही मंजूर करने पर मजबूर किया बल्कि उसे पैरिस जाने के लिए भी मजबूर कर दिया। जिस अजीब जुलूस का ज़िक्र मैंने पिछले ख़त के अख़ीर में किया है, वह यही था।

असेम्बली ने और भी बहुत से फायदेमंद सुधार किये। चर्च की बड़ी भारी

सम्पत्ति राज्य ने ज़ब्त कर ली। फ्रांस का अस्सी इलाकों में नया बँटवारा किया गया, और मेरा ख़याल है कि यह बटवारा आज तक चालू है। पुरानी मांडलिक कचहरियों की जगह अच्छी क़ानूनी अदालतें क़ायम की गईं। यह सब अच्छे के लिए था लेकिन इससे कुछ ज्यादा मतलब हल नहीं हुआ। इससे न तो ज़मीन के भूखे काश्तकारों का फायदा हुआ और न शहर के मामूली लोगों का, जो रोटी के भूखे थे। ऐसा मालूम होता था कि क्रान्ति की गति रोक दी गई। जैसा कि मैं तुम्हें बतला चुका हूँ, जनसाधारण, काश्तकारों और शहर के आम लोगों का असेम्बली में बिलकुल प्रतिनिधित्व न था। असेम्बली पर मध्यमवर्ग का क़ब्ज़ा था जिसका नेता मिराबो था; और ज्योंही उसे मालूम पड़ा कि उनकी ग़रज़ पूरी हो गई, त्योंही उन्होंने क्रान्ति को रोकने की भरसक कोशिश की। वे तो बादशाह लुई तक से मेल करने लगे और सूबों के काश्तकारों को गोली से उड़ाने लगे। उनका नेता मिराबो तो दरअसल बादशाह का ख़ुफ़िया सलाहकार ही बन गया। जिस जनता नें बैस्तील पर हमला करके उसे जीत लिया था और जो यह सोचने लगी थी कि इस तरह उसने अपनी ज़ंजीरें तोड़ डाली हैं, वही अब हैरत के साथ देखने लगी कि क्या हो रहा है। आम लोगों की आज़ादी अब भी उतनी ही दूर मालूम होती थी जितनी पहले, और नई असेम्बली उनकी गर्दन पर इसी तरह सवार थी जिस तरह पुराने ज़मींदार लोग।

असेम्बली में मात खाकर पैरिस, जो क्रान्ति का केन्द्र था, की जनता ने अपनी क्रान्तिकारी शक्ति के विकास के दूसरा रास्ता तलाश कर लिया। यह पेरिस की 'कम्यून' या म्यूनिसिपैलिटी था। कम्यून ही नहीं बल्कि कम्यून को कई प्रतिनिधि भेजने वाले शहर के हरेक हलके में एक ज़िन्दा संस्था थी जो जनता से सीधा ताल्लुक रखती थी। कम्यून, और ख़ासकर हलके, क्रान्ति का झंडा उठानेवाले और नरम विचारों और मध्यमवर्ग की असेम्बली का मुक़ाबिला करनेवाले बन गये।

इसी अर्से में बैस्तील की हार की साल-गिरह आगई और १४ जुलाई को पेरिस के बाशिन्दों ने बड़ा भारी जलसा मनाया। इसे 'फेडरेशन का जलसा' कहा गया; और पैरिस वालों ने शहर को सजाने में दिल खोलकर मेहनत की, क्योंकि वे इस जलसे को अपना ही समझते थे।

१७९० और १७९१ ई० में क्रान्ति की यह हालत थी। असेम्बली का सारा क्रान्तिकारी जोश ठंडा हो गया था और वह सुधार करते-करते उकता गई थी; लेकिन पेरिस के लोग अभी तक क्रान्तिकारी शक्ति से उबल रहे थे, किसान लोग अभी तक भूखों की तरह ज़मीन की तरफ़ ताक रहे थे। यह हालत बहुत दिनों तक नहीं रह सकती थी; या तो क्रान्ति आगे बढ़ती या ख़तम हो जाती। नरमदल का

नेता मिराबो १७९१ ई० में मर गया। बादशाह से गुपचुप साजिशें करते रहने पर भी वह लोकप्रिय था और उसने लोगों को रोक रक्खा था। २१ जून १७९१ को ऐसी घटना हुई जिसने क्रान्ति की क़िस्मत का निबटारा कर दिया। यह था बादशाह लुई और रानी मेरी एन्तोइनेत का भेस बदल कर भाग जाना। वे किसी तरह सरहद तक पहुँच भी गये। लेकिन वर्दून के पास वेरनीस के किसानों ने उन्हें पहचान लिया और उन्हें रोक कर फिर पेरिस भेज दिया गया।

जहाँ तक पेरिस के रहनेवालों का ताल्लुक़ था वहाँ तक तो बादशाह और रानी के इस कार्य ने उनकी क़िस्मत का फ़ैसला कर दिया। अब प्रजातंत्र का ख़याल ख़ूब ज़ोर पकड़ने लगा। लेकिन फिर भी असेम्बली और उस वक्त की सरकार इतने नरम विचारोंवाली और जनता की भावनाओं से इतनी दूर थी कि जो लोग लुई को राजगद्दी से उतार देने की माँग करते थे उनको उन्होंने गोलियों से उड़ाना शुरू कर दिया। क्रान्ति के महान नेता मारत के पीछे अधिकारी लोग बुरी तरह पड़ गये क्योंकि उसने बादशाह को, भाग जाने के कारण देशद्रोही कहकर उसकी निन्दा की थी। उसे पेरिस की गटरों में छिपना पड़ा जिस की वजह से उसे एक बुरा चमडी का रोग हो गया।

ताज्जुब है कि फिर भी एक साल से ज्यादा तक सिद्धान्त रूप से लुई बादशाह माना जाता रहा। सितम्बर १७९१ ई० में नेशनल असेम्बली की ज़िन्दगी पूरी हो गई और उसकी जगह लेजिस्लेटिव असेम्बली यानी क़ानून बनाने वाली सभा ने ले ली। यह भी उसीकी तरह नरम विचारों वाली थी और सिर्फ़ ऊँचे वर्गों की ही प्रतिनिधि थी। यह फ़्रांस के बढ़ते हुए जोश की नुमाइन्दा न थी। क्रान्ति का यह बुख़ार जनता में फैल गया और गरम प्रजातन्त्रवादी जैकोबिन लोगों की, जो ख़ुद जनता के ही लोग थे, तक़त बढ़ने लगी।

उधर योरप के ताक़वर राष्ट्र इन अजीब घटनाओं को बडे चौकन्ने होकर देख रहे थे। थोडे दिनों तक तो प्रशिया और आस्ट्रिया और रूस दूसरी जगह लूटमार में लगे रहे। वे पोलैंड के पुराने राज्य को ख़तम करने में लग रहे थे; लेकिन फ़्रांस में घटनायें बडे ज़ोरों से आगे बढ़ रही थीं जिनकी तरफ़ उनका ध्यान खिचना चाहिए था। १७९२ ई० में फ़्रांस की आस्ट्रिया और प्रशिया से लड़ाई हुई। मैं तुमको यह बतला दूँ कि आस्ट्रिया इन दिनों निदरलैंडस के बेलजियम वाले हिस्से के क़ब्ज़े में था और उसकी सरहद फ़्रांस से मिली हुई थी। विदेशी फ़ौजें फ़्रांस के इलाके में घुस आईं और उन्होंने फ़्रांस की फ़ौजों को हरा दिया। यह ख़याल किया गया और जिसके लिए सबूत भी था, कि बादशाह उनसे मिल गया है और सारे रायलिस्टों पर दग़ा-

बाजी का शक किया जाने लगा। जैसे-जैसे उनके चारों तरफ़ ख़तरे बढ़ने लगे वैसे-ही-वैसे पेरिस के लोग ज्यादा-ज्यादा भड़कने और घबराने लगे। उन्हें चारों तरफ भेदिये और देशद्रोही नजर आने लगे। पेरिस की क्रांतिकारी कम्यून ने इस मुसीबत के मौक़े पर आगे बढ़कर लाल झंडा फहरा दिया, जिससे यह ज़ाहिर हो जाय कि राजदरबार की बग़ावत के ख़िलाफ़ जनता ने फ़ौजी क़ानून यानी मार्शल-लॉ जारी कर दिया है, और उसने १० अगस्त १७९२ ई० को बादशाह के महल पर धावा बोल दिया। बादशाह ने अपने स्विस (स्वीज़रलैंड के रहनेवाले) शरीररक्षकों (बाडी-गार्डों) के हाथों जनता को गोलियों से उड़वा दिया। लेकिन जीत आख़िर जनता की ही हुई और कम्यून ने असेम्बली को मजबूर किया कि बादशाह को गद्दी से उतारकर क़ैद करे।

(सब लोग जानते हैं कि आज यह लाल झंडा सब जगह मजदूरों का, समाजवाद और साम्यवाद का, झंडा है। लेकिन पहले यह जनता के ख़िलाफ़ फ़ौजी क़ानून ऐलान करने का सरकारी झंडा हुआ करता था। मेरा खयाल है, लेकिन मैं यक़ीन के साथ नहीं कह सकता, कि पैरिस कम्यून के ज़रिये इस झंडे का इस्तेमाल जनता की तरफ़ से उसका सबसे पहला इस्तेमाल था। और तभी से यह धीरे-धीरे मजदूरों का झंडा बनता गया।)

बादशाह का गद्दी से उतारा जाना और क़ैद किया जाना काफी न था। स्विस शरीर-रक्षकों की उनपर गोलियां चलाने और उनमें से बहुतों को मार डालने की कार्रवाई से जोश में आकर और मुल्क के दुश्मनों और भेदियों से डरकर और ग़ुस्से में आकर, पेरिस के लोग जिन पर सन्देह करते उनको पकडकर जेलों में ठूँसनें लगे। कुछ दिन बाद लोगों पर एक और पागलपन सवार हुआ। उन्होंनें क़ैदियों को जेल से निकालकर उनपर झूठ-मूठ का मुक़दमा चलाया और उनमें से बहुतों को मौत के घाट उतार दिया। ये जो 'सितम्बर की हत्यायें' कहलाती हैं, इनमें एक हजार से ज्यादा आदमी मार डाले गये। पैरिस के हुजूम को बडे पैमाने पर खूँरेज़ी का यह पहला ही अनुभव था। ख़ून की प्यास बुझाने के लिए अभी तो और ख़ून बहाना बाकी था।

सितम्बर में ही फ्रांस की फौजों को आस्ट्रिया और प्रशिया की हमला करनेवाले फ़ौजों पर पहली फ़तह मिली। यह फ़तह वाल्मी की छोटी-सी लड़ाई में मिली, जो छोटी तो थी लेकिन उसका नतीजा बहुत बड़ा निकला, क्योंकि उसने क्रान्ति को बचा लिया।

२१ सितम्बर १७९२ ई० को नैशनल कन्वेन्शन यानी राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया गया। यह असेम्बली का स्थान लेनेवाली नई सभा थी। यह अपने पहले की दोनों असेम्बलियों से ज्यादा आगे बढ़ी हुई थी। लेकिन कम्यून से फिर भी बहुत पिछडी

हुई थी। कन्वेन्शन का पहला काम हुआ प्रजातन्त्र का ऐलान करना। इसके बाद ही सोलहवें लुई का मुक़दमा हुआ; उसे मौत की सज़ा दी गई और २१ जनवरी १७९३ ई० को उसे बादशाहत के पापों का बदला अपना सिर देकर चुकाना पड़ा। उसे गिलोटिन पर चढ़ा दिया गया, यानी गिलोटीन पर उसका सिर उड़ा दिया गया। फ्रांस की जनता अपना पीछे लौटने का मार्ग बन्द कर चुकी थी। उसने आखिरी क़दम बढ़ा लिया था और योरप के राजाओं और बादशाहों को अपनी चुनौती देदी थी। वे लोग अब पीछे नहीं लौट सकते थे। बादशाह के खून से सनी हुई गिलोटीन की सीढ़ियों पर से ही क्रान्ति के महान नेता दान्तन[1] ने जमा हुई भीड़ के सामने बोलते हुए इन दूसरे बादशाहों को अपनी चुनौती दे दी। उसने पुकार कर कहा—"योरप के बादशाह हमको चुनौती देंगे; हम उनके आगे एक बादशाह का सिर आगे फेंकते हैं!"

: १०२ :

क्रान्ति और प्रति क्रान्ति

१३ अक्तूबर, १९३२

बादशाह लुई खतम हो चुका था लेकिन उसकी मौत से पहले ही फ़्रांस में आश्चर्यभरी तब्दीलियाँ हो चुकी थीं। उसके बाशिन्दों का खून क्रान्ति के जोश से भरा हुआ था; उनकी नसों में सनसनी दौड़ रही थी और उनपर धधकते हुए जोश का भूत सवार था। प्रजातन्त्रवादी फ़्रांस चुनौती दे रहा था; बाक़ी का योरप—'बादशाहतों वाला योरप' उसके खिलाफ़ खड़ा था। प्रजातन्त्रवादी फ्रांस इन निकम्मे बादशाहों और राजाओं को बतला देना चाहता था कि आज़ादी के सूरज की गरमी पाकर देशभक्त लोग किस तरह लड़ सकते हैं। वे लोग सिर्फ़ अपनी नई मिली हुई आज़ादी के लिए ही नहीं, बल्कि बादशाहों और सरदारों के जुल्मों से कराहते हुए सब लोगों की आज़ादी के लिए लड़ने की ख्वाहिश रखते थे। फ़्रांस के लोगों ने योरप के राष्ट्रों को अपना संदेश भेजकर उनसे अनुरोध किया कि वे अपने शासकों के ख़िलाफ़ बग़ावत करें, और ऐलान किया कि वे लोग सब देशों की जनता के दोस्त और सब बादशाही सरकारों के दुश्मन हैं। उसकी मातृभमि आज़ादी की जननी बन गई, जिसकी वेदी पर कुर्बान हो जाना एक आनन्द की बात थी। और इस खूंख़ार

१. दान्तन—(१७५९-१७९४); फ्रांस का एक वकील और क्रान्तिकारी नेता। 'सितम्बर की हत्याओं' का हुक्म इसीने दिया था। रोब्सपीयर ने इसे गिरा दिया और इसको गिलोटीन पर चढ़ाकर मार डाला गया।

जोश के मौक़े पर उनको एक अद्भुत गीत मिल गया जिसका स्वर उनके जोशीले भावों से मिला हुआ था और जिसने उनको ख़तरों की ज़रा भी पर्वाह न करते हुए और गीत गाते हुए मैदानेजंग में जोश के साथ आगे बढ़ने और सब बाधाओं को पार करने के लिए उत्तेजित किया गया। यह रूजे दि लाइली का राइन की फ़ौजों के लिए बनाया हुआ लड़ाई का गीत था जो तब से 'मार्सोइसी' कहलाता है और आज भी फ्रांसवालों का राष्ट्रीय गीत[1] है।

मातृभूमि के बच्चो, आओ !
गौरव का दिन आया है !
निष्ठुरता का ख़ूनी झंडा,
अपने सिर पर छाया है !
सुनो, ख़ून के प्यासे सैनिक,
चारों ओर दहाड़ रहे।
गोदी के लालों, ललनाओं,
की हत्या को उमड़ रहे।
सैन्य सजाओ ! ऐ नागरिको !
कर में तलवारें खींचो !
इन सब के अपवित्र ख़ून से,
अपने खेतों को सींचो !

वे लोग बादशाहों की दीर्घायु के निरर्थक गीत नहीं गाते थे। इसके बजाय वे मातृभूमि के पवित्र प्रेम और प्यारी आज़ादी के गाने गाते थे।

१. मूल फ्रेंच गीत इस प्रकार है :—

Allons. enfants de la patrie,
Le jour de gloire est arrive !
Contre nous de la tyrannie,
L'etendard sanglant est leve,
Eentendez-vous dans les campagnes,
Mugir ces feroces soldats ?
Ils Uiennent jusque dans nos bras,
Egorger nos fils, nos compagnes !
Aux armes, citoyens ! formez vos bataillons !
Marchons, marchons, qu'un sang inpur abreuve nos sillons !
Amour sacre' de la patrie,
Conduis, soutiens nos bres Uengenrs !
Liberte, liberti cherie,
Cambats avec tes defenseurs !

ओ मातृभूमि के पुण्य प्रेम !
आगे बढ़ने की राह दिखा !
प्रतिहिंसा के प्यासे शस्त्रों,
को तू रण में कर बल प्रदान !
प्रिय स्वतंत्रते ! समर बीच तुम
निज सेवक जन की करो सहाय !

(चीजों की बडी तंगी थी। न तो काफी खाना था, न कपडे, न जूते। यहाँ तक कि हथियार भी न थे। कितनी ही जगहों के नागरिकों से फौज के लिए जूते दे देने को कहा गया; देशभक्तों ने बहुत तरह की ऐसी खाने की चीजों को छोड़ दिया जिनकी कमी पड़ गई थी और जिनकी फौज के लिए जरूरत थी; कुछ लोग तो अक्सर उपवास भी करने लगे। चमड़ा, रसोई के बरतन, कढ़ाइयाँ, बाल्टियाँ, वगैरा, तरह-तरह की घरू काम की चीजें माँगी गई। पैरिस की गलियों में सैकडों लुहारों की भट्टियों पर हथौडे चल रहे थे क्योंकि सारे नागरिक पुरुष और स्त्रियाँ हथियार बनाने तक में मदद दे रहे थे। लोग बडी भारी तंगी उठा रहे थे; लेकिन इसकी क्या पर्वाह थी जब उनकी मातृभूमि फ़्रांस, सुन्दर फ़्रांस, फटे-हाल मगर आज़ादी का मुकुट पहने, ख़तरे में थी और दुश्मन उसके दरवाज़े पर आपहुँचे थे ? बस, फ़्रांस के नौजवान उसकी रक्षा करने को दौडे और भूख-प्यास की पर्वाह न करते हुए, आगे बढ़कर विजय प्राप्त की।) कार्लाइल लिखता है :—

"ऐसा बहुत कम देखा जाता है कि किसी राष्ट्र की सारी की सारी जनता में ज़रा भी विश्वास या श्रद्धा का होना माना जा सके; सिवाय उन चीज़ों के जिनको वह खा सके या हाथ से छू सके। जब कभी उसे किसी विश्वास की प्राप्ति हो जाती है, तो उसका इतिहास हृदय-ग्राही और ध्यान देने योग्य बन जाता है।" एक महान हेतु में यही विश्वास क्रान्ति के रूप में, स्त्री और पुरुषों में पैदा हुआ और उन याद रखने लायक़ दिनों में उन्होंने जो इतिहास बनाया और जो कुर्बानियाँ कीं, उनमें अब भी हमपर असर डालने की और हमारी नाडी की गति को तेज़ करने की शक्ति है।

नये रँगरूटों की इन क्रान्तिकारी फ़ौजों ने, पूरी तरह फ़ौजी तालीम न मिलने पर भी, फ़्रांस की ज़मीन पर से सब विदेशी फ़ौजों को मार भगाया और उसके बाद निदरलैंड के दक्षिणी हिस्से (बेलजियम वग़ैरा)को भी आस्ट्रिया के चंगुल से छुड़ा दिया। आख़िरकार हैप्पबर्गों ने निदरलैंड को छोड़ दिया और फिर वापस न आये। योरप की शिक्षित और तनख़्वाह पानेवाली फ़ौजें इन क्रान्तिकारी रंगरूटों के मुक़ा-बिले में न ठहर सकीं। शिक्षित सिपाही तनख़्वाह के वास्ते लड़ता था और बडी

होशियारी के साथ लड़ता था; क्रान्तिकारी रंगरूट एक आदर्श के लिए लड़ता था और फ़तह हासिल करने के लिए भारी-से-भारी जोखिम उठाने को तैयार था। शिक्षित सिपाही ढेर-के-ढेर सामान के साथ धीरे-धीरे आगे बढ़ता था। रंगरूट के पास लादने को कुछ सामान न था और वह तेज़ी के साथ चलता था। यानी क्रान्तिकारी फ़ौजें लड़ाई में एक नया ही नमूना थीं और उनके लड़ने का ढंग भी बिलकुल नया था। उन्होंने लड़ाई के पुराने तरीक़ों को बदल दिया और कुछ हद तक योरप में अगले सौ वर्षों में तैयार होनेवाली फ़ौजों के लिए नमूना बन गईं। लेकिन इन फ़ौजों की असली ताक़त इनके जोश और इनके हौसले में थी। इनका मक़ूला (Motto), और असल में उस वक्त क्रान्ति का भी मक़ूला, दान्तन के इस मशहूर जुमले में आजाता है: "मातृभूमि के दुश्मनों को शिकस्त देने के लिए हम में दिलेरी, और भी ज्यादा दिलेरी, हमेशा दिलेरी, चाहिए।"

लड़ाई फैलने लगी। समुद्री फ़ौज के कारण इंग्लैंड एक ताक़तवर दुश्मन साबित हुआ। प्रजातन्त्रवादी फ्रांस ने खुश्की पर लड़ने के लिए बड़ी भारी फ़ौज बनाली थी लेकिन समुद्री लड़ाई के लिए वह कमज़ोर था। इंग्लैंड ने फ्रांस के सारे बन्दरगाहों को रोकना शुरू कर दिया। फ्रांस से भागे हुए लोग इंग्लैंड से ही करोड़ों की तादाद में जाली 'असाइनेट्स' या फ्रेंच प्रजातन्त्र के नोट धड़ा-धड़ फ्रांस भेजने लगे। इस तरह उन्होंने फ्रांस की मुद्राप्रणाली और माली हालत को बिगाड़ने की कोशिश की।

विदेशों के साथ यह लड़ाई सबसे महत्वपूर्ण चीज़ बन गई और राष्ट्र की सारी ताक़त उसमें खर्च होने लगी। ऐसी लड़ाइयाँ क्रान्तियों के लिए खतरनाक़ हुआ करती हैं। क्योंकि ये ध्यान को सामाजिक समस्याओं से हटाकर विदेशी दुश्मन से लड़ने की तरफ़ लगा देती हैं जिससे क्रान्ति का असली मक़सद भूल जाता है। क्रान्ति के जोश की जगह लड़ाई का जोश ले लेता है। फ्रांस में ऐसा ही हुआ और, जैसा कि हम देखेंगे, आख़िरी दरजा फ्रांस का यह हुआ कि वहाँ एक जबरदस्त फ़ौजी सिपहसालार की डिक्टेटरशिप यानी तानाशाही क़ायम हो गई।

घरू झगड़े भी साथ-साथ चल रहे थे। फ्रांस के पश्चिम में वैन्दी में कुछ तो वहाँ के काश्तकारों के नई फ़ौजों में भरती होने से इन्कार करने के कारण और कुछ रायलिस्ट नेताओं और फ्रांस से भागे हुए लोगों की कोशिशों से, किसानों का जबरदस्त विद्रोह उठ खड़ा हुआ। क्रांति को सम्हालने वाले और चलाने वाले तो असल में पेरिस के नगर-वासी थे; किसान लोग राजधानी में बहुत जल्दी-जल्दी होने वाली तब्दीलियों के महत्व को न समझ सकने के कारण पिछड़ गये। वैन्दी का विद्रोह बड़ी बेरहमी के साथ दबा दिया गया। लड़ाई में और खासकर घरेलू लड़ाई में

लोगों की नीच-से-नीच प्रवृत्तियाँ जाग उठती हैं और दया तो दर-दर मारी फिरती है। लायन्स में क्रांति के ख़िलाफ़ बग़ावत हुई। इसे दबा दिया गया और किसी ने यह प्रस्ताव पास किया कि सज़ा के तौर पर लायन्स के बड़े नगर को बर्बाद कर दिया जाय। "लायन्स ने आज़ादी के ख़िलाफ़ लड़ाई ठानी है; लायन्स अब बाक़ी नहीं रह सकता।" ख़ुशकिस्मती से यह प्रस्ताव मंज़ूर नहीं किया गया, मगर फिर भी लायन्स को बड़ी मुसीबतें उठानी पड़ीं।

इसी अर्से में पैरिस में क्या हो रहा था? वहाँ किसका अधिकार था? नई चुनी हुई कम्यून और उसके हलकों का शहर में अभी तक बोलबाला था। नैशनल कन्वेन्शन में अधिकार के लिए मुख़्तलिफ़ गिरोहों में कशमकश चल रही थी जिनमें ख़ास थे गिरोंदी यानी नरम प्रजातन्त्रवादी और जैकोबिन यानी गरम प्रजातन्त्रवादी। जैको-बिन दल की जीत हुई और जून १७९३ ई० के शुरू में ही ज्यादातर गिरोंदी डिप्टी लोग कन्वेन्शन से निकाल दिये गये। कन्वेन्शन ने अब सामन्तों के हक़ों को हमेशा के लिए उठा देने की कार्रवाई की और जो ज़मीनें सामन्त सरदारों के क़ब्ज़े में थीं वे स्थानीय कम्यूनों यानी म्युनिसिपैलिटियों को वापस लौटा दी गईं, यानी ये ज़मीनें आम जनता की सम्पत्ति हो गईं।

कन्वेन्शन ने, जिसमें अब जैकोबिन लोगों की तूती बोलती थी, दो कमिटियाँ क़ायम कीं; एक तो सार्वजनिक हित की और दूसरी सार्वजनिक रक्षा की और इनको लम्बे-चौड़े अधिकार दे दिये। ये कमिटियाँ—ख़ासकर सार्वजनिक रक्षा वाली—जल्दी ही बड़ी ताक़तवर बन बैठीं और लोग इनसे डरने लगे। इन्होंने कन्वेन्शन को एक-एक क़दम आगे हाँकना शुरू किया। यहाँ तक कि क्रान्ति आंतक के गहरे गड्ढे में जा पड़ी। ख़ौफ़ का साया अभी तक हरेक के ऊपर पड़ा हुआ था; विदेशी दुश्मनों का ख़ौफ़, जो उनको चारों तरफ़ से घेरे हुए थे, भेदियों और देश-द्रोहियों का डर और इसी तरह के बहुत-से दूसरे डर भी थे। डर लोगों को अन्धा और ज़िन्दगी से ना-उम्मीद कर देता है, और इस लगातार सिर पर सवार रहनेवाले ख़ौफ़ से मजबूर होकर सितम्बर १७९३ ई० में कन्वेन्शन ने एक भयंकर कानून पास किया जो 'लॉ-ऑफ सस्पैक्ट्स' यानी संदेह-भाजन लोगों का क़ानून कहलाता है। जिस किसी पर शक होता उसकी ख़ैर न थी, और शक किये जाने से कौन बच सकता था? एक महीने बाद कन्वेन्शन के बाईस गिरोंदी डिप्टियों पर क्रान्तिकारी अदालत के सामने मुक़दमा चलाया गया और उनको फ़ौरन मौत की सज़ा दे दी गई।

इस तरह आतंक की शुरूआत हुई। रोज़मर्रा मौत की सज़ा पाये हुए लोगों की गिलोटीन तक यात्रा होती थी; रोज़मर्रा इन क़ुर्बानी के बकरों से भरी हुई

गाड़ियाँ, जिन्हें 'तम्ब्रिल' कहते थे, पैरिस की गलियों की सड़कों पर चूं-चूं करती और खड़खड़ाती हुई जाती थीं और लोग इन अभागों को चिढ़ाते थे। कन्वेन्शन में भी अधिकारियों के गुट्ट के ख़िलाफ़ बोलना ख़तरनाक था, क्योंकि इससे शक पैदा होता था और शक का नतीजा होता था मुक़दमा और गिलोटीन। कन्वेन्शन की बागडोर सार्वजनिक हित और सार्वजनिक रक्षा की कमिटियों के हाथ में थी। ये कमिटियाँ, जिन्हें मौत और ज़िन्दगी का सारा अधिकार था, अपने अधिकार दूसरों को नहीं बाँटना चाहती थीं। इन्होंने पैरिस की कम्यून पर भी ऐतराज किया। असल में जो इनकी हाँ में हाँ नहीं मिलाते थे, उन सबपर इनको ऐतराज़ था। अधिकार लोगों को असाधारण तौर से चौपट कर देता है। इसलिए इन कमिटियों ने उस कम्यून को ही कुचलना शुरू कर दिया जो अपने हलक़ों के साथ क्रान्ति का पाया रही थी। पहले इन्होंने हलक़ों को कुचला और फिर उनके सहारों को काटकर कम्यून को कुचल डाला। इस तरह क्रान्ति अक्सर अपने आप ही को खा जाती है। पैरिस के हरेक हिस्से के ये हलके आम जनता को ऊँचे अधिकारियों से मिलानेवाली कड़ियाँ थे। ये वे नसें थीं जिनमें होकर क्रान्ति का, उसे ताक़त और ज़िन्दगी देने वाला, लाल ख़ून बहता था। १७९४ ई० के शुरू में हलकों और कम्यून के कुचल दिये जाने का मतलब था इस जीवन देनेवाले ख़ून का रोक दिया जाना। आगे से कन्वेन्शन और ये कमिटियाँ ऊँचे अधिकारियों का अंग बन गईं, जिनका जनता से कोई सजीव सम्बन्ध न था और जो आतंक के ज़रिये अपनी ख़्वाहिशों को दूसरों से मनवाती थीं—जैसा कि सब अधिकारप्राप्त लोगों का रवैया हुआ करता है। यह असली क्रान्तिकारी ज़माने के ख़ातमे की शुरूआत थी। छः महीने तक यह आतंक और जारी रहनेवाला था और क्रान्ति लस्टम-पस्टम चलने वाली थी। लेकिन उसका ख़ातमा तो यह आंखों के सामने था।

इन उथल-पुथल और खींच-तान के दिनों में पैरिस और फ़्रांस के नेता कौन थे? बहुत-से नाम सामने आते हैं। कैमाइल देस्मूलिन, जो १७८९ में बैस्तील के हमले का नेता था और जिसने दूसरे बहुत-से मौक़ों पर भी महत्व-पूर्ण हिस्सा लिया था। आतंक के दिनों में दयालुता की नीति के पक्ष का समर्थन करते हुए यह खुद गिलोटीन का शिकार हुआ। कुछ ही दिन बाद इसकी जवान स्त्री लूसिली ने भी इसका अनुसरण किया और अपने पति के बिना जिन्दा रहने से मौत को बेहतर समझा। कवि फैब्रे दि इग्लैन्ताइन; सरकारी वकील फोक़ियें तिनविली, जिससे सब घबराते थे; मारत, क्रान्ति का शायद सबसे बड़ा और क़ाबिल आदमी जिसे एक नौजवान लड़की शारलौती कॉरदे ने छुरा भोंककर मार डाला; दान्तन, जिसका

ज़िक्र मैं पहले भी दो बार कर चुका हूँ, जो बहादुर और शेरदिल था और ज़बर-दस्त लोकप्रिय वक्ता था, लेकिन फिर भी उसका ख़ातमा गिलोटीन पर हुआ; और इन सबसे ज्यादा मशहूर रोब्सपीयर, जैकोबिन दल का नेता और आतंक के दिनों में कन्वेन्शन का क़रीब-क़रीब डिक्टेटर। यह तो एक तरह से आतंक की मूर्ति ही बन गया है और लोग इसका नाम लेते हुए कांपते हैं। लेकिन इस शख़्स की ईमानदारी और देशभक्ति के बारे में कोई उँगली नहीं उठा सकता; इसे 'अच्युत' (Incorruptible) कहा जाता था। लेकिन ज़िन्दगी में इतना सादगीपसन्द होते हुए भी वह अपने आपको बहुत कुछ समझता था और शायद उसे यह ख़याल था कि उससे जुदी राय रखनेवाला हरेक आदमी प्रजातंत्र और क्रान्ति का दुश्मन है। क्रान्ति के बहुत-से बडे-बडे नेता, जो इसके साथी रह चुके थे, इसीके इशारे पर गिलोटीन के घाट उतार दिये गये; यहांतक कि वह कन्वेन्शन, जो भेड़ की तरह इसके पीछे-पीछे चल रहा था, आखिर इसके ख़िलाफ़ खड़ा हो गया। उन्होंने इसे ज़ालिम क़रार दिया और इसका और इसके ज़ुल्मों का ख़ातमा कर दिया।

क्रान्ति के ये तमाम नेता नौजवान लोग थे; क्रान्तियाँ बुड्ढे आदमियों से नहीं हुआ करतीं। इनमें से बहुत-से महत्वपूर्ण ज़रूर थे, लेकिन इस बडे नाटक में किसी का भी पार्ट, यहां तक कि रोब्सपीयर का भी, ज़ोरदार न रहा। क्रान्ति की घटना के सामने ये नाचीज़ मालूम पड़ते हैं; क्योंकि इन लोगों ने न तो क्रान्ति पैदा की थी और न उसकी बागडोर ही इनके हाथों में थी। वह तो एक मौलिक मानवी भूकम्प था जो इतिहास में समय-समय पर हुआ करता है, और जिनको सामाजिक परिस्थि-तियों और वर्षों की लगातार मुसीबतें और ज़ुल्म, धीरे-धीरे लेकिन ज़रूरी तौर पर, तैयार करते हैं।

यह न समझना कि कन्वेन्शन ने लड़ने और गिलोटीन से क़त्ल करने के सिवा और कुछ न किया। असली क्रान्ति से पैदा होनेवाली ताक़त हमेशा बहुत ज़ोरदार होती है। इसका बहुत-सा हिस्सा तो विदेशियों से लड़ाई करने में लग गया था, लेकिन फिर भी बहुत-कुछ बच रहा था, और इसके ज़रिये बहुत-सा रचनात्मक काम किया गया (ख़ासकर राष्ट्र की शिक्षा का सारा तरीक़ा ही बदल दिया गया। मीटर[1] का

१. **मीटर-प्रणाली**--नापों की इस प्रणाली में लम्बाई की इकाई मीटर (=३९.३७ इंच) और वज़न की इकाई ग्राम (=क़रीब १/२८ औंस) मानी गई है। सरलता यह रक्खी गई है कि इनसे ऊपर और नीचे के सब नाप दस-दस गुणक या भाग हैं। जैसे १० मीटर=१ डेकामीटर, १० डेकामीटर=१ हेक्टोमीटर, १० हेक्टोमीटर=१ किलोमीटर; १/१० मीटर=१ डेसीमीटर, १/१०० मीटर=१ सेंटीमीटर

तरीक़ा, जिसे आज स्कूल के सब बच्चे सीखते हैं, तभी जारी किया गया था और इसने तमाम वज़नों, लम्बाई और आयतन के तमाम नापों को सरल कर दिया। यह तरीक़ा अब दुनिया के दूसरे सभ्य देशों में भी पहुँच गया है, लेकिन कट्टर इंग्लैंड अभी तक पुराने ज़माने के गज़ों, फ़र्लांगों, पाउंडों और हंडरवेटों वग़ैरा की रद्दी प्रणाली से चिपट रहा है। हम हिन्दुस्तानियों को सेरों और मनों वग़ैरा के अलावा इन जटिल लम्बाइयों और वज़नों को भी बरदाश्त करना पड़ता है। मीटर के तरीक़े का लाज़मी नतीजा यह हुआ कि प्रजातन्त्र का एक नया कैलेंडर भी बना। यह २२ सितम्बर १७९२ ई० से, यानी जिस दिन प्रजातन्त्र का ऐलान हुआ उस दिन से, शुरू किया गया। सात दिन के हफ्ते की जगह दस दिन का हफ्ता कर दिया गया और दसवें दिन छुट्टी रक्खी गई। महीने तो बारह ही रहे मगर उनके नाम बदल दिये गये। कवि फ़ैब्रे ने मौसिमों के मुताबिक महीनों को बड़े सुन्दर नाम दिये। बसन्त ऋतु के तीन महीने जर्मिनल (अंकुरक), फ्लोरीयल (पुष्पक), प्रेरियल (शस्यक) थे; गरमी के महीने मेसिदोर, थर्मिदोर, फ्रक्तिदोर थे; पतझड़ के महीने वेन्दीमियर, ब्रूमेयर, फ्रिमेयर, रक्खे गये; सरदी के निवूस, प्लूविऊस, वेन्तूस, रक्खे गये। पर यह कैलेंडर प्रजातन्त्रत के बाद ज्यादा दिन न चला।

कुछ दिन ईसाई धर्म के ख़िलाफ़ एक जबरदस्त आन्दोलन हुआ और बुद्धि की पूजा तजवीज की गई। 'सत्य' के मन्दिर बनाये गये। यह आन्दोलन प्रांतों में बहुत जल्द फैल गया। १७९३ ई० के नवम्बर में पेरिस के नात्रदेम गिरजे में आज़ादी और बुद्धि का बड़ा भारी जलसा मनाया गया और एक ख़ूबसूरत औरत को बुद्धि की देवी बनाया गया। लेकिन रोब्सपीयर इन मामलों में कट्टर था। उसने इस आन्दोलन को पसन्द नहीं किया। दान्तन ने भी नहीं किया। सार्वजनिक हित की जैकोबिन कमिटी भी इसके ख़िलाफ़ थी, इसलिए आन्दोलन के नेताओं को गिलोटीन पर चढ़ा दिया गया। अधिकार और गिलोटीन के बीच में कोई रुकावट न थी। आज़ादी और बुद्धि के जलसे का तुर्की-बतुर्की जवाब देने के लिए रोब्सपीयर ने 'सर्वशक्तिमान् सत्ता' (Supreme Being) के नाम से एक जलसे का इंतिज़ाम किया। कन्वेन्शन की राय से यह तय किया गया कि फ्रांस एक 'सर्वशक्तिमान सत्ता' में विश्वास करता है! रोमन कैथलिक मज़हब फिर पसंद किया जाने लगा।

पैरिस के हलक़ों और कम्यून के कुचले जाने के बाद हालत बड़ी तेज़ी से ख़राब हो रही थी। जैकोबिन लोग सर्वेसर्वा हो रहे थे; सरकार की बागडोर उनके हाथों

---

१ $\frac{1}{1000}$ मीटर=१ मिलीमीटर। इसी तरह ग्राम के आगे डेक-, हेक्टो, किलो इत्यादि उपसर्ग लगा दिये जाते हैं।

में थी लेकिन उनमें आपसी फूट होरही थी। आज़ादी और बुद्धि के जलसे में ख़ास हिस्सा लेने के कारण जब होबर्त और उसके मददगारों को गिलोटीन पर चढ़ा दिया गया तो जैकोबिन दल में ज़बर्दस्त फूट पड़ी। इसके बाद फ़ैब्रे दि इंग्लैंताइन का नम्बर आया; और जब १७९४ ई० के शुरू में दान्तन, कैमाइल देस्मूलिन वग़ैरा ने रोब्सपीयर के हद से ज्यादा आदमियों को गिलोटीन पर चढ़ा देने के काम की मुख़ालफ़त की, तो इनको भी मौत के घाट उतार दिया गया। अप्रैल १७९४ ई० में दान्तन के क़त्ल ने, जो बड़ी हड़बड़ी के साथ किया गया कि कहीं लोग रुकावट न डाल दें, पैरिस और सूबों की जनता को यह ज़ाहिर कर दिया कि क्रान्ति का ख़ातमा हो चुका। क्रान्ति का एक शेर मारा गया और अब एक नीच गुट्ट का क़ब्ज़ा हो गया। दुश्मनों से घिरे हुए और जनता से बिलकुल दूर इस गुट्ट को चारों तरफ़ धोखेबाज़ी नज़र आने लगी और ज़ोरों के साथ आतंक फैलाने के सिवा इसे अपने बचने का कोई रास्ता न सूझा।

बस आतंक का राज्य होने लगा और गिलोटीन की तरफ़ जाने वाली तम्ब्रिल गाड़ियाँ इन अभागों से पहले से भी ज्यादा भरी हुई जाने लगीं। जून में एक नया क़ानून पास पास किया गया जो 'बाइसवीं प्रेरियल' का क़ानून कहलाता है और जिसमें झूठी ख़बरें उड़ाना, लोगों को लड़ाना या भड़काना, सदाचार की जड़ काटना और जनता के ईमान को बिगाड़ना वग़ैरा जुर्मों के लिए मौत की सज़ा तजवीज़ की गई थी। जो कोई भी रोब्सपीयर और उसके ताबेदारों से मतभेद रखता वही इस कानून के लम्बे-चौड़े जाल में फँसाया जा सकता था। लोगों के गिरोह-के-गिरोह पर एक साथ मुक़दमे चलाये गये और सज़ायें दे दी गईं। एक बार तो डेढ़ सौ लोगों पर एक साथ मामला चलाया गया जिनमें सज़ायें पाये हुए क़ैदी, रायलिस्ट वग़ैरा, शामिल थे।

इस नये आतंक का राज्य छियालिस दिन तक रहा। आख़िरकार नवीं थर्मिडोर यानी २७ जुलाई १७९४ को दबी हुई बिल्ली ग़ुर्राने लगी। कन्वेन्शन एकदम रोब्सपीयर और उसके साथियों के ख़िलाफ़ बदल गया और 'ज़ालिम को मारो' की पुकार लगाते हुए उन्होंने इन सबको गिरफ़्तार कर लिया और रोब्सपीयर को बोलने तक नहीं दिया। दूसरे दिन तम्ब्रिल गाड़ी में बिठलाकर उसे भी गिलोटीन पर भेजा गया, जहां वह बहुतों को भिजवा चुका था। इस तरह फ़्रांस की राज्यक्रान्ति का ख़ातमा हो गया।

रोब्सपीयर की मौत के बाद प्रति-क्रान्ति यानी क्रान्ति के ख़िलाफ़ क्रान्ति शुरू हुई। अब नरम दलवाले आगे आये और इन लोगों ने जैकोबिन लोगों को सताना और उनपर आतंक जमाना शुरू किया। लाल आतंक के बाद अब सफ़ेद आतंक की

बारी आई। पन्द्रह महीनें बाद, अक्तूबर १७९५ ई० में, कन्वेन्शन टूट गया और पाँच मेम्बरों की एक 'डायरेक्टरी' सरकार बन गई। यह निश्चय ही मध्यमवर्ग की सरकार थी और इसने साधारण जनता को दबाकर रखने की कोशिश की। इस डायरेक्टरी ने फ़्रांस पर चार वर्ष से ज्यादा हुकूमत की और अन्दरूनी झगडों के होते हुए भी प्रजातन्त्र की इतनी धाक और ताक़त थी कि वह देश के बाहर भी लड़ाइयाँ जीतती रही। उसके ख़िलाफ़ कुछ बग़ावतें भी हुए लेकिन वे सब दबा दिये गये। इनमें से एक विद्रोह को दबानेवाला प्रजातन्त्र की फ़ौज का नौजवान सिपहसालार नेपोलियन बोनापार्ट था जिसने पैरिस के लोगों की भीड़ पर गोली चलाई और बहुतों को मार डाला। यह घटना 'छर्रों का झोंका' करके मशहूर है। जब खुद प्रजातन्त्र की पुरानी फ़ौज ही फ़्रांस के आम लोगों को मारने के काम में लाई जा सकती थी तो ज़ाहिर है कि क्रान्ति की छाया तक भी बाक़ी न रही होगी।

बस क्रान्ति का अन्त हो गया और उसके साथ ही आदर्शवादियों के मीठे सपनों का और ग़रीबों की उम्मीदों का भी ख़ातमा हो गया। लेकिन फिर भी जो बातें वह हासिल करना चाहती थी उनमें से बहुत-सी बातें हासिल हो गईं। कोई भी प्रति-क्रान्ति अब काश्तकारों की ग़ुलामी को वापस नहीं ला सकती थी, और बोर्बन बादशाह भी—बोर्बन फ़्रांस का एक राजघराना था—जब वे वापस आये तो उस जमीन को वापस न छीन सके जो काश्तकारों को बाँट दी गई थी। खेत में या शहर में काम करनेवाले मामूली आदमी की हालत इतनी अच्छी थी, जितनी पहले कभी नहीं रही। असल में आतंक के दिनों में भी उसकी हालत क्रान्ति के पहले के समय से अच्छी थी। आतंक उसके ख़िलाफ़ न था, वह तो ऊँचे वर्गों के ख़िलाफ़ था; हालाँकि आख़िरी वक्त में ग़रीब लोगों को भी कुछ मुसीबतें झेलनी पड़ीं।

क्रान्ति का ख़ातमा हो गया लेकिन प्रजातन्त्रवादी विचार सारे योरप में फैल गये और उसके साथ ही उन उसूलों का भी प्रचार हुआ जिनकी घोषणा 'मनुष्य के अधिकारों की घोषणा' में किया गया था।

: १०३ :

हुकूमतों के तौर-तरीक़े

२७ अक्तूबर, १९३२

मैंने दो हफ़्तों से कुछ नहीं लिखा है। कभी-कभी मैं सुस्त हो जाता हूँ। यह ख़याल कि अब मेरी इस कहानी का अन्त नज़दीक आरहा है, मुझे ज़रा रोक देता

है। हम अठारहवीं सदी के अन्त तक तो पहुँच ही चुके हैं; अब उन्नीसवीं सदी के सौ वर्षों पर ग़ौर करना बाक़ी है। फिर हमें ठेठ आज तक पहुंचने में बीसवीं सदी के ठीक बत्तीस वर्ष रह जावेंगे। लेकिन इन बचे हुए एक सौ बत्तीस वर्षों का वर्णन बड़ा लम्बा होगा। बहुत नज़दीक होने के कारण ये बहुत बड़े नज़र आते हैं और हमारे दिमाग़ में भर जाते हैं और पुरानी घटनाओं से हमको ज्यादा महत्वपूर्ण मालूम होते हैं। जो कुछ आज हम अपने चारों तरफ़ देखते हैं, उसके ज्यादातर हिस्से की जड़ इन्हीं वर्षों के भीतर है, और हक़ीक़त में पिछली सदी और उससे आगे की घटनाओं के घने जंगल में होकर तुमको लेजाना मेरे लिए आसान काम न होगा। शायद मेरा इससे जी चुराने की यही वजह हो! लेकिन मैं यह भी ताज्जुब करता हूँ कि जब आख़िरकार मनुष्य जाति की यह कहानी सन् १९३२ तक आपहुंचेगी और भूत, वर्तमान में मिलकर भविष्य की छाया के सामने रुक जावेगा, तब मैं क्या करूँगा? प्यारी बेटी, तब मैं तुमको क्या लिखूँगा? उस वक्त मेरे लिए क्या बहाना रहेगा कि मैं कलम लेकर बैठूं और तुम्हारा ख़याल करूँ या कल्पना करूँ कि तुम मेरे पास बैठकर बहुत से सवाल पूछ रही हो जिनका जवाब देने की मैं कोशिश करता हूँ?

फ़्रांस की राज्यक्रान्ति के बारे में मैं तीन ख़त लिख चुका हूँ; फ़्रांस के इतिहास में पांच संक्षिप्त वर्षों के बारे में ये तीन लम्बी चिट्ठियाँ हैं। युगों की इस यात्रा के दौरान में हमने सदियों को एक-एक क़दम में पूरा कर दिया है और देश-देशान्तरों पर निगाह दौड़ाई है। लेकिन यहां फ़्रांस में, १७८९ से लगाकर १७९४ तक, हम काफ़ी अर्से तक ठहरे हैं; और फिर भी यह जानकर तुम्हें ताज्जुब होगा कि मैंने अपने बयान को मुख़्तसर करने की सख़्त कोशिश की है क्योंकि मेरे दिमाग़ में यह मज़मून भरा हुआ था और मेरी क़लम आगे ही आगे बढ़ना चाहती थी। फ़्रांस की राज्यक्रांति का महत्व ऐतिहासिक है। वह एक युग के ख़ातमे और दूसरे की शुरूआत को बतलाती है। लेकिन नाटक की तरह दिलचस्प होने के कारण यह हमको और भी ज्यादा आकर्षित करती है और हम सबको बहुत-सी नसीहतें देती है। दुनिया में फिर उथल-पुथल हो रही है और हमलोग बड़ी भारी तब्दीलियों के दरवाज़े पर खड़े हैं। अपने देश में भी हम क्रान्ति के ही युग में रह रहे हैं, फिर यह क्रान्ति चाहे कितनी ही शान्तिपूर्ण क्यो न हो। इसलिए हम फ़्रांस की राज्य-क्रान्ति से और उस दूसरी महान् क्रान्ति से, जो रूस में हमारे ही जमाने में हमारी आँखों के सामने हुई है, बहुत कुछ सीख सकते हैं। इन दोनों क्रान्तियों की तरह की जनता की असली क्रान्तियाँ जिन्दगी की कठोर सच्चाइयों पर बड़ी तेज़ रोशनी डालती हैं। बिजली की चमक की तरह वे सारे दृश्य को, और ख़ास कर अंधेरी जगहों को, रोशन कर देती हैं। कम-से-कम

कुछ देर के लिए अपनी मंजिल बहुत साफ़ और बहुत ही नजदीक मालूम होती है। दिल भरोसे और ताक़त से भर जाता है। शंका और हिचकिचाहट ग़ायब हो जाती है। दूसरे नंबर की चीज पर सब्र करने का कोई सवाल नहीं रहता। क्रान्ति को बनानेवाले लोग तीर की तरह सीधे लक्ष्य की ओर आगे बढ़ते हैं और इधर-उधर नहीं देखते; और जितनी सीधी और तेज उनकी निगाह होती है उतनी ही क्रांति आगे बढ़ती है। लेकिन यह क्रान्ति के उत्कर्ष में ही होता है जब कि उसके नेता पहाड़ की चोटी पर होते हैं और जनता के लोग पहाड़ की ढाल पर चढ़ते हैं। लेकिन अफ़सोस कि एक वक़्त ऐसा आता है जब उनको पहाड़ पर से उत्तर कर नीचे की अँधेरी घाटियों में भी आना पड़ता है। उस वक्त विश्वास मंद पड़ जाता है और ताक़त कम हो जाती है।

१७७८ ई० में वाल्टेयर, जो क़रीब-क़रीब जिन्दगी भर निर्वासित रहा था, मरने के लिए पैरिस लौटा। उस वक्त वह चौरासी वर्ष का था। पैरिस के नौजवानों को पुकारकर उसने कहा था:—"नौजवान बड़े ख़ुशक़िस्मत हैं; वे आगे बड़ी-बड़ी बातें देखेंगे"। दरअसल उन्होंने बड़ी-बड़ी बातें देखीं और उनमें हिस्सा लिया क्योंकि ग्यारह साल बाद ही क्रान्ति शुरू हो गई। वह काफ़ी से ज्यादा वक्त तक इंतजार कर चुकी थी। सत्रहवीं सदी में महान् बादशाह चौदहवें लुई का कहना था कि "मैं ही सबसे बड़ा हूँ"; अठारहवीं सदी में उसके वारिस पन्द्रहवें लुई ने कहा:—"मेरे बाद दुनिया डूब जायगी"; और इस न्यौते के बाद सचमुच प्रलय आया जिसमें सोलहवां लुई और उसके साथी ख़तम हो गये। पाउडर लगाये हुए, नक़ली बाल और रेशमी ब्रिचेज पहननेवाले सरदारों के बजाय 'सैन्सक्यूलौत्स' यानी बिना ब्रिचेज वाले लोग आगे आये; और फ़्रांस का हरेक निवासी 'नागरिक' या 'नागरी' कहलाने लगा। नये प्रजातन्त्र का आदर्श वाक्य था—"स्वाधीनता, समानता, भाईचारा" (Liberty, Equality, Fraternity), जो सारे संसार को पुकार-पुकार सुनाया गया।

क्रान्ति के दिनों में आतंक का ख़ूब जोर रहा। विशेष क्रान्तिकारी अदालत यानी 'स्पेशल रिवोल्यूशनरी ट्रिब्यूनल' की नियुक्ति से लगाकर रोब्सपीयर की मृत्यु तक के सोलह से भी कम महीनों में, तक़रीबन चार हजार आदमी गिलोटीन पर चढ़ा दिये गये। यह एक बड़ी तादाद है, और जब यह ख़याल होता है कि कितने ही बेक़सूर आदमी गिलोटीन पर चढ़ा दिये गये होंगे तो दिल को बड़ा सदमा और रंज पहुँचता है। लेकिन फिर भी कुछ घटनायें याद रखने लायक हैं जिससे हम फ़्रांस के इस आतंक का सच्चा स्वरूप समझ सकें। प्रजातन्त्र चारों तरफ़ दुश्मनों, धोखेबाजों और भेदियों से घिरा हुआ था और गिलोटीन पर चढ़ाये जानेवालों में से बहुत से लोग

प्रजातन्त्र के खुल्लमखुल्ला विरोधी थे और उसके सत्यानाश को कोशिश में थे। आतंक के अखीर में मुजरिमों के साथ बेक़ुसूर भी पिस गये। जब खौफ पैदा होता है तो आंखों पर परदा पड़ जाता है और क़सूरवार और बेक़सूर के भेद का पता लगाना मुश्किल होजाता है। मुसीबत के मौक़े पर फ़्रांस के प्रजातन्त्र को लाफ़ायेत[1] जैसे अपने बडे-बडे सिपहसालारों की तरफ से भी मुख़ालफ़त और धोखेबाजी का सामना करना पड़ा, तब कोई ताज्जुब नहीं कि नेता लोग घबरा गये हों और उन्होंने अन्धाधुन्ध इधर-उधर मार-काट करनी शुरू कर दी हो।

जैसा कि एच० जी० वेल्स ने अपने इतिहास में बतलाया है, यह बात भी ध्यान में रखने की है कि उस वक़्त इंग्लैंड, अमेरिका और दूसरे देशों में क्या हो रहा था। फ़ौजदारी क़ानून, ख़ासकर जायदाद की हिफ़ाज़त के बारे में, बड़ा ख़ूंख़ार था और मामूली जुर्मों के लिए लोग फांसी पर चढ़ा दिये जाते थे। कहीं-कहीं अब भी सरकारी तौरपर लोगों को तकलीफ़ दी जाती थी। वेल्स ने लिखा है कि फ्रांस में आतंक के ज़माने में जितने आदमी गिलोटीन पर चढ़ाये गये उतने ही समय में इंग्लैंड में इससे कहीं ज्यादा आदमी इस तरह फांसी पर चढ़ा दिये गये थे।

उन दिनों ख़ौफनाक बेरहमी और जंगलीपन के साथ जो ग़ुलामों का शिकार किया जाता था उसका ख़याल तो करो! युद्ध, खासकर इस ज़माने के युद्ध, की कल्पना करो जिसमें हज़ारों उठते हुए नौजवानों का मटिया-मेट होजाता है। ज़रा और पास आकर अपने ही देश की तरफ़ देखो और हाल की घटनाओं पर विचार करो। तेरह साल हुए जब अमृतसर के जालियांवाला बाग़ में अप्रैल की एक शाम को, बसन्त के त्यौहार के दिन, सैकडों लोग मार डाले गये थे और हज़ारों बुरी तरह ज़ख़्मी कर दिये गये थे। और आजके ये सब षड्यन्त्रों के मुक़दमे और ख़ास अदालतें और आर्डिनेंस, लोगों को डराने और दबाने की कोशिशों के सिवा और क्या हैं? दमन और आतंक की तेज़ी हुकूमत के डर का नाप हुआ करती है। हरेक हुकूमत, चाहे वह पिछडी हुई यानी प्रतिगामी हो या क्रान्तिवादी, विदेशी हो या स्वदेशी, आतंकवाद का सहारा तब लेती है जब उसे खुद अपनी ही हस्ती ख़तरे में मालूम पड़ती है। पिछडी हुई यानी प्रतिगामी हुकूमत विशेष अधिकार वाले कुछ लोगों की ओर से आमलोगों के ख़िलाफ़ ऐसा करती है; क्रान्तिवादी हुकूमत जनता की तरफ़ से

१. लाफ़ायेत—(१७५७–१८३४); फ़्रांसीसी सेनापति और राजनीतिज्ञ। यह अमेरिका के स्वाधीनता-संग्राम में अंग्रेज़ों के खिलाफ़ लड़ा था। १७८९ ई० में यह फ़्रांस की राज्यक्रान्ति का एक नेता था लेकिन १७९२ ई० में वहां से भाग गया। नैपोलियन के बाद यह फिर राष्ट्रीय फ़ौज का सिपहसालार हुआ।

गिने-चुने विशेष अधिकार वालों के ख़िलाफ़ करती है। क्रान्तिवादी हुकूमत ज्यादा खरी और ईमानदार होती है; वह अक्सर बेरहम और सख़्त तो होती है लेकिन उसमें छल-कपट और धोखा-धड़ी नहीं होती। प्रतिगामी हुकूमत धोखे के वातावरण में रहती है क्योंकि वह जानती है कि अगर उसका भेद खुल गया तो वह टिक न सकेगी। वह आज़ादी की बात करती है और इस आज़ादी का यह अर्थ लगाती है कि वह खुद मनमानी करने के लिए आज़ाद है। वह इन्साफ की बात करती है, जिसका मतलब होता है मौजूदा परिस्थिति को क़ायम रखना, जिसके अन्दर वह पनपती है, हालांकि दूसरे लोग मरते हैं। तुर्रा यह कि वह क़ानून और शान्ति की बात करती है लेकिन इन लफ़्ज़ों और जुमलों की आड़ में गोलियाँ चलाना, मारना, क़ैद करना, ज़बान बन्द करना वग़ैरा, हरेक ग़ैरकानूनी और अशान्तिपूर्ण कार्रवाई करती है। 'क़ानून और शान्ति' के नाम पर हमारे सैकडों भाइयों को ख़ास अदालतों के सामने पेश करके मौत की सज़ा दे दी जाती है। इसी के नाम पर ढाई साल पहले अप्रैल के महीने में एक दिन, पेशावर में मशीनगनों ने हमारे सैकडों बहादुर पठान देशभाइयों को निहत्था होने पर भी भून डाला। और इसी 'क़ानून और शान्ति' की दुहाई देकर ब्रिटिश हवाई फौज हमारे सीमान्त के गांवों में और इराक़ में बम बरसाती है और स्त्रियों, पुरुषों और छोटे-छोटे बच्चों को अन्धाधुन्ध मार डालती है या ज़िन्दग़ीभर के लिए अपाहिज कर देती है। लोग कहीं हवाई जहाज़ की मार से बच न जायँ, इसके लिए किसी शैतानी दिमाग़ ने 'देर से फटनेवाले बम' ईजाद किये हैं जो गिरकर कोई नुक़सान नहीं पहुँचाते मालूम पड़ते और कुछ देर तक फटते नहीं हैं। गांवों के स्त्री-पुरुष, यह सोचकर कि ख़तरा निकल गया, अपने घरों को वापस लौट आते हैं और थोडी ही देर बाद बम फट जाते हैं, जिससे आदमी और सम्पत्ति का नाश हो जाता है।

करोडों के सिर पर रोजमर्रा भूखों मरने का जो ख़ौफ़ सवार रहता है उसका भी ख़याल करो। हम अपने चारों तरफ़ ग़रीबी देखने के आदी होगये हैं। हम समझते हैं कि मज़दूर और किसान उजड्ड लोग हैं और वे ज्यादा तकलीफ़ महसूस नहीं करते। आत्मा की फटकार को शान्त करने के लिए यह तर्क कितना फ़िज़ूल है। मुझे बिहार में झरिया की एक कोयले की खान में जाने की बात याद है, और ज़मीन की सतह के बहुत नीचे, कोयले के लम्बे-लम्बे काले और अँधेरे दालानों में स्त्रियों और पुरुषों को काम करते देखकर मुझे जो सदमा पहुँचा उसे मैं कभी नहीं भूल सकता। लोग खानों में काम करनेवालों के लिए आठ घंटे के दिन की बातचीत करते हैं, लेकिन कुछ लोग इसकी भी मुख़ालफ़त करते हैं और ख़याल करते हैं कि

उनसे और भी ज्यादा काम लिया जाना चाहिए। जब मैं इस बहस को सुनता हूँ या पढ़ता हूँ तो मुझे अपने उन जमींदोज़ काले तहख़ानों में जानेवाली बात याद आजाती है जहाँ आठ मिनिट भी मेरे लिए पहाड़ होगये थे।

फ़्रांस का आतंक एक ख़ूंख़ार चीज़ थी। लेकिन फिर भी ग़रीबी और बेकारी के राजरोग के मुकाबिले में वह मक्खी के डंक मारने जैसी नाचीज़ थी। सामाजिक क्रान्ति के खर्च, चाहे वह क्रान्ति कितनी ही बडी क्यों न हो, इन बुराइयों से कम होते हैं, और उस लड़ाई के खर्चों से भी कम होते हैं जो मौजूदा राजनैतिक और सामाजिक प्रणाली में हमको समय-समय पर भुगतनी पड़ती है। फ़्रांस की राज्य-क्रान्ति का आतंक बहुत बड़ा इसलिए दिखलाई पड़ता है कि बहुत से ख़िताबवाले और दौलतमंद लोग उसके शिकार हुए। हम लोग इन ख़ास हक़ रखनेवाले वर्गों की इज्ज़त करने के इतने आदी होगये हैं कि जब ये लोग मुसीबत में होते हैं तो हमारी हमदर्दी उनकी तरफ़ हो जाती है। दूसरों की तरह ही इनके साथ भी हमदर्दी रखना अच्छा है। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि इन लोगों की तादाद बिलकुल कम होती है। हम उनके भले की ख़्वाहिश कर सकते हैं। लेकिन जिनसे असली मतलब है, वे तो जनसाधारण होते हैं, और हम थोडों की ख़ातिर बहुतों को क़ुर्बान नहीं कर सकते। रूसो लिखता है--"मनुष्यजाति को बनानेवाली साधारण जनता ही है। जो जनता नहीं है वह इतनी छोटी चीज़ है कि उसे गिनने की भी दिक़्क़त उठाने की जरूरत नहीं।"

इस ख़त में मैं तुमको नेपोलियन के बारे में लिखना चाहता था। लेकिन मेरा दिमाग़ भटक गया और मेरी क़लम दूसरी तरफ दौड़ गई और नेपोलियन पर ग़ौर करना अभी बाक़ी है। उसे हमारे दूसरे ख़त का इंतज़ार करना पडेगा।

: १०४ :

नेपोलियन

४ नवम्बर, १९३२

फ़्रांस की राज्यक्रान्ति में से नेपोलियन का उदय हुआ। जिस प्रजातन्त्रवादी फ़्रांस ने योरप के बादशाहों को चुनौती दी थी और उससे लोहा लिया था, उसने इस छोटे से कोर्सिका के रहनेवाले के आगे सिर झुका दिया। फ़्रांस में उस वक्त एक अजीब तरह की वहशियाना मनोहरता थी। फ़्रेंच कवि बार्बिये ने इसका मुक़ाबिला एक जंगली जानवर से, सिर उठाये हुए तथा चमकदार खालवाली एक शानदार

और मनमौजी घोडी से, किया हूं; यह घोडी एक सुन्दर आवारागर्द, ज़ीन, जोत और लगाम से फ़ौरन भड़कने वाली, ज़मीन पर सुम दे-दे मारने वाली, और अपनी हिनहिनाहट से दुनिया को डराने वाली थी। यह शानदार घोडी कोर्सिका के इस नौजवान को सवारी देने के लिए राज़ी हो गई और उसने इससे बडे-बडे अजीब काम करवाये। लेकिन उसने इसे सधा भी लिया और इस जंगली, मनमौजी, जानवर का सारा जंगलीपन और अल्हड़पन दूर कर दिया। और उसने इससे इतना फ़ायदा उठाया और इसे इतना थका दिया कि इसने उसे भी गिरा दिया और ख़ुद भी गिर पडी।

नेपोलियन का कुछ हाल तो तुमको पहले ही मालूम है। तुमने पेरिस की शाही इमारत इन्वेलिद देखी है, जहाँ नेपोलियन की लाश लड़ाइयों में जीते हुए फटे झंडों में लपेट कर दफ़नाई गई है; तुमने अजायबघर देखा है जहाँ उसकी बहुत-सी निशानियाँ रक्खी हुई हैं; और तुमने पैरिस में बहुत बडे वैन्दोम खंभों के ऊपर उसकी मूर्ति भी देखी है। मेरा ऐसा ख़याल है कि तुम उसकी कुछ ज्यादा तरफ़दार हो गई थीं और उसे महान विभूति (एक बड़ा सूरमा) समझने लगी थीं। मैं तुम्हारे सामने क़बूल करता हूँ कि बचपन में मेरे दिल में भी नेपोलियन के लिए अच्छी जगह थी। मैं उसे एक आदर्श पुरुष समझता था, हालांकि उस समय मैं उसके बारे में काफी नहीं जानता था। अब मैं बहुत-सी बातें जानता हूँ और मुझे कहना पड़ता है कि मेरी निगाह में वह बहुत छोटा हो गया है और उतना बड़ा नहीं दिखलाई देता जितना बहुत दिन पहले मालूम होता था। लेकिन उसके प्रति अपनी पक्षपात की भावना को दूर करने के लिए बचपन के दिनों की तस्वीर को मैं पूरी तरह नहीं मिटा सकता, हालांकि मुझे उसकी बहुत-सी कमियों का ख़याल है। यह अजीब बात है कि बचपन और लड़कपन में पडे हुए असर किस तरह ज़िन्दगी भर पीछा नहीं छोड़ते।

तो नेपोलियन किस तरह का आदमी था? क्या वह संसार का कोई महान पुरुष, या, जैसा कि कहा जाता है, 'भाग्य-विधाता' या बडी विभूति था जिसने मनुष्य जाति को बहुत-से बंधनों से छुड़ाने में मदद दी? या, जैसा कि एच० जी०-वेल्स वग़ैरा कहते हैं, वह ख़ाली एक ले-भग्गू और तोड़-फोड़ करनेवाला था जिसने योरप को और उसकी सभ्यता को बड़ा भारी नुक़सान पहुंचाया? शायद इन दोनों बातों में अतिशयोक्ति है; या दोनों में सचाई का कुछ हिस्सा है। हम सबमें अच्छाई और बुराई, बड़प्पन और छुटपन की अजीब मिलावट होती है। वह भी ऐसी ही एक मिलावट था, लेकिन इस मिलावट को बनाने में ऐसे असाधारण गुण लगे थे जो हममें से बहुतों में न मिलेंगे। उसमें साहस था और आत्म-विश्वास था; कल्पना थी और

आश्चर्यजनक शक्ति तथा ज़बरदस्त हविस थी। वह बड़ा भारी सिपहसालार था और सिकन्दर और चंगेज़-जैसे पुराने सेनानायकों के मुक़ाबिले का लड़ाई के हुनर का उस्ताद था। लेकिन वह कमीना भी था और ख़ुदगर्ज़ और घमंडी भी था। उसकी ज़िन्दगी की सबसे बड़ी ख़्वाहिश किसी मक़सद को पालेना न थी बल्कि सिर्फ़ अधिकार प्राप्त करने की ख़्वाहिश थी। उसने एक बार कहा था:—

"हुकूमत मेरी रखेल औरत है! इस औरत को वश में करने के लिए मुझे इतनी दिक़्क़त उठानी पड़ी है कि मैं न तो उसे किसीको छीनने दूंगा और न अपने साथ उसे भोगने दूंगा!" वह क्रान्ति में से पैदा हुआ था लेकिन फिर भी वह एक ज़बरदस्त साम्राज्य के सपने देखता था और सिकन्दर की विजय उसके दिमाग़ में भर रही थी। उसे योरप भी छोटा मालूम होता था। पूर्व उसे खींच रहा था, ख़ासकर मिस्र और हिन्दुस्तान। अपनी ज़िन्दगी के शुरू में, जब वह सत्ताईस वर्ष का था, तब उसने कहा था:—"बड़े-बड़े साम्राज्य और ज़बरदस्त परिवर्तन पूरब में ही हुए हैं; उस पूरब में जहाँ साठ करोड़ इन्सान रहते हैं। योरप तो एक छोटी-सी टेकरी है!"

नेपोलियन बोनापार्ट का जन्म १७६९ ई० में कोर्सिका टापू में हुआ था जो फ़्रांस के क़ब्ज़े में था। उसकी रगों में फ़्रांस, कोर्सिका और इटली का मिला हुआ ख़ून था। उसने फ़्रांस के एक फ़ौजी स्कूल में तालीम पाई थी और राज्यक्रान्ति के ज़माने में वह जैकोबिन क्लब का मेम्बर था। लेकिन शायद वह जैकोबिन लोगों में अपना ही उल्लू सीधा करने के लिए शामिल हुआ था, इसलिए नहीं कि उसे उनके उसूलों में कोई यक़ीन था। १७९३ ई० में तोलों में उसे पहली फ़तह हासिल हुई। इस जगह के धनवान लोगों ने इस डर से कि कहीं क्रान्ति के राज्य में उनकी दौलत न छिन जाय, अंग्रेज़ों को बुला लिया और बाक़ी बचा हुआ फ़्रेंच जहाज़ी बेड़ा उनको सौंप दिया। इस दुर्घटना ने और ऐसी ही दूसरी दुर्घटनाओं ने नवीन क्रान्ति को ज़बरदस्त धक्का पहुंचाया और हरेक फ़ालतू आदमी को, और औरतों को भी, फ़ौज में भर्ती होने का हुक्म दिया गया। नेपोलियन ने बाग़ियों को पीस डाला और तोलों की लड़ाई में बड़ी उस्तादी के साथ हमला करके अँग्रेज़ों को हरा दिया। अब उसका सितारा बुलन्द होने लगा और चौबीस साल की उम्र में वह फ़ौज का जनरल बन गया। कुछ ही महीनों में जब रोब्सपीयर गिलोटीन पर चढ़ा दिया गया तो यह आफ़त में फंस गया क्योंकि इस पर रोब्सपीयर के दल का होने का शक किया गया। लेकिन हक़ीक़त में जिस दल में वह शामिल था उसदल में सिर्फ एक ही मेम्बर था, और वह था ख़ुद नेपोलियन! इसके बाद डायरेक्टरी का राज आया और नेपोलियन ने साबित कर दिया कि जैकोबिन होना तो दरकिनार वह तो प्रति-क्रान्ति का नेता था

और ज़रा भी तरस खाये बिना आम जनता को गोलियों से भून सकता था। यह १७९५ ई० का वही प्रसिद्ध 'छर्रों का झोंका' था जिसका जिक्र मैं एक पिछले ख़त कर चुका हूँ। उस दिन नेपोलियन ने प्रजानन्त्र को ज़ख़्मी कर दिया। दस वर्षों के भीतर ही उसने प्रजातन्त्र का ख़ातमा कर डाला और फ़्रांस का सम्राट बन बैठा।

१७९६ ई० में वह इटली की फ़ौज का कमांडर हो गया और इटली के उत्तरी हिस्से पर बड़ा कामयाब धावा करके सारे योरप को ताज्जुब में डाल दिया। फ़्रांस की फ़ौजों में क्रान्ति का जोश अभी ठंडा नहीं हुआ था। लेकिन वे फटेहाल थीं, और उनके पास न ठीक कपडे थे, न जूते, न खाना और न रुपया। वह इस फटे हाल और पाँव में छाले पडे हुए गिरोह को आल्प्स पहाडों के ऊपर होकर ले गया और उनको उम्मीद दिलाई कि इटली के उपजाऊ मैदानों में पहुँचकर उनको खाना और बहुत-सी आनन्द की चीज़ें मिलेंगी। दूसरी तरफ इटली के बाशिन्दों को उसने आज़ाद कर देने का वादा किया; वह उनको ज़ालिमों से छुड़ाने आरहा था। लूटमार और डकैती की उम्मीद के साथ क्रान्तिवादी गपड़-सपड़ का यह कैसा विचित्र मेल था ? इस तरह उसने फ़्रांस और इटली दोनों के बाशिन्दों की भावनाओं से बडी चालाकी के साथ फ़ायदा उठाया, चूंकि वह ख़ुद भी आधा इटैलियन था, इसलिए उसका ख़ूब असर पड़ा। जैसे-जैसे उसे फ़तह मिलती गई, उसका रौब बढ़ने लगा और उसकी शोहरत फैलने लगी। अपनी फ़ौज में भी वह बहुत-सी बातों में एक मामूली सिपाही की तरह बर्ताव करता था और ख़तरे में उनके साथ रहता था। क्योंकि धावे में जहाँ कहीं सबसे ज्यादा ख़तरा होता वहीं वह पहुँच जाता था। वह हमेशा सच्ची योग्यता की तलाश में रहता था और इसके लिए लड़ाई के मैदान ही में वह फ़ौरन इनाम दे देता था। अपने सिपाहियों के लिए वह पिता— एक बहुत नौजवान पिता !— के समान था जिसे वे प्यार से 'नौजवान कप्तान' कहते थे और 'तू' करके सम्बोधन करते थे। इसमें कौनसी ताज्जुब की बात है अगर यह कम उम्र नौजवान फ़्रेंच जनरल फौज का प्यारा बन गया हो ?

तमाम उत्तरी इटली को फ़तह करके और आस्ट्रिया को हराकर, और वेनिस के पुराने प्रजातन्त्र को बरबाद करके वहाँ बडी बुरी साम्राज्यवादी सुलह करके वह पैरिस को एक बड़ा भारी विजयी सूरमा बनकर लौटा। फ़्रांस में उसकी तूती पहले ही बोलने लगी थी। लेकिन उसने सोचा कि शायद अभी सब अधिकार अपने हाथ में कर लेने का वक़्त नहीं आया है, इसलिए उसने एक फ़ौज लेकर मिस्र जाने का इंतिज़ाम किया। अपनी जवानी से लगाकर अबतक पूर्व की यह पुकार उसके दिल में उठ रही थी। अब वह इसे पूरी कर सकता था। एक विशाल साम्राज्य के सपने उसके दिमाग़

में चक्कर लगाने लगे होंगे। भूमध्यसागर में अंग्रेजी जहाजी बेड़े से किसी तरह बाल-बाल बचकर वह सिकन्दरिया जा पहुँचा।

मिस्र उन दिनों तुर्की के उस्मानी साम्राज्य का हिस्सा था लेकिन इस साम्राज्य का पतन हो चुका था और दरअसल मिस्र में 'मैमल्यूक'[1] लोग राज्य कर रहे थे जो सिर्फ नाम के लिए तुर्की के सुलतान के मातहत थे। कहते हैं कि जब नेपोलिन क़ाहिरा पहुँचा तो एक मैमल्यूक सूरमा रेशम के भड़कीले कपड़े और दामिश्क का जिरह-बख़्तर पहने घोड़े पर सवार होकर फ़्रांस की फ़ौज के सामने आया और उसके सिपह-सालार को द्वन्द युद्ध के लिए ललकारा! उस बेचारे पर बड़ी बुरी तरह गोलियों की बौंछार की गई। जल्द ही नेपोलियन ने 'पिरैमिड्स की लड़ाई' जीती। वह नाटक की-सी बातें बहुत पसन्द करता था। एक पिरैमिड के नीचे अपनी फ़ौज के सामने घोड़े पर खड़े होकर उसने कहा—"सिपाहियो! देखो, चालीस सदियाँ तुम्हारे ऊपर निगाह डाल रही हैं!"

नेपोलियन ज़मीन की लड़ाई का उस्ताद था और वह जीतता ही गया। लेकिन समुद्र पर उसका बस न चला। वह समुद्री लड़ाई लड़ना नहीं जानता था और शायद उसके पास क़ाबिल एडमिरल यानी समुद्री सिपहसालार भी न थे। ठीक उन्हीं दिनों भूमध्यसागर में इंग्लैंड के जहाज़ी बेड़े का अफ़सर एक असाधारण प्रतिभावाला पुरुष था। यह होरेशियो नेल्सन[2] था। नेल्सन बड़ी हिम्मत करके एक दिन ठेठ बन्दरगाह में घुस आया और नील नदी की लड़ाई में उसने फ़्रांस के जहाज़ी बेड़े को तबाह कर दिया। इस तरह परदेस में नेपोलियन फ़्रांस से बिछुड़ गया। वह तो किसी तरह चुपचाप बचकर निकल भागा और फ़्रांस पहुँच गया लेकिन ऐसा करके उसने अपनी 'पूर्व की फ़ौज' की कुरबानी करदी।

विजयों और कुछ फ़ौजी शान के बावजूद भी पूर्वी देशों का यह ज़बर्दस्त धावा बिलकुल नाकामयाब रहा। यह दिलचस्पी की बात ख़याल में रखने लायक़ है कि

१. **मैमल्यूक**—तुर्की के सुल्तान अयूब के शरीर-रक्षक ग़ुलाम जो उसकी मृत्यु (१२५१) के बाद १५१७ ई० तक मिस्र में राज करते रहे। सुल्तान सलीम प्रथम ने इनको निकाल बाहर कर दिया था लेकिन अठारहवीं सदी में इन्होंने फिर अधिकार प्राप्त कर लिया। १७९८ ई० में नेपोलियन ने इन्हें हराया और १८११ ई० में सुल्तान मुहम्मद अली ने इनका अन्त कर दिया।

२. **नेल्सन**—(१७५८–१८०५) इंग्लैंड का बड़ा प्रसिद्ध और योग्य नौ-सेनापति—इसने कई समुद्री लड़ाइयाँ जीती थीं और इंग्लैंड का समुद्री गौरव बढ़ाया। यह ट्राफल्गर के युद्ध में मारा गया।

नेपोलियन अपने साथ पंडितों, विद्वानों और आचार्यों की भीड़-की-भीड़, बहुत-सी किताबों और तरह-तरह के औज़ारों के साथ, मिस्र देश को लेगया था। इस मण्डली में रोज़ बहस-मुबाहसे होते थे। जिनमें नेपोलियन भी बराबरी की हैसियत से हिस्सा लेता था और इन पण्डितों ने वैज्ञानिक तरीक़े पर खोज का ज़बर्दस्त और बड़ा अच्छा काम किया। ग्रीक लिपि और मिस्र के चित्र-लेख की दो क़िस्में, पत्थर की एक चट्टान पर खुदी हुई मिल गईं और चित्र-लेख-पद्धति की पुरानी पहेली हल हो गई। ग्रीक लिपि की मदद से बाक़ी की दोनों लिपियों को पढ़ लिया गया। यह भी दिलचस्प बात है कि स्वेज़ पर नहर काटने की तजवीज़ में नेपोलियन की भी बहुत दिलचस्पी थी।

जब नेपोलियन मिस्र में था तो उसने ईरान के शाह और दक्षिण हिन्दुस्तान के टीपू सुलतान के पास कुछ पैग़ाम भेजे थे। लेकिन इनका नतीजा कुछ न निकला क्योंकि उसके पास समुद्री ताक़त बिलकुल न थी। समुद्री फ़ौज की ताक़त ने ही अख़ीर में नेपोलियन को पछाड़ दिया; और उन्नीसवीं सदी में इंग्लैंड को ज़बर्दस्त बनानेवाली भी समुद्री फ़ौज की ताक़त ही थी।

मिस्र से जब नेपोलियन लौटा तो फ़्रांस की हालत बहुत ख़राब हो रही थी। डायरेक्टरी बदनाम और अप्रिय हो चुकी थी इसलिए हरेक को नेपोलियन से ही उम्मीद थी। वह हुकूमत हाथ में लेने के लिए बिलकुल राज़ी था। नवंबर १७९९ ई० में, अपनी वापसी के एक महीने बाद, नेपोलियन ने अपने भाई लूसियन की मदद से असेम्बली को ज़बरदस्ती तोड़ दिया, और जिस विधान के मुताबिक डायरेक्टरी हुकूमत कर रही थी उस मौजूदा विधान का उसने ख़ातमा कर दिया। इस ज़बरदस्ती के राजनैतिक कार्य से, जिसे 'राजनैतिक चालबाज़ी' कहते हैं, नेपोलियन ने परिस्थिति को क़ाबू में कर लिया। वह ऐसा इसीलिए कर सका कि लोग उसे चाहते थे और उसमें विश्वास रखते थे। क्रान्ति का तो बहुत दिन पहले ही दिवाला निकल चुका था; लोकतन्त्र तक भी ग़ायब हो रहा था और एक लोकप्रिय जनरल का डंका बज रहा था। एक नये विधान का मसविदा बनाया गया जिसमें तीन 'कौंसल' (यह शब्द प्राचीन रोम से लिया गया था) या एलची रक्खे गये लेकिन इन तीनों में प्रधान नेपोलियन था जिसे पूरे अधिकार थे। वह पहला कौंसल कहलाया और दस वर्ष के लिए नियुक्त किया गया। विधान सम्बन्धी बहस-मुबाहसे के दौरान में किसी सदस्य ने यह प्रस्ताव किया कि एक ऐसा राष्ट्रपति होना चाहिए जिसके हाथ में कोई असली ताक़त न हो और जिसका ख़ास काम काग़ज़-पत्रों पर दस्तख़त करना और प्रजातन्त्र का बाकायदा प्रतिनिधित्व करना हो, जैसे कुछ-कुछ आजकल के वैधानिक

बादशाह होते हैं या फ़्रांस का राष्ट्रपति है। मगर नेपोलियन तो अधिकार चाहता था, सिर्फ़ शाही पोशाक नहीं। इस शाही लेकिन अधिकार-रहित मुखिया को वह बिल्कुल नहीं चाहता था। उसने कहा: "इस मोटे सूअर को निकाल बाहर करो!"

यह विधान, जिसमें नेपोलियन को दस साल के लिए प्रथम कौंसिल बनाया गया था जनता की राय के लिए पेश किया गया और तीस लाख से ज्यादा वोटरों ने उसे क़रीब-क़रीब एक राय से मान लिया। इस तरह फ़्रांस की जनता ने इस फिज़ूल की उम्मीद में कि वह उन्हें आज़ादी और सुख दिलायगा, खुद ही सारे अधिकार नेपोलियन की भेंट कर दिये।

लेकिन हम नेपोलियन के जीवन चरित्र की सारी बातें नहीं लिख सकते। वह तो ज़ोरदार हरकतों और ज्यादा-से-ज्यादा अधिकार की हविस से भरा पड़ा है। 'राजनैतिक चालबाज़ी' के बाद पहली ही रात को, जब कि नया विधान बनने और तैयार होने भी न पाया था, कि उसने क़ानूनी ज़ाब्ते का मसविदा बनाने के लिए दो कमिटियाँ नियुक्त करदीं। यह उसकी डिक्टेटरशिप या तानाशाही का पहला काम था। बहुत बहस-मुबाहसे के बाद, जिसमें नेपोलियन भी शामिल होता था, यह ज़ाब्ता १८०४ ई० में आख़िरी तौर पर मान लिया गया। यह 'नेपोलियन कोड' (नेपोलियन का क़ानूनी ज़ाब्ता) कहलाया। क्रान्ति के विचारों या इस ज़माने के आदर्शों के लिहाज़ से यह क़ानून ज्यादा अच्छा न था। लेकिन यह उस ज़माने की हालतों से ज़रूर आगे बढ़ा हुआ था और सौ साल तक कई बातों में सारे योरप वाले इसे क़रीब-क़रीब नमूना मानते रहे। उसने बहुत से तरीकों से राजशासन में सादगी और मुस्तैदी पैदा की। वह हरेक काम में दख़ल देता था और छोटी-छोटी बातों को याद रखने का उसमें आश्चर्यभरा माद्दा था। अपने अद्भुत बल और शक्ति से उसने तमाम साथियों और मंत्रियों को थका डाला। उस वक़्त का उसका एक साथी उसके बारे में लिखता है:—"अपनी नियमित चतुरता के साथ राज करता हुआ, शासन करता हुआ और सलाह-मशविरा करता हुआ, वह दिन में अठारह घंटे काम करता है। जितना और बादशाहों ने सौ वर्षों में राज किया होगा उससे ज्यादा इसने तीन वर्षों में कर लिया है।" यह बात ज़रूर बढ़ाकर कही गई है, लेकिन यह सही है कि अकबर की तरह नेपोलियन की भी ग़ैरमामूली याद्दाश्त थी और बिलकुल सुलझा हुआ उसका दिमाग़ था। वह अपने बारे में कहता था:—"जब मैं किसी बात को अपने दिमाग़ से निकालना चाहता हूँ तो उसकी दराज़ बन्द कर देता हूँ और दूसरी चीज़ की दराज़ खोल देता हूँ। इन दराज़ों में रखी हुई चीज़ें कभी मिलने नहीं पातीं और न तो मैं उनसे घबराता हूँ, न थकता हूँ। क्या मैं सोना चाहता हूँ? जब मैं सब दराज बन्द कर

देता हूँ तो मुझे नींद आजाती है।" दर असल यह देखा गया था कि वह लड़ाई के बीच में ज़मीन पर लेट जाता था और आध घंटे के क़रीब सो लेता था, और उसके बाद उठकर फिर लम्बे अर्से के लिए गहरे कामों में मशगूल हो जाता था।

वह दस साल के लिए प्रथम कौंसल बनाया गया था। अधिकार के ज़ीने की दूसरी सीढ़ी तीन साल बाद, १८०२ ई० में आई, जब उसने, आपको ज़िन्दगी भर के लिये कौंसल बनवा लिया और उसके अधिकार भी बहुत बढ़ गये। प्रजातन्त्र ख़तम हो चुका था, और वह सब तरह से बादशाह हो गया था, सिर्फ़ बादशाहत का नाम न था। १८०४ ई० में जैसा कि होना ही था, उसने जनता की राय लेकर अपने आप को सम्राट ऐलान कर दिया। फ्रांस में बिलकुल उसीकी तूती बोलती थी लेकिन फिर भी इसमें और पुराने ज़माने के स्वेच्छाचारी राजाओं में बहुत फ़र्क़ था। वह अपनी हुकूमत को परम्परा और दैवी अधिकार के बल पर क़ायम नहीं रख सकता था। उसे तो इसको अपनी क़ाबलियत और जनता में अपनी लोकप्रियता के सहारे रखना पड़ता था, ख़ासकर काश्तकारों में लोकप्रियता के सहारे, जो हमेशा उसके वफ़ादार साथी थे क्योंकि वे समझते थे कि इसने उनकी ज़मीनों को छिनने नहीं दिया था। नेपोलियन ने एक बार कहा था:—"मैं गोल कमरों में बैठने वालों और बकवास करनेवालों की राय की क्या पर्वाह करता हूँ! मैं तो सिर्फ़ एक राय को मानता हूँ, जो काश्तकारों की राय है।" लेकिन आख़िरकार लगातार जारी रहनेवाली लड़ाइयों के लिए अपने पुत्रों को देते-देते काश्तकार लोग भी तंग आगये। जब यह मदद रुक गई तो जो विशाल भवन नेपोलियन ने खड़ा किया था, वह गिरने लगा।

दस साल तक वह सम्राट रहा और इन वर्षों में वह सारे योरप में ज़बरदस्त फ़ौजी धावे करता हुआ दौड़ता फिरा और उसनें मशहूर लड़ाइयाँ जीतीं। सारा योरप उसके नाम से थर्राता था और उसका ऐसा दबदबा था जैसा उससे पहले और बाद में आजतक किसी का न हुआ। मारेंगो (यह लड़ाई १८०० ई० में हुई जब उसने अपनी फ़ौज के साथ स्वीज़रलैंड की बरफ़ से ढकी हुई सेंट बर्नार्ड की घाटी को पार किया), उल्म, आस्टरलिज़, यैना, लूई, फ़्रीडलैंड, वैगरा-वग़ैरा उसकी जीती हुई मशहूर लड़ाइयों के नाम हैं। आस्ट्रिया, प्रशिया, रूस, वग़ैरा सब उसके सामने ज़मींदोज़ होगये। स्पेन, इटली, निदरलैंड्स, राइन का कान्फेडरेशन कहलाने वाला जर्मनी का बड़ा हिस्सा, पोलैंड, जो वारसा की डची कहलाता था, ये सब राज्य उसके मातहत होगये। पुराना पवित्र रोमन साम्राज्य, जो बहुत दिनों से नाम मात्र के लिए रह गया था, अब बिलकुल ख़तम हो गया।

योरप के बड़े राज्यों में से सिर्फ इंग्लैण्ड ही ऐसा बचा जिसपर आफ़त न आई। इंग्लैण्ड को उसी समुद्र ने बचाया जो नेपोलियन के लिए हमेशा एक रहस्य रहा। और समुद्र से सुरक्षित रहने की वजह से इंग्लैण्ड उसका सबसे ज़बरदस्त और कट्टर दुश्मन बन गया। मैं बतला चुका हूँ कि किस तरह नेपोलियन की ज़िन्दगी के शुरू में ही नेलसन ने नील नदी की लड़ाई में उसके जहाज़ी बेड़े को बरबाद कर दिया था। २१ अक्तूबर १८०५ को स्पेन के दक्षिणी किनारे पर ट्रैफलगर अन्तरीप के पास नेलसन ने फ़्रांस और स्पेन के सम्मिलित जहाज़ी बेड़ों पर और भी ज़बरदस्त फ़तह पाई थी। इसी समुद्री लड़ाई के शुरू होने से पहले नेलसन ने अपने बेड़े को यह मशहूर संदेश दिया था :—"इंग्लैंड को उम्मीद है कि हरेक आदमी अपना फ़र्ज़ अदा करेगा।" विजय की घड़ी में नेलसन तो मारा गया। लेकिन इस फ़तह ने, जिसे अंग्रेज़ लोग बड़े अभिमान से याद करते हैं और जिसकी यादगार लंदन के ट्रैफलगर स्क्वायर में नेलसन स्तम्भ के रूप में बनी हुई है, इंग्लैंड पर धावा बोलने के सपने को ख़तम कर दिया।

नेपोलियन ने योरप के सारे बन्दरगाहों को इंग्लैंड के लिए रोक देने का हुक्म निकालकर इसका बदला लिया। उससे किसी तरह के भी सम्बन्ध रखने की मनाई कर दी गई और 'बनियों के राष्ट्र' इंग्लैंड को इस तरह काबू में लाने की सोची गई। उधर इंग्लैंड ने इन बन्दरगाहों का रास्ता बन्द कर दिया और नेपोलियन के साम्राज्य और अमेरिका वग़ैरा दूसरे देशों के बीच होनेवाले व्यापार को रोक दिया। योरप में लगातार साज़िशें करके और नेपोलियन के दुश्मनों और उदासीन राज्यों में दिल खोलकर सोना बाँटकर, भी इंग्लैंड ने नेपोलियन से लड़ाई लड़ी। इस काम में उसे योरप के कई बड़े-बड़े दौलतमन्द घरानों से, ख़ासकर रॉथ्सचाइल्ड घराने से, बड़ी मदद मिली।

इंग्लैंड ने नेपोलियन के ख़िलाफ़ एक और भी तरीक़ा काम में लिया, जो प्रचार का था। यह नई तरह का धावा था लेकिन तब से यह बहुत आम हो गया है। फ़्रांस और ख़ासकर नेपोलियन के ख़िलाफ़ अख़बारों में आन्दोलन जारी किया गया। सब तरह के लेख, पुस्तिकायें, अख़बार, नये सम्राट का मज़ाक उड़ानेवाले कार्टून, और झूठी बातों से भरे हुए नक़ली संस्मरण, लंदन से प्रकाशित होते थे और चोरी-छिपे से फ़्रांस में दाख़िल कर दिये जाते थे। अख़बारों के ज़रिये से झूठी बातों का प्रचार आजकल की युद्ध प्रणाली का बाक़ायदा अंग बन गया है। १९१४–१८ ई० के महा-युद्ध के ज़माने में, लड़ाई में हिस्सा लेनेवाले सब राज्यों और देशों ने बड़ी बेशर्मी के साथ असाधारण से असाधारण झूठी बातें फैलाईं और इनको गढ़ने और प्रचार

करनें के हुनर में इंग्लैंड आसानी से सबसे आगे नजर आया। उसे तो नेपोलियन के वक्त से अबतक एक सदी की लम्बी तालीम मिल चुकी थी। हम हिन्दुस्तान के लोग अच्छी तरह जानते हैं कि किस तरह हमारे देश के बारे में सच्ची बातें दबा दी जाती हैं और ब्रिटिश अधिकारियों के जरिये यहाँ और इंग्लैंड में सब से ज्यादा हैरत में डालनेवाली झूठी बातों का प्रचार किया जाता है।

यह खत बहुत लम्बा हो गया है। और फिर भी मैंनें अभी तुमको नेपोलियन की आधी कहानी भी नहीं बतलाई है।

: १०५ :

नेपोलियन का कुछ और हाल

६ नवम्बर, १९३२

पिछले खत में हमने नेपोलियन का किस्सा जहाँ छोड़ा है, वहींसे सिलसिला जारी रखना चाहिए।

नेपोलियन जहाँ कहीं गया वहीं अपने साथ फ्रांस की राज्यक्रान्ति के कुछ खयाल लेता गया और जिन देशों को उसने जीता वहां के लोग उसके आने से नाखुश न हुए। वे लोग अपनें निकम्मे और आधे सामन्त शासकों से तंग आगये थे जो उनकी गरदन पर सवार थे। इससे नेपोलियन को बहुत मदद मिली और जैसे-जैसे वह आगे बढ़ता गया, सामंतशाही उसके सामने नष्ट होकर गिरने लगी। जर्मनी में खासतौर पर सामंतशाही का खातमा हो गया। स्पेन में उसने इनक्विजिशन का खातमा कर दिया। लेकिन जिस राष्ट्रीयता की भावना को उसने अनजान में उत्तेजित किया था वही उसके खिलाफ़ उठ खडी हुई और इसने आखिरकार उसे हरा दिया। वह पुराने बादशाहों और सम्राटों को नीचा दिखा सकता था लेकिन अपने खिलाफ़ भड़के हुए सारें राष्ट्र को नहीं। इस तरह स्पेन के लोग उसके खिलाफ़ बाग़ी हो गये और वर्षों तक उसको ताक़त और साधनों को बरबाद करते रहे। जर्मन लोग भी बैरन वॉन स्टीन नाम के एक महान देशभक्त की रहनुमाई में संगठित हो गये। यह नेपोलियन का कट्टर दुश्मन हो गया। जर्मनी में आज़ादी की लड़ाई हुई। इस तरह राष्ट्रीयता, जिसको खुद नेपोलियन ने ही जगाया था, समुद्री ताक़त से मेल करके उसके पतन का कारण बन गई। लेकिन किसी भी सूरत में यह तो मुश्किल था कि सारा योरप एक डिक्टेटर को बर्दाश्त कर लेता। या शायद खुद नेपोलियन की ही बात सही थी, जो उसने बाद में कही थी:—"मेरे पतन का दोष मेरे सिवा किसी पर नहीं है। मैं खुद ही अपना सबसे बड़ा दुश्मन रहा हूँ और अपने भयंकर दुर्भाग्य का कारण हुआ हूँ"।

इस अद्‌भुत प्रतिभावाले आदमी में कमजोरियाँ भी असाधारण थीं। उसमें हमेशा कुछ नई नवाबी की झलक रही और उसके दिल में यह अजीब ख़्वाहिश रही कि पुराने और निकम्मे बादशाह और सम्राट उससे बराबरी का बर्त्ताव करें। उसने अपने भाई-बहनों को बडी भद्दी तौर पर बढ़ाया हालांकि वे बिलकुल नालायक थे। लूसियन ही एक अच्छा भाई था जिसने १७९९ ई० की राजनैतिक चालबाज़ी के दौरान में मुसीबत के वक्त नेपोलियन की मदद की थी लेकिन जो बाद में उससे खटपट हो जाने के कारण इटली में जाकर बस गया। दूसरे भाइयों को, जो घमंडी और बेवकूफ़ थे, नेपोलियन ने कहीं का राजा और कहीं का शासक बना दिया। उसमें अपने ख़ानदान को आगे बढ़ाने की एक अजीब और बेहूदी धुन थी। जब उसपर मुसीबत पडी तो इनमें से क़रीब-क़रीब सबने उसे धोखा दिया और उससे किनाराकशी की। नेपोलियन को अपना राजघरानी क़ायम करने की भी बडी हसरत थी। अपनी ज़िन्दगी की शुरुआत में, इटली पर धावा बोलने और मशहूर होने से भी पहले, उसने जोसेफाइन दि बोहार्नाइ नामक एक ख़ूबसूरत लेकिन चंचल औरत से शादी कर ली थी। जब उससे कोई औलाद न हुई तो नेपोलियन को बडी भारी मायूसी हुई क्योंकि उसके दिल में तो राजघराना चलाने की ख़्वाहिश थी। बस उसने जोसेफाइन को तलाक़ देकर दूसरी औरत से शादी करने का इरादा कर लिया, हालांकि वह जोसेफाइन को चाहता था। उसकी इच्छा रूस की एक ग्रांड डचैस (बडे ड्यूक की स्त्री) से शादी करने की थी लेकिन ज़ार इस पर राज़ी न हुआ। नेपोलियन भले ही क़रीब-क़रीब सारे योरप का स्वामी रहा हो, लेकिन उसके लिए रूस के शाही ख़ानदान में शादी करने की उम्मीद करना ज़ार की राय में कुछ गुस्ताख़ी की बात थी! तब नेपोलियन ने किसी तरह आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग सम्राट को मजबूर किया कि वह अपनी पुत्री मेरी लुइसी की शादी उसके साथ करदे। उसकी कोख से एक लड़का पैदा हुआ, लेकिन वह मूढ़ और मूर्ख थी और उसे बिलकुल न चाहती थी और नेपोलियन के लिए वह बहुत बुरी बीबी साबित हुई। जब नेपोलियन पर आफ़त आई तो वह उसे छोड़कर भाग गई और उसका ख़याल ही दिल से निकाल दिया।

बडे ताज्जुब की बात है कि यह शख़्स, जो बहुत-सी बातों में अपने ज़माने के आदमियों से बढ़ा-चढ़ा हुआ था, बादशाहत के पुराने ख़्यालात से पैदा होने वाली थोथी तड़क-भड़क का शिकार हो गया। और फिर भी, बहुत बार, वह क्रान्ति की सी बातें करता था और इन निकम्मे बादशाहों का मज़ाक़ उड़ाया करता था। उसने क्रान्ति की और नये ज़माने की जान-बूझकर उपेक्षा कर दी थी; पुरानी बातें न तो उसके अनुकूल थीं और न उसे अपनाने के लिए तैयार थीं। इसलिए इन दोनों के बीच में वह तबाह हो गया।

धीरे-धीरे फ़ौजी शान-शौकत की इस जिन्दगी का लाजिमी तौर पर बड़ा शोक-जनक अन्त होता है। ख़ुद उसके ही कुछ मंत्री लोग धोखा देते हैं और उसके ख़िलाफ़ साजिशें करते हैं; तैलीरँद रूस के ज़ार से मिलकर साजिश करता है और फोशे इंग्लैंड से मिलकर। नेपोलियन उनकी धोखेबाजी पकड़ लेता है लेकिन फिर भी, ताज्जुब है कि उन्हें सिर्फ लानत-मलामत करके मंत्रियों के पद पर क़ायम रखता है। बर्नादोत नामक उसका एक सिपहसालार उसके ख़िलाफ हो जाता है और उसका कट्टर दुश्मन बन जाता है। माता और भाई लूसियन के सिवा उसके ख़ानदान के सारे लोग बेजा हरकतें करते रहते हैं और अक्सर उसकी जड़ भी काटते रहते हैं। फ़्रांस में भी असंतोष बढ़ता चला जाता है और उसकी डिक्टेटरी बडी बेरहम और वहशियाना हो जाती है और हजारों आदमी बिना मुक़दमे के क़ैद में डाल दिये जाते हैं। उसका सितारा हक़ीक़त में नीचे गिरता हुआ मालूम होता है। और बहुत-सी नावें जहाज का आखिरी वक्त नजदीक जानकर उसे भँवर में छोड़ जाती हैं। हालांकि अभी उसकी उम्र ज्यादा नहीं है लेकिन उसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ कमजोर होती जाती हैं। ठेठ लड़ाई के बीच में कभी-कभी उसके पेट में वायुगोले का दर्द उठ खड़ा होता था। अधिकार भी उसे भ्रष्ट कर देता है। उसमें पुरानी चतुराई तो मौजूद रहती है लेकिन अब उसकी चाल धीमी पड़ गई है। वह अक्सर आगा-पीछा सोचने में रह जाता है और वहम करने लगता है। उसकी फ़ौजें भी पहले से ज्यादा भारी-भरकम होगई हैं।

१८१२ ई० में एक जबरदस्त फ़ौज लेकर, जो 'ग्रान्ड आर्मी' यानी विशाल सेना कहलाती थी, वह रूस पर धावा बोलने के लिए रवाना होता है। वह रूसवालों को हरा देता है और बिना विरोध के आगे बढता चला जाता है। रूस की फ़ौजें लगातार पीछे हटती चली जाती हैं और लड़ने के लिए सामने नहीं आतीं। 'ग्रान्ड आर्मी' फ़िजूल उनको तलाश करती-करती मॉस्को पहुँच जाती है। ज़ार तो हार मानने के लिए तैयार हो जाता है लेकिन दो आदमी, एक तो फ़्रांसीसी बर्नादोत, नेपोलियन का पुराना साथी और सिपहसालार और दूसरा जर्मन राष्ट्रवादियों का नेता बेरन वॉन स्टीन जिसे नैपोलियन ने बाग़ी ऐलान कर दिया था, ज़ार को ऐसा करने से रोक देते हैं। रूसी लोग दुश्मन को धुएँ से तंग करने के लिए अपने प्यारे मॉस्को नगर में ही आग लगा देते हैं। जब मॉस्को के जलने की ख़बर सेंट पीटर्सबर्ग पहुँचती है तो स्टीन, जो उस वक्त खाना खा रहा था, अपना शराब का प्याला उसके उपलक्ष में उठाकर कहता है:—"इससे तीन-चार बार पहले मैं अपना सामान खो चुका हूँ। हमें ऐसी चीजों को फेंकने का अभ्यास कर लेना चाहिए। चूंकि हमको मरना तो है ही। इसलिए हमें बहादुर हो जाना चाहिए!"

जाड़े की शुरूआत है। नेपोलियन जलते हुए मॉस्को को छोड़कर फ्रांस लौटने का फैसला करता है। 'ग्राण्ड आर्मी' बर्फ़ में होकर बड़ी मुश्किल से धीरे-धीरे वापस लौटती है। रूस के कज्ज़ाक लोग इधर-उधर से और पीछे से उसपर छापे मारते हैं और उसपर लगातार हमले करते हैं और पिछड़ जानेवालों को मौत के घाट उतार देते हैं। कड़ी सरदी और कज्ज़ाक लोग, दोनों मिलकर हज़ारों जानें ले लेते हैं। और 'ग्रान्ड आर्मी' भूतों का-सा जुलूस बन जाती है जिसमें सब लोग पैदल-पैदल फटे-हाल, पांवों में छाले पड़े हुए और सरदी से अकड़े हुए, बड़ी मुश्किल से लड़खड़ाते हुए चलते हैं। अपने गोलन्दाज़ों के साथ नेपोलियन को भी चलना पड़ता है। यह यात्रा बड़ी भयंकर और दिल तोड़नेवाली साबित होती है, और वह ज़बर्दस्त फ़ौज कम होती-होती आख़िर में बिलकुल बरबाद हो जाती है। सिर्फ मुट्ठी-भर लोग वापस लौट पाते हैं।

रूस के इस धावे ने ज़बर्दस्त धक्का पहुँचाया। इसने फ़्रांस की फ़ौजी ताक़त को ख़तम कर दिया। उसका नतीजा यह हुआ कि इससे नेपोलियन पर बुढ़ापा-सा छागया; वह फ़िक्रमन्द हो गया और लड़ाई-झगड़ों से ऊब गया। लेकिन उसे चैन नहीं लेने दिया गया। दुश्मनों ने उसे घेर लिया और हालाँकि अभी तक वह लड़ाइयाँ फ़तह करनेवाला सिपहसालार था, लेकिन फंदा अब धीरे-धीरे कसने लगा। तैलीरैंद की साज़िशें बढ़ने लगीं और नेपोलियन के कुछ विश्वासपात्र सिपहसालार तक भी उसके ख़िलाफ़ हो गये। उकताकर और तंग आकर नेपोलियन ने अप्रेल १८१४ ई० में राजगद्दी छोड़ दी।

नेपोलियन की तरफ़ से रास्ता साफ़ होते ही योरप के सबसे ताक़तवर राष्ट्रों की एक बड़ी कांग्रेस वियेना में की गई। नेपोलियन को भूमध्य सागर के एक छोटे से टापू एल्बा में भेज दिया गया। बोर्बन ख़ानदान का एक और लुई, जो गिलोटीन पर मारे गये लुई का भाई था, जहाँ कहीं छिपा पड़ा था वहीं से निकालकर लाया गया और अठारहवें लुई के नाम से फ़्रांस की राजगद्दी पर बैठाया गया। इस तरह बोर्बन लोग फिर वापस आगये और उनके साथ बहुत-से पुराने ज़ुल्म भी वापस आगये। बैस्तील के पतन से लगाकर अबतक पच्चीस वर्ष के बहादुरी के कामों का बस यह अंत हुआ। वियेना में बादशाह और उनके मन्त्री लोग आपस में बहस करते और लड़ते-झगड़ते थे और जब कभी इन बातों से उनको फुरसत मिलती तो मौज उड़ाते थे। उन्होंने अब आराम की साँस ली। एक बड़ा भारी डर निकल गया था और वे लोग खुलकर साँस ले सकते थे। नेपोलियन के साथ विश्वासघात करनेवाला देश-द्रोही तैलीरैंद बादशाहों और मन्त्रियों के इस गिरोह में बड़ा लोकप्रिय था और कांग्रेस में

उसने बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया। कांग्रेस में एक दूसरा मशहूर राजनैतिक चालबाज़ मैटरनिख़ था जो आस्ट्रिया का वैदेशिक मंत्री था।

एक साल से कम वक्त में नेपोलियन तो एल्बा से तंग आगया और फ़्रांस बोर्बन लोगों से। वह किसी तरह एक छोटी सी नाव में वहाँ से भाग निकला और २६ फ़रवरी १८१५ ई० को शायद अकेला ही रिवियरा पर केन्स नामक जगह में किनारे पर आलगा। किसानों ने बडे जोश के साथ उसका स्वागत किया। उसके लिए भेजी गई फ़ौजों ने जब अपने पुराने कमांडर 'पेटिट कार्पोरल' यानी नौजवान कप्तान को देखा तो वे 'सम्राट् की जय' का घोष करके उससे मिल गईं। बस, वह बडे विजयोल्लास के साथ पेरिस पहुँचा और बोर्बन बादशाह वहाँ से तुरन्त भाग गया। लेकिन योरप की बाक़ी सब राजधानियों में आतंक और घबड़ाहट फैल गई। वियेना में, जहाँ कांग्रेस अभी तक लस्टम-पस्टम चल रही थी, नाच, गान और दावतें एक दम ख़तम हो गईं। सबपर असर करनेवाले इस ख़ौफ़ की वजह से सारे बादशाह और मंत्री अपने आपसी झगडों-टंटों को भूल गये और नेपोलियन को दुबारा फिर कुचल डालने के काम के बारे में ही सोच-विचार करने लगे। बस, योरप ने उसके ख़िलाफ़ हथियार उठा लिये, लेकिन फ़्रांस तो लड़ाइयों से उकता गया था। और नेपोलियन, जो अभी छियालीस वर्ष का था, जिसे उसकी स्त्री, मेरी लुईसी तक दग़ा दे गई थी। थका हुआ और वृद्ध मालूम होने लगा था। कुछ लड़ाइयों में उसकी जीत हुई लेकिन आख़िरकार, फ़्रांस आने के ठीक सौ दिन बाद, वेलिंगटन[1] और ब्लूशर[2] की मातहती में अंग्रेज़ और प्रशिया की फ़ौजों ने ब्रसेल्स नगर के पास वाटरलू में उसे हरा दिया। इसलिए उसकी वापिसी का यह समय 'सौ दिन' कहलाता है। वाटरलू की लड़ाई में दोनों तरफ़ करारा मुक़ाबिला था और यह बतलाना मुश्किल था कि जीत किसकी होगी। नेपोलियन की क़िस्मत बहुत बुरी निकली। उसके लिए इस लड़ाई में फ़तह हासिल करना बहुत मुमकिन था, लेकिन फिर भी एक न एक दिन तो उसे बाद में योरप की एक मजमूआ ताक़त के सामने हारना पड़ता। अब चूंकि

१. वेलिंगटन—ड्यूक आफ़ वेलिंगटन (१७६९–१८५२)। यह हिन्दुस्तान के गवर्नर लार्ड वैलज़ली का छोटा भाई आर्थर वैलज़ली था जिसने उस ज़माने में हिन्दुस्तान में भी कई लड़ाइयाँ जीती थीं। १८२८ ई० में यह इंग्लैंड का प्राइम मिनिस्टर भी था।

२. ब्लूशर—(१७४२–१८१९) प्रशिया का सेनापति। इसने फ़्रांस में कई बार नेपोलियन को हराया था। इसकी मदद के बिना वेलिंगटन के लिए वाटरलू का युद्ध जीतना असंभव था।

वह हार चुका था इसलिए उसके बहुत-से मददगारों ने उसके ख़िलाफ़ होकर अपनी जान बचानी चाही। अब लड़ना फिजूल था, और गृह-युद्ध का विचार उसे बिलकुल नापसन्द था। इसलिए उसने दुबारा राजगद्दी छोड़ दी और फ्रांस के बन्दरगाह में पड़े हुए एक अँग्रेजी जहाज़ पर जाकर उसके कप्तान को यह कहकर आत्मसमर्पण कर दिया कि वह शान्ति के साथ इंग्लैंड में बसना चाहता है।

लेकिन अगर वह इंग्लैंड या योरप से नम्र और शिष्ट बर्त्ताव की उम्मीद रखता था, तो यह उसकी भूल थी। ये उससे बहुत डरे हुए थे और एल्बा से उसके निकल भागने से उनको पूरा यक़ीन हो गया था कि उसे बहुत दूर और बड़ी हिफ़ाज़त के साथ रखा जाना जरूरी है। इसलिए उसके विरोध करने पर भी उसे क़ैदी घोषित कर दिया गया और कुछ साथियों के साथ दक्षिण अटलांटिक सागर के सुदूर टापू सेंट हेलेना में भेज दिया गया। वह योरप का क़ैदी समझा गया और कई राष्ट्रों ने सेंट हेलेना पर उसकी निगरानी रखने के लिए कमिश्नर भेजे। लेकिन असल में उस पर निगरानी रखने की पूरी जिम्मेदारी इंग्लैण्ड पर थी। सारी दुनिया से अलग उस सुदूर टापू में भी उसपर पहरा देने के लिए एक अच्छी-ख़ासी फ़ौज रक्खी गई। उस वक्त वहाँ के रूसी कमिश्नर काउन्ट बालबेन ने सेंट हेलेना की इस तनहा चट्टान के बारे में लिखा है कि यह "दुनिया की वह जगह है, जो सबसे ज्यादा अफ़सोसनाक, सबसे अलग, सबसे ज्यादा अगम्य यानी जहां आसानी से न पहुँचा जासके सबसे ज्यादा सुरक्षित, हमले के लिए सबसे ज्यादा मुश्किल और सबसे ज्यादा अकेली······है।" इस टापू का अंग्रेज़ गवर्नर एक बिलकुल गंवार और जंगली शख़्स था और वह नेपोलियन के साथ बड़ा बुरा बर्त्ताव करता था। उसे टापू के सबसे ख़राब आबहवा वाले हिस्से में, अस्तबल की तरह के एक मकान में, रक्खा गया और उसपर और उसके साथियों पर तरह-तरह की अपमानजनक पाबन्दियां लगादी गईं। कभी-कभी तो उसे खाने के लिए काफ़ी तौर पर अच्छा खाना भी नहीं मिलता था। उसे योरप में रहनेवाले दोस्तों से ख़त-किताबत नहीं करने दी जाती थी, यहाँ तक कि अपने छोटे से लड़के से भी नहीं, जिसे अपने अधिकार के दिनों में उसने रोम के बादशाह का ख़िताब दिया था। ख़त-किताबत तो क्या, उसके पुत्र की ख़बर तक उसके पास नहीं पहुँचने दी जाती थी। एक जर्मन वनस्पतिशास्त्री, जो सेन्ट हेलेना गया था, वियेना में नेपोलियन की स्त्री और पुत्र से मिल चुका था, लेकिन उसे नेपोलियन से नहीं मिलने दिया गया और उसका संदेसा तक न पहुँचाने दिया गया। नेपोलियन ने कहा था—"इन जंगलियों ने उसे मेरे पास आकर उनके समाचार देने से रोक दिया है।"

यह ताज्जुब की बात है कि नेपोलियन के साथ कैसा कमीना बर्त्ताव किया

गया। लेकिन सेंट हेलेना का गवर्नर तो सिर्फ़ अपनी सरकार के हाथ की कठपुतली था, और ऐसा मालूम होता है कि अँग्रेज़ सरकार की जानबूझकर यह नीति थी कि इस क़ैदी के साथ बुरा बर्त्ताव किया जाय और उसे नीचा दिखाया जाय। योरप के दूसरे राष्ट्र इससे सहमत थे। नेपोलियन की माँ, बुड्ढ़ी होने पर भी, सेंट हेलेना में अपने पुत्र के साथ रहना चाहती थी लेकिन इन बड़े-बड़े ताक़तवर राष्ट्रों ने कहा कि नहीं, ऐसा नहीं हो सकता! नेपोलियन के साथ जो बुरा बर्त्ताव किया गया वह उस आतंक का एक पैमाना है, जो अभी तक योरप में उसके नाम से फैला हुआ था। लेकिन उसके पर काट दिये गये थे और वह एक बहुत दूर के टापू में बेक़ाबू होकर पड़ा था।

साढ़े पांच साल तक उसने सेंट हेलेना में यह ज़िन्दा मौत बर्दाश्त की। छोटी-सी चट्टान सरीखे उस टापू में बन्द होकर और रोज़ कमीनी ज़िल्लतें उठाकर, ग़ैर-मामूली ताक़त और कल्पनावाले इस शख़्स ने जो मुसीबतें झेली होंगी, उनका ख़याल करना मुश्किल नहीं है। इन ज़िल्लतों के कारण वह बहुत-बहुत दिनों तक अपने घर में से बाहर तक न निकलता था। उसका ख़ास काम था पढ़ना और अपने संस्मरण लिखवाना, और उसे सबसे बड़ी ख़ुशी तब होती थी जब फ़्रांस से नई किताबों का कोई पार्सल आता। हममें से जिन लोगों ने जेल में महीनों और वर्षों काटे हैं, वे नेपोलियन की मुसीबतों को कुछ-कुछ समझ सकते हैं और यह भी महसूस कर सकते हैं कि ब्रिटिश सरकार अपने दुश्मनों और क़ैदियों के साथ बर्त्ताव करने के मामले में कितनी अनुदार, कमीनी और कठोर थी और अब भी है।

नेपोलियन को तरह-तरह से नीचा दिखाया जाता था और तंग किया जाता था। लेकिन फिर भी रूसी बालबेन ने सेंट हेलेना में आने के एक वर्ष बाद उसके बारे में जो कहा था, वह सुनने लायक है—"जिस वक्त से मैं यहाँ आया हूँ, उसी वक्त से जो बात मेरे दिल को लगी है, (हालाँकि ऐसा होना स्वाभाविक है) वह है, वह ज़बर्दस्त दबदबा जो पहरेदारों से, चट्टानों से, कगारों से घिरा हुआ यह शख़्स अभी तक लोगों के दिलों पर रखता है। सेंट हेलेना की हरेक चीज़ से इसका बड़प्पन ज़ाहिर होता है। फ़्रेंच लोग तो उसकी नज़र से कांपते हैं और सेवा करने में अपने आपको धन्य समझते हैं।"

नेपोलियन मई १८२१ ई० में मरा। मरने के बाद भी गवर्नर की नफ़रत ने उसका पिंड न छोड़ा और उसके लिए एक बहुत बुरी क़ब्र बनवाई गई। धीरे-धीरे नेपोलियन के साथ किये गये बुरे बर्त्ताव और ज़ुल्म की ख़बर जैसे ही योरप पहुँची (उन दिनों ख़बरें बहुत देर में पहुँचा करती थीं) वैसे ही उसके ख़िलाफ़ बहुत से

देशों में, जिनमें इंग्लैंड भी शामिल था, शोर मचा। इंग्लैंड का वैदेशिक मंत्री केसलरे, जो इस बुरे बर्त्ताव के लिए ख़ास तौर पर जिम्मेदार था, इस वजह से और अपनी सख़्त नीति के कारण बहुत बदनाम हो गया। उसे इस बात का इतना पछतावा हुआ कि वह ख़ुदकुशी करके मर गया।

बड़े और असाधारण व्यक्तियों के बारे में कुछ फ़ैसला देना मुश्किल है; और इस बात में कोई शक़ नहीं है कि नेपोलियन अपनी तरह का एक बड़ा और असाधारण आदमी था। वह क़रीब-क़रीब कुदरत की ताक़त की तरह एक मौलिक चीज़ था। विचारों और कल्पनाओं से भरा हुआ होने पर भी वह आदर्शों और निःस्वार्थ भावनाओं की क़ीमत बिलकुल नहीं जानता था। वह लोगों को कीर्त्ति और धन देकर वश करने और प्रभावित करने की कोशिश करता था। इसलिए जब उसके कीर्ति और अधिकार का भंडार खाली हो गया, तो उन्हीं लोगों को चिपका रखने के लिए कोई आदर्श भावनायें बाक़ी न रहीं। जिन लोगों को उसने बढ़ाया था, वे और बहुत से दूसरे उसे कमीनेपन के साथ दग़ा दे गये। उसकी निगाह में धर्म तो ग़रीबों और दुखियों को अपनी बुरी क़िस्मत से संतुष्ट रखने का ख़ाली एक तरीक़ा था। ईसाई मज़हब के बारे में उसने एक बार कहा था—"मैं ऐसे धर्म को कैसे मान सकता हूँ जो सुक़रात और अफ़लातून की निन्दा करता है।" जब वह मिस्र में था तो उसने इस्लाम की ओर कुछ पक्षपात दिखलाया था, इसलिए कि उसके ख़याल में शायद ऐसा करने से वहाँ के लोग उसे चाहने लगें। वह बिलकुल नास्तिक था लेकिन फिर भी धर्म को प्रोत्साहन देता था। क्योंकि वह इसे उस वक्त की सामाजिक हालत क़ायम रखने वाला आधार समझता था। वह कहता था—"धर्म कहता है कि स्वर्ग में सब बराबर होजाते हैं और यह भावना ग़रीबों को अमीरों की हत्या करने से रोकती है। धर्म का वही उपयोग है जो चेचक के टीके का। वह अद्भुत बातों की हमारी इच्छा को पूरी कर देता है और हमें नीम हकीमों से बचा देता है......। समाज संपत्ति की असमानता के बिना ज़िन्दा नहीं रह सकता। जो भूख से मर रहा है, लेकिन जिसका पड़ौसी लज़ीज़ दावत उड़ा रहा है, उसे ज़िन्दा रखने वाली एक तो स्वर्गीय शक्ति में श्रद्धा है और दूसरा यह विश्वास है कि परलोक में वस्तुओं का बटवारा दूसरे ही ढंग से होगा।" सुनते हैं, अपनी ताक़त के घमंड में उसने कहा था—"अगर आसमान गिरने लगे तो हम उसे अपनी भालों की नोक पर रोक लेंगे।"

उसमें महान व्यक्तियों की सी लोगों को अपनी तरफ़ खींचने की ताक़त थी और उसने बहुत से जांनिसार दोस्त पैदा कर लिये थे। अकबर की तरह उसकी निगाह में जादू था। एक बार उसने कहा था :—"मैंने तलवार बहुत कम खींची है।

मैंनें लड़ाइयाँ अपनी आंखों से जीती हैं, हथियारों से नहीं।" जिस आदमी ने सारे योरप को लड़ाइयों में डुबो दिया उसके मुँह से ये लफ्ज़ आश्चर्यजनक मालूम होते हैं, लेकिन फिर भी इनमें कुछ सचाई है। हालांकि वह अपने ज़माने का सबसे बड़ा सिपहसालार और सिपाही था, लेकिन वह अपने मक़सद को शान्ति के उपायों से हासिल करना हमेशा बेहतर समझता था। उसका कौल था कि ज़बरदस्ती करना कोई इलाज नहीं है और इन्सान की आत्मा तलवार से ज़ोरदार है। उसने कहा था:—"तुम जानते हो, मुझे सबसे ज्यादा ताज्जुब किस बात पर होता है ? इस बात पर कि हिंसापूर्ण शक्ति या ज़ोर-ज़बरदस्ती की ताक़त किसी भी चीज को संगठित करने के लिए कमज़ोर है। दुनिया में सिर्फ़ दो ही ताक़तें हैं: एक तो आत्मा और दूसरी तलवार । आख़िर में आत्मा हमेशा तलवार पर विजय प्राप्त करेगी।" लेकिन ये अख़ीर के दिन उसके लिए न थे। वह तो जल्दी में था, और अपनी ज़िन्दगी के शुरू में ही उसने तलवार का तरीक़ा चुन लिया था; तलवार से ही उसनें विजय पाई और तलवार ही उसके पतन का कारण हुई। फिर उसका कहना था:—"युद्ध इस ज़माने की चीज़ नहीं रही है; एक दिन ऐसा आवेगा कि बिना तोपों और तलवारों के विजय प्राप्त हो जाया करेगी।" परिस्थितियों ने उसे बेक़ाबू कर लिया था—उसकी छलाँग मारने वाली महात्वाकांक्षा, लड़ाइयाँ जीतने में मिलने वाली सुविधा, योरप के राजाओं की इस कल के छोकरे के लिए नफ़रत और इसका डर, इन सबनें उसे चैन से बैठने न दिया। लड़ाई में वह बडी बेपर्वाही के साथ लोगों की जानें झोंक देता था, लेकिन फिर भी लोगों की मुसीबतों को देखकर उसका दिल भर आता था।

व्यक्तिगत जीवन में वह बहुत सादा-मिज़ाज था और काम के सिवा किसी बात में ज्यादती नहीं करता था। उसकी राय में "कोई मनुष्य चाहे जितना कम खावे, वह हमेशा ज़रूरत से ज्यादा खाता है। ज्यादा भोजन करने से आदमी बीमार पड़ सकता है, कम खाने से कभी नहीं।" यही सादा जीवन था, जिसके कारण उसकी इतनी अच्छी तंदुरुस्ती थी और उसमें इतनी ज़बरदस्त ताक़त थी। वह जब चाहता और जितना कम चाहता सो सकता था। सुबह से लगातार तीसरे पहर तक घोडे पर सौ मील का सफर करलेना उसके लिए कोई ग़ैरमामूली बात न थी।

जैसे-जैसे उसकी महत्वाकांक्षा योरप को जीतती हुई आगे बढ़ती गई वैसे-वैसे वह यह समझने लगा कि योरप एक रियासत है, एक इकाई है, जहाँ एक क़ानून, और एक ही सरकार होनी चाहिए : "मैं सब राष्ट्रों को मिलाकर एक कर दूंगा।" बाद में सेंट हेलेना में निर्वासित किये जाने पर जब उसका दिमाग़ ठिकाने आया तो यह विचार फिर उसके हृदय में ज्यादा सही शक्ल में पैदा हुआ:—"कभी-न-कभी परिस्थितियों

के जोर से (योरप के राष्ट्रों का) यह मेल होगा। गाडी चल पडी है; और मुझे तो यह नजर आता है कि मेरे चलाये हुए हुकूमत के तरीक़े का ख़ातमा होने के बाद योरप में बराबरी क़ायम करने का अगर कोई तरीक़ा है तो वह एक राष्ट्रसंघ (लीग आफ़ नेशन्स) के जरिये से है।" सौ वर्ष से भी ज्यादा समय के बाद योरप अब भी अंधेरे में टटोल रहा है और राष्ट्र-संघ के बारे में प्रयोग कर रहा है।

उसने अपना अंतिम वसीयतनामा लिखा जिसमें अपने उस छोटे से पुत्र के नाम एक संदेश छोड़ा, जिसे वह रोम का बादशाह कहता था और जिसके समाचार तक भी बडी बेरहमी के साथ उसके पास पहुँचने से रोक दिये गये थे। उसे उम्मीद थी कि उसका पुत्र एक दिन राज करेगा इसलिए उसने उसे उपदेश दिया था कि वह शान्ति के साथ राज्य करे और बल का प्रयोग कभी न करे। "मैं योरप को हथियारों के जोर से काबू में करने को मजबूर हो गया था; लेकिन इस जमाने का तरीक़ा यह है कि समझा-बुझाकर विश्वास प्राप्त किया जाय।" लेकिन पुत्र की क़िस्मत में राज करना नहीं लिखा था। नेपोलियन की मृत्यु के ग्यारह वर्ष बाद वह जवानी की उम्र में ही वियेना में मर गया।

लेकिन ये सब विचार उसके दिमाग़ में अपने निर्वासन के दिनों में आये जब उसका दिल बहुत कुछ साफ़ हो गया था, या शायद उसने आगे के लोगों को अपने पक्ष में करने के लिए ऐसा लिखा हो। अपनी महानता के दिनों में वह इतना ज्यादा क्रियाशील व्यक्ति था कि वह दार्शनिक बन नहीं सकता था। वह तो शक्ति की वेदी पर उपासना करता था; उसे तो असली मुहब्बत सिर्फ ताक़त से थी, और वह उससे गंवारू तौर पर नहीं बल्कि एक कलाकार की तरह मुहब्बत करता था। उसने कहा था:—"मैं ताक़त से प्रेम करता हूँ, हाँ, प्रेम करता हूँ, उस तरह जसे एक कलाकार करता है। जैसे फिड्ल[१] बजाने वाला अपनी फिड्ल से करता है ताकि उसमें से राग, स्वर और लय पैदा करे।" लेकिन हद से ज्यादा ताक़त की तलाश ख़तरनाक होती है और जो शख़्स या क़ौम इसके पीछे पड़ती हैं उसका कभी न कभी नाश हो ही जाता है। बस नेपोलियन का भी ख़ातमा होगया, और यह अच्छा ही हुआ। सेंट हेलेना में उसने कहा था—"सारी ज़िन्दगी पर एक साथ विचार किया जाय तो मेरा जीवन कैसा सुन्दर गीत रहा है!"

इधर बोर्बन लोग फ़्रांस में राज कर रहे थे। लेकिन यह कहा जाता है कि इन पिछली घटनाओं से बोर्बन लोगों ने न तो कुछ नसीहत ली और न वे पुरानी बातों को भूले। नेपोलियन के मरने के नौ साल बाद फ्रांस उनसे तंग आगया और उसने उनका ख़ातमा कर

१. फिड्ल—सारंगी की तरह का एक बाजा जिसे वायोलीन भी कहते हैं।

दिया। एक दूसरे राजा का राज क़ायम हुआ, और नेपोलियन के प्रति अच्छे ख़यालात का इज़हार करने के लिए उसकी मूर्ति, जो वेन्दोम स्तम्भ के ऊपर से हटादी गई थी, फिर वहीं रखदी गई। नेपोलियन की दुखिया माता ने, जो बुढ़ापे में अन्धी होगई थी, कहा—"सम्राट एक बार फिर पेरिस में आगया है।"

: १०६ :

दुनिया पर एक नज़र

१९ नवम्बर, १९३२

इस तरह नेपोलियन दुनिया के रंगमंच पर से, जिस पर वह इतने दिनों से हावी हो रहा था, बिदा हुआ। इस बात को एक सदी से ज्यादा अर्सा हो चुका है, और बहुत-से बहसतलब प्रश्न ठंडे हो चुके हैं। लेकिन, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, नेपोलियन के बारे में अभी तक लोगों में बड़ा मतभेद है। अगर वह किसी दूसरे और ज्यादा शान्ति के ज़माने में पैदा हुआ होता तो एक साधारण सेनापति से ज्यादा उसकी शोहरत न हो पाती, और लोगों की नज़रों में आये बिना ही वह चल बसा होता। लेकिन क्रान्ति और परिवर्त्तन ने उसे आगे बढ़ने का मौक़ा दिया, और उसने भी इस मौक़े से पूरा फ़ायदा उठाया। उसके पतन और यूरोपीय राजनीति से उसके हट जाने से योरपवासियों को बडी शान्ति मिली होगी, क्योंकि वे लोग युद्ध से उकता गये थे। पूरी सदी भर यूरोपीय राष्ट्रों ने सच्ची शान्ति के दर्शन नहीं किये थे, और सभी उसके लिए उत्सुक थे। योरप के बादशाहों और राजाओं को, जोकि वर्षों से उसके नाम से काँप उठते थे, उसके चले जाने से जितनी राहत महसूस हुई होगी, उतनी शायद किसी को न हुई हो।

हमने फ़्रांस और योरप पर काफ़ी वक़्त लगा दिया और अब हम उन्नीसवीं सदी में काफ़ी दूर तक आगे बढ़ आये हैं। आओ, अब हम दुनिया पर एक सरसरी नज़र डालें और देखें कि नेपोलियन के पतन के समय उसका क्या हाल था।

तुम्हें याद होगा कि योरप में पुराने राजा लोग और उनके मन्त्री, वियेना की कांग्रेस में इकट्ठे हुए थे। जिस हौवे नेपोलियन के नाम से वे काँपते थे, वह दुनिया से बिदा हो चुका था, और अब ये लोग अपना वही पुराना खेल खेलने और लाखों आदमियों की क़िस्मतों का, अपनी मर्ज़ी के मुताबिक, फैसला कर डालने के लिए आज़ाद थे। न तो उन्हें इस बात का ही कुछ ख़याल था कि प्राकृतिक स्थिति और भाषा के मुताबिक किसी देश की सही हद क्या होनी चाहिए। रूस का ज़ार, इंग्लैंड का प्रति-

निधि केसलरे, आस्ट्रिया का प्रतिनिधि मेटरनिक और प्रशिया का शाह इस कांग्रेस की ख़ास या मुख्य शक्तियां थीं। और हां, चतुर, तेज़ बुद्धि वाला और लोकप्रिय टैलीरैण्ड भी, जो किसी वक़्त नेपोलियन का मंत्री रह चुका था, और अब फ्रांस के बोर्बन बादशाह का मंत्री था। इन लोगों ने नाच और दावत के बीच मिली हुई फ़ुरसत के समय योरप को फिर नई शकल में ढाल दिया।

बोर्बन लुई अठारहवाँ फिर फ्रांस की गद्दी पर थोप दिया गया। स्पेन में इन्क्विज़िशन की प्रथा फिर से जारी कर दी गई। वियेना की कांग्रेस में इकट्ठे हुए बादशाह प्रजातन्त्र को पसन्द नहीं करते थे, इसलिए उन्होंने हालैण्ड में प्रजातन्त्र को फिर से क़ायम नहीं होने दिया। इसके बजाय उन्होंने हालैंड और बेलजियम को मिलाकर निदरलैंड नाम का एक राज्य बना दिया। पोलैण्ड की फिर कोई अपनी अलग हस्ती न रही; एशिया, आस्ट्रिया और ख़ासकर रूस उसे हड़प गये। वेनिस और उत्तरी इटली आस्ट्रिया को मिल गये। स्वीज़रलैण्ड और रिवेरा के बीच का एक टुकड़ा फ्रांस का, और एक टुकड़ा इटली का मिलाकर सार्डीनिया की रियासत बना दी गई। मध्य योरप में एक अजीब और स्पष्ट-सी जर्मन संघ-शक्ति क़ायम हुई; लेकिन प्रशिया और आस्ट्रिया दो ख़ास ताक़तें बनी रहीं। इस तरह वियेना कांग्रेस के अक्लमन्दों ने यह नई व्यवस्था की, प्रजा को उसकी इच्छा के खिलाफ़ ज़बर्दस्ती इधर-उधर बाँट दिया, उसे उस भाषा को बोलने के लिए मजबूर किया, जो उसकी अपनी न थी, और इस तरह आगे आनेवाली मुसीबतों और लड़ाई के बीज बोये गये।

सन् १८१४-१५ की वियेना की कांग्रेस का ख़ास मतलब था बादशाहों का अपनी स्थिति को एकदम सुरक्षित बनाना। फ़्रांस की राज्यक्रान्ति से उन्हें अपनी जान का ख़तरा हो गया था, और इसलिए अब मौक़ा पाकर वे यह बेहूदा ख़याल बना बैठे कि हम इन नये क्रान्तिकारी विचारों का फैलना रोक सकेंगे। रूस के ज़ार, आस्ट्रिया के सम्राट और प्रशिया के शाह ने तो अपनी और दूसरे राजाओं की रक्षा के लिए 'पवित्र मित्र-मंडल' नाम का एक गुट्ट तक बना लिया था। बिलकुल ऐसा मालूम होने लगा कि मानों हम फिर चौदहवें और पन्द्रहवें लुई के जमाने में पहुँच गये हैं। सारे योरप में, यहाँ तक कि इंग्लैण्ड तक में, उदार विचारों को कुचला जाने लगा। योरप के उन्नत विचारों के लोगों को यह देख कर कितनी मायूसी हुई होगी कि फ़्रांस की राज्यक्रान्ति के समय की लोगों की तपस्या और उनका घोर कष्ट-सहन किस प्रकार फ़िज़ूल गया !

योरप के पूर्व में टर्की बहुत कमज़ोर हो गया था। वह धीरे-धीरे पतन की ओर जारहा था। वैसे कहने को तो मिस्र तुर्की साम्राज्य में था, लेकिन असल में वह

था अर्द्ध-स्वतंत्र । सन् १८२१ ई० में यूनान ने तुर्की शासन के ख़िलाफ़ बग़ावत की और आठ वर्ष तक लडने के बाद इंग्लैंड, फ़्रांस और रूस की मदद से अपनी आज़ादी हासिल करली । इसी युद्ध में अंग्रेज़ कवि बायरन यूनान की तरफ़ से एक स्वयं-सेवक की तरह युद्ध करता हुआ मारा गया था । उसने यूनान के बारे में कुछ बहुत ही सुन्दर कवितायें लिखी हैं, और शायद उनमें से कुछ तुम जानती भी हो ।

यहाँ मैं दो राजनैतिक परिवर्त्तनों का ज़िक्र कर दूँ, जो १८३० में योरप में हुए । बोर्बन बादशाहों के दमन और अत्याचारों से तंग आकर फ़्रांस ने उन्हें फिर गद्दी से निकाल बाहर किया । लेकिन प्रजातन्त्र की स्थापना के बजाय एक दूसरा राजा बिठा दिया गया । यह था लूई फ़िलिप, जिसका बरताव कुछ अच्छा था, और वह किसी हद तक एक वैध शासक (Constitutional King) की तरह रहा । वह सन् १८४८ तक किसी तरह राज्य करता रहा । उसी समय एक दूसरा और पहले से भी गम्भीर विस्फोट होगया । बेलजियम में भी सन् १८३० में विद्रोह हुआ । इसका नतीजा यह हुआ कि बेलजियम और हालैण्ड अलग-अलग हो गये । योरप की ख़ास-ख़ास ताक़तें प्रजातन्त्र प्रणाली की ज़बर्दस्त विरोधी थीं । इसलिए उन्होंने एक जर्मन राजकुमार को बेल-जियम की नज़र किया और उसे वहाँ का राजा बना दिया । एक और दूसरा जर्मन राजकुमार यूनान का बादशाह बना दिया गया । मालूम होता है कि जर्मनी की ढेर सारी रियासतों में ऐसे राजकुमारों की बहुतायत रहती थी, जो किसी गद्दी के ख़ाली होते ही उसे सुशोभित (!) करने के लिए मिल जाते थे ! तुम्हें याद होगा कि इंग्लैण्ड का मौजूदा राजवंश जर्मनी की ही एक छोटी सी रियासत हनोवर से आया हुआ है ।

सन् १८३० का वर्ष योरप के और दूसरी कई जगहों, जर्मनी और इटली और ख़ासकर पोलैण्ड के लिए बग़ावतों का वर्ष था । लेकिन राजाओं ने इन बग़ावतों को दबा दिया । पोलैण्ड में रूसियों ने बडी बेरहमी से दमन किया, यहाँ तक कि पोलिश भाषा का इस्तैमाल करना तक रोक दिया । १८३० का यह साल, एक तरह से, सन् १८४८ का पूर्वाभास यानी आगे आनेवाली बातों को पहले से सूचित कर देनेवाला था । जैसाकि आगे चलकर हम देखेंगे कि योरप में यह राज्यक्रान्ति का वर्ष था ।

इतना तो हुआ योरप के बारे में । अटलांटिक महासागर के उस पार संयुक्त राज्य अमेरिका धीरे-धीरे योरप की तरफ़ फैल रहा था । यहाँ यूरोपियन स्पर्द्धाओं और युद्धों से दूर रहने और अज़ाद होने के कारण, वह बडी तेज़ी से तरक़्क़ी करता हुआ योरप की प्रति-द्वन्दिता में आरहा था । लेकिन उधर दक्षिण अमेरिका में बडी तब्दीलियाँ होगईं । इनका अप्रत्यक्ष कारण था नेपोलियन । जब नेपोलियन ने स्पेन को

जीता और अपने एक भाई को वहां के तख़्त पर बिठाया, तो दक्षिण अमेरिका के स्पेनिश उपनिवेशों ने बग़ावत कर दी। इस तरह पुराने स्पेनिश राजवंश के प्रति अमेरिका के इन स्पेनिश उपनिवेशों की यह आश्चर्यजनक राजभक्ति ही थी, जिसके सहारे वे अपनी आज़ादी हासिल कर सके। लेकिन यह उस समय का एक कारण-मात्र होगया। चाहे कुछ देर बाद ही सही, लेकिन उपनिवेशों का स्पेन से सम्बन्ध-विच्छेद होता ज़रूर; क्योंकि दक्षिण अमेरिका में सब जगह स्वतन्त्रतावादी दल बढ़ रहा था। दक्षिण अमेरिका की स्वाधीनता का मशहूर नेता था साइमन बोलिवर जो 'देशोद्धारक' के नाम से मशहूर है। दक्षिण अमेरिका के बोलिविया प्रजातन्त्र का नाम भी उसीके नाम पर रखा गया है। इस तरह जब नेपोलियन का पतन हुआ तब स्पेनिश अमेरिका स्पेन से जुदा होकर अपनी आज़ादी के लिए लड़ रहा था। नेपोलियन के बिदा हो जाने से लड़ाई में कोई फ़र्क़ नहीं हुआ और दक्षिण अमेरिका वाले स्पेन के नये शासन के ख़िलाफ़ कई वर्षों तक लड़ते रहे। योरप के कुछ बादशाह अमेरिकन उपनिवेशों के क्रान्तिकारियों के दमन में अपने मित्र स्पेन के बादशाह की मदद करना चाहते थे। लेकिन संयुक्त राज्य ने इस तरह के हस्तक्षेप को बिलकुल रोक दिया। उस वक़्त मनरो संयुक्त राज्य के प्रेसीडेण्ट थे। उन्होंने यूरोपियन ताक़तों को साफ़ साफ़ कह दिया कि अगर उन्होंने उत्तर या दक्षिण, अमेरिका में किसी भी जगह दख़ल दिया तो उन्हें संयुक्त राज्य से लोहा लेना पड़ेगा। इस धमकी ने यूरोपियन ताक़तों को डरा दिया और तब से वे दक्षिण अमेरिका से थोड़े या बहुत अलग ही रही हैं। योरप को दी गई मनरो की यह धमकी 'मनरो सिद्धान्त' (Monro's Doctrine) के नाम से मशहूर है। इसने दक्षिण अमेरिका के नये प्रजातंत्रों की लालची योरप के पंजों से बहुत अर्से तक रक्षा की और उन्हें अपनी तरक़्क़ी का मौक़ा दिया। योरप से तो उनकी अच्छी तरह रक्षा हो गई, लेकिन ख़ुद रक्षक--संयुक्त राज्य--से उनकी हिफ़ाज़त करनेवाला कोई न था। आज उन पर संयुक्त राज्य की ही हुकूमत है, और छोटे-छोटे प्रजातंत्रों में से बहुत-से बिलकुल उसीकी मुट्ठी में हैं।

ब्राज़ील का विशाल देश पुर्त्तगाल का उपनिवेश था। स्पेन के अमेरिकन उपनिवेश जिस समय आज़ाद हुए क़रीब-क़रीब उसी समय यह भी स्वतन्त्र हो गया। इस तरह हम देखते हैं कि सन् १८३० के क़रीब सारा दक्षिण अमेरिका योरप के पंजे से मुक्त होगया। उत्तरी अमेरिका में अलबत्ता अंग्रेज़ों का कनाडा का उपनिवेश बदस्तूर था।

अब हम एशिया की तरफ़ आते हैं। इस समय अंग्रेज हिन्दुस्तान में निःसन्देह सबसे ज़बरदस्त ताक़त बन गये थे। जिस समय योरप में नेपोलियन के युद्धों का

घमासान चल रहा था, अंग्रेज़ों नें इधर अपनी स्थिति को ठोस बना लिया, यहाँ तक कि जावा पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। मैसूर का टीपू सुलतान हार गया था, और सन् १८१९ में मराठों की शक्ति भी बिलकुल उखाड़ फेंकी गई थी। हाँ, पंजाब में रणजीत-सिंह की अधीनता में एक सिख रियासत थी। सारे हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ धीरे-धीरे घुस और फैल रहे थे। पूर्व में आसाम हड़प लिया गया था, और अराकान—बरमा—भी अगला निवाला बनने ही वाला था।

जबकि इधर हिंदुस्तान में अंग्रेज़ बढ़ रहे थे, उधर मध्य एशिया में एक दूसरी यूरोपीय ताक़त, रूस, आगे बढ़ रही थी, और पूर्व में प्रशान्त महासागर और चीन तक तो वह पहुँच ही चुकी थी। अब यह मध्य एशिया की छोटी-छोटी रियासतों में चक्कर काटती हुई अफ़ग़ानिस्तान की सीमा तक पहुँच गई थी। हिन्दुस्तान के अंग्रेज़, इस रूसी दैत्य को अपने पास पहुँचते देख, इतने डर गये कि अपनी घबराहट में, बिना किसी बहाने के ही, अफ़ग़ानिस्तान से लड़ाई छेड़ बैठे। लेकिन इसमें उनको बुरी तरह मुंह की खानी पड़ी।

चीन पर मञ्चू लोगों का क़ब्ज़ा था। व्यापार और धर्म-प्रचार के नाम से आनेवाले विदेशियों की नीयत पर सन्देह करने के काफ़ी कारण होने की वजह से वे लोग इनके प्रवेश को रोकने की कोशिश कर रहे थे। लेकिन विदेशी लोग चीन के दरवाज़े पर हो-हुल्लड़ मचाते ही रहे, और ख़ासकर अफ़ीम के व्यापार को बढ़ावा देते रहे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी को ब्रिटिश चीन के व्यापार पर एकाधिकार मिला हुआ था। चीन सम्राट नें चीन में अफ़ीम का आना रोक दिया, लेकिन चोरी-छिपे उसका आना जारी रहा और विदेशी लोग इस तरह उसका ग़ैरक़ानूनी व्यापार करते रहे। इसका नतीजा यह हुआ कि इंग्लैण्ड से लड़ाई छिड़ गई, जिसे 'अफ़ीम का युद्ध' कहा जाता है, और आख़ीर में अंग्रेज़ों ने चीन के लोगों को अफ़ीम ख़रीदने के लिए मजबूर कर दिया।

बहुत दिन हुए, मैंने तुम्हें सन् १६३४ में जापान को बाहर वालों के सम्पर्क से अपने को अलग रखने का हाल सुनाया था। उन्नीसवीं सदी के शुरू तक में भी इस देश का दरवाज़ा विदेशियों के लिए बन्द था। लेकिन इसकी चहारदीवारी के अन्दर पुरानी शोगनशाही कमज़ोर हो रही थी और नई परिस्थितियाँ पैदा हो रही थीं, जिनके कारण पुरानी प्रथा का एकाएक ख़ातमा होने वाला था। दक्षिण-पूर्व एशिया के सुदूर दक्षिण में यूरोपीय शक्तियाँ मुल्कों को हड़प करती जा रही थीं। फिलीपाइन द्वीप-समूह पर अभीतक स्पेनवालों का क़ब्ज़ा बना हुआ था। पुर्त्तगाल वालों को अंग्रेज़ों और डचों ने खदेड़कर उसपर अपना क़ब्ज़ा कर रक्खा था। वियेना की

कांग्रेस के बाद डचों को जावा और दूसरे टापू वापस मिल गये। अंग्रेज सिंगापुर और मलाया प्रायद्वीप तक फैलते जा रहे थे। अनाम, स्याम और बरमा अभी तक आज़ाद थे, हालांकि वे मौक़े-मौक़े पर चीन को एक तरह का ख़िराज अदा करते थे। मोटे तौर से वाटरलू-युद्ध से १८३० तक के पन्द्रह वर्षों के बीच दुनिया की राजनैतिक अवस्था इस तरह की थी। योरप निश्चित रूप से दुनिया के मालिक के रूप में प्रकट हो रहा था, ख़ुद योरप में प्रतिक्रिया विजयी हो रही थी। शहंशाह और बादशाह लोगों, यहाँ तक कि इंग्लैंड की दकियानूसी पार्लमेण्ट तक, का यह ख़याल हो गया था कि उन्होंनें उदार विचारों को बिलकुल कुचल दिया है। उन्होंने इन विचारों को डिब्बे में बन्द कर रखने की कोशिश की। लेकिन वे नाकामयाब रहे, और वहाँ रह-रह कर विद्रोह होने लगे।

राजनैतिक परिवर्तनों ने इस सारे परदे पर क़ब्ज़ा-सा करलिया था। लेकिन फिर भी इनसे कहीं बढ़कर परिवर्त्तन हुए दौलत को पैदा करने और उसके बँटवारे और सफ़र के तरीक़ों में जिनकी शुरूआत इंग्लैंड की औद्योगिक क्रान्ति के साथ हुई। शान्त लेकिन बिना किसी रोक-टोक के यह क्रान्ति योरप और उत्तरी अमेरिका में फैल रही थी और करोडों मनुष्यों के विचारों और आदतों और जुदी-जुदी श्रेणियों के आपस के सम्बन्धों में परिवर्त्तन कर रही थी। मशीनों की खटाखट में से नये-नये विचार पैदा होते जा रहे थे और एक नई दुनिया तैयार हो रही थी। योरप ज्यादा-से-ज्यादा क़ाबिल, मुस्तैद और क़ातिल—ज्यादा-से-ज्यादा लोभी, साम्राज्यवादी और हृदयहीन बनता जा रहा था। नेपोलियन की स्पिरिट इसमें दख़ल कर गई मालूम होती थी। लेकिन ख़ुद योरप में ही ऐसे विचार पैदा हो रहे थे, जिनका भविष्य में साम्राज्यवाद से टक्कर लेना और उसे उखाड़ फेंकना निश्चित था।

अवश्य ही इस युग का अपना साहित्य, काव्य और संगीत भी है जिसपर लिखने को जी ललचाता है। लेकिन में अपनी क़लम को अब ज्यादा दौड़ने न दूंगा। आज के लिए इसनें काफ़ी काम कर लिया है।

: १०७ :

महायुद्ध से पहले के सौ वर्ष

२२ नवम्बर, १९३२

१८१४ में नेपोलियन का पतन हुआ, अगले वर्ष वह एल्बा से लौटा और फिर उसकी हार हुई; लेकिन उसका सारा ढर्रा १८१४ में ही ढह गया। इसके ठीक सौ

वर्ष बाद, १९१४ में महायुद्ध शुरू हुआ जो क़रीब-क़रीब सारी दुनिया में फैल गया और चार वर्षों के ज़माने में इसने भयंकर नुक़सान और महान् कष्ट पहुँचाया। सौ वर्ष के इस युग का हम कुछ विस्तार के साथ विचार करेंगे। इस युग के शुरू होते ही दुनिया की जैसी हालत थी, उसकी सरसरी चर्चा में तुमसे अपने पिछले पत्र में कर ही चुका हूँ। मैं समझता हूँ, अपने लिए यह मुनासिब होगा कि मुख़्तलिफ़ देशों में इस सदी के अलग-अलग हिस्सों की जाँच करने से पहले सारी सदी पर एक सरसरी निगाह डाल ली जाय। इस तरह शायद हमें इन सौ वर्षों की खास हलचलों का ज्यादा अच्छा ज्ञान हो जाय, और इस तरह हम पेड़ और पत्तियाँ सब देख सकें।

जैसा कि तुम देखोगी ही १८१४ से १९१४ तक के ये सौ वर्ष ज्यादातर उन्नीसवीं सदी में पडे हैं इसलिए हम इन वर्षों को उन्नीसवीं सदी का नाम दे सकते हैं, गोकि यह बिलकुल सही तो न होगा।

उन्नीसवीं सदी एक बड़ा ही लुभावना युग है। लेकिन हमारे लिए उसका अध्ययन भी कोई आसान काम नहीं है। यह एक विशाल दृश्य है, एक महान चित्र है, और चूंकि हम उसके इतने नजदीक हैं, इसलिए यह हमें इससे पहले की सदियों की बनिस्बत ज्यादा बडी और ज्यादा घनी मालूम होती है। जब हम इस सदी को गूँथने वाले उन हजारों धागों को सुलझाने की कोशिश में लगते हैं, तो इसकी यह विशालता और पेचीदगी कभी-कभी तो हमें घबड़ा देती है।

यह सदी मशीनों की आश्चर्यभरी तरक़्क़ी की सदी थी। औद्योगिक क्रान्ति अपने साथ-ही-साथ मशीनों की क्रान्ति लाई, और मशीनें मनुष्य के जीवन में ज्यादा-से-ज्यादा जरूरी हो गईं। जो कुछ मनुष्य पहले कर चुका था, उसका ज्यादातर इन मशीनों ने कर दिखाया, घिस-घिस की मेहनत से आदमियों को आराम मिला, प्राकृतिक तत्वों पर से उसकी निर्भरता कम हुई और मशीनों ने उसके लिए दौलत पैदा की। विज्ञान ने बहुत ज्यादा मदद दी और मुसाफ़िरी और आमदरफ़्त की रफ़्तार ज्यादा-ज्यादा तेज़ हुई। रेलगाडी आई और उसने किराया गाड़ियों—इक्के, ताँगों वग़ैरा की जगह ले ली; भाप से चलने वाले जहाज़ों ने मस्तूलों वाले जहाज़ों की जगह ले ली; उसके बाद समुद्र में चलने वाले लाइनर नामक ज़बर्दस्त और शानदार जहाज़ पैदा हुआ जो एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप तक तेज़ रफ़्तार और नियमितता के साथ चलने लगा। इस सदी के अखीर में आटोमोबाइल यानी एंजिन और तेल से चलनेवाली गाड़ियाँ आईं और मोटरकारें तमाम दुनिया में फैल गईं। और सबके बाद निकला हवाई जहाज़। इसी समय मनुष्य 'बिजली' नाम की एक नई और

आश्चर्य में डालनेवाली ताक़त पर क़ाबू कर उसका प्रयोग करने लगा और इससे तार और टेलीफ़ोन का जन्म हुआ। इन सब बातों से दुनिया में एक ज़बरदस्त तब्दीली आगई। और जैसे-जैसे आमद-रफ़्त के साधनों में बढ़ती और उन्नति होती गई और लोग ज़्यादा-से-ज़्यादा तेज़ी से सफ़र करने लगे वैसे-ही-वैसे ऐसा मालूम होने लगा मानों दुनिया सिकुड़कर बहुत छोटी-सी रह गई है। आज तो हमें इन सबकी आदत पड़ गई है। और इसलिए शायद ही कभी इसके बारे में सोचते हों। लेकिन ये सब सुधार और तब्दीलियाँ हमारे इस जगत् में नई हैं; वे सब पिछले सौ वर्षों में ही आई हैं।)

साथ ही यह सदी योरप की बढ़ती की, या यों कहो कि पश्चिमी योरप की, और ख़ासकर इंग्लैण्ड की, बढ़ती की सदी थी। उद्योगों और मशीनों की क्रान्तियाँ वहीं शुरू हुई और उन्नत हुईं, और उन्होंने पश्चिमी योरप को ख़ूब आगे बढ़ाया। समुद्री ताक़त और उद्योग-धन्धों में इंग्लैंड सबपर हावी था; लेकिन पश्चिमी योरप के दूसरे मुल्कों ने धीरे-धीरे इसे आ पकड़ा। मशीनों की इस नई सभ्यता के सहारे अमेरिका के संयुक्तराज्य भी आगे बढ़ निकले और रेलों ने उन्हें पश्चिम की तरफ़ प्रशान्त महासागर तक पहुँचा दिया, और इस तरह इस विशाल देश को एक राष्ट्र के रूप में संगठित कर दिया। ये अपनी ही समस्याओं और सीमा-विस्तार में इतने ज़्यादा मशगूल थे कि योरप तथा बाक़ी दुनिया की झंझटों की तरफ़ ज़्यादा ध्यान देने की उन्हें फ़ुरसत ही न थी। फिर भी योरप के किसी भी तरह के हस्तक्षेप का विरोध करने और उसे रोकने में वे काफ़ी मज़बूत थे। मनरो के सिद्धान्त ने, जिसके बारे में मैं तुम्हें अपने पिछले ख़त में लिख चुका हूँ, दक्षिण अमेरिका के प्रजातन्त्रों की लालची योरप से रक्षा करली। स्पेन और पुर्त्तगाल के लोगों ने इन प्रजातन्त्रों की नींव डाली थी, इसलिए ये लैटिन प्रजातन्त्र कहाते हैं। ये दोनों देश और इटली और किसी हद तक फ़्रांस लैटिन राष्ट्र कहलाते हैं। दूसरी तरफ़ योरप के उत्तरी देश टीटानिक हैं; इंग्लैण्ड टयूटनों की एंग्लो-सेक्सन शाखा है और संयुक्तराज्य अमेरिका के लोग मूलतः इसी एंग्लो-सेक्सन गिरोह से निकले थे। लेकिन बाद में सभी तरह के प्रवासी वहाँ जापहुँचे।

उद्योगों और मशीनों के लिहाज़ से बाक़ी दुनिया पिछडी हुई थी और पश्चिम की नई यान्त्रिक सभ्यता की बराबरी करने में असमर्थ थी। पुराने घरेलू-उद्योगों की बनिस्बत योरप के मशीन-उद्योग से माल कहीं ज़्यादा तेज़ी और भारी तादाद में पैदा होने लगा। लेकिन इस माल के तैयार करने के लिए कच्चे माल की ज़रूरत थी, जो ज़्यादातर पश्चिमी योरप में नहीं मिल सकता था। साथ ही जब माल तैयार होता था, तो उसे बेचना भी था, और इसलिए उसकी खपत के लिए मंडी का

होना भी जरूरी था। इसलिए पश्चिमी योरप-वासी ऐसे मुल्कों की तलाश करने लगे, जो उन्हें कच्चा माल दे सकें और उनका तैयार माल लेसकें। एशिया और अफ़रीका कमज़ोर मुल्क थे, इसलिए योरप उनपर भूखे भेड़िये की तरह टूट पड़ा। अपनी समुद्री ताक़त और उद्योग-धन्धों में आगे बढ़ा हुआ होनें के कारण इंग्लैण्ड साम्राज्य-प्राप्ति की दौड़ में सहज ही पहले नम्बर पर आगया।

तुम्हें याद होगा कि गरम मसाले और अपनी ज़रूरत की दूसरी चीजें ख़रीदने के लिए योरप वाले पहले-पहल हिन्दुस्तान और पूर्व-एशिया में पहुँचे थे। इस तरह पूर्व का सामान योरप में आया और साथ ही पूर्वी करघे से बना हुआ माल भी पश्चिम में पहुँचा। लेकिन बाद में, मशीन के तरक़्क़ी कर जाने से बात उल्टी हो गई। अब पश्चिमी योरप का सस्ता माल पूर्व में पहुँचने लगा और अंग्रेज़ी माल की बिक्री को प्रोत्साहन देने के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी नें जान-बूझकर हिन्दुस्तान के घरेलू उद्योग-धन्धों की हत्या कर डाली।

विशाल एशिया पर योरप जमकर बैठ गया। इस महाद्वीप के उत्तर में एक सिरे से दूसरे सिरे तक रूसी साम्राज्य पसर गया। दक्षिण में इंग्लैंड सबसे बडी नियामत—हिन्दुस्तान पर मज़बूत पंजा जमाये बैठा था। पश्चिम में तुर्क साम्राज्य तीन-तेरह हुआ जारहा था, और टर्की का हवाला 'योरप का मरीज़' कह कर दिया जाता था। नाममात्र के आज़ाद ईरान पर इंग्लैंड और रूस क़ब्ज़ा किये हुए थे। स्याम के एक छोटे से टुकडे को छोड़कर सारे दक्षिण-पूर्वी एशिया—बरमा, हिन्दी-चीन, मलाया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, फ़िलिपाइन वग़ैरा—को योरप निगल चुका था। सुदूर पूर्व में योरप की सभी ताक़तें चीन को कुतर रही थीं और उससे ज़बर्दस्ती रिआयतों पर रिआयतें ऐंठती जारही थीं। सिर्फ़ एक जापान तना हुआ डंटा रहा और बराबरी की हैसियत से योरप के मुक़ाबिले में अड़ा रहा। वह अपने एकान्त वास से बाहर निकल आया था और आश्चर्यजनक तेज़ी के साथ उसने अपने को नई परिस्थिति के अनुकूल बना लिया।

मिस्र के सिवा बाक़ी अफ़रीका बहुत पिछड़ा हुआ था। वह योरप का कुछ भी कारगर मुक़ाबिला नहीं कर सकता था, इसलिए योरप की ताक़तें साम्राज्य-वाद की अंधी दौड़ में इसपर टूट पडीं और इस विशाल महाद्वीप को टुकडे-टुकडे कर डाला। इंग्लैण्ड ने मिस्र पर क़ब्ज़ा कर लिया, क्योंकि वह हिन्दुस्तान के रास्ते में था, और उसके बाद से हिन्दुस्तान पर अपना क़ब्ज़ा जमाये रखने की इच्छा ब्रिटिश नीति पर हावी हो गई। १८६९ में स्वेज़ नहर खोली गई। इससे योरप से हिन्दुस्तान की यात्रा और भी नज़दीक हो गई; इस नहर के कारण इंग्लैण्ड के लिए

मिस्र का मूल्य और भी बढ़ गया, क्योंकि नहर के मामले में वह दख़ल दे ही सकता था और इस तरह उसके ज़ाहिरा हिन्दुस्तान के समुद्री मार्ग पर इंग्लैण्ड का कब्ज़ा जम गया। ✓

इस तरह, यान्त्रिक क्रान्ति के फलस्वरूप सारी दुनिया में पूंजीवादी सभ्यता फैल गई और सब जगह योरप हावी हो गया। इसलिए इस सदी को साम्राज्यवाद की सदी भी कह सकते हैं। लेकिन यह नया साम्राज्यवादी युग रोम और चीन, हिन्दुस्तान और अरब और मंगोलों के पुराने साम्राज्यवाद से बहुत ज्यादा भिन्न था। यह तो नये ढंग का साम्राज्य था, जो कच्चे माल और बाज़ारों का भूखा था। नया साम्राज्यवाद नये उद्योगवाद का बच्चा था। ऐसा कहा जाता था कि "झण्डे की ओट में व्यापार चलता है" और ज्यादातर बाइबिल अथवा धर्म-प्रचार की ओट में झण्डा आगे बढ़ रहा था। धर्म, विज्ञान, स्वदेश प्रेम, सभी का एक ही मकसद के लिए दुरुपयोग किया जा रहा था, और वह लक्ष्य था दुनिया की दुर्बल और औद्योगिक दृष्टि से और भी पिछडी हुई जातियों का शोषण करना, ताकि बडी-बडी मशीनों के स्वामी और उद्योग-धन्धों के मालिक ज्यादा-से-ज्यादा मालदार हो जायें। सत्य और प्रेम-प्रचार के नाम पर जाने वाला धर्म-प्रचारक उस देश में साम्राज्यवाद का पेशख़ीमा होता था, और अगर कहीं उसका बाल भी बांका हो जाता, तो उसके देशवासी इसीको वहाँ की ज़मीन हड़पने और ज़बर्दस्ती रिआयतें ऐंठने के लिए बहाना बना लेते थे।

उद्योग और सभ्यता के इस तरह पूंजीवादी ढांचे में ढाले जाने का लाज़िमी नतीजे के तौर पर इस साम्राज्यवाद का जन्म हुआ। पूँजीवाद ने ही राष्ट्रीयता की भावना को पैदा किया और गहरा बनाया, और इसलिए इस सदी को तुम राष्ट्रीयता की सदी भी कह सकती हो। इस राष्ट्रीयता का मतलब सिर्फ़ अपने देश का प्रेम नहीं था, बल्कि दूसरे सब मुल्कों से नफ़रत करना था। अपने ही ज़मीन के टुकडे—मुल्क की तारीफ़ के गीत गाने और दूसरों के मुल्कों को हिक़ारत से कुचल डालने की नीति के कारण दूसरे देशों में झगडों और मुसीबतों का बरपा होना लाज़मी ही था। योरप के जुदे-जुदे देशों की औद्योगिक और साम्राज्यिक होड़ ने हालत को और भी ख़राब बना दिया। सन् १८१४-१५ की वियेना की काँग्रेस ने योरप का जो नक़शा तय किया था, विद्वेष का वह एक और दूसरा कारण था। इस नक्शे के अनुसार कुछ जातियों को दबा दिया गया था और उन्हें ज़बर्दस्ती दूसरी जातियों की हुकूमत के नीचे रख दिया गया था। पोलैण्ड की एक राष्ट्रीयता ग़ायब हो गई थी। आस्ट्रिया-हंगरी ठोक-पीटकर बनाया हुआ एक साम्राज्य था, जिसमें सब तरह की जातियाँ भरी हुई थीं, और जो एक दूसरे से दिली नफ़रत रखती थीं। दक्षिण-पूर्व योरप के तुर्क-

साम्राज्य के बालकन प्रदेशों में बहुत-सी ग़ैर-तुर्क जातियाँ भरी हुई थीं। इटली टुकड़े-टुकड़े होकर बहुत सी रियासतों में बंटा हुआ था, और उसका एक समूचा हिस्सा आस्ट्रिया के अधीन था। योरप के इस नक़्शे को बदल डालने के लिए युद्धों और क्रान्ति के ज़रिये बार-बार कोशिशें की गईं। इनमें से कुछ का ज़िक्र मैंने अपने पिछले पत्र में किया है, जो वियेना के फ़ैसले के फ़ौरन ही बाद हुए थे। इस सदी के पिछले हिस्से में इटली ने अपने उत्तरी प्रदेशों से आस्ट्रिया की और मध्य भाग से पोप की सत्ता उखाड़ फेंकी और एक संगठित राष्ट्र बन गया। इसके थोड़े ही दिनों बाद प्रशिया की अध्यक्षता में जर्मनी का एकीकरण हुआ। फ्रांस को जर्मनी ने हराया और अपमानित किया और उसकी सरहद के दो प्रान्त आलसस और लारेन छीन लिये, और उसी दिन से फ़्रांस प्रतिहिंसा और बदले के सपने देखने लगा। पचास वर्ष के भीतर ही भीतर ख़ूंख़ार बदला लिया जाने वाला था।

अपने महान् नेतृत्त्व के साथ इंग्लैण्ड यूरोपीय देशों में सबसे अधिक भाग्यशाली था। सारी नियामतें उसे हासिल थीं, और उस समय जैसी भी स्थिति थी, उसीसे काफ़ी संतुष्ट था। हिन्दुस्तान नये ढंग के साम्राज्य का नमूना और ऐसा वैभवशाली देश था कि जिसके आर्थिक शोषण के परिणाम-स्वरूप सोने की एक नदी लगातार इंग्लैंड को बहती रहती थी। हिन्दुस्तान पर इंग्लैंड की इस हुकूमत को दूसरे सब भावी साम्राज्य-बनानेवाले ईर्षा की दृष्टि से देखते थे। हिन्दुस्तान के ढंग पर वे दूसरी जगहों में साम्राज्य क़ायम करने की तलाश करने लगे। फ्रांस वालों को किसी हद तक कामयाबी मिली; जर्मनी ज़रा देर से मैदान में आया, जबकि उनके लिए क़रीब-क़रीब कुछ भी नहीं बचा था। इस तरह दुनिया भर में इन यूरोपीय महाशक्तियों के बीच राजनैतिक खींचतान शुरू हो गई। हरेक ताक़त ज्यादा-से-ज्यादा मुल्कों को हड़प जाने की कोशिश में थी, और इसी उधेड़-बुन में लगी हुई एक ताक़त दूसरी ताक़त के मुक़ाबिले में आडटती थी। ख़ासतौर पर इंग्लैंड और रूस के बीच तो बराबर तना-तनी बनी रहती थी, क्योंकि इंग्लैंड को हिन्दुस्तान पर की अपनी सत्ता के ख़िलाफ़ मध्य एशिया की ओर से रूस का ख़तरा लगा रहता था। इसलिए इँग्लैंड हमेशा रूस को मात देने की कोशिश करता रहता था। उन्नीसवीं सदी के मध्यकाल में, जब रूस ने टर्की को हराकर कुस्तुन्तुनिया पर दाँत गड़ाने चाहे तो, इंग्लैंड टर्की की मदद के लिए मैदान में आ उतरा और रूस को पीछे खदेड़ दिया। टर्की से कोई ख़ास मुहब्बत होने के कारण इंग्लैंड ने ऐसा किया हो सो बात नहीं, बल्कि रूस का डर और हिन्दुस्तान से हाथ धो बैठने का अन्देशा ही इसकी असली वजह थी।

जर्मनी, फ़्रांस और संयुक्तराष्ट्र अमेरिका के धीरे-धीरे उसकी बराबरी में आगे

बढ़ आने के कारण इंग्लैंड का औद्योगिक नेतृत्व भी धीरे-धीरे कम होता गया। इस सदी के आखिरी दिनों में परिस्थितियां अपनी हदतक पहुँच चुकी थीं। योरप की इन ताक़तों की महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए दुनिया बहुत छोटी थी। हरेक शक्ति को एक दूसरी से डर, घृणा और ईर्षा थी, और इसी डर और घृणा ने उन्हें अपनी फ़ौजों और लड़ाकू जहाज़ों की तादाद बढ़ाने के लिए मजबूर किया। विनाश के इन साधनों के सम्बन्ध में बडी सरगरमी से होड़ शुरू हुई। दूसरे मुल्कों से मुक़ाबिला करने के लिए, जुदा-जुदा मुल्कों में, एक दूसरे से मित्रतायें होने लगीं, और अख़ीर में योरप में एक दूसरे के विरोधी दो तरह के मित्र राष्ट्र बन गये—एक का मुखिया था फ़्रांस, जिसके साथ इंग्लैंड भी गुप्त रूप से हो गया था, और दूसरे का मुखिया बना जर्मनी। योरप एक फ़ौजी छावनी बन गया था। उद्योग-धन्धों, व्यापार और शस्त्रास्त्रों में ज्यादा-से-ज्यादा भयंकर प्रतिद्वन्द्विता लगातार ज़ोर पकड़ती जा रही थी। हरेक पश्चिमी देश में धीरे-धीरे संकुचित राष्ट्रवादिता की भावना जमाई जा रही थी, ताकि जनता को गुमराह किया जासके और उसमें अपने दूसरे पडौसी देशवासियों के ख़िलाफ़ नफ़रत पैदा की जासके और इस तरह उसे युद्ध के लिए तैयार रक्खा जा सके।

इस तरह अन्धी राष्ट्रीयता योरप के सिर पर हावी होने लगी। आमद-रफ़्त के साधनों की तरक्क़ी जुदा-जुदा मुल्कों को एक-दूसरे के ज्यादा से ज्यादा नज़दीक ले आई थी और लोग भी ज्यादा तादाद में एक मुल्क से दूसरे मुल्क में जाने आने लगे थे। ऐसी हालत में इस तरह की अन्धी राष्ट्रीयता का बढ़ना ताज्जुब की बात मालूम होती है। ख़याल तो यह था कि जैसे-जैसे लोग अपने पडोसियों को ज्यादा ज्यादा पहचानते जायंगे, उनकी ग़लतफ़हमियां कम होती जायेंगी और तंग ख़यालों की जगह उनका दृष्टि-कोण व्यापक होता जायगा। किसी हद तक ऐसा हुआ भी, लेकिन इस नये औद्योगिक पूंजीवाद के मातहत समाज का समूचा ढांचा ही ऐसा था कि राष्ट्र-राष्ट्र, वर्ग-वर्ग और व्यक्ति-व्यक्ति में आपस में द्वेष शुरू होगया।

पूर्व में भी राष्ट्र-वादिता बढ़ी। यहाँ इसका स्वरूप हुआ उन विदेशियों का मुक़ाबिला करना, जो देश पर अधिकार जमाये हुए थे और उसका शोषण कर रहे थे। पहले-पहल पूर्वी देशों की सामन्त संस्थाओं ने विदेशी शासन का मुक़ाबिला किया, क्योंकि उन्हें अपनी सत्ता के छिन जाने का अन्देशा था। वे नाकामयाब हुईं, जो कि लाज़मी ही था। अब एक तरह की धार्मिक भाव में रंगी हुई राष्ट्रवादिता का उदय हुआ। धीरे-धीरे धर्म का यह रंग ग़ायब हो गया और पश्चिमी ढंग की राष्ट्रीयता का जन्म हुआ। जापान में विदेशी हुकूमत को टाला गया, और एक प्रचण्ड अर्द्ध-सामन्तीय राष्ट्रीयता को उत्तेजन दिया गया।

एशिया ने बहुत पुराने जमाने से ही यूरोपियन हमलों का मुक़ाबिला शुरू कर दिया था, लेकिन उसे जब यूरोपियन फ़ौजों के पास के नये हथियारों की ताक़त और उपयोगिता का पता चला, तो वह मुक़ाबिला बेमन का होगया। विज्ञान और मशीनों की तरक्क़ी ने इन यूरोपियन फौजों को पूर्व की उस समय की किसी भी शक्ति से कहीं ज्यादा ताक़तवर बना दिया। इसलिए पूर्वी देश उनके सामने अपने को बिलकुल बिना ताक़त के महसूस करने लगे और बड़ी निराशा के साथ उन्होंने योरप के सामने अपना सिर झुका दिया। कुछ लोगों का कहना है कि पूर्व अध्यात्मवादी है और पश्चिम भौतिकतावादी। इस प्रकार का कथन निरा एकदम भ्रम में डालनेवाला है। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में, जिस समय योरप आक्रमणकारी के रूप में आया उस समय पूर्व और पश्चिम का वास्तविक अन्तर था पूर्व का मध्यकालीन दक़ियानूसीपन और पश्चिम की औद्योगिक और यान्त्रिक यानी मशीन की प्रगति। हिन्दुस्तान और दूसरे पूर्वी देश शुरू-शुरू में योरप की न केवल सैनिक कुशलता से ही, बल्कि उसकी वैज्ञानिक और औद्योगिक उन्नति से भी चौंधिया गये थे। इस सबके परिणाम-स्वरूप वे अपने आपको फ़ौजी और औद्योगिक मामलों में नीचा महसूस करने लगे। लेकिन यह सब कुछ होते हुए भी राष्ट्रीयता की वृद्धि हुई और साथ ही विदेशी आक्रमण का विरोध करने और विदेशियों को निकाल बाहर करने की इच्छा भी बलवती हुई। बीसवीं सदी के शुरू में ही एक घटना ऐसी घटी जिसका एशिया के दिमाग़ पर बड़ा अच्छा असर पड़ा। यह घटना थी ज़ार के रूस का जापान द्वारा हराया जाना। छोटे से जापान ने योरप की एक सबसे बड़ी और सबसे ज़बर्दस्त ताक़त को हरा दिया, इस बात ने बहुत लोगों को अचम्भे में डाल दिया; और पूर्व के लिए यह आश्चर्यजनक घटना बेहद ख़ुशी देनेवाली थी। जापान को अब विदेशी हमलों के ख़िलाफ लड़ने वाले सारे एशिया के प्रतिनिधि के रूप में देखा जाने लगा, और उस समय के लिए सारे एशिया में लोकप्रिय बनगया। दरअसल जापान एशिया का ऐसा कुछ प्रतिनिधि नहीं था; वह तो योरप की किसी भी दूसरी शक्ति की तरह सिर्फ़ अपने ही स्वार्थ के लिए लड़ा था। फिर भी मुझे अच्छी तरह याद है कि जिस वक़्त जापान की जीत की ख़बर आती थी, तो उससे मुझमें कितना जोश भर जाता था। उस वक्त मैं तुम्हारी-सी ही उम्र का था।

इस तरह, जैसे-जैसे योरप का साम्राज्यवाद ज्यादा-ज्यादा आक्रमणकारी होता गया, उसी तरह पूर्व में इसका विरोध और मुक़ाबिला करने के लिए राष्ट्रीयता बढ़ती गई। पश्चिम में अरब राष्ट्रों से लेकर सुदूर पूर्व में मंगोलियन राष्ट्रों तक, तमाम एशिया में राष्ट्रीय आन्दोलनों ने जन्म लिया। शुरू में फूंक-फूंककर, हलके-हलके क़दम

बढ़ाये और फिर अपनी मांगों में ज्यादा-ज्यादा गरम होते गये। हिन्दुस्तान ने राष्ट्रीय महासभा—नेशनल कांग्रेस—की शुरूआत और उसके प्रारम्भिक वर्ष देखे हैं। एशिया का विद्रोह शुरू हो चुका था।

उन्नीसवीं सदी के हमारा बयान को अभी पूरा होने में बहुत देर है। लेकिन यह ख़त काफ़ी लम्बा होगया है और इसलिए अब इसे समाप्त करना चाहिए।

: १०८ :

उन्नीसवीं सदी की कुछ और बातें

२४ नवम्बर, १९३२

अपने पिछले ख़त में मैंने तुम्हें उन्नीसवीं सदी की कुछ ख़ास बातों का और बडी-बडी मशीनों का आविष्कार होने के बाद पश्चिमी योरप के सिर पर सवार औद्योगिक पूंजीवाद से पैदा हुई बहुत सी बातों का हाल बताया था। इन सब में पश्चिमी योरप आगे क्यों होगया, इसका एक कारण था उसके पास कोयले और कच्चे लोहे की खानों का होना। बडी-बडी मशीनों के बनाने और चलाने के लिए कोयला और लोहा निहायत जरूरी था।

जैसा कि हम देख चुके हैं, इस पूंजीवाद ने साम्राज्यवाद और राष्ट्रीयता को जन्म दिया। वैसे तो राष्ट्रीयता कोई नई चीज़ नहीं थी, यह पहले भी मौजूद थी लेकिन अब ज्यादा घनी और संकुचित होती गई। इसने एक ही साथ लोगों को एक सूत्र में बांधा भी और जुदा-जुदा भी किया; जो लोग एक ही राष्ट्रीय दायरे में रहते थे वे आपस में एक-दूसरे के ज्यादा-ज्यादा नज़दीक आगये, लेकिन साथ ही उन लोगों से और भी ज्यादा दूर और अलग होगये, जो दूसरे राष्ट्रीय दायरे में रहते थे। एक तरफ़ हरेक मुल्क में देशभक्ति की वृद्धि हुई, तो दूसरी तरफ़ उसके साथ ही विदेशियों के प्रति दुर्भाव और अविश्वास भी फैला। योरप में वहां के उद्योग-धन्धों में आगे बढ़े हुए देश एक दूसरे को शिकारी जानवरों की तरह घूर रहे थे। इंग्लैण्ड को लूट का माल सब से ज्याद मिल गया था, इसलिए वह स्वभावतः ही उससे चिपटे रहना चाहता था। लेकिन दूसरे मुल्कों, ख़ासकर जर्मनी, के ख़याल में इंग्लैण्ड को हर जगह जरूरत से ज्यादा मिला हुआ था। इसलिए कशमकश बढ़ी और अख़ीर में खुले युद्ध में तब्दील होगई। इसके सिवा और कोई दूसरा रास्ता ही न था। औद्योगिक पूंजीवाद का सारा संगठन और उससे उत्पन्न साम्राज्यवाद दुनिया को संघर्ष और लड़ाई-झगड़ों की तरफ़ ही ले जाते हैं। जन्म से ही उनमें

ऐसी परस्पर-विरोधी बातें मिली हुई हैं, जिनका आपस में कभी मेल हो नहीं सकता क्योंकि उनका आधार है लड़ाई, होड़ और आर्थिक शोषण। इस तरह पूर्व में ख़ुद साम्राज्यवाद की उपज राष्ट्रीयता ही उसकी कट्टर शत्रु बन गई।

लेकिन इन विरोधी बातों के बावजूद भी पूंजीवादी सभ्यता ने बहुत-से लाभ-दायक पाठ सिखाये। इसने संगठन का पाठ पढ़ाया, क्योंकि बडी-बडी मशीनों और व्यापक उद्योगों के चालू होने के पहले संगठन की बहुत ज्यादा ज़रूरत रहती है। इसने बडे-बडे कारबारों में सहयोग का पाठ सिखाया। इसने कार्य-संचालन की कुशलता और समय की पाबन्दी करना सिखाया। जबतक ये गुण न हों, तबतक बडे कारखाने या फैक्टरियाँ अथवा रेलें चलाना मुमकिन नहीं है। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि ये गुण पश्चिम के अपने ख़ास गुण हैं और पूर्व में ये नहीं पाये जाते। लेकिन इस बात में और भी बहुत-सी दूसरी बातों की तरह पूर्व और पश्चिम का कोई सवाल नहीं है। उद्योगवाद की वजह से इन गुणों का विकास हुआ है; और क्योंकि पश्चिम उद्योगवादी है, इसलिए उसे ये गुण प्राप्त हैं; जबकि पूर्व अब भी ज्यादातर कृषि-प्रधान है, उद्योग प्रधान नहीं, इसलिए इनसे महरूम है।

औद्योगिक पूंजीवाद ने एक और महान सेवा की। इसने दुनिया को यह सिखाया कि किस तरह बडी-बडी मशीनों, कोयले और भाप की मिली हुई ताक़त की की मदद से धन पैदा किया जा सकता है। इससे यह पुरानी आशंका भी मिट गई कि दुनिया में उसकी आवश्यकता की पूर्ति के साधन काफ़ी नहीं हैं और इस कारण बहुत बडी तादाद में लोगों को ग़रीब बना रहना पडेगा। विज्ञान और मशीन की मदद से दुनिया के प्राणियों के लिए काफ़ी खाना और कपड़ा और जीवन के लिए आवश्यक हरेक दूसरी चीज़ तैयार की जा सकती है। इस तरह चीज़ें पैदा करने की समस्या कम-से-कम सिद्धान्त रूप में तो, हल हो गई; और बस यहीं आकर ठहर गई। सम्पत्ति का उपार्जन तो बिलाशक कसरत से होने लगा, लेकिन फिर भी ग़रीब ग़रीब ही रहे, बल्कि और भी ज्यादा ग़रीब होगये। पूर्वी और अफ़रीकन देशों में यूरोपीय सत्ता एकदम नंगी और बडी बेहयाई से आर्थिक शोषण कर रही थी। बिचारे वहाँ के अभागे निवासियों की फ़िक्र करनेवाला कोई न था। लेकिन इतने पर भी पश्चिमी योरप में भी ग़रीबी बनी ही रही और ज्यादा-ज्यादा प्रत्यक्ष और व्यापक होती गई। कुछ समय के लिए तो बाक़ी दुनिया के शोषण से पश्चिमी योरप में ख़ूब दौलत आई। इस सम्पत्ति का अधिकांश उच्चवर्ग के धनिक लोगों के पास रहा; हां, उसका थोड़ा-सा हिस्सा निचुड़कर निम्न-ग़रीब वर्गों के पास भी पहुँच गया, और उनके रहन-सहन का ढंग कुछ ऊंचा होगया। वहाँ की आबादी भी बहुत ज्यादा बढ़ गई।

लेकिन सम्पत्ति की वृद्धि और रहन-सहन के ढंग की उन्नति हुई ज्यादातर एशिया, अफ़रीका और बिना उद्योग-धन्धों वाले देशों के रहनेवालों के रक्त-शोषण के बल पर ही। इस आर्थिक शोषण और सम्पत्ति के प्रवाह ने कुछ अर्से के लिए पूंजीवादी प्रणाली की परस्पर-विरोधी बातों को ढक दिया। इस तरह अमीर और ग़रीब के बीच का अन्तर बना ही रहा; इतना ही नहीं, यह अन्तर और ज्यादा बढ़ता गया। ये दोनों दो भिन्न जातियाँ, जुदा राष्ट्र बन गये। उन्नीसवीं सदी के एक महान अंग्रेज राजनीतिज्ञ और उपन्यासकार बेञ्जामिन डिसरैली ने इनका वर्णन इस तरह किया है—"ये दो जातियाँ, जिनके बीच कोई सम्पर्क नहीं है, कोई पारस्परिक सहानुभूति नहीं है, जो एक-दूसरे की आदतों, विचारों और भावनाओं से ऐसी अपरिचित हैं, मानों वे जुदा-जुदा दायरों में रहती हों अथवा जुदा-जुदा गृहों या नक्षत्रों के रहनेवाले हों; जो दूसरे तरह के पोषण से बनी हैं, जिनका पालन दूसरे तरह के भोजन से हुआ है, जिन पर जुदा-जुदा रिवाजों का असर पड़ता है, और जिनका शासन भी एक ही क़ानून से नहीं होता...............हां, ऐसी हैं ये दो जातियाँ—अमीर और ग़रीब !"

उद्योग-धन्धों की नई अवस्था बडी-बडी फैक्टरियों में बडी तादाद में कारीगरों को लाई, और इस तरह एक नई फैक्टरी के मजदूरों की श्रेणी का जन्म हुआ। ये लोग किसानों और खेत पर काम करनेवाले मजदूरों से कई तरह से जुदी तरह के थे। किसान को बहुत कुछ मौसम और वर्षा पर निर्भर रहना पड़ता है। ये बातें उसके वश में नहीं हैं, और इसलिए वह सोचने लगता है कि उसकी मुसीबत और ग़रीबी दैवी कारणों की वजह से है। वह अन्धविश्वासी हो जाता है, आर्थिक कारणों को भुला देता है, एक नीरस और मायूस जीवन बिताने लगता है, और अपने आपको एक ऐसे बेरहम भाग्य के भरोसे पर छोड़ देता है, जिसे वह बदल नहीं सकता। लेकिन फैक्टरी में काम करनेवाला मजदूर मशीन पर, इन्सान की बनाई हुई चीज पर, काम करता है; बिना किसी मौसम या बारिश की परवाह किये वह माल तैयार करता है; वह सम्पत्ति का उपार्जन करता है, लेकिन वह देखता है कि वह ज्यादातर दूसरों के पास चली जाती है और वह ग़रीब-का-ग़रीब ही बना रहता है। वह कुछ हदतक अर्थशास्त्र के चालू नियमों को भी देखता-समझता है, इस-लिए दैवी कारणों का ख़याल नहीं करता और किसान की तरह अन्ध या मिथ्या विश्वासी नहीं होता। अपनी ग़रीबी के लिए वह देवी-देवताओं को दोष नहीं देता; वह दोषी ठहराता है समाज या सामाजिक संगठन को, और ख़ासकर फ़ैक्टरी के पूंजीपति मालिक को, जो उसकी मेहनत के मुनाफे का इतना बड़ा भाग हजम कर जाता है। उसे वर्ग-चेतना या श्रेणी-ज्ञान हो जाता है; उसे कई तरह के वर्ग दिखाई

देने लगे हैं, और वह देखता है कि उच्च वर्ग उसके वर्ग का एक तरह से शिकार कर रहा है। इसका नतीजा होता है असन्तोष और विद्रोह। असन्तोष की शुरूआत अस्पष्ट और धीमी होती है; प्रारम्भिक विद्रोह अन्धे, विचार-हीन और कमज़ोर होते हैं और सरकार उन्हें तुरन्त ही कुचल देती है, क्योंकि वह भी तो सर्वथा फैक्टरियों और कारखानों को चलानेवाले मध्यमवर्ग के हितों की ही नुमाइन्दा है। लेकिन पेट की आग को ज्यादा दिनों तक दाबकर रक्खा नहीं जा सकता, और जल्द ही ग़रीब मज़दूर को अपने अन्य साथियों के साथ की एकता के रूप में शक्ति का एक नया स्रोत दिखाई देने लगता है। इसलिए मज़दूरों की रक्षा और उनके अधिकारों के लिए ट्रेड यूनियन या 'मज़दूर संघ' आदि संस्थायें जन्म लेती हैं। शुरू में ये संस्थायें गुप्त रहती हैं, क्योंकि सरकार मज़दूरों को आपस में संगठित भी नहीं होने देना चाहती। यह बात ज्यादा-ज्यादा साफ़ होती जाती है कि सरकार निश्चित रूप से वर्ग विशेष की सरकार है, और इस तरह से उसकी हिफ़ाज़त करने पर तुली रही है। क़ानून भी वर्ग-विशेष के क़ानून होते हैं। धीरे-धीरे मज़दूर ताक़त हासिल करते जाते हैं और उनकी संस्थायें—ट्रेड यूनियनें—ताक़तवर बनती जाती हैं। जुदा-जुदा क़िस्म के मज़दूर देखते हैं कि ज़बर्दस्त शोषक वर्ग के ख़िलाफ़ उनके हित असल में एक ही हैं। इसलिए जुदी-जुदी ट्रेड-यूनियनें आपस मे सहयोग कर लेती हैं और एक देश के फैक्टरी-मज़दूरों का एक संगठित समुदाय बन जाता है। इससे अगला क़दम है जुदे-जुदे मज़दूरों का आपस में मिल जाना, क्योंकि वे भी यह महसूस करते हैं कि उनके भी हित एक ही हैं और एक-समान ही शत्रु हैं। इस तरह 'दुनिया के मज़दूरो एक हो जाओ' की आवाज़ उठती है, और मज़दूरों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कायम होते हैं। इस बीच पूंजीवादी उद्योग भी आगे बढ़ता है और अन्तर्राष्ट्रीय शक्ल इख़्तियार करता है। इस तरह जहाँ कहीं भी औद्योगिक पूंजीवाद सिर उठाता है, वहीं मज़दूर पूंजीवाद का मुक़ाबिला करनें लगता है।

मैं बड़ी तेज़ी से आगे बढ़ गया हूँ और अब पीछे लौटना चाहिए। लेकिन यह उन्नीसवीं सदी की दुनिया, अक्सर एक-दूसरे की विरोधी बहुत-सी ऐसी प्रवृत्तियों का गिरोह है कि उन सब को नज़र में रखना बहुत मुश्किल है। मैं सोचता हूँ कि पूंजीवाद और साम्राज्यवाद, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता और अमीरी और ग़रीबी की इस अजीब मिलावट का आख़िर तुम क्या करोगी? लेकिन जीवन ख़ुद एक अजीब मेल है। जिस रूप में है, उसी में हमें इसे लेना होता है और तब इसे समझना होता है, और तब इसे सुधारना होता है।

इस बेमेल बातों के घालमेल ने योरप और अमेरिका के बहुत से लोगों को सोच

में डाल दिया। नेपोलियन के पतन के बाद, सदी की शुरूआत में, किसी भी यूरोपियन देश में आज़ादी नाममात्र को ही रह गई थी। कुछ देशों में तो बादशाहों का निरंकुश शासन था, और इंग्लैण्ड जैसे कुछ देशों में अमीर-उमरावों और धनिक वर्ग के एक छोटे-से गिरोह के हाथ में हुकूमत थी जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ। उदार भावनाओं को हर जगह कुचला जा रहा था लेकिन इतने पर भी अमेरिका और फ्रांस की राज्यक्रान्तियों ने लोगों को प्रजातन्त्र और राजनैतिक स्वतन्त्रता के विचारों का ज्ञान करा दिया था, और उदार विचार के लोग उनकी सराहना करते थे। अवश्य ही, प्रजातन्त्र ही राज्य और जनता की सब तरह की तकलीफ़ों और बुराइयों का एकमात्र इलाज समझा जाने लगा। प्रजातन्त्र का आदर्श यह था कि किसी के कोई विशेषाधिकार न होने चाहिएँ, राज्य हरेक व्यक्ति को राजनैतिक और सामाजिक दृष्टि से समान हैसियत का समझकर एकसा बर्ताव करे। अवश्य ही लोग कई बातों में एक-दूसरे से बहुत भिन्नता रखते हैं; कुछ लोग दूसरों की बनिस्बत ज्यादा मज़बूत होते हैं; कुछ ज्यादा बुद्धिमान और कुछ ज्यादा निःस्वार्थ होते हैं। लेकिन प्रजातन्त्र के पक्षपातियों का कहना था कि उनमें चाहे और कुछ भी अन्तर हो, मनुष्यों का राजनैतिक दर्जा एक ही रहना चाहिए, और इसे वह प्रत्येक व्यक्ति-- हरेक शख़्स को मताधिकार देकर क़ायम करना चाहते थे। ऊँचे विचारों के विचारकों और उदार मतवादी लोग प्रजातन्त्र के गुणों में बहुत ज्यादा विश्वास करते थे, और इसलिए उसे स्थापित करने के लिए वे सिर तोड़ कोशिश भी कर रहे थे। अनुदार और प्रतिगामी लोगों ने उनका विरोध किया, फलतः हर जगह ज़बर्दस्त संघर्ष शुरू हो गया। कुछ देशों में क्रान्तियाँ भी हो गईं। मताधिकार बढ़ाने, अर्थात् पार्लमेण्ट के सदस्यों के चुनने का अधिकार कुछ अधिक लोगों को दिये जाने से पहले इंग्लैण्ड में गृहयुद्ध छिड़ने ही वाला था। लेकिन धीरे-धीरे ज्यादातर जगहों पर प्रजातन्त्र की विजय हुई, और इस सदी के ख़ातमे तक पश्चिमी योरप और अमेरिका में अधिकांश लोगों को कम-से-कम मताधिकार तो मिल ही गया। प्रजातन्त्र उन्नीसवीं सदी का एक महान आदर्श रहा है, यहाँतक कि इस सदी को प्रजातन्त्र की सदी भी कहा जा सकता है। अख़ीर में प्रजातन्त्र की विजय हुई, लेकिन जब यह अधिकार मिला तो दूसरी तरफ़ लोगों का इसपर से विश्वास उठने लगा। ग़रीबी और मुसीबतों और पूँजीवादी प्रणाली की परस्पर-विरोधी बातों अथवा बुराइयों का ख़ातमा करने में उन्होंने इसे असफल होते पाया। उन्होंने सोचा कि भूख से पीड़ित मनुष्य को मताधिकार मिलने से क्या फ़ायदा हुआ, और उसे मिली हुई आज़ादी का क्या महत्त्व, अगर उसका मत या सेवायें एक समय के भोजन के मूल्य पर ख़रीदी जासकें?

इसलिए प्रजातन्त्र बदनाम हो गया, या यों कहना ठीक होगा कि राजनैतिक प्रजातन्त्र का पक्ष कमज़ोर होगया। लेकिन यह बात उन्नीसवीं सदी के दायरे से बाहर की है।

प्रजातन्त्र का सम्बन्ध आज़ादी के राजनैतिक स्वरूप के साथ था। एकतन्त्र अथवा दूसरे निरंकुश शासन के ख़िलाफ़ यह एक प्रतिक्रिया मात्र थी। उस समय की औद्योगिक समस्याओं का और ग़रीबी अथवा वर्ग-संघर्ष को रोकनें का इसने कोई ख़ास हल नहीं निकाला। इस आशा से कि व्यक्ति निजी हित की दृष्टि से अपने को हर तरह से सुधारने की कोशिश करेगा और इस तरह समाज उन्नत हो जायगा, इसने हरेक व्यक्ति को अपनी मरज़ी के मुताबिक़ काम करने की ख़याली आज़ादी दी। यह एक तरह से लेसे-फेयर (Laissez-Faire) का सिद्धान्त है, जिसके बारे में, मेरा ख़याल है कि अपने किसी पहले पत्र में, मैं तुम्हें लिख चुका हूँ। लेकिन ज़ाती आज़ादी का सिद्धान्त असफल रहा, क्योंकि जिस आदमी को उजरत पर काम करने के लिए मजबूर होना पड़ता हो, उसका आज़ाद रहना नामुमकिन बात है।

औद्योगिक पूंजीवाद में जो बडी भारी दिक्क़त सामने आई, वह यह थी कि जो लोग काम करते और इस तरह जाति या समाज की सेवा करते थे, उन्हें बहुत कम मज़दूरी मिलती थी; उन की गाढ़ी मेहनत का फ़ायदा मिलता था उन दूसरे लोगों को जो बिलकुल काम नहीं करते थे। इस तरह से परिश्रम से लाभ का या मेहनत से मेहनताने का सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया गया था। इसका नतीजा एक तरफ़ तो हुआ मेहनत करने वालों का पतन और ग़रीबी और दूसरी तरफ़ एक ऐसे वर्ग का निर्माण, जो उद्योग-धन्धे में किसी तरह का काम किये, या उसकी सम्पत्ति की वृद्धि में किसी तरह भी हाथ बढ़ाये बिना ही, उसपर निर्भर करता, या यों कहो कि उसके टुकडों पर पनपता था। इनमें पहले को किसान समझलो, जो खेत पर काम करता है, और दूसरे को ज़मींदार, जो ख़ुद खेत पर काम किये बिना ही किसानों की मेहनत का फ़ायदा उठाता है। परिश्रम के फल का यह बंटवारा बिलकुल अन्यायपूर्ण था, और इसलिए ख़ास बात यह हुई कि मज़दूरों ने, हमेशा कुचले हुए किसानों के स्वभाव के ख़िलाफ़, यह महसूस किया कि ऐसा होना अन्यायपूर्ण है, और इसलिए उन्होंने उसका विरोध किया, और जैसे-जैसे समय आगे बढ़ता गया, उनका यह विरोध ज़्यादा-से ज़्यादा अप्रिय रूप धारण करता गया। पश्चिम के सभी औद्योगिक देशों में ये भेदभाव साफ़ तौर पर नज़र आने लगे और विचारशील और उत्साही लोग इस उलझन को सुलझाने की कोशिश करने लगे। इस तरह वह विचार-धारा पैदा हुई, जिसे साम्यवाद कहा जाता है, और जो पूँजीवाद की ही उपज और साथ ही उसकी शत्रु है, और जो शायद उसको जड़ से उखाड़ करके ही रहेगी। इंग्लैण्ड में तो इसने मुनासिब से ज़्यादा

नरम रूप धारण किया, लेकिन फ्रांस और जर्मनी में यह ज्यादा क्रान्तिकारी था। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में उसके विस्तार के मुक़ाबिले में आबादी कम होने की वजह से तरक़्क़ी की काफ़ी गुँजाइश थी और इसलिए पूंजीवाद की कृपा से पश्चिमी योरप में अन्याय और क्लेश जिस हद तक बढ़ गये थे, उतने इस देश में एक अर्से तक दिखाई नहीं दिये।

उन्नीसवीं सदी के बीच में जर्मनी में एक शख़्स पैदा हुआ जो बाद में साम्य-वाद का पैग़म्बर और उसके उस रूप का जनक सिद्ध हुआ जो कम्यूनिज्म या साम्य-वाद कहलाता है। उसका नाम था कार्ल मार्क्स। वह कोई अस्पष्ट विचारों वाला फ़िलाफ़र अथवा तात्विक सिद्धान्तों की चर्चा करने वाला अध्यापक या प्रोफ़ेसर नहीं था। वह एक व्यावहारिक फ़िलासफ़र था और उसकी योजना थी विधान के नियमों के राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं को साबित करके दुनिया की मुसीबतों को दूर करने का उपाय खोज निकालना। उसका कहना था—"अब तक दर्शनशास्त्र का काम दुनिया को समझना मात्र रहा है, अब समाजवादी दर्शन का लक्ष्य होना चाहिए उसका—संसार का परिवर्त्तन।" एञ्जेल्स नाम के एक दूसरे शख़्स से मिलकर उसने 'कम्यूनिस्टिक मेनिफ़ेस्टो'—'साम्यवादी घोषणापत्र'—प्रकाशित किया, जिसमें उसके सिद्धान्तों की रूप-रेखा दी गई थी। बाद में उसने जर्मन भाषा में 'पूँजी' (Das Kapital) नाम का एक ग्रंथ लिखा, जिसमें उसने वैज्ञानिक ढंग से विश्व-इतिहस की आलोचना करते हुए यह बताया कि समाज किस दशा में क़दम बढ़ा रहा है और क्योंकर इस पद्धति का जल्दी-से-जल्दी ख़ातमा किया जासकता है। यहाँ मैं मार्क्स के सिद्धान्त समझाने की कोशिश नहीं करूँगा। लेकिन मैं तुम्हें यह जरूर याद कराना चाहता हूँ कि मार्क्स के इस महाग्रंथ का समाजवाद की उन्नति पर बड़ा जबरदस्त असर हुआ और आज भी यह समाजवादी रूस का धर्म-ग्रंथ हो रहा है।

दूसरी मशहूर किताब, जो इस सदी के बीच के क़रीब इंग्लैंड में प्रकाशित हुई, थी डर्विन की 'प्राणियों की उत्पत्ति' (Origin of Species)। डार्विन प्रकृति-वादी था, यानी वह प्रकृति और ख़ास वनस्पतियों और जीव-जन्तुओं के निरी-क्षण और अध्ययन में लगा रहता था। बहुत-से उदाहरणों की मदद से उसने यह बतलाया कि किस तरह वनस्पति और जीव-जन्तु प्रकृति में विकसित हुए, प्राकृतिक चुनाव की पद्धति से किस तरह जन्तुओं का एक वर्ग दूसरे में परिणत होगया और किस तरह सामान्य रूप धीरे-धीरे ज्यादा संयुक्त अथवा पेचीदा हो गये। इस तरह का वैज्ञानिक तर्क दुनिया के जीव-जन्तु और मनुष्य की सृष्टि के बारे में प्रचलित कुछ धार्मिक सिद्धान्तों के एकदम ख़िलाफ़ था। इसलिए इस समय वैज्ञानिकों और इन

धार्मिक सिद्धांतों के पक्षपातियों के बीच एक बड़ा बहस-मुबाहिसा उठ खड़ा हुआ। तथ्यों के सम्बन्ध में असली झगड़ा इतना नहीं था, जितना जीवन के साधारण दृष्टिकोण के सम्बन्ध में था। संकुचित धार्मिक दृष्टिकोण में भय जादू-टोना और मिथ्या विश्वास भरे हुए थे। तर्क अथवा दलील को आगे नहीं बढ़ने दिया जाता था, और लोगों को जो कुछ बताया जाता था, उसीमें विश्वास करने को कहा जाता था। उन्हें यह प्रश्न करने का अधिकार नहीं था कि ऐसा क्यों होता है। बहुत से विषय पवित्रता और धार्मिकता के गुप्त ढक्कन में ढंके रहते थे और उन्हें खोलने या छूने का किसी को अधिकार नहीं था। विज्ञान की पद्धति और स्पिरिट इससे बहुत जुदी थी। उसे तो हरेक चीज़ को खोज निकालने की जिज्ञासा रहती थी, वह अन्दाज़ के सहारे किसी बात को माननें के लिए तैयार नहीं था, न किसी विषय की ख़याली पवित्रता ही उसे डरा सकती थी। वह हरेक चीज़ की तह तक गोता लगाता था, मिथ्या विश्वासों को दूर भगाता था और सिर्फ़ ऐसी ही बातों में भरोसा करता था जो अनुभव अथवा तर्क से सिद्ध की जा सकती हों।

इस जड़ अथवा पथराई हुई धार्मिक भावना को विज्ञान की स्पिरिट ने लड़ाई में जीत लिया। ज्यादातर लोग जो इन विषयों पर, अठारहवीं सदी में, बहुत पहले से ही विचार करते रहते थे, अब तर्कवादी हो गये। तुम्हें याद होगा कि बडी क्रांति से पहले फ़्रांस में बहनेवाली दार्शनिक विचार-धारा का मैंने तुमसे जिक्र किया था। लेकिन अब समाज के अन्दर परिवर्त्तन और भी गहरी जड़ जमाता गया। औसत दर्जे के शिक्षित मनुष्य पर भी अब विज्ञान की तरक्क़ी का असर होने लगा। सम्भवतः न तो उसने इस विषय पर ही बहुत गहराई से विचार किया होगा, न विज्ञान के विषय में ही वह कुछ बहुत ज्यादा जानता था। लेकिन फिर भी वह अपने सामने होनेवाले आविष्कारों और खोजों की लीला से प्रभावित हुए बिना न रह सका। रेल, बिजली, तार, टेलीफ़ोन, ग्रामोफ़ोन और ऐसी ही बहुत-सी दूसरी चीज़ें एक-दूसरे के बाद आईं, और ये सब वैज्ञानिक शोध की ही उपज थीं। विज्ञान की विजय के रूप में उनका स्वागत हुआ। विज्ञान का उद्योग केवल मनुष्य की ज्ञानवृद्धि करने में ही नहीं हुआ बल्कि प्रकृति पर मनुष्य की सत्ता बढ़ाने में भी उसका उपयोग होने लगा। इसमें कोई ताज्जुब को बात नहीं कि विज्ञान की विजय हुई और मनुष्य जाति ने इस सर्व-शक्तिमान नये देवता के सामने भक्तिपूर्वक सिर झुका दिया। उन्नीसवीं सदी के वैज्ञानिक बहुत सन्तुष्ट, अपने विषयों में निःशंक और अपनी धारणाओं में बडे पक्के हो गये। आधी सदी हुई, तब से विज्ञान ने बडी ज़बर्दस्त तरक्क़ी करली है, लेकिन आज के वैज्ञानिक का दृष्टिकोण, उन्नीसवीं सदी के वैज्ञानिक के उस संतोष

और निःशंकता के दृष्टिकोण से बहुत जुदा है। आज एक सच्चा वैज्ञानिक महसूस करता है कि ज्ञान का महासागर विशाल और असीम है और हालाँकि वह इसे पार करने की कोशिश में है, फिर भी वह अपने पूर्वगामियों की अपेक्षा कहीं ज्यादा नम्र और संकोचशील है।

उन्नीसवीं सदी की दूसरी विशेषता थी योरप में सार्वजनिक शिक्षा की जबरदस्त तरक्की का होना। शासक वर्ग के बहुत-से लोगों ने इसका बडे जोरों से विरोध किया। उनका कहना था कि इससे जन-साधारण असन्तुष्ट, अराजक, अशिष्ट और ईसाई-धर्म से रहित या अधर्मी बन जायँगे। इसका मतलब यह हुआ कि ईसाई धर्म अज्ञान या जहालत में और धनिक और सत्ताधारियों की स्वेच्छा-पूर्वक आज्ञा-पालन या फ़रमाबरदारी करने में हैं। लेकिन इस विरोध के करते हुए भी प्राइमरी अर्थात् प्रारम्भिक स्कूल क़ायम हुए और सार्वजनिक शिक्षा का प्रचार हुआ। उन्नीसवीं सदी की दूसरी बहुत-सी विशेषताओं की तरह यह भी नये उद्योगवाद का ही एक परिणाम था। क्योंकि बडे-बडे कारख़ानों और मशीनों के लिए औद्योगिक कुशलता की जरूरत थी और यह केवल शिक्षा से ही आ सकती थी। इस युग के समाज को सब तरह के होशियार कारीगर और मजदूरों की बडी सख़्त जरूरत थी; उसकी यह जरूरत सार्वजनिक शिक्षा से पूरी हुई।

प्रारम्भिक शिक्षा के इस लम्बे-चौडे फैलाव ने पढ़े-लिखे समुदाय की एक बहुत बडी श्रेणी पैदा करदी। इनको शिक्षित कहना तो मुश्किल था, लेकिन वे पढ़-लिख सकते थे और इस तरह अख़बार पढ़ने की आदत चल पडी। सस्ते अख़बार निकले और आश्चर्य-भरी तादाद में उनका प्रचार हुआ। लोगों के दिमाग़ों पर इसका बड़ा जबर्दस्त असर पड़ने लगा। अक्सर ये लोगों को ग़लत रास्ते पर ले जाते और उनके जोश को पडौसी मुल्क के ख़िलाफ़ उभाड़ते रहते थे और इस तरह युद्ध छिड़वा देते थे। लेकिन कुछ भी हो, 'प्रेस' या 'अख़बार' एक प्रभावशाली शक्ति हो गई।

जो कुछ मैंने इस पत्र में लिखा है, उसका ज्यादातर हिस्सा योरप पर और ख़ासकर पश्चिमी योरप पर लागू होता है। किसी हद तक उत्तरी अमेरिका पर भी वह घटित होता है। दुनिया के बाक़ी हिस्से, यानी जापान को छोड़कर तमाम एशिया और अफ़रीका यूरोपीय नीति के शिकार बने हुए उसके मूक एजेण्ट मात्र थे। जैसा कि मैं कह चुका हूँ, उन्नीसवीं सदी योरप की सदी थी। सारा दृश्य योरपमय दिखाई देता था; योरप दुनिया के रंगमञ्च का केन्द्र बना हुआ था। पुराने जमाने में ऐसे भी लम्बे-लम्बे युग हो चुके हैं, जबकि योरप पर एशिया का प्रभुत्व था। ऐसे भी युग थे, जब मिस्र, इराक़, हिन्दुस्तान, चीन, यूनान अथवा रोम या अरब सभ्यता

और उन्नति के केन्द्र बने हुए थे। किन्तु पुरानी सभ्यतायें अपने आप ख़तम होगईं और पथरा गईं। परिवर्त्तन और उन्नति के जीवनदायक तत्त्वों ने उन्हें छोड़ दिया और जीवन-शक्ति अब दूसरे मुल्कों में बह निकली। अब योरप की बारी थी; और योरप इसलिए और भी ज्यादा हावी हो सका, क्योंकि आमद-रफ़्त के साधनों की तरक्क़ी ने दुनिया के हरेक हिस्से को सहूलियत और तेज़ी से पहुँच के नजदीक ला दिया था।

उन्नीसवीं सदी ने यूरोपियन सभ्यता को विकसित होते हुए देखा। इसे मध्यम-वर्गीय सभ्यता कहा जाता है, क्योंकि औद्योगिक पूंजीवाद से पैदा हुई मध्यमश्रेणी का ही इस पर प्रभुत्त्व था। मैं तुम्हें इस सभ्यता की बहुत-सी परस्पर विरोधी और नुकसानदेह बातें बतला चुका हूँ। हम हिन्दुस्तान और एशिया के निवासियों ने ख़ास-तौर पर इन बुराइयों को देखा और उनसे बहुत ज्यादा नुक़सान उठाया है। लेकिन कोई भी देश या जाति महानता को प्राप्त नहीं हो सकती, जबतक कि उसमें महानता का थोड़ा-बहुत माद्दा न हो। पश्चिमी योरप में वह माद्दा था। योरप की प्रतिष्ठा उसकी सैनिक शक्ति पर इतनी निर्भर नहीं थी, जितनी उन गुणों पर, जिन्होंने कि उसे महान बनाया। यहाँ सब जगह जीवन और चैतन्य और निर्माण शक्ति बहुतायत से साफ़ दिखाई दे रही थी। बडे-बडे कवि और लेखक, दार्शनिक और विज्ञान-वेत्ता, संगीतज्ञ और शिल्पी और कर्मवीर वहाँ पैदा हुए। और इसमें कोई शक नहीं कि इस समय पश्चिमी योरप में एक मामूली आदमी का भाग्य पहले किसी भी समय की अपेक्षा कहीं ज्यादा अच्छा था। राजधानियों के ख़ास शहर—लन्दन, पेरिस, बर्लिन, न्यूयार्क, ज्यादा से ज्यादा बडे होते गये; उनकी इमारतें ज्यादा-ज्यादा आलीशान होती गईं, ऐशोआराम बढ़ते गये और विज्ञान ने मनुष्य की मिहनत और घिस-घिस को कम करने और जीवन के सुख और आनन्द में वृद्धि करने वाले हज़ारों उपाय ढूंढ निकाले। ख़ुशहाल अथवा समृद्ध लोगों के जीवन में मधुरता और शिष्टता अथवा मिठास और तहज़ीब आ गई और उनमें एक तरह का सन्तोष, आत्म-विश्वास और सौजन्य पैदा होगया। यह एक सभ्यता की बिलकुल मीठी दुपहरी-सी मालूम होती है।

इस तरह उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्सों में योरप ख़ुशनुमा और ख़ुशहाल बन गया था, और कम-से-कम ऊपर से ऐसा मालूम होता था कि यह मधुर संस्कृति और सभ्यता क़ायम रहेगी और सफलता पर सफलता प्राप्त करती जायगी, लेकिन अगर तुम इसकी सतह के नीचे झांककर देखोगी, तो तुम्हें एक अजीब गोलमाल और बहुत-से नज़ारे दिखाई देंगे। क्योंकि, असल में यह समृद्ध संस्कृति योरप के ज्यादातर उच्च वर्गों के लिए ही बनी थी और बहुत से देशों और अनेक जातियों के शोषण

पर यह टिकी हुई थी। तुम्हें इसमें वे एक-दूसरे से विरोधी बातें, जिनका ज़िक्र मैंने तुमसे किया था और राष्ट्रीय घृणा और साम्राज्यवाद की भयानक और क्रूर शकलें दिखाई देंगी। तब तुम्हारा इस उन्नीसवीं सदी की सभ्यता के स्थायित्व या सौन्दर्य अथवा मोहकता में इतना विश्वास न रहेगा। इसका ऊपरी शरीर तो काफ़ी सुन्दर था लेकिन इसके दिल में एक नासूर हुआ था; इसके स्वास्थ्य और प्रगति की बातें तो बहुत लम्बी-चौडी होती थीं, लेकिन इस मध्यमवर्गीय सभ्यता के जीवन-तत्त्वों को पतन का कीड़ा अन्दर-ही-अन्दर कुरेदे जा रहा था।

सन् १९१४ ई० में महानाश आ ही गया। सवा चार वर्ष की लड़ाई के बाद योरप उसमें से बच ज़रूर निकला, लेकिन ऐसे भयंकर घावों के साथ जो अभी तक भरे या अच्छे नहीं हुए हैं। लेकिन इस सम्बन्ध में मैं तुम्हें फिर बताऊँगा।

अगर तुम सब्र रक्खो तो हरेक बात ख़तम हो जायगी। और इसलिए प्यारी इन्दु, नेपोलियन के पतन से महायुद्ध तक के सौ बरसों का यह विस्तृत अवलोकन पूरा होगया है, और उसकी आख़री लाइन लिखी जा रही है। तुम्हें यह जानकर सन्तोष करना चाहिए कि यह वर्णन ज्यादा लम्बा नहीं हुआ। मुझे इसके लिए अपने आप पर भी बहुत क़ाबू रखना पड़ा है!

: १०९ :

हिन्दुस्तान में युद्ध और विद्रोह

२७ नवम्बर, १९३२

हमनें उन्नीसवीं सदी का काफ़ी लम्बा हिस्सा देख लिया है। आओ, अब हम दुनिया के कुछ हिस्सों का और बारीकी से निरीक्षण करें। शुरू में हम हिन्दुस्तान को लेते हैं।

कुछ अर्से पहले मैंने तुम्हें बताया था कि अँग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान में किस तरह अपने प्रतिद्वन्द्वियों पर विजय पाई। नेपोलियन की लड़ाइयों के दिनों में फ़्रांस वाले यहाँ से जड़ से उखाड़ फेंके गये थे। दक्षिण के मराठों, मैसूर के टीपू सुल्तान और पंजाब के सिक्खों ने अँग्रेज़ों को कुछ अर्से के लिए आगे बढ़ने से रोक तो रक्खा लेकिन वे ज्यादा अर्से तक उनका मुक़ाबिला नहीं कर सके। अँग्रेज़ साफ़ तौर पर सब से ज्यादा मज़बूत और सब से ज्यादा मुस्तैद ताक़त थे। उनके हथियार बढ़िया थे, उनका संगठन बढ़िया था, और इन सबसे ज्यादा पीठ पर मदद के लिए उनके पास समुद्री ताक़त थी। अगर वे हार भी जाते, जैसा कि अक्सर होता था, तो भी

उन्हें जड़ से नहीं उखाड़ा जा सकता था, क्योंकि समुद्री रास्तों पर उनका अधिकार होने के कारण वे नई मदद मंगा सकते थे। लेकिन स्थानीय अर्थात् देशी ताक़तों के लिए हार का मतलब होता था पूरी तबाही, जिसका कोई इलाज नहीं हो सकता था। अंग्रेज़ सिर्फ़ ज्यादा मुस्तैद लड़ाके और अच्छी व्यवस्था शक्ति रखने वाले ही न थे, बल्कि अपने स्थानीय यानी हिन्दुस्तानी प्रतिद्वन्द्वियों से कहीं ज्यादा चालाक भी थे, और उनके आपसी विरोधों या झगडों से बराबर फ़ायदा उठाते रहते थे। इस तरह ब्रिटिश शक्ति लाज़िमी तौर से पैर फैलाती गई और सब प्रतिद्वन्द्वी, एक-एक करके, और अक्सर उसी दूसरे की मदद से जिसकी बारी उसके बाद ही आने वाली थी, पछाड़ दिये गये। यह एक ताज्जुब की बात है कि हिन्दुस्तान के ये सामन्त सरदार उस समय कैसे नादान और अदूरदर्शी थे। बाहरी दुश्मन के ख़िलाफ़ आपस में मिलकर एक हो जाने का उन्होंने कभी ख़याल तक नहीं किया। हरेक अकेले हाथों लड़ता था और हार जाता था, जोकि निश्चित ही था।

जैसे-जैसे अँग्रेज़ी सत्ता की ताक़त बढ़ती गई, वह ज्यादा-ज्यादा अत्याचारी औ ख़ूंख़्वार होती गई। वह बहाने से, या बिना किसी बहाने के ही, लड़ाई छेड़ने लगी। ऐसी बहुत-सी लड़ाइयाँ हुईं। उन सब का वर्णन देकर मैं तुम्हें उकताना नहीं चाहता: लड़ाइयां कोई दिलचस्प विषय नहीं हैं, और ज़रूरत से कहीं ज्यादा महत्त्व इनको इतिहास में दिया गया है। लेकिन मेरा चित्र अधूरा ही रह जायगा, अगर मैं उनके विषय में थोड़ा-बहुत भी न कहूँ।

मैसूर के हैदरअली और अँग्रेज़ों के बीच हुए दो युद्धों का हाल मैं तुम्हें पहले बता चुका हूँ। इनमें हैदरअली बहुत दूर तक कामयाब रहा। उसका लड़का टीपू सुलतान अंग्रेज़ों का कट्टर दुश्मन था। उसका ख़ातमा करने के लिए दो और लड़ाइयाँ, एक सन् १७९० से १७९२ तक और दुसरी १७९९ में हुई। टीपू लड़ता हुआ मारा गया। मैसूर शहर के पास अब भी तुम उसकी पुरानी राजधानी श्रीरंगपट्टम के खण्डहर देख सकती हो।

अब अँग्रेज़ों की सत्ता को ललकारने वाले अकेले मराठे रह गये। पश्चिम में पेशवा, इधर ग्वालियर के सिन्धिया और इन्दौर के होल्कर तथा कुछ और सरदार उनका मुक़ाबिला कर रहे थे। लेकिन ग्वालियर के महादजी सिन्धिया, और पेशवा के मंत्री नाना फड़नवीस इन दो राजनीतिज्ञों की मृत्यु के बाद, जो क्रमशः १७९४ और १८०० में हुई, मराठों की ताक़त टुकडे-टुकडे होगई। फिर भी मराठों ने बहुत-सी टक्करें लीं, और १८१९ की उनकी आख़िरी हार के पहले, उन्होंने अँग्रेज़ों को और कई बार हराया। मराठे सरदार अलग-अलग करके हराये गये; हरेक एक-दूसरे

को मदद न पहुँचाकर उसका पतन देखता रहा। सिन्धिया और होल्कर अंग्रेजों की मातहती क़बूल करके अधीन या रक्षित शासक बन गये। बडोदा के राजा ने तो इससे भी पहले विदेशी सत्ता के साथ समझौता कर लिया था।

मराठों का बयान ख़तम करने से पहले मैं एक नाम का और जिक्र कर देना चाहता हूँ, जो मध्य भारत में काफ़ी प्रसिद्धि पा चुका है। यह नाम है अहल्याबाई का, जो सन् १७६५ से १७९५ तक यानी तीस वर्ष तक, इन्दौर की शासिका थीं। जिस समय वह गद्दी पर बैठी, वह एक तीस वर्ष की नौजवान विधवा थी, और अपने राज्य के शासन में उसे भारी कामयाबी मिली। और हाँ, उसने कभी परदा नहीं किया। मराठों ने कभी परदे को माना भी नहीं। वह ख़ुद राज्य का कारोबार देखती थी, खुले दरबार में बैठती थी, और उसने इन्दौर को एक छोटे से गाँव से ऊँचा उठाकर एक समृद्ध शहर बना दिया। उसने लड़ाइयों को टलाया, शान्ति क़ायम रक्खी, और अपने राज्य को मालदार और ख़ुशहाल बनाया, और वह सब किया उस ज़माने में जबकि हिन्दुस्तान का ज्यादातर हिस्सा बग़ावत की सी हालत में था इसलिए यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि आज भी वह मध्य-भारत में एक सन्त या साध्वी की तरह मानी और पूजी जाती हो।

मराठों की आख़िरी लड़ाई से कुछ ही पहले, १८१४ से १८१६ तक, अंग्रेज़ों का नैपाल से एक युद्ध हुआ था। पहाडी इलाक़े में उन्हें बडी दिक्क़तें उठानी पडीं, लेकिन आख़िर में उनकी जीत हुई और देहरादून का यह ज़िला, जहाँ पर जेल में बैठा हुआ मैं यह पत्र लिख रहा हूँ, और कुमायूँ और नैनीताल अंग्रेज़ी हुकूमत में आगये। तुम्हें शायद याद होगा कि चीन के बारे में ख़त लिखते हुए मैंने तुम्हें बताया था कि किस अजीब तरीक़े से चीनी फ़ौज तिब्बत को पार करके हिमालय तक चली आई और गुरखों को उन्हींके घर नेपाल में हरा गई। यह घटना ब्रिटिश-नेपाल-युद्ध से सिर्फ़ बाइस बरस पहले की है। तब से नैपाल ने बाक़ायदा चीन की मातहती क़बूल करली। मुझे मालूम नहीं कि वह अब भी वैसा मानता है या नहीं। यह भी एक अजीब, बहुत ही पिछड़ा हुआ, बाक़ी दुनिया से बहुत कुछ अलग कटा हुआ और फिर भी खुशनुमा तरीके से बसा हुआ और क़ुदरती दौलत से भरा-पूरा देश है। कश्मीर और हैदराबाद की तरह यह मातहत या रक्षित राज्य नहीं है। यह स्वतन्त्र राज्य कहलाता है, लेकिन अंग्रेज़ इस बात की सावधानी रखते हैं कि इसकी स्वतन्त्रता सीमा के अन्दर ही रहे। वहाँ के बहादुर और जंगी लोग—गुरखे—हिन्दुस्तान की अंग्रेज़ी फ़ौज में भरती किये जाते हैं और हिन्दुस्तानियों को कुचलने और दबाये रखने के लिए काम में लाये जाते हैं।

पूर्व में बरमा ठेठ आसाम तक फैल गया था। इसलिए लगातार बढ़ते रहने वाले अंग्रेज़ों से उसकी मुठभेड़ होना लाज़िमी ही था। बरमा से तीन लड़ाइयाँ हुईं, जिनमें हरबार अंग्रेज़ उसका कोई-न-कोई इलाक़ा अपने राज्य में मिलाते गये। सन् १८२४-२६ में हुई पहली लड़ाई का नतीजा हुआ आसाम का अंग्रेज़ों की अधीनता में आना। १८५२ की दूसरी लड़ाई में दक्षिणी बरमा क़ब्ज़े में किया गया। उत्तरी बरमा मण्डाले की नज़दीकी अपनी राजधानी आवा समेत समुद्र से बिलकुल अलग कर दिया गया और दूर और खुश्की में अंग्रेज़ों की दया पर छोड़ दिया गया। १८८५ में, जबकि बरमा से तीसरी लड़ाई हुई, इसका भी ख़ातमा होगया और सारे देश पर अंग्रेज़ों ने अपना क़ब्ज़ा कर उसे ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया। लेकिन सिद्धान्त रूप में बरमा चीन का रक्षित राज्य था और बराबर चीन को ख़िराज भेजता रहता था। यह देखकर ताज्जुब होता है कि बरमा को साम्राज्य में शामिल करते समय अंग्रेज़ चीन को भेजे जाने वाले इस ख़िराज को जारी रखने के लिए रज़ामन्द होगये। इससे यह ज़ाहिर होता है कि १८८५ में भी चीनी ताक़त का क़ाफ़ी रोब उनपर ग़ालिब था, हलांकि बेचारा चीन अपनी ही अन्दरूनी मुसीबतों में ऐसा फँसा हुआ था कि वह अपने रक्षित राज्य बरमा पर हमला होते समय उसकी कुछ भी मदद न कर सका। अँग्रेज़ों ने १८८५ के बाद एक बार तो चीन को यह ख़िराज दिया; फिर बन्द कर दिया।

बरमा की लड़ाइयाँ हमें १८८५ तक ले आई हैं। मैं इन सबका वर्णन एक साथ करना चाहता था। लेकिन अब हमें दुबारा उत्तरी भारत की तरफ़ और इसी सदी के कुछ शुरू के हिस्से में जाना होगा। पंजाब में रणजीतसिंह के मातहत एक शक्ति-शाली सिख राज्य क़ायम हो गया था। सदी की ठीक शुरुआत में रणजीतसिंह अमृत-सर का हाकिम हुआ, और १८२७ के क़रीब तमाम पंजाब और कश्मीर का मालिक बन गया। १८३९ में उसकी मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के फ़ौरन ही बाद सिख रियासतें कमज़ोर हो गईं और टूटने लगीं। सिख लोग "मुसीबत में आदमी ऊँचा उठता है, और सफलता मिल जाने के बाद गिर जाता है" वाली पुरानी कहावत को चरितार्थ करते हैं। जबकि सिख शिकारी द्वारा पीछा किये जाने वाले अल्पसंख्यक दल के रूप में थे, तब पिछले मुग़ल बादशाहों के लिए उनको दबाना नामुमकिन हो रहा था। लेकिन राजनैतिक सफलता के मिलते ही उनकी सफलता की असली बुनियाद कम-ज़ोर पड़ती गई। सिख और अंग्रेज़ों के बीच दो लड़ाइयाँ हुई, पहली १८४५-४६ में, और दूसरी १८४८-४९ में। दूसरी लड़ाई में चिलियांवाला में अंग्रेज़ों की ज़बर्दस्त हार हुई। लेकिन आख़ीर में अंग्रेज़ पूरीतौर से विजयी हुए और पंजाब अंग्रेज़ी हुकूमत में

शामिल कर लिया गया। क्योंकि तुम कश्मीरी हो, इसलिए तुम्हें यह जानकर ताज्जुब होगा कि अंग्रेज़ों ने काश्मीर को गुलाबसिंह नामक जम्मू के एक राजा को पिचहत्तर लाख रुपये में बेच दिया। गुलाबसिंह के लिए यह ख़ासा सौदा था ! इस सौदे में बिचारे कश्मीरियों की तो कुछ पूछ थी ही नहीं। कश्मीर अब अंग्रेज़ों की एक रक्षित रियासत है। वहांके वर्त्तमान महाराजा इसी गुलाबसिंह के ख़ानदान के हैं।

पंजाब के उत्तर की ओर, बल्कि उत्तर-पश्चिम की ओर, अफ़ग़ानिस्तान था, और अफ़ग़ानिस्तान के नज़दीक़ ही दूसरी ओर को था रूस। मध्य एशिया में रूसी साम्राज्य के विस्तार ने अंग्रेज़ों का दिल दहला दिया। उन्हें डर था कि रूस कहीं हिन्दुस्तान पर हमला न कर बैठे। क़रीब-क़रीब सारी उन्नीसवीं सदी भर 'रूसी ख़तरे' की चर्चा रही। १८३९ के क़रीब हिन्दुस्तान के अंग्रेज़ों ने अफ़ग़ानिस्तान की ओर से उत्तेजना का रत्तीभर भी कारण मिले बिना ही, उस पर हमला कर दिया। उस ज़माने में अफ़ग़ानिस्तान का सरहद्दी इलाक़ा ब्रिटिश हिन्दुस्तान से दूर था, और पंजाब की स्वतन्त्र सिख रियासत बीच में पड़ती थी। लेकिन इसकी कुछ परवाह न कर, सिखों को अपना मित्र बनाकर अंग्रेज क़ाबुल पर जा चढ़े। लेकिन अफ़ग़ानों ने भी मार्के का बदला लिया। अफ़ग़ान बहुतेरी बातों में चाहे कितने ही पिछड़े हुए हों, लेकिन अपनी आज़ादी से उन्हें प्रेम है, और उसकी रक्षा के लिए वे अख़ीर दम तक लड़ने को तैयार रहते हैं। और इसीलिए अफ़ग़ानिस्तान किसी भी आक्रमणकारी विदेशी सेना के लिए हमेशा 'बर्रों का छत्ता' बना रहा है। हालांकि अंग्रेज़ों ने क़ाबुल और उस देश--अफ़ग़ानिस्तान--के कई हिस्सों पर क़ब्ज़ा कर लिया था, लेकिन फिर भी एकाएक चारों तरफ़ विद्रोह भड़क उठे, अंग्रेज वापस खदेड़ दिये गये और सारी-की-सारी अंग्रेज़ी फ़ौज तहस-नहस हो गई। बाद में इसका बदला लेने के लिए एक और ब्रिटिश हमला हुआ। अंग्रेज़ों ने क़ाबुल पर क़ब्ज़ा करके, शहर के प्रसिद्ध और सुरक्षित बाज़ार को बारूद से उड़ा दिया, और अंग्रेज़ी सिपाहियों ने शहर के कई हिस्सों में लूटमार कर के आग लगा दी। लेकिन अब यह साफ़ ज़ाहिर हो गया कि अंग्रेज़ों के लिए निरन्तर युद्ध किये बिना अफ़ग़ानिस्तान पर क़ब्ज़ा बनाये रखना सहज काम नहीं है। इसलिए वे वहां से रिटायर या अलग हो गए।

क़रीब चालीस वर्ष बाद, १८७८ ई० में अफ़ग़ानिस्तान के अमीर या शासक के रूस से दोस्ती करने के कारण अंग्रेज़ फिर घबराए। बहुत हद तक इतिहास की पुनरावृत्ति हुई। एक दूसरा युद्ध हुआ, अंग्रेज़ों ने इस देश पर हमला किया और उनकी जीत होती हुई दिखाई दे रही थी कि इतने ही में अफ़ग़ानों ने ब्रिटिश राजदूत और उसके दल को क़त्ल कर डाला और एक अंग्रेज़ी फौज़ को हरा दिया। अंग्रेजों ने इसका

थोड़ा-बहुत बदला ले लिया और फिर इस 'बर्र के छत्ते' से दूर हट गय। इसके बहुत वर्षों बाद तक अफ़गानिस्तान की अजीब स्थिति थी। अंग्रेज़ उसके अमीर को किसी दूसरी विदेशी ताक़त के साथ सीधा सम्बन्ध तो रखने नहीं देते थे, लेकिन साथ ही उसे हर साल बहुत बडी तादाद में रुपया भी देते थे। तेरह वर्ष हुए, १९१९ में, अफ़ग़ानों से तीसरी लड़ाई हुई, जिसके परिणाम-स्वरूप अफ़ग़ानिस्तान पूरी तरह आज़ाद हो गया। लेकिन जिस ज़माने की हम इस समय चर्चा कर रहे हैं, यह बात उसकी हद के बाहर की है।

और भी छोटी-छोटी लड़ाइयाँ हुईं। इनमें से एक, ख़ासतौर पर बेहयाई की लड़ाई, १८४३ में सिन्ध पर लादी गई। वहां के ब्रिटिश एजेण्टों ने सिन्धियों को ख़ूब सताया और झगड़ा मोल लेने के लिए उकसाया और बाद में उन्हें कुचल कर प्रान्त को अपने राज्य में मिला लिया। लगे हाथों इस कारगुज़ारी के बदले में अंग्रेज़ी अफ़सरों को ऊपरी मुनाफ़े के तौर पर इनाम में रुपया भी बांटा गया। एजेण्ट सर चार्ल्स नेपियर के हिस्से की रक़म थी क़रीब सात लाख़ रुपये। ऐसी हालत में यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि उस युग के हिन्दुस्तान पर सिद्धान्तहीन और साहसी अंग्रेज़ों की लार टपकती थी।

१८५६ में अवध भी हिन्दुस्तान के अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिया गया। इस समय अवध के शासन की दशा बहुत भयंकर थी। कुछ समय पहले तक यहाँ का शासन नवाब-वज़ीर कहे जाने वाले लोगों के हाथों में था। मूलतः दिल्ली का मुग़ल बादशाह अवध के अपने गवर्नर की तरह नवाब-वज़ीर की नियुक्ति करता था। लेकिन मुग़ल साम्राज्य के पतन के बाद अवध स्वतन्त्र हो गया। पर उसकी स्वतन्त्रता ज्यादा दिन नहीं रही। पिछले नवाब-वज़ीर बिलकुल नाक़ाबिल और बदचलन थे, और अगर वे कुछ भलाई करना भी चाहते थे, तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी की दस्तन्दाज़ी की वजह से कर नहीं सकते थे। उनमें तो कोई असली ताक़त बची नहीं थी, और अंग्रेज़ों को अवध के अन्दरूनी शासन में कोई दिलचस्पी न थी। इस तरह अवध बरबाद हुआ, और, लाज़मीतौर पर, अख़ीर में, अंग्रेज़ी राज्य का हिस्सा बन गया।

युद्धों और राज्य-विस्तार के सम्बन्ध में मैं काफ़ी ही नहीं, शायद काफ़ी से भी ज्यादा कह चुका हूँ। लेकिन ये सब उस चलते हुए महान चक्र के ऊपरी संकेतमात्र थे, जोकि आगे भी लाज़मी तौर पर चलता रहने वाला था। अंग्रेज़ जिस समय हिन्दुस्तान में आए, यहाँ का पुराना आर्थिक संगठन टूट चुका था। सामन्त-प्रथा टूटने-फूटने लगी थी। यदि उस समय विदेशी लोग—अंग्रेज़ न भी आते, तो भी सामन्त-प्रथा इस देश में ज्यादा वक़्त टिकने वाली न थी। योरप की तरह यहाँ भी धीरे-धीरे कोई

ऐसी व्यवस्था इसका स्थान ले लेती, जिसमें नवीन उत्पादक वर्गों के हाथों में ज्यादा सत्ता होती। लेकिन इस परिवर्तन के होने से पहले ही, जबकि दरार पडी थी, अंग्रेज आ पहुँचे और बिना किसी खास दिक़्क़त के दरारों के बीच घुस पडे। हिन्दुस्तान में जिन राजाओं से वे लडे और उन्हें हराया, वे बीते और अस्त होते हुए जमाने की चीजें थीं। उनके सामने कोई वास्तविक भविष्य नहीं था। इस तरह इन हालतों में, अंग्रेजों का सफल होना लाजिमी ही था। उन्होंने हिन्दुस्तान में सामन्त-वर्ग का तेजी से खातमा कर दिया, लेकिन ताज्जुब की बात यह है कि, जैसा कि हम बाद में देखेंगे, उन्होंने ऊपरी तौर से इसे बनाये रखने या सहारा देने की कोशिश की और इस तरह हिन्दुस्तान को नये दौर की तरफ़ बढ़ने में रुकावटें डालीं।

इस तरह अंग्रेज हिन्दुस्तान में एक ऐसे ऐतिहासिक दौर के लाने का कारण बन गये, जिसने कि सामन्त राजाओं द्वारा शासित हिन्दुस्तान को नये ढंग के औद्योगिक पूँजीवादी राज्य में बदल दिया। ख़ुद अंग्रेजों ने इस बात को नहीं समझाया, और निःसन्देह वे सब अनेक राजा लोग भी जो इनसे लडे थे, इस विषय में कुछ नहीं जानते थे। काल के गाल में पड़ा हुआ कोई भी समाज या वर्ग समय के इशारों को शायद ही पहचानता हो, शायद ही कभी यह समझता हो कि उसका अपना काम और मक़सद पूरा हो चुका है, और इसलिए सर्वशक्तिमान घटनाचक्र द्वारा बेइज्जती से खदेडे जाने के पहले ही उसे वहाँ से हट जाना चाहिए। वह इतिहास की शिक्षा को शायद ही कभी समझता है, और शायद ही कभी इस बात को महसूस करता है कि दुनिया उसे, किसी के शब्दों में, 'इतिहास की रद्दी की टोकरी' में छोड़ती हुई आगे धावा बोलती जा रही है। इसी तरह हिन्दुस्तानी सामन्त वर्ग ने इन सब बातों को नहीं पहचाना और व्यर्थ ही अंग्रेजों के ख़िलाफ़ लड़ते रहे। इसी तरह आज अंग्रेज लोग हिन्दुस्तान और पूर्व के दूसरे देशों में यह महसूस करते हैं कि उनके दिन बीत चुके हैं, उनके साम्राज्य के दिन बीत चुके हैं, और दुनिया ब्रिटिश साम्राज्य को बेरहमी के साथ इतिहास की रद्दी की टोकरी में धकेलती हुई आगे बढ़ती जा रही है।

लेकिन हिन्दुस्तान में फैले हुए सामन्त-वर्ग ने उस वक़्त, जबकि अंग्रेज हिन्दुस्तान में पैर पसार रहे थे, एक बार फिर आजादी प्राप्त करने और विदेशियों को निकाल बाहर करने का अन्तिम प्रयत्न किया। यह था १८५७ का बलवा या ग़दर। देश भर में अंग्रेजों के ख़िलाफ़ बड़ा असन्तोष और रोष था। कुछ दूसरे छुटपुट कामों के सिवा ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ख़ास नीति थी हर तरह रुपया बटोरना। उसकी इस नीति और इसके साथ ही उसके अनेक अफसरों की मूर्खता और लालच ने मिलकर चारों तरफ़ घोर तबाही मचा दी। यहाँ तक कि अंग्रेजों की हिन्दुस्तानी फ़ौज

पर भी इसका असर पड़ा और उसमें कई छोटी-मोटी बग़ावतें हुईं। कई सामन्त सरदार और उनके वंशज स्वभावतः ही अपने इस नये मालिक के कट्टर ख़िलाफ़ थे। इसलिए गुप्तरूप से एक ज़बरदस्त विद्रोह संगठित किया गया। यह संगठन ख़ासतौर से संयुक्त प्रांत और मध्य भारत के चारों ओर फैल गया था, लेकिन फिर भी हिन्दुस्तान के अंग्रेज़ हिन्दुस्तानियों के कार्यों और विचारों की ओर से इतने अन्धे रहते हैं कि उस समय तक सरकार को संगठन का संकेत या इशारा तक नहीं मिला। ज़ाहिरा तौर पर कई जगहों पर एक ही साथ ग़दर छिड़ने की एक तारीख़ मुक़र्रर की गई थी। लेकिन मेरठ की हिन्दुस्तानी फ़ौज की कुछ टुकड़ियों ने जल्दी ही बहुत आगे बढ़कर १० मई १८५७ को ग़दर शुरू कर दिया। इस समय से पहले ही होने वाले विस्फोट ने विद्रोह के नेताओं के कार्यक्रम को अस्तव्यस्त कर दिया क्योंकि इसने सरकार को चौकन्ना और होशियार कर दिया। विद्रोह संयुक्त प्रान्त और दिल्ली में हर जगह और मध्यभारत और बरार के भी कुछ हिस्सों में फैल गया। यह सिर्फ़ फ़ौजी बलवा ही नहीं था, बल्कि इन प्रदेशों में अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ एक व्यापक सार्वजनिक विद्रोह था। महान् मुग़ल सम्राटों के अन्तिम वंशज कवि और कमज़ोर बूढ़े बहादुर शाह को कुछ लोगों ने सम्राट् घोषित कर दिया। यह विद्रोह बढ़कर घृणित विदेशी शत्रु के ख़िलाफ़ भारतीय स्वाधीनता के युद्ध में परिणत हो गया, लेकिन यह स्वाधीनता उसी पुराने सामाजिक ढंग की थी, जिसके मुखिया वही एकतन्त्री सम्राट् होते थे। साधारण जनता के लिए इसमें कोई आज़ादी न थी। लेकिन चूँकि वह अंग्रेज़ों के आगमन को ही अपनी तबाही और ग़रीबी का कारण समझती थी, और कई जगह पर बड़े-बड़े ज़मींदारों का प्रभाव होने के कारण वह बहुत बड़ी तादाद में शामिल हो गई। धार्मिक द्वेष ने भी उसे भड़कने का मौक़ा दिया। इस युद्ध में हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों, ने पूरा भाग लिया।

कई महीनों तक उत्तर और मध्य भारत में अंग्रेज़ी राज्य कच्चे धागे के सहारे लटकता रहा। विद्रोह की क़िस्मत का फ़ैसला ख़ुद हिन्दुस्तानियों ने ही कर डाला। सिक्खों और गोरखों ने अंग्रेज़ों को मदद दी। दक्षिण में निज़ाम और उत्तर में सिन्धिया और दूसरी कई रियासतें भी उनकी मदद पर हो गईं। इन सब त्रुटियों के सिवा ख़ुद विद्रोह में ही असफलता के बीज मौजूद थे। वह एक गई गुज़री बात,—सामन्त वर्ग,—के लिए लड़ा जा रहा था, इसके कोई अच्छे नेता भी न थे, संगठन इसका ख़राब था, और हर वक़्त आपसी कलह होती रहती थी। कुछ विद्रोहियों ने अंग्रेज़ों को बेरहमी से क़त्ल करके भी अपने काम पर धब्बा लगा लिया। इस पाशविक बर्त्ताव ने स्वभावतः ही हिन्दुस्तान के अंग्रेज़ों को कमर कसने के लिए जोश दिलाया,

उन्होंने उसी पाशविक ढंग से, बल्कि उससे सैकड़ों-हजारों गुना ज्यादा बदला चुकाया। कहा जाता है कि कानपुर में पेशवा के वंशज नानासाहब ने रक्षा का वादा करने के बावजूद दग़ा करके अंग्रेज मर्द, औरत और बच्चों के क़त्ल का हुक्म दे दिया। ख़ास तौर पर इस घटना से अंग्रेज और भी उत्तेजित होगये। इस बीभत्स दुर्घटना की याद दिलाने के लिए कानपुर में एक स्मारक-कूप बना हुआ है।

कई दूर-दूर की की जगहों पर अंगेज्रों को जनता की भीड़ों ने घेर लिया। कभी-कभी तो उनके साथ अच्छा बर्त्ताव किया गया, लेकिन ज्यादातर ख़राब। जबर्दस्त कठिनाइयाँ होते हुए भी वे ख़ूब लड़े और बड़ी बहादुरी से लड़े। अंग्रेज्रों के साहस और सहन शक्ति का एक उदाहरण लखनऊ का घेरा है जिसके साथ आउटरम और हेवलाक के नाम जुड़े हुए हैं। १८५७ में दिल्ली के घेरे ने विद्रोह का पासा ही पलट दिया। इसके बाद और कई महीनों तक अंग्रेज विद्रोह को कुचलते रहे। ऐसा करने में उन्होंने हर जगह आतंक फैला दिया। बड़ी बेरहमी के साथ बहुत बड़ी तादाद में लोग गोली से उड़ा दिये गये, बहुत से लोग तोप के मुँह के आगे रखकर टुकड़े-टुकड़े कर दिये गये और हजारों की तादाद में लोग सड़क के किनारे पर के दरख़्तों पर फाँसी लटकाकर मार दिये गये। कहा जाता है कि नील नामक एक अंग्रेज जनरल इलाहाबाद से कानपुर तक रास्ते के तमाम आदमियों को फाँसी लटकाता हुआ चला गया, यहाँ तक कि सड़क पर का एक भी दरख़्त ऐसा न बचा जो फांसी का झूला न बना दिया गया हो। हरे-भरे और ख़ुशहाल गाँवों को लूट-मार कर उजाड़ दिया, और मिट्टी में मिला दिया। यह सब एक बहुत ही भयानक और दर्दनाक क़िस्सा है और शायद ही मैं तुम से इस सारे कटु सत्य के कहने की हिम्मत कर सकूं। अगर नाना साहब का बर्ताव वहशियाना और धोखेबाजी का था, तो कितने ही अंग्रेज अफ़सर भी वहशीपन में उससे सैकड़ों गुना कहीं आगे बढ़ गये थे। अगर बाग़ी सिपाहियों के गिरोह अपने सिर पर कोई अफ़सर या नेता न होने की हालत में निर्दय और वहशियाना बरताव के दोषी ठहरते हैं, तो तो शिक्षाप्राप्त---ट्रेण्ड---अंग्रेज सिपाही अपने अफ़सरों की रहनुमाई या नेतृत्व में बेरहमी और वहशीपन में उनसे कहीं आगे बढ़ गये थे। मैं दोनों की तुलना नहीं करना चाहता। दोनों ही तरफ़ की बातें अफ़सोसनाक हैं, लेकिन हमारे पक्षपात-भरे इतिहासों में हिन्दुस्तानियों के विश्वासघात और बेरहमी का तो ख़ूब बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया गया है, लेकिन दूसरी तरफ़ की चर्चा मुश्किल से ही की गई है। यह भी याद रखने की बात है कि एक संगठित सरकार भी एक भीड़ के लोगों की तरह ही बर्त्ताव करने लगे तो उसकी बेरहमी के सामने, किसी एक भीड़ की बेरहमी कुछ भी नहीं है। अगर अब भी तुम अपने प्रान्त

के गांवों में घूमो, तो बहुत से गांवों में तुम्हें ऐसे लोग मिलेंगे जिन्हें, विद्रोह को दबाते समय हुई हैवानियत और ज्यादतियों की ख़ौफ़नाक याद अब भी साफ़- साफ़ बनी हुई है।

इस विद्रोह और इसके दमन की भीषणताओं के बीच, काले परदे पर एक उज्ज्वल नाम चमक रहा है। यह नाम है एक बीस वर्ष की बाल-विधवा झांसी की रानी लक्ष्मीबाई का, जो मर्दों का सा बाना पहनकर अँग्रेज़ों के ख़िलाफ़ अपनी प्रजा का नेतृत्व करने के लिए मैदान में निकल आई। उसके जोश, उसकी क़ाबलियत और उसके निडर साहस की बहुत-सी कहानियाँ कही जाती हैं। यहाँ तक कि जिस अँग्रेज़ जनरल नें उसका मुक़ाबिला किया था, उसनें भी उसे बाग़ी नेताओं में "सबसे योग्य और सबसे बहादुर" कहा है। वह लड़ती हुई युद्ध में काम आई।

१८५७–५८ का विद्रोह हिन्दुस्तानी सामन्त राजाओं की आख़िरी टिमटिमाहट थी। इसने बहुत-सी बातों का ख़ातमा कर दिया। महान् मुग़लवंश की इसने समाप्ति करदी, क्योंकि उसके आख़िरी बादशाह बहादुरशाह के दोनों लड़कों और एक पोते को हडसन नाम के एक अँग्रेज़ अफ़सर ने दिल्ली ले जाते समय, बिना किसी वजह या उत्तेजना के गोली से उड़ा दिया। इस तरह, बदनामी के साथ, तैमूर, बाबर और अकबर का वंश समाप्त हुआ।

विद्रोह ने हिन्दुस्तान में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन को ख़तम कर दिया। सारे शासन सूत्र ब्रिटिश सरकार ने अपने हाथ में ले लिये और अंग्रेज़ गवर्नर-जनरल अब 'वाइसराय' के रूप में प्रकट हुआ। उन्नीस वर्ष बाद १८७७ में इंग्लैण्ड की रानी ने, बिज़ैण्टियन साम्राज्य और क़ैसरों के पुराने ख़िताब का हिन्दुस्तानी रूप 'क़ैसरे-हिन्द' का ख़िताब अपने लिए इख़्तियार किया। मुग़ल ख़ानदान का अब कहीं पता न था। लेकिन निरंकुशता की स्पिरिट या रूह ही नहीं बल्कि रूप भी क़ायम रहा, और एक दूसरा 'मुग़ल-ए-आज़म' इंग्लिस्तान में जम बैठा।

: ११० :

हिन्दुस्तानी कारीगरों की तबाही

१ दिसम्बर, १९३२

उन्नीसवीं सदी के हिन्दुस्तानी युद्धों का वर्णन भी हम ख़तम कर चुके। मुझे इस से ख़ुशी है। अब हम इस समय की और दूसरी महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर विचार कर सकते हैं। हाँ, यह याद रखना कि इंग्लैण्ड को फायदा पहुँचनेवाली ये लड़ाइयाँ

हिन्दुस्तान के ही खर्चे पर लड़ी गई थीं। अँग्रेजों ने हिन्दुस्तानियों पर हासिल की गई अपनी जीतों का खर्चा उन्हींसे निकालने की तरकीब को बड़ी कामयाबी से सीख लिया था। अपने पड़ौसी बरमा और अफ़गानिस्तान के लोगों पर अँग्रेजों को जो फ़तह हासिल हुई उसकी क़ीमत भी हिन्दुस्तानियों ने ही अपने जानोमाल से चुकाई। इन लड़ाइयों ने किसी हद तक हिन्दुस्तान को और ग़रीब बना डाला, क्योंकि युद्ध का मतलब ही है सम्पत्ति का नाश। जैसा कि हम सिन्ध के मामले में देख चुके हैं, युद्ध का मतलब है जीतनेवाले को इनाम के रूप में धन का मिलना। इस और ऐसे ही दूसरे कारणों से हुई ग़रीबी के बावजूद भी ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के पास सोने और चाँदी का बहाव जारी ही रहा, जिससे कि उसके हिस्सेदारों को भारी मुनाफे मिलते रहें।

मेरा ख़याल है कि मैंने पहले तुम्हें बतलाया था कि हिन्दुस्तान में अँग्रेजी सत्ता की शुरूआत का ज़माना क़िस्मत के आज़माने वाले उन व्यापारियों का ज़माना था, जिन्होंने यहाँ तिजारत और लूटमार की अंधाधुन्ध मचा रक्खी थी। इस तरह ईस्ट इण्डिया कम्पनी और उसके कारिन्दे हिन्दुस्तान की बेशुमार दौलत ले गये। इसके बदले में हिन्दुस्तान को अमली-तौर पर रत्ती भर भी फ़ायदा न हुआ। मामूली तिजारत में एक-दूसरे में आपस में कुछ-न-कुछ देन-लेन होता है। लेकिन अठारहवीं सदी के या पिछले हिस्से में, प्लासी की लड़ाई के बाद से ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ की तिजारत में सारी दौलत एक ही रास्ते—इंग्लैण्ड—को, जाने लगी। इस तरह हिन्दुस्तान की पुरानी सम्पत्ति का अधिकांश छिन गया, और इसने जाकर परिवर्त्तन के गाढ़े समय में इंग्लैण्ड की औद्योगिक उन्नति में मदद की। हिन्दुस्तान में तिजारत और नंगी लूट पर टिका हुआ अंग्रेज़ी हुकूमत का यह पहला हिस्सा, मोटे तौर पर, अठारहवीं सदी की समाप्ति के साथ, खतम हुआ।

अंग्रेज़ी राज्य का दूसरा हिस्सा सारी उन्नीसवीं सदी ले लेता है, जिसमें कि हिन्दुस्तान, इंग्लैण्ड के कारख़ानों को भेजे जानेवाले कच्चे माल का एक ज़बरदस्त ज़रिया और विलायत में तैयार हुए माल की खपत के लिए एक ज़बरदस्त बाज़ार बन गया। यह सब हिन्दुस्तान की तरक़्क़ी और आर्थिक उन्नति का खून करके किया गया था। इस सदी के पहले आधे हिस्से में ईस्ट इण्डिया कम्पनी नाम की एक व्यापारिक कम्पनी हिन्दुस्तान पर राज करती थी, जो कि असल में ज़ारी की गई थी सिर्फ़ रुपया पैदा करने के लिए। लेकिन बाद में अंग्रेज़ी पार्लमेण्ट हिन्दुस्तानी मामलों पर ज्यादा-ज्यादा ध्यान देने लगी। आख़िरकार, जैसा कि हमने पिछले पत्र में देखा है १८५७-५८ के विद्रोह के बाद ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तान के शासन को सीधा अपने हाथ में ले लिया। लेकिन इससे उसकी बुनियादी नीति में कोई ख़ास

फ़र्क नहीं पड़ा, क्योंकि सरकार उसी वर्ग की नुमाइन्दा थी जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सञ्चालित करता था।

हिन्दुस्तान और इंग्लैण्ड के आर्थिक हितों के बीच आपस की मुठभेड़ साफ़ ज़ाहिर थी। क्योंकि सारी ताक़त इंग्लैण्ड के हाथ में थी इसलिए इस मुठभेड़ का फ़ैसला हमेशा इंग्लैण्ड के ही पक्ष में होता था। इंग्लैण्ड के उद्योगवादी बनने से पहले ही एक प्रसिद्ध अंग्रेज़ लेखक ने हिन्दुस्तान पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के नुक़सानदेह नतीजों की ओर इशारा किया था। यह प्रसिद्ध पुरुष था एडम स्मिथ, जिसे राजनैतिक अर्थशास्त्र का जन्मदाता कहा जाता है। 'वेल्थ आफ् नेशन्स'—यानी 'राष्ट्रों की सम्पत्ति' नामक अपनी एक मशहूर किताब में, जोकि सन् १७७६ में ही प्रकाशित हो गई थी, ईस्ट इण्डिया कम्पनी का ज़िक्र करते हुए, वह कहता है:—

"चाहे किसी भी देश के लिए हो, ऐसी सरकार, जो सिर्फ़ व्यापारियों की कम्पनी से ही बनी हो, सबसे ख़राब सरकार है।.........शासनकर्त्ता होने की हैसियत में तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी का हित इसीमें होना चाहिए कि उसके हिन्दुस्तानी राज्य में ले जाया जानेवाला विलायती माल वहाँ जहाँतक मुमकिन हो सस्ते-से-सस्ता और वसाँ से लाया हुआ माल यहाँ महँगा-से-महँगा बिके। लेकिन व्यापारी होने की हैसियत से उसका हित इससे बिलकुल उलटी बात मेंहै। शासक होने की हैसियत में तो उसके हित बिलकुल वही होने चाहिएँ जो उसके शासित देश के हैं। लेकिन व्यापारियों की हैसियत से उसके हित उस देश के हितों के बिलकुल ख़िलाफ़ होंगे।"

मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि जब अंग्रेज़ हिन्दुस्तान में आये, यहाँ का सामन्त-वर्ग नष्ट होता जा रहा था। मुग़ल साम्राज्य के पतन ने हिन्दुस्तान के कई हिस्सों में राजनैतिक अशान्ति और आराजकता पैदा कर दी। लेकिन फिर भी, जैसा कि भारतीय अर्थशास्त्री श्री रमेशचन्द्र दत्त ने लिखा है—"अठारहवीं सदी में हिन्दुस्तान एक बड़ा भारी उद्योग-प्रधान और साथ ही कृषि-प्रधान देश था, और हिन्दुस्तानी करघों पर बना हुआ माल एशिया और योरप के बाज़ारों को भेजा जाता था।" अपने इसी पत्र-व्यवहार के सिलसिले में मैंने तुम्हें पुराने ज़माने में विदेशी बाज़ारों पर हिन्दुस्तान का कब्ज़ा होने का हाल बतलाया था। मिस्र में चार-चार हज़ार वर्ष पुरानी ममियाँ—मसाला लगाकर सुखाई हुई लाशें—बढ़िया हिन्दुस्तानी मलमल में लपेटी जाती थीं। हिन्दुस्तानी दस्तकारों की कारीगरी पूर्व और पश्चिम सब जगह मशहूर थी, देश का राजनैतिक पतन होने पर भी यहाँ के दस्तकार अपने हाथ के हुनर को—दस्तकारी की कला को भूले नहीं थे। अंग्रेज़ और दूसरे विदेशी व्यापारी, जो हिन्दुस्तान में तिजारत की तलाश में आते थे, यहाँ पर विदेशी माल बेचने के

लिए नहीं, बल्कि यहाँ का बना हुआ बढ़िया और बारीक या मुलायम कपड़ा ख़रीद कर योरप में भारी मुनाफे पर बेचने के लिए ले जाने को आते थे। इस तरह शुरू में अंग्रेज़ व्यापारी यहाँ के कच्चे माल से नहीं, बल्कि यहाँ पर तैयार हुए पक्के माल से आकर्षित होकर यहाँ आये थे। यहाँ पर राज्य प्राप्त करने से पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी हिन्दुस्तान का बना सूती, ऊनी, रेशमी और ज़री का माल बेचकर भारी मुनाफे का व्यापार चला रही थी। ख़ासकर कपड़े के उद्योग में अर्थात् सूती, रेशमी और ऊनी माल बनाने में इस देश की कला ऊँचे दरजे को पहुँच गई थी। श्री रमेशचन्द्र दत्त के शब्दों में--"बुनाई लोगों का राष्ट्रीय उद्योग या धन्धा था और कताई लाखों स्त्रियों का शग़ल या पेशा था।" इंग्लैण्ड और योरप के दूसरे हिस्सों को, और चीन, जापान, बरमा, अरब, फ़्रांस और अफ़रीका के कई हिस्सों को हिन्दुस्तानी कपड़ा जाता था।

क्लाइव ने बंगाल के शहर मुर्शिदाबाद का, १७५७ के समय का, इस प्रकार वर्णन किया है— "यह नगर लन्दन के समान विस्तृत घना बसा हुआ और धनी है। फ़र्क इतना ही है कि यहाँ के लोग लन्दन वालों से कहीं ज्यादा ऐश्वर्य के स्वामी हैं।" यही वह प्लासी-युद्ध का प्रसिद्ध वर्ष था, जब कि अंग्रेज़ों ने बंगाल में पूरी तरह से अपनी सत्ता जमाली। राजनैतिक पतन के इस क्षण में भी बंगाल सम्पत्तिशाली और कई उद्योग-धन्धों से भरा पूरा था और दुनिया के जुदे-जुदे मुल्कों को अपना बढ़िया और बारीक बुना माल भेजता रहता था। ढाका-शहर अपनी बढ़िया और नफ़ीस मलमल के लिए ख़ास तौर पर मशहूर था और बहुत भरी तादाद में यह बाहर भेजी जाती थी।

इस तरह इस वक़्त हिन्दुस्तान निरी कृषि-प्रधान और ग्राम्य अवस्था से बहुत आगे बढ़ गया था। निःसन्देह मूलतः यह देश कृषि-प्रधान था, अब भी है और आगे बहुत अर्से तक रहेगा। लेकिन उस समय यहाँ ग्रामीण और कृषि-जीवन के साथ-साथ नागरिक जीवन भी तरक़्क़ी पा चुका था। इन नगरों के दस्तकार और कारीगर एक जगह इकट्ठे हुए और सामूहिक रूप से माल तैयार करने की पद्धति जारी हुई, अर्थात् उस समय यहाँ ऐसी छोटी-छोटी कई फ़ैक्टरियाँ या कारखाने खुले हुए थे जिनमें सौ या सौ से अधिक कारीगर काम करते थे। अवश्य ही इन कारखानों की तुलना बाद में आनेवाली मशीन युग की बड़ी-बड़ी फ़ैक्टरियों से नहीं की जा सकती। लेकिन उद्योगवाद के शुरू होने से पहले पश्चिमी योरप में और ख़ासकर निदरलैण्ड में इस तरह की बहुत-सी छोटी फ़ैक्टरियाँ थीं।

हिन्दुस्तान इस समय परिवर्तन या इनक़िलाब की हालत में था। यह एक

माल तैयार करनेवाला मुल्क था और इन शहरों में एक मध्यम वर्ग पैदा हो रहा था। इन कारखानों के मालिक पूंजीपति लोग थे, जो कारीगरों को कच्चा माल देकर उनसे माल तैयार करवाते थे। अवश्य ही समय आने पर ये लोग भी योरप की तरह सामन्त वर्ग को हटाकर उसकी जगह ले लेने के लिए क़ाफ़ी ताक़तवर हो जाते। लेकिन ठीक इसी समय अँग्रेज़ बीच में आकूदे और इसका हिन्दुस्तानी उद्योग-धन्धों पर घातक परिणाम हुआ।

शुरू-शुरू में तो ईस्ट-इण्डिया कम्पनी ने हिन्दुस्तानी उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन दिया क्योंकि इनसे उसे धन की प्राप्ति होती थी। विदेशों में हिन्दुस्तानी माल की बिक्री से उसके देश इंग्लैंड में सोना-चाँदी आता था। लेकिन इंग्लैंड के कारख़ानेदार इस प्रतियोगिता को पसन्द नहीं करते थे इसलिए अठारहवीं सदी के शुरू में उन्होंने अपनी सरकार को इंग्लैंड में आनेवाले हिन्दुस्तानी माल पर चुंगी लगाने को ललचाया कुछ हिन्दुस्तानी चीज़ों का इंग्लैंड में आना बिलकुल बन्द कर दिया गया और मेरा यक़ीन है कि हिन्दुस्तान के बने हुए कुछ कपडों का सार्वजनिक रूप से पहनना एक जुर्म तक क़रार दे दिया गया था। वे लोग अपने बहिष्कार को क़ानून की मदद से अमल में ला सकते थे। और यहाँ हिन्दुस्तान में इस समय ब्रिटिश माल के बहिष्कार की सिर्फ़ चर्चा ही किसी को जेल में रख देने के लिए काफ़ी हो रही है! हिन्दुस्तानी माल के बहिष्कार की इंग्लैंड की यह नीति इतने ही तक रहती तो भी बहुत नुक़सान की बात न थी, क्योंकि हिन्दुस्तान के लिए उसके अलावा और भी बहुत से बाज़ार खुले हुए थे। उस समय संयोग से ईस्ट-इण्डिया कम्पनो के ज़रिये इंग्लैंड का हिन्दुस्तान के बहुत से हिस्से पर क़ब्ज़ा था, इसलिए उसने अब जानबूझ कर हिन्दुस्तानी उद्योगों का गला घोंटकर ब्रिटिश उद्योग को आगे बढ़ाने की नीति इख़्तियार की। लेकिन अब अँग्रेज़ी माल बिना किसी चुंगी के हिन्दुस्तान में आने लगा। यहाँ के दस्तकार और कारीगरों को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कारखानों में काम करने के लिए तरह-तरह से सताया और मजबूर किया गया। यहाँ तक कि कितनी ही रवानगी-चुंगियाँ, जो कि माल को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने पर चुकानी पड़ती थीं, लगाकर हिन्दुस्तान की अन्दरूनी तिजारत को भी बेकार बना दिया गया।

हिन्दुस्तान का कपडे का उद्योग इतना बढ़ा-चढ़ा था कि इंग्लैण्ड का तरक्क़ी पर पहुँचा हुआ मशीन का कारबार भी उसका मुक़ाबिला न कर सका और उसकी रक्षा करने के लिए हिन्दुस्तानी माल पर अस्सी फ़ीसदी के क़रीब चुंगी लगानी पडी। शुरू उन्नीसवीं सदी में हिन्दुस्तान का कुछ रेशमी और सूती माल विलायत के बाज़ारों में, वहाँ के बने माल से बहुत सस्ते दामों, में बिका करता था। लेकिन यह हालत

ज्यादा दिन टिक नहीं सकती थी, जब कि हिन्दुस्तान पर हुकूमत करनेवाली ताक़त इंग्लैंड, हिन्दुस्तानी उद्योग को कुचल डालने पर तुली हुई हो। किसी भी हालत में हिन्दुस्तान के घरेलू उद्योग, यानी हाथ के चरखे और करघे से बना हुआ माल, उन्नतिशील मशीन के उद्योग से मुक़ाबिला कर नहीं सकता था। मशीन का उद्योग भारी तादाद में माल तैयार करने का बड़ा कारगर तरीक़ा है, और इसलिए वह घर में—हाथ के करघे पर—बने हुए माल से कहीं ज्यादा सस्ता पड़ता है। लेकिन इंग्लैंड ने ज़बरदस्ती हिन्दुस्तानी उद्योगों का ख़ातमा करनें में जल्दी की, और उसे अपने आपको बदली हुई परिस्थितियों के अनुकूल बना लेने का मौक़ा तक नहीं दिया।

इस तरह हिन्दुस्तान, जो कि सैकडों वर्ष तक 'पूर्वी दुनिया का लंकाशायर' बना हुआ था, और जो अठारहवीं सदी में योरप को बडे पैमानें पर सूती माल देता रहता था, अब उत्पादक यानी माल तैयार करने वाले देश की अपनी हैसियत खो बैठा और ब्रिटिश माल का ग्राहक मात्र रह गया जैसा कि साधारण तौर से होना चाहिए था। बाहर से हिन्दुस्तान में मशीनें नहीं लाईं गईं, बल्कि लाया गया उनसे तैयार किया गया माल। हिन्दुस्तान से दूसरे विदेशों को माल लेजाने और बदले में सोना और चाँदी लाने का जो प्रवाह चल रहा था, उसका रुख़ उलटा होगया। अब विदेशी माल हिन्दुस्तान में आनें लगा और यहाँ का सोना-चाँदी बाहर जाने लगा।

इस घातक हमले से सबसे पहले विनाश हुआ हिन्दुस्तान के कपडे के उद्योग का और जैसे-जैसे इंग्लैंड में मशीनों की तरक़्क़ी होती गई वैसे-ही-वैसे हिन्दुस्तान के दूसरे उद्योग भी कपडे के उद्योग की तरह बरबाद होते गये। आम तौर पर किसी भी देश की सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह उस देश के उद्योगों की रक्षा करे और उन्हें तरजीह दे। मगर हिफ़ाज़त और तरजीह देना तो दूर रहा, ईस्ट इंडिया कम्पनी ने ब्रिटिश उद्योगों के रास्ते में आनेवाले हरेक हिन्दुस्तानी उद्योग को कसकर ठोकर लगाई। हिन्दुस्तान में जहाज़ बनाने का काम चौपट होगया, धातु के कारीगर—लुहार आदि—अपना कारोबार न चला सके और काँच और काग़ज़ बनाने का धन्धा भी धीरे-धीरे चल बसा।

शुरू में विदेशी माल बन्दरगाहोंवाले शहरों और उन्हींके आस-पास के अन्दरूनी हिस्सों में पहुँचा। जैसे-जैसे सड़कें और रेलें बनती गईं, विदेशी माल देश में अन्दर-अन्दर घुसता गया, यहाँ तक कि इसने गाँवों से भी कारीगरों को निकाल बाहर किया—वहाँ भी उनके धन्धों को चौपट कर दिया। स्वेज़ नहर का सीधा रास्ता निकल आने से इंग्लैंड हिन्दुस्तान के और भी नज़दीक होगया। इसलिए अंग्रेज़ी माल यहाँ अब और भी सस्ता होगया। इस तरह विदेशी मशीनों का

माल ज्यादा-से-ज्यादा तादाद में आने लगा, और दूर-दूर के गाँवों तक में पहुँचने लगा। पूरी उन्नीसवीं सदी भर यह सिलसिला जारी रहा, और दरअसल किसी हद तक, अभीतक भी चल रहा है। हाँ, पिछले कुछ वर्षों में इसमें रोक-थाम जरूर हुई, जिस पर हम बाद में विचार करेंगे।

ब्रिटिश माल, ख़ासकर कपडे, की इस फैलती और पसरती प्रगति ने हिन्दुस्तान के हाथ के धन्धों का ख़ून कर दिया। लेकिन इससे भी ज्यादा ख़तरनाक एक और बात थी। उन लाखों कारीगरों का क्या हुआ जो बेकार बनाकर बाहर किये गये? उन बहुसंख्यक जुलाहों और दूसरे कारीगरों का क्या हाल, जो बेरोजगार होगये थे? इंग्लैंड में भी जब बडी-बडी फ़ैक्टरियाँ खुलीं तो दस्तकार बेकार होगये थे। उनको सख़्त मुसीबतों का सामना करना पड़ा। लेकिन उनको नई फ़ैक्टरियों में काम मिल गया, और इस तरह उन्होंने अपने को नई परिस्थितियों के अनुकूल बना लिया। हिन्दुस्तान में इस तरह का कोई दूसरा उपाय नहीं था। यहाँ काम करने के लिए कोई फ़ैक्टरियाँ न थीं। अँग्रेज नहीं चाहते थे कि हिन्दुस्तान एक आधुनिक औद्योगिक मुल्क बन जाय और इसलिए फ़ैक्टरियों या कारख़ानों को प्रोत्साहन नहीं देते थे। इसलिए बेचारे ग़रीब, बेघरबार, बेरोजगार और भूखों मरते कारीगरों को जमीन की यानी खेती की शरण लेनी पडी। किन्तु जमीन ने भी उनका स्वागत नहीं किया; पहले से ही काफ़ी आदमी उस पर—खेती का काम कर रहे थे, और इसलिए अब जमीन मिलना मुमकिन नहीं था। कुछ तबाह कारीगरों ने तो किसी तरह किसानी का काम प्राप्त कर लिया, लेकिन ज्यादातर को तो रोजगार की तलाश में बिना जमीन के मजदूर बन जाना पड़ा। और बहुत अधिक तादाद में तो लोग भूख से तडप-तड़प कर मर ही गये होंगे। १८३४ में हिन्दुस्तान के अँग्रेज गवर्नर-जनरल ने यह रिपोर्ट की बतलाते हैं कि—"व्यापार के इतिहास में ऐसी तबाही का शायद ही कोई दूसरा उदाहरण मिले। सूती कपड़ा बुननेवाले जुलाहों की हड्डियों से हिन्दुस्तान के मैदानों पर सफ़ेदी छा रही है—वे हड्डियों से भरे पडे हैं।"

इन बुनकरों, जुलाहों और कारीगरों में से ज्यादातर क़स्बों और शहरों में रहते थे। अब चूंकि उनका रोजगार जाता रहा, इसलिए उन्हें फिर जमीन और गाँवों की तरफ़ लौटना पड़ा। इससे शहरों की आबादी कम, और गाँवों की ज्यादा होगई। दूसरे शब्दों में हिन्दुस्तान शहरी कम और देहाती ज्यादा होगया—शहरों की तादाद कम और देहातों की तादाद बढ़ गई। शहरों के गाँवों में तब्दील होने का यह सिलसिला उन्नीसवीं सदी भर जारी रहा, और अभी भी वह बन्द नहीं हुआ है। इस जमाने में हिन्दुस्तान के बारे में यह एक बडी ही अजीब बात है। तमाम दुनिया

में मशीनों के कारबार और उद्योगवाद का असर यह हुआ कि लोग-बाग गाँवों से खिंच-खिंचकर शहरों में आगये। लेकिन हिन्दुस्तान में इससे उलटी प्रवृत्ति हुई। शहर और क़स्बे छोटे होते गये और आख़िर को ख़त्म होगये, और ज्यादा-ज्यादा आदमी रोजगार मिलना बहुत दिक्क़ततलब देखकर काश्तकारी पर आलटके।

ख़ास उद्योगों के साथ-साथ उनके बहुत से मददगार धन्धे भी ग़ायब होने लगे। धुनाई, रंगाई और छपाई कम-कम होती गई, हाथ की कताई बन्द हो गई और लाखों घरों से चरख़ा उठ गया। इस तरह किसानों के घरवाले सूत कातकर जमीन से होने वाली आमदनी को बढ़ाने में जो मदद करते थे वह सिलसिला मारा गया, जिसका अर्थ यह हुआ कि किसान ऊपरी आमदनी से हाथ धो बैठे। मशीन के शुरू होने पर यही सब कुछ पश्चिमी योरप में भी हुआ था। लेकिन वहाँ का परिवर्त्तन स्वाभाविक था, और वहाँ यदि एक प्रथा का अन्त हुआ तो उसी समय दूसरी नई प्रथा का जन्म भी हो गया। लेकिन हिन्दुस्तान को परिवर्त्तन का जबर्दस्त धक्का लगा। घरेलू शिल्प उद्योगों की पुरानी प्रथा की हत्या कर डाली गई थी और नई प्रथा का जन्म होना नहीं था, क्योंकि ब्रिटिश उद्योगों के हित की दृष्टि से अँग्रेज अधिकारी ऐसा होने नहीं देना चाहते थे।

हम देख चुके हैं कि जिस समय अंग्रेजों ने यहाँ ताक़त हासिल की, हिन्दुस्तान एक मालामाल और खुशहाल उत्पादक देश था। दूसरी मञ्जिल क़ुदरती तौर से तो यही होनी चाहिए थी कि देश को औद्योगिक बनाया जाता और बडी-बडी मशीनें जारी की जातीं। लेकिन ब्रिटिश नीति का नतीजा यह हुआ कि हिन्दुस्तान आगे बढ़ने के बजाय बिलकुल पिछड़ गया। वह अब उत्पादक तक न रहा, और पहले किसी भी वक्त से ज्यादा अब कृषि-प्रधान हो गया।

इस तरह बेरोजगार कारीगरों और दूसरे पेशेवरों की इतनी बडी संख्या को सहारा देने का भार बेचारी अकेली काश्तकारी के सिर आ पड़ा। जमीन पर भयानक बोझा पड़ गया, और यह बराबर बढ़ता ही गया। हिन्दुस्तान की ग़रीबी की समस्या की यही बुनियाद और यही आधार है। हमारी बहुत सी मुसीबतें इसी नीति का नतीजा हैं। और जब तक यह बुनियादी सवाल हल नहीं हो जाता, हिन्दुस्तानी किसानों और गांवों के रहनेवालों की ग़रीबी और मुसीबतों का अन्त नहीं हो सकता।

बहुत ज्यादा लोगों के पास खेतों के सिवा और कोई दूसरा पेशा न होने और जमीन के सहारे ही लटके होने के कारण, उन्होंने अपने खेतों और अपने क़ब्जे की जमीनों को छोटे-छोटे टुकडों में बांट डाला। उसके सिवा गुजारे के लिए और अधिक जमीन थी ही नहीं। इस तरह जमीन का छोटा-सा टुकड़ा, जो हर किसान के पल्ले

पड़ा, इस क़दर छोटा था कि उससे उसका अच्छी तरह गुज़र हो सकना भी मुश्किल था। सुकाल या फ़सल के अच्छी से अच्छी होने के दिनों में भी ग़रीबी और नीम-फाक़ाकशी का उन्हें हमेशा सामना करना पड़ता था। और ज्यादातर तो सुकाल या अच्छी फ़सल के बस सपने भर ही रहते थे। मौसम, आसमान और बरसाती हवाओं की दया पर ही इन लोगों को निर्भर रहना पड़ता था। अकाल पड़ते, रोग फैलते और लाखों का संहार कर अपने साथ ले जाते। ये लोग गाँव के सूदख़ोर बनिये के पास पहुँचकर उससे रुपया उधार लेते। इस तरह दिन-पर-दिन इनका क़र्ज़ ज्यादा-ज्यादा बढ़ता गया। उसकी अदायगी की आशा और सम्भावना नष्ट हो गई और ज़िन्दगी बरदाश्त न हो सकनेवाला एक बोझ बन गई। ऐसी हालत हुई हिन्दुस्तान की आबादी के बहुत बडे हिस्से की, उन्नीसवीं सदी में और अँग्रेज़ों की हुकूमत में!

: १११ :

हिन्दुस्तान के गांव, किसान और ज़मींदार

२ दिसम्बर, १९३२

मैंने तुम्हें अपने पिछले ख़त में हिन्दुस्तान के प्रति अंग्रेज़ों की उस नीति का हाल बताया था, जिसका नतीजा हुआ यहाँ के घरेलू उद्योग-धन्धों की मौत और दस्तकारों या कारीगरों का खेती और गाँवों की ओर खदेड़ा जाना। जैसा कि मैं बता चुका हूँ, हिन्दुस्तान की सबसे बडी समस्या है जमीन पर इतने ज्यादा लोगों का बोझा होना, जिनके पास खेती के सिवा और कोई धन्धा नहीं है। ज्यादातर यही वजह है कि हिन्दुस्तान ग़रीब है। अगर ये लोग जमीन से हटाकर रुपया पैदा करने के दूसरे पेशों में लगा दिये जा सके होते, तो वे न सिर्फ़ देश की सम्पत्ति में वृद्धि ही करते, बल्कि जमीन का बोझ भी कम हो जाता और काश्तकारी भी चमक जाती।

अक्सर यह कहा जाता है कि जमीन पर यह जरूरत से ज्यादा बोझ हिन्दुस्तान की आबादी की बढ़ती की वजह से है, न कि अंग्रेज़ों की नीति के कारण। लेकिन यह दलील सही नहीं है। यह सच है कि हिन्दुस्तान की आबादी पिछले सौ वर्षों में बढ़ गई है, लेकिन और भी तो बहुत से मुल्कों की आबादी बढ़ी है। अवश्य ही योरप में और ख़ासकर इंग्लैण्ड, बेलजियम, हालैण्ड और जर्मनी में इस बढ़ती का औसत बहुत ज्यादा रहा है। किसी देश या सारे संसार की आबादी की बढ़ती, और उसके गुज़ारे और जरूरत के वक़्त इस बढ़ती को रोकने का सवाल बड़ा महत्त्वपूर्ण है। मैं इस जगह इस सवाल को नहीं छेड़ना चाहता, क्योंकि इससे दूसरे विषयों में गड़बड़

पैदा हो सकती है। लेकिन यह मैं जरूर साफ़ कर देना चहता हूं कि हिन्दुस्तान में ज़मीन पर दबाव या बोझ पड़ने का असली कारण खेती के सिवा दूसरे पेशों का अभाव होना है, न कि आबादी की बढ़ती होना। हिन्दुस्तान की मौजूदा आबादी के लिए शायद अच्छी तरह या आसानी से गुञ्जाइश हो सकती है और वह फूल-फल भी सकती है, बशर्तेकि दूसरे पेशे और धन्धे खुले हुए हों। हो सकता है कि बाद में हमें आबादी की बढ़ती के सवाल का सामना करना पडे।

आओ, अब हम हिन्दुस्तान में ब्रिटिश नीति के दूसरे पहलुओं की जांच करें। पहले हम गांवों में चलेंगे।

मैंने अक्सर तुम्हें हिन्दुस्तान की ग्राम-पंचायतों के बारे में लिखा है और यह बताया है कि किस तरह हमलों, परिवर्त्तन या इन्क़िलाब के बीच भी उन्होंने अपनी हस्ती को क़ायम रक्खा। अभी क़रीब सौ वर्ष पहले, १८३० में, हिन्दुस्तान के अंग्रेज़ गवर्नर सर चार्ल्स मेटकाफ़ ने इन ग्राम-पंचायतों का इस तरह वर्णन किया था—

> "ग्राम-पंचायतें छोटे-छोटे प्रजातंत्र हैं; अपनी ज़रूरत की क़रीब-क़रीब हरेक चीज़ उनमें मौजूद है; और बाहरी सम्बन्धों से हर तरह स्वतंत्र हैं। ऐसा मालूम होता है कि जहाँ कोई दूसरी चीज़ नहीं ठहर पाती, उनकी हस्ती क़ायम रहती है। ग्राम पंचायतों का यह संघ, जिसमें हरेक पंचायत खुद एक अलग छोटी-सी रियासत के समान है, उनके सुख-शान्ति से रहने और बहुत हद तक उनकी आज़ादी और खुदमुख़्तारी का उपयोग कराने में भारी सहायक होता है।"

वह वर्णन इस प्राचीन ग्रामीण प्रथा या गाम-पंचायत के लिए बड़ा अच्छा सर्टीफ़िकेट है। गाँव की हालत का यह एक बिलकुल काव्यमय चित्र है। इसमें कोई शक नहीं कि स्थानीय आजादी और खुदमुख़्तारी, जो गाँवों को हासिल थी, एक अच्छी चीज थी, और इसके सिवा उसमें और भी कई अच्छी खासियतें थीं। लेकिन साथ ही हमें इस प्रथा के दोषों को भी नहीं भुला देना चाहिए। सारी दुनिया से अलग कटे हुए, अपने ही आप में सीमित ग्रामीण जीवन बिताना किसी भी बात की उन्नति में सहायक नहीं हो सकता था। बडी-से-बडी इकाइयों के साथ सहयोग करने में ही उन्नति और प्रगति है। जितना ही ज्यादा कोई व्यक्ति या गिरोह अपने आप को दूसरों से अलग और अपने ही में सीमित या महदूद रखता है, उतना ही अधिक उसके अभिमानी, खुदगर्ज और तंगदिल होते जाने का अन्देशा रहता है। शहरों के निवासियों के मुक़ाबिले में गांव के रहनेवाले अक्सर तंगदिल और मिथ्या-विश्वासी होते हैं इसलिए ग्राम-संस्थायें अपनी अच्छाइयों को रखते हुए भी उन्नति के केन्द्र नहीं हो सकती थीं। बल्कि वे ज्यादातर पुराने ज़माने की ओर पिछडी हुई थी।

दस्तकारी और उद्योग-धन्धे तो नगरों में ही फूलते-फलते थे। हाँ, जुलाहे ज़रूर बहुत बडी तादाद में गांवों में फैले हुए थे।

गाँवों की जातियाँ एक दूसरे से विशेष सम्बन्ध रखे बिना ही क्यों इस तरह की तनहाई की जिन्दगी बिताती थीं, इसकी असली वजह आमद-रफ्त के साधनों का न होना था। गांवों को एक दूसरे से मिलानेवाली सड़कें बहुत ही कम थीं। दरअसल अच्छी सड़कों के इस अभाव ने ही केन्द्रीय सरकार के लिए गांवों के मामलों में ज्यादा दख़ल देना कठिन बना रक्खा था। अच्छी ख़ासी बडी नदियों के किनारे या आस-पास के क़स्बों और गांवों में तो नावों के ज़रिये जाने-आने का सम्बन्ध हो सकता था। लेकिन ऐसी बडी नदियां भी तो बहुत नहीं थीं जो इसतरह का साधन बन सकतीं। आमद-रफ्त के आसान तरीक़ों की इस कमी ने अन्दरूनी तिजारत में भी रुकावट डाली।

बहुत वर्षों तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी का मक़सद सिर्फ़ रुपया कमाना और हिस्सेदारों में मुनाफ़ा बाँटना ही था। सड़कों के बनाने में वह बहुत कम रुपया ख़र्च करती थी और तालीम, सफ़ाई और अस्पताल वग़ैरा पर तो कुछ भी ख़र्च नहीं करती थी लेकिन बाद में जब अंग्रेज़ों ने कच्चा माल ख़रीदनें और अंग्रेज़ी मशीनों का बना माल बेचने पर अपना ध्यान केन्द्रित किया, तब सड़कों वग़ैरा के बारे में उनकी नीति दूसरी ही होगई। बढ़ते हुए विदेशी व्यापार का मक़सद पूरा करने के लिए हिन्दुस्तान के समुद्रतट पर नये शहर क़ायम हुए। ये शहर, जैसे बम्बई, कलकत्ता, मदरास और बाद में कराची, विदेशों को भेजने के लिए रूई वग़ैरा कच्चा माल जमा करते और विदेशी मशीनों के बने, ख़ासकर इंग्लैण्ड से आये हुए, माल को हिन्दुस्तान में फैलाने और बेचने के लिए लेते थे। ये शहर योरप में बढ़ते हुए बडे-बडे औद्योगिक शहरों, जैसे लिवरपूल, मैञ्चैस्टर, बरमिंघम और शेफील्ड वग़ैरा, से बहुत कुछ जुदी क़िस्म के थे। यूरोपियन शहर माल तैयार करने के बडे-बडे कारख़ानों के उत्पादक केन्द्र और इन कारखानों में बने माल को बाहर भेजने के बन्दरगाह थे। इधर हिन्दुस्तान के ये नये शहर कुछ भी माल तैयार नहीं करते थे। वे तो महज़ विलायती तिजारत के गोदाम और विदेशी शासन के चिन्ह मात्र थे।

मैं तुम्हें अभी बता आया हूँ कि अंग्रेज़ों की नीति के कारण हिन्दुस्तान ज्यादा-ज्यादा देहाती होता जा रहा था और लोग शहर छोड़-छोड़कर गाँवों और खेती की तरफ़ जा रहे थे। इसके बावजूद भी इस सिलसिले पर बिना कुछ असर डाले समुद्र के किनारे ये नये शहर उठ खडे हुए। गाँवों को नहीं बल्कि छोटे शहरों और कस्बों को मिटाकर ये शहर पैदा हुए थे। लोगों के शहर और क़स्बे छोड़कर गाँवों में जा

बसने और गाँवों की तादाद बढ़ते जाने का यह आम सिलसिला बराबर जारी रहा।

कच्चे माल को इकट्ठा करने और विलायती सामान को इधर से उधर बाँटने में मदद देने के लिए समुद्र के किनारे के इन नये शहरों का देश के अन्दरूनी हिस्सों से सम्बन्ध जोड़ा जाना लाज़िमी था। राजधानियों और प्रान्तों के शासन-केन्द्रों के रूप में भी कुछ दूसरे शहर बन गये। इस तरह आमद-रफ़्त के अच्छे साधन ज़रूरी हो गये। अब सड़कें बनाई गईं, और बाद में रेलें भी। पहली रेल १८५३ में बम्बई में बनी।

भारतीय उद्योग-धन्धों के नाश से पैदा हुई और बदली हुई परिस्थितियों के अनुकूल बनने में गाँवों के पुराने लोगों को बडी कठिनाई हुई। लेकिन जब अच्छी सड़कें और रेलें ज्यादा तादाद में बनीं और सारे देश में फैल गईं, तब आख़िरकार गाँवों की पुरानी प्रथा भी, जो इतने अर्से से टिकी हुई थी, टूटकर ख़तम हो गई। गाँवों के छोटे-छोटे प्रजातन्त्र, अब जब कि दुनिया ख़ुद उनके यहाँ पहुँचकर उनके दरवाज़े खटखटाने लगी, तो वे अपने को उसके सम्पर्क से अलग न रख सके। एक गाँव की चीज़ों की क़ीमतों का असर फ़ौरन ही दूसरे गाँवों की चीज़ों पर पड़ने लगा, क्योंकि अब एक गाँव से दूसरे को आसानी से चीज़ें भेजी जा सकने लगीं। अवश्य ही जैसे-जैसे दुनिया से आमद-रफ़्त के सम्बन्ध बढ़ते गये, वैसे ही संयुक्त राज्य अमेरिका अथवा कनाडा के गेहुओं की क़ीमत का असर हिन्दुस्तान के गेहूँ की क़ीमत पर भी पड़ने लगा। इस तरह घटनाचक्र में पड़कर हिन्दुस्तानी ग्रामीण प्रथा को अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों के चक्कर में खिंच आना पड़ा। गांवों का पुराना आर्थिक क्रम टुकडे-टुकडे हो गया, और किसानों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उनपर एक नया क्रम ज़बरदस्ती लाद दिया गया। अब यह किसान वर्ग अपने गाँवों के बाज़ार के बजाय अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार के लिए खाना और कपड़ा तैयार करने लगा। वह अब सारी दुनिया के लिए पैदा करने और उसके अनुसार क़ीमतों के भँवर में पड़ गया और ज्यादा-ज्यादा नीचे डूबता गया। पहले ज़माने में भी हिन्दुस्तान में फ़सल बिगड़ जाने पर अकाल पड़ते थे, और गुज़ारे का और कोई सहारा नहीं रहता था और कोई ऐसे मौज़ूं साधन भी नहीं थे कि देश के एक भाग से दूसरे भागों को खाद्य-सामग्री—अनाज वग़ैरा—पहुँचाई जा सकती। वे अकाल खाद्य-सामग्री के अकाल थे। लेकिन अब एक अजीब बात हुई। अब खाने को तो इफ़रात से मिल सकता था, लेकिन फिर भी लोग भूखों मर रहे थे। अगर उस जगह जहाँ अकाल हो और खाने-पीने की चीज़ें न भी मिलती हों, तो रेल और ऐसी ही और दूसरी तेज़ सवारी के ज़रिये दूसरी जगहों से चीज़ें पहुँचाई जा सकती थीं। दूसरे खाद्य-सामग्री तो मौजूद थी, लेकिन उसे ख़रीदने के लिए पास में

पैसा नहीं था। और इस तरह इस समय अकाल पैसे का था, भोजन की चीज़ों का नहीं। इससे भी ज्यादा अजीब बात यह थी कि, जैसा पिछले तीन वर्षों में हमने देखा है, कभी-कभी फ़सल का बहुत अच्छा और ज्यादा होना ही किसानों की तबाही का कारण बन जाता था।

इस तरह पुरानी ग्रामीण प्रथा ख़तम होगई, और पंचायतों की हस्ती मिट गई। लेकिन हमें इसके लिए कोई ज्यादा रंज ज़ाहिर करने की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि यह प्रथा अपनी उम्र से ज्यादा ज़िन्दा रह चुकी थी और आजकल की परिस्थितियों के उपयुक्त नहीं थी। लेकिन यहाँ भी वही बात हुई; यह प्रथा या संस्था टूट तो गई, लेकिन इसकी जगह लेने को नई परिस्थितियों के अनुकूल किसी नई संस्था या संगठन का जन्म नहीं हुआ। पुनर्निर्माण और पुनर्संगठन का यह काम हमें अब भी करना होगा। करने को तो बहुत कुछ पड़ा है, लेकिन एक बार हम जकड़े रखने वाली विदेशी राज्य की ज़ंजीरों से निकल तो आयें!

अभी तक हमने ज़मीन और किसानों पर होनेवाले ब्रिटिश नीति के अप्रत्यक्ष परिणामों पर विचार किया है। ये अप्रत्यक्ष परिणाम ही काफ़ी भयंकर थे! आओ, अब हम ईस्ट इण्डिया कम्पनी की असली नीति यानी उस नीति पर विचार करें जिसका किसान और ज़मीन या काश्तकारी से सम्बन्ध रखने वाले सभी दूसरे लोगों पर प्रत्यक्ष रूप से असर पड़ा। मुझे भय है कि तुम्हारे लिए यह एक पेचीदा और ज़रा रूखा विषय होगा। लेकिन हमारा देश इन ग़रीब किसानों से भरा पड़ा है, और इसलिए हमें एक बार यह समझने की कोशिश तो करनी चाहिए कि उनकी क्या तक़लीफ़ें हैं और किस तरह हम उनकी सेवा कर सकते हैं, और उनको खुशहाल बना सकते हैं।

हम लोग ज़मींदारों, ताल्लुक़ेदारों और उनके असामियों के बारे में सुना करते हैं। असामी भी कई तरह के होते हैं और असामियों के भी असामी होते हैं। मैं इन सबकी पेचीदगियों में तुम्हें नहीं ले जाना चाहता। मोटे तौर से इस वक्त ज़मींदार लोग बीच के आदमी हैं, अर्थात् उनकी हस्ती सरकार और काश्तकारों के बीच में है। काश्तकार उनका असामी है और वह उन्हें ज़मीन के इस्तेमाल के बदले लगान या एक तरह का कर या टैक्स देता है, क्योंकि ज़मीन ज़मींदार की मिलकियत समझी जाती है। ज़मींदार इस लगान में से एक हिस्सा मालगुज़ारी के तौर पर अपनी ज़मीन के कर या महसूल का सरकार को अदा करता है। इस तरह ज़मीन की पैदावार तीन हिस्सों में बंट जाती है; एक हिस्सा ज़मींदार को मिलता है, दूसरा सरकार को जाता है और तीसरा जो बचता है, काश्तकार के

पल्ले पड़ता है। यह ख़याल न करना कि ये हिस्से सब बराबर-बराबर होते होंगे। किसान खेत पर काम करता है, और यह उसीकी मेहनत, जुताई, बुआई और दसियों तरह की दूसरी कोशिशों का नतीजा है कि जमीन से कुछ पैदा होता है। जाहिर ही है कि अपनी मेहनत का फल उसे मिलना चाहिए। सरकार को सारे समाज की प्रतिनिधि होने की हैसियत से हरेक व्यक्ति के लाभ के लिए बहुत से जरूरी फ़र्ज अदा करने होते हैं। सारे बच्चों को तालीम देनी होती है, अच्छी सड़कें और आमद-रफ़्त के दूसरे साधन बनाने होते हैं, अस्पताल और सफ़ाई के दूसरे सीग़े रखने पड़ते हैं, बाग़-बग़ीचे और अजायबघर और कई तरह की और न मालूम क्या-क्या चीजें बनवानी होती हैं। इसके लिए उसे रुपयों की जरूरत होती है और इसलिए यह मुनासिब ही है कि जमीन की पैदावार में से वह एक हिस्सा ले। वह हिस्सा कितना होना चाहिए, यह सवाल दूसरा है। किसान जो कुछ सरकार को देता है, वह तो असल में सड़क, तालीम, सफ़ाई वग़ैरा सरकारी सेवाओं के रूप में वापस आजाता है या आजाना चाहिए। आजकल हिन्दुस्तान की सरकार विदेशी है, और इसलिए हम उसे पसन्द नहीं करते। लेकिन ठीक तरह से संगठित और स्वतंत्र देश में जनता ही सरकार होती है।

इस तरह जमीन की पैदावार के दो हिस्सों से तो हम निबट चुके—एक हिस्सा काश्तकार का और दूसरा सरकार का। तीसरा हिस्सा, जैसाकि हम देख चुके हैं जमींदार को मिलता है। इसको पाने या हक़दार होने के लिए वह क्या करता है? बिलकुल कुछ भी नहीं, या दरअसल कुछ नहीं। पैदावार के काम में बिना किसी तरह की मदद पहुँचाये ही वह पैदावार का एक बड़ा हिस्सा—अपना लगान—ले लेता है। इस तरह वह गाडी का पाँचवाँ पहिया हो जाता है, जो न सिर्फ़ ग़ैरजरूरी ही बल्कि एक रुकावट और जमीन पर एक बेकार बोझ भी है। और लाज़िमी तौरपर जिस शख़्स को यह अनावश्यक बोझ उठाने की तकलीफ़ बर्दाश्त करनी पड़ती है, वह है बेचारा काश्तकार, जिसे अपनी कमाई का हिस्सा निकालकर देना पड़ता है। यही वजह है कि बहुत से लोगों का ख़याल है कि जमींदार या ताल्लुक़ेदार बिलकुल ग़ैरजरूरी दरमियानी आदमी हैं, और जमींदारी प्रथा एक ख़राब प्रथा है, इसलिए बदल दी जानी चाहिए, जिससे कि दरमियानी आदमी ग़ायब हो जायँ। इस समय यह जमींदारी प्रथा हिन्दुस्तान में, खासकर तीन प्रान्तों—बंगाल बिहार और संयुक्तप्रान्त में जारी है।

दूसरे प्रान्तों में काश्तकार अपना लगान आमतौर पर बालबाला सरकार को अदा करते हैं, कोई दरमियानी आदमी वहाँ नहीं है। कभी-कभी ये लोग भू-स्वामी

किसान (Peasant Proprietor) कहलाते हैं; कहीं-कहीं, जैसे पंजाब में, उन्हें जमींदार कहा जाता है, लेकिन संयुक्त प्रान्त, बंगाल और बिहार के बड़े-बड़े ज़मींदारों से ये जुदा होते हैं।

इतने लम्बे-चौड़े विवरण के बाद अब मैं तुम्हें बताना चाहता हूँ कि बंगाल, बिहार और संयुक्तप्रान्त में फूलती-फलती यह ज़मींदारी प्रथा, जिसके बारे में हम इन दिनों इतना सुनते रहते हैं, हिन्दुस्तान में एक बिलकुल नई चीज़ है। यह अंग्रेज़ों की ईजाद है। उनके पहले इसकी कोई हस्ती, कोई वजूद न था।

पुराने ज़माने में इस तरह के कोई ज़मींदार, ताल्लुक़ेदार या दरमियानी आदमी नहीं होते थे। काश्तकार अपनी पैदावार का एक हिस्सा बालाबाला सरकार को देते रहते थे। कभी-कभी गाँव की पंचायत गाँव के किसानों की तरफ़ से यह काम कर देती थी। अकबर के ज़माने में उसके मशहूर अर्थ-सचिव राजा टोडरमल ने बड़ी सावधानी से ज़मीन की पैमाइश करवाई थी। सरकार काश्तकार से पैदावार का तीसरा हिस्सा लेती थी, और किसान चाहता तो वह नक़दी में भी दे सकता था। आमतौर पर लगान भारी नहीं थे, और वे बहुत धीरे-धीरे सिलसिले से बढ़ाये गये थे, इसके बाद मुग़ल साम्राज्य के पतन का ज़माना आया। केन्द्रीय शासन कमज़ोर होगया और लगान या करों की वसूली ठीक-ठीक होना बन्द हो गई। तब वसूली का एक नया तरीक़ा ईजाद हुआ। लगान की वसूली के लिए तनख़्वाह पर नहीं, बल्कि एजेण्ट के तौर पर कलक्टर नियुक्त किये गये, वे जो वसूल हुई रकम में से अपने मेहनताने के तौर पर दसवाँ हिस्सा रख सकते थे। इन्हें मालगुज़ार, या कभी-कभी ज़मींदार या ताल्लुक़ेदार कहा जाता था; लेकिन यह ख़याल रहे कि इन शब्दों का तब वह अर्थ नहीं होता था, जो आज किया जाता है।

जैसे-जैसे केन्द्रीय शासन ढीला पड़ता गया, यह प्रथा भी बद से बदतर होती गई। हालत यहाँतक गिरी कि जुदे-जुदे क्षेत्रों या हलकों के मालगुज़ारपने के काम का आम नीलाम होने लगा और सबसे ऊँची बोली लगानेवाले को वह मिलने लगा। इसका अर्थ यह हुआ कि जिसे यह काम मिलता उसको बदनसीब किसान से जितना चाहे उतना रुपया वसूल करने की छुट्टी रहती थी, और अपनी इस आज़ादी का वह भरपूर उपयोग करता था। धीरे-धीरे ये मालगुज़ार मौरूसी होने लगे, क्योंकि सरकार इतनी कमज़ोर हो गई थी कि इनका हटाया जाना सम्भव न रहा।

दरहक़ीक़त शुरू-शुरू में बंगाल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की मानी जानेवाली क़ानूनी हैसियत मुग़ल बादशाह की तरफ से काम करने वाले मालगुज़ार की थी। १७६५ में कम्पनी को दिये गये 'दीवानी' के पट्टे का यही मतलब था। इस तरह कम्पनी

दिल्ली के मुग़ल बादशाह की दीवान बन गई । लेकिन थी यह सब बनावट । १७५७ की प्लासी की लड़ाई के बाद अंग्रेज़ बंगाल के सर्वेसर्वा-से बन गये थे, बेचारे मुग़ल सम्राट के पास नाममात्र को या कहीं भी कोई ताक़त नहीं रही ।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी और उसके अफ़सर बेहद लालची थे । जैसाकि मैं तुम्हें बता चुका हूँ, इन लोगों ने बंगाल का ख़ज़ाना ख़ाली कर डाला था, और जहाँ कहीं भी मौक़ा लगता पैसे पर ज़बर्दस्त पंजा मारने में न चूकते थे । उन्होंने बंगाल और बिहार को चूस डालने और ज्यादा-से-ज्यादा लगान उगाहने की कोशिश की। उन्होंने छोटे मालगुज़ारों की सृष्टि की और उनसे लगान की माँग बेइन्तहा बढ़ा दी । ज़मीन का लगान थोड़े ही दिनों में दुगुना कर दिया गया । कोई वक्त पर लगान अदा न करता तो फ़ौरन बेदख़ल कर दिया जाता था । मालगुज़ार अपनी तरफ़ से यह बेरहमी और सितमगिरी काश्तकार पर ढाते; उन पर भारी-से-भारी लगान लगा दिया जाता, और उनके पट्टे छीन लिये जाते । प्लासी की लड़ाई के बारह वर्ष और दीवानी की सनद दिये जाने के चार वर्ष के अन्दर-ही-अन्दर ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति और साथ ही बारिश के न होने से बंगाल और बिहार में ऐसा भयंकर अकाल पड़ा, कि उसमें कुल आबादी का एक तिहाई हिस्सा नेस्त-नाबूद हो गया । १७६९-७० के इस अकाल की चर्चा में अपने पिछले एक ख़त में तुमसे कर चुका हूँ, और यह भी बता चुका हूँ कि इस अकाल के होते हुए भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने लगान की पाई-पाई वसूल करके छोड़ी । इस बारे में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अफ़सरों की असाधारण मुस्तैदी का ज़िक्र खास तौर पर किया जाना चाहिए । चाहे लाखों-करोड़ों की तादाद में मर्द-औरत और बच्चे मौत के घाट उतर रहे हों तो उतरते रहें, वे तो मुर्दों की लाशों तक से रुपया खींचने की जुर्रत रखते थे, ताकि इंग्लैण्ड के मालदारों को भारी-से-भारी मुनाफ़े बाँटे जासकें ।

इस तरह अगले बीस या इससे भी ज्यादा वर्षों तक यही हिसाब चलता रहा । अकाल होने पर भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी रुपया चूसती रही और इस तरह बंगाल के सुन्दर प्रान्त को तबाह कर दिया गया । बड़े-बड़े मालगुज़ार तक भिखारी हो गये, सिर्फ़ इसी बात से इस बात का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि बेचारे मुसीबत के मारे किसानों की क्या हालत हुई होगी । हालत इतनी ख़राब होगई थी कि ख़ुद ईस्ट इण्डिया कम्पनी को चेतना पड़ा, और स्थिति को सम्भालने की कोशिश करनी पड़ी । उस समय का गवर्नर-जनरल लार्ड कार्नवालिस, जो ख़ुद इंग्लैण्ड का एक बड़ा ज़मींदार था, हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी ढंग पर ज़मींदार क़ायम करना चाहता था । पिछले कुछ अर्से से मालगुज़ार भी ज़मींदार की सी ही शकल इख़्तियार किये हुए थे।

कार्नवालिस ने इनके साथ समझौता करके इन्हें ही ज़मींदार मान लिया। नतीजा यह हुआ कि पहली मर्त्तबा हिन्दुस्तान को यह दरमियानी आदमी मिला, और बेचारे काश्तकार महज़ असामी रह गये। अँग्रेज़ों ने इन ज़मींदारों से अपना सीधा ताल्लुक़ रक्खा और उन्हें अपने असामियों के साथ मनमानी करने को खुला छोड़ दिया। ज़मींदार के लालची पंजे से बेचारे किसान की रक्षा का कोई साधन न था।

बंगाल और बिहार के ज़मींदारों के साथ १७९३ में कार्नवालिस ने जो यह फ़ैसला किया था, उसे 'दायमी बन्दोबस्त' कहते हैं। 'बन्दोबस्त' शब्द का अर्थ है हरेक ज़मींदार द्वारा सरकार को दिये जाने वाले ज़मीन के लगान की रक़म मुकर्रर किया जाना। बंगाल और बिहार के लिए यह बन्दोबस्त मुस्तक़िल कर दिया गया। उसमें कोई तब्दीली नहीं हो सकती थी। बाद में जब उत्तर-पश्चिम में अवध और आगरा तक अँग्रेज़ी राज्य बढ़ गया, तब उनकी नीति बदल गई। पर ज़मींदारों के साथ बंगाल की तरह मुस्तक़िल बन्दोबस्त न करके, अस्थायी बन्दोबस्त किया गया। यह स्थायी या ग़ैर-मुश्तकिल बन्दोबस्त समय-समय पर, आमतौर पर हर तीसवें साल, दुहराया जाता था और ज़मीन के लगान को रक़म फिर नये सिरे से मुक़र्रर की जाती थी। अमूमन हर बन्दोबस्त में यह रक़म बढ़ती ही जाती थी।

दक्षिण में मदरास और उसके आसपास ज़मींदारी प्रथा जायज़ नहीं थी। वहाँ मौरूसी काश्तकारी थी और इसलिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सीधा काश्तकारों से बन्दोबस्त कर लिया। लेकिन वहाँ और हर जगह, अपने कभी न पूरे होने वाले लालच की वजह से कम्पनी के अफ़सरों ने लगान की रक़में बेहद ऊँची करदीं और पूरी बेरहमी से वह वसूल की गईं। अदम-अदायगी की सज़ा होती थी फ़ौरन ही बेदख़ली; लेकिन बेचारा किसान और कहाँ जाता? ज़मीन पर ज़रूरत से ज्यादा बोझा होने की वजह से हर जगह उसकी हेठी रहती थी; इसलिए भूखों मरते आदमी हमेशा जैसी भी चाहो वैसी शर्तों पर उसे मंज़ूर करने को तैयार रहते थे। जब अर्से से मुसीबत के मारे किसान और ज्यादा बरदाश्त न कर सकते तो अक्सर लड़ाई-झगडे और आराज़ी पर दंगे हो जाया करते थे।

उन्नीसवीं सदी के बीच के क़रीब बंगाल में एक नया अत्याचार शुरू हुआ। कुछ अँग्रेज़ लोग नील की तिजारत की ग़रज़ से ज़मींदार बन बैठे। उन्होंने अपने असामियों पर नील की खेती के बारे में बडी सख़्त-सख़्त शर्त्तें लादीं। उन्हें अपने खेतों के कुछ नियत हिस्से में नील की काश्त करने और उसे फिर अँग्रेज़ी ज़मींदारों या 'प्लाण्टर्स', जैसा कि उन्हें कहा जाता था, के हाथ एक बँधी दर पर बेचने के लिए

मजबूर किया गया। यह प्रथा 'प्लाण्टेशन' प्रथा कहलाती है। काश्तकारों या असामियों पर जो शर्तें लादी गईं थीं, इतनी सख़्त थीं कि उनके लिए उनका पूरा करना बहुत मुश्किल था। इधर प्लाण्टर लोगों की मदद के लिए अंग्रेज़ सरकार आ पहुँची और बेचारे किसानों से शर्तों के मुताबिक़ ज़बर्दस्ती नील की खेती के लिए ख़ास क़ानून बना डाले। इन क़ानूनों और इनकी सजाओं के ज़रिये नील की खेती करने वाले काश्तकार कुछ बातों में इन प्लाण्टरों के गुलाम और चाकर हो गये। नील के कारखानों के कारिन्दे उनको सताते और डराते-धमकाते रहते थे, क्योंकि सरकार से संरक्षण पाकर ये अँग्रेज़ या हिन्दुस्तानी कारिन्दे अपने आपको बिलकुल महफ़ूज़ समझने लगे थे। अक्सर, जब नील की क़ीमत गिरजाती, तब किसानों के लिए चावल या ऐसी ही कोई दूसरी चीज़ें बोने में ज्यादा फ़ायदा रहता, लेकिन उन्हें ऐसा करने नहीं दिया जाता था। किसानों के लिए सख़्त मुसीबत और तबाही थी। आख़िरकार इन ज़ुल्मों से तंग आकर साँप ने फन उठा ही तो लिया। प्लाण्टर्स के ख़िलाफ़ किसानों ने बलवा कर दिया और एक कारख़ाने को लूट लिया। लेकिन वे कुचलकर दबा दिये गये।

इस ख़त में मैंने कुछ खुलासे के साथ उन्नीसवीं सदी के किसानों की हालत का एक चित्र तुम्हें बताने की कोशिश की है। मैंने यह समझाने की कोशिश की है कि किस तरह हिन्दुस्तानी किसान की क़िस्मत लगातार बद से बदतर होती गई; किस तरह उसके सम्पर्क में आनेवाले हरेक शख़्स ने उसे लूटा; लगान वसूल करने वाला, ज़मींदार, बनिया, प्लाण्टर और उसका कारिन्दा और सबसे बड़ा बनिया ख़ुद अंग्रेज़ सरकार—चाहे ईस्ट इण्डिया कम्पनी की मार्फ़त, चाहे सीधा—सबके सब उसे चूसते गये। इस सारे शोषण की जड़ में थी अंग्रेज़ों की वह नीति जो वे हिन्दुस्तान में जान-बूझकर चला रहे थे। घरेलू उद्योग-धंधे, उनकी जगह दूसरे उद्योग जारी करने की कोशिश किये बिना ही, उजाड़ दिये गये और बेरोज़गार दस्तकार गाँवों में खदेड़ दिये गये। नतीजा यह हुआ कि ज़मीन पर ज़रूरत से ज्यादा दबाव पड़ गया; ज़मींदारी जारी हुई; नील की खती की प्रथा चलाई गई; ज़मीन पर भारी टैक्स लगाये गये, जिनका नतीजा हुआ बेहद लगान और उनकी बेरहम वसूली; किसानों को सूदख़ोर बनियों के आगे ढकेल दिया गया, जिनके फौलादी पंजे से उनका कभी छुटकारा हो नहीं सकता था; वक़्त पर लगान या मालगुज़ारी अदा न कर सकने की बेबसी पर बेशुमार बेदख़लियाँ की गईं; और इन सबके ऊपर पुलिस के सिपाही, महसूल इकट्ठा करनेवाले और ज़मींदार और कारख़ाने के कारिन्दों की लगातार ज्यादतियों ने ऐसा आतंक जमाया कि इसने—किसानों के हृदय और आत्मा जो कुछ

उनमें थी सबको कुचल दिया। और इस सबका लाज़िमी नतीजा ख़ौफ़नाक तबाही के सिवा और क्या हो सकता था ?

भयंकर अकाल हुए, जिन्होंने लाखों की आबादी को तबाह कर दिया। और अजीब बात तो यह कि जब कि अनाज की कमी थी और लोग उसके बिना भूखों मर रहे थे, उसी समय गेहूँ और दूसरे अनाज अमीर सौदागरों के मुनाफ़े के लिए लाद-लादकर ग़ैर मुल्कों को भेजे जा रहे थे। लेकिन असल तबाही रसद की कमी की नहीं थी, क्योंकि रसद— अनाज वग़ैरा—तो रेल के ज़रिये मुल्क के दूसरे हिस्सों से भी आ सकती थीं, बल्कि ख़रीदने के साधन —पैसे की कमी की थी। १८६१ ई० में उत्तर हिन्दुस्तान में, ख़ासकर हमारे प्रान्त में, भारी अकाल पड़ा, और कहा जाता है कि जिस हिस्से में अकाल फैला हुआ था, वहाँ की ८½ फीसदी आबादी मौत की भेंट हुई। पन्द्रह वर्ष बाद, १८७६ में, दो वर्ष तक एक और भयानक अकाल उत्तरी, मध्य और दक्षिणी हिन्दुस्तान में पड़ा। संयुक्त प्रान्त की फिर सबसे भारी तबाही हुई, साथ ही मध्यभारत और पंजाब के कुछ हिस्सों में भी वैसी ही तबाही हुई। क़रीब एक करोड़ आदमी मौत के मुँह में गये ! बीस वर्ष बाद, १८९६ में, क़रीब-क़रीब इन्हीं अभागे सूबों में हिन्दुस्तान के इतिहास में बिलकुल अपरिचित एक और दूसरा बड़ा भयंकर अकाल पड़ा। अकाल के इस भयंकर आगमन ने उत्तरी और मध्य हिन्दुस्तान को एक दम नीचे बिठा दिया और बुरी तरह कुचल दिया। १९०० में एक और अकाल पड़ा।

इस छोटे से पैरेग्राफ़ में मैंने तुम्हें चालीस साल के अन्दर होनेवाले चार ज़बरदस्त क़हत या अकालों का हाल बताया है। इस दर्दनाक क़िस्से में जो ख़ौफ़नाक मुसीबतें और भीषणतायें भरी हुई हैं, उनका न तो मैं बयान कर सकता हूँ, न तुम गुमान ही कर सकती हो। असल बात यह है कि शायद मैं यह चाहता भी नहीं कि तुम उन मुसीबतों और भीषणताओं को अनुभव करो, क्योंकि उनका ख़याल होते ही ग़ुस्सा और कटुता पैदा होगी और मैं नहीं चाहता कि इस छोटी सी उम्र में तुम में कटुता पैदा हो।

तुमने उस बहादुर अंग्रेज़ महिला फ़्लोरेंस नाइटिंगल का नाम सुना है, जिसने पहले पहल युद्ध में घायलों की सेवा-शुश्रूषा का ऐसा सुव्यवस्थित संगठन किया था। बहुत पहले ही १८७८ में, उसने लिखा था—"हमारे पूर्वी साम्राज्य का किसान पूर्व में, नहीं-नहीं शायद सारी दुनिया में, सबसे ज्यादा दर्दनाक नज़ारा है।" उसने "अपने क़ानूनों के नतीजों" की चर्चा करते हुए लिखा है कि इन्होंनें "दुनिया के सबसे ज्यादा उपजाऊ मुल्क में, और बहुत सी ऐसी जगहों पर, जहाँ पर अकाल नाम की

कोई चीज़ होती ही नहीं थी, लोगों को चकनाचूर करदेने वाली और लगातार आधे पेट भूखों रहकर मरने की हालत पैदा करदी।"

सचमुच, ऐसे बहुत कम नज़ारे होंगे जो धँसी हुई आँखों और चमकती और निराश नज़रों वाले हमारे किसानों से ज्यादा दर्दनाक हों। हमारे किसानों को इतने वर्षों से कितना बोझ उठाना पड़ रहा है ! और हमें यह बात भूल नहीं जाना चाहिए कि हम जो थोडे बहुत खुशहाल हो पाये हैं, उनके इस बोझ का एक हिस्सा बढ़ाकर ही हुए हैं। विदेशी और देशी, हम सभी लोग इस अर्से से मुसीबत के मारे किसान को चूसते रहे हैं और इसकी पीठ पर सवारी गांठे बैठे हैं। ऐसी हालत में उसकी पीठ टूट जाय तो क्या आश्चर्य ?

लेकिन, बहुत अर्से की बात है, किसान को आशा की एक झलक दिखाई दी, अच्छा युग आने और बोझा हलका होने की धीमी-सी आवाज उसके कानों में सुनाई दी; एक छोटा आदमी आया, जिसने सीधा उसकी आँखों में घुसकर देखा, उसके मुरझाये हुए दिल की तहतक पहुँचकर एक ज़माने की उसकी पीड़ा को अनुभव किया। इसकी नज़र में जादू था, स्पर्श में आग थी, आवाज़ में हमदर्दी और हृदय में करुणा, छलकता हुआ प्रेम और मृत्युपर्यन्त विश्वास था। और जब किसानों, मज़दूरों और उन सबने, जो पैरों तले रौंदे जा रहे थे, उसे देखा और उसकी आवाज़ को सुना, तो उनके मुर्दा दिल ज़िन्दा हो उठे, सनसनी से भर गये; उनमें एक विचित्र आशा का उदय हुआ और हर्ष के मारे वे चिल्ला उठे--"महात्मा गांधी की जय" और अपनी मुसीबतों और अत्याचारों की घाटी से बाहर निकलने के लिए तुल खड़े हुए। लेकिन जो चक्की इतने दिनों से इन्हें पीस रही थी, उन्हें आसानी से बाहर जानें देनें वाली नहीं थी। वह फिर चली, और उन्हें कुचलने के लिए नये हथियार, नये क़ानून, और आर्डिनेन्स निकले और जकड़ने के लिए नई जंजीरें तैयार हुई। और आगे ?--यह बताना मेरे क़िस्से या इतिहास का भाग नहीं है। यह अभी आगे आने वाले 'कल' की बात है और जब वह 'कल' 'आज' हो जायगा, हम सब कुछ अपने आप जान जायँगे उसमें किसी को सन्देह ही क्या है ?

: ११२ :

अंग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान पर कैसे शासन किया ?

५ दिसम्बर, १९३२

उन्नीसवीं सदी के हिन्दुस्तान पर मैं अभी तुम्हें तीन लम्बे पत्र लिख चुका हूँ। अब तक जितने भी पत्र मैंने तुमको लिखे हैं, उनमें पिछला पत्र शायद सब से बड़ा था। लम्बे अर्से की तीव्र वेदना की यह एक दास्तान है, और अगर मैं इसे बहुत ही मुख़्तसर या संक्षिप्त करता तो मुझे डर था कि तुम्हारे लिए उसका समझना और भी ज्यादा मुश्किल हो जाता। किसी दूसरे देश या काम की बनिस्बत हिन्दुस्तान के इतिहास के हिस्से पर शायद मैं ज्यादा ज़ोर दे रहा हूँ। यह कुछ अस्वाभाविक नहीं है। हिन्दुस्तानी होने के कारण मेरी इसमें ज्यादा दिल-चस्पी है, और इसके बारे में ज्यादा जानकारी होने की वजह से, अच्छी तरह खुलकर लिख भी सकता हूँ। ऐतिहासिक दिल-चस्पी के सिवा इस ज़माने की और भी बहुत-सी बातें हमारे लिए कहीं ज्यादा दिल-चस्पी का विषय हैं। आज के हिन्दुस्तान की जो हालत है वह उन्नीसवीं सदी की उस जद्दोजहद का नतीजा है। इस समय हिन्दुस्तान जैसा है, उसे अगर हमें समझना है, तो उन कारणों को भी हमें जरूर समझना होगा, जिन्होंने इसे बनाया या बिगाड़ा है। तभी हम समझदारी और होशियारी के साथ उसकी सेवा कर सकेंगे और तभी यह जान सकेंगे कि हमें क्या करना और कौन-सा रास्ता इख़्तियार करना चाहिए।

हिन्दुस्तान के इतिहास के इस काल का विवरण अभी मैंने समाप्त नहीं किया है। अभी तो मुझे इसके सम्बन्ध में बहुत कुछ कहना है। इन पत्रों में मैं इसके एक या अधिक पहलुओं को लूँगा और उसके सम्बन्ध में कुछ बताने की कोशिश करूंगा। हरेक पहलू पर मैं अलग-अलग चर्चा करूँगा, ताकि उसके समझने में आसानी हो। अलबत्ता यह तुम देखोगी कि जिन प्रगतियों और परिवर्त्तनों या हलचलों और तब्दी-लियों का जिक्र मैं कर चुका हूँ और जिनकी चर्चा इस पत्र में और अगले पत्रों में करूँगा, वे सब कम-बढ़ एक ही साथ घटित हुई हैं, एक का दूसरी पर असर पड़ा है और इन्हींके बीच उन्नीसवीं सदी के हिन्दुस्तान का जन्म हुआ है।

हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों के इन कारनामों और काली करतूतों का हाल पढ़कर कई जगह तो तुम उनके अत्याचार और उससे पैदा हुई व्यापक तबाही पर गुस्से से भर जाओगी। लेकिन इस सब के होने में ग़लती किसकी थी? क्या यह सब हमारी ही कमज़ोरी, बेवक़ूफ़ी या जहालत का नतीजा नहीं था? कमज़ोरी और जहालत

हमेशा जुल्म या अत्याचार के बुलानेवाले हुआ करते हैं। अगर अंग्रेज हमारी आपसी नाइत्तफाक़ी या फूट से फ़ायदा उठा सकते हैं, तो यह हमारी ही ग़लती है कि हम आपस में झगड़ते हैं। जुदा-जुदा दलों की ख़ुदगर्ज़ी का सहारा लेकर अगर वे हममें फूट डाल सकते और हमें कमज़ोर बना सकते हैं, तो उन्हें ऐसा कर सकने का मौक़ा देना ही ख़ुद इस बात की निशानी है कि अंग्रेज हमसे ऊँचे हैं। इसलिए, अगर तुम नाराज़ होओ तो अपनी इस कमज़ोरी, जहालत और आपसी लड़ाई पर नाराज़ होना, क्योंकि यही हमारी मुसीबतों का कारण है।

हम लोग इन्हें अंग्रेजों के अत्याचार कहते हैं। लेकिन असल में ये अत्याचार हैं किसके? कौन इनसे फ़ायदा उठाता है? सारी अंग्रेज़ जाति नहीं, क्योंकि ख़ुद उस जाति में लाखों बदनसीब और अत्याचार से पीड़ित लोग हैं। और निस्सन्देह हिन्दुस्तानियों के कई छोटे-छोटे दल और वर्ग ऐसे हैं, जिन्हें हिन्दुस्तान के ब्रिटिश शोषण से कुछ-न-कुछ लाभ हुआ है। तब हम भेद कहाँ करें? दरअसल यह प्रश्न व्यक्तियों का नहीं सिस्टम या प्रणाली का है। हम एक विशाल मशीन के नीचे दबे रहे हैं, जिसने हिन्दुस्तान के लाखों-करोडों को चूसा और कुचल डाला है। वह मशीन है औद्योगिक पूंजीवाद से उत्पन्न नया साम्राज्यवाद। इस शोषण का लाभ ज्यादातर इंग्लैण्ड को जाता है, लेकिन इंग्लैण्ड में उसका फ़ायदा कुछ ख़ास वर्गों को ही पहुँचता है। इसी तरह इस शोषण का कुछ हिस्सा हिन्दुस्तान में भी बच रहता है, और कुछ वर्गों को उससे थोड़ा-बहुत फ़ायदा पहुँच जाता है। इसलिए हमारा कुछ व्यक्तियों से या सारी अंग्रेज़ जाति से नाराज़ होना बेवकूफ़ी है। अगर कोई प्रणाली ग़लत है और हमें नुक़सान पहुँचाती है, तो उसे ही बदलना होगा। इस बात से कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं पड़ता कि उस प्रणाली को कौन चलाता है! अक्सर नेक और भले आदमी भी किसी बुरी प्रणाली की रट में पड़कर लाचार हो जाते हैं। दुनिया भर में तुम्हारी इच्छा सबसे बढ़कर और नेक होने पर भी, तुम बालू और पत्थर को किसी अच्छे खाने में बदल नहीं सकतीं—उनसे अच्छा खाना बना नहीं सकती, चाहे तुम उन्हें कितना ही पकाओ। मेरे ख़याल से यही बात साम्राज्यवाद और पूंजीवाद की है। इनमें सुधार हो नहीं सकता; इनका एकमात्र असली सुधार है इनका जड़ से ख़ातमा कर देना। लेकिन यह मेरी अपनी राय है। कुछ लोग इससे मतभेद रखते हैं। तुम्हें किसी बात को ज्यों का त्यों मान लेने की जरूरत नहीं। जब समय आयगा, तुम अपने आप अपनी राय क़ायम कर सकोगी। लेकिन एक बात से ज्यादातर लोग सहमत हैं कि जो कुछ ख़राब है वह प्रणाली हुकूमत की तर्ज़ है, और इसलिए व्यक्तियों से नाराज़ होना बेकार है। अगर हम कोई तब्दीली चाहते हैं, तो हमें इस प्रणाली पर

हमला करके उसे बदल डालना चाहिए। इस प्रणाली के कुछ नुकसानदेह नतीजे हम हिन्दुस्तान में देख चुके हैं। जब हम चीन, मिस्र और बहुत से दूसरे देशों का विचार करते हैं, तो वहाँ भी हम वही प्रणाली और पूंजीवाद—साम्राज्यवाद की उसी मशीन को काम करते हुए, और दूसरे लोगों का शोषण करते हुए देखते हैं।

हम अब अपने क़िस्से पर वापस लौटते हैं। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि जिस समय अंग्रेज़ हिन्दुस्तान में आये, यहाँ के घरेलू उद्योग कितने आगे बढ़े हुए थे। उत्पादन के तरीक़ों की स्वाभाविक प्रगति के साथ, अगर उसमें बाहरी हस्तक्षेप न होता, तो बहुत मुमकिन था कि कभी-न-कभी हिन्दुस्तान में भी यान्त्रिक यानी मशीनों का उद्योग आ जाता। लोहा और कोयला इस मुल्क में मौजूद था, और जैसा कि हम इंग्लैण्ड में देख चुके हैं नये उद्योगवाद की स्थापना में इनसे बहुत कुछ मदद मिलती थी और दरअसल एक तरह उसी से इंग्लैण्ड में वह काम हुआ। अन्त में वही हिन्दुस्तान में भी हुआ होता। राजनैतिक अवस्था में गड़बडी होने के कारण मुमकिन है कि इसमें कुछ देर लग जाती। लेकिन इसी बीच अंग्रेजों ने दस्तंन्दाजी कर दी। ये लोग ऐसे देश और जाति के प्रतिनिधि थे, जो अपने यहाँ परिवर्त्तन कर बडी-बडी मशीन और कल-कारख़ाने क़ायम कर चुके थे। इससे यह कल्पना की जा सकती थी कि ये लोग हिन्दुस्तान में भी इसी तरह का परिवर्त्तन किया जाना पसन्द करेंगे और यहाँ जिस वर्ग के लोगों के ज़रिये इस तरह का परिवर्तन हो सकने की सम्भावना हो उसे प्रोत्साहित भी करेंगे। लेकिन उन्होंने ऐसा कुछ नहीं किया। बल्कि इससे बिलकुल उलटा जो हो सकता था वही किया। हिन्दुस्तान को अपना प्रतिद्वन्द्वी मानकर उन्होंने उसके उद्योगों को नष्ट कर डाला और मशीनों के उद्योग को हर तरह से निरुत्साहित किया।

इस तरह हम हिन्दुस्तान में एक अजीब हालत पाते हैं। हम देखते हैं कि इस वक़्त योरप में सबसे आगे बढ़े हुए ये अँग्रेज़ हिन्दुस्तान में सबसे ज्यादा पिछडे हुए और दकियानूसी वर्गों के साथ मेल कर रहे हैं; मौत के मुँह में जाते हुए सामन्त वर्ग को ज़िन्दा रहने में सहायता दे रहे हैं, ज़मींदार वर्ग खड़ा कर रहे हैं, और सैकडों रक्षित या अधीन हिन्दुस्तानी राजाओं को उनके अर्द्ध-सामन्ती राज्यों में सहारा दे रहे हैं। दरअसल वे सामन्त-प्रथा को हिन्दुस्तान में मज़बूत बना रहे हैं। यही अँग्रेज़ योरप में मध्यमवर्ग की उस क्रांति के अगुआ थे, जिसने उनकी पार्लमेण्ट को ताक़तवर बनाया था; यही औद्योगिक क्रान्ति के भी अगुआ थे, जिसके परिणाम-स्वरूप संसार में औद्योगिक पूँजीवाद का जन्म हुआ। इन बातों में अगुआ होने के कारण ही वे अपने प्रतिद्वन्द्वियों से कहीं आगे बढ़ गये और एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की।

अलावा भी, ब्रिटिश सरकार ने दोनों धर्मों के कट्टरपन को बढ़ाने में जानबूझकर और अनजान में, दोनों तरह, सहायता दी। अंग्रेज़ों को धर्म या उसके परिवर्तन में कोई दिलचस्पी थी ही नहीं। वे तो रुपया पैदा करने को घर से बाहर निकले थे। वे तो मज़हबी मामलों में किसी तरह की दस्तन्दाज़ी करने से डरते थे, कि कहीं लोग गुस्से में आकर उनके ख़िलाफ़ बग़ावत न कर बैठें। इसलिए हस्तक्षेप का सन्देह तक न होने देने के लिए वे यहाँ तक आगे बढ़ गये कि देश के धर्म की या यों कहो कि धर्म के ऊपरी रूप की रक्षा और सहायता तक करने लगे। ज्यादातर इसका नतीजा यह हुआ कि धर्म की ऊपरी शकल तो बनी रही, लेकिन अन्दर कुछ न बचा।

कट्टर लोगों की नाराज़गी के इस डर से सुधारों के बारे में सरकार सुधारकों के ख़िलाफ़ कट्टर लोगों का पक्ष लेने लगी, इस तरह सुधार का काम रुक गया। कोई विदेशी सरकार देश में शायद ही कोई सामाजिक सुधार कर सकती है; क्योंकि वह जो कुछ भी परिवर्तन करना चाहेगी, उसीका लोग विरोध करेंगे। हिन्दू धर्म और हिन्दू शास्त्र कई बातों में परिवर्तनशील और प्रगतिशील थे, यह बात दूसरी है कि पिछली सदियों में इसकी प्रगति बहुत धीमी रही। स्वयं हिन्दू-शास्त्र एक तरह से प्रथा या रिवाज है, और रिवाज हमेशा बदलते और तरक्क़ी करते रहते हैं। हिन्दू-शास्त्र का परिस्थितियों के अनुकूल बन सकने का यह गुण ब्रिटिश राज्य के अन्दर ग़ायब होगया और उसकी जगह बडे-से-बडे कट्टरपंथियों की सलाह से बनाए गये कठोर शास्त्रीय नियमों ने ले ली। इस तरह हिन्दू-समाज की वह धीमी प्रगति भी अब बिलकुल ही रुक गई। मुसलमानों ने नई परिस्थितियों का और भी ज्यादा विरोध किया और अपने तंग दायरे में ही चक्कर काटते रहे।

सती प्रथा को, जिसमें कि हिन्दू विधवा अपने पति की चिता पर ज़िन्दा ही जल जाती थी, मिटाने का अंग्रेज़ अपने को बहुत अधिक श्रेय देते हैं। ज़रूर ही कुछ हद तक वे इसके अधिकारी हैं, लेकिन सच बात तो यह है कि सरकार ने ख़ुद नहीं, बल्कि राजा राममोहन राय के नेतृत्व में हिन्दुस्तानी सुधारकों को इस प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन करते हुए कई वर्ष होगये, तब जाकर कहीं उसने यह क़दम बढ़ाया था। इससे पहले दूसरे शासकों ने भी, और ख़ासकर मराठों ने इसको, रोक दिया था। गोआ में वहाँ के पोर्चुगीज़ शासक अलबुक़र्क ने इस प्रथा को उठा दिया था। अँग्रेज़ों ने जो इस प्रथा को उठाया वह हिन्दुस्तानियों के आन्दोलन और ईसाई पादरियों की कोशिशों का ही नतीजा था। जहाँ तक मैं ख़याल करता हूँ कि धार्मिक महत्व का यही एक सुधार है जो ब्रिटिश सरकार ने किया है।

इस तरह अंग्रेज़ों ने देश के सब पिछडे हुए और दक़ियानूसी वर्गों के साथ मेल

कर लिया। अपने कारख़ानों को कच्चा माल पहुँचाने की नीयत से उन्होंने हिन्दुस्तान को बिलकुल कृषि-प्रधान देश बना दिया। हिन्दुस्तान में कारख़ाने तरक्क़ी न पा सकें इसलिए मशीनों की आमद पर चुंगी लगा दी! दूसरे देशों ने अपने उद्योग-धन्धों को ख़ूब प्रोत्साहित किया। जैसा कि हम आगे देखेंगे, जापान ने उद्योगवाद की उन्नति में सरपट दौड़ लगाई। लेकिन हिन्दुस्तान में ब्रिटिश सरकार ने उसे दबाये रक्खा। मशीनों पर की इस चुंगी के कारण, जोकि १८६० तक हटाई नहीं गई थी, हिन्दुस्तान में कारख़ाना खोलनें का ख़र्च, यहाँ पर मजदूरी कहीं अधिक सस्ती होने पर भी, इंगलैण्ड से चौगुना पड़ता था। अडंगे या बाधा डालने की इस नीति से प्रगति में चाहे देर भले ही होजाय, लेकिन घटनाओं के लाज़िमी बहाव को रोका नहीं जा सकता। क़रीब उन्नीसवीं सदी के बीच में हिन्दुस्तान में मशीन का उद्योग बढ़ने लगा। बंगाल में अंग्रेज़ी पूँजी से जूट यानी सन का उद्योग शुरू हुआ। रेलवे के निकलने से उद्योग की वृद्धि में सहायता मिली। १८८० में बम्बई और अहमदाबाद में रूई की मिलें खुलीं, जिनमें ज्यादातर हिन्दुस्तानी पूंजी लगी थी। इसके बाद खानों का नम्बर आया। उद्योग-धन्धों का धीरे-धीरे होनेवाला यह कारबार रूई के कारबार के सिवा, ज्यादातर अंग्रेज़ी पूँजी से हो रहा था। और यह सब कुछ हो रहा था बिना किसी सरकारी सहायता के। सरकार उदासीनता या खुली नीति (Laissez Faire) की बातें करती थी और कहती थी कि घटनाओं का प्रवाह जैसा है होता रहे, लोग प्राइवेट तौर पर जो कुछ कर रहे हैं, उसमें दख़ल न दिया जाय। जिस समय अठारहवीं और शुरू की उन्नीसवीं सदी में हिन्दुस्तानी व्यापार ब्रिटिश व्यापार का प्रतिद्वन्द्वी बना हुआ था, उस समय तो सरकार ने इंग्लैड में हिन्दुस्तानी व्यापार में दस्तन्दाज़ी करके, उस पर भारी चुंगी लगाकर, उसका रास्ता बंद करके, उसे कुचल दिया। लेकिन इस तरह अपने उद्योग को आगे बढ़ा देने के बाद, यहाँ अब वह लेसे फेयर की नीति बघारने लगी। लेकिन असली बात तो यह है कि वह बिलकुल उदासीन थी भी नहीं। असल में उसने कई हिन्दुस्तानी उद्योगों, ख़ासकर बम्बई की मिलों और अहमदाबाद के बढ़ते हुए रुई के उद्योग को निरुत्साहित किया। इन हिन्दुस्तानी मिलों में तैयार हुए माल पर एक तरह का टैक्स या चुंगी लगाई गई, जो 'एक्साइज़ ड्यूटी' कहाती है। उसका मक़सद था लंकाशायर के कपडे को हिन्दुस्तानी कपडे से मुक़ाबिला करने में मदद पहुँचाना। क़रीब-क़रीब सभी देशों में अपने उद्योगों की रक्षा या आमदनी बढ़ाने की गरज़ से विदेशी माल पर चुंगी लगाई जाती है। लेकिन हिन्दुस्तान में अँग्रेजों ने एक निहायत ग़ैर-मामूली और अजीब बात की। उन्होंनें ख़ुद हिन्दुस्तानी माल पर चुंगी लगा दी! इसके ख़िलाफ़ ज़बर्दस्त आन्दोलन

होने पर भी, रुई पर यह चुंगी अभी पिछले वर्षों तक बनी ही रही।

इस तरह सरकार की अडंगा-नीति के रहते हुए भी हिन्दुस्तान में धीरे-धीरे आधुनिक उद्योग-धन्धे की उन्नति होती गई। हिन्दुस्तान के धनिक वर्ग औद्योगिक तरक्क़ी की ज्यादा-ज्यादा पुकार मचाते रहे। तब जाकर कहीं, जहाँतक मेरा ख़याल है १९०५ में, सरकार ने 'तिजारत और व्यवसाय विभाग' को क़ायम किया। लेकिन इसने भी, महायुद्ध छिड़ने से पहले तक ऐसा कोई ख़ास काम किया नहीं। उद्योग-धन्धों की स्थिति के इस तरह उन्नत होने के कारण शहरों के कारख़ानों में काम करनेवाले औद्योगिक मज़दूरों की भी एक श्रेणी बन गई। ज़मीन पर पड़ने वाले बोझ या दबाव, जिसकी कि मैं तुमसे चर्चा कर चुका हूँ, और देहती इलाक़े की अकाल-ग्रस्त अवस्था, इन दोनों ने मिलकर गाँववालों को इन फ़ैक्टरियों में और बंगाल और आसाम के नील के खेतों पर काम करने के लिए ढकेल दिया। इस दबाव के कारण बहुत से लोगों को दूसरे देशों में चले जाने के लिए लाचार होना पड़ा, क्योंकि वहाँ उन्हें अधिक मज़दूरी मिलने की आशा दिलाई गई थी। ज्यादातर लोग दक्षिण-अफ़रीका, फिजी, मॉरिशश और लंका को गये। लेकिन इस परिवर्तन से मज़दूरों का कोई ख़ास फ़ायदा नहीं हुआ। कुछ देशों में इन प्रवासी भारतीयों के साथ बिलकुल ग़ुलामों का-सा वर्ताव किया गया। आसाम के चाय के बगीचों के मज़दूरों की हालत भी कुछ बहुत अच्छी न थी। इस दुर्दशा से उकताकर बाद को उन्होंने चाय के बग़ीचे छोड़कर फिर अपने गाँवों को लौट जाना चाहा। लेकिन अपने गाँवों में भी उन्हें किसीने नहीं अपनाया, क्योंकि गाँवों में अब कोई ज़मीन बाक़ी ही नहीं रही थी।

फ़ैक्टरी या कारख़ानों के मज़दूरों को जल्दी ही मालूम हो गया कि किसी क़दर ज्यादा मिलनेवाली मज़दूरी से कोई ख़ास फ़ायदा नहीं पहुँचता। शहर में हरेक चीज़ की क़ीमत ऊँची होती थी, और शहरों का सारा रहन-सहन ही बहुत ज्यादा ख़रचीला पड़ता था। रहने की जो जगह उन्हें मिलती थी, वह निहायत गन्दी, सीली, अंधेरी और तंदुरुस्ती को बिगाड़ने वाली तंग कोठड़ियाँ होती थीं। उनके काम करते समय की हालत भी रद्दी ही होती थी। गांवों में उन्हें अक्सर भूखों मरना पड़ता था, लेकिन धूप और ताज़ी हवा तो भरपूर मिल जाती थी। लेकिन यहाँ उनके लिए न तो ताज़ी हवा थी, न काफ़ी धूप। उनकी मज़दूरी इतनी नहीं होती थी जो ऊँचे दर्जे का रहन-सहन इख़्तियार किया जा सके। औरतों और बच्चों तक को बहुत-ज्यादा घण्टों तक काम करना पड़ता था। गोदी के बच्चेवाली मातायें अपने बच्चों को अफ़ीम खिलाने लगीं, जिससे कि वे उनके काम में रुकावट न डालें। औद्योगिक मज़दूरों को जिन ज़लील हालतों में रहकर फ़ैक्टरियों में काम करना पड़ता था, वे इसी तरह की

थीं। वे निश्चय ही बहुत दुखी थे, और उनमें असंतोष बढ़ रहा था। कभी-कभी बहुत ही मायूस होजाने पर वे हड़ताल कर देते और काम छोड़ बैठते थे। लेकिन वे बहुत ही निर्बल और कमज़ोर थे, इसलिए उनके पूंजीपति मालिक, जिनकी पीठ पर अक्सर सरकार का हाथ रहता था, आसानी से उन्हें कुचल देते थे। बहुत धीरे-धीरे और कड़ुवे अनुभवों के बाद उन्होंने सम्मिलत प्रयत्न का महत्त्व समझा। तब उन्होंने मज़दूर-संघ बनाये।

यह न समझना कि यह वणन पिछली हालतों का है। मज़दूरों की हालत में इधर कुछ सुधार ज़रूर हुआ है, इन ग़रीबों के नाम मात्र के बचाव के लिए कुछ क़ानून भी बनाये गये हैं; लेकिन आज भी उनकी वही ज़लील हालत बनी हुई है, और अगर तुम कानपुर, बम्बई और कुछ दूसरी जगहों पर, जहाँ कि कारख़ाने हैं, ज़रा जाकर देखोगी तो इन मज़दूरों के घर देख कर तुम्हारे दिल दहल उठेंगे।

अपने इस और दूसरे पिछले पत्रों में मैंने तुम्हें हिन्दुस्तान में अँग्रेज़ और उनकी हुकूमत का हाल लिखा है। यह शासन किस तरह का था और कैसे चलता था? शुरू में ईस्ट इण्डिया कम्पनी शासक बनी, लेकिन उसकी पीठ पर ब्रिटिश पार्लमेण्ट थी। १८५७ के ग़दर के बाद ब्रिटिश पार्लमेण्ट नें सीधे अपने हाथ में हुकूमत लेली, और उसके बाद इंग्लैण्ड का बादशाह, या चूंकि उस समय वहाँ मल्का राज करती थी इसलिए वह महारानी 'क़ैसरे-हिंद' के रूप में प्रकट हुई। हिन्दुस्तान में सबके ऊपर गवर्नर जनरल था, जो वाइसराय अर्थात् बादशाह का प्रतिनिधि भी कहलाता था, और उसके नीचे अफ़सरों के दल के दल थे। हिन्दुस्तान, जैसा कि बहुत कुछ अब भी है, बडे-बडे प्रांतों और रजवाडों में या देसी रियासतों में बांट दिया गया था। देशी नरेशों की रियासतें मानी तो जाती थीं अर्द्ध-स्वतन्त्र, लेकिन हक़ीक़त में वे पूरी तरह से अँग्रेज़ों की मातहत थीं। हरेक बडी रियासत में एक अँग्रेज़ अफ़सर रहता था जो रेज़िडेण्ट कहलाता था और आमतौर पर शासन-प्रबन्ध पर अपना अधिकार रखता था। अन्दरूनी सुधारों में उसे कोई दिलचस्पी न थी, और उसे इससे कोई मतलब न था कि रियासत का शासन कितना ख़राब या दक़ियानूसी ढंग का है। उसकी दिलचस्पी तो सिर्फ़ इस बात में थी कि रियासत में अँग्रेजी सत्ता को किस तरह ज्यादा-से-ज्यादा मज़बूत बनायें।

हिन्दुस्तान का क़रीब एक तिहाई हिस्सा इन रियासतों में बँटा हुआ था। बाक़ी का दो-तिहाई हिस्सा प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश सरकार के अधीन था। इसलिए यह दो-तिहाई हिस्सा ब्रिटिश हिन्दुस्तान कहलाता है। ब्रिटिश हिन्दुस्तान के बडे-बडे अफ़सर अंग्रेज़ होते थे, उन्नीसवीं सदी के अख़ीर में कुछ हिन्दुस्तानियों को

इक्के-दुक्के ओहदे मिल गये। लेकिन फिर भी तमाम ताक़त और इख़्तियार अँग्रेज़ों के ही हाथ में रहे, और अभी भी हैं। फ़ौजी अधिकारियों को छोड़कर बाक़ी के ये सब ऊँचे अफ़सर इण्डियन सिविल सर्विस के सदस्य होते थे। इस तरह हिन्दुस्तान का सारा शासन इसी विभाग—इण्डियन सिविल सर्विस के अधीन था। इस तरह एक-दूसरे द्वारा नियुक्त की हुई और प्रजा के प्रति ग़ैर-ज़िम्मेदार अफ़सरों से बनी सरकार नौकरशाही (Bureaucracy) कहलाती है।

इस आई० सी० एस०—इण्डियन सिविल सर्विस—के बारे में हम बहुत कुछ सुनते रहते हैं। ये लोग भी एक अजीब दुनिया के जीव रहे हैं। कुछ बातों में वे बड़े कुशल और होशियार थे। वे शासन-व्यवस्था करते थे, ब्रिटिश हुकूमत को मज़बूत बनाते थे, और उसी सिलसिले में ख़ुद भी उससे ख़ूब फ़ायदा उठा लेते थे। ब्रिटिश शासन को ठोस बनाने और टैक्स वसूल करने वाले सब महकमे बड़ी ख़ूबी और होशियारी के साथ संगठित किये गये थे। दूसरे महकमों को नज़र-अन्दाज़ कर दिया गया था—उन पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। जनता द्वारा नियुक्त न होने और उसके प्रति ज़िम्मेदार न होने के कारण आई० सी० एस० वाले जनता के हितों से सबसे ज़्यादा सम्बन्ध रखने वाले इन महकमों पर बहुत कम ध्यान देते थे। जैसा कि ऐसी हालतों में होना स्वाभाविक ही था, ये लोग ढीठ, अभिमानी या घमण्डी हो गये और लोकमत को तुच्छ दृष्टि से देखने लगे। संकुचित और सीमित दृष्टिकोण के साथ ये लोग अपने आपको दुनिया के सबसे ज़्यादा अक़लमन्द आदमी समझने लगे। उनके लिए हिन्दुस्तान के हित का असली अर्थ था अपने ही विभाग का हित करना। उन्होंने एक तरह की एक-दूसरे की तारीफ़ करने वाली संस्था बनाली और हमेशा एक-दूसरे की तारीफ़ की जाने लगी। बेशुमार इख़्तियार और निरकुंश सत्ता में, जैसा होना स्वाभाविक ही था, ये इण्डियन सिविल सर्विस वाले पूरी तरह हिन्दुस्तान के मालिक बन गये। ब्रिटिश पार्लण्मेट इतनी दूर थी कि इनके कामों में दख़ल दे नहीं सकती थी, और अगर किसी मौक़े पर दख़ल देती भी तो देने का कोई कारण नहीं पाती थी, क्योंकि ये लोग उसके और ब्रिटिश उद्योग के हितों को बराबर साधते रहते थे। जहाँ तक भारतीय जनता के हित या स्वार्थों का प्रश्न था, उसके प्रति उन्हें किसी ख़ास हद तक प्रभावित करने या झुकाने का कोई रास्ता न था। वे इतने असहिष्णु या तुनक-मिजाज़ हो गये थे कि अपनी मामूली से मामूली आलोचना को भी बरदाश्त नहीं कर सकते थे।

पिछले वर्ष हिन्दुस्तान में बहुत-कुछ उथल-पुथल हो चुकी है, लेकिन आई० सी० एस० शुरु में जैसी थी, अब भी बिलकुल वैसी की वैसी बनी हुई है। प्रसिद्ध

भारतीय नेता गोपाल कृष्ण गोखले ने आई० सी० एस० नौकरशाही की ख़ासियतों का इस तरह वर्णन किया है:—

"लोकमत का वे घोर तिरस्कार करते हैं, ढीठ और अभिमानी होते हैं, अपनी श्रेष्ठ बुद्धिमत्ता का दम्भ करते रहते हैं, जनता की चिर संचित भावनाओं को बेदर्दी से ठुकराते रहते हैं, उसकी न्याय-बुद्धि की नक़ली अपीलें करते हैं, सुशासन की अपेक्षा अपने विभाग या महकमे के स्वार्थों को हमेशा ऊंचा स्थान देते हैं।"

कभी-कभी तो उनकी ये ख़ासियतें और 'मो समान दूसर कोउ नाहीं' वाली अकड़ बड़ी मज़ेदार मालूम होती है। इनकी दिखावटी शान या श्रेष्ठता और सर्वज्ञता की शेख़ी हमें गिलबर्ट और सलवियन[1] के नाटकों के पात्रों की याद दिला देती है। गिलबर्ट के 'मिकाडो' नामक नाटक का पात्र पूहबाह रंग-मंच पर तो बड़ा सुहावना मालूम होता है। लेकिन उसे असली जीवन में और नज़दीक से देखने पर शायद वह इतना सुहावना न जँचे! अपने मुंह मियाँ मिट्ठू बनने की आदत और अपनी कारगुज़ारी पर आत्म-सन्तोष प्रकट करने का ढंग दूसरे लोगों के लिए कुछ बहुत ख़ुशगवार नहीं होता, लेकिन इसको दरगुज़र किया जा सकता है। ऊँचे अधिकारियों की एक और आदत——एक-दूसरे का पुतला या और कोई स्मारक-चिह्न स्थापित करने या कुछ इमारतों, बाग़-बगीचों और सड़कों के नाम अपने नामों पर रखवा कर अपनी यादगार को स्थायी बनाने की कोशिशों को भी हम बरदाश्त कर सकते हैं। बात यह है कि ये पुतले आमतौर पर भद्दे होने पर भी इनको नज़रअन्दाज़ किया जा सकता है। लेकिन इनकी स्वार्थपूर्ण नीति को सहन नहीं किया जा सकता था, क्योंकि उसका बदनसीब नतीजा होता है अपनी जनता की तबाही।

फिर भी इण्डियन सिविल सर्विस में कुछ भले, ईमानदार और योग्य आदमी भी होते थे। लेकिन वे उस नीति के प्रवाह के रुख़ को बदल नहीं सकते थे, जो कि हिन्दुस्तान को अपने साथ बहाए लिये जा रही थी। कुछ भी हो आई० सी० एस० वाले इंग्लैण्ड के औद्योगिक और आर्थिक स्वार्थों की पूर्त्ति करनेवाले एजेण्ट ही तो थे, जिनका ख़ास प्रयोजन था हिन्दुस्तान का शोषण करना।

जिन-जिन विषयों में इसके अपने और ब्रिटिश उद्योग के स्वार्थों या हितों का सम्बन्ध था, उनमें तो हिन्दुस्तान की यह नौकरशाही सरकार कार्यदक्ष और होशियार हो गई। लेकिन शिक्षा, सफ़ाई, अस्पताल और किसी भी राष्ट्र का भला

१. डब्लू. एस. गिलबर्ट उन्नीसवीं सदी का एक प्रसिद्ध नाटककार हो गया है। इसने सर आर्थर सलवियन के साथ मिलकर 'मिकाडो', 'राजकुमारी ईडा,' 'पेशन्स' वग़ैरा बहुत से गीति-नाट्य तैयार किये थे।

करने वाली और उन्नत बनानेवाली ऐसी ही और दूसरी प्रगतियों को भुला दिया गया था। कई वर्षों तक इन बातों का ख़याल तक नहीं था। पुरानी ग्रामीण पाठशालायें ख़तम हो गईं। तब कहीं धीरे-धीरे और बड़ी बेदिली से कुछ शुरुआत की गई। शिक्षा की शुरूआत भी उन्होंने अपनी खुद की ग़रज़ से ही की थी। ऊँचे ओहदे तो अँग्रेज़ों से भर गये थे, लेकिन ज़ाहिर है कि छोटे ओहदों और क्लर्की की जगहों को वे भर नहीं सकते थे। क्लर्कों की ज़रूरत थी, सो क्लर्कों की इस ज़रूरत को पूरी करने के ही लिए शुरू में अंग्रेज़ों ने ये स्कूल और कालेज खोले। तभी से, हिन्दुस्तान में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य यही रहा है, और इस शिक्षा से तैयार हुए ज्यादातर लोग हैं भी सिर्फ़ क्लर्क बनने के ही क़ाबिल। लेकिन क्लर्कों की तादद जल्द ही सरकारों और दूसरे दफ्तरों की ज़रूरत से ज्यादा बढ़ने लगी। बहुतों को नौकरी नहीं मिली, और इस तरह इन पढ़े-लिखे बेकारों का एक नया वर्ग बन गया। आज ऐसे ग्रेजुएटों और दूसरे शिक्षितों का एक बड़ा समुदाय मिलेगा, जिन्होंने यूनीवर्सिटियों में इतनी उम्र गुज़ारने के बाद भी कोई तिजारत या दस्तकारी नहीं सीखी। इनमें से लोग ज्यादातर कोई भी चीज़ बना या पैदा नहीं कर सकते। वे सिर्फ़ क्लर्क या सरकारी दफ़्तरों में छोटे अहलकार या वकील ही हो सकते हैं।

इस नई अंग्रेज़ी शिक्षा में बंगाल सबसे आगे बढ़ा और इसलिए शुरू में ज्यादातर क्लर्कों की भरती इन्हीं बंगालियों में से हुई। १८३७ में तीन युनिवर्सिटियाँ—कलकत्ता, बम्बई और मदरास में खुलीं। एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि मुसलमानों ने इस नई शिक्षा के प्रति अपनी दिलचस्पी नहीं बतलाई। इस तरह क्लर्की और सरकारी नौकरियों की इस दौड़ में वे पिछड़ गये। बाद में यही उनकी शिकायत का एक कारण हो गया।

एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि जब सरकार ने तालीम की शुरूआत की तो लड़कियों को इस समय भी बिलकुल भुला दिया गया। यह कोई ताज्जुब की बात नहीं थी। जो शिक्षा दी जा रही थी वह क्लर्क तैयार करने की थी, और पुरुष क्लर्कों की ही ज़रूरत थी, और उस समय की पिछड़ी हुई सामाजिक रूढ़ियों के कारण, पुरुष ही मिल भी सकते थे। इसलिए लड़कियों की तालीम के सवाल को बिलकुल छोड़ दिया गया, और बहुत वर्षों के बाद जाकर कहीं उनके लिए शुरूआत की गई।

जब मैं हिन्दुस्तान के बारे में कुछ लिखने बैठता हूँ तो मेरी क़लम आगे ही आगे ही बढ़ती जाती मालूम होती है। लेकिन इस युग के सम्बन्ध में मैं एक पत्र और लिखूंगा और तुम्हें बताऊँगा कि हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता की वृद्धि किस तरह हुई।

: ११३ :

हिन्दुस्तान का पुनर्जागरण

७ दिसम्बर, १९३२

हिन्दुस्तान में ब्रिटिश हुकूमत का पाया किस तरह मज़बूत हुआ, और किस नीति को इख़्तियार करके उसने हमें ग़रीब और तबाह कर दिया, यह मैं तुम्हें बतला चुका हूँ। देश में शान्ति ज़रूर हुई और व्यवस्थित शासन भी क़ायम हुआ, और मुग़ल साम्राज्य के पतन से पैदा हुई गड़बड़ी के बाद ये दोनों ही बातें अच्छी थीं। चोर-डाकुओं के संगठित दलों का दमन कर दिया गया। लेकिन खेतों और कारख़ानों में काम करने वाले किसान और मज़दूरों के लिए इस शान्ति और व्यवस्था का कोई ख़ास मूल्य न था, क्योंकि वे अब नई हुकूमत की भारी चक्की के नीचे कुचले जा रहे थे। लेकिन मैं तुम्हें एक बार फिर याद दिलाऊँगा कि किसी देश या जाति पर—इंग्लैण्ड या इंग्लैण्ड के रहनेवालों (अंग्रेज़ों) पर, नाराज़ होना ठीक नहीं है; क्योंकि वे भी हमारी तरह परिस्थितियों के शिकार थे। इतिहास के अध्ययन ने हमें बताया है कि जीवन प्रायः बड़ा निर्दय और कठोर है। इस पर उत्तेजित होना या लोगों पर खाली दोष लगाना एकदम बेवकूफ़ी है, और उससे कोई मदद नहीं मिलती। बुद्धिमानी और समझदारी इसीमें है कि ग़रीबी, मुसीबत और शोषण के कारणों को समझने, उन्हें दूर करने की, कोशिश की जाय। अगर हम ऐसा करने में नाकामयाब रहते हैं और घटना-क्रम की दौड़ में पिछड़ जाते हैं, तो लाज़िमी तौर पर उसका बुरा नतीजा भुगतना पड़ेगा। हिन्दुस्तान इसी तरह पिछड़ा है। वह एक तरह से पथरा-सा गया, उसका समाज लकीर का फ़क़ीर बन गया, और उसकी सामाजिक व्यवस्था निश्चेष्ट और निर्जीव होकर सड़ने लगी। ऐसी हालत में हिन्दुस्तान को मुसीबतें झेलनी पड़ीं तो उसमें अचरज की बात नहीं है। अंग्रेज़ तो इन मुसीबतों के साधन-मात्र बन गये। अगर वे यहाँ न आये होते, तो शायद कोई दूसरी जाति आती और इसी तरह का बरताव करती। इसलिए हमें अंग्रेज़ों को दोष देने की ज़रूरत नहीं। लेकिन इसके साथ ही अंग्रेज़ों का बड़ी संजीदगी और शान के साथ यह कहना भी हद्द दरजे की बेहूदगी है कि वे हिन्दुस्तान के ट्रस्टी हैं, और उन्होंने उसपर बे-शुमार नियामतें बरसाई हैं। अन्धे आत्म-सन्तोष के साथ किसी तरह की दलील नहीं की जा सकती। उसे तो फ़िज़ूल की बकवास ही कहा जा सकता है।

लेकिन अंग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान को एक बड़ा फ़ायदा पहुँचाया। उनके नये और स्फूर्तिवाले जीवन के साथ की टक्कर ने हिन्दुस्तान को हिला दिया और उसमें राज-

नैतिक संगठन और राष्ट्रीयता की भावना पैदा कर दी। हमारे इस प्राचीन देश और जाति का कायाकल्प करने या उसमें फिर नव-यौवन पैदा करने के लिए शायद ऐसी ठोकर की—हालाँकि वह तकलीफ़देह या कष्टप्रद जरूर थी——जरूरत थी। क्लर्क तैयार करने के लिए दी जाने वाली अंग्रेज़ी तालीम ने हिन्दुस्तानियों को सामयिक पश्चिमी विचारों के सम्पर्क में भी ला दिया। इससे अब अंग्रेज़ी पढ़े-लिखों का एक नया वर्ग बनने लगा। ये लोग यद्यपि संख्या में कम और सर्वसाधारण जनता से अलग से थे, लेकिन फिर भी नवीन राष्ट्रीय आन्दोलनों में आगे बढ़ने पर तुले हुए थे। ये लोग शुरू में तो इंग्लैण्ड के बड़े भक्त और अंग्रेज़ों के स्वाधीनता-सम्बन्धी विचारों के बड़े प्रशंसक थे। उन दिनों इंग्लैण्ड में कुछ लोग स्वाधीनता और प्रजातन्त्र के विषय में बड़ी-बड़ी बातें करते थे। लेकिन ये सब बातें गोल-मोल होती थीं, और यहाँ हिन्दुस्तान में इंग्लैण्ड अपने फ़ायदे के लिए निरकुंश शासन चलारहा था। लेकिन बड़े विश्वास के साथ यह आशा दिलाई जा रही थी कि ठीक समय आ जाने पर इंग्लैण्ड हिन्दुस्तान को आज़ादी देदेगा।

हिन्दुस्तान के पश्चिमी विचारों के संसर्ग में आने का कुछ असर हिन्दू धर्म पर भी पड़ा। जन-साधारण पर तो कुछ प्रभाव नहीं हुआ, बल्कि जैसा कि मैं पहले तुम्हें बता चुका हूँ, सरकार की नीति ने कट्टरपंथियों को ही वास्तविक सहायता पहुँचाई, लेकिन सरकारी मुलाज़िमों और पेशेवर लोगों की जो नई मध्यम श्रेणी बन रही थी, उसपर असर पड़ा। उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में ही बंगाल में हिन्दूधर्म को पश्चिमी ढंग पर सुधारने की कोशिश की गई। जरूर ही पुराने ज़माने में भी हिन्दूधर्म में कई सुधारक हो चुके हैं, जिनमें से कुछ का ज़िक्र मैं तुमसे इन पत्रों में कर चुका हूँ। लेकिन इस नई कोशिश पर निश्चित रूप से ईसाइयत और पश्चिमी विचारों का असर था। इस प्रयत्न के करनेवाले थे एक महान् पुरुष और महान विद्वान राजा राममोहन राय, जिनकी चर्चा हम अभी सती-प्रथा उठाने के सम्बन्ध में कर आये हैं। उन्हें संस्कृत, अरबी और कई दूसरी भाषाओं का अच्छा ज्ञान था, और जुदे-जुदे धर्मों का भी उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था। वे पूजा-पाठ आदि धार्मिक कर्म-काण्ड के विरुद्ध थे और सामाजिक सुधार और स्त्री-शिक्षा के हामी थे। उन्होंने जो समाज स्थापित किया वह 'ब्राह्म-समाज' कहलाता था। जहाँ तक संख्या का संबंध है, वह एक छोटी सी ही जमात थी और अब भी वैसी ही है, और बंगाल के अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों तक ही महदूद थी। लेकिन बंगाल के जीवन पर इसका ज़बर्दस्त असर पड़ा। ठाकुर——रवीन्द्रनाथ——परिवार ने इसे ग्रहण कर लिया, और महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के नाम से मशहूर, कविवर रवीन्द्रनाथ के (जहाँ तक मेरा ख़याल है) पिता,

बहुत वर्षों तक इस समाज के आधार और स्तम्भ थे। इसके दूसरे प्रमुख सदस्य थे केशवचन्द्र सेन।

इस सदी के पिछले हिस्से में एक और धार्मिक सुधार-आन्दोलन चला। पंजाब में इसकी शुरूआत हुई और स्वामी दयानन्द इसके प्रवर्त्तक थे। उन्होंने 'आर्य समाज' नाम की एक दूसरी संस्था स्थापित की। इसने भी हिन्दू धर्म में पीछे से पैदा हुई रूढ़ियों का खण्डन किया और जात-पांत के साथ युद्ध छेड़ा। इस समाज की पुकार थी, "वेदों की शरण में आओ।" हालाँकि यह मुस्लिम और ईसाई विचारों से प्रभावित एक सुधारक आन्दोलन था, लेकिन मूलतः यह एक आक्रमणकारी या खण्डनात्मक जोशीली प्रवृत्ति थी। इसका विचित्र परिणाम यह हुआ कि, आर्यसमाज, जो शायद हिन्दुओं के अनेक समुदायों में सबसे ज्यादा इस्लाम के नज़दीक पहुँचता था, उसका—इस्लाम का—प्रतिद्वंद्वी और विरोधी बन गया। यह अपने ही बचाव में लगे हुए और स्थिर हिन्दू धर्म को एक उग्र प्रचारक धर्म में बदल देने की कोशिश थी। इसका उद्देश हिन्दू धर्म का पुनरुद्धार करना था। राष्ट्रीयता का कुछ रंग दे देने से इस आन्दोलन को कुछ बल मिल गया। दरअसल इस आन्दोलन के रूप में हिन्दू राष्ट्रीयता अपना सिर ऊँचा कर रही थी। इस राष्ट्रीयता के हिन्दूपन का ही यह नतीजा था कि वह भारतीय राष्ट्रीयता न बन सकी।

ब्राह्म-समाज की अपेक्षा आर्यसमाज का कहीं अधिक व्यापक प्रचार था, ख़ासकर पंजाब में तो बहुत ही ज्यादा। लेकिन यह ज्यादातर मध्य श्रेणी या औसत दर्जे के लोगों तक ही सीमित था। समाज ने शिक्षा-प्रचार का काम बहुत काफ़ी किया है, और लड़के और लड़कियों दोनों ही के लिए इसने स्कूल और कालेज खोले हैं।

इस सदी के एक और प्रसिद्ध धार्मिक महापुरुष रामकृष्ण परमहंस हुए। लेकिन इस पत्र में मैंने जिन महापुरुषों का ज़िक्र किया है, उन सबसे वह जुदा थे। उन्होंने सुधार के लिए किसी उग्र समाज की स्थापना नहीं की। उन्होंने सेवा पर ज़ोर दिया, और अनेक 'रामकृष्ण सेवाश्रम' देश के कई भागों में दुर्बल और दरिद्र नारायण की सेवा का यह काम आज भी कर रहे हैं। रामकृष्ण के एक प्रसिद्ध शिष्य स्वामी विवेकानन्द हुए हैं। उन्होंने अत्यन्त धाराप्रवाही और जोशीले ढंग से राष्ट्रीयता के मन्त्र का प्रचार किया। यह आन्दोलन किसी प्रकार भी मुस्लिम-विरोधी या अन्य किसी का भी विरोधी नहीं था, न आर्यसमाज की तरह यह राष्ट्रीयता संकुचित ही थी। फिर भी विवेकानन्द की राष्ट्रीयता का स्वरूप हिन्दू ही था और इसका आधार हिन्दूधर्म और हिन्दू संस्कृति ही थी।

इस तरह यह एक दिलचस्प बात है कि हिन्दुस्तान में उन्नीसवीं सदी में राष्ट्रीयता

की आरम्भिक लहरों का रूप धार्मिक और हिन्दू था । इस हिन्दू राष्ट्रवाद में मुसलमान स्वभावतः ही कोई भाग नहीं ले सकते थे। वे अलग ही रहे। अंग्रेज़ी तालीम से अपने को अलग रखने के कारण नये विचारों का उनपर कम असर हुआ, और उनमें तालीम हासिल करने का उत्साह बहुत ही कम था। कई दसियों साल बाद उन्होंने अपने तंग दायरों से बाहर निकलना शुरू किया, और तब हिन्दुओं की तरह उनकी राष्ट्रीयता ने भी, इस्लामी रवायतों और तहज़ीब के मुताबिक इस्लामी शकल इख़्तियार की, उन्हें डर था कि बहुमत में होने के कारण हिन्दू कहीं इन्हें नष्ट न करदें। लेकिन मुसलमानों की यह तहरीक बहुत देर के बाद—सदी के अख़ीर के क़रीब, प्रकट हुई।

हिन्दू और मुस्लिम धर्म के इन सुधार और प्रगतिवादी आन्दोलनों की एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि इनमें पुराने धार्मिक विचारों और रिवाजों को, जहाँ तक हो सका पश्चिम से प्राप्त नवीन वैज्ञानिक और राजनैतिक विचारों के अनुकूल बनाने की कोशिश की गई थी। न तो वे इन पुराने विचारों और रिवाज़ों की उपयुक्तता के सम्बन्ध में चैलेञ्ज करने या निर्भयता के साथ इन्हें कसौटी पर कसने को तैयार थे, न वे नई दुनिया के वैज्ञानिक आविष्कारों और अपने चारों तरफ़ फैले हुए राजनैतिक और सामाजिक विचारों को ही न नज़रअन्दाज कर सकते थे। इसलिए उन्होंने यह साबित करने की कोशिश करके कि सारे नये ख़यालात और प्रगतियों का उनके प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में पता चल सकता है, इन पुराने और नये दोनों तरह के विचारों में एकता करने की कोशिश की। इस कोशिश का नाकामयाब होना लाज़िमी ही था। उसने लोगों को सीधी तौर से विचार करने से रोक दिया। साहस के साथ विचार करने और दुनिया की शकल बदल देनेवाली नई ताक़तों और नये विचारों को समझने के बजाय वे प्राचीन प्रथाओं और पुरानी रवायतों के बोझ के नीचे दबे जा रहे थे, आगे देखने और आगे बढ़ने के बजाय वे हमेशा लुक-छिपकर पीछे की तरफ़ ताकते थे। अगर कोई अपना सिर हमेशा पीछे को मोड़े रहे और उसी तरफ़ देखता रहे, तो उसका आगे बढ़ना आसान नहीं है। इस तरह तो वह ठोकर खायगा और अपनी गर्दन में दर्द बढ़ा बैठेगा!

शहरों में धीरे-धीरे अंग्रेज़ी पढ़े-लिखों की जमात बढ़ गई, और उसी समय वकालत, डाक्टरी वग़ैरा पेशेवालों और साहूकारों और व्यापारियों की एक नई मध्यम श्रेणी या बीच की जमात पैदा हो गई। अवश्य ही पुराने ज़माने में भी एक मध्यम श्रेणी थी, लेकिन वह ज़्यादातर अंग्रेज़ों की प्रारम्भिक नीति द्वारा कुचल दी गई थी। यह नई मध्यम श्रेणी अंग्रेजी शासन का प्रत्यक्ष परिणाम था; असल में यह

ब्रिटिश शासन की ही टुकड़खोर थी। जनता की लूट में से इन लोग को भी थोड़ा-सा हिस्सा मिल जाता था, ब्रिटिश शासक वर्ग के तकल्लुफ़ से भरे लज़ीज़ और तर खानें की रकाबियों से लदी मेज़ों पर से गिरी हुई जूठन के कुछ टुकडे वे भी पा जाते थे। इस वर्ग में थे देश के अंग्रेज़ी शासन प्रबन्ध में सहायता देनेवाले छोटे-मोटे अहलकार, अफ़सर, अदालतों की क़ानूनी कार्रवाइयों में मदद पहुँचाने और मुक़द्दमेबाज़ी से मालदार बननेवाले वकील-बैरिस्टर, और ब्रिटिश व्यापार और उद्योग के दलाल साहूकार, जो अपने मुनाफ़े या कमीशन के लिए ब्रिटिश माल बेचते थे।

इस नई मध्यम श्रेणी में ज्यादातर हिन्दू थे। इसका कारण था मुसलमानों की बनिस्बत इनकी आर्थिक या माली हालत कुछ बेहतर होना, और अंग्रेज़ी शिक्षा का प्राप्त करना, जोकि सरकारी नौकरियाँ पाने और वकालत आदि पेशे के लिए पासपोर्ट की तरह थी। मुसलमान आमतौर पर ग़रीब थे। अंग्रेज़ों द्वारा यहाँ के उद्योग-धन्धे नष्ट कर दिये जाने पर, जो जुलाहे तबाह हो गये थे, उनमें ज्यादातर मुसलमान ही थे। बंगाल में, जहाँ कि मुस्लिम आबादी हिन्दुस्तान के दूसरे किसी भी सूबे से ज्यादा है, वे लोग ग़रीब काश्तकार और छोटे-छोटे भूमिया थे। ज़मींदार आमतौर पर हिन्दू थे, इसी तरह गाँव का बनिया या महाजन भी हिन्दू ही होता था, जो लोगों को सूद पर रुपया उधार देता था, और गांववालों के हाथ सामान बेचने के लिए दुकान रखता था। इस तरह ज़मींदार और महाजन दोनों ही काश्तकार की पीठ पर सवारी गाँठ कर उसे चूसने में समर्थ थे और अपनी इस स्थिति का वे पूरा फ़ायदा उठाते थे। इस बात को हमेशा ध्यान में रखना अच्छा होगा, क्योंकि हिन्दू-मुस्लिम तनाज़े की जड़ यही है।

इसी तरह उच्चवर्ण वाले हिन्दू, ख़ासकर दक्षिण में, दलित कही जाने वाली जातियों को, जो ज्यादातर खेतों पर काम करती थीं, चूस रहे थे। पिछले दिनों से और ख़ासकर बापू के उपवास के बाद से दलित वर्ग की यह समस्या बहुत ज़ोरों से हमारे सामने है। छुआछूत पर आज चारों तरफ़ से हमले हो रहे हैं और सैकड़ों मन्दिर और दूसरे स्थान अछूतों के लिए खुले कर दिये गये हैं। लेकिन असली बुनियादी सवाल तो आर्थिक शोषण का है, और जब तक यह दूर नहीं होता, तब तक दलित जातियाँ दलित ही रहेंगी। अछूत लोग बेगारी बना रक्खे गये, जिन्हें ज़मीन रखने की इजाज़त नहीं थी। और भी कई बातों में वे अयोग्य क़रार दिये गये थे। हालाँकि सारा हिन्दुस्तान और जनसमूह ज्यादा-से-ज्यादा ग़रीब होता गया, फिर भी नई मध्यम श्रेणी के मुट्ठी भर लोग किसी क़दर खुशहाल हो गये, क्योंकि देश के आर्थिक शोषण में इनका भी हाथ था। वकील-बैरिस्टर वग़ैरा क़ानूनपेशा और

डाक्टर वग़ैरा दूसरे पेशेवर लोगों और साहूकारों ने कुछ धन इकट्ठा कर लिया। इस धन को वे कारबार में लगाना चाहते थे, ताकि उनको सूद की आमदनी होती रहे। बहुतों ने ग़रीबी के शिकार जमींदारों से जमीन ख़रीद ली और ख़ुद उसके मालिक या जमींदार बन गये। दूसरे लोग अंग्रेज़ी उद्योगों की आश्चर्य-जनक सफलता देखकर हिन्दुस्तान में भी वैसे कारख़ानों में रुपया लगाने की सोचने लगे। इस तरह हिन्दुस्तानी पूंजी इन बडी मशीनों के कारख़ानों में लगी और एक नया हिन्दुस्तानी औद्योगिक पूंजीपति वर्ग पैदा होने लगा। यह हुआ क़रीब पचास साल पहले, सन् १८८० के बाद।

जैसे-जैसे ये मध्यवर्ग के अमीर लोग बढ़ते गये, उसी तरह उनकी भूख या हविस भी बढ़ती गई। उनकी इच्छा अब आगे-आगे बढ़ने, ज्यादा-ज्यादा रुपया पैदा करने, सरकारी नौकरियों में ज्यादा जगह पाने और कारख़ाने खोलने के लिए अधिक सहूलियतें हासिल करने की होती गई। उन्होंने हर जगह अँग्रेज़ों को अपने रास्ते में रुकावटें डालते हुए पाया। सब ऊँचे-ऊँचे ओहदों पर अँग्रेज़ों ने अपना एकाधिकार जमा रक्खा था। तमाम उद्योग-धन्धे उन्हींके फ़ायदे के लिए चलाये जा रहे थे। इसलिए उन्होंने आन्दोलन शुरू किया, और यही इस नई राष्ट्रीयता की बुनियाद थी। १८५७ के ग़दर और उसके बेरहम दमन के बाद जनता इतनी कुचल दी गई थी कि कोई भी तहरीक या उग्र आन्दोलन हो सकना कठिन था। फिर से थोड़ा बहुत चेतने में उन्हें कई वर्ष लग गये।

पर शीघ्र ही देश के वातावरण में राष्ट्रीय विचार भर गये, और बंगाल इसमें अगुवा हो रहा था। १८७२ में बंकिमचन्द्र चटर्जी नामक एक बंगाली सज्जन ने 'आनन्द मठ' नामक एक उपन्यास लिखा। इस पुस्तक में ऐसे ही राष्ट्रीय विचार भरे हुए थे और उसने इनको और भी ज्यादा फैला दिया। बंगाली में यह नये ढंग की किताब थी; साहित्य पर इसका बड़ा असर हुआ, साथ ही बंगाल में राष्ट्रीयता की बढ़ती में भी इसका बड़ा हाथ रहा। हमारा प्रसिद्ध राष्ट्रीय गीत 'वन्देमातरम्' इसी पुस्तक से लिया गया है। यहाँ पर मैं इस बात की भी चर्चा करदूं कि 'आनन्द मठ' से कोई बारह वर्ष पहले एक बंगाली कविता निकली थी, जिसने बडी सनसनी पैदा कर दी थी। इसका नाम था 'नील दर्पण'। इसमें नील की खेती में प्लाण्टेशन-पद्धति से, जिसका कि हाल कुछ मैं तुम्हें बता चुका हूँ, बंगाल के किसानों की होने वाली तबाही का बड़ा ही दर्द-नाक वर्णन किया गया था।

इसी दरमियान हिन्दुस्तानी पूंजीपतियों की ताक़त भी बढ़ रही थी, और वे हाथ-पैर फैलाने के लिए और ज्यादा जगह मांग रहे थे। आख़िरकार १८८५ में नई

मध्यम श्रेणी के इन सब वर्गों ने मिलकर अपना पक्ष समर्थन करने के लिए एक संस्था बनाने का निश्चय किया। इस तरह १८८५ में हमारी राष्ट्रीय महासभा—इण्डियन नेशनल कांग्रेस–की नींव पडी। जैसा कि तुम और हिन्दुस्तान का बच्चा-बच्चा जानता है, यह संस्था पिछले वर्षों में एक बहुत बडी और ताक़तवर संस्था बन गई है। इसने जनसाधारण का पक्ष लिया, और कुछ हद तक उनकी संरक्षक बन गई। इसने हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी हुकूमत की बुनियाद को ही चुनौती दी, और उसके ख़िलाफ़ सार्वजनिक आन्दोलन चलाये। इसने स्वतंत्रता का झंडा ऊँचा उठाया और आज़ादी के लिए यह मर्दानगी के साथ लडी। आज भी उसका यह युद्ध जारी है। लेकिन यह सब कुछ इधर का पिछला इतिहास है। यह जब पहले पहल क़ायम हुई, एक बहुत ही नरम और फूंक-फूंककर क़दम रखने वाली, अंग्रेज़ों के प्रति अपनी राजभक्ति प्रदर्शित करनेवाली, और छोटे-छोटे सुधारों के लिए बडी नम्र भाषा में माँग पेश करनेवाली संस्था थी। उस समय यह धनिक मध्यमवर्ग की प्रतिनिधि थी, ग़रीब मध्यम श्रेणी तक के लोग इसमें शामिल नहीं थे। आम रिआया, किसान और मज़दूरों को तो इससे कुछ लेना-देना था ही नहीं। यह ख़ासकर अंग्रेजी पढ़े-लिखों की संस्था थी, और इसकी सारी कार्रवाई हमारी सौतेली ज़बान अंग्रेज़ी में होती थी। इसकी मांगें ज़मींदारों, हिन्दुस्तानी पूंजीपतियों, नौकरियों की तलाश में रहनेवाले शिक्षित बेकारों की माँगें होती थीं। रिआया की ज़रूरतों या उसे तबाह करनेवाली ग़रीबी पर बहुत कम ध्यान दिया जाता था। इसने नौकरियों के 'भारतीयकरण', अर्थात् सरकारी नौकरियों में अंग्रेज़ों की बनिस्बत हिन्दुस्तानियों को ज्यादा-से-ज्यादा जगहें दी जाने, की माँग की। इसने यह न देखा कि हिन्दुस्तान की जो कुछ ख़राबी है, उस मशीन में है जो जनता का शोषण करती है; और इसलिए इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि वह किसके अधिकार में है, हिन्दुस्तानियों के या विदेशियों के। कांग्रेस की दूसरी शिकायत थी फ़ौज और सिविल सर्विस के अंग्रेज़ी अफ़सरों के ज़बरदस्त ख़र्च की और हिन्दुस्तान के सोने-चांदी को इंग्लैण्ड 'बहाये जाने' की।

यह ख़याल न करना कि शुरू में कांग्रेस कितनी नरम थी, यह बताकर मैं उसकी आलोचना कर रहा हूँ अथवा उसके महत्त्व को कम करने की कोशिश कर रहा हूँ। मेरा यह मतलब नहीं है, क्योंकि मेरा विश्वास है कि उन दिनों की कांग्रेस और उसके नेताओं ने बहुत बड़ा काम किया है। हिन्दुस्तान की राजनीति के कठोर तथ्यों और वाक़यात ने इस संस्था को धीरे-धीरे और बिलकुल बेदिली से ज्यादा-ज्यादा उग्र नीति ग्रहण करने के लिए मजबूर किया है लेकिन अपने शुरू के ज़माने में वह जैसी थी उसके अलावा और कुछ हो भी नहीं सकती थी। उन दिनों अगर इसके

संस्थापक लोग आगे बढ़ना भी चाहते, तो उनके लिए बड़े साहस की ज़रूरत थी। जब रिआया हमारे साथ हो और हमारी आज़ादी की चाह के लिए हमारी तारीफ़ करती हो, उस समय हमारे लिए बड़ी बहादुरी के साथ आज़ादी की बातें करना बड़ा आसान है। लेकिन किसी बड़े काम में अगुवा बनना बड़ा मुश्किल है।

पहली कांग्रेस १८८५ में बम्बई में हुई। बंगाल के उमेशचन्द्र बनर्जी इसके पहले सभापति थे। उस शुरू ज़माने के और दूसरे ख़ास नाम हैं सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, बदरुद्दीन तैयबजी, और फ़िरोज़शाह मेहता। लेकिन इन सबके ऊपर एक सबसे ऊँचा नाम है दादाभाई नौरोजी का, जो भारत के वृद्ध पितामह कहलाते थे और जिन्होंने सबसे पहले हिन्दुस्तान के लक्ष्य के लिए 'स्वराज्य' शब्द का इस्तेमाल किया। तुम्हें इस नाम से अच्छी तरह परिचित होना चाहिए, क्योंकि उनके बड़े लड़के हमारे प्रिय मित्र और साथी हैं; जब कभी हम बम्बई जाते हैं उन्हींके मकान पर ठहरते हैं। एक नाम मैं और बताऊँगा, क्योंकि पुरानी कांग्रेस के अगुवाओं में से जीवित व्यक्ति एक मात्र वही बचे हैं और उन्हें तुम अच्छी तरह जानती हो। वह हैं पण्डित मदनमोहन मालवीय। पचास वर्ष से भी ज्यादा अर्से से वह हिन्दुस्तान के हित में जूझ रहे हैं, और बुढ़ापे और चिन्ताओं से चूर-चूर हो जाने पर भी अपनी जवानी के सपने को सच्चा बनाने के लिए परिश्रम किये जा रहे हैं।

इस तरह काँग्रेस सालोंसाल आगे बढ़ती गई, और ताक़त बढ़ाती गई। शुरू ज़माने की हिन्दू राष्ट्रवादिता की तरह इसका दृष्टिकोण संकुचित नहीं था। फिर भी ख़ासकर यह हिन्दुओं की ही थी। कुछ ख़ास-ख़ास मुसलमान इसमें शामिल हुए, और इसके सभापति तक बने, लेकिन समुदाय रूप से मुसलमान इससे दूर ही रहे। उस समय के एक प्रसिद्ध मुस्लिम नेता थे सर सैयद अहमद खाँ। उन्होंने देखा कि तालीम, ख़ासकर मौजूदा तालीम, की कमी की वजह से ही मुसलमानों का ज्यादातर नुक़सान हो रहा है, और वे इतने पिछड़े हुए हैं। इसलिए उन्होंने यह निश्चय किया कि राजनीति में धुसने से पहले मुसलमानों को इस तालीम के लिए रज़ामन्द करना चाहिए और अपनी सारी ताक़त इसी पर लगानी चाहिए। इसलिए उन्होंने मुसलमानों को काँग्रेस से अलग रहने की सलाह दी, सरकार के साथ सहयोग किया और अलीगढ़ में एक सुन्दर कालेज क़ायम किया जो आगे यूनीवर्सिटी में तब्दील हो गया है। ज्यादातर मुसलमानों ने सर सैयद की राय मानकर अपने को काँग्रेस से अलग रक्खा। लेकिन उनकी थोड़ी तादाद तो हमेशा इसके के साथ रही। यह याद रहे कि जब मैं बहुमत या अल्पमत की चर्चा करता हूँ तो उससे मेरा मतलब उच्च मध्यम वर्ग के अँग्रेज़ी पढ़े-लिखे हिन्दू-मुसलमानों के अल्प या बहुमत से होता है। दोनों, हिन्दू और मुसलमान

जन-साधारण का कांग्रेस से कोई वास्ता न था, और उन दिनों इनमें से बहुत कम ने इसका नाम सुना होगा। निम्न मध्यम वर्गों तक पर उस समय इसका कोई असर नहीं हुआ था।

कांग्रेस बढ़ी, लेकिन कांग्रेस से भी तेज़ रफ़्तार से राष्ट्रीयता के विचार और आज़ादी की चाह बढ़ी। सिर्फ़ अंग्रेज़ी पढ़े-लिखों तक महदूद होने के कारण कांग्रेस की पुकार या पहुँच स्वभावतः ही परिमित थी। किसी हद तक इसने जुदे-जुदे प्रान्तों को एक-दूसरे के नज़दीक लाने और एक समान दृष्टिकोण बनाने में मदद दी। लेकिन इसकी पैठ जनता तक गहरी न होने के कारण इसके पास ताक़त कुछ न थी। किसी दूसरे पत्र में मैंने तुम से एक घटना ज़िक्र किया है, जिसने एशिया भर में भारी हल-चल मचा दी थी। यह १९०४–५ में छोटे-से जापान की भीमकाय रूस पर हुई विजय थी। एशिया के दूसरे देशों के साथ-साथ हिन्दुस्तान अर्थात यहाँ के अँग्रेज़ी पढ़े-लिखे मध्यम वर्ग इससे बहुत प्रभावित हुए और उनका आत्मविश्वास बढ़ गया। अगर योरप के एक सबसे अधिक शक्तिशाली देश के ख़िलाफ़ जापान सफलता पा सकता है तो हिन्दुस्तान क्यों नहीं पा सकता? बहुत अर्से से हिन्दुस्तानी लोग अपने को अँग्रेज़ों के मुक़ाबिले में तुच्छ से मानते आ रहे थे। अंग्रेज़ों के लम्बे अर्से के शासन और १८५७ के ग़दर के निर्दय दमन ने उन्हें डरपोक बना दिया था। साथ ही हथियार न रखने का क़ानून बनाकर उन्हें हथियार रखने से रोक दिया गया था। हिन्दुस्तान में होनेवाली हरेक बात उन्हें इस बात की याद दिलाती थी कि वह एक ग़ुलाम क़ौम है, एक तुच्छ जाति है। जो शिक्षा उन्हें दी जाती थी, वह तक उनमें इसी तरह की तुच्छता के विचार भरती थी। बिगाडे हुए और झूठे इतिहास द्वारा उन्हें बताया जाता था कि हिन्दुस्तान में हमेशा से अराजकता फैली रही है, और हिन्दू और मुसलमान हमेशा एक-दूसरे का गला काटते हैं और आख़िरकार अंग्रेज़ों ने ही उनकी सहायता के लिए आकर इस देश का इस बदबख़्त हालत से पीछा छुड़ाया, और इस पर सुख और शान्ति की वर्षा की। सचाई और इतिहास की कोई परवाह न कर अँग्रेज़ यह समझाते और ढिंढोरा पीटते रहते थे कि सारा-का-सारा एशिया दरअसल एक पिछड़ा हुआ महाद्वीप है, और इसलिए इसे हमेशा अंग्रेज़ों के ही शासन में रहना चाहिए।

इसलिए जापान की विजय एशियावालों के लिए एक बडी स्फूर्तिदायक बात हुई। हिन्दुस्तान में हममें से ज्यादातर में अपने को तुच्छ समझने की जो भावना फैली हुई थी, वह इससे कम हुई। राष्ट्रीयता के विचार, ख़ासकर बंगाल और महाराष्ट्र में, बडी व्यापकता के साथ फैलने लगे। इसी समय एक घटना घटी, जिसने बंगाल को जड़ से हिला दिया और देशभर में सनसनी मचा दी। सरकार ने बंगाल

के बड़े प्रान्त को (जिसमें उस समय बिहार भी शामिल था) दो हिस्सों में बाँट दिया, जिनमें एक हिस्सा पूर्वी बंगाल था। बंगाल के उन्नत राष्ट्रवादी मध्यम वर्ग ने इसका विरोध किया। उसे डर था कि अंग्रेज़ बंगाल के इस तरह टुकड़े करके उसे कमज़ोर करना चाहते हैं। पूर्वी बंगाल में मुसलमानों का बहुमत था, इसलिए इस बंटवारे से हिन्दू-मुस्लिम सवाल भी उठ खड़ा हुआ। बंगाल भर में एक ज़बर-दस्त ब्रिटिश-विरोधी आन्दोलन चल पड़ा। बहुत से छोटे ज़मींदार और पूँजीपति इसमें शामिल हो गये। सबसे पहले उसी समय 'स्वदेशी' की पुकार मची और इसके साथ ही ब्रिटिश माल के बहिष्कार की घोषणा हुई, जिससे हिन्दुस्तानी उद्योग और पूँजी में निःसन्देह सहायता पहुँची। कुछ हद तक आम जनता में भी यह आन्दोलन फैल गया था, और हिन्दूधर्म से भी इसको कुछ प्रेरणा मिली। इसके साथ-साथ बंगाल में क्रान्तिकारी हिंसा के विचार भी पैदा हुए और हिन्दुस्तान की राजनीति में पहली बार 'बम' का पदार्पण हुआ। बंगाल में आन्दोलन के एक ज्वलन्त नेता अरविन्द घोष थे। वे अभी भी मौजूद हैं, लेकिन बहुत वर्षों से फ्रांसीसी भारत के पाण्डेचरी नाम के शहर में आश्रम बनाकर आध्यात्मिक जीवन बिता रहे हैं।

पश्चिमी भारत के महाराष्ट्र प्रदेश में भी इस समय भारी उत्तेजना फैली हुई थी, और हिन्दुत्व के रंग रँगी हुई उग्र राष्ट्रीयता का उदय हो रहा था। वहाँ बाल गंगाधर तिलक नाम के एक महान नेता हुए जो हिन्दुस्तान भर में लोकमान्य के नाम से मशहूर हैं। तिलक एक महान् विद्वान थे; वह पूर्वी और पश्चिमी दोनों सिद्धान्तों के एक समान जानकार थे, बड़े भारी राजनीतिज्ञ थे, और सबसे बड़ी बात यह कि वे एक महान् सार्वजनिक नेता थे। कांग्रेस के नेताओं की पहुँच अभी केवल अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों तक ही हो सकती थी, आम जनता उन्हें बहुत कम जानती थी। लेकिन तिलक नव-भारत के पहले राजनैतिक नेता हुए हैं, जो जनता तक पहुँचे और उससे ताक़त हासिल की। उनके ज़बर्दस्त व्यक्तित्व के कारण जनता में शक्ति और न जीती जा सकने वाली हिम्मत के नवीन भावों का उदय हुआ और इसके साथ बंगाल की राष्ट्रीयता और बलिदान की नवीन भावना ने मिलकर भारतीय राजनीति का स्वरूप बदल दिया।

सन् १९०६–७ और ८ के इन सनसनीपूर्ण दिनों में कांग्रेस क्या कर रही थी? राष्ट्रीय भावना के जागरण के इस समय में कांग्रेस के नेता राष्ट्र को आगे बढ़ाने के बजाय, पीछे धकेल रहे थे। उन्हें एक शान्त प्रकार की राजनीति में रहने की आदत हो गई थी, जिसमें जनता दख़ल नहीं देती थी। बंगाल का धधकता हुआ जोश उन्हें पसन्द नहीं था, न महाराष्ट्र का नवीन दुर्दमनीय उत्साह ही, उन्हें अच्छा

लगता था, जिसके कि मूर्त्तिमान स्वरूप लोकमान्य तिलक थे। 'स्वदेशी' आन्दोलन की तो उन्होंने प्रशंसा की, लेकिन ब्रिटिश माल के बहिष्कार से वे हिचकते थे। कांग्रेस में अब दो दल हो गये—एक तिलक और कुछ बंगाली नेताओं के नेतृत्व में गरम दल, और दूसरा कांग्रेस के पुराने नेताओं का नरम दल। नरम दल के सबसे प्रमुख नेता एक नवयुवक श्री गोपाल कृष्ण गोखले थे, जो बड़े भारी विद्वान थे और जिन्होंने अपना सारा जीवन सेवा में लगा दिया था। गोखले भी महाराष्ट्रीय थे। अपने प्रतिद्वन्द्वी दलों को लेकर तिलक और इनमें आपस में एक-दूसरे से मुक़ाबिला होता रहता था। इसका लाज़मी नतीजा यह हुआ कि १९०७ में फूट पैदा हुई और कांग्रेस दो हिस्सों में बँट गई। नरम दलवालों का कांग्रेस पर अधिकार बना रहा, गरम दलवाले निकाल बाहर किये गये। नरम दलवाले जीत तो गये लेकिन उनकी लोकप्रियता उठ गई, क्योंकि जनता में तिलक का दल बहुत प्रिय था। कांग्रेस कमज़ोर होगई, और कुछ वर्षों तक उसका प्रभाव नाम मात्र को रह गया।

और इन वर्षों में सरकार का क्या हाल था? बढ़ती हुई भारतीय राष्ट्रीता का इसने किस तरह जवाब दिया? सरकार के पास किसी ऐसी दलील या माँग का, जिसे वह पसन्द नहीं करती, जवाब देने का सिर्फ़ एक ही तरीक़ा है—लाठी का प्रयोग। इसलिए सरकार दमन पर उतर आई, लोगों को जेलों में भरना शुरू किया, प्रेस-क़ानून बनाकर अख़बारों को दबाया गया, और हरेक ऐसे व्यक्ति के पीछे, जिसे कि वह पसन्द नहीं करती थी, खुफ़िया पुलिस और जासूसों के दल के दल छोड़ दिये। उसी समय से सी० आई० डी० के लोग हिन्दुस्तान के ख़ास-ख़ास राजनैतिक नेताओं के साथ लगे रहते हैं। बंगाल के बहुत से नेताओं को क़ैद की सज़ा दी गई। सबसे अधिक मार्के का मुक़दमा लोकमान्य तिलक का था, जिन्हें छः वर्ष की क़ैद की सज़ा दी गई थी, और जिन्होंने अपनी क़ैद के दिनों में माण्डले जेल में एक प्रसिद्ध ग्रन्थ, 'गीतारहस्य', लिखा था। लाला लाजपतराय भी बर्मा निर्वासित कर दिये गये।

लेकिन दमन बंगाल को कुचलने में कामयाब नहीं हुआ। इसलिए जल्दी ही शासन-सुधार का और एक क़दम उठाया गया, जिससे कम-से-कम कुछ लोगों को तो शान्त किया जा सके। उस समय की नीति, जोकि बाद में भी रही और आज भी है, राष्ट्रीय दलों में फूट डालने की थी। नरम दलवालों का 'गुट्ट' बनाना या उन्हें 'रिझाना' और गरम दल को कुचल देना। १९०८ में मार्ले-मिन्टो सुधारों के नाम से प्रसिद्ध इन नये सुधारों की घोषणा की गई। इनसे नरम दलवालों को रिझाने में वह सफल हो गई। वे इन सुधारों को पाकर खुश हो गये। गरम दल के नेताओं के जेल में होने के कारण दल की व्यवस्था में ख़राबियाँ पैदा हो गईं और इस तरह राष्ट्रीय

प्रगति कमज़ोर पड़ गई। लेकिन बंगाल में बंग-विच्छेद के ख़िलाफ़ आन्दोलन जारी रहा, और कामयाबी हासिल होने पर ही ख़तम हुआ। १९११ में ब्रिटिश सरकार ने बंग-विच्छेद को वापस ले लिया। इस विजय ने बंगालियों में नया जोश पैदा कर दिया। लेकिन १९०७ का आन्दोलन ख़तम हो चुका था, और हिन्दुस्तान राजनैतिक दृष्टि से फिर ठंडा पड़ गया।

१९११ में यह भी घोषणा की गई कि दिल्ली हिन्दुस्तान की नई राजधानी होगी—वही दिल्ली जो पहले भी बहुत-से साम्राज्यों की राजधानी रह चुकी थी और साथ ही कई साम्राज्यों की क़बरस्तान थी।

१९१४ में जिस समय योरप में महायुद्ध शुरू हुआ और नेपौलियन के बाद का सौ वर्ष का ज़माना ख़तम हुआ, हिन्दुस्तान की हालत इस तरह की थी। महायुद्ध का हिन्दुस्तान पर भी ज़बर्दस्त असर हुआ, लेकिन उसके बारे में मैं बाद में कुछ कहूँगा।

आख़िरकार उन्नीसवीं सदी के हिन्दुस्तान का हाल मैंने समाप्त कर ही दिया। मेरा क़िस्सा तुमको अब से अठारह वर्ष के भीतर ले आया है। अब हम हिन्दुस्तान को छोड़कर अगले पत्र में चीन को चलेंगे और एक-दूसरे तरह के साम्राज्यवादी शोषण पर विचार करेंगे।

: ११४ :

ब्रिटेन का चीन पर ज़बर्दस्ती अफ़ीम लादना

१४ दिसम्बर, १९३२

मैंने तुम्हें काफ़ी विस्तार के साथ हिन्दुस्तान पर औद्योगिक और यान्त्रिक क्रान्ति का असर समझाया है और यह भी बताया है कि नये साम्राज्यवाद ने हिन्दुस्तान में किस तरह काम किया। हिन्दुस्तानी होने के कारण, मैं उसका तरफ़दार हूँ, इसलिए मुझे डर है कि उसके बारे में विचार करते वक़्त उसकी तरफ़दारी करने से मैं अपने को रोक नहीं सकता। फिर भी मैंने यही कोशिश की है, और मैं चाहता हूँ कि तुम भी यही कोशिश करो कि इन सवालों पर निष्पक्ष वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय, किसी एक पक्ष को साबित करने पर तुले हुए राष्ट्रीय दृष्टिकोण से नहीं। राष्ट्रीयता अपनी जगह पर अच्छी चीज़ है, लेकिन मित्रता और ऐतिहासिक सचाई के लिए उसपर भरोसा नहीं किया जा सकता। कितनी ही घटनाओं के बारे में वह हमें अन्धा बना देती है, और कई बार, ख़ासकर जब उससे हमारा या हमारे देश का ताल्लुक़ हो, तो सचाई को तोड़-मरोड़ देती है। इसलिए भारतीय इतिहास पर विचार करते

समय हमें बडी सावधानी से काम लेना होगा; ताकि कहीं ऐसा न हो जाय कि हम अपनी तमाम मुसीबतों का इलजाम अंग्रेजों के सिर मढ़ने लगें। कुछ भी हो, जैसाकि किसी ने कहा है, जैसी प्रजा होती है, वैसा ही उसे राजा भी मिलता है।

उन्नीसवीं सदी में ब्रिटिश उद्योगवादियों और पूंजीपतियों ने हिन्दुस्तान को किस तरह चूसा यह देख चुकने के बाद, अब हम एशिया के एक दूसरे बडे देश, हिन्दुस्तान के प्राचीन समय के मित्र और राष्ट्रों में सबसे पुराने राष्ट्र चीन की तरफ़ चलते हैं। यहाँ हम पश्चिमवालों को एक दूसरे ही तरह का शोषण करते पायेंगे। हिन्दुस्तान की तरह चीन किसी यूरोपीय देश का उपनिवेश अथवा अधीन-राज्य नहीं बना। लगभग उन्नीसवीं सदी के बीच तक वहाँ का केन्द्रीय शासन अपने देश को एक सूत्र में बांधे रखने के लिए काफ़ी ताक़तवर था, इसलिए उसने कुछ विदेशी हमला करनेवालों का मुक़ाबिला करके भी इस अवस्था से अपने को बचाये रक्खा। जैसाकि हम पहले देख आये हैं, हिन्दुस्तान इससे सौ साल से भी ज्यादा पहले, मुग़ल साम्राज्य के खातमे के साथ ही तहस-नहस हो चुका था। चीन उन्नीसवीं सदी में कमजोर तो होगया, फिर भी वह अख़ीर तक संगठित बना रहा, और विदेशी ताक़तें आपस में एक दूसरे के ईर्षा-द्वेष के कारण चीन की कमजोरी से बहुत ज्यादा फ़ायदा न उठा सकीं।

चीन पर लिखे गये आख़िरी पत्र में मैंने तुम्हें बताया था कि अंग्रेज़ों ने चीन के साथ अपना व्यापार बढ़ाने के लिए क्या-क्या कोशिशें कीं। इंग्लैण्ड के बादशाह जार्ज तीसरे के पत्र के उत्तर में मंचू सम्राट शियन-लुंग ने जो शानदार और अधिकारपूर्ण ख़त लिखा था, उसका एक लम्बा उद्धरण मैंने तुम्हें दिया था। यह १७९२ की बात है। यह वर्ष तुम्हें योरप के उस समय के तूफानी दिनों की याद दिलावेगा—यह फ़्रान्सीसी क्रान्ति का युग था। इसके बाद ही नेपोलियन और उसके युद्ध आये। इस सारे ज़माने भर इंग्लैण्ड को दम मारने को भी फुरसत न थी, वह जी तोड़कर नेपोलियन से लड़ रहा था। इस तरह नेपोलियन का अन्त होने और इंग्लैंड को शान्ति के साथ दम लेने की फुरसत मिलने तक चीन में अपना व्यापार बढ़ाने का सवाल उठाने का इंग्लैण्ड के पास कोई मौक़ा ही न था। इसके फौरन ही बाद १८१६ में एक दूसरा ब्रिटिश राजदूत चीन को भेजा गया। लेकिन मुलाक़ात की किसी रस्म के अदा करने में कुछ दिक़्क़त आपड़ने की वजह से चीनी सम्राट ने ब्रिटिश राजदूत लार्ड एमहर्स्ट से मुलाक़ात करना नामंजूर कर दिया, और उसे वापस चले जाने का हुक्म दिया। इस रस्म का नाम 'कोतो' था, जो एक तरह से ज़मीन पर लेटकर दण्डवत् प्रणाम या क़दमबोसी करने के समान था। शायद तुमने 'को-तो-इन' शब्द सुना होगा।

इसलिए कुछ हो न सका। इसी दरमियान एक नई तिजारत, अफीम की, तेज़ी से

बढ़ रही थी। इस तिजारत को नई कहना तो शायद ठीक न होगा, क्योंकि अफ़ीम पहले-पहल पन्द्रहवीं सदी में ही हिन्दुस्तान से चीन ले जाई जा चुकी थी। पुराने ज़मानें में हिन्दुस्तान ने चीन को बहुत-सी अच्छी चीजें भेजी थीं। इनमें अफ़ीम बेशक एक बुरी चीज़ थी। लेकिन यह तिजारत एक हदतक सीमित थी। उन्नीसवीं सदी में यूरोपियनों के, खासकर ब्रिटिश व्यापार का एकाधिकार हासिल कर लेने वाली ईस्ट इंडिया कम्पनी के कारण, यह बढ़ने लगा। कहा जाता है कि पूर्व में डच लोग मलेरिया से बचने के लिए तम्बाकू के साथ अफ़ीम मिलाकर पिया करते थे। इन्हींकी मार्फत चीन में भी तम्बाकू की तरह अफ़ीम पीने का रिवाज पहुंचा, और उससे भी बदतर रूप में, क्योंकि यहाँ बिना तम्बाकू के ख़ाली अफ़ीम ही पी जाती थी। चीनी सरकार इस आदत को छुड़ाना चाहती थी, क्योंकि लोगों पर इसका बुरा असर पड़ रहा था, और इसकी तिजारत देश का बहुत-सा धन बाहर खींचे ले जा रही थी।

सन् १८०० में चीनी सरकार ने एक शाही फ़रमान जारी करके अपने मुल्क में किसी भी काम के लिए अफ़ीम का आना रोक दिया। लेकिन इस तिजारत से विदेशियों को बड़ा फ़ायदा होता था। इसलिए वे चोरी-छिपे अफ़ीम लाते रहे, और इनको नज़रअन्दाज़ कर जाने के लिए चीनी अफ़सरों को रिश्वत देदी जाती। इस पर चीन-सरकार नें यह नियम बना दिया कि कोई भी सरकारी अफ़सर विदेशी व्यापारियों से न मिलने पाये। किसी भी विदेशी को चीनी या मञ्चू भाषा सिखानें के लिए भी सख़्त सज़ायें मुक़र्रर की गईं। लेकिन इन सबका कोई ख़ास नतीजा नहीं हुआ। अफ़ीम की तिजारत चलती ही रही और रिश्वत और बेईमानी का बाज़ार गर्म हो गया। १८३४ के बाद, जब ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी का एकाधिकार छीन कर तमाम अँग्रेज़ों के लिए व्यापार खोल दिया, तब तो हालत और भी बदतर हो गई।

लुका-छिपाकर चोरी से अफ़ीम का लाया जाना अचानक बहुत ही बढ़ गया, तब आख़िकार चीन-सरकार ने इसके दमन के लिए सख़्त कार्रवाई करने का निश्चय किया। इस काम के लिए एक भला और ईमानदार आदमी चुना गया। चोरी से आनेवाली इस अफ़ीम की रोक के लिए लिन-सी-हो स्पेशल कमिश्नर नियुक्त हुआ और उसने फ़ौरन ही तेज़ी और मुस्तैदी के साथ कार्रवाई शुरू करदी। वह दक्षिण के केण्टन नगर पहुँचा, जो इस ग़ैर-क़ानूनी तिजारत का मुख्य केन्द्र था, और वहाँ के तमाम विदेशी व्यापारियों को हुक्म दिया कि जितनी भी अफ़ीम उनके पास मौजूद है वह सब उसके पास जमा करा दी जाय। शुरू में उन्होंने इस हुक्म को मानने से इनकार कर दिया। इसपर लिन ने इसके लिए उन्हें मजबूर किया। उसने उन्हें

उनकी फैक्टरियों में बन्द कर दिया, उनके चीनी कार्यकर्त्ता और नौकरों से उनका काम छुड़वा दिया और बाहर से उनके पास रसद जाना रोक दिया। इस साहस और मुस्तैदी का नतीजा यह हुआ कि विदेशी व्यापारियों को घुटने टेक देने पड़े, और अफ़ीम की बीस हज़ार पेटियाँ निकालकर उसके सामने धर देनी पड़ीं। अफ़ीम के इस भारी ढेर को, जो साफ़ ज़ाहिर है कि चोरी से देश के अन्दर भेजने के लिए इकट्ठा किया गया था, नष्ट करवा दिया दिया। उसने विदेशी व्यापारियों से यह भी कह दिया कि जबतक बाहर से आने वाले जहाज़ का कप्तान अफ़ीम न लाने का वचन न देदेगा, तबतक कोई जहाज़ केण्टन में घुसने न पायगा। यदि कोई इस वचन को तोडेगा तो चीनी सरकार जहाज़ और उसके सारे माल को ज़ब्त कर लेगी। लिन एक खरा आदमी था। उसने सौंपे हुए काम को अच्छी तरह कर दिखाया, लेकिन उसने यह नहीं सोचा कि इसके नतीजे चीन के लिए कठोर होंगे।

नतीजे ये हुए—ब्रिटेन के साथ युद्ध छिड़ा, चीन की हार हुई, अपमानजनक सन्धि करनी पड़ी, और वही अफ़ीम जिसे चीन की सरकार रोकना चाहती थी ज़बर्दस्ती चीन के हलक़ में ठूंसी गई। अफ़ीम चीन के लिए अच्छी चीज़ है या बुरी, इस बात से कोई वास्ता न था। चीन की सरकार क्या चाहती थी, इससे भी कोई ख़ास मतलब न था। असली बात यह थी कि अफ़ीम की इस चोरी-छिपी तिजारत से अंग्रेज़ व्यापारियों को बड़ा भारी मुनाफ़ा होता था, और ब्रिटेन अपनी इस आमदनी का मारा जाना बर्दाश्त करने को तैयार न था। कमिश्नर लिन ने जो अफ़ीम नष्ट करवादी थी, उसमें सबसे ज्यादा अंग्रेज़ व्यापारियों की थी। इसलिए राष्ट्रीय आत्म-सम्मान के नाम पर अंग्रेज़ों ने १८४० में चीन से लड़ाई छेड़ दी। इस युद्ध को 'अफ़ीम का युद्ध' नाम दिया जाना ठीक ही है, क्योंकि यह चीन पर अफ़ीम लादने के लिए लड़ा और जीता गया था।

कैण्टन और दूसरी जगहों की नाकेबन्दी कर देनेवाले ब्रिटिश जहाज़ी बेडे के ख़िलाफ़ चीन का कुछ बस न चल सका। दो वर्ष बाद उसे हार माननी पड़ी और १८४२ में नानकिंग की सन्धि हुई, जिसके मुताबिक़ पाँच बन्दरगाह विदेशी व्यापार, जिसका उस समय मतलब था ख़ासकर अफ़ीम की तिजारत, के लिए खोल देने पड़े। ये पाँच बन्दरगाह थे केण्टन, शंघाई, अमॉय, निंगपो, और फ़्यूचू। इन्हें 'सन्धि-बन्दरगाह' कहा जाता था। कैण्टन के पास के हांग-कांग टापू पर भी अंग्रेज़ों ने क़ब्ज़ा कर लिया, और जो अफ़ीम नष्ट करदी गई थी उसके हरजाने के तौर पर और चीन से जो लड़ाई ज़बर्दस्ती लड़ी गई थी, उसके ख़र्चे के रूप में उन्होंने चीन से भारी रक़म ऐंठी।

इस तरह अफ़ीम के मामले में ब्रिटेन ने विजय प्राप्त की। चीन के सम्राट ने

इंग्लैण्ड की तत्कालीन महारानी विक्टोरिया से, चीन पर ज़बर्दस्ती लादी गई अफ़ीम की तिजारत के भयंकर परिणामों का बहुत नम्रता के साथ उल्लेख करते हुए, व्यक्तिगत अपील की। लेकिन महारानी की तरफ़ से कोई उत्तर न मिला। ठीक पचास वर्ष पहले इसी सम्राट के पुरखे शियन-लुंग ने इंग्लैण्ड के बादशाह के नाम इससे बिलकुल ही दूसरे ढंग का पत्र लिखा था!

पश्चिम की साम्राज्यवादी शक्तियों के साथ चीन की मुसीबतों की यह शुरूआत थी। उसकी एकान्तता ख़ातमे पर थी। उसे विदेशी तिजारत मंजूर करनी पडी, और साथ ही मंजूर करने पडे ईसाई मिशनरी—पादरी या प्रचारक। इन ईसाई प्रचारकों ने साम्राज्यवाद के अग्रदूत के रूप में चीन में बड़ा ज़बर्दस्त काम किया। बाद में चीन पर जो-जो मुसीबतें आईं उनका कुछ-न-कुछ कारण ये मिशनरी लोग ही थे। इनका बर्त्ताव निहायत गुस्ताख़ाना और भड़कानेवाला था; लेकिन चीनी अदालतों में उनपर मुक़दमा नहीं चलाया जा सकता था। नये सुलहनामे के मुताबिक योरप के विदेशियों पर चीनी क़ानून और चीन का इन्साफ़ लागू नहीं हो सकता था। उनपर उन्हींकी अदालतों में मुक़दमा चल सकता था। यह 'अन्य-देशिकता' का अधिकार कहा जाता था, जो अब भी मौजूद है, और जिसका वहाँ अब भी बहुत विरोध किया जाता है। मिशनरियों ने जिन चीनियों को ईसाई बनाया, वे भी अब इस 'अन्य देशिकता' के विशेषाधिकार की माँग करने लगे। वे किसी भी तरह से इसके हक़दार न थे; लेकिन इस बात की कुछ परवा न की गई, क्योंकि एक ज़बर्दस्त मिशनरी, एक ताक़तवर साम्राज्यवादी राष्ट्र का प्रतिनिधि—ब्रिटेन—उनकी पीठ पर था। इस तरह एक गाँव को दूसरे गाँव के ख़िलाफ़ भड़का दिया जाता; और जब इन गाँववालों को हद से ज्यादा चिढ़ाया जाता, तो और दूसरे लोग बलवा कर मिशनरी पर टूट पड़ते और कभी-कभी उसकी हत्या भी कर देते। तब उसकी पीठ पर रहनेवाली साम्राज्यवादी ताक़त आ धमकती, और कसकर बदला लेती। यूरोपीय शक्तियों के लिए चीन में मिशनरियों की हत्याओं से बढ़कर फ़ायदेमन्द दूसरी घटनायें शायद ही हुई हों। क्योंकि हरेक ऐसी हत्या को वे विशेषाधिकार माँगनें और ज़बर्दस्ती रिआयतें ऐंठ लेने का कारण बना लेते थे।

चीन के एक सबसे भयंकर और ख़ूनी विद्रोह को खड़ा करनेवाला एक नया ईसाई बनाया हुआ चीनी ही था। यह नेंपिंग के बलवे के नाम से मशहूर है, जो १८५० के क़रीब एक नीम-पागल आदमी हूंग-सिन-च्वान ने शुरू किया था। इस मज़हबी दीवाने को असाधारण सफलता मिली और वह 'बुतपरस्तों यानी मूर्ति-पूजकों को मारो' का अपना जंगी नारा लगाता हुआ चारों तरफ़ बढ़ता गया और बडी भारी

तादाद में लोग मारे गये। इस बलवे ने आधे से भी ज्यादा चीन को तबाह कर दिया, और क़रीब बारह साल या इसीके लगभग समय में अन्दाज़न दो करोड़ आदमी इसके कारण मौत के घाट उतरे। अवश्य ही बलवे और उसके साथ ही होनेवाले हत्याकण्ड के लिए ईसाई मिशनरियों या विदेशी ताक़तों को ज़िम्मेदार ठहराना उचित नहीं है। शुरू-शुरू में तो मिशनरी लोग इसकी सफलता की कामना करते मालूम भी हुए, लेकिन बाद में उन्होंने हुंग का प्रतिवाद किया। लेकिन चीनी सरकार हमेशा यह विश्वास करती रही कि इसके ज़िम्मेदार मिशनरी ही हैं। उसके इस विश्वास से हम समझ सकते हैं कि ईसाई मिशनरियों की करतूतों से उस समय चीनी लोग कितने नाराज़ थे, और बाद में भी रहे। उनके लिए मिशनरी कोई धर्म और सद्-भावना का संदेश-वाहक नहीं था बल्कि साम्राज्यवाद का एजेण्ट होता था, जैसा कि किसी अँग्रेज़ लेखक ने कहा भी है—"चीन वालों के दिमाग़ में यह घटना-क्रम अंकित हो रहा था—पहले मिशनरियों का आना, फिर जंगी जहाज़ों की पहुँच और उसके बाद जमीन हड़पने की शुरुआत।" यह याद रखना चाहिए कि चीन पर जब-जब आफ़तें आईं अक्सर ईसाई मिशनरियों के दर्शन ज़रूर हुए हैं—उनमें उनका हाथ ज़रूर रहा है।

यह एक असाधारण बात हुई कि एक मज़हबी दीवाने का खड़ा किया हुआ यह विद्रोह पूरी तरह दबाये जाने से पहले इतनी बडी कामयाबी हासिल कर सका। इसकी असली वजह यह थी कि चीन में पुरानी व्यवस्था टूट रही थी। मेरा ख़याल है कि चीन पर जो पिछला पत्र मैंने तुम्हें लिखा था, उसमें मैंने तुम्हें वहाँ के टैक्सों के बोझ, बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियों और बढ़ते हुए सार्वजनिक असन्तोष का हाल बताया था। मंचू सरकार के ख़िलाफ़ हर जगह गुप्त संस्थायें खडी हो रही थीं और वातावरण में विद्रोह समाया हुआ था। अफ़ीम और दूसरी चीज़ों के विदेशी व्यापार ने हालत को और भी ज्यादा बिगाड़ दिया था। ज़रूर ही चीन में पहले भी विदेशी व्यापार चलता था। लेकिन इस समय हालत दूसरी थी। पश्चिम के बडे-बडे कल-कारख़ाने बडी तेज़ी से माल तैयार कर रहे थे, और वह सब-का-सब वहाँ खप नहीं सकता था। इसलिए उन्हें बाहर के बाज़ार तलाश करने की ज़रूरत हुई। उनकी यह ज़रूरत ही हिन्दुस्तान और चीन के बाजारों की तलाश करने की ख़ास वजह थी। इस विदेशी माल, और ख़ासकर अफ़ीम, ने पुरानी व्यापारिक व्यवस्था को उलट दिया, और आर्थिक गुत्थी को और भी उलझा दिया। हिन्दुस्तान की तरह चीन के बाज़ारों में भी चीज़ों पर अन्तर्राष्ट्रीय क़ीमतों का असर पड़ने लगा। इन बातों ने लोगों के असन्तोष और मुसीबतों को और भी बढ़ा दिया और तैंपिंग के विद्रोह को ताक़तवर बना दिया।

यूरोपीय शक्तियों की बढ़ती हुई गुस्ताख़ी और दस्तंदाज़ी की यह बुनियाद थी। इसलिए यह कोई ताज्जुब की बात नहीं थी कि यूरोपियन लोगों की माँगों का विरोध करने में चीन का ज्यादा बस न चल सका। इन यूरोपियन शक्तियों और, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, जापान ने चीन से विशेषाधिकार और मुल्क के हिस्से ऐंठने के लिए उसकी इस बदइंतिज़ामी और कठिनाइयों से पूरा-पूरा फ़ायदा उठाया। चीन का भी वही हिन्दुस्तान वाला ही हाल होता, और वह भी किसी एक या अधिक यूरोपियन शक्ति या जापान का मातहत राज्य या साम्राज्य हो जाता, अगर इन ताक़तों में आपसी प्रतिद्वन्द्विता और एक-दूसरे के प्रति ईर्षा-द्वेष न होता।

उन्नीसवीं सदी में चीन में उत्पन्न हुई आर्थिक अव्यवस्था, तेपिंग के बलवे, मिशनरियों की करतूतों और विदेशी हमलों की इस आम बुनियाद को बताने में मैं अपने असली क़िस्से से भटक गया हूँ। लेकिन घटनाओं के विवरण को समझदारी के साथ समझने के लिए उसके बारे में कुछ-न-कुछ जानना ज़रूरी है; क्योंकि इतिहास की घटनायें किसी चमत्कार या जादू की तरह एकाएक नहीं हुआ करतीं। जुदे-जुदे कारणों के मिलकर उभाड़ने पर ही वे घटित होती हैं। लेकिन ये कारण अक्सर ज़ाहिरा तौर पर देखने में नहीं आते, वे घटनाओं की तह के नीचे छिपे रहते हैं। चीन के मंचू शासक, जो अभी तक इतने महान् और शक्तिशाली थे, भाग्य-चक्र के इस अचानक परिवर्तन पर अवश्य ही चकित रह गये होंगे। उन्होंने शायद यह नहीं देखा, कि उनके पतन की ख़ास वजह उनके ही भूतकाल में समाई हुई थी; उन्होंने पश्चिम की औद्योगिक प्रगति को और चीन की आर्थिक व्यवस्था पर होनेवाले उसके भयानक परिणामों को अनुभव नहीं किया। 'वहशी' विदेशियों के दख़ल पर उन्होंने सख़्त नाराज़ी ज़ाहिर की। तत्कालीन सम्राट् ने विदेशियों के इस दख़ल का ज़िक्र करते हुए एक मज़ेदार पुराने चीनी मुहाविरे का प्रयोग किया था। उसने कहा कि मैं किसी अजनबी आदमी को अपने बिस्तर के पास ख़र्राटा न लेने दूँगा! हालांकि प्राचीन ग्रन्थों के ज्ञान और विनोद से मुसीबत के समय शान्ति, विश्वास और अपूर्व धैर्य की शिक्षा मिलती थी, लेकिन विदेशियों को रोकने या पीछे हटाने में वह समर्थ नहीं था।

नानकिंग की सन्धि ने ब्रिटेन के लिए चीन के दरवाज़े खोल दिये। लेकिन यह हो नहीं सकता था कि सारे बडे-बडे रसगुल्ले अकेला ब्रिटेन ही हज़म कर जाय। फ़्रांस और संयुक्त राज्य अमेरिका भी आ धमके और चीन के साथ व्यापारिक सन्धियाँ की गईं। चीन लाचार था और उसपर की जानेवाली यह ज़ोर-ज़बर्दस्ती उसके दिल में विदेशियों के लिए कोई प्रेम और आदर पैदा न कर सकी। अपने यहाँ इन 'वहशियों' की मौजूदगी का ही उसे सख़्त रंज और ग़ुस्सा था। इधर विदेशियों का

सन्तुष्ट होना भी अभी बहुत दूर की बात थी। चीन के रक्त-शोषण की उनकी भूख बढ़ ही रही थी। ब्रिटेन फिर इससें अगुवा बना।

विदेशियों के लिए यह बड़ा अच्छा मौक़ा था, क्योंकि चीन तैपिंग के बलवे को दबाने में लगा होने के कारण इनका मुक़ाबिला कर नहीं सकता था। इसलिए अब अंग्रेज़ लड़ाई का कोई बहाना ढूंढने लगे। १८५६ में कैण्टन के चीनी वाइसराय ने एक जहाज़ के मल्लाहों को समुद्री डकैती के अपराध में गिरफ़्तार कर लिया। जहाज़ के मालिक चीनी थे, और विदेशियों से किसी तरह का कोई सम्बन्ध नहीं आता था। लेकिन हांगकांग-सरकार के परवाने के मुताबिक उसपर ब्रिटिश झण्डा फहराया हुआ था। इत्तफ़ाक़ की बात यह कि उस समय तक इस परवाने की मियाद भी ख़तम हो चुकी थी। लेकिन फिर भी नदी के किनारे पर के मेमने और भेड़िये के क़िस्से की तरह ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने इसीको लड़ाई का बहाना बना लिया।

इंग्लैण्ड से चीन को फौजें भेजी गईं। ठीक इन्हीं दिनों हिन्दुस्तान में ग़दर शुरू होगया, और इसलिए इन सब फ़ौजों को यहाँ भेज देना पड़ा। ग़दर के दबाये जाने तक चीन-युद्ध को इन्तज़ार करना पड़ा। १८५८ में यह दूसरा चीन-युद्ध शुरू हुआ। इसी दरमियान फ़्रांस ने भी इस लड़ाई में शरीक होने का एक बहाना ढूंढ निकाला; क्योंकि चीन में किसी जगह कोई फ़्रांसीसी मिशनरी मार डाला गया था। इस तरह अंग्रेज़ और फ़्रांसीसी जो तैपिंग के बलवे को दबाने में मशगूल थे, चीनियों पर टूट पड़े। ब्रिटिश और फ़्रेंच सरकार ने रूस और अमेरिका को भी इस लड़ाई में शामिल होने को बहुत ललचाया, लेकिन वे रज़ामन्द न हुए। मगर उनकी इस लूट में हिस्सा बँटाने को वे बिलकुल तैयार थे! असल में कोई लड़ाई हुई ही नहीं, और इन चारों शक्तियों ने चीन के साथ नई सन्धि करके ज्यादा-से-ज्यादा रिआयतें ऐंठ लीं। विदेशी व्यापार के लिए और ज्यादा बन्दरगाह खोल दिये गये।

लेकिन चीन के इस दूसरे युद्ध का क़िस्सा अभी ख़तम नहीं हुआ है। इस नाटक का अभी एक और अंक खेला जाना बाक़ी है, जिसका अन्त और भी ज्यादा दुःखान्त है। जब सन्धियाँ की जाती हैं, तो यह एक रिवाज-सा है कि उससे ताल्लुक़ रखनेवाली सरकारों को उन्हें पक्का या सही करना होता है। यह तय पाया था कि एक वर्ष के अन्दर पेकिंग शहर में इन सन्धियों को पक्का कर दिया जाय। जब इसका समय आया तो रूसी राजदूत तो ख़ुश्की के रास्ते सीधा पेकिंग पहुँच गया, पर बाक़ी तीनों—ब्रिटेन, फ़्रांस, और अमेरिका—समुद्री रास्ते से आए और अपने जहाज़ों को पीको नदी के ज़रिये पेकिंग तक लाना चाहा। उन दिनों इस शहर को तैपिंग के बलवाइयों से बड़ा ख़तरा होने की वजह से नदी पर क़िलेबन्दी की हुई थी। इसलिए चीन-सरकार ने ब्रिटिश,

फ़्रांस और अमेरिका के राजदूतों से नदी के रास्ते न आकर ज़रा उत्तर की तरफ़ के ज़मीन के रास्ते आने की प्रार्थना की। यह प्रार्थना कुछ बेजा न थी। अमेरिका तो इसपर रज़ामन्द होगया; लेकिन ब्रिटिश और फ़्रेञ्च राजदूतों ने ऐसा नहीं किया। क़िलेबन्दी होते हुए भी उन्होंने ज़बर्दस्ती नदी में होकर आने की कोशिश की। इसपर चीनियों ने उनपर गोलियाँ दाग दीं और भारी नुक़सान के साथ उन्हें वापस लौटने को मजबूर किया।

ज़िद्दी और निहायत मग़रूर सरकारें, जो अपने सफ़र का रास्ता बदलने तक की चीन-सरकार की प्रार्थना सुनने को तैयार न थीं, अपने मुँह पर लगे हुए इस तमाचे को कैसे बरदाश्त कर सकती थी? फ़ौरन ही बदला लेने के लिए और अधिक फ़ौजें बुला भेजी गईं। १८६० में पेकिंग के प्राचीन नगर पर उन्होंने धावा बोल दिया, और तबाही, बरबादी, लूट और नगर की एक सबसे अधिक अद्‌भुत और निराली इमारत को जलाने के रूप में उन्होंने अपना बदला लिया। यह इमारत राजा का गरमी का महल यून-मिंग-यून था, जो शीयन-लुंग के शासन-काल में बनकर पूरा हुआ था। चीन के सबसे बढ़िया साहित्य और कला के अनमोल रत्नों से यह भरा हुआ था। पीतल और कांसे की निहायत ख़ूबसूरत मूर्तियाँ, चीनी मिट्टी के अद्‌भुत और बढ़िया बर्तन, हस्तलिखित दुर्लभ पुस्तकें और चित्र, और हर तरह की विचित्रता और हुनर के काम, जिनके लिए चीन हज़ारों वर्ष से मशहूर था, वे सब इसमें रक्खे हुए थे। अंग्रेज़ और फ़्रांसीसी जाहिल और हूश सिपाहियों ने इन बहुमूल्य वस्तुओं को लूटा और कई दिनों तक जलती रहनेवाली भयंकर होलियों में झोंककर ख़ाक कर दिया! ऐसी हालत में हज़ारों वर्षों की सभ्यता वाले चीनी लोग अगर इस बर्बरता पर अपने हृदय में व्यथा अनुभव करें और लुटेरों को जाहिल, हूश और जंगली समझें तो इस में क्या आश्चर्य है। ये ऐसे जाहिल और जंगली थे कि मारने या हत्या करने और बरबाद करने के सिवा और कुछ जानते ही न थे। इससे हूण, मंगोल और पुराने ज़माने केवहशी या जंगली लुटेरों की उन्हें फिर याद हो आई होगी।

लेकिन विदेशी 'वहशियों' को इस बात की क्या परवा कि चीनी उनके बारे में क्या सोचते हैं? अपने जंगी जहाज़ों और नये ढंग के युद्धास्त्रों के बीच वे अपने को महफ़ूज़ समझते थे, और अगर सैकडों वर्षों में जमा की गईं बहुमूल्य और दुर्लभ वस्तुयें नष्ट हो गईं, उनका अब कोई वजूद न रहा, तो उन्हें इससे क्या मतलब? चीन की कला और संस्कृति की उन्हें परवाह ही क्या? उनके शब्दों में तो—

"कुछ भी हो, हम निश्चल हैं, हम भारी तोपों वाले हैं;
चीनी बहुत हुए तो क्या, वे बिन हथियारों वाले हैं!"[१]

: ११५ :

मुसीबत का मारा चीन

२४ दिसम्बर, १९३२

अपने पिछले पत्र में मैंने तुम्हें बताया था कि किस तरह १८६० में अंग्रेज़ और फ्रांसीसियों ने पेकिंग के अद्भुत ग्रीष्म-भवन को तहस-नहस किया। कहा जाता है कि चीनियों ने सुलह के झण्डे की अवहेलना की, इसलिए उसकी सज़ा के तौर पर यह किया गया था। यह सच हो सकता है कि कुछ चीनी फ़ौजें इस तरह के अपराध की अपराधी रही हों, लेकिन अंग्रेज़ और फ़्रांसीसियों ने जान-बूझकर जो वहशीपन बताया, वह तो किसी की समझ में आ ही नहीं सकता। कुछ नादान सिपाहियों का यह काम नहीं था, बल्कि ज़िम्मेदार अफ़सरों ने ही यह सब कुछ करवाया था। ऐसी बातें क्यों होती हैं ? अंग्रेज़ और फ़्रांसीसी सभ्य-सुसंस्कृत और शाइस्ता क़ौमें हैं, और मौजूदा सभ्यता की कई तरह से रहनुमा हैं। और फिर भी ये लोग जो व्यक्तिगत जीवन में बडे भले, योग्य और विचारवान होते हैं, सार्वजनिक व्यवहार और दूसरे देशों के साथ के संघर्ष या लड़ाई में अपनी सारी सभ्यता और भलमनसाहत भूल जाते हैं। इनके एक-दूसरे के साथ के व्यक्तिगत व्यवहार और दूसरे राष्ट्रों के साथ के बर्त्ताव में एक बड़ा अजीब भेद मालूम होता है। बच्चों, लड़के और लड़कियों को स्वार्थी या खुदग़र्ज़ न बनने, दूसरों का ख़याल रखने और शिष्टता या तमीज़ के साथ व्यवहार करने की शिक्षा दी जाती है। हमारी सारी शिक्षा का उद्देश हमें यह सबक़ सिखाना होता है, और एक हद तक हम यह सीखते भी हैं। इसके बाद युद्ध आते हैं, और हम अपना पुराना सबक़ भूल जाते हैं और हमारे अन्दर छिपा हुआ हैवान बाहर निकलकर अपनी शकल दिखाता है। इस तरह भले आदमी जानवरों की तरह बर्ताव करने लगते हैं।

दो सजातीय राष्ट्र—जैसे जर्मनी और फ़्रांस एक-दूसरे से लड़ते हैं, तब भी ऐसा ही होता है। लेकिन जब एक दूसरे से जुदा जातिवालों के बीच लड़ाई होती है, एशिया और अफ़रीका वालों के साथ यूरोपियनों का मुक़ाबला होता है, तब हालत और भी

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है :—

"Whatever happens,
We have got
The maxim gun,
And they have got !"

[पिछले पृष्ठ का फुटनोट]

बदतर हो जाती है। क्योंकि हरेक जाति एक-दूसरी के लिए बन्द किताब की तरह होती है, इसलिए एक जाति दूसरी जाति के बारे में बहुत कम जानकारी रखती है। और जहाँ अज्ञान है, वहाँ भाई-चारे के भाव कैसे पैदा हो सकता है ? जातिगत घृणा और कटुता बढ़ी हुई होती है, और जब दो जुदा-जुदा जातियों में लड़ाई छिड़ती है तब वह सिर्फ़ राजनैतिक युद्ध ही नहीं रह जाता बल्कि उससे कहीं बदतर एक जातिगत युद्ध बन जाता है। इससे किसी हदतक यह समझ में आजाता है कि १८५७ के भारतीय विद्रोह में जो भयानकतायें हुईं और एशिया और अफ़रीका में प्रधान यूरोपियन ताक़तों ने जो बेरहमी और वहशीपन किया, उनका क्या कारण था।

यह सब कुछ निहायत अफ़सोसनाक और बेहूदगी मालूम होती है। लेकिन जहाँ भी एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर, एक जाति दूसरी जाति पर और एक वर्ग दूसरे वर्ग पर हकूमत जमाता है, वहां इस तरह के असन्तोष, झगडे और विद्रोह, और शोषित या चूसे जानेवाले राष्ट्र, जाति या वर्ग का अपने शोषणकर्त्ता से अपना पीछा छुड़ाने के प्रयत्न होते रहना लाज़मी है। आज के हमारे समाज की जड़-बुनियाद यही एक का दूसरे को चूसना है। इसीको पूंजीवाद कहते हैं और इसीसे साम्राज्यवाद की उत्पत्ति हुई है।

उन्नीसवीं सदी के बडे बडे कल-कारखानों और औद्योगिक उन्नति ने पश्चिमी यूरोपियन राष्ट्रों और संयुक्त राज्य अमेरिका को मालदार और ताक़तवर बना दिया था। वे यह समझने लगे कि दुनिया के मालिक हमी हैं, और दूसरी जातियाँ इससे कहीं नीची हैं और इसलिए उन्हें हमारे लिए अपना रास्ता साफ़ कर देना चाहिए। प्रकृति या क़ुदरत की ताक़तों पर कुछ अधिकार प्राप्त हो जाने के कारण वे दूसरों के प्रति गुस्ताख और मग़रूर हो गये। वे इस बात को भूल गये कि सभ्य आदमी को क़ुदरत पर ही नहीं, बल्कि खुद अपने पर भी क़ाबू करना चाहिए। इस तरह हम देखते हैं कि इस उन्नीसवीं सदी की कई बातों में दूसरों से आगे बढ़ी हुई उन्नतिशील जातियाँ अक्सर ऐसे बर्त्ताव कर बैठतीं थीं, जिनसे कि असभ्य जंगली तक को शर्म आ सकती थी। इससे तुम को यूरोपियन शक्तियों का एशिया और अफ़रीकावालों के साथ न सिर्फ पिछले ज़माने का बल्कि आज का भी बर्त्ताव समझने में शायद मदद मिल सकेगी।

यह ख़याल न कर बैठना कि मैं अपने से या दूसरी जातियों से यूरोपियन जातियों की यह तुलना अपने को बढ़ाकर बताने की ग़रज़ से कर रहा हूँ। हर्गिज़ नहीं। हम सबमें काले धब्बे मौजूद हैं; इतना ही नहीं, हमारे कुछ धब्बे तो दूसरों से कहीं ज्यादा ख़राब हैं, वरना हम जितने ज्यादा तह तक नीचे गिर गये हैं उतने न गिरते। इस पत्र को लिखते समय भी मेरे दिमाग़ में जो सवाल घूम रहा है, वह है बापू के

उपवास का, जो वह हमारे दलितवर्ग, या जैसा कि उन्हें अब कहा जाता है हरिजनों, के लिए मंदिर-प्रवेश का अधिकार प्राप्त करने के लिए करनेवाले हैं। उनके मंदिर में जाने या न जाने में मेरी कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं है। लेकिन उनको ज़बरदस्ती बाहर रखने का अर्थ उनपर अपनेसे नीचे और नापाक होने की मुहर लगा देना है, और इस तरह यह प्रश्न एक कसौटी बन गया है। जबतक हम लोग इस बात का आख़री फ़ैसला नहीं कर देते कि हमारे आपस में ऐसा कोई दलित या शोषितवर्ग नहीं रहना चाहिए, तबतक दूसरों के हमारे साथ ऐसा बर्ताव करने पर हमें उनकी शिकायत करने का कोई अधिकार नहीं है।

अब हम चीन को वापस लौटें। ग्रीष्म-महल को नेस्त-नाबूद करके अंग्रेज़ और फ़्रांसीसी अपनी ताक़त का प्रदर्शन कर चुके थे। इसके बाद उन्होंने चीन को पुरानी सन्धियों को पक्की करने के लिए मजबूर करके उससे नई-नई रिआयतें ऐंठ लीं। इन सन्धियों के मुताबिक चीन-सरकार को शंघाई में विदेशी अफ़सरों की मातहती में अपना एक कस्टम विभाग खोलना पड़ा। इसका नाम रक्खा गया 'शाही समुद्री कस्टम विभाग।'

इस बीच तेपिंग का बलवा, जिसने चीन को कमज़ोर करके विदेशी ताक़तों को पैर फैलाने का मौक़ा दिया था, चल ही रहा था। आख़िरकार १८६४ में चीनी गवर्नर ली-हुंग-चांग ने, जो चीन का एक प्रमुख राजनीतिज्ञ हो गया है, इसको पूरी तरह दबा दिया।

जब इंग्लैण्ड और फ्रांस चीन पर इस तरह आतंक जमाकर उससे विशेषाधिकार और रिआयतें ऐंठ रहे थे, उत्तर में रूस ने शान्तिपूर्ण उपायों से ही एक मार्के की सफलता प्राप्त करली। कुछ ही वर्ष पहले कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार जमाने के लिए लालायित रूस ने योरप में टर्की पर हमला किया था। इंग्लैण्ड और फ्रांस दोनों ही रूस की बढ़ती हुई ताक़त से भयभीत थे, इसलिए वे तुर्कों से जा मिले और १८५४-५६ के क्रीमियन युद्ध में रूस को हरा दिया। पश्चिम में हार खाकर रूस ने पूर्व पर नज़र डालनी शुरू की और उसमें उसे बड़ी कामयाबी हासिल हुई। शान्त उपायों से चीन को फुसलाया गया कि वह ब्लाडीवोस्टक शहर और बन्दरगाह सहित समुद्र से लगा हुआ उत्तर-पूर्व का प्रान्त रूस के सुपुर्द कर दे। रूस की इस सफलता का श्रेय एक नौजवान रूसी अफ़सर मुरावीफ़ को है। इसतरह तीन सालतक के युद्ध और मूर्खतापूर्ण विनाश के बाद भी इंग्लैण्ड और फ्रांस जितना फ़ायदा न उठा सके, उससे कहीं ज्यादा रूस ने दोस्ताना तरीक़ों से ही हासिल कर लिया।

१८६० में हालत इस तरह की थी। अठारहवीं सदी के अन्त तक क़रीब-क़रीब

आधे एशिया तक फैला हुआ मंचू वंश का महान् चीनी साम्राज्य अब दीन हो गया था। सुदूर योरप की पश्चिमी ताक़तों ने उसे पराजित और अपमानित किया। दूसरे उसके अपने ही घरेलू विद्रोह ने साम्राज्य को क़रीब-क़रीब उलट दिया और इन सब बातों ने चीन को जड़ से हिला दिया। यह ज़ाहिर ही है कि चारों तरफ़ हालत अच्छी नहीं थी, इसलिए नई परिस्थितियों का मुक़ाबिला करने और विदेशी ख़तरे से बचाव करने के लिए देश का पुनर्संगठन करना जरूरी था। इसलिए १८६० के वर्ष को जबकि चीन ने अपने आपको विदेशियों के आक्रमण का मुक़ाबिला करने के लिए तैयार किया, नवयुग का आरम्भ समझना चाहिए। चीन का पडौसी जापान भी इस समय इसी तरह की तैयारी में लगा हुआ था। इसलिए यह उसके लिए उदाहरण बन गया। चीन की बनिस्बत जापान को कहीं ज्यादा कामयाबी मिली, लेकिन कुछ देर के लिए चीन भी विदेशी ताक़तों को पीछे रोके तो रहा।

सन्धि वाले राष्ट्रों के पास चीन के एक दिली दोस्त बर्लिनगेम नामक अमेरिकन की मातहती में एक चीनी मिशन में भेजा गया। कुछ हद तक चीन के लिए बेहतर शर्त्तें हासिल करने में वह कामयाब हुआ। १८६८ चीन अमेरिका के बीच एक नई सन्धि हुई, और यह एक दिलचस्प बात है कि इसमें चीन सरकार ने संयुक्तराज्य अमेरिका पर मेहरबानी और रिआयत के तौर पर अपने यहाँ के मज़दूरों का अमेरिका ले जाया जाना मंज़ूर कर लिया। संयुक्तराज्य अमेरिका अपनी पश्चिमी प्रशांत रियासतों, ख़ासकर केलिफ़ोर्निया, को बढ़ाने में लगा हुआ था और मज़दूरों की बहुत कमी थी। इसलिए चीनी मज़दूरों को समुद्र पार ले गया। लेकिन आगे चलकर यह भी एक नई मुसीबत का कारण बन गया। अमेरिकन लोग सस्ते चीनी मज़दूरों का विरोध करने लगे, इससे दोनों सरकारों के बीच तनातनी शुरू हो गई। बाद में अमेरिकन सरकार ने चीनी मज़दूरों का अपने यहाँ आकर आबाद होना बन्द कर दिया। इस अपमानजनक व्यवहार पर चीनी जनता ने सख़्त नाराज़ी ज़ाहिर की और उन्होंनें अमेरिकन माल का बहिष्कार कर दिया। लेकिन यह सब एक लम्बा क़िस्सा है, और हमें बीसवीं सदी तक पहुँचा देता है। हमें उसमें जाने की ज़रूरत नहीं।

तेंपिंग का बलवा अभी मुश्किल से दबाया ही गया था, कि इतने ही में मंच-शासकों के ख़िलाफ़ एक दूसरा बलवा उठ खड़ा हुआ। यह ख़ास चीन में नहीं, बल्कि सुदूर पश्चिम में, एशिया के बीच में, तुर्किस्तान में हुआ था। यहाँ की ज्यादातर आबादी मुसलमानों की थी, इसलिए १८६३ में यहाँ के मुस्लिम कबीलों ने याक़ूबबेग के नेतृत्व में बलवा करके चीनी अधिकारियों को निकाल बाहर किया। इस स्थानीय बलवे में दो बातें दिलचस्पी की हैं। रूस ने चीन की कुछ ज़मीन हड़प करके इस बलवे से कुछ

फ़ायदा उठाने की कोशिश की। दरअसल यूरोपियन ताक़तों की यह एक बड़ी अच्छी सधी-सधाई चाल थी, कि जब कभी चीन मुसीबतों में होता, वे फ़ायदा उठाने की कोशिश करते। लेकिन, यह देखकर सबको बड़ा ताज्जुब हुआ कि इस बार चीन रूस की बात पर रजामन्द नहीं हुआ, और आख़िरकार रूस को हड़प की हुई ज़मीन वापस करनी पड़ी। इसका कारण था चीनी सेनापति सो-संग-तंग का मध्य एशिया में याकूब बेग के ख़िलाफ़ एक ज़बरदस्त धावा। इस सेनापति ने बड़ी शान्ति और इतमीनान के साथ युद्ध का संचालन किया। बाग़ियों तक पहुँचने के पहले वह साल-पर-साल बिताता हुआ, फौज को लिये हुए धीरे-धीरे आगे बढ़ता रहा। दो बार तो उसने अपनी फ़ौज को इतने दिनों तक एक स्थान पर ठहराये रक्खा कि उसने अपने इस्तेमाल के लिए अनाज बोकर फसल भी काटली। फ़ौज के रसद का सवाल हमेशा एक मुश्किल सवाल रहता है, और गोबी के रेगिस्तान को पार करते समय तो यह और भी भयंकर हो जाता है। इसलिए सेनापति सों-संग ने इस सवाल को इस अजीब तरीक़े से हल कर लिया। इसके बाद उसने याकूब बेग को हरा दिया और बलवे का ख़ातमा कर दिया। कहा जाता है कि काशगर, तुरफ़ान और यारकन्द में उसकी लड़ाइयां फ़ौजी दृष्टि से बड़ी आश्चर्यजनक हुईं।

मध्य एशिया में रूस के साथ सन्तोषजनक फ़ैसला हो जाने के बाद चीनी सरकार को जल्दी ही लम्बे-चौड़े लेकिन बेतरतीब राज्य के दूसरे हिस्से में मुसीबत का सामना करना पड़ा। यह क़िस्सा चीन की मातहत अनाम रियासत का है। फ़्रांस का इसपर बहुत दिनों से दाँव था। और इसलिए चीन और फ़्रांस के आपस में लड़ाई छिड़ गई; लेकिन इस बार फिर यह ताज्जुब की बात हुई कि चीन ने ख़ासा मुक़ाबिला किया और फ़्रांस से ज़रा भी नहीं दबा। १८८५ में उससे भी एक सन्तोषजनक सन्धि हो गई।

चीन की इस नई शक्ति के चिन्हों से साम्राज्यवादी ताक़तों पर काफ़ी असर पड़ा। ऐसा मलूम होने लगा कि अपनी १८६० और इससे पहले की कमज़ोरी से वह अब उभर रहा था। सुधारों की चर्चा चली और बहुत-से लोग यह समझने लगे कि उसने अब करवट बदल ली है। यही वजह है कि १८८६ में इंग्लैंड ने बरमा को अपने साम्राज्य में मिलते समय हर दसवें साल चीन को भेजे जानेवाले नियमित ख़िराज को देते रहने का वादा कर लिया।

लेकिन चीन की क़िस्मत का पासा पलटना अभी कहाँ बदा था। अभी उसकी क़िस्मत में बहुत बेइज्ज़ती, मुसीबतें और ठोकरें बदी थीं। उसके अन्दर जो ख़राबी थी वह सिर्फ़ उसकी फ़ौज या समुद्री बेड़े की कमज़ोरी ही नहीं थी, बल्कि उससे भी गहरी कोई और ख़राबी थी। उसका सारा सामाजिक और आर्थिक ढांचा टुकड़े-टुकड़े

हुआ जा रहा था। जैसाकि मैं तुमसे कह चुका हूँ, उन्नीसवीं सदी के शुरू में जिस वक्त मंचू शासकों के ख़िलाफ़ गुप्त संस्थायें बन रहीं थीं, चीन की हालत बहुत ख़राब थी। विदेशी व्यापार और उद्योगवादी देशों के संघर्ष के प्रभाव से हालत और ज्यादा ख़राब हो गई। १८६० के बाद चीन में जो ताक़त दिखाई दी, उसकी जड़ में असलियत बहुत कम थी। कुछ उत्साही अफ़सरों, ख़ासकर ली हुंग-चांग ने इधर-उधर कुछ स्थायी सुधार किये लेकिन वे न तो समस्या की जड़ तक पहुँच सके, न चीन को कमज़ोर बनानेवाले रोग का इलाज ही कर सके।

इन वर्षों में चीन में जो ऊपरी ताक़त दिखाई दी, उसकी ख़ास वजह यह थी कि शासन की लगाम एक मज़बूत शासक के हाथ में थी। वह मज़बूत शासक भी एक ज़बरदस्त औरत चीन की बडी राजमाता ज़ू-सी। अपने पुत्र, चीन के उत्तराधिकारी सम्राट की नाबालिग़ी के कारण जिस समय शासन की बागडोर उसके हाथों में आई, उस समय उसकी उम्र सिर्फ़ २६ वर्ष की थी। ४७ वर्ष तक उसने बडी मुस्तैदी के साथ चीन का शासन किया। उसने चुन-चुन कर क़ाबिल अफ़सर नियुक्त किये, उनपर भी किसी हदतक अपनी मुस्तैदी की छाप लगा दी। इन अफ़सरों और उसकी इस मुस्तैदी का ही यह असर था कि चीन कई वर्षों से जैसी शक्ति का परिचय नहीं दे सका था, वह इन वर्षों में दिखा सका।

लेकिन इसी अर्से में संकडे समुद्र के दूसरे किनारे पर जापान आश्चर्यजनक उन्नति करता हुआ अपना सारा रूप ही बदल रहा था। आओ अब हम जापान को चलें।

: ११६ :

जापान की अद्‌भुत उन्नति

२७, दिसम्बर, १९३२

जापान का हाल लिखे बहुत दिन होगये हैं। पांच महीने हुए, मैंने तुम्हें बताया था कि सत्रहवीं सदी में कैसी विचित्र रीति से इस देश ने अपने आपको चारों तरफ़ से बन्द कर रखा था। १६४१ ई० से लेकर २०० वर्ष से ऊपर तक जापानी लोग दुनिया से अलग-अलग रहे। इन २०० वर्षों में योरप, एशिया अमेरिका और अफ़रीका तक में बडी-बडी तब्दीलियाँ हुईं। इस ज़माने में जो सनसनीवार घटनायें हुईं उनमें से कुछ का हाल मैं बता ही चुका हूँ। लेकिन इस एकान्तवासी जापानी जाति को इन घटनाओं की कोई ख़बर न मिली। जापान के पुराने सामन्ती वातावरण को भंग करनेवाला कोई झोंका बाहरी दुनिया से न आया।

ऐसा मालूम होता था मानों समय और इनक़िलाब की गर्दिश रुक गई हो और सत्रहवीं सदी क़ैद करके ठहरादी गई हो। हालांकि काल का पहिया घूम रहा था लेकिन जापान की तस्वीर में कोई फ़र्क़ नहीं हुआ। सामन्ती जापान में ज़मींदारी श्रेणियाँ मज़बूत बनी हुई थीं। सम्राट के हाथ में ताक़त न थी। एक मशहूर ख़ानदान का मुखिया शोगन असली शासक होता था। हिन्दुस्तान के क्षत्रियों की तरह यहाँ भी समूराई नाम की एक सैनिक जाति होती थी। सामन्त सरदारों और समूराई लोगों के हाथ में असली ताक़त थी। अक्सर जुदे-जुदे सरदार और परिवार आपस में लड़ते रहते थे। लेकिन किसानों और दूसरे ग़रीबों को चूसने और तंग करने के वक्त ये सरदार एक होजाते थे।

फिर भी जापान में शान्ति थी। लम्बी घरेलू लड़ाइयों के बाद, जिनसे देश ऊब उठा था, यह शान्ति बडी भली लगी। कई झगड़ालू दाइम्यो सरदारों का दमन किया गया। घरेलू युद्ध से जो नुक़सान हुए थे, वे धीरे-धीरे पूरे हो चले। लोगों का ध्यान अब ज्यादातर साहित्य, कला, धर्म और उद्योग की ओर खिंचने लगा। ईसाई-धर्म का दमन किया गया, बौद्ध-धर्म का पुनरुद्धार हुआ और बाद में शिण्टो मत चमका जो अपने ढंग की जापान की पितरों की पूजा है। सामाजिक व्यवहार और सदाचरण में चीनी ऋषि कन्फ्यूशियस आदर्श माना जाने लगा। राज-दरबार और ऊँचे घराने में कला की ख़ूब तरक्क़ी हुई। कई बातों में मध्यकालीन योरप की तसवीर सामने आगई।

परन्तु परिवर्त्तन से बचे रहना सहल काम नहीं। गोकि बाहरी मेल-मिलाप को रोक दिया गया था, लेकिन ख़ुद जापान के अन्दर परिवर्त्तन हो रहा था; हां, रफ़्तार धीमी ज़रूर थी। अगर बाहरी दुनिया के साथ ताल्लुक़ात बने रहते तो ज़रूर ये तब्दीलियां ज़रा तेज़ी से होतीं। दूसरे देशों की तरह यहाँ भी सामन्ती प्रथा आर्थिक विनाश की मंज़िल पर पहुँच गई। असन्तोष बढ़ गया और राजशासन के प्रधान होने के कारण 'शोगन' इन चोटों का शिकार होने लगा। शिण्टो सम्प्रदाय की उन्नति के कारण अब जनता के दिल में सम्राट के प्रति श्रद्धा बढ़ने लगी क्योंकि उसको सूर्य वंश का माना जाता था। इसतरह चारों ओर फैले हुए असन्तोष से राष्ट्रीयता का ख़याल पैदा हुआ। और यही ख़याल, जिसकी नींव पैसे वालों का नाश करके रखी गई थी, परिवर्त्तन को लाने का कारण हुआ। इसी ख़याल के कारण जापान के ताल्लुक़ात बाक़ी दुनिया के साथ आगे चलकर खुल गये।

जापान से ताल्लुक़ात क़ायम करने के लिए विदेशी शक्तियों ने बहुतेरी कोशिश की, लेकिन वे नाकामयाब रहीं। उन्नीसवीं सदी के बीच में जापान के मामलों में

संयुक्त राज्य अमेरिका के लोग ख़ास तौर से दिलचस्पी लेने लगे। वे पश्चिम में केलिफोर्निया तक आ बसे थे, और सैनफ्रांसिस्को एक ख़ास बन्दरगाह होता जा रहा था। इधर चीन से तिजारत भी नई-नई खुली थी, इसका भी भारी लालच था किन्तु प्रशान्त महासागर को पार करने में लम्बे सफ़र का झंझट था इसलिए अमेरिकावाले किसी जापानी बन्दरगाह पर जाकर चीनी माल की रसद लेने की तजवीज़ में थे। बार-बार जो अमेरिकावालों ने जापान से मेल-मुलाक़ात बनाये रखने की कोशिशें कीं, उनका यही कारण था।

१८५३ ई० में एक अमेरिकन जहाज़ी बेड़ा, अमेरिकन राष्ट्रपति का ख़त लेकर आया। जापानवालों ने सबसे पहले इन्ही भाप से चलनेवाले जहाज़ों को देखा। साल भर बाद शोगन दो बन्दरगाह खोलने के लिए राज़ी हो गये। जब अंग्रेज़ों, रूसियों और डचों ने यह सुना तो उन्होंने भी आकर इसी तरह सन्धियां कीं। इस तरह २१३ वर्ष के बाद फिर जापान बाहरी दुनिया के लिए खुल गया।

लेकिन मुसीबत सामने आ रही थी। विदेशी ताक़तों के आगे शोगन ने अपने आपको सम्राट् ज़ाहिर किया था। अब वह लोगों की नज़रों से गिर गया और उसके और उसकी विदेशी सन्धियों के ख़िलाफ़ बड़ा ज़बर्दस्त आन्दोलन उठा। कुछ विदेशी मारे भी गये। उसका नतीजा यह हुआ कि विदेशियों ने समुद्री हमला कर दिया। परिस्थिति ज्यादा ख़राब हो गई; आख़िरकार १८६७ ई० में शोगन को इस्तीफ़ा देने के लिए मजबूर होना पड़ा। इस तरह तोकुगावा शोगनों की हुकूमत का ख़ातमा हुआ जो तुम्हें याद हो या न हो, १६०३ ई० में ईयेयासू से शुरू हुई थी। यही नहीं, शोगन का सारा रवैया ही जो ७०० बरसों से चला आ रहा था, ख़तम होगया।

नये सम्राट ने अब अपनी असली हालत को समझा। मुत्शीहितो के नाम से सिंहासन पर बैठनेवाला यह सम्राट सिर्फ़ १४ वर्ष का लड़का था। १८६७ ई० से १९१२ तक यानी ४५ बरस उसने राज्य किया। यह समय 'मेईजी' यानी प्रकाश-युग कहलाता है। इसी सम्राट के शासनकाल में जापान ने इतनी तेज़ी से तरक्की की और पश्चिमी देशों की नक़ल करके कई बातों में उनकी बराबरी में आगया। यह ज़बरदस्त तब्दीली जो एक ही पुश्त में हो गई ग़ौर करने के क़ाबिल है; और इसका सानी इतिहास में नहीं मिल सकता है। जापान एक महान औद्योगिक देश बन गया। और वक़्त से पहले ही पश्चिमी जातियों के नमूने की साम्राज्यवादी जाति बन बैठा। उन्नति के तमाम बाहरी चिन्ह उसके पास मौजूद थे। उद्योग-धन्धों में वह अपने उस्ताद विदेशियों से भी आगे बढ़ गया। उसकी आबादी तेज़ी से बढ़ गई। उसके जहाज़ दुनिया के चारों तरफ़ घूमने लगे। वह एक ताक़तवर राष्ट्र बन गया

जिसकी राय अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में इज्जत के साथ सुनी जाने लगी। लेकिन फिर भी यह ज़बरदस्त परिवर्तन जनता के दिलों में गहरा न घुस सका। साथ ही परिवर्तनों को सिर्फ़ ऊपरी कहना भी ग़लत होगा क्योंकि ये महज़ सतह से ज्यादा गहरे थे। लेकिन शासकों के ख़यालात वही सामन्तशाही के बने रहे; वे इस सामन्ती गिलाफ़ के भीतर उग्र सुधारों का मेल मिलाना चाहते थे। बहुत हद तक तो वे अपनी कोशिशों में कामयाब हुए-से मालूम होते थे। फिर भी फिलहाल यह कहा जा सकता है कि वे यह अजीब खिचडी पकाने में कामयाब न हो सके और आज दिन जापान महानाश के मुँह में पड़ा हुआ है। सामन्ती गिलाफ़ किसी क़दर जाता रहा है। जो-कुछ बचा है, वह भी ज्यादा दिनों तक न चलेगा।

जापान की इन बडी तब्दीलियों के लिए जो लोग जिम्मेदार थे वे ऊँचे घराने के दूरंदेश लोग थे, जो 'बुज़ुर्ग राजनीतिज्ञ' के नाम से मशहूर थे। जब जापान में विदेशियों के ख़िलाफ़ होनेवाले देशों पर चढ़ कर विदेशी सैनिक जहाज़ों ने बम बरसाये तो जापानियों को अपनी कमज़ोरी मालूम पडी और उन्होंने अपनी बेइज्ज़ती महसूस की। अपनी क़िस्मत कोसनें और सिर पीटने के बजाय उन्होंने इस हार और बेइज्ज़ती से सबक़ सीखने का इरादा किया। 'बुज़ुर्ग राजनीतिज्ञों' ने सुधार का एक प्रोग्राम बनाया और उसी पर डटे रहने की ठानली।

पुरानी सामन्ती दाइम्यो प्रथा उठा दी गई। सम्राट की राजधानी क्योतो से बदल कर ज़ेदो कर दी गई, जिसका नया नाम तोक्यो या टोकियो रक्खा गया। एक नये शासन-विधान की घोषणा की गई, जिसमें पार्लमेण्ट की दोनों सभाओं की योजना थी। नीचेवाली सभा का चुनाव होता था; ऊपर वाली के सदस्य नामज़द होते थे। तालीम, क़ानून, कारख़ाने, यानी क़रीब-क़रीब हरेक चीज़ में परिवर्तन हुए। कारख़ाने बने, नये तर्ज़ पर फौज और सेना तैयार की गई। ग़ैर मुल्कों से विशेषज्ञ लोग बुलवाये गये और जापानी विद्यार्थियों को योरप और अमेरिका भेजा गया—पिछले दिनों के हिन्दुस्तानियों की तरह बैरिस्टर वग़ैरा बनने के लिए नहीं, बल्कि वैज्ञानिक और उद्योग-धन्धों में विशेषज्ञ बनने के लिए।

ये सब तब्दीलियाँ 'बुज़ुर्ग राजनीतिज्ञों' ने सम्राट के नाम पर कीं, जो नई पार्लमेंट और तमाम बातों के बावजूद भी जापानी साम्राज्य का एकतन्त्री शासक बना रहा। इसी दरमियान, जैसे-जैसे इन सुधारों की तरक्की होती जाती थी, सम्राट-पूजा का पंथ भी फैलता जाता था। यह भी एक अजीब गंठजोड़ा था कि एक तरफ़ तो कारख़ाने, मौजूदा कारबार और पार्लमेंटरी हुकूमत की सूरत, और दूसरी तरफ़ सम्राट-देवता की मध्यकालीन पूजा। यह समझना मुश्किल है कि ये दोनों बातें, चाहे थोडी देर के ही

लिए हों, क्योंकर साथ-साथ चल सकती थीं। फिर भी दोनों साथ-साथ क़दम बढ़ाती रहीं, और आज दिन भी जुदा नहीं हुई हैं। सम्राट के लिए श्रद्धा की इस भावना से 'बुज़ुर्ग राजनीतिज्ञों' ने दो तरह से फ़ायदा उठाया। उन्होंने सुधारों को उन कट्टर-पंथी और सामन्त लोगों पर थोपा जो वैसे तो सुधारों का विरोध करते लेकिन सम्राट के नाम की धाक के आगे उनको सिर झुकाना पड़ा। दूसरी तरफ़ इन राजनीतिज्ञों ने उन उग्र प्रगतिवादियों को रोक रक्खा, जो तेज़ी से आगे बढ़कर सब तरह की सामन्तशाही का ख़ातमा करना चाहते थे।

उन्नीसवीं सदी के इस पिछले आधे हिस्से में चीन और जापान का अन्तर ग़ौर करने के क़ाबिल है। जापान तेज़ी के साथ पश्चिमी साँचे में ढलता जा रहा था और चीन, जैसाकि हम देख चुके हैं और आगे भी देखेंगे, बहुत ही गैर-मामूली दिक्क़तों में उलझता गया। ऐसा हुआ क्यों? चीन देश के विस्तार, भारी आबादी और रक़बे, ने इन्क़िलाब होने में दिक्क़त पैदा की। हिन्दुस्तान भी इसी भारी आबादी और रक़बे का शिकार है, जो ज़ाहिरा तौर से ताक़त के सोते मालूम होते हैं। हाथी को चलाना ही मुश्किल है, लेकिन एक दफ़ा हाथी चल पड़े फिर तो वह छोटे जानवरों की बनिस्बत कहीं ज़्यादा ताक़त और रफ़्तार से चलेगा। चीन का शासन कुछ बहुत केन्द्रित नहीं था, यानी, देश के हरेक हिस्से को बहुत हद तक आज़ादी मिली हुई थी। इसलिए केन्द्रीय सरकार के लिए देश के इन हिस्सों में दस्तंदाज़ी करके जापान की तरह इन्क़िलाब करना सहल काम न था। एक बात यह भी है कि चीन की महान सभ्यता हज़ारों बरसों में बनी थी और देश से ऐसी बंधी हुई थी कि सहज ही दूर नहीं फेंकी जा सकती थी। हम हिन्दुस्तान और चीन का एक बार फिर इस बात में मुक़ाबिला कर सकते हैं। दूसरी तरफ़ जापान चीन की सभ्यता ग्रहण किये हुए था, इसलिए वह ज़्यादा आसानी से उसकी जगह पश्चिमी सभ्यता को अपना सका। चीन की दिक्क़तों का एक और कारण यह भी था कि यूरोपियन ताक़तें बराबर दख़ल देती रहती थीं। चीन एक विशाल महादेश था। जापान के द्वीपों की तरह वह अपने आपको बन्द करके नहीं रख सकता था। उत्तर और उत्तर-पश्चिम में इसकी सीमा को रूस छूता था, दक्षिण-पश्चिम में इंग्लैण्ड और दक्षिण में फ़्रान्स बढ़ा चला आरहा था। ये यूरोपियन ताक़तें चीन से ज़बर्दस्त रिआयतें निचोड़ सकने में कामयाब होगई थीं और अपने व्यापारी स्वार्थों को बढ़ा रही थीं। इन स्वार्थों के कारण उनको दस्तन्दाज़ी करने के बहुतेरे बहाने मिल जाते थे।

इस तरह जापान आगे बढ़ गया और चीन नई हालतों के मुताबिक़ अपने को ढाल लेने की कोशिश में बेकार ही हाथ-पैर पीटता रहा। फिर भी इसमें एक अजीब

बात ध्यान देने लायक़ है। जापान ने पश्चिम की मशीन और उद्योगों को इख़्तियार करके आधुनिक फ़ौज और समुद्री-सेना वाले उन्नत औद्योगिक राष्ट्र का रूप धारण कर लिया। लेकिन योरप के नये ख़यालात को उसने इतनी मुस्तैदी से मंजूर न किया। ये विचार सामाजिक और व्यक्तिगत आज़ादी, जीवन और समाज पर विज्ञान-सम्मत दृष्टिकोण डालने के बारे में थे। अन्दर, दिल से जापान वाले सामन्ती और एकतन्त्र-वादी बने रहे; वे उस विचित्र सम्राट-पूजा से बंधे रहे, जिसे संसार के बाक़ी हिस्सों ने कबका ही छोड़ दिया था। भावुकता और आत्म-त्याग से भरा हुआ जापानियों का देश-प्रेम इस सम्राट-भक्ति से बहुत ज्यादा जकड़ा हुआ था। राष्ट्रीयता और सम्राट-पूजा के पंथ साथ-साथ चलते रहे। इसके बरख़िलाफ़ चीन ने मशीनों और उद्योगवाद को झटपट मंजूर न किया। हाँ, आधुनिक चीन ने किसी क़दर पश्चिमी विचारों और वैज्ञानिक दृष्टिकोणों का स्वागत किया। ये विचार उन लोगों के अपने विचारों से ज्यादा दूर न थे। इस तरह हम देखते हैं कि पश्चिमी सभ्यता की स्पिरिट में चीन ज्यादा घुस सका। जापान चीन से आगे इसलिए बढ़ गया कि उसने स्पिरिट की परवाह न करके पश्चिमी सभ्यता का ऊपरी बाना धारण किया था। और चूंकि जापान इस बाने में ताक़तवर दिखाई देता था, तमाम योरप ने उसकी तारीफ़ की और उसे अपना हमजोली बना लिया। लेकिन चीन कमज़ोर था, तोपें वग़ैरा उसके पास काफ़ी थी नहीं; इसलिए योरपवालों ने उसको बेइज्ज़त किया, वे उसकी छाती पर सवार हुए; उन्होंने उसको धर्म के लेक्चर दिये, उसको चूसा और उसके विचारों और शिक्षाओं की तनिक भी परवाह न की।

जापान न सिर्फ़ औद्योगिक मामलों ही, बल्कि साम्राज्यवादी हमलों में भी योरप के क़दमों पर चला। वह यूरोपियन ताक़तों का न केवल वफ़ादार चेला था; बल्कि उससे कुछ ज्यादा था। उसने इस बारे में उनके भी कान काट लिये। उसकी असली मुश्किल यही थी कि नया उद्योगवाद पुरानी सामन्तशाही के साथ मेल नहीं खाता था। दोनों को चालू रखने की कोशिश में वह आर्थिक समतोल न बनाये रख सका। करों के भारी बोझ के नीचे लोगों के असन्तोष की आवाज़ सुनाई देने लगी। देश के अन्दर कलह रोकने के लिए उसने वही पुरानी चाल चली—लोगों का ध्यान विदेशों पर साम्राज्वादी हमलों और युद्धों के ज़रिये उधर लगा दिया। उसके नये उद्योगवाद ने उसे कच्चे माल और बिक्री के बाज़ारों के लिए दूसरे देशों पर नज़र डालने के लिए मजबूर किया, जिस तरह कि औद्योगिक क्रान्ति ने इंग्लैंड और बाद में पश्चिमी योरप की दूसरी शक्तियों को बाहर निकालने और फतह पाने के लिए मजबूर किया था। उत्पत्ति बढ़ गई और आबादी भी तेज़ी के साथ बढ़ी।

ज्यादा खाने की चीज़ों और कच्चे माल की ज्यादा ज़रूरत होने लगी। ये सब उसे मिले कहाँ से ? उसके सबसे ग़रीबी पड़ौसी थे चीन और कोरिया। चीन में तिजारत के मौके ज़रूर थे, पर वह ख़ुद ही बड़ा घना आबाद मुल्क था। अलबत्ता, मंचूरिया में जो चीनी साम्राज्य के उत्तर पूर्वीय प्रान्तों का गिरोह था, व्यापारिक उन्नति और उपनिवेश क़ायम करने के लिए काफ़ी जगह थी। इसलिए भूखे जापान की नज़र कोरिया और मंचूरिया पर पड़ी।

इधर पश्चिमी ताक़तें चीन से सब तरह के विशेषाधिकार लेती जा रही थीं, बल्कि ज़मीन हड़प करने की कोशिश में भी थीं। इस पर जापान ने दिलचस्पी के साथ ग़ौर किया। उसको यह बात बिलकुल पसन्द न थी। अगर ये शक्तियाँ उसके ठीक सामने महाद्वीप में जम जायँ तो उसकी हिफ़ाज़त पर ज़रूर ख़तरा आता, कमसे कम महाद्वीप पर उनकी तरक्क़ी को तो धक्का लगता ही। इसके अलावा, वह लूट में भी अपनी ही पौ बारह रखना चाहता था।

बाहरी दुनिया के लिए दरवाज़े खोले अभी २० वर्ष भी न हुए थे कि जापान ने चीन के प्रति आक्रमणकारी ढंग इख़्तियार कर लिया। कुछ मछुओं के बारे में एक छोटा-सा झगड़ा हुआ। इन मछुओं का जहाज़ नष्ट हो गया था और वे मार डाले गये थे। बस जापान को चीन से हरजाना माँगने का मौक़ा मिल गया। पहले तो चीन ने यह नामंजूर किया, इस पर उसे लड़ाई की धमकी दी गई। चूँकि वह अनाम में फ़्रांस के साथ युद्ध में मशग़ूल था, उसे जापान के आगे झुकना पड़ा। यह १८७४ ई० की बात है। जापान इस विजय से फूल उठा, और उसी दम अपनी विजय को और भी फैलाने के लिए मौक़ा ताकने लगा। कोरिया पर भी जापान की नज़र ललचा रही थी, एक तुच्छ बहाने को लेकर जापान ने उस पर हमला बोल दिया और उसे कुछ रुपया देने और जापानी व्यापार के लिए, कुछ बन्दरगाह खोलने के लिए मजबूर किया। जापान अपने आपको यूरोपियन ताक़तों का योग्य शागिर्द साबित कर रहा था !

कोरिया बहुत अरसे से चीन की एक मातहत रियासत थी। उसको चीन से मदद मिलने की उम्मीद थी, पर चीन मदद देने में असमर्थ था। जापान कहीं बहुत ज्यादा हावी न हो जाय इस डर से चीनी सरकार ने कोरिया को सलाह दी कि फिल-हाल तो जापान के आगे झुक जाय। साथ ही जापान की भी बढ़ती को रोकने के लिए यूरोपियन ताक़तों से सन्धि कर ले। इस तरह कोरिया का फाटक दुनिया के लिए १८८२ ई० में खुल गया लेकिन जापान इतने से ही संतुष्ट न हुआ। चीन की कठिनाइयों का फ़ायदा उठाकर, उसने फिर कोरिया का सवाल उठाया और

कोरिया के ऊपर मुश्तरक़ा क़ब्ज़ा या नियंत्रण रखने के लिए चीन को राज़ी कर लिया। इसका मतलब यह हुआ कि बेचारा कोरिया चीन और जापान दोनों का मातहत बन गया। यह हालत तो हरेक के लिए ही बहुत असन्तोषजनक हो गई। झगड़े की सूरत लाज़िमी थी। जापान झगड़ा करना चाहता था। आख़िरकार उसने १८९४ ई० में चीन पर युद्ध बोल ही दिया।

१८९४-९५ ई० का चीन-जापान का युद्ध जापान के लिए तो एक निश्चिन्तता का मामला था। उसकी फ़ौज और समुद्री सेना बिलकुल अप-टु-डेट यानी सब तरह के आधुनिक सामान से सज्जित और तालीमयाफ़्ता थी। चीन की पुरानी तर्ज़ की और अयोग्य थी। जापान की हर तरह फ़तह हुई और चीन के ऊपर एक सुलह लादी गई, जिसके मुताबिक़ जापान भी चीन से सन्धि करने वाली दूसरी विदेशी शक्तियों की क़तार में आगया। कोरिया को आज़ाद ऐलान कर दिया गया, पर यह आज़ादी जापानी नियंत्रण के लिए सिर्फ़ एक परदा थी। मंचूरिया, लाओतुंग प्रायद्वीप, पोर्ट-आर्थर, फ़ारमूसा और कई दूसरे टापू जापान की नज़र करने के लिए बेचारा चीन मजबूर किया गया।

छोटे-से जापान ने चीन को ऐसी ज़बर्दस्त हार ी कि दुनिया अचम्भे में आगई। सुदूरपूर्व में एक ताक़तवर देश के इस उत्थान को देख कर पश्चिमी ताक़तें एकदम खुश न हुईं। चीन-जापान के युद्ध के सिलसिले में ही, जिस वक्त जापान जीतता हुआ मालूम होता था, इन शक्तियों ने जापान को आगाह कर दिया था कि यदि चीन के महादेश में किसी बन्दरगाह को जापान ने अपने में मिलाया तो हमारी मंज़ूरी न मिलेगी। इस सूचना के मिल जाने पर भी जापान ने महत्वपूर्ण बन्दरगाह पोर्ट आर्थर और लाओ-तुंग प्रायद्वीप को ले लिया। लेकिन वह उसे अपने पास रख न सका। रूस, जर्मनी और फ़्रान्स इन तीनों बड़ी ताक़तों ने ज़ोर दिया कि यह प्रायद्वीप वापिस दे दिया जाय और जापान को यह करना पड़ा; गो मन में उसे बहुत बुरा लगा और वह नाराज़ भी हुआ। इस वक़्त तो वह इन तीनों का मुक़ाबिला करने के लिए काफ़ी मज़बूत न था।

लेकिन जापान ने इस बेइज़्ज़ती को याद रक्खा। यह बात उसके दिल में खटकती रही। इसीने उसको एक और भी भारी युद्ध के लिए तैयार किया। नौ वर्ष बाद यह युद्ध रूस के साथ हुआ।

इधर जापान ने, चीन के ऊपर विजय पाकर अपनी स्थिति सुदूरपूर्व में सबसे ज़्यादा ताक़तवर बनाली। चीन अपनी सारी कमज़ोरी के साथ दुनिया के सामने आया और पश्चिमी शक्तियों के दिल से उसका डर बिलकुल जाता रहा था। मुरदे या मरते

हुए आदमी के ऊपर टूटने वाले गिद्धों की तरह वे उसपर टूट पडीं और जितना कुछ भी नोंच-खसोट सकीं, उसे लेकर भागने की कोशिश करने लगीं। फ़्रांस, रूस, जर्मनी और इंग्लैण्ड सभी चीनी समुद्र-तट पर बन्दरगाहों और विशेषाधिकारों के लिए छीना-झपटी करने लगे। रिआयतों और छूटों के लिए एक बहुत ही गंदा और बेजा झगड़ा मच गया। छोटी-से-छोटी बात भी नई-नई रिआयतें और छूटें झपटने के लिए बहाना बननें लगीं। चूँकि दो मिशनरियों को किसीने मार डाला इसलिए पूर्व के शातुंग प्रायद्वीप में कियाचू स्थान को जर्मनी ने जबरदस्ती छीन लिया। चूंकि जर्मनी ने इस स्थान पर क़ब्ज़ा किया इसलिए दूसरी शक्तियाँ भी लूट में हिस्सा पाने की जिद करने लगीं। जिस पोर्ट आर्थर से तीन वर्ष पहले जापान को हटाया गया था वही रूस ने ले लिया। पोर्ट आर्थर पर रूस के क़ब्ज़े का जवाब देने के लिए इंग्लैंड ने वी-हाई-वी पर दख़ल कर लिया। फ़्रांस नें भी अनाम में एक बन्दरगाह और कुछ मुल्क हड़प कर लिये। रूस ने ट्रान्स-साइबेरियन रेलवे को बढ़ाकर उत्तरी-मंचूरिया में रेल निकालने की इजाज़त भी लेली।

यह बेशर्मी से भरी छीना-झपटी बडी ग़ैरमामूली थी। चीन को इस तरह रिआयतें देते जाना बिलकुल अच्छा न लग रहा था। हरेक मौक़े पर जहाज़ी ताक़त के प्रदर्शन और बमों की धमकी दिखा-दिखाकर उसे मांगों पर मंजूरी देने के लिए मजबूर किया जाता था। इस बेहया बर्ताव को हम क्या कहें? दिनदहाडे की लूट? डाकेज़नी? पर साम्राज्यवाद का यही तरीक़ा है। कभी-कभी ख़ुफ़िया तौर से काम होता है; कभी-कभी दूसरों की भलाई करने के फ़रेबी बहानों और धर्म के परदे में साम्राज्यवाद की बदकारियाँ ढकी जाती हैं। लेकिन १८९८ में चीन के साथ जो कुछ किया गया उसमें न बहाना था, न परदा। तमाम बेहूदगियों को साथ में लिये हुए साम्राज्यवाद अपनी नंगी शक्ल खड़ा हुआ था।

: ११७ :

जापान रूस को हरा देता है

२९ दिसम्बर, १९३२

मैं तुमको सुदूरपूर्व के बारे में लिखता रहा हूँ और आज भी यही क़िस्सा जारी रक्खूंगा। तुम्हें ताज्जुब हो सकता है कि मैं भूतकाल के इन लड़ाई-झगडों का बोझा तुम्हारे दिमाग़ पर क्यों लाद रहा हूँ। ये कोई मजेदार बातें नहीं हैं और गई-गुज़री भी होचुकी हैं। लेकिन सुदूरपूर्व में आज दिन जो-कुछ होरहा है उसमें अधिकांश

की जड़ें इन्हीं झगड़ों में मिलती हैं। इसलिए आजकल समस्याओं के समझने के लिए इन विषयों का कुछ ज्ञान जरूरी है। भारत की तरह चीन भी आज दुनिया की बड़ी समस्याओं में से एक है। इस समय भी जबकि मैं यह खत लिख रहा हूं, मंचूरिया में जापानी विजय के बारे में ज़ोरों से संघर्ष चल रहा है। यह झगड़ा किसी भी क्षण भड़ककर आफ़त खड़ी कर दे सकता है।

अपने पिछले खत में मैंने तुम्हें बताया था कि १८९८ ई० में चीन से विशेषाधिकार ऐंठने के लिए कैसी छीना-झपटी मची हुई थी, जिनके पीछे विदेशी शक्तियों के फ़ौजी जहाज़ों की ताक़त थी। इन शक्तियों ने अच्छे-अच्छे बन्दरगाहों पर क़ब्ज़ा कर लिया और इन बन्दरगाहों के पीछे फैले हुए प्रान्तों में भी खानें खोदने, रेलें बनाने वग़ैरा के सब प्रकार के हक़ हासिल कर लिये। विदेशी सरकारें चीन में अपने 'प्रभाव के दायरे' (Sphere of Influence) की चर्चा करने लगीं। आजकल की साम्राज्यवादी सरकारों के लिए किसी देश को बांट खाने का यह एक मुलायम तरीक़ा है। अधिकार और नियंत्रण भी कई दर्जों के हुआ करते हैं। देश को अपने शासन में मिला लेना पूर्णाधिकार है, संरक्षकता उससे कुछ उतरा हुआ अधिकार है, 'प्रभाव का दायरा' उससे भी ज़रा हलकी बात है। लेकिन इन सब का इशारा एक ही तरफ है। एक दरजा के बाद दूसरा दरजा आता है। दरअसल, जैसा कि हमें समझाने का शायद आगे मौक़ा मिले, राज्य-विस्तार या किसी देश को अपने राज्य में मिला लेना बहुत-कुछ झंझट से भरा हुआ पुराना तरीक़ा है, जो अपने साथ कई राष्ट्रीय झगड़ों को लाया करता है। किसी देश पर आर्थिक नियंत्रण क़ायम करलेना और बाक़ी मामलों की झंझट में न पड़ना कहीं ज्यादा सहल बात है।

इस तरह पश्चिमी शक्तियां चीन का जो बंटवारा कर रही थीं, वह सबकी नज़रों में चढ़ रहा था। जापान बहुत चौंका हुआ था। चीन पर फ़तह हासिल करके उसको जो फ़ायदे हुए थे, वे सब अब पश्चिमी शक्तियों के हाथों में जाते हुए दीखने लगे। वह खिसियाना-सा होकर चीन के इस बंटवारे को देख रहा था। सब से ज्यादा ग़ुस्सा तो उसे रूस के ऊपर आ रहा था, जिसने उसे पोर्टआर्थर न लेने दिया और खुद हड़प कर गया।

हां, एक ताक़त ऐसी थी जिसने चीन से रिआयतें झपटने की इस नोच-खसोट की जुगतों में भाग नहीं लिया था। यह ताक़त थी—संयुक्त राष्ट्र अमेरिका। यहां वालों के अलग रहने का कारण यह नहीं था कि वे दूसरी शक्तियों की बनिस्बत कुछ ज्यादा धर्मात्मा थे, बल्कि बात यह थी कि वे अपने ही विशाल देश की तरक़्क़ी करने में मशगूल थे। जैसे-जैसे अमेरिकावाले पश्चिम में प्रशांत महासागर की ओर बढ़ते

जारहे थे, नई-नई ज़मीन उन्हें मिलती जारही थी। उसीकी तरक्क़ी उस वक़्त ज़रूरी थी। इसलिए उनकी तमाम शक्ति और रुपया इसीमें खप रहा था। दरअसल, मतलब के लिए यूरोपियन लोगों ने भी बहुत काफ़ी पूंजी अमेरिका में लगा रखी थी। उन्नीसवीं सदी के अख़ीर में पूंजी लगाने के लिए अमेरिकावाले भी बाहर नज़र दौड़ाने लगे। चीन भी उनकी नज़र में आया जिसे धीरे-धीरे अपने शासन में मिला लेने की ग़रज़ से यूरोपियन ताक़तें 'प्रभाव के दायरों' का बंटवारा करने पर उतारू हो रही थीं। इस बात को अमेरिका ने बिलकुल पसन्द न किया। अमेरिका तो बंटवारे में छुटा ही जा रहा था सो अमेरिका ने चीन में 'मुक्तद्वार' (Open door) नीति पास कर डाली। इसका मतलब यह था कि सभी देशों को चीन में व्यापार के लिए एक-सी सुविधायें दी जायें। दूसरी शक्तियाँ भी इस पर राजी हो गईं।

विदेशी शक्तियों की इस लगातार बाढ़ और दबाव से चीन की सरकार बिलकुल सहम गई। उसे विश्वास होगया कि संगठन और सुधार किये बिना गति नहीं है। इसकी कोशिश भी की गई पर विदेशी शक्तियाँ बराबर नई-नई रिआयतों की माँगें करती रहती थीं, इसलिए चीन की सरकार को संगठन करने के मौके ही न मिलते थे। कुछ वर्षों से राजमाता ज़ू-सी ने वैराग्य-सा लेलिया था। लोग अपनी आज़ादी के लिए उसकी तरफ़ देखने लगे। सम्राट को इस वक़्त कुछ षड्यन्त्र का वहम हो गया, इस लिए वह राजमाता को क़ैद करना चाहता था। लेकिन इस बूढ़ी औरत ने उसको हटाकर सारे अधिकार खुद लेकर खूब बदला लिया। जापान की तरह उसने कोई उग्र सुधार तो न किये लेकिन सेना को आधुनिक ढंग पर शिक्षित और संगठित करनें की उसने पूरी कोशिश की। हिफ़ाज़त के लिए फ़ौज की स्थानीय टुकड़ियाँ बनाने में उसने अच्छा उत्साह दिलाया। सेना की ये स्थानीय टुकड़ियाँ अपने को 'ई हो तुआन' यानी 'पवित्र एकता की सेना' कहती थीं। कभी-कभी वे 'ई हो चुआन' अर्थात् 'पवित्र एकता की मुष्टिका' भी कहलाती थीं। बन्दरगाहों में रहने वाले कुछ यूरोपियनों ने इसी दूसरे नाम का अनुवाद कर डाला 'बाक्सर्स' यानी 'घूंसेबाज़'। ऐसें सुन्दर शब्दों का कैसा भद्दा अनुवाद हुआ।

इन 'घूंसेबाज़ों' का भी खूब नाम हुआ। इस अजीब नाम का कारण जबतक मुझे मालूम न हुआ। मुझे इस नाम से अक्सर ताज्जुब हुआ करता था। विदेशियों ने चीन की और चीनियों की जो बेशुमार बेइज्ज़तियाँ की थीं, और जो वे उस देश पर चढ़े बैठे थे, उसीका जवाब देनें के लिए ये 'घूंसेबाज़' देशभक्त तैयार थे। इसमें ताज्जुब ही क्या कि उन्हें इन विदेशी लोगों से बिलकुल प्रेम न था जो उनको बदमाशी के पुतले मालूम पड़ते थे। खासकर ईसाई धर्म-प्रचारक तो उन्हें बहुत ही बुरे लगते थे, क्योंकि सब

मिलाकर उनका बर्त्ताव बड़ा नालायक़ी का रहता आया था। ये 'घूँसेबाज़' चीनी ईसाइयों को देशद्रोही या क़ौमी ग़द्दार मानते थे। नये रवैये के ख़िलाफ़ चीन के प्राचीन स्वरूप की रक्षा में जान लड़ा देना उनका उद्देश था। यूरोपियनों और इन कट्टर देशभक्त और विदेशियों और मिशनरियों के शत्रुओं के बीच झगड़ा होना लाज़मी था। कुछ झपटें हुईं, एक अंग्रेज़ मिशनरी मारा गया, कई यूरोपियन और बहुत-से चीनी ईसाई भी मौत के घाट उतारे गये। विदेशी सरकार ने इस देशप्रेमी 'घूंसेबाज़' आन्दोलन का दमन किये जाने की माँग पेश की। जो लोग ख़ून और क़त्ल के मुजरिम थे, उनको चीन की सरकार ने सज़ा दी लेकिन अपने पैदा किये हुए इस आन्दोलन को वह इस तरह कैसे दबा सकती थी? इसी दरमियान घूंसेबाज़ आन्दोलन तेज़ी से सब तरफ़ फैल गया। विदेशी राजदूतों ने घबराकर जंगी जहाज़ों से अपनी फौजें बुलालीं। इसे देख, चीनियों को और भी ख़याल हो गया कि विदेशियों ने हमला शुरू कर दिया है। बस, ठन गई। जर्मन राजदूत मारा गया और पेकिंग का विदेशी दूतावास घेर लिया गया।

'बाक्सर' या घूँसेबाज़ आन्दोलन की हमदर्दी में ज्यादातर चीन विदेशियों के ख़िलाफ़ हथियार लेकर उठ खड़ा हुआ। लेकिन प्रान्तों के कुछ वाइसरायों ने किसी की तरफ़दारी न की। इस तरह विदेशी ताकतों की मदद की। राजमाता की हमदर्दी बिला शुबहा घूंसेबाजों के साथ थी, लेकिन वह खुल्लमखुल्ला उनमें शामिल न हुई। विदेशी लोग यह साबित करना चाहते थे कि घूंसेबाज़ महज़ लुटेरे हैं। दर असल १९०० ई० की यह बग़ावत विदेशियों के चंगुल से चीन को आज़ाद करने की देश-भक्ति से भरी हुई एक कोशिश थी। राबर्ट हार्ट चीन में एक बड़ा अँग्रेज़ अफ़सर था। वह उस समय समुद्री चुँगी (Customs) के महकमे का इन्सपेक्टर जेनरल था और दूतावास के घेरे के वक़्त मौजूद था। उसका कहना है कि चीनियों के गुस्से को भड़काने का इलज़ाम विदेशियों, ख़ासकर मिशनरियों पर लगेगा। उसके शब्दों में यह बग़ावत "असल में देशभक्ति से पूर्ण थी, इसका बहुत-कुछ उद्देश बिलकुल न्यायोचित था, इसपर कोई सवाल नहीं उठ सकता। इस बात पर जितना भी ज़ोर दिया जाय, थोड़ा है।"

चीन के यों अचानक उलट पड़ने से योरप की ताकतें बहुत चिढ़ीं। यह ठीक ही हुआ जो उन्होंने पेकिंग में घिरे हुए अपने आदमियों के बचाने के लिए चटपट फ़ौजें भेजीं। दूतावास का उद्धार करने के लिए एक जर्मन सिपहसालार की मात-हती में एक अन्तर्राष्ट्रीय फौज पहुँची। जर्मनी के क़ैसर ने अपनी फौजों को हिदायत की कि चीन में जंगली हूणों की तरह व्यवहार करना। शायद इसी बात को याद करके महायुद्ध के वक्त अँग्रेज़ लोग सब जर्मनों को हूण कहने लगे थे।

क़ैसर की हिदायत का न सिर्फ़ उसीकी फ़ौज ने बल्कि तमाम मित्र-राष्ट्रों की फौजों नें पालन किया। पेकिंग को जाते समय रास्ते में जनता के साथ इन लोगों का बर्त्ताव ऐसा था कि बहुतों ने तो इनके हाथों पड़ने की बनिस्बत ख़ुदकुशी कर लेना ज्यादा बेहतर समझा। उन दिनों चीनी औरतें अपने पैरों को छोटा-छोटा बनाये रखती थीं, इसलिए वे आसानी से भाग नहीं सकती थीं। इससे बहुतेरी स्त्रियों ने आत्मघात कर लिया। इस तरह मित्रराष्ट्रों की फौजों का 'मार्च' हुआ और मौत, आत्महत्या और जलते हुए गाँवों का ताँता उनके पीछे-पीछे चला।

इन फ़ौजों के साथ जाने वाला एक अँग्रेज़ लड़ाई का सम्वाददाता कहता है:—

"ऐसी भी बातें हैं जिन्हें मैं नहीं लिख सकता और जो इंग्लैण्ड में नहीं छपेंगी, जो यह बता देंगी कि हमारी यह पश्चिमी सभ्यता जंगलीपन के ऊपर पीतल की पालिश मात्र है। किसी भी युद्ध के बारे में असली सच्ची बातें लिखी नहीं जातीं। इस युद्ध के बारे में भी यही होगा।"

मित्रराष्ट्रों की फौजों ने पेकिंग पहुंचकर दूतावास को घेरे से छुड़ाया। उसके बाद पेकिंग की लूट हुई, जो 'पिज़ारो[१] के बाद लूट-पाट का सबसे ज़बर्दस्त धावा' कहा जा सकता है। पेकिंग की कला के ख़ज़ाने उन जंगली असभ्यों के हाथों में पड़ गये, जिनको इनके मूल्य का ज्ञान तक न था। यह लिखते हुए अफ़सोस होता है कि मिशनरियों ने इस लूट में ख़ास हिस्सा लिया। विदेशियों के झुंड के झुंड घरों के ऊपर नोटिस चिपकाते फिरते थे कि ये घर हमारे हैं। एक घर की क़ीमती चीज़ें बेचकर वे दूसरे बडे मकान की तरफ़ बढ़ जाते।

इन शक्तियों की अपनी ही आपसी लाग-डाँट और किसी क़दर संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के रुख़ के कारण चीन का बंटवारा होने से रह गया। लेकिन उसको बेइज्ज़ती का हलाहल पीना पड़ा। इस तरह की बेइज्ज़ती उसके ऊपर लादी गई कि एक मुस्तकिल विदेशी फौज पेकिंग में रहने और रेलवे की हिफ़ाज़त करने के लिए तैनात की गई। बहुत-से क़िले नेस्तनाबूद कर दिये गये, विदेशियों की विरोधी ऐसी किसी संस्था में शामिल होनेपर मौत की सज़ा दी जाने लगी, व्यापार-सम्बन्धी नई-नई रिआयतें ऐंठ ली गईं और हरजाने के तौरपर एक भारी रक़म चूसी गई; और सबसे भयानक चोट यह कि बॉक्सर या घूंसेबाज़ आन्दोलन के तमाम देशभक्त नेताओं को 'बाग़ी' क़रार देकर चीनी सरकार को उन्हें मौत की सज़ा देनी पडी। यह था

१. **पिजारो**—(१४७१–१५४१) एक स्पेनी सैयाह था, जिसने दक्षिण अमेरिका के पेरू देश को जीता। वहाँ उसका जीवन हद से ज्यादा बेरहमी के कामों में बीता। आख़िर में अपने ही एक सिपाही के हाथ उसकी मौत हुई।

'पेकिंग का आदर्श मसविदा' (Peking Protocol) जिसपर १९०१ ई० में दस्तख़त हुए।

ख़ास चीन में, विशेषतः पेकिंग के आसपास, जब ये घटनायें घट रही थीं, उसी समय रूसी सरकार ने इस गड़बडी से फायदा उठाकर साइबेरिया के पार मंचूरिया में बहुत-सी फौजें भेज दीं। चीन लाचार था, विरोध प्रकट करने के अलावा और कर ही क्या सकता ? लेकिन इधर दूसरी ताक़तों को रूसी सरकार का इस तरह देश के एक बडे हिस्से को हड़प जाना पसन्द न आया। घटनाओं के नये चक्कर से जापान को सबसे ज्यादा फ़िक्र और परेशानी हुई। बस, इन सब राष्ट्रों ने रूस को पीछे लौट जाने के लिए दबाया। और रूस की सरकार ने भी बडे धर्मभाव के साथ मुंह बनाकर दुःख और अचम्भा ज़ाहिर किया कि हम-जैसे इज्ज़तदारों की मंशा पर कोई इसतरह शुबह क्यों करता है ? मित्रराष्ट्रों को हम विश्वास दिलाते हैं कि चीन के राज्याधिकारों में दख़ल देने का हमारा कोई इरादा नहीं है; मंचूरिया में जो रूस की रेलवे है उसपर शान्ति होते ही हम अपनी फौजें हटा लेंगे। बस हरेक को तसल्ली होगई, और इसमें क्या सन्देह कि मित्रराष्ट्रों नें एक दूसरे को इस ज़बर्दस्त स्वार्थ-त्याग और धर्मभाव के लिए बधाइयाँ भी दी होंगी। लेकिन, फिर भी, रूसी फौजें मंचूरिया में ही रहीं, और ठेठ कोरिया तक फैल गईं।

मञ्चूरिया में और कोरिया तक इसतरह रूस के बढ़ आने पर जापानियों को बड़ा गुस्सा आया। चुपचाप लेकिन गम्भीरता के साथ वे युद्ध की तैयारी करने लगे। उन्हें याद था कि किस तरह तमाम ताक़तों ने मिलकर १८९५ ई० में चीन की लड़ाई के बाद जापान को पोर्ट आर्थर वापस करने के लिए मजबूर किया था। ऐसा फिर न हो सके, इसकी वे अब कोशिश करने लगे। उनको इंग्लैंण्ड ऐसी ताक़त मिली जो रूस के बढ़ने से डरती थी और उसे रोकना चाहती थी। १९०२ ई० में एंग्लो-जापानी मित्रता हुई जिसका उद्देश यह था कि राष्ट्रों का कोई गुट सुदूरपूर्व में जापान या इंग्लेण्ड में से किसी राष्ट्र को न दबा सके। जापान अपने आपको अब महफ़ूज समझने लगा; उसने रूस की तरफ और भी ज्यादा धमकी का रुख़ इख़्तियार कर लिया। उसने माँग पेश की कि रूसी फौजें मञ्चूरिया से हटा ली जायँ। लेकिन उस वक्त के बेवकूफ ज़ार की सरकार ने जापान को हिक़ारत की नज़र से देखा। उसे यह यकीन ही न हुआ कि जापान रूस से लड़ने की हिम्मत करेगा।

१९०४ ई० के शुरू में दोनों मुल्कों में लड़ाई छिड़ गई। जापान इसके लिए बिलकुल तैयार था। अपनी सरकार के प्रचार-कार्य और सम्राट-पूजा के पंथ से उकसाये हुए जापानी लोग देशभक्ति के जोश से भर गये। दूसरी तरफ रूस बिलकुल

तैयार न था। उसकी एकतन्त्री सरकार बराबर अपनी प्रजा को दबाकर ही शासन चला सकती थी। डेढ़ सालतक लड़ाई चलती रही और तमाम एशिया, योरप और अमेरिका ने जमीन और दरिया के ऊपर जापान की विजयों को देखा। अपने आदमियों के अद्भुत बलिदान और ज़बरदस्त हत्याकाण्ड के बाद जापानियों के हाथ पोर्ट आर्थर लगा। योरप से रूस ने जंगी जहाज़ों का एक बड़ा बेड़ा समुद्र के ज़रिये सुदूरपूर्व को भेजा। आधी दुनिया को पार करके, हजारों मील के सफर से थका थकाया यह भारी भरकम बेड़ा जापान के समुद्र में पहुँचा और वहाँ पर, जापान और कोरिया के बीच के सँकड़े समुद्री रास्ते में इसको और इसके अध्यक्ष को जापानियों ने डुबा दिया। इस दुर्घटना में क़रीब-क़रीब सारा का सारा जहाज़ी बेड़ा नष्ट होगया।

रूस की—ज़ार के रूस की—एक के बाद दूसरी हार से बुरी गत हो रही थी। फिर भी, रूस के पास बहुत ताक़त जमा थी। क्या इसी देश ने सौ वर्ष पहले नेपोलियन को नीचा नहीं दिखाया था? लेकिन इसी वक्त, असली रूस यानी रूस की जनता बोल उठी थी।

इन ख़तों के सिलसिले में मैं हमेशा रूस, इंग्लैंड, फ़्रांस, चीन, जापान वग़ैरा का ज़िक्र किया करता हूँ, मानों इनमें से हरेक देश कोई जीती-जागती हस्ती हो। मेरी यह आदत बुरी है, जो किताबों और अख़बारों से मुझ में आगई है। मेरा मतलब उस समय की रूसी सरकार, अंग्रेज़ी सरकार वग़ैरा से है। ये सरकारें किसी छोटे से गिरोह के अलावा किसी की भी प्रतिनिधि न हों, या किसी एक वर्ग की हों, लेकिन उनको सारी जनता का प्रतिनिधि कहना या समझना ठीक नहीं। उन्नीसवीं सदी में अंग्रेज़ी सरकार, पार्लमेंट पर अपना अधिकार रखनेवाले ज़मींदारों और ऊँची मध्यमश्रेणी के आसूदा लोगों की प्रतिनिधि कही जा सकती थी। जनता के बहुमत की शासन में कोई आवाज़ न थी। आज-कल हिन्दुस्तान में कभी-कभी सुनते हैं कि हिन्दुस्तान ने राष्ट्रसंघ या गोलमेज़ परिषद् या ऐसे ही दूसरे जलसों में अपना प्रतिनिधि भेजा है। इस बात का कोई मतलब नहीं होता। ये नाम के प्रतिनिधि तबतक हिन्दुस्तान के असली प्रतिनिधि नहीं हो सकते जबतक कि हिन्दुस्तान की जनता उनको न चुने। उनको तो भारत सरकार नामज़द करती है। नाम के वे चाहे जो कुछ हों, असल में होते हैं ब्रिटिश सरकार के ही प्रतिनिधि। रूस में, रूस-जापान युद्ध के वक़्त, एकतन्त्री शासन था। सारे रूस का एकतन्त्री मालिक था ज़ार, और यह मालिक बहुत ही बेवकूफ़ था। मज़दूरों और किसानों को फ़ौज के ज़रिये दबाकर रखा जाता था। मध्यमवर्ग तक की शासन-प्रबन्ध में कोई आवाज़ न थी। इस ज़ुल्म के ख़िलाफ़ बहुतेरे रूसी नौजवानों ने सिर उठाया, हथियार लिया, और आज़ादी की

लड़ाई में अपनी क़ुरबानी देदी। बहुतेरी लड़कियों ने भी वही रास्ता इख़्तियार किया। इसलिए जब मैं कहता हूँ कि रूस यह कर रहा था, वह कर रहा था, जापान से लड़ रहा था तो मेरा मतलब सिर्फ़ ज़ार की सरकार से होता है, और कुछ नहीं।

जापान की लड़ाई और उसकी तबाही रूस की आम जनता पर और भी मुसीबत लाई। सरकार पर दबाव डालने के लिए अक्सर कारख़ानों के मज़दूर हड़ताल कर बैठते। २२ जनवरी १९०५ के दिन हज़ारों शान्त किसान और मज़दूर एक पादरी के नेतृत्व में, जुलूस बनाकर सरदी के महल में ज़ार के पास पहुँचे कि अपने कष्टों से छुटकारा पाने की प्रार्थना करें। उनकी बात सुनने के बजाय ज़ार ने उन पर गोली चलवादी। ख़ौफ़नाक क़त्लेआम मच गया, दो सौ आदमी मारे गये, और पीटर्सबर्ग की बर्फ़ ख़ून से लाल हो गई। रविवार का दिन था। उसी वक़्त से उस दिन को 'ख़ूनी रविवार' कहा जाने लगा। देश में गहरी सनसनी फैल गई। मज़दूरों ने हड़ताल बोलदी और एक छोटी-सी क्रान्ति हो गई जो बाद में असफल हुई। १९०५ ई० की इस क्रान्ति को ज़ार की सरकार ने बडी बेदर्दी के साथ दबा दिया। कई कारणों से हमारे लिए यह बडी दिलचस्पी से भरी और ग़ौर करने के क़ाबिल क्रान्ति है। १२ वर्ष बाद रूस की शकल को बदल डालने वाली १९१७ ई० की महान् क्रान्ति के लिए इसने एक तरह से रास्ता तैयार किया, और १९०५ ई० की इसी असफल क्रान्ति में क्रान्तिकारियों ने सोवियट नामक एक नये संगठन की योजना की, जो बाद में इतना मशहूर हो गया।

जैसाकि अक्सर मेरा ढंग है, मैं तुम्हें चीन व जापान और रूस-जापान युद्ध का हाल बताते-बताते १९०५ ई० की रूसी राज्य-क्रान्ति की तरफ बहक गया। लेकिन मंचूरिया की इस लड़ाई के वक्त रूसी तसवीर की पृष्ठ भूमि को समझाने के लिए ये चन्द बातें बतानी ज़रूरी थीं। इसी असफल क्रान्ति और जनता की बिगडी हुई तबीयत के कारण ज़ार को जापान से सुलह करने को मजबूर होना पड़ा।

सितम्बर १९०५ ई० की पोर्टमाउथ की संधि से रूस-जापान के युद्ध का ख़ातमा हुआ। पोर्टमाउथ संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में है। अमेरिका के राष्ट्रपति ने दोनों फ़रीकों को बुलाकर सन्धि पर दस्तख़त कराये। इस सन्धि से आख़िरकार जापान को पोर्टआर्थर और लाओ-तुंग प्रायद्वीप फिर मिल गये, जो चीन के युद्ध के बाद उसे वापस करने पडे थे। रूसियों ने जो रेलवे मंचूरिया में बनाई थी, उसका भी एक बड़ा हिस्सा जापान को मिला। और जापान के उत्तर में जो साख़ोलीन टापू है, उसका भी आधा हिस्सा जापान को मिल गया। इसके अलावा रूस ने कोरिया के ऊपर के अपने तमाम दावों को छोड़ दिया।

इस तरह जापान जीत गया और महान शक्तियों के जादू के घेरे में उसने प्रवेश किया। एशिया के इस मुल्क—जापान की विजय का असर तमाम एशियाई देशों पर पड़ा। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि जब मैं लड़का था तो मुझे भी इस विजय पर बड़ा जोश आया करता था। ऐसा ही जोश एशिया भर के लड़के, लड़कियों और बड़ों को आया करता था। योरप की एक बड़ी ताक़त हार गई इसलिए यह ख़याल पैदा हुआ कि एशिया योरप को अब भी हरा सकता है, जैसा कि पुराने ज़माने में कई दफ़े हरा चुका है। पूर्वी देशों में राष्ट्रीयता तेज़ी से फैल गई, और 'एशिया एशिया-वालों के लिए' की पुकार सुनाई देने लगी। लेकिन यह राष्ट्रीयता पुरानी बातों की तरफ़, पुराने रिवाज़ों और विश्वासों की तरफ़ लौट चलना ही न थी। जापान की विजय इसलिए हुई थी कि उसने योरप के नये औद्योगिक तरीक़ों को इख़्तियार किया था। ये पश्चिमी कहलानेवाले तरीक़े और ख़यालात पूर्वी देशों में ज्याद-ज्यादा लोकप्रिय होते गये।

: ११८ :

चीन में प्रजातन्त्र की स्थापना

३० दिसम्बर, १९३२

हम देख चुके हैं कि रूस पर जापान की विजय से एशिया की जातियाँ कैसे फूल गईं। लेकिन इसका फिलहाल तो यह नतीजा हुआ कि ज़ोर-ज़बरदस्ती से काम लेनेवाली साम्राज्यवादी ताक़तों के छोटे-से गिरोह में एक और ताक़त शामिल हो गई, जिसकी पहली चोट कोरिया को लगी। जापान के उदय का मतलब हुआ कोरिया का अस्त। जब से जापान के दरवाज़े दुनिया के लिए खुले, वह कोरिया और किसी क़दर मंचूरिया को अपना माल समझने लगा था। अलबत्ता वह इस घोषणा को तो बराबर दुहराता रहता था कि "हमारी पूरी श्रद्धा है कि चीन अखण्ड रहे और कोरिया आज़ाद बना रहे।" साम्राज्यवादी ताक़तों का यह तरीक़ा ही होता है कि वे लूटती भी जाती हैं और मक्कारी के साथ अपनी नेकनीयती का भरोसा भी दिलाती जाती हैं; गले भी काटती जाती हैं और यह भी कहती जाती हैं कि प्राण बड़ी पवित्र चीज़ है। सो जापान ने भी यही ज़ाहिर किया कि कोरिया में हम दख़ल न देंगे और साथ ही उसपर क़ब्ज़ा जमाने की अपनी पुरानी पालिसी से भी चिपटा रहा। चीन और रूस दोनों से उसके जो युद्ध हुए थे उनका केन्द्र भी कोरिया और मंचूरिया के आसपास ही था। एक-एक क़दम जापान बढ़ता जा रहा था और

अब चीन की कमज़ोरी और रूस की हार हो जाने पर उसका रास्ता साफ़ हो गया।

अपनी साम्राज्यवादी नीति के मुताबिक़ काम करने में जापान कभी किसी हिचकिचाहट या सोच विचार की इल्लत में न पड़ा। वह खुल्लम-खुल्ला हाथ मारता गया; किसी परदे के नीचे अपनी कारगुज़ारी को छिपाने तक की परवाह उसने नहीं की। चीन की लड़ाई शुरू होने से पहले ही, १८९४ में कोरिया की राजधानी सिओल के राजमहल में घुसकर जापानियों ने वहाँ की रानी को पकड़ कर क़ैद कर लिया क्योंकि उसे उनका हुक्म बजाना मंज़ूर न था। १९०५ ई० में रूस की लड़ाई के बाद जापान की सरकार ने कोरिया के राजा को अपने देश की आज़ादी की ख़ातमा करने और जापान की सत्ता को मानने के लिए मजबूर किया। लेकिन यही काफ़ी न था। पाँच बरस के अन्दर ही, यह अभागा राजा तख़्त से हटा दिया गया और कोरिया जापान साम्राज्य में मिला लिया गया। यह १९१० ई० की बात है। तीन हज़ार वर्ष के पुराने इतिहास के बाद कोरिया के आज़ाद राज्य की हस्ती मिट गई। जिस राजा को इस तरह हटाया गया था वह उस ख़ानदान का था जो ५०० वर्ष पहले मंगोलों को अपने यहाँ से खदेड़ चुका था। लेकिन कोरिया अपने बड़े भाई चीन की तरह जड़ होगया था और उसका बहाव रुककर सड़ गया था, जिसकी उसे यह सज़ा भुगतनी पड़ी।

कोरिया को फिर उसका वह पुराना नाम दिया गया—'चोसेन' यानी प्रातःकाल की शान्ति का देश। जापानियों ने नये ज़माने के मुताबिक़ कुछ सुधार भी किये पर उन्होंने कोरिया के लोगों की आत्मा को बेदर्दी के साथ कुचल दिया। बहुत वर्षों तक आज़ादी के लिए कोशिशें होती रहीं। कई बलवे भी हुए। सब से महत्वपूर्ण बलवा १९१९ में हुआ। कोरिया के लोग, खासकर युवक और युवतियाँ, अपने ज़बरदस्त दुश्मनों से लड़ती रहीं। एक बार की बात है कि आज़ादी के लिए लड़नेवाली एक कोरियन संस्था ने आज़ादी की बाक़ायदा घोषणा करके जापानियों को ललकारा और फ़ौरन ही पुलिस को टेलीफ़ोन करके अपनी कार्रवाई की इत्तिला उसे दे दी। इस तरह अपने आदर्श के लिए उन्होंने जीते-जागते अपने आपको क़ुर्बान कर दिया। यह शान्त और चौकस तरीक़ा जो उन्होंने इख़्तियार किया था बापू के बताये उपायों की गूँज-सा मालूम देता है। जापानियों ने कोरियन लोगों का किस तरह दमन किया, इतिहास का यह अध्याय बहुत ही दुःख से भरा और काला है। तुम्हें यह जानने में दिलचस्पी होगी कि नौजवान कोरियन लड़कियों ने, जिनमें से बहुत-सी कालेज से नई-नई निकली थीं, आज़ादी की इस लड़ाई में खास हिस्सा बँटाया।

अब ज़रा चीन की तरफ़ लौटें। बॉक्सर यानी घूँसेबाज़ आन्दोलन के दमन और

१९०१ ई० के पेकिंग के सन्धिपत्र के बाद हमने उसको एकाएक ही छोड़ दिया था। चीन की पूरी-पूरी बेइज्ज़ती हो चुकी थी। फिर दुबारा वहाँ सुधार की चर्चा चलने लगी। बूढ़ी राजमाता तक सोचने लगी कि कुछ-न-कुछ तो सुधार करना चाहिए। रूस-जापान की लड़ाई के वक़्त चीन चुपचाप खड़ा-खड़ा देखता रहा, हालांकि लड़ाई चीन की ही जमीन मंचूरिया में हो रही थी। जापान की फतेह ने चीन के सुधारकों को मज़बूत कर दिया। शिक्षा को नया रूप दिया गया। आधुनिक विज्ञानों के लिए बहुत-से विद्यार्थी योरप, अमेरिका और जापान भेजे गये। अफ़सरों की नियुक्ति के लिए जो किताबी इम्तिहानों क़ा पुराना तरीक़ा था, वह उठा दिया गया। यह अजीब क़ायदा, जो चीन की एक ख़ासियत था, ठेठ 'हन्' ख़ानदान के ज़माने से यानी दो हज़ार वर्ष से चला आरहा था। इसकी उपयोगिता तो कभी की ख़तम हो चुकी थी। अब तो यह चीन को आगे बढ़ने से ही रोके हुए था। इसलिए इसका उठ जाना अच्छा ही हुआ। फिर भी अपनी तौर पर यह इतनी सदियों तक चलनेवाला क़ायदा अद्‌भुत था। इससे मालूम होता था कि चीनियों का ज़िंदगी के बारे में क्या दृष्टिकोण है। उनके लिए ज़िन्दगी न सामन्ती थी, न पुरोहिती या महन्ती, जैसा कि एशिया और योरप के ज्यादातर देशों में था। उनके लिए ज़िन्दगी विवेक का सहारा लिये हुए थी। चीनी हमेशा से ही मज़हबी आदमी रहे हैं, और उन्होंने अपने सदाचार और नीति के नियमों का ऐसी कट्टरता के साथ पालन किया है कि दूसरी किसी धर्मात्मा जाति ने नहीं किया। उन्होंने ऐसे समाज की स्थापना करने की कोशिश की जो बुद्धि पर खड़ा हो। लेकिन चूँकि उन्होंने इसको अपने पुराने साहित्य की चहारदीवारी के अन्दर बन्द कर दिया, इससे तरक्क़ी और ज़रूरी तब्दीलियाँ रुक गईं; जड़ता आ गई और सड़ान होने लगी। हिन्दुस्तान के हम लोग चीनी बुद्धिवाद से बहुत-कुछ सबक़ ले सकते हैं। क्योंकि अभीतक हम लोग जात-पांत, मज़हबी कट्टरता, पोपलीला और सामन्तशाही ख़यालात के चंगुल में पडे हुए हैं। चीन के महान् ऋषि कन्फ्यूशियस ने अपने देशवासियों को एक चेतावनी दी थी, जो याद रखने के काबिल है। वह इस तरह है—"जो लोग दैवी ताक़तों पर क़ाबू रखने का ढोंग करते हों, उनके साथ कोई सम्बन्ध न रक्खो। अगर तुमने अपने देश में दैववाद के प्रपञ्च को क़दम रखने दिया, तो नतीजा यह होगा कि देश बिलकुल तबाह हो जायगा।" बदक़िस्मती से हमारे देश में सिर पर चोटी रखने या जटा बढ़ा लेने, लम्बी दाढ़ी रखने, माथे पर टेढ़े-मेढ़े निशान बनाने या गेरुआ वस्त्र पहनने वाले बहुत-से लोग अपने आपको दैवी शक्ति का कारकुन बताकर आम जनता को लूट रहे हैं।

लेकिन पुराने समय के अपने सारे बुद्धिवाद और संस्कृति वाला चीन वर्तमान

काल के ऊपर कब्जा न रख सका। मुसीबत की घडी में उसको अपनी संस्थाओं से कोई मदद न मिली। घटनाचक्र ने चीन के बहुत-से लोगों में स्फूर्ति भर दी और उनको ग़ैर-मुल्कों में जाकर मेहनत के साथ प्रकाश या ज्ञान की तलाश करने के लिए मजबूर किया। उन्होंने बूढ़ी राजमाता को भी दहला दिया, जो कि अब जनता को शासन-विधान और स्वराज्य देदेने की बातें करने लगी और जिसने विदेशों में वहांके शासन-विधानों का अध्ययन करने के लिए कमीशन भी भेजे।

यों बूढ़ी राजमाता की मातहती में चीनी सरकार ने आगे क़दम बढ़ाया, लेकिन चीन की जनता इससे भी तेजी के साथ आगे बढ़ रही थी। १८९४ ई० में ही, चीन के एक निवासी डा० सनयात सेन ने 'चीन-पुनरुद्धार सभा' क़ायम की थी। चीन पर विदेशी ताकतों ने जो बेईमानी की और एकतरफ़ा सन्धियाँ, जिन्हें चीनी लोग 'अस-मान सन्धि' कहा करते हैं, लादी थीं, उनके विरोध-स्वरूप बहुत-से लोग इस सभा में शामिल होगये। इस सभा की तरक्क़ी होती गई और देश के नवयुवक इसकी तरफ़ खिंचते गये। १९११ ई० में इसका नाम बदलकर 'काउ-मिन-ताँग' यानी 'जनता का राष्ट्रीय दल' रक्खा गया। अब यह दल चीन की क्रान्ति को संगठित करने का केन्द्र और ख़ास ज़रिया बन गया। इस आन्दोलन के नेता डा० सनयान सेन संयुक्त राष्ट्र अमेरिका को आदर्श मानते थे। वह प्रजातन्त्र, न कि इंग्लैण्ड का वैधानिक एकतन्त्र, चाहते थे; और जापान की सम्राट-पूजा तो हर्गिज़ उनका उद्देश नहीं था। चीनी लोगों पर सम्राट का जादू कभी नहीं चला, फिर उनका तत्कालीन राजवंश तो 'चीनी' भी नहीं था। यह राजवंश मंचू था। जनता में मंचू-विरोधी भाव भी खूब फैले हुए थे। जनता के इसी जोश के कारण बूढ़ी राजमाता को भी आगे बढ़ना पड़ा था। लेकिन यह बुजुर्ग औरत नये शासन-विधान का ऐलान करने के थोड़े ही दिन बाद मर गई। एक अजीब बात यह हुई कि यह राजमाता और इसका भतीजा, जिसे इसने तख़्त से हटाया था, दोनों नवम्बर १९०८ ई० में २४ घंटे के अन्दर ही मर गये। अब एक दुध-मुँहा बच्चा नाम के लिए सम्राट हुआ।

अब फिर पार्लमेण्ट को बुलाने की आवाज़ बुलन्द होने लगी। सम्राट और मंचूवंश के खिलाफ़ जनता में जोश फैल गया और क्रान्तिकारी जोर पकड़ गये। इस वक्त एक प्रान्त का वाइसराय युआन-शी-काई ही ऐसा मज़बूत आदमी था जो इनका मुक़ाबिला कर सकता था। यह आदमी लोमडी की तरह चालाक था। चीन की एक-मात्र होशियार सेना, जिसका नाम 'आदर्श सेना' था, उसके हाथ में थी। युआन को नाराज़ करके निकाल देने में मंचू हाकिमों ने बडी बेवकूफ़ी की। इस तरह उस आदमी को भी खो दिया जो उन्हें थोडी देर के लिए बचा सकता था। अक्तूबर

१९११ ई० में यांगसी की घाटी में क्रान्ति शुरू हो गई और जल्द ही मध्य और दक्षिणी चीन के बड़े हिस्से में बग़ावत फैल गई। १९१२ ई० की पहली जनवरी के दिन इन प्रान्तों ने प्रजातन्त्र की घोषणा करदी और नानकिंग को राजधानी बनाया। डॉ० सनयात सेन राष्ट्रपति चुने गये।

इधर युआन-शी-काई भी इस नाटक को देख रहा था कि जहाँ अपने फ़ायदे का मौका मिले, हाथ मारूँ। रीजेन्ट ने (जो अपने पुत्र बालक सम्राट की तरफ़ से राज्य कर रहा था) युआन को निकालकर फिर दुबारा उसे बुलाया, इसका क़िस्सा भी दिलचस्प है। जिस वक़्त युआन को हटाया था, यह ज़ाहिर किया गया था कि उसकी टाँग में तकलीफ़ है। सबको अच्छी तरह मालूम था कि उसकी टाँग बिलकुल मज़े में है और यह बहाना सिर्फ़ एक तकल्लुफ़ की बात है। लेकिन युआन ने भी बदला निकाल लिया। दो साल बाद १९११ ई० में जब सरकार के खिलाफ़ ग़दर शुरू हुआ, रीजेन्ट ने घबराकर युआन को बुलवाया। युआन ही अब सरकारी खेल का सूत्रधार था। जबतक उसकी शर्तें मंज़ूर न हो जायँ, रीजेन्ट के पास जाने का उसका इरादा नहीं था। उसने रीजेन्ट को जवाब भिजवा दिया कि "इस वक़्त तो टाँग की तकलीफ़ की वजह से सफ़र करने के क़ाबिल नहीं हूँ। मजबूर हूँ, घर छोड़ कर बाहर न जा सकूँगा।" एक महीने बाद जब उसकी शर्तें मंज़ूर हो गईं तो उसकी टाँग भी खूब तेज़ी के साथ चंगी हो गई।

लेकिन अब इतनी देर हो गई थी कि क्रान्ति का रोकना मुश्किल था। युआन भी इस क़दर चालाक था कि दोनों में से किसी भी एक पक्ष की तरफ़ होकर फैसला करने को तैयार न हुआ। आख़िर उसने मंचुओं को तख़्त छोड़ने की सलाह दी। मुक़ाबिले में प्रजातन्त्र की शक्ति और अपने सेनापति ने भी साथ छोड़ दिया, ऐसी हालत में मंचू हाकिम और क्या करते? १२ फरवरी १९१२ ई० को राज्यत्याग का घोषणापत्र निकाल दिया गया। इस प्रकार क़रीब २५० वर्ष के ज़ोरदार शासन के बाद चीन के रंगमंच से मंचू खानदान का प्रस्थान हुआ। एक चीनी कहावत के मुताबिक "वे शेर की-सी दहाड़ मचाते हुए आये, और साँप की दुम की तरह ग़ायब हो गये।"

इसी १२ फ़रवरी के दिन नये प्रजातन्त्र की राजधानी नानकिंग में, जहाँ पहले मिंग बादशाह का मक़बरा बना हुआ था, एक अजीब उत्सव मनाया गया। प्रजातंत्र के प्रधान सनयात सेन ने अपने मंत्रिमंडल के साथ मक़बरे पर जाकर पुराने तरीक़े से प्रसाद चढ़ाया। इस मौक़े पर जो व्याख्यान दिया उसमें उन्होंने कहा—"हम पूर्वी एशिया को प्रजातन्त्र शासन के लिए दीक्षित कर रहे हैं। जो लोग कोशिश करते हैं

उन्हें जल्दी या देर से कभी-न-कभी कामयाबी मिलती ही है। नेकी का आखिर में जरूर इनाम मिलता है। फिर यह झुँझलाहट क्यों कि आजादी इतनी देर से आई ?"

लगातार बहुत-से वर्षों तक, अपने देश में रहकर और विदेश में दोनों जगह, सनयात सेन चीन की आजादी के लिए जान लड़ाते रहे, और आखिरकार कामयाबी आती दिखाई दी। लेकिन आज़ादी है एक बेवफ़ा दोस्त। कामयाबी को हासिल करने से पहले उसकी पूरी क़ीमत चुकानी पड़ती है। अक्सर वह हमें झूठी उम्मीदें दिखा-दिखाकर खिजलाती है, मुश्किलें पैदा करके हमारा इम्तिहान लेती है; तब कहीं जाकर आती है। चीन और डॉ० सेन का काम अभी खतम नहीं हुआ था। बहुत वर्षों तक इस नये प्रजातंत्र को अपनी जान के लिए लड़ना पड़ा और आज दिन भी, गो २१ वर्ष गुजर गये हैं, चीन की क़िस्मत शशोपञ्ज में लटकी हुई है।

मंचुओं ने तख्त छोड़ दिया, लेकिन प्रजातन्त्र के रास्ते में अभीतक युआन डटा हुआ था। पता नहीं उसका क्या इरादा था। उत्तरी प्रजातन्त्री और दक्षिणी चीन में उसका दौरदौरा था। घरेलू युद्ध को रोकने और शान्ति की खातिर डॉ० सेन अपने आप मैदान से हट गये, राष्ट्रपति के पद से इस्तीफा देकर उन्होंने युआन को राष्ट्रपति चुनवा दिया। लेकिन युआन प्रजातन्त्रवादी नहीं था। उसकी ख्वाहिश ताक़त हासिल करके खुद चमकने की थी। जिस प्रजातन्त्र ने उसको अपना प्रधान चुनकर इज्जत बख़शी थी, उसीको कुचलने के लिए उसने विदेशी ताकतों से रुपया उधार लिया। पार्लमेण्ट को बरखास्त कर दिया, काउ-मिन-ताँग को तोड़ दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि लोग फूट गये, डॉ० सेन की अध्यक्षता में दक्षिण में एक विरोधी हुकूमत क़ायम हुई। जो कुछ डॉ० सेन कर सकते थे, उन्होंने इस फूट से बचने के लिए किया; पर आखिर में वही फूट आ धमकी। जिस वक़्त महायुद्ध शुरू हुआ, चीन में दो सरकारें हो रही थीं। युआन ने बादशाह बनने की कोशिश की, लेकिन वह नाकामयाब रहा और थोड़े ही दिनों बाद मर गया।

: ११६ :

बृहत्तर भारत और ईस्टइंडीज़

३१ दिसम्बर, १९३२

फ़िलहाल सुदूरपूर्व का जिक्र हम खतम करते हैं। उन्नीसवीं सदी में हिन्दुस्तान का कुछ हाल हम देख चुके हैं, और अब पश्चिम की तरफ योरप, अमेरिका और अफ़रीका को चलने का वक़्त आया है। पर मैं चाहता हूँ कि इस लम्बे सफ़र

से पहले तुम ज़रा एशिया के दक्षिण-पूर्वी कोने की भी एक झाँकी देख लो, ताकि हमें इसका पूरा-पूरा ज्ञान होजाय। इन देशों पर ग़ौर किये भी बहुत वक़्त हो चुका है। मैंने इनका ज़िक्र किसी-किसी पिछले ख़त में ज़रा सरसरी और उड़ती हुई तौर पर किया था; और मेरा वर्णन शायद बिलकुल सही भी न था। उस वक़्त मैंने इनके नाम मलेशिया, इण्डोनेशिया, ईस्टइण्डीज़ और विशाल या बृहत्तर भारत बताये थे। इसमें तो सन्देह है कि ये नाम तमाम हिस्से के लिए इस्तेमाल किये जा सकते हैं; लेकिन जब हम-तुम एक-दूसरे की बातें समझ लें, तो नामों से क्या लेना देना?

अगर आसानी से मिल सके तो ज़रा नक़्शे को तो देखो। तुम्हें एशिया के दक्षिण-पूर्व में एक प्रायद्वीप दिखाई देगा, जिसमें बरमा, स्याम और आजकल का फ़्रांसीसी हिन्दी-चीन शामिल हैं। बरमा और स्याम के बीच एक लम्बी ज़बान-सी निकली हुई है जो अन्तिम छोर की तरफ़ मोटी होती गई है और जिसकी नोक पर सिंगापुर का शहर बसा हुआ है। इसका नाम है मलय या मलाया प्रायद्वीप। मलाया से लेकर आस्ट्रेलिया तक बहुत-से छोटे-बड़े टापू फैले हुए हैं, इनकी अजीब-सी शक्ल है और देखकर ऐसा मालूम होता है कि ये एशिया और आस्ट्रेलिया को मिलानेवाले किसी बड़े भारी पुल के खण्डहर हैं। इन्हीं टापुओं का नाम ईस्टइण्डीज़ है। इनके उत्तर में फिलीपाइन के टापू हैं। किसी ताज़ा नक़्शे से तुम्हें मालूम हो जायगा कि बरमा और मलाया अंग्रेज़ों के कब्जे में हैं, हिन्दी-चीन फ़्रांस का है और इनके बीच में स्याम एक आज़ाद देश है। डचों के क़ब्ज़े में ईस्टइण्डीज़ यानी सुमात्रा, जावा और बोर्नियो, सेलिबीज़ और मलक्का के ज्यादातर हिस्से हैं। ये टापू मसालों के लिए मशहूर हैं और इन्होंने योरप के नाविकों को हज़ारों मील तूफानी समुद्र को पार करके यहाँ आने के लिए आकर्षित किया है। फ़िलीपाइन टापू अमेरिकन सरकार के अधीन हैं।

पूर्वी समुद्र के इन देशों की यह मौजूदा हालत है। लेकिन तुम्हें याद होगा कि दो हज़ार वर्ष के क़रीब हुए भारत-माता के सपूतों ने इन देशों में जाकर बस्तियाँ बसाई थीं, कई सदियों तक इनमें बड़े-बड़े साम्राज्य पनपे, ख़ूबसूरत शहर और हैरत में डालनेवाली इमारतें बनीं, व्यापार और उद्योगों की तरक़्क़ी हुई और हिन्दुस्तानी एवं चीनी सभ्यता और संस्कृति का मेल हुआ।

इन देशों का बयान करते हुए मैंने अपने एक पिछले ख़त में बताया था कि किस तरह पूर्व में पोर्चुगीज़ साम्राज्य का पतन होने पर ब्रिटिश और डच ईस्टइंडिया कम्पनियों का उदय हुआ। फ़िलीपाइन में स्पेनियों का ही राज्य बना रहा।

अँग्रेज़ों और डचों ने पोर्चुगीज़ों को हराकर खदेड़ देने के लिए एका कर लिया। वे कामयाब तो हो गये, लेकिन इन जीतनेवालों में मुहब्बत ज़रा भी न थी। वे

अक्सर आपस में लड़ा करते थे। १६२३ ई० में एक दफ़ा अम्बोयना (मलक्का) के डच-गवर्नर ने, डच-सरकार के ख़िलाफ़ साज़िश करने का इलज़ाम लगाकर, ईस्ट-इंडिया कम्पनी के तमाम अँग्रेज़ कर्मचारियों को गिरफ्तार करके मरवा डाला। इस क़त्लेआम का नाम 'अम्बोयना का हत्याकाण्ड' है।

एक बात की मैं तुम्हें याद दिलाना चाहता हूँ। अपने शुरू के ख़त में मैंने इसका हाल बताया था। इस ज़माने में, यानी सत्रहवीं सदी के अन्दर और बाद में, योरप औद्योगिक देश न था। बाहर भेजने के लिए वहाँ सामान बड़े पैमाने पर तैयार नहीं होता था। औद्योगिक क्रान्ति और बड़ी-बड़ी मशीनों के दिन अभी दूर थे। योरप की बनिस्बत एशिया ज्यादा माल तैयार करके बाहर भेजा करता था। एशिया का जो सामान योरप को भेजा जाता, उसकी क़ीमत किसी क़दर योरप के माल से और किसी क़दर स्पेनिश अमेरिका के आने वाले ख़ज़ाने से दी जाती थी। एशिया और योरप की तिजारत बड़े मुनाफे की थी। बहुत अरसे तक इसपर पोर्चुगीज़ों का क़ब्ज़ा रहा, जिससे वे मालामाल होगये। इस तिजारत में हिस्सा बँटाने के लिए ब्रिटिश और डच ईस्टइंडिया कम्पनी बनीं। लेकिन पोर्चुगीज़ इस तिजारत को अपने ही लिए महफ़ूज़ समझते थे, और किसी दूसरे को हिस्सा बँटाते नहीं देख सकते थे। फिलीपाइन में स्पेनियों के साथ तो उनका निभाव ठीक-ठीक होता रहा, क्योंकि स्पेनियों का ध्यान तिजारत की बनिस्बत मज़हब की तरफ़ ज्यादा था। लेकिन नई कम्पनियों की तरफ से अंग्रेज़ और डच सैयाह और ले-भग्गू आये। उनमें धर्म-कर्म कुछ न था। इसलिए बहुत जल्दी ही झपट शुरू हो गई।

पूर्व में राज्य करते हुए पोर्चुगीज़ों को सवा-सौ से ज्यादा वर्ष हो गये थे। वे लोगों के प्यारे न बन सके और चारों तरफ असन्तोष फैला हुआ था। इंग्लैण्ड और हालैण्ड की दोनों तिजारती कम्पनियों ने इस असन्तोष से फ़ायदा उठा लिया और लोगों को पोर्चुगीज़ों से छुटकारा पाने में मदद दी। लेकिन पोर्चुगीज़ों ने जैसे ही जगह ख़ाली की, फौरन ही इन्होंने क़दम रक्खा। हिन्दुस्तान और इंडीज़ के हाकिम होने की हैसियत से ये यहांके लोगों से भारी महसूलों और दूसरी सूरतों से ख़ूब रुपया उगाह लेते थे। इस तरह योरप पर ज्यादा बोझ पड़े बिना ही इनकी विदेशी तिजारत चलती रहती थी। पूर्वी देशों की चीज़ों की क़ीमत अदा करने में जिस बड़ी दिक्क़त का योरप को पहले तजुर्बा हो चुका था वह इस तरह कम हो गई। बात यहाँतक बढ़ गई कि, जैसा कि हम देख चुके हैं, इंग्लैण्ड ने मनाई के कानून बनाकर और भारी चुंगी लगाकर हिन्दुस्तानी माल का आना बन्द करने की कोशिश की। औद्योगिक क्रान्ति के आने तक यही हालत रही।

अंग्रेज़ों के हट जाने के कारण, ईस्टइंडीज़ का डच-ब्रिटिश झगड़ा ज़्यादा न चला। अंग्रेज़ों को हिन्दुस्तान के मामले से ही फ़ुर्सत न थी। इस तरह फ़िलीपाइन के अलावा, जिसपर स्पेनवालों का क़ब्ज़ा रहा, बाक़ी का कुल ईस्टइंडीज़ प्रदेश डच ईस्टइंडिया कम्पनी के हाथ आ गया। स्पेनियों को तिजारत की ज़रा भी परवा न थी, और न वे आगे मुल्क फ़तह करने की ही कोशिश कर रहे थे, इसलिए इस मैदान में डचों का कोई प्रतिद्वन्द्वी न रहा।

अपनी हमनाम हिन्दुस्तान की ब्रिटिश कम्पनी की तरह, डच ईस्टइंडिया कम्पनी भी जितना हो सके धन बटोरने और झटपट अमीर बन जाने के लिए आ डटी। डेढ़-सौ वर्ष तक इस कम्पनी का इन टापुओं पर राज रहा। रिआया की बेहतरी की तरफ़ इन डचों ने ज़रा भी ध्यान न दिया। उसकी छाती पर सवार होकर हर तरह के ज़ुल्म करके उन्होंने जितना भी मुमकिन हो सका रुपया चूसा। जब नज़र और तोहफ़े के ज़रिये रुपया पैदा करना इतना आसान हो गया तो तिजारत पीछे जा पड़ी और धीरे-धीरे ख़तम हो गई। यह कम्पनी बिलकुल नालायक़ थी। जो डच इसम नौकरी करने के लिए आते वे भी उसी तरह के तक़दीर आज़माने वाले आवारा होते थे जैसे हिन्दुस्तान की ब्रिटिश कम्पनी के गुमाश्ते या कारकुन। जैसे-तैसे दौलतमन्द बनना उनका ख़ास मतलब था। हिन्दुस्तान में मुल्क की आमदनी के साधन कहीं ज़्यादा थे और ज़्यादा हद तक बदइन्तिज़ामी छिपाई जा सकती थी। हिन्दुस्तान में कुछ क़ाबिल हाकिम भी हुए, जिन्होंने ऊपरी इन्तज़ाम को तो ठीक कर लिया, गो कि नीचे पेंदे में लोग बुरी तरह कुचले जाते रहे। ख़ैर, तुम्हें याद होगा कि १८५७ ई० के ग़दर ने ब्रिटिश ईस्टइंडिया कम्पनी का ख़ातमा कर दिया।

डच ईस्टइंडिया कम्पनी की हालत बदतर होती गई। आख़िरकार १७९८ ई० में निदरलैण्ड की सरकार ने पूर्वी द्वीपों की हुकूमत ख़ुद सम्हाल ली। थोड़े ही दिनों पीछे योरप में नेपोलियन की लड़ाइयों के कारण, अंग्रेज़ों ने इन टापुओं पर क़ब्ज़ा कर लिया; क्योंकि हालैण्ड भी नेपोलियन के साम्राज्य का एक हिस्सा था। पाँच साल तक वे ब्रिटिश भारत के ही सूबे समझे जाते रहे। इस अरसे में उन्होंने अच्छे-अच्छे सुधार भी किये। नेपोलियन का पतन होने पर ईस्टइंडीज़ हालैण्ड को वापस दे दिये गये। जिन पाँच बरसों में जावा का ताल्लुक़ हिन्दुस्तान की ब्रिटिश सरकार से रहा, उन दिनों टामस स्टैम्फर्ड रैफल्स नामी एक अंग्रेज़ जावा का लेफ्टिनेण्ट-गवर्नर था। रैफ-ल्स की रिपोर्ट थी कि डच उपनिवेश के इन्तज़ाम का इतिहास "धोखेबाज़ी, रिश्वत, ख़ून और कमीनेपन के मिश्रण की एक आसाधारण कहानी है।" डच अफ़सरों की और-और हरकतें तो थी हीं, उनमें एक यह भी आदत थी कि जावा में ग़ुलामों के तौर से

काम लेने के लिए वे सेलीबीज़ से आदमी चुरा लाते थे। इस चोरी के साथ-साथ लूट और हत्या भी चलती थी।

निदरलैण्ड की सरकार की यह सीधी हुकूमत भी कम्पनी वाली हुकूमत से कुछ अच्छी न थी। कई बातों में तो लोगों पर और भी ज्यादा जुल्म होने लगे। तुम्हें शायद याद होगा कि मैंने बंगाल की उस नील की खेती के बारे में कुछ बताया था, जिसके कारण काश्तकारों पर बड़ी मुसीबतें आईं। इसी तरह की एक प्रथा बल्कि इससे भी ख़राब जावा वग़ैरा में चलाई गई। कम्पनी के ज़माने में लोगों को माल देना पड़ता था। यह प्रथा 'कल्चर सिस्टम' कहलाती थी। इसके मुताबिक हर साल कुछ अरसे के लिए, जो काम-काजी वक्त का अन्दाज़ से एक-तिहाई या चौथाई हिस्सा होगा, किसानों से ज़बर्दस्ती काम कराया जाता था। असल में ज्यादातर तो किसान का पूरा वक़्त ही ले लिया जाता था। डच सरकार ठेकेदारों की मारफ़त काम कराती थी, जिनको सरकार की तरफ से बिना सूद पर पेशगी रुपया मिल जाता था। ये ठेकेदार आधों-आध बेगार लेकर मज़दूरों को चूसा करते थे। कहा तो यों जाता कि ज़मीन की पैदावार बँधे हुए अनुपात से सरकार ठेकेदार और काश्तकार के बीच बाँटती है। लेकिन काश्तकारों का हिस्सा शायद सबसे थोड़ा था, गो बिलकुल ठीक मुझे मालूम नहीं कि कितना होता था। सरकार ने यह भी क़ानून बना रक्खा था कि योरप में खपने वाली कुछ चीज़ें ज़मीन के कुछ हिस्सों में ज़रूर बोई जायँ। ये चीज़ें चाय, कॉफी, नील वग़ैरा होती थीं। जैसी कि बंगाल में नील की खेती की हालत थी, यहाँ भी इन चीज़ों को ज़रूर ही बोना पड़ता था, चाहे दूसरी चीज़ें बोने में ज्यादा मुनाफा ही क्यों न होता हो।

डच सरकार ने खूब मुनाफा उठाया; ठेकेदार खूब फूले-फले और किसान भूख से मरने और मुसीबत की जिन्दगी बसर करने लगे। लेकिन मुनाफे का लालच हमेशा बढ़ता ही रहा, और सरकार अपनी 'कल्चर सिस्टम' यानी संस्कृति-प्रथा से मुल्क को ज्यादा-ज्यादा चूसती गई। उन्नीसवीं सदी के बीच में एक भयानक अकाल पड़ा, जिसमें बड़ी तादाद में लोग मौत के शिकार हुए। उस वक्त कहीं जाकर बेचारे मुसीबत के मारे किसानों के लिए कुछ करना ज़रूरी समझा गया। धीरे-धीरे हालत सुधरती गई; लेकिन बेगार की प्रथा १९१६ ई० तक फिर भी चलती रही।

उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में डचों ने शिक्षा-सम्बन्धी और दूसरे सुधार किये। एक नया मध्यमवर्ग क़ायम हो गया और राष्ट्रीय आन्दोलन आज़ादी की माँग करने लगा। हिन्दुस्तान की तरह यहाँ भी बहुत रुक-रुककर क़दम बढ़ाया गया और ऐसी कौंसिलें क़ायम की गईं जिनके पास असली ताक़त कुछ भी न थी।

क़रीब पाँच वर्ष हुए, डच ईस्टइंडीज़ में क्रांति हुई, जिसको बेरहमी के साथ दबा दिया गया। लेकिन जावा और दूसरे टापुओं में आज़ादी की जो भावना जाग चुकी है वह किसी तरह की बेरहमी या ज़ुल्म से मर नहीं सकती।

डच ईस्टइंडीज़ आजकल 'निदरलैण्ड का हिन्दुस्तान' कहलाता है। हर पंद्रहवें दिन योरप और एशिया के ऊपर होता हुआ हवाई जहाज़ हालैण्ड से जावा के बवरिया शहर को जाया करता है। ये डच जहाज़ इलाहाबाद के ऊपर होकर ही जाते हैं।

भारत के पूर्व के टापुओं की कहानी मोटे तौर से मैंने ख़त्म करदी है और अब मैं तुमको एशिया के भू-भाग पर ले चलना चाहता हूँ। बरमा के बारे में चन्द बातें और करनी है। अक्सर यह मुल्क उत्तरी और दक्षिणी दो हिस्सों में बंटा रहा और ये दोनों आपस में लड़ते-झगड़ते रहे। किसी वक़्त कोई ताक़तवर राजा होगया तो उसने दोनों को मिला भी लिया और पड़ोस के स्याम देश को जीतने की हिम्मत भी कर डाली। उन्नीसवीं सदी में अँग्रेज़ों के साथ झपटें शुरू हो गईं। अपनी ताक़त को बहुत ज्यादा समझकर बरमा के बादशाह ने आसाम के ऊपर चढ़ाई करके उसे अपने राज्य में मिला लिया। हिन्दुस्तान के अंग्रेज़ों के साथ बरमा की पहली लड़ाई १८२४ ई० में हुई और आसाम अंग्रेज़ों को मिल गया। अंग्रेज़ों को अब मालूम हो गया कि बरमा की सरकार और फ़ौज दोनों कमज़ोर हैं और वे अब तमाम मुल्क को जीतने की इच्छा करने लगे। फिज़ूल के बहाने ढूँढ़कर दूसरे और तीसरे युद्ध लड़े गये और १८८५ ई० तक सारे देश को जीतकर ब्रिटिश भारत के साम्राज्य का हिस्सा बना लिया गया। तब से बरमा की क़िस्मत हिन्दुस्तान के साथ जुड़ गई है। अब हमारा उठना या गिरना साथ-साथ ही होगा।

अभी हाल में ब्रिटिश सरकार ने बरमा को हिन्दुस्तान से अलग करने की कोशिश की, लेकिन बरमियों ने भी तय कर लिया कि हम जुदा होना नहीं चाहते। पता नहीं भविष्य क्या-क्या रंग खिलायगा ?[1] बरमा और हिन्दुस्तान एक ही राजनैतिक वर्ग में रहें या न रहें, यह ख़ासतौर से तो बरमी लोगों के फ़ैसले पर है। वे चाहे जो कुछ तय करें और चाहे जो हो, बरमा और हिन्दुस्तान आपस में दोस्त होकर ही रहेंगे। हमें एक दूसरे को पहचानना पड़ेगा, गोकि हमारी मुलाक़ात विदेशी हुकूमत की मुसीबतों में हुई है। चाहे जो हो, भले दिन आयें या बुरे, हम एक-दूसरे का हाथ पकड़े रहेंगे।

बरमा के दक्षिण में मलाया प्रायद्वीप में भी अंग्रेज़ फैल गये। सिंगापुर का टापू उनको उन्नीसवीं सदी में ही मिल गया था, जो अपनी बढ़िया स्थिति के कारण बहुत

१. अब बरमा हिन्दुस्तान से अलग कर दिया गया है।

जल्द एक व्यापारी शहर और सुदूर पूर्व को जानेवाले जहाज़ों के ठहरने का बन्दरगाह बन गया। इस प्रायद्वीप में कुछ ऊपर जो मलक्का का पुराना बन्दरगाह था वह पिछड़ गया। सिंगापुर से अंग्रेज उत्तर की तरफ़ फैलने लगे। मलाया प्रायद्वीप में छोटी-छोटी बहुतसी रियासतें थीं, जो ज्यादातर स्याम के मातहत थीं। इस सदी के अख़ीर तक ये तमाम रियासतें अंग्रेज़ों की संरक्षकता में आगईं और 'मलाया राज्यसंघ' (Federated Malay States) के नाम के एक संघ में शामिल हो गईं। इनमें से कुछ रियासतों पर स्याम का जो कुछ अधिकार था वह उसनें मजबूर होकर इंग्लैण्ड को दे दिया।

इस तरह स्याम यूरोपियन ताक़तों से घिर गया। पश्चिम और दक्षिण, बरमा और मलाया में, इंग्लैण्ड का दौर-दौरा हो गया। पूर्व की तरफ़ फ्रांस चढ़ा आ-रहा था और अनाम को भी हड़पे चला जाता था। अनाम ने चीन की छत्रछाया को मान रक्खा था, लेकिन यह मानना बेकार था, जबकि चीन खुद ही मुसीबतों में फँसा हुआ था। तुम्हें याद होगा कि मैंने किसी हाल के एक पत्र में तुम्हें बताया था कि फ़्रांस वालों ने अनाम पर हमला किया, इससे फ्रांस और चीन के बीच लड़ाई छिड़ गई। फ़्रांस की ज़रा रोक-थाम तो हुई, लेकिन बहुत ही थोडी देर के लिए। उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में अनाम और कम्बोडिया को शामिल करके फ्रांस ने फ़्रांसीसी इण्डोचीन नाम का एक बड़ा उपनिवेश बना दिया। कम्बोडिया, जहाँ पुराने ज़माने में शानदार अंगकोर का साम्राज्य पनप चुका था, स्याम देश की एक मातहत रियासत थी। फ़्रांस ने स्याम को लड़ाई की धमकी देकर इसके ऊपर अपना शासन जमा लिया। नोट करने की बात यह है कि इन मुल्कों में, शुरू-शुरू में, फ़्रांस वालों की जो साजिशें हुईं वे फ्रांसीसी मिशनरियों के मारफ़त की गई थीं। किसी कारण से एक मिशनरी को मौत की सज़ा दी गई, इसीका हरजाना वसूल करने के लिए पहला फ़्रांसीसी हमला १८५७ ई० में हुआ। इस फ़ौज ने दक्षिण में सैगन के बन्दरगाह पर क़ब्ज़ा कर लिया और यहींसे फ़्रांसीसियों का अधिकार उत्तर की तरफ फैला।

मुझे अन्देशा है कि एशिया के इन देशों के ऊपर साम्राज्यवादी चढ़ाइयों के दर्दभरे किस्से कहने में बातों को कई बार दोहराना पड़ा है। हरेक जगह क़रीब-क़रीब एक-सी ही चालें चली गईं, और हर जगह कामयाबी मिली। एक के बाद दूसरे मुल्क का बयान मैंने किया है, और किसी-न-किसी यूरोपियन ताक़त का उसे मातहत बनाकर उसका हाल ख़तम किया है। इस तरह बदक़िस्मती का शिकार होने से सिर्फ एक देश बच गया। यह था एशिया के दक्षिण-पूर्व का स्याम देश।

स्याम देश को बचे रहने का जो सौभाग्य प्राप्त हुआ उसका कारण शायद यही

था कि इसके दोनों बाजुओं पर बरमा के अंग्रेज और इंडोचीन के फ़्रांसीसी ये दो प्रतिद्वन्द्वी यूरोपियन लोग मौजूद थे। यह उनके बीच फँसा हुआ था। इसके सौभाग्य का एक यह भी कारण था कि इसका शासन-प्रबंध सन्तोषजनक था, और दूसरे देशों की तरह यहाँ भीतरी झगडे नहीं थे। लेकिन अच्छी हुकूमत ही यह कोई गारण्टी नहीं है कि विदेशियों के हमले न होंगे। बात यह थी कि इंग्लैंड को बरमा और हिन्दुस्तान से फ़ुर्सत न थी और फ्रांस को इण्डोचीन से। उन्नीसवीं सदी के पिछले दिनों में जिस वक़्त ये दोनों ताक़तें स्याम की सरहद पर पहुँचीं, तब राज्य-विस्तार का ज़माना ही गुज़र चुका था। मुक़ाबिला क़रने की भावना एशिया में जाग चुकी थी और उपनिवेशों और मातहत देशों में राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू हो गये थे। कम्बोडिया के मामले पर स्याम और फ्रांस में झपट होने का अन्देशा था। पर फ़्रांस के झगडे से बचने के ख़याल से स्याम दब गया। पश्चिम की ओर बरमा के ब्रिटिश राज्य से स्याम की रक्षा एक मज़बूत पर्वत-श्रेणी क़े कारण हो रही थी।

मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि पूर्वकाल में कम-से-कम दो बार बरमा के राजाओं ने स्याम पर हमला कर उसे अपने राज्य में मिला लिया। आख़िरी हमले के वक़्त, जो १७६७ में ई० हुआ, स्याम की राजधानी अयुथ्या या अयोध्या (ज़रा हिन्दु-स्तानी नाम पर ग़ौर करो) को तहस-नहस कर डाला गया। थोडे ही दिन बाद जनता में आन्दोलन हुआ। बरमी लोग निकाल बाहर किये गये और १७८२ ई० में एक नया वंश गद्दी पर बैठा, जिसका पहला राजा 'राम प्रथम' हुआ। आज दिन डेढ़सौ बरस के बाद भी इसी वंश का स्याम में राज्य है और शायद सभी राजाओं का नाम 'राम' होता है। इस नये वंश के ज़माने में स्याम को सुशासन मिला। साथ ही बडी बुद्धिमानी से विदेशी ताक़तों से भी दोस्ताना ताल्लुक़ बनाये रखने की कोशिश की गई। तिजारत के लिए बन्दरगाह खोल दिये गये और व्यापारी सन्धियाँ की गईं, और शासन-सम्बन्धी सुधार भी किये गये। बैंकाक को नई राजधानी बनाया गया। अभीतक यही राजधानी है। लेकिन ये सब सुधार साम्राज्यवादी भेड़ियों को दूर न रख सके। इंग्लैण्ड ने मलाया में पैर पसार कर स्याम की भूमि दबा ली। फ़्रांस ने कम्बोडिया और स्याम के दूसरे भूखण्डों पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। १९१६ ई० में स्याम की बाबत इंग्लैण्ड और फ़्रांस में कुश्ती होनेवाली थी; लेकिन, जैसा कि साम्रा-ज्यवादियों ने क़ायदा बाँध रक्खा है, उन दोनों ने आपस में समझौता कर लिया कि स्याम का जितना हिस्सा बचा हुआ है उसे अखण्ड रहने दो। मगर साथ ही उन्होंने इस बचे हुए हिस्से को तीन 'प्रभाव-क्षेत्रों' में भी बाँट लिया। पूर्वी हिस्सा फ्रांस के दायरे में आया, पश्चिमी अंग्रेज़ों के दायरे में, और बीच का हिस्सा किसीकी तरफ़

नहीं रहा, वहाँ दोनों को ही अपनी-अपनी चोंचें मारने का मौक़ा था। इस तरह बड़ी संजीदगी के साथ स्याम को अखंड रहने देने की गारण्टी कर चुकने पर कुछ ही वर्षों के बाद फ़्रांस ने कुछ ज़मीन पूर्व की तरफ़ दबा ली। इसका जवाब देने के लिए इंग्लैण्ड को भी दक्षिण की भूमि पर दख़ल करना पड़ा।

इतना सब कुछ होते रहने पर भी, स्याम का कुछ हिस्सा यूरोपियनों के चंगुल से बच गया। एशिया के इस हिस्से में बचे रहनेवाला यही एक देश है। योरप के हमलों का तूफ़ान अब रुक गया है। योरप को अब एशिया में ज्यादा देश हड़पने का मौक़ा नहीं है। वह वक़्त जल्दी ही आनेवाला है जब योरप की ताक़तों को बिस्तर-बोरिया बाँधकर एशिया से कूच कर जाना होगा।

अभी हालतक स्याम में स्वेच्छाचारी राजा का शासन था। गोकि बहुतसे सुधार हो चुके थे, तो भी सामन्तशाही बनी हुई थी। कुछ महीने हुए, वहाँ एक रक्तहीन शान्त राज्यक्रान्ति हुई और, मालूम होता है, ऊपरी मध्यमवर्ग के लोग अब सामने आगये हैं। किसी हदतक पार्लमेण्ट भी क़ायम हो गई है। राम प्रथम के वंश के राजा ने इस परिवर्तन को मंज़ूर करके अक़्लमन्दी का काम किया है। इसीसे वह अपनी जगह बना हुआ भी है। इस वक़्त स्याम में वैधानिक एकतन्त्र शासन है।

दक्षिण-पूर्व एशिया के एक और देश—फिलीपाइन—पर ग़ौर करना रह गया है। उसका हाल मैं इसी ख़त में लिखना चाहता था। पर वक़्त भी ज्यादा हो गया, मैं थक गया हूँ, और यह ख़त भी काफ़ी लम्बा होगया है। १९३२ ई० के इस साल में मैं तुम्हें यह सबसे आख़िरी ख़त लिख रहा हूँ। पुराना साल ख़तम होता है। आज इसकी आख़िरी कड़ी है। तीन घण्टों के बाद यह साल न रहेगा और गुज़रे हुए ज़माने की एक याद के रूप में रह जायगा।

: १२० :

नया साल

नया दिन, १९३३

आज नये साल का पहला दिन है। पृथ्वी ने सूरज की एक और परिक्रमा ख़तम कर ली है। छुट्टी या त्यौहार मनाने को यह नहीं रुकती, महाशून्य में लगातार दौड़ रही है। इसे परवा नहीं कि मेरी सतह पर रेंगनेवाले आपस में झगड़ते हुए उन बेतादाद पिस्सू सरीखे मर्द-औरतों का क्या हो रहा है जो बेवक़ूफ़ी और घमंड के साथ अपनेआपको संसार का सार और ब्रह्माण्ड की धुरी समझे बैठे हैं। पृथ्वी

को हमारा लिहाज़ नहीं, लेकिन हम अपना लिहाज़ न करें, यह कठिन है। आज नये साल के दिन कई लोग ज़िन्दगी के सफर में ज़रा देर सुस्ताकर पुरानी बातें याद कर रहे हैं, और फिर आगे की तरफ देखकर उम्मीद बाँध रहे हैं। इसी तरह गुज़री हुई बातें मेरे भी दिमाग़ में आ रही हैं। जेल में मुझे आज एक के बाद एक करके यह तीसरा नया साल शुरू हो रहा है। हाँ, कुछ महीनों के लिए मैं बाहर ज़रूर रह आया हूँ। और पीछे जाने पर मुझे याद आता है कि पिछले ग्यारह वर्षों में मैंने पाँच नये साल के पहले दिन जेल में बिताये हैं। पता नहीं, ऐसे कितने नये-पुराने दिन इस जेल में देखने को मिलेंगे।

जेल की बोली में, मैं अब 'पुराना' पड़ गया हूँ। कई दफे यहाँ आ चुका हूँ। जेल की ज़िन्दगी की अब मुझे मश्क हो गई है। जेल से बाहर होता हूँ तब काम-काज, चहल-पहल, सभायें, लेक्चरबाज़ी और इधर-उधर दौड़-भाग रहती हैं। यहाँ जेल में जीवन उससे कितना विपरीत है! यहाँ की बात बिल्कुल ही जुदा है, हर तरफ़ शान्ति है, बहुत कम गति है। मैं देर तक कुर्सी पर बैठा रहता हूँ; और घंटों तक चुप रहता हूँ। एक-एक करके दिन और हफ्ते और महीने गुज़र रहे हैं। एक-दूसरे में ऐसे घुसे जा रहे हैं कि छाँटना भी मुश्किल है। गुज़रा हुआ वक़्त एक मिटी हुई तसवीर की तरह लगता है, जिसमें कोई भी शक्ल साफ़ नहीं दीखती। कल की याद करते ही गिरफ्तारी का दिन याद आजाता है। बीच के अरसे में कोई ऐसी बात ही नहीं जिसकी दिमाग़ पर छाप पडी हो। जेल की ज़िन्दगी क्या है, मानों कोई पौधा एक जगह से उखाड़कर दूसरी जगह लगाया जा रहा हो। न कोई टीका-टिप्पणी, न कोई बहस-मुबाहिसा; बस बिल्कुल खामोश, हिलना भी नहीं। कभी बाहरी दुनिया की चहल-पहल जेल के प्राणी को अजीब और चकरानेवाली-सी लगती हैं, वे बहुत दूर और असत्य-सी लगती हैं, मानो कहीं दूर पर भूतों का नाच हो रहा हो। सो इस तरह अपना मिज़ाज भी दो तरह का हो जाता है, कामकाजी और निष्क्रिय या बेकार। ज़िंदगी दो क़िस्म की हो जाती है, व्यक्तित्व दो हो जाते हैं, जैसा कि डा० जेकिल और मि० हाइड[1] की ज़िन्दगी थी। राबर्ट लुई स्टीवेन्सन का वह क़िस्सा तो तुमने पढ़ा होगा?

१. डा० जेकिल एक बहुत ही नेक विद्वान प्रोफेसर थे। विज्ञान के प्रयोग करते समय किसी दवा से उनके शरीर में एक बदमाश मि० हाइड की रूह घुस आई। डाक्टर साहब को अच्छी दवा हाथ लगी। वे चाहे जब अपना रूप और प्रकृति बदल लेते। होते-होते मि० हाइड की आदत ही पड़ गई और वह बिना दवा के प्रयोग ही डा० जेकिल के शरीर में घुस आता। आखिरकार मि० हाइड से छुटकारा पाना असम्भव समझकर डा० जेकिल ने आत्महत्या करली।

ज्यों-ज्यों वक्त गुज़रता है हर बात की आदत पड़ ही जाती है। जेल के 'रुटीन' (दैनिक कार्यक्रम) और एक-रसता की भी आदत हो जाती है। शरीर को आराम से फ़ायदा होता है, और दिमाग़ के लिए शान्ति अच्छी चीज़ है, इससे सोचने का मौक़ा मिलता है। अब शायद तुम समझ जाओगी कि इन ख़तों को लिखने से मुझे क्या फ़ायदा हुआ। इनके पढ़ने में तुम्हारी तबियत न लगती होगी; ये बहुत लम्बे-लम्बे और उकतानेवाले-से हैं। लेकिन इनसे मेरे जेल के जीवन का ख़ाली मन भर सका है। इनसे मुझे एक धन्धा मिल गया। इस तरह इन्होंने मेरे दिल को बड़ी प्रसन्नता दी है। दो साल होते हैं, नये साल के ही दिन मैंने इनको नैनी-जेल में लिखना शुरू किया था। दुबारा जेल आने पर फिर लिखना जारी कर दिया। कभी-कभी रोज़ाना भी लिखा है। जब लिखने की धुन सवार हुई, काग़ज़ क़लम लेकर बैठ जाता। बस दूसरी दुनिया में पहुँच जाता। साथ में, प्यारी बेटी, तुम भी होतीं। जेल और जेल के काम भूल जाते। इस तरह ये ख़त मुझे जेल से मुक्ति दिलानेवाले बन-कर प्रकट हुए हैं।

आज जो ख़त लिख रहा हूँ उसका नम्बर १०० (से ऊपर ?) है। इस तरह नम्बर डालना मैंने नौ ही महीने पहले बरेली में शुरू किया था। ताज्जुब है कि इतना सारा लिख डाला। जब चिट्ठियों का यह पहाड़ तुम्हें एकसाथ मिलेगा तो तुम भी क्या कहोगी ? पर अगर इस तरह मुझे जेल से छुटकारा मिलता हो तो तुम इसमें बुरा क्यों मानोगी। प्यारी बेटी, हमें मिले सात महीने से ज्यादा हो चुके हैं। कितना वक़्त गुज़र गया !

इन ख़तों में जो कहानी कही गई है, वह कुछ ज्यादा तबियत ख़ुश करनेवाली नहीं है। इतिहास आनन्द-दायक नहीं होता। अपनी तरक़्क़ी की शेख़ी बघारनेवाला इनसान आख़िरकार है एक बहुत ही नागवार और ख़ुदग़र्ज़ जानवर। फिर भी उसकी ख़ुदग़र्ज़ी, ख़ूँख़ारी, और हैवानियत के काले कारनामों के भीतर तरक़्क़ी की भी कुछ चमक दीख जाय तो दीख जाय। मैं ज़रा आशावादी आदमी हूँ और सब मामलों के बारे में अच्छी उम्मीदें रक्खा करता हूँ। लेकिन ऐसा न हो कि आशावाद के कारण हम अपनी बुराइयों की तरफ़ से आँखें मूँद लें। कहीं ग़लत रास्तों को पकड़कर झूठे आशावाद के ख़तरे में न पड़ जायँ ! दुनिया का जैसा हाल हो रहा है उससे आशावाद के लिए ज्यादा गुन्जायश नहीं दीखती। यहां आदर्शवादी आदमी की तो मुश्किल ही

यह कहानी स्टीवेन्सन ने भारी बीमारी के अरसे में रची थी। इनसान किस तरह विपरीत प्रकृतियों का शिकार होता रहता है, इसका इस कहानी में बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है।

है। जो अपने विश्वासों को आँख मीचकर न मान ले, उसकी भी गुज़र नहीं। हर तरह के सवाल यहाँ उठा करते हैं, जिनका कोई सीधा जवाब नहीं मिलता। हर तरह के सन्देह पैदा होते रहते हैं, जिनका आसानी से हल नहीं मिलता। दुनिया में इतनी मुसीबत और बेवक़ूफ़ी क्यों है? इसी सवाल ने हमारे देश के राजकुमार सिद्धार्थ को दो हज़ार वर्ष पहले इतना परेशान किया था। कहानी में आता है कि 'बुद्ध' पद को पहुँचने और प्रकाश हासिल करने से पहले, उन्होंने इसी सवाल को कई दफ़े अपने ही दिल से पूछा था। कहते हैं, उनका प्रश्न यह था :—

"How can it be that Brahma,
Would make a world and keep it miserable.
Since if all powerful, he leaves it so,
He is not good, and if not powerful,
He is not God ?"

अर्थात्—

कैसे संभव ब्रह्म स्वयं जग एक बनाये,
और उसे यों रक्खे दुःखों से लपटाये?
सर्वशक्तिमय है यदि तो वह भला नहीं है,
सर्वशक्तिमय नहीं अगर तो ईश नहीं है।

हमारे ही देश में आजादी की लड़ाई चल रही है; पर हमारे बहुतसे भाई उधर ज़रा भी ध्यान न देकर आपसी बहस और झगडों में लगे हुए हैं; वे जनता की भलाई के ख़याल छोड़कर अपने ही पंथ या मज़हबी फ़िरके या वर्ग के लिहाज़ से बातें किया करते हैं। और कुछ लोग स्वतन्त्रता के दर्शनों से मुँह मोड़कर :—

"अब दोस्त बनाकर ज़ुल्मी को,
दम साध रहे हैं शान्त पड़े।
दल बाँध रहे हैं ये पाकरके,
जूठे टुकड़े औ चिथडे।"

क़ानून और इन्तज़ाम के नाम पर हर तरफ़ ज़ुल्म का दौर चल रहा है। जो सिर झुकाने से इन्कार करें उनको कुचल डालने की कोशिशें हो रही हैं। ग़ज़ब तो यह है कि जो चीज़ कमज़ोरों और पीड़ितों का पनाह है वही ज़ालिम के हाथों का हथियार हो रही है! इस ख़त में कई उद्धरण आ चुके हैं, बस एक और दूँगा। यह मुझे मौजूदा हालत के लिए सबसे मौज़ूँ लगता है। यह १८ वीं सदी के फ्रांसीसी विचारक मान्तेस्क्यू की किताब से लिया गया है, जिसका ज़िक्र मैंने शुरू के किसी ख़त में किया भी था :—

"जिस तख़्ते के सहारे डूबते हुए मुसीबतज़दा डूबने से बच गये हों, उसीके

ज़रिये अगर उन्हें डुबा दिया जाय तो, इसपर क़ानून और इन्साफ़ का चाहे जितना रंग चढ़ाया जाय, इससे बढ़कर निर्दय अत्याचार नहीं हो सकता।"

यह ख़त दर्द से इतना भर गया है कि नये दिन के लायक़ नहीं रहा, यानी बेमौज़ूं हो गया है। पर मैं तो दुःखी नहीं, और दुःखी हम हों भी क्यों? हमें तो खुशी होनी चाहिए कि हम एक बडे काम के लिए लड़ रहे हैं। हमें एक बड़ा मुखिया मिला हुआ है—एक प्यारा दोस्त, एक भरोसे का रहनुमा; जिसके दर्शन से हमें ताक़त मिलती है, जिसकी थपकी हमें हिम्मत दिलाती है। हमें इत्मीनान है कि कामयाबी हमारा इन्तज़ार कर रही है, और कभी-न-कभी हमें ज़रूर मिलेगी। अगर ये दिक्क़तें न होतीं, जिन्हें तोड़ना हमारा काम है, अगर ये लड़ाइयां न आतीं, जिन्हें जीतना हमारा कर्त्तव्य है, तो जिन्दगी बेमज़ा और बेरंग हो जाती। आज बापू की भूख-हड़ताल के मुल्तवी होने की ख़बर पाकर मेरा जी हलका होगया है। हमारे दिलों से एक भारी बोझा उठ गया है।

प्यारी बेटी, तुम ज़िन्दगी की दहलीज़ पर हो। तुमको दुःख और नाउम्मीदी से क्या काम? तुम तो ज़िन्दगी और जो कुछ उसमें आ पडे उसका मुक़ाबिला मुस्कराते हुए और शान्त चेहरे के साथ करना। रास्ते में जो मुश्किलें आवें उनका स्वागत करना, ताकि उनपर सवार हो सको। अलविदा! अच्छा प्यारी बेटी, उम्मीद है, जल्द ही फिर मिलेंगे।

: १२१ :

फिलीपाइन और संयुक्तराष्ट्र अमेरिका

३ जनवरी, १९३३

साल के नये दिन पर कुछ इधर-उधर का ज़िक्र करके अब हम अपने क़िस्से पर लौटते हैं। अब फिलीपाइन टापुओं का बयान करना मुनासिब है ताकि एशिया के पूर्वी हिस्से का हाल पूरा होजाय। इन टापुओं की तरफ़ ध्यान देने की क्या ज़रूरत है? एशिया में और भी बहुतसे टापू हैं, जिनका ज़िक्र भी मैं इन खतों के सिलसिले में नहीं कर रहा हूं। हम यह मालूम करना चाहते हैं कि किस तरह एशिया में नये साम्राज्यवाद ने क़दम बढ़ाया और पुरानी सभ्यताओं पर इसने क्या-क्या चोटें कीं। इस बात पर ग़ौर करने के लिए हिन्दुस्तान का साम्राज्य एक नमूना है। चीन एक दूसरे ही और जुदा किस्म के, पर बहुत ही महत्वपूर्ण, औद्योगिक साम्राज्यवाद का किस्सा कहता है। ईस्ट-इण्डीज़, इण्डोचीन वग़ैरा से भी हमें बहुत-कुछ सबक़ मिल

सकता है। इसी तरह फिलीपाइन के हाल से भी हमें दिलचस्पी होगी। यह दिलचस्पी और भी ज्यादा इसलिए बढ़ जाती है कि हम एक नई ताक़त यानी संयुक्तराष्ट्र अमेरिका को यहाँ मैदान में आते देखते हैं।

हम देख चुके हैं कि चीन के मामले में संयुक्तराष्ट्र अमेरिका ने दूसरी शक्तियों की तरह आक्रमणकारी या ज़ोर-ज़बर्दस्ती की नीति इख़्तियार नहीं की थी। किसी-किसी मौक़े पर उसने दूसरी साम्राज्यवादी शक्तियों के ख़िलाफ़ चीन की मदद भी की थी। इसका कारण यह नहीं समझना चाहिए कि उसे साम्राज्यवाद से नफ़रत थी, या चीन से कोई ख़ास मुहब्बत थी। असल में कुछ ऐसे अन्दरूनी कारण थे जिन्होंनें अमेरिका को योरप के मुल्कों से जुदा कर रक्खा था। योरप के ये मुल्क छोटे-से महादेश के अन्दर आपस में ऐसे सटे हुए थे और इनकी आबादी इतनी घनी थी कि पैर रखने की भी जगह न थी। हमेशा यहाँ लड़ाई-झगडे होते और आफ़तें आती रहती थीं। उद्योगवाद के साथ-साथ आबादी भी तेजी से बढ़ी। अब वे ज्यादा-ज्यादा माल तैयार करने लगे, जिसकी खपत के लिए उनका अपना-अपना देश काफ़ी न था; बढ़ती हुई आबादी के लिए ख़ूराक की ज़रूरत हुई, कारख़ानों के लिए कच्चे माल की, और तैयार सामान के लिए बाज़ारों की। इन ज़रूरतों को पूरा करनें की आर्थिक आवश्यकता के कारण इन देशों को दूर-दूर जाकर साम्राज्य के लिए आपस में लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं।

ये बातें संयुक्तराष्ट्र अमेरिका पर लागू नहीं होती थीं। यह मुल्क योरप के बराबर ही लम्बा-चौड़ा था, पर आबादी कम थी। यहाँ हर आदमी के लिए काफ़ी गुंजाइश थी। इन लोगों को अपने ही विशाल देश में तरक्क़ी करने के काफ़ी मौक़े थे। जैसे-जैसे रेलें बनती गईं, ये लोग पश्चिम की तरफ़ फैलते गये, यहाँतक कि पैसिफिक (प्रशान्त) सागर के किनारे तक आ लगे।

अपने देश में होनेवाले इन कामों में अमेरिका वाले काफ़ी मशगूल थे, इसलिए उपनिवेश बसाने की उन्हें फ़ुर्सत न थी। एक दफ़ा तो (जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ) उन्हें कैलीफ़ोर्निया के समुद्री किनारे पर काम करने के लिए चीन की सरकार से मज़दूरों की माँग करनी पडी थी। यह माँग पूरी कर दी गई, लेकिन बाद में इसी-की वजह से दोनों मुल्कों में काफ़ी कटुता पैदा हो गई। अपने मुल्क में इस तरह मशगूल रहने के कारण अमेरिका वाले साम्राज्य हासिल करने की उस दौड़ में शामिल न हुए जिसमें योरप वाले पडे हुए थे। चीन के मामलों में भी उन्होंने तभी दख़ल दिया जब मजबूरी ही आपडी, यानी जब उनको ह अन्देशा होने लगा कि दूसरी ताक़तें चीन देश को आपस में बाँट डालेंगी।

हाँ, फिलीपाइन के टापू सीधे अमेरिका के क़ब्ज़े में आगये। इनसे हमें अमेरिका के साम्राज्यवाद का हाल मालूम हो सकता है और वह हमारे लिए दिलचस्प होगा। यह ख़याल न करना कि संयुक्तराष्ट्र अमेरिका का साम्राज्य फिलीपाइन के टापुओं तक ही महदूद है। ऊपरी तौर से बस उसका इतना ही साम्राज्य है। पर दूसरी ताक़तों के तजुरबे और दिक़्क़तों से फ़ायदा उठाकर उसने साम्राज्यवाद के पुराने तरीक़े में खूब सुधार कर लिया है। अमेरिकन लोग किसी मुल्क के मिलाने की इल्लत में नहीं पड़ते, जैसे अँग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान को अपने राज्य में मिला रक्खा है। उनको तो अपने माली मुनाफ़े से मतलब है, इसलिए दूसरे मुल्क की दौलत पर क़ब्ज़ा जमाने की तरकीबें निकालते रहते हैं। दौलत पर क़ब्ज़ा करने के बाद, मुल्क की जनता पर और फिर मुल्क पर ही क़ब्ज़ा करना सहज हो जाता है। सो बिना किसी इल्लत या झगडे के ये लोग मुल्कों पर कब्ज़ा करके दौलत में हिस्सा बाँट लेते हैं। इस चालाकी के उपाय को आर्थिक साम्राज्यवाद कहते हैं। नक़शे से इसका पता नहीं चलता। अगर भूगोल की किताब या एटलस में देखो तो मुल्क आज़ाद मालूम होगा। पर अगर परदे को हटाकर देखो तो मालूम होगा कि यह किसी दूसरे ही देश के चंगुल में है, या यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि वहां के साहूकारों और बडे-बडे व्यवसायियों के चंगुल में है। अमेरिका के क़ब्ज़े में जो साम्राज्य है वह इसी तरह का अदृश्य यानी आँखों की ओट में रहनेवाला साम्राज्य है। यह साम्राज्य चाहे नज़रों से ओझल हो, पर है ज़ोरदार। अंग्रेज़ लोग हिन्दुस्तान और जहाँ भी इनका राजनैतिक क़ब्ज़ा है उन सभी मुल्कों में इसी तरह के साम्राज्य को अपने लिए महफ़ूज़ बनाये रखने की कोशिश कर रहे हैं। इस ख़तरे से हमें होशियार हो जाना चाहिए।

ख़ैर; इस अदृश्य आर्थिक साम्राज्य पर ग़ौर करने की अभी ज़रूरत नहीं है; क्योंकि उसका फिलीपाइन का साम्राज्य तो आँखों के सामने ही मौजूद है।

फिलीपाइन में हमारे दिलचस्पी लेने का एक और छोटा-सा और भावुकतापूर्ण कारण भी है। इस वक्त चाहे फिलीपाइन का रूप स्पेनी-अमेरिकन हो, पर वहाँकी पुरानी सभ्यता की बुनियाद हिन्दुस्तानी ही है। हिन्दुस्तानी सभ्यता सुमात्रा और जावा होती हुई वहाँ पहुँची थी। सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक यानी ज़िन्दगी के हर पहलू पर इसका असर हुआ था। हमारे साहित्य के क़िस्से और पौराणिक कथायें इन देशों में पहुँचीं। इनकी ज़बान में बहुतसे संस्कृत के शब्द हैं। इनकी कला, हुनर और क़ानूनों पर हिन्दुस्तान का असर पड़ा है। यहाँतक कि पोशाक और ज़ेवरों पर भी हिन्दुस्तान के निशान ज़ाहिर हैं। तीनसौ साल से ज़्यादा स्पेनियों की

हुकूमत रही। उन्होंने हिन्दुस्तानी तहज़ीब के इन प्रमाणों को मिटाने की पूरी-पूरी कोशिशें कीं। इसीसे इस वक़्त इतने कम निशान मिलते हैं।

स्पेनियों ने इन टापुओं पर १५६५ ई० में ही क़ब्ज़ा कर लिया था। इस तरह एशिया के इन्हीं देशों में योरपवालों ने सबसे पहले क़दम रक्खे। इनका शासन पोर्चुगीज़, डच या ब्रिटिश उपनिवेशों से बिल्कुल ही जुदा होता था। व्यापार को कोई बढ़ावा नहीं दिया जाता था। सरकारें मज़हबी बुनियाद पर बनाई जाती थीं और अधिकारी अक्सर मिशनरी पादरी हुआ करते थे। इसको 'मिशनरियों का साम्राज्य' कहा गया है। जनता की हालत को सुधारने की कोई कोशिश न की जाती थी। बदइन्तज़ामी, जुल्म, भारी महसूलों और मिशनरी कोशिशों के सबब से लोगों को मजबूरन ईसाई मज़हब इख़्तियार करना पड़ा। इस हालत में बलवों का होना लाज़िमी था। तिजारत की ग़रज़ से बहुत-से चीनी लोग भी यहाँ आ बसे थे। ईसाई बनने से इन्कार करने पर उनको सरेआम क़त्ल कर दिया गया। अंग्रेज और डच सौदागरों को यहाँ आने की इजाज़त नहीं थी—कुछ तो इसलिए कि वे स्पेनियों के दुश्मन थे, और कुछ इसलिए कि वे प्रोटेस्टेण्ट ईसाई थे और इसलिए रोमन कैथलिक स्पेनियों की नज़रों में काफ़िर थे।

हालत ख़राब होती गई, लेकिन एक अच्छा नतीजा भी हुआ। इन टापुओं के बिखरे हुए हिस्सों में एका होगया, और उन्नीसवीं सदी में क़ौमियत के ख़यालात जागने लगे। इसी सदी के मध्य में विदेशी व्यापारियों के लिए इस मुल्क के दरवाज़े खोल दिये गये, तालीम और दूसरे महकमों में कुछ सुधार भी हुए और तिजारत की भी तरक्क़ी हुई। फिलीपाइन के लोगों में भी एक मध्यमवर्ग बन गया। स्पेनियों और फिलिपाइनों के बीच विवाह होने के कारण ज्यादातर फिलिपाइनों में स्पेनी ख़ून था। स्पेन को मातृभूमि माना जाने लगा और स्पेनी ख़यालात का प्रचार होने लगा। फिर भी राष्ट्रीयता की भावना बढ़ती गई और जैसे-जैसे दमन हुआ, लोग क्रान्तिकारी होते गये। शुरू में तो स्पेन से अलग होने का कोई ख़याल न था। स्वराज्य की माँग थी और लोग चाहते थे कि स्पेन की कमज़ोर और बेकार पार्लमेण्ट कोर्टे में कुछ प्रतिनिधित्व मिल जाय। ग़ौर करो कि किस तरह हर मुल्क में क़ौमी आन्दोलन नरमी के साथ शुरू हुए, रुके नहीं, ज्यादा-ज्यादा गरम होते गये, और आख़िरकार आज़ादी और बिल्कुल अलग होजाने की माँग करने लगे। अगर आज़ादी की माँग को दबा दो, तो बाद में सूद-दर-सूद के साथ अदा करनी होगी। इसी तरह फिलीपाइन में भी यह माँग बढ़ी; राष्ट्रीय संगठन क़ायम किये गये और गुप्त सभायें भी ख़ूब फैल गईं। 'नौजवान फिलीपाइनो दल' ने, जिसके नेता डा० जोस रिज़ल थे, बड़ा काम किया।

सरकारों को जो तरीक़ा, यानी आतंकवाद का, मालूम है, उसीसे स्पेनी सरकार ने भी आन्दोलन को कुचलना चाहा। रिज़ल और बहुत-से दूसरे नेताओं को १८९६ ई० में मौत की सज़ा दे दी गई।

प्याला भर गया था। स्पेनी सरकार के ख़िलाफ़ खुली बग़ावत मच गई और फिलीपाइनों ने आज़ादी का घोषणा-पत्र निकाल दिया। सालभर तक लड़ाई चलती रही। स्पेनी लोग बलवे को न कुचल सके। इसके बाद काफ़ी सुधारों के वादे पर लड़ाई थमी। लेकिन स्पेन ने १८९८ ई० तक कुछ न किया और दुबारा बग़ावत हो गई।

इसी दरम्यान किसी दूसरे मामले पर अमेरिका की सरकार का स्पेन से झगड़ा हो गया और दोनों देशों के बीच लड़ाई छिड़ गई। अप्रैल १८९८ ई० में अमेरिका के एक जहाज़ी बेड़े ने फिलीपाइन पर हमला किया। बाग़ी फिलीपाइनी नेताओं को उम्मीद थी कि अमेरिका हमारी आज़ादी में मदद करेगा। इसलिए उन्होंने लड़ाई में अमेरिका की मदद की। आज़ादी की घोषणा करके उन्होंने एक प्रजातन्त्री सरकार क़ायम करली। सितम्बर १८९८ ई० में फिलीपाइनो कांग्रेस हुई और नवम्बर के अख़ीर तक नया शासन-विधान बना लिया गया। इधर तो कांग्रेस में नये विधान पर बहस हो रही थी, उधर संयुक्तराष्ट्र से स्पेन पिट रहा था। स्पेन कमज़ोर था, इसलिए साल के अख़ीर तक उसे हार मानकर सुलहनामे पर दस्तख़त करने पड़े। सुलह की शर्तों के मुताबिक़ स्पेन ने अमेरिका के हाथों फिलीपाइन सौंप दिया। यह फ़ैयाज़ी बताने में उसे लगता ही क्या था; क्योंकि फिलीपाइनी बाग़ियों ने स्पेनी सरकार का ख़ात्मा तो पहले ही कर दिया था।

अब संयुक्तराष्ट्र अमेरिका की सरकार ने इन टापुओं पर क़ब्ज़ा करने के लिए क़दम बढ़ाया। फिलीपाइनों ने उसका विरोध किया। उन्होंने यह भी कहा कि तुम्हारे हाथ में सौंपने का स्पेन को कोई हक़ न था, क्योंकि जिस वक़्त सुलह हुई उस वक़्त स्पेन के पास रक्खा ही क्या था? लेकिन यह एतराज़ बेकार रहा। इधर तो लोग अपनी नई जीती हुई आज़ादी के लिए आपस में मुबारिकबादियाँ दे रहे थे; उधर स्पेन से भी कहीं ज़्यादा ताक़तवर एक नया दुश्मन मुक़ाबिले पर आधमका। साढ़े तीन वर्ष तक ये बहादुरी के साथ लड़ते रहे—शुरू के कुछ महीनों तक तो संगठित सरकार की शक्ल में और इसके बाद छापे की लड़ाई के रूप में।

आख़िरकार उपद्रव का दमन करके अमेरिकनों की हुकूमत क़ायम हुई। बहुत-से सुधार किये गये, ख़ासकर शिक्षा में। लेकिन आज़ादी की माँग जारी रही। १९१६ ई० में संयुक्तराष्ट्र की कांग्रेस ने 'जोन्सबिल' नाम का एक बिल पास करके

फिलीपाइनों की चुनी हुई धारासभा को कुछ अधिकार दिया। लेकिन अमेरिकन गवर्नर-जनरल को दख़ल देनें का अधिकार रहा और अक्सर वह इस अधिकार को काम में भी लाता रहा। संयुक्तराष्ट्र के ख़िलाफ़ तो फ़िलीपाइन में बलवे नहीं हुए, पर लोगों को अपनी मौजूदा क़िस्मत से सन्तोष नहीं है। उनका आन्दोलन और आज़ादी की माँग जारी है। अक्सर ठेठ साम्राज्यवादी तरीक़े से अमेरिकन लोग उन्हें विश्वास दिलाते रहते हैं कि हम तो तुम्हारे ही फ़ायदे के लिए यहाँ आये हैं और जैसे ही तुम अपने काम-काज अपने आप सम्हलने के लायक़ हुए कि हम यहाँसे चल देंगे। १९१६ ई० के जोन्सबिल में भी कहा गया था कि "अमेरिका वालों की हमेशा यही ख्वाहिश रही है कि फिलीपाइन में व्यवस्थित शासन क़ायम होते ही अपनी सत्ता उठाली जाय और वहांकी आज़ादी को स्वीकार कर लिया जाय।" फिर भी, अमेरिका में बहुत-से लोग मौजूद हैं जो फिलीपाइन की आज़ादी के सख़्त ख़िलाफ़ हैं।

यह हाल लिखते वक़्त ही अख़बारों में ख़बर आ रही है कि संयुक्तराष्ट्र की कांग्रेस नें एक प्रस्ताव या ऐसी ही कोई घोषणा पास की है कि फ़िलीपाइन को दस साल में आज़ादी देदी जायगी। हाँ, कुछ बन्दिशें ज़रूर लगाई गई हैं। मुझे मालूम नहीं कि ये बन्दिशें या संरक्षण क्या हैं; पर इस लफ़्ज़ 'बन्दिश' या संरक्षण पर मुझे संदेह है। इस लफ़्ज़ में सीधे-सादे परदे के अन्दर हर तरह की बदमाशी के प्रपंच छिपे हुए होते हैं। हिन्दुस्तान के बारे में भी अक्सर इसकी पुकार मचाई जाती है। इसलिए हम जानते हैं कि इसके असली मानी क्या हैं।

फिलीपाइन में संयुक्तराष्ट्र के कुछ आर्थिक स्वार्थ हैं। उन्हींकी रक्षा की उसे फिक्र है। ख़ासकर रबर की खेती की तरफ़ उसकी नज़र है, क्योंकि यही एक ऐसी ज़रूरी चीज़ है जो उसके यहाँ पैदा नहीं होती। लेकिन मेरे ख़याल से इन टापुओं पर कब्ज़ा रखने का असली मतलब है जापान का डर। जापान फ़िलीपाइन के बिल्कुल नज़दीक है और जापान की बढ़ती हुई आबादी में भी उफान आ रहा है। अमेरिका और जापान की सरकारों में कोई मुहब्बत भी नहीं है। इसलिए फ़िलीपाइन के भविष्य का सवाल पेसिफ़िक (प्रशान्त) सागर की ताक़तों और उनके आपसी ताल्लुक़ात का सवाल है। ख़ैर; हमें उन मामलों में जाने की यहाँ ज़रूरत नहीं।

: १२२ :

तीन महाद्वेशों का संगम

१६ जनवरी, १९३३

नये साल के दिन जो ख्वाहिशें मैंने जाहिर की थीं, उनमें से एक तो इतनी जल्द पूरी भी हो गई कि एक पखवाडे पहले पिछला ख़त लिखते वक्त मुझे उसका गुमान भी न था। इतनी लम्बी इन्तज़ार के बाद आख़िर तुमसे मुलाक़ात हुई। तुम्हें एक मर्त्तबा फिर देखा। तुम्हें और दूसरे लोगों को देखकर जो ख़ुशी और सनसनी कई रोज़ तक मेरे दिल में भरी रही, उसने मेरे रोज़ाना के काम में गड़बड़ डाल दी और मामूली बातों में भी मुझे लापर्वाह-सा कर दिया। मुझे ऐसा लगा कि कोई त्योहार आगया हो। हमारी मुलाक़ात को चार ही रोज़ तो हुए हैं, पर कितना वक़्त गुज़र गया मालूम होता है! मैं तो आयन्दा की भी सोचने लगा हूँ। पता नहीं अब कब और कहाँ मिलना हो।

ख़ैर, जेल का कोई क़ानून मुझे ख़याली पुलाव पकाने से नहीं रोक सकता। मैं इन ख़तों का सिलसिला जारी रक्खूँगा।

कुछ अरसे से मैं तुम्हें उन्नीसवीं सदी का हाल बताता रहा हूँ। पहले तो मैंने इस सदी पर सरसरी नज़र डाली। मोटे तौर से नैपोलियन के पतन के बाद के १०० वर्षों का मैंनें हाल बयान किया है। उसके बाद हमनें कई मुल्कों पर बारीकी से ग़ौर करना शुरू किया। हिन्दुस्तान, चीन, जापान और सबके बाद वृहत्तर भारत और ईस्ट-इंडीज़ की हमनें ख़ूब सैर की। इस तरह इस सैर में हम एशिया के एक हिस्से को देख सके हैं। अभी बाक़ी दुनिया बची हुई है। क़िस्सा बहुत लम्बा है। इसको साफ़-साफ़ नज़र में रखना आसान नहीं है। मुझे एक-एक करके अलग-अलग देशों और महा-देशों का हाल कहना है। जुदा-जुदा मुल्कों का हाल कहने में मुझे बार-बार उसी युग की तरफ़ लौटना होता है। इसलिए कुछ उलझन हो जाना लाज़िमी है। फिर भी याद रक्खो कि उन्नीसवीं सदी की ये घटनायें समकालिक थीं यानी बहुत करके एक ही वक्त में हुईं। उन्होंने एक-दूसरे पर असर डाला और एक-दूसरे पर उनकी प्रतिक्रिया भी होती रही। इसलिए, किसी देश के इतिहास को अलग लेकर अध्ययन करने से धोखा हो सकता है। कुल दुनिया के इतिहास से ही हमें उन घटनाओं और शक्तियों के महत्व का ठीक अंदाज़ मिल सकता है, जिन्होंने गुज़रे हुए ज़माने का निर्माण किया और उसे वर्त्तमान का रूप दिया। ये ख़त इस तरह का इतिहास पेश करने का दावा नहीं करते। यह काम मेरी ताक़त से बाहर है। फिर इस मज़मून की किताबों की भी कमी नहीं है। मैंने तो सिर्फ़ तुम्हारी तबियत को इस तरफ़ लगाने की कोशिश-भर की है।

मैंने दुनिया के इतिहास के कुछ ही पहलू दिखाये हैं, और तुम्हें आदिम जमाने से आजतक की इनसानी कारगुजारियों के सूत्र के साथ-साथ ले चलने की ही मेरी ख्वाहिश रही है। पता नहीं कि मैं कहाँतक कामयाब हो सका हूँ। कहीं ऐसा न हो कि मेरी मेहनत का नतीजा सिर्फ़ एक गड़बड़झाला ही हो, जो सही फ़ैसला करने में तुम्हें मदद देने के बजाय उलटा उलझन में डाल दे।

योरप उन्नीसवीं सदी की संचालक-शक्ति यानी चलानेवाली ताक़त था। वहाँ राष्ट्रीयता का जोर था, और अक्सर उद्योगवाद दुनिया के दूर-दूर कोनों तक पहुँचकर साम्राज्यवाद की शक्ल ले रहा था। इस सदी का जो मुख़्तसर बयान हमने शुरू में किया था, उसमें हम यह देख चुके हैं। हमने हिन्दुस्तान और पूर्वी एशिया में साम्राज्यवाद के प्रभाव को जरा विस्तार से देखा है। अब योरप की तरफ़ चलने से पहले मैं तुमको जरा पश्चिमी एशिया की भी सैर करा देना चाहता हूँ। बहुत देर से इस हिस्से को मैं छोड़ता आरहा हूँ, जिसका ख़ास कारण यह है कि मुझे इसका बाद का इतिहास मालूम नहीं है।

पूर्वी एशिया और हिन्दुस्तान से पश्चिमी एशिया बिल्कुल ही जुदा है। बहुत जमाना हुआ, मध्य-एशिया और पूर्व से कुछ जातियाँ और क़बीले आकर यहाँ बस गये थे। ख़ुद तुर्क लोग इसी तरह आये थे। ईसाई-काल से पहले ठेठ एशियामाइनर तक बौद्ध धर्म फैला हुआ था, लेकिन वह वहां जड़ जमा सका हो ऐसा नहीं लगता। इन पिछली सदियों में पश्चिमी एशिया की नजर एशिया या पूर्व की बनिस्बत योरप पर ज्यादा लगी रही। इस तरह यह हिस्सा योरप की तरफ़ एशिया का झरोखा हो रहा था। एशिया के मुख़्तलिफ़ हिस्सों में इस्लाम के फैलने से भी इनके पश्चिमी ख़यालात में कुछ फर्क़ न आया।

हिन्दुस्तान, चीन और दूसरे पड़ौसी मुल्कों ने योरप को इन नजरों से कभी नहीं देखा था। वे एशियाई ख़यालात में ही लिपटे रहे। हिन्दुस्तान और चीन के बीच बड़ा फ़र्क़ ख़ून, ख़यालात और सभ्यता का है। चीन कभी मजहब का गुलाम नहीं रहा, न कभी वहाँ पुजारियों-पुरोहितों का ही सिक्का चला। हिन्दुस्तान को हमेशा अपने धर्म का फ़ख़्र रहा है। उसके समाज पर हमेशा पण्डे-पुजारी और पुरोहित लदे रहे हैं, हालाँकिबुद्ध ने उसे इस बोझे से छुड़ाने की हरचन्द कोशिश भी की। हिन्दुस्तान और चीन में और भी कई फ़र्क़ थे। फिर भी तारीफ़ यह कि हिन्दुस्तान और पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया के बीच ख़ूब एका बना रहा। इस एके को जोड़नेवाले डोरे बौद्ध धर्म-ग्रन्थ हैं, जिन्होंने इन जातियों को आपस में बाँधकर साहित्य-संगीत-कला की बहुत-सी समानतायें ला मौजूद कीं।

इस्लाम से हिन्दुस्तान में बहुत-कुछ पश्चिमीएशियापन आगया। यह एक जुदा संस्कृति थी; जीवन का अलग ही दृष्टिकोण था। लेकिन हिन्दुस्तान में पश्चिमी एशियापन बाला-बाला या अपनी असली शक्ल में नहीं आया, जैसा कि अगर अरब वाले फ़तह करते तो होता। यहाँ यह दौर बहुत दिन बाद और वह भी मध्यएशिया की जातियों की मार्फत आया, जो उसकी सर्वोत्तम प्रतिनिधि न थीं। ख़ैर, इस्लाम नें हिन्दुस्तान को पश्चिमी एशिया से जोड़ दिया। इस तरह यह देश दो बडी सभ्यताओं के संगम की जगह बन गया। इस्लाम चीन में भी पहुँचा और बडी तादाद में लोगों नें इसे मंजूर कर लिया। पर इसने चीन की पुरानी सभ्यता को चुनौती कभी न दी। हिन्दुस्तान में यह चुनौती इसलिए दी गई थी कि इस्लाम बहुत अरसे तक शासन करनेवाले वर्ग का मजहब था। इस तरह हिन्दुस्तान वह मुल्क होगया जहाँ दो सभ्यतायें एक-दूसरे के मुक़ाबिले में खडी हुई। मैं तुमको उन तमाम कोशिशों का हाल लिख ही चुका हूँ जो इस मुश्किल सवाल को हल करने के लिए की गईं। ज्यादातर इन कोशिशों में कामयाबी मिली। पर अंग्रेजों की फ़तह की शक्ल में एक नया खतरा, एक नई रुकावट आ मौजूद हुई। आज इन दोनों पुरानी सभ्यताओं ने अपना पुराना उद्देश्य खो दिया है। राष्ट्रीयता और बडी मशीनों के उद्योगवाद ने दुनिया को बदल दिया है। नई आर्थिक परिस्थितियों में ठीक बैठ सकें, तभी पुरानी संस्कृतियों की गुजर है। उनका ऊपरी खोल बच रहा है, असली मानी या तात्पर्य जाते रहे हैं। खुद इस्लाम की जन्मभूमि पश्चिमी एशिया में बडी-बडी तब्दीलियाँ हो रही हैं। चीन और सुदूरपूर्व बराबर उथल-पुथल की हालत में हैं। हिन्दुस्तान में हम खुद देख रहे हैं कि क्या हो रहा है।

पश्चिमी एशिया का हाल लिखे इतने दिन हो गये कि अब किस्से के तार को पकड़ना मुशकिल-सा हो रहा है। तुम्हें याद होगा कि मैंने बग़दाद के महान् अरब साम्राज्य का हाल बताया था, कि किस तरह तुर्कों के (ये तुर्क सेलजूक़ तुर्क थे, उस्मानी नहीं) मुक़ाबिले में यह साम्राज्य गिरा और अन्त में चंगेजख़ाँ के मंगोलों ने इसे बिल्कुल बरबाद कर दिया। मंगोलों ने ख्वार्जम के साम्राज्य का भी खात्मा कर दिया, जो मध्य-एशिया तक फैला हुआ था और जिसमें फारस भी शामिल था। इसके बाद तैमूरलंग आया और थोडी-सी फ़ौजी नामवरी और क़त्लेआम के जमाने के बाद ग़ायब हो गया। लेकिन पश्चिम की तरफ़ एक नया साम्राज्य उदय हो रहा था, जो कि तैमूर की हार के बावजूद फैलता जारहा था। यह साम्राज्य उस्मानी तुर्कों का था, जिन्होंने फ़ारस के पश्चिम में एशिया, मिस्र और दक्षिण-पूर्वी योरप के खासे हिस्से पर क़ब्ज़ा जमा लिया था। कई पुश्तों तक इनसे योरप को डर लगता रहा

यह भूमध्यसागर से घिरा हुआ है, जिसने एशिया, योरप और अफ़रीक़ा को एक-दूसरे से अलग भी किया है और जोड़ा भी है। पुराने ज़माने में तो यह जोड़नेवाली कड़ी बहुत मज़बूत थी। भूमध्यसागर के किनारे के देशों में बहुत-सी बातें एक-सी थीं। इसीके आसपास योरप की सभ्यता शुरू हुई थी। पुराने यूनान देश ने इन्हीं तीनों महा-देशों के किनारे के टापुओं की क़तार में उपनिवेश बसाये थे। रोमन साम्राज्य इसी-के इर्द-गिर्द फैला था। इसी इलाक़े में ईसाइयत का बचपन गुज़रा है; अरब लोग भी अपनी तहज़ीब को सिसली के पूर्वी किनारे से शुरू करके पश्चिम में ठेठ स्पेन तक लेगये हैं और वहाँ ७०० वर्ष तक बने रहे हैं।

अब हमें मालूम होगया कि भूमध्यसागर के तटवाले एशिया के देशों का दक्षिणी योरप और उत्तरी अफ़रीक़ा से कैसा गहरा सम्बन्ध है। पश्चिमी एशिया पुराने ज़माने में एशिया और दूसरे दोनों महादेशों के बीच ज़बरदस्त कड़ी की तरह था। हाँ, इस तरह की कड़ियों की अगर तलाश की जाय तो तमाम दुनिया में मिल जायँगी। पर संकुचित राष्ट्रीयता के कारण हम संसार की एकता और देशों के सामान्य हितों की जगह अलग-अलग देशों का ज्यादा ख़याल करने लगे हैं।

: १२३ :

पीछे की तरफ़ एक नज़र

१९ जनवरी, १९३३

हाल ही में मैंने दो किताबें पढ़ी हैं, जिससे मुझे बड़ी ख़ुशी हुई है। मैं चाहता हूँ कि इन किताबों में तुम्हें भी शरीक करलूं। ये दोनों एक फ्रांसीसी और पेरिस के 'म्यूज़ी गाइमे' के संचालक रेने ग्राउज़े की लिखी हुई हैं। क्या तुमने कभी इस पूर्वी और ख़ासकर बौद्धकला के ख़ुशनुमा अजायबघर की सैर की है। मुझे याद नहीं पड़ता कि तुम मेरे साथ वहाँ गई थीं। श्री ग्राउज़े ने चार जिल्दों में पूर्वी यानी एशियाई सभ्यता का सिंहावलोकन लिखा है और हिन्दुस्तान, मध्यपूर्व (यानी पश्चिमी एशिया और फ़ारस), चीन और जापान की सभ्यताओं का बयान एक-एक जिल्द में अलग-अलग किया है। कला में दिलचस्पी होने के कारण उन्होंने इस किताब को विभिन्न कलाओं के विकास के दृष्टिकोण से लिखा है और सुन्दर तस्वीरें भी बड़ी तादाद में दी हैं। इस तरह इतिहास सीखना, बादशाहों के लड़ाई-झगड़ों और साजिशों के हाल पढ़ने से, कहीं बेहतर और दिलचस्प है।

मैंने श्री ग्राउज़े की सिर्फ़ दो जिल्दें पढ़ी हैं, जिनमें हिन्दुस्तान और मध्यपूर्व का

हाल है। इनसे मुझे बडी ख़ुशी हुई है। ख़ूबसूरत इमारतों और बढ़िया मूर्त्तियों की तस्वीरें और खुदाई व पच्चीकारी के नमूनें मुझे देहरादून-जेल से निकालकर दूर-दूर के मुल्कों और पुराने गुज़रे हुए जमाने में लेगये हैं।

बहुत दिन हुए, मैंने तुम्हें उत्तर-पश्चिम हिन्दुस्तान में सिन्ध की घाटी के मोहेनजोदारो और हरप्पा का हाल लिखा था, जो ५०००, वर्ष पुरानी सभ्यता के खण्ड-हर हैं। उस पुरानें ज़माने में जब मोहेनजोदारो फूलता-फलता था और वहाँ लोगों की चहल-पहल, खेल-तमाशे हुआ करते थे, तब सभ्यता के और भी बहुत-से केन्द्र थे। हमारी जानकारी बहुत थोडी है। एशिया और मिस्र के भिन्न-भिन्न हिस्सों में जो थोडे-बहुत खण्डहर मिले हैं, उनतक ही यह महदूद है। अगर जगह-जगह गहरी और दूरतक खुदाई का काम हो तो ऐसे और भी खण्डहर मिल सकते हैं। लेकिन अब हम जानते हैं कि मिस्र में नील की घाटी, कैल्डिया (मैसोपोटामिया) जहाँ एलम की रियासत की राजधानी सूसा थी, पूर्वी फारस के पर्सीपोलिस, मध्य-एशिया के तुर्कि-स्तान में और चीन की ह्वांग-हो या पीली नदी के किनारों पर उन दिनों एक ऊँचे दर्जे की सभ्यता फैली हुई थी।

यह वही ज़माना था जब कि ताँबा इस्तेमाल में आने लगा था और चिकने पत्थर का वक़्त ख़त्म हो रहा था। ऐसा मालूम होता है कि चीन से लगाकर मिस्र तक के तमाम देश इसी अवस्था से गुज़र रहे थे। ताज्जुब तो यह है कि ऐसे सबूत मिल रहे हैं कि एक ही सभ्यता एशियाभर में फैली हुई थी, जिनसे ज़ाहिर होता है कि सभ्यता के ये विभिन्न केन्द्र पृथक् या विच्छिन्न नहीं थे बल्कि एक-दूसरे से जुडे हुए थे। खेती फूलती-फलती थी, मवेशी पाले जाते थे और कुछ तिजारत भी होती थी। लिखने का हुनर भी निकल गया था। लेकिन चित्र-लिपि अभीतक पढ़ी नहीं जा सकी हैं। बहुत दूर-दूर जगहों में एक तरह के औज़ार पाये गये हैं और कला की चीज़ों में भी विचित्र समानता है। विचित्र और नक्क़ाशी किये हुए मिट्टी के बर्त्तन व हर तरह के काम और नमूनों के ख़ूबसूरत गुलदान हमारे ध्यान को खींच् लेते हैं। ये मिट्टी के बर्तन इतने ज्यादा पाये जाते हैं कि इस तमाम काल का ही नाम 'नक्क़ाशीदार मिट्टी के बर्त्तनों की सभ्यता' पड़ गया है। उस ज़माने में सोने-चाँदी के ज़ेवर, सेलखडी और संगमरमर के बर्त्तन और रुई के कपडे तक बनते थे। मिस्र से सिन्ध नदी की घाटी और चीन तक की सभ्यता के हरेक केन्द्र में कोई-न-कोई ख़ास बात ज़रूर होती थी और हर जगह की सभ्यता स्वतंत्ररूप से खडी हुई थी, लेकिन फिर भी इन सबके अन्दर एक ही तरह की और मिलती-जुलती सभ्यता का तार पाया जाता था।

इस बात को गुज़रे, मोटे तौर से, ५,००० वर्ष हो गये हैं। लेकिन यह साफ़ ज़ाहिर है कि ऐसी सभ्यता किसी पहली सभ्यता की ही उन्नत शक्ल रही होगी, और इसके बनने में हज़ारों वर्ष लगे होंगे। नील की घाटी और कैल्डिया में इसका पता और भी २,००० वर्ष पहले से लग सकता है। दूसरे केन्द्र भी शायद इतने ही पुराने हैं।

ईसा से ३,००० वर्ष पहले के इस मोहेनजोदारो-काल की, आरम्भिक ताम्रयुग की, दूर तक फैली हुई आम सभ्यता से एशिया की चारों बड़ी सभ्यतायें निकलीं, फैलीं और अलग-अलग ढंग पर उन्नत हुईं। ये चारों मिस्री, इराक़ी, हिन्दुस्तानी और चीनी सभ्यतायें थीं। इसी पिछले काल में मिस्र के महान् पिरामिड और गीज़ा का महान् स्फिंक्स बने। इसके बाद मिस्र में थीबन-युग आया, जब ईसा से २,००० वर्ष पहले और उसके बाद भी थीबन-साम्राज्य फूला-फला और अद्भुत मूर्त्तियाँ बनीं और दीवारों पर खुदाई हुई। कला के पुनरुत्थान यानी नये दौर का यह बड़ा ज़बरदस्त ज़माना था। इसी काल के आसपास लक्सर का विशाल मन्दिर बना। तूतानख़ामन एक थीबन बादशाह या फेरो था, जिसका नाम तो हरेक आदमी को मालूम है पर उसके बारे में जानकारी कुछ नहीं है।

कैल्डिया में संगठित ताक़तवर राज्य दो जगहों पर, यानी सुमेर और अक्कद में, बने। कैल्डिया का उर शहर मोहेंनजोदारो के ही समय में कला के आला दर्जे के नमूने तैयार कर रहा था। क़रीब ७०० साल तक सिरताज बने रहने के बाद उर गिरा दिया गया। अब बैबीलन के लोगों ने, जो सेमेटिक (यानी अरबों या यहूदियों के समान) ख़ून के थे, सीरिया से आकर नई हुकूमत क़ायम की। इस नये साम्राज्य का केन्द्र अब बैबीलन का शहर हो गया, जिसका हवाला बाइबिल में बार-बार आता है। इस ज़माने में भी साहित्य का पुनरुत्थान हुआ और महाकाव्य बने और गाये गये। अन्दाज़ किया जाता है कि इन महाकाव्यों में दुनिया के बनने और क़यामत के तूफ़ान के क़िस्से थे, जिनके ऊपर बाइबिल के शुरू के अध्याय लिखे गये हैं।

बैबीलन का भी पतन हुआ और उसके कईसौ वर्ष बाद (१,००० वर्ष ईसा से पूर्व और उसके बाद) असीरिया के लोग मैदान में आये और निनेवा को राजधानी बनाकर उन्होंने एक नया साम्राज्य क़ायम किया। ये बड़े असाधारण लोग थे— बेहद ज़ालिम और वहशी। इनकी सारी शासन-प्रणाली आतंकवाद पर खड़ी थी। तमाम मध्य-पूर्व (Middle East) के ऊपर इन्होंने ख़ून और तबाही के ज़ोर से साम्राज्य बना रक्खा था। ये लोग उस ज़माने के साम्राज्यवादी थे। लेकिन ख़ूँख़ार जानवरों के समान ये लोग कई बातों में बड़े सभ्य भी थे। निनेवा में एक बड़ा पुस्त-

कालय संगठित किया गया था, जिसमें हर क़िस्म के ज्ञान की किताबें थीं। पर यह बताऊँ कि यह पुस्तकालय काग़ज़ी किताबों का नहीं था। उस ज़माने की किताबें पत्थर की सिलों पर लिखी जाती थीं। निनेवा के पुराने पुस्तकालय के हज़ारों शिला-लेख इस वक़्त लन्दन के ब्रिटिश अजायबघर में मौजूद हैं। कई तो बहुत ही ख़ौफ़नाक हैं। उनमें बादशाह ने बहुत विस्तार के साथ बयान किया है कि दुश्मनों पर कैसे-कैसे ज़ुल्म किये गये और उनसे कैसा मज़ा मिला!

हिन्दुस्तान में मोहेनजोदारो-काल के बाद आर्य लोग आये। अबतक उनके शुरू के दिनों का कोई खण्डहर या मूर्त्ति नहीं मिली है। हाँ, उनकी सबसे बड़ी यादगार उनके पुराने ग्रन्थ—वेद वग़ैरा—हैं, जिनसे हिन्दुस्तान के मैदान में आनेवाले इन ख़ुशदिल सूरमाओं की तबीयत और दिमाग़ का पता चलता है। ये ग्रन्थ प्रकृति की ज़बरदस्त कविता से भरे हुए हैं। उनके देवता प्रकृति के देवता हैं। यह स्वाभाविक ही था कि जब कला की तरक़्क़ी हुई तो प्रकृति के प्रेम ने उसमें महत्त्वपूर्ण हिस्सा लिया। भोपाल के पास साँची के फाटक अबतक पाये जानेवाले सबसे पुराने खण्डहरों में से हैं। उनका समय आरम्भिक बौद्ध-युग है। इन फाटकों के ऊपर जो फूल-पत्ते और जानवरों की शक्लें खुदी हुई हैं उनसे हमें इनके बनानेवाले कारीगरों के प्रकृति-प्रेम और परख का पता लगता है।

इसके बाद उत्तर-पश्चिम की ओर से यूनानी असर आया। यह तो तुम्हें याद होगा कि सिकन्दर के बाद यूनानी साम्राज्य ठेठ भारत की सरहद तक फैल गया था। फिर कुशनवंश का सरहदी साम्राज्य प्रकट हुआ। उसपर भी यूनानियों का प्रभाव था। बुद्ध मूर्त्ति-पूजा के विरोधी थे। वह अपनेआपको देवता नहीं कहते थे, न अपनी पूजा ही कराना चाहते थे। उनका उद्देश्य उन ख़राबियों से समाज का पिण्ड छुड़ाना था, जो पोपलीला के कारण घुस आई थीं। वह पतितों और दीन-दुःखियों के उद्धार की कोशिश करनेवाले एक सुधारक थे। बनारस के पास सारनाथ अथवा इसीपत्तन में उनका जो प्रथम उपदेश हुआ उसमें उन्होंने कहा था कि "मैं अज्ञानियों को ज्ञान से तृप्त करने आया हूँ······। जबतक कोई मनुष्य प्राणियों के हित के लिए जान न लड़ा दे, परित्यक्तों को सान्त्वना यानी तसल्ली न दे, तबतक वह पूर्ण नहीं हो सकता।······मेरा सिद्धान्त करुणा का सिद्धान्त है। इसी कारण दुनिया में जो लोग ख़ुशहाल हैं, वे मेरे सिद्धान्त को मुश्किल समझते हैं। निर्वाण का रास्ता सबके लिए खुला हुआ है। ब्राह्मण भी उसी तरह स्त्री के गर्भ से पैदा हुआ है जैसे कि चाण्डाल, जिसके लिए उस (ब्राह्मण) ने मोक्ष का द्वार बन्द कर रक्खा है। बांस के झोंपड़े को कुचल डालनेवाले हाथी के समान तुम भी अपने विकारों को

नष्ट कर दो। पापों से रक्षा का एकमात्र उपाय 'आर्यसत्य' है।" इस प्रकार बुद्ध ने जीवन के सत्य मार्ग और सदाचरण—अष्टांगिक मार्ग[१]—का उपदेश किया। लेकिन गुरु के उपदेशों के भीतरी अर्थों को न समझनेवाले मूर्ख चेलों का जैसा क़ायदा होता है, उसी तरह बुद्ध के अनुयायियों ने उनके बनाये आचार-व्यवहार के ऊपरी नियमों को तो ख़ूब पाला पर उनका भीतरी अर्थ नहीं समझा। उनके उपदेशों पर चलने के बजाय वे उनकी पूजा करने लगे। फिर भी बुद्ध की कोई मूर्त्ति उन्होंने नहीं बनाई।

इसके बाद ग्रीस और दूसरे यूनानी देशों के विचार यहाँ भी आने लगे। इन देशों में देवताओं की सुन्दर-सुन्दर मूर्त्तियाँ बनाकर पूजी जाती थीं। हिन्दुस्तान के उत्तर-पश्चिम में गान्धार देश में यूनान का यह असर सबसे ज्यादा था। वहाँ 'शिशु-बुद्ध' की मूर्त्तियाँ बनने लगीं। उनके अपने छोटे और ख़ूबसूरत देवता कामदेव (Cupid) या बाद के शिशु ईसा की भाँति, वह इटालियन भाषा का Sacrobambino यानी 'पवित्र शिशु' था। इसतरह बौद्ध-धर्म में मूर्त्तिपूजा की शुरुआत हुई और यहाँतक बढ़ी कि हरेक बौद्ध-मन्दिर में बुद्ध की मूर्त्ति दिखाई देने लगी।

ईरान अथवा फ़ारस का भी प्रभाव भारतीय कला पर पड़ा। बुद्ध के क़िस्सों और हिन्दुओं की पौराणिक कथाओं से कलाकारों को ख़ूब मसाला मिल गया। पत्थर में खुदी हुई अथवा रंगों से चित्रित इन कथाओं को तुम आन्ध्र देश में अमरावती में, बम्बई के पास एलिफेण्टा की गुफाओं में, और एलोरा और अजन्ता में देख सकती हो। ये स्थान भी अजीब सैर की जगहें हैं, मैं चाहता हूँ कि हिन्दुस्तान का हरेक लड़का और लड़की इन जगहों में से कम-से-कम कुछ को तो जरूर देखे।

हिन्दुस्तान की पौराणिक कथायें समुद्र को पार करके विशाल या बृहत्तर भारत में भी जा पहुँची। जावा के बोरोबुदुर स्थान पर सारी-की-सारी जातक बुद्धकथा पत्थर में खुदी हुई चित्रमाला के रूप में मिलती है। अंगकोरवात के खण्डहरों में बहुत-सी ऐसी मूर्त्तियाँ मौजूद हैं, जिनको देखकर हमें आठसौ वर्ष पहले के जमाने का स्मरण हो आता है जबकि पूर्वी एशिया में यह नगर 'ऐश्वर्यशाली या शानदार अंगकोर' के नाम से मशहूर था। इन मूर्त्तियों की बनावट नाजुक है और ये जीती-जागती-सी मालूम होती हैं। उनपर एक भुलावे में डालनेवाली अजीब मुस्कराहट छाई हुई है, जो 'अंगकोर की मुस्कराहट' के नाम से मशहूर है। कितनी ही सदियाँ बीत चुकी हैं और वहांकी जातियों का अब वह पुराना ख़ून भी बदल गया है, लेकिन वह मुस्कराहट वैसी ही बनी हुई है और पुरानापन या रसहीनता नहीं आई है।

१. "आर्यसत्य" और "अष्टांगिक मार्ग" बौद्ध धर्म के मुख्य सिद्धान्त हैं। 'सस्ता साहित्य मण्डल' से प्रकाशित 'बुद्धवाणी' में इनका अच्छा परिचय दिया हुआ है।

कला अपने काल के जीवन और सभ्यता का सच्चा दर्पण है। जब भारतीय सभ्यता जीवन से भरी-पूरी थी, तब यहाँ सौन्दर्य की वस्तुओं का निर्माण हुआ, कला लहलहाई और उसकी गूंज दूर-दूर के देशों में भी पहुँची। लेकिन तुम्हें मालूम है, सड़ान और पतन शुरू होगये; देश जैसे-जैसे खण्ड-खण्ड होता गया, कला भी गिरती गई। उसकी स्फूर्त्ति और प्राणशक्ति नष्ट होगई और ज़रूरत से कहीं ज्यादा-से ज्यादा बारीकियाँ और सजावट उनपर लाद दी गई—यहाँतक कि ये ज्यादतियाँ बेहूदा मालूम होने लगीं। मुसलमानों के आगमन ने इन्हें हिला दिया और नये असर ने अनावश्यक सजावट से भारतीय कला को आज़ाद किया। ज़मीन पुराने भारतीय आदर्श की ही रही, पर उसको अरब और फ़ारस का सादा और नया सुदर्शन वस्त्र पहना दिया गया। पुराने ज़माने में हिन्दुस्तान से हज़ारों कला-पंडित मध्य-एशिया में गये थे। अब पश्चिम-एशिया से शिल्पकार और चित्रकार भारत में आये। फ़ारस और मध्य-एशिया में कला का महान् पुनरुत्थान हो चुका था; कुस्तुनतुनिया में महान् शिल्पकारों के हाथों बडी-बडी आलीशान इमारतें बन रही थीं। इसी ज़माने में इटली में भी 'रिनैसाँ' शुरू होगया था। वहाँ भी झुण्ड-के-झुण्ड कलाकारों ने सुन्दर भवनों और मूर्त्तियों का निर्माण आरम्भ कर दिया था।

सीनन उस ज़माने का मशहूर तुर्की शिल्पकार था। बाबर ने उसीके प्यारे शागिर्द यूसुफ़ को बुलवाया था। ईरान के महान् चित्रकार का नाम बिहज़ाद था। उसके कई शागिर्दों को बुलाकर अकबर ने अपने दरबार में चित्रकार बनाया। शिल्प और चित्रकला दोनों में ही फारसी प्रभाव की प्रधानता नज़र आने लगी। मुग़ल हिन्दुस्तान की इस भारतीय मुस्लिम कला (Indo-Moslem Art) पर बनी हुई कुछ इमारतों का ज़िक्र मैंने किसी पिछले ख़त में किया है। कितनी ही को तुमने देखा भी होगा। इस भारतीय-ईरानी कला की सबसे बडी विजय ताजमहल है। बहुतसे बडे-बडे कलाकारों की मदद से यह बना। कहते हैं कि प्रधान शिल्पी उस्ताद ईसा कोई तुर्क या ईरानी था और उसकी मदद के लिए कई भारतीय शिल्पी थे। ख़याल किया जाता है कि कुछ यूरोपियन कलाकारों, ख़ासकर एक इटालियन, ने अन्दर की सजावट का काम किया। इतने सारे भिन्न-भिन्न महान् कलाकारों के होने पर भी, इस इमारत में कोई बदरंग या विरोधी बात नहीं है। ये तमाम प्रभाव मिलकर एक आश्चर्यजनक सामञ्जस्य पैदा कर रहे हैं। ताजमहल में हज़ारों ही आदमियों ने काम किया है। लेकिन दो प्रभावों की प्रधानता है यानी फ़ारसी और हिन्दुस्तानी। इसीलिए श्री ग्राउज़ ने कहा है कि "भारत के शरीर में ईरान की आत्मा ने अवतार लिया है।"

: १२४ :

ईरान की पुरानी परम्पराओं की दृढ़ता

२० जनवरी, १९३३

आओ, अब फ़ारस की तरफ़ चलें। इसी देश के बारे में कहा जाता है कि इसकी आत्मा भारत में आई और उसको ताजमहल के रूप में उचित शरीर मिला। फ़ारसी कला की परम्परा भी ध्यान देने के क़ाबिल है। यह परम्परा ठेठ असीरियनों के ज़माने से, यानी २,००० वर्ष से भी अधिक समय तक, डटी रही है। राज्य और राज्य-वंश बदले हैं, धर्म में तब्दीलियाँ हुई हैं, देश पर विदेशी हुकूमत भी रही है, और स्वदेशी भी, इस्लाम ने भी आकर ख़ूब इन्क़लाब किया है, लेकिन यह परम्परा बनी रही है। हाँ, सदियों के अन्दर इसमें परिवर्तन और विकास भी हुआ है। परम्परा के इस प्रकार बने रहने के कारण फ़ारसी कलाका फ़ारस की ज़मीन और दृश्यों के साथ सम्बन्ध होना बताया जाता है।

इस ख़त के शुरू में मैंने निनेवा के असीरियन साम्राज्य का नाम लिया है। इस साम्राज्य में फ़ारस भी शामिल था। ईसा से पाँच-छः सौ बरस पहले ईरानी लोगों ने, जो कि आर्य होते थे, निनेवा पर क़ब्ज़ा करके असीरियन साम्राज्य का ख़ात्मा कर दिया। फिर इन फ़ारसी आर्यों ने सिन्ध नदी के किनारे से लेकर ठेठ मिस्र तक एक विशाल साम्राज्य क़ायम किया। पुरानी दुनिया पर वे हावी थे। यूनानी इतिहास में उनके बादशाहों के लिए 'शहंशाह आज़म' शब्द इस्तेमाल किया गया है। इन बड़े शहंशाहों में से कुछ के नाम साइरस (सीरा), डेरियस (दारा) और ज़ेरक्सीज़ हैं। तुम्हें याद होगा कि दारा और ज़ेरक्सीज़ ने यूनान को जीतने की कोशिश की और शिकस्त खाई। यह ख़ानदान एकेमेनीद ख़ानदान कहलाता था। इसका राज्य २२० वर्ष तक रहा और अख़ीर में मक़दूनिया के सिकन्दर महान् ने इसका ख़ात्मा कर दिया।

असीरिया और बैबीलोन कालों के बाद फ़ारसवालों के आने से जनता को बड़ी राहत मिली होगी। ये स्वामी बड़े सभ्य और सहिष्णु थे। भिन्न-भिन्न धर्मों और सभ्यताओं को इन्होंने पनपने दिया। इनके विशाल साम्राज्य का इन्तज़ाम बहुत बढ़िया था। आमदरफ्त की सहूलियत के लिए उम्दा सड़कों का तमाम देश पर जाल-सा बिछा हुआ था। इन फ़ारसी आर्यों का हिन्दुस्तान में आनेवाले भारतीय आर्यों से निकट का सम्बन्ध था। इनका धर्म, जोरोस्टर अथवा ज़रथुस्त का धर्म, आरम्भिक वैदिक धर्म से मिलता-जुलता था। ऐसा लगता है कि दोनों की जन्मभूमि आर्यों के आदिम वासस्थान में एक ही रही होगी, चाहे वह कहीं भी हो।

एकेमेनीद बादशाह इमारतें बनवाने के बड़े शौक़ीन थे। अपनी राजधानी पर्सी पोलिस में उन्होंने मन्दिर तो नहीं पर विशाल महल बनवाये थे, जिनमें खम्भों पर खड़े हुए बड़े-बड़े हाल होते थे। इन ज़बरदस्त इमारतों का थोड़ा-बहुत ख़याल अबतक बचे हुए खण्डहरों से किया जा सकता है। ऐसा जान पड़ता है कि एकेमेनीदी कला का सम्बन्ध अशोक वग़ैरा मौर्यों की कला के साथ रहा होगा और उसपर उसका प्रभाव भी पड़ा होगा।

सिकन्दर ने दारा महान् को हराकर एकेमेनीद ख़ानदान का ख़ातमा कर दिया। उसके बाद सिकन्दर के पुराने सिपहसालार सेल्यूकस और उसके वारिसों के मातहत कुछ दिनों तक यूनानियों का राज रहा। बहुत ज़माने तक यूनानी प्रभाववाली अर्द्ध-विदेशी हुकूमत भी रही। इसी काल के बादशाह हिन्दुस्तान की सीमा पर बैठे हुए कुशान लोग थे, जिनका साम्राज्य दक्षिण में बनारस तक और उत्तर में मध्यएशिया तक फैल रहा था। उनपर यूनानियों का असर था। हिन्दुस्तान के पश्चिम का तमाम एशिया सिकन्दर से लेकर ईसा की तीसरी सदी तक, यानी पाँच सौ वर्ष से भी ज्यादा ज़माने तक, यूनानियों के असर में रहा। यह असर ज्यादातर कला-सम्बन्धी था। इसने फारस के धर्म में दख़ल न दिया और वहाँ ज़रथुस्त्र धर्म ही चलता रहा।

तीसरी सदी में फ़ारस में एक राष्ट्रीय जागृति हुई और एक नया ख़ानदान तख़्त पर बैठा। इस ख़ानदान का नाम सासानीद या सासानी था। ये लोग उग्र राष्ट्रवादी थे और पुराने एकेमेनीदों के वंशज होने का दावा करते थे। जैसा अक्सर उग्र राष्ट्रवाद का क़ायदा होता है, यह वंश भी बहुत तंगदिल और मुतास्सिब था। इसका कारण यह था कि यह पश्चिम में कुस्तुन्तुनिया वाले बिजेंण्टियन और रोम के साम्राज्यों और पूर्व में चढ़े चले आनेवाले तुर्की कबीलों के बीच में फँसा हुआ था। फिर भी यह ख़ानदान ४०० वर्ष से ज्यादा यानी बिलकुल इस्लाम के आने तक चलता ही रहा। सासानियों के राज्य में जरथुस्त्रों के पुजारी लोगों की बहुत चलती थी। शासन को चलानेवाले यही लोग थे। किसी भी तरह के विरोध को बर्दाश्त करने के लिए वे बिल्कुल तैयार न थे। कहा जाता है कि इसी ज़मानें में उनकी धर्म-पुस्तक अवेस्ता का आख़िरी संस्करण भी तैयार हुआ।

इस काल में हिन्दुस्तान में गुप्त साम्राज्य फूल-फल रहा था। यह कुशन और बौद्ध ज़माने के बाद होनेवाली राष्ट्रीय पुनर्जागृति का काल था। साहित्य और कला का पुनरोदय हुआ। कालीदास सरीखे कितने ही बड़े-बड़े लेखक इसी समय हुए। इस बात की बहुत-सी निशानियाँ हैं कि फ़ारस की सासानी-कला का संसर्ग भारत की

गुप्त-कला के साथ हुआ था। आज दिन सासानी ज़माने की बहुत ही थोडी चित्र-कारियाँ या मूर्तियाँ बची हैं। जो मिली हैं, वे जीवन और गति से परिपूर्ण हैं। उनमें चित्रित जानवर अजन्ता की खुदी हुई तस्वीरों से मिलते हैं। मालूम होता है कि सासानी कला का असर ठेठ चीन और गोबी रेगिस्तान तक फैला हुआ था।

अपने लम्बे राज्यकाल के आख़िरी ज़माने में सासानी लोग कमज़ोर पड़ गये और फ़ारस का रंग-ढंग बिगड़ गया। बिजेण्टियन साम्राज्य के साथ बहुत अरसे तक लड़ाई-झगडे होते रहे; यहाँतक कि दोनों ही बिल्कुल थक गये। अब अपने नये मज़हब के जोश से भरी हुई अरबी फौजों के लिए फ़ारस को जीत लेना मुश्किल न हुआ। सातवीं सदी के मध्य में, पैग़म्बर मुहम्मद की मृत्यु के १० ही वर्षों के अन्दर, फ़ारस ख़लीफ़ा की हुकूमत में आ गया। जैसे-जैसे अरब फ़ौजें मध्य-एशिया और उत्तर-अफरीका की तरफ बढ़ती गईं, वे अपने साथ न सिर्फ एक नया मज़हब ही बल्कि एक नई और बढ़ती हुई सभ्यता भी लेती गईं। सीरिया, मेसोपोटामिया, मिस्र सब अरबी सभ्यता में डूब गये। अरबी ज़बान उनकी ज़बान होगई। यहाँतक कि उनके ख़ून में भी अरबी बीज आगये। बग़दाद, काहिरा और दमिश्क अरबी सभ्यता के ख़ास केन्द्र हो गये। इस नई सभ्यता के प्रभाव में बहुत-सी अच्छी-अच्छी इमारतें भी बनीं। आजतक भी ये देश अरबी देश बने हुए हैं। गो एक-दूसरे से इतने जुदा हैं, फिर भी इत्तहाद यानी एकता के ख़्वाब देख रहे हैं।

इसी तरह अरबों ने फारस को भी जीता, पर मिस्र या सीरिया के समान वे इस देश को हज़म न कर सके; यहाँ के लोगों को मिला न सके। पुराने आर्य ख़ून की ईरानी जाति सेमेटिक अरबों से बहुत जुदा थी। उसकी भाषा भी आर्य भाषा थी। इसलिए जाति जुदा रही और ज़बान की भी तरक्की होती रही। तेज़ी से फैलनेवाले इस्लाम ने जरथुस्त्र धर्म की जगह लेली। आख़िर जरथुस्त्र मजहब को हिन्दुस्तान में आकर शरण लेनी पडी। लेकिन फारसवालों ने इस्लाम को भी अपने ही रंग में मंजूर किया। भेद पड़ जाने से इस्लाम में दो फिरक़े हो गये—शिया और सुन्नी। फारस मुख्यतः एक शिया मुल्क हो गया और अभीतक है। बाक़ी इस्लामी दुनिया सुन्नी बनी रही।

हालांकि अरबी दुनिया फारस को हज़म न कर सकी, तो भी अरबी सभ्यता का उसपर ज़बरदस्त असर पड़ा। वहाँ भी, हिन्दुस्तान की तरह, इस्लाम ने कला-कारीगरी को एक नई ज़िन्दगी दी। फारसी कसौटी का भी अरब की सभ्यता और कला पर ऐसा ही असर पड़ा। सीधे-सादे रेगिस्तानी जीव अरबों के घरों में फारस के ऐशोइशरत घुस आये और अरब के ख़लीफ़ा का दरबार भी दूसरे शाही दरबारों

की तरह सजावटवाला और शानदार हो गया। बग़दाद का शाहाना शहर दुनिया का सबसे बड़ा शहर बन गया। इसके उत्तर में दजला नदी के किनारे समारा में खलीफ़ाओं ने अपने वास्ते एक बडी भारी मस्जिद और महल बनवाये जिनके खंडहर अभीतक मौजूद हैं। मस्जिद में बडे-बडे कमरे और फ़व्वारेदार आँगन थे। महल समकोण चतुर्भुज की शक्ल में था, जिसकी लम्बाई एक किलोमीटर यानी १,१०० गज से भी ज्यादा थी।

नवीं सदी में बग़दाद का साम्राज्य बिगड़कर छोटी-छोटी कई रियासतों में बिखर गया। फ़ारस आज़ाद हो गया। पूर्व की तरफ़ तुर्की कबीलों ने बहुत-सी रियासतें खडी करलीं और अख़ीर में ख़ुद फारस पर क़ब्ज़ा करके वे बग़दाद के नाम-मात्र के ख़लीफ़ा पर भी हावी होगये। ग्यारहवीं सदी के शुरू में महमूद गज़नवी का उदय हुआ, जिसने हिन्दुस्तान पर हमला किया, खलीफ़ा को दहला दिया और कुछ दिनों के लिए एक साम्राज्य भी क़ायम कर लिया, जिसको सेलजूक नामी एक दूसरे तुर्की क़बीले ने खत्म कर दिया। बहुत अरसे तक ये सेलजूक लोग ईसाई जिहादियों से लड़ते रहे और इन्हें कामयाबी भी मिली। इनका साम्राज्य डेढ़सौ वर्ष चला। बारहवीं सदी के अख़ीर में एक नये तुर्की कबीले ने सेलजूकों को फारस से निकाल बाहर किया और ख़ारज़म या खीवा की सल्तनत क़ायम करली। लेकिन इसकी ज़िन्दगी भी थोडी ही रही। ख़ारज़म के शाही एलची की बदतमीज़ी से बौखलाया हुआ चंगेज़खाँ अपने मंगोलों को लेकर चढ़ आया, और मुल्क और रिआया को तहस-नहस कर गया।

इस छोटे-से पैराग्राफ़ में मैंने तुम्हें कई तब्दीलियों और कई सल्तनतों का हाल बता दिया है। तुम भी ख़ूब चकरा गई होगी। मैंने इन ख़ान्दानों और क़ौमों की गर्दिश का ज़िक्र तुम्हारे दिमाग़ को थकाने के लिए नहीं किया है, बल्कि यह दिखाने के लिए किया है कि किस तरह इन सबके बावजूद फ़ारस की ज़िन्दगी और कला-कारीगरी बरक़रार रही। पूर्व से एक के बाद एक तुर्की कबीले आये और बुख़ारा से इराक़ तक फैली हुई मिली-जुली फारसी-अरबी सभ्यता के आगे सिर झुकाते गये। एशियामाइनर को तो उन्होंने अपने वतन तुर्किस्तान के मानिन्द ही बना लिया। मगर फारस के इर्द-गिर्द पुरानी सभ्यता का ऐसा ज़ोर था कि इन तुर्कों को उसे मंज़ूर करना पड़ा और ख़ुद को उसके मुताबिक़ ढालना पड़ा। हुकूमत करनेवाले इन सभी तुर्की ख़ानदानों के ज़माने में फारस के साहित्य और कला की तरक़्क़ी हुई। मेरा ख़याल है कि मैं तुम्हें फ़ारसी शायर फिरदौसी का हाल कह चुका हूँ, जो सुल्तान महमूद गज़नवी के ज़माने में हुआ था। महमूद के अनुरोध से उसने फ़ारस का

राष्ट्रीय महाकाव्य शाहनामा लिखा। इस किताब के वर्णन इस्लामी ज़माने से पहले के हैं और इसका नायक रुस्तम है। इससे ज़ाहिर होता है कि राष्ट्रीय और परम्परागत भूतकाल के साथ फ़ारस के साहित्य और कला का कैसा गहरा और अटूट सम्बन्ध हो गया था। फ़ारसी चित्रकला और छोटे चित्रों के ज्यादातर मज़मून शाहनामे की कहानियों से लिये गये हैं।

जिस ज़माने में फ़िरदौसी हुआ, सन् का नम्बर सैकडे से हज़ार में बदला; यानी फ़िरदौसी ९३२ ई० में पैदा हुआ और १०२१ ई० में मरा। उसके बाद ही उमर ख़य्याम का नाम आता है, जो फ़ारसी और अंग्रेज़ी दोनों में एक-सा मशहूर है। यह फ़ारस में नैशापुर का रहनेवाला एक नजूमी-शायर यानी ज्योतिषी कवि था। उमर ख़य्याम के बाद शीराज़ का शेख़ सादी हुआ। यह फ़ारस के सबसे बड़े कवियों में से एक था। इसीकी गुलिस्तां और बोस्तां को हिन्दुस्तान के मकतबों में लड़के पीढ़ियों से रटते आरहे हैं।

मैंने सिर्फ़ कुछ मशहूर नाम दे दिये हैं। लम्बी फेहरिस्त गिनाने की मेरी मंशा नहीं है; लेकिन मैं यह समझाना चाहता हूँ कि फ़ारस से लेकर मध्यएशिया के ट्रांस-एक्ज़ियाना यानी अक्षु नदी के पार तक फ़ारसी कला और संस्कृति का दीपक इन तमाम सदियोंभर बराबर जलता रहा। अक्षु-पार (ट्रांसएक्ज़ियाना) के बड़े शहर बलख़ और बुख़ारा साहित्य और कला के केन्द्र होगये और इस विषय में फ़ारस के शहरों के रक़ीब बन गये। बुख़ारा में ही दसवीं सदी के अख़ीर में मशहूर अरबी दार्शनिक इब्नसिना हुआ था। २०० वर्ष बाद बलख़ में जलालुद्दीन रूमी नाम का एक और कवि हुआ। यह बड़ा भारी रहस्यवादी हुआ है और इसीने नाचनेवाले दरवेशों का पंथ चलाया था।

इस तरह लड़ाई-झगड़ों और राजनैतिक परिवर्त्तनों के बावजूद अरबी-फ़ारसी कला और संस्कृति ज़िन्दा बनी रही और शिल्पकला, चित्रकला और साहित्य के श्रेष्ठ नमूने पैदा करती रही। उसके बाद तबाही आई। तेरहवीं सदी में (१२२० ई० के क़रीब) चंगेज़ख़ाँ सफ़ाई करता हुआ आ पहुँचा और ख़ारज़म और ईरान को बरबाद कर गया। कुछ साल बाद हलाकूख़ां बगदाद का ख़ात्मा कर गया, और सदियों से श्रेष्ठ संस्कृति के जो नमूने जमा थे वे सब नष्ट हो गये। किसी पिछले ख़त में मैंने बताया था कि किस तरह मंगोलों ने मध्य-एशिया को बियाबान में तब्दील कर दिया, किस तरह वहांके आलीशान शहर ख़ाली हो गये और किस तरह वहाँ जीवित मनुष्यों का नाम तक न रहा।

मध्य-एशिया की इस तबाही का ज़ख़्म फिर कभी पूरी तौर से न भर पाया।

ताज्जुब तो यही है कि जितना भी भरा, वह कैसे भरा ! तुम्हें याद होगा कि चंगेजख़ाँ के मरने के बाद उसका विशाल साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े होगया था। फारस और आसपास का जितना हिस्सा इस साम्राज्य में था, वह हलाकूखां ने लेलिया। बरबादी और तबाही का पूरा खेल खत्म करके हलाकू एक शान्त और सहनशील हाकिम बन गया और इलख़ान राजवंश का बानी हुआ। ये इलख़ान कुछ अरसे तक तो मंगोलों का पुराना आकाश-धर्म ही मानते रहे, बाद में मुसलमान बन गये। इस्लाम को इख़्तियार करने के पहले और बाद में भी, वे दूसरे मज़हबों के प्रति पूरी तरह उदार थे। उनके भाईबन्द यानी चीन का खान-आज़म और उसके ख़ानदानवाले बौद्ध-धर्म को मानते थे। इनके साथ इलख़ानों के ताल्लुक़ात बिल्कुल हेल-मेल के थे। यहाँतक कि उनकी दुलहिनें भी ठेठ चीन से भेजी जाती थीं।

फारस और चीन के मंगोलों की इन दोनों शाखाओं के बीच इस तरह के संसर्ग का कला पर काफ़ी असर पड़ा। चीनी असर फ़ारस में आ पहुँचा और वहाँकी चित्रकला में अरबी, फ़ारसी और चीनी प्रभावों का एक अजीब मेल दिखाई देता है। लेकिन फिर भी, तमाम मुसीबतों के बावजूद, फारसी विशेषताओं की ही विजय हुई। चौदहवीं सदी के मध्य में फ़ारस ने एक और बड़ा कवि पैदा किया। यह था हाफिज़, जो आजतक हिन्दुस्तान में भी माना जाता है।

मंगोल इलख़ानों का ख़ानदान ज्यादा दिन न चला। उनके रहे-सहे निशानों को अक्षु-पार (ट्रांसएक्जियाना) के समरकन्द के तैमूर ने नेस्तनाबूद कर दिया। यह खूँख़ार वहशी भी, जिसका हाल मैं तुम्हें लिख चुका हूँ, कला-कौशल का ज़बरदस्त हामी था और एक विद्वान आदमी माना जाता है। दिल्ली, शीराज़, बगदाद और दमिश्क के बड़े शहरों को उजाड़ने और लूट के माल से अपनी राजधानी समरकन्द को सजाने में इसका कला-प्रेम रहा होगा। समरकन्द की सबसे हैरतअंगेज़ और आलीशान इमारत तैमूर का मक़बरा 'गोरेअमीर' है। यह मकबरा है भी इसके माक़ूल ही। इसकी आला बनावट में तैमूर के रौब, ताक़त और खूँख़ारी की कुछ झलक दिखाई पड़ती है।

तैमूर ने जो बड़े-बड़े देश जीते थे, वे उसके मरने के बाद ढहकर गिर गये; लेकिन किसी क़दर छोटी-सी एक रियासत, जिसमें ट्रांसएक्जियाना (अक्षुपार का देश) और फ़ारस भी शामिल थे, उसके वारिसों को मिली। पूरे एकसौ बरस तक, यानी पन्द्रहवीं सदीभर, इन लोगों का, जिन्हें 'तैमूरिया' कहते थे, क़ब्ज़ा ईरान, बुख़ारा और हिरात पर रहा। अजीब बात यह है कि एक ज़ालिम विजेता की औलाद ये लोग अपनी उदारता, मनुष्यता और कला-प्रेम के लिए मशहूर हुए। खुद तैमूर

का बेटा शाहरुख इनमें सबसे बड़ा हुआ है। उसने अपनी राजधानी हिरात में एक महान् पुस्तकालय क़ायम किया, जहाँ साहित्य-प्रेमियों के झुण्ड बराबर आते रहे।

कला और साहित्य की तरक़्क़ी के लिए सौ वर्षों का यह तैमूरी काल इतना महत्वपूर्ण है कि इसको 'तैमूरी पुनरुत्थान का काल' कहते हैं। फ़ारसी साहित्य की खूब तरक़्क़ी हुई और बहुत-सी सुन्दर तस्वीरें बनाई गईं। सबसे नामी चित्रकार बैज़ाद चित्रकारी की एक नई कलम का नेता हुआ है। यह भी एक दिलचस्प बात हुई कि फ़ारसी के साथ-साथ तुर्की साहित्य भी तैमूरी साहित्य-सेवियों की मण्डली में तरक़्क़ी करता गया। ज़रा याद करलो कि इटली के 'रिनैसाँ' का भी यही ज़माना था।

तैमूरी लोग तुर्क थे और उन्होंने ज्यादातर फ़ारस की सभ्यता को मंजूर कर लिया था। ईरान ने, जिसपर तुर्क और मंगोल क़ब्ज़ा कर चुके थे, अपने विजेताओं पर अपनी ही सभ्यता की छाप बैठा दी थी। उस वक्त फ़ारसवाले सियासी आज़ादी यानी राजनैतिक स्वाधीनता के लिए लड़ रहे थे। धीरे-धीरे तैमूरी लोग पूर्व की ओर ज्यादा-ज्यादा ढकेल दिये गये, यहाँतक कि वे अक्षु-पार यानी ट्रान्स-एक्ज़ियाना के गिर्द एक छोटी-सी रियासत के अन्दर रह गये। सोलहवीं सदी के शुरू में ईरानी राष्ट्रीयता की फ़तह हुई और तैमूरी लोग फ़ारस से निकाल बाहर किये गये। सफ़ावी नाम का एक क़ौमी ख़ानदान फ़ारस के तख़्त पर बैठा। इसी ख़ानदान के दूसरे बादशाह तहमास्प प्रथम ने शेरशाह के डर से हिन्दुस्तान छोड़कर भागे हुए हुमायूँ को पनाह दी थी।

सफावी-युग १५०२ से १७२२ ई० तक यानी दो सौ बरस रहा। इसको फ़ारसी कला का 'सुनहरा ज़माना' कहते हैं। राजधानी इस्फहान आलीशान इमारतों से भर गई और कला (ख़ासकर चित्रकारी) का केन्द्र बन गई। शाह अब्बास, जिसने १५८७ से १६२९ ई० तक राज्य किया, इस वंश का मशहूर बादशाह हुआ है और फ़ारस का सबसे बड़ा शासक माना जाता है। उसको एक तरफ़ से उजबेगों ने और दूसरी तरफ़ से उस्मानी तुर्कों ने आ घेरा, पर उसने दोनों को मार भगाया, मज़बूत सल्तनत क़ायम की, पश्चिम की और दूर-दूर की दूसरी रियासतों से ताल्लुक़ात बढ़ाये और अपनी राजधानी को ख़ूबसूरत बनाने के लिए हरचन्द कोशिशें कीं। शाह अब्बास ने इस्फहान में जिस तरह शहर के निर्माण की योजना बनाई थी उसे श्रेष्ठ, पवित्रता और पसन्द का ऊँचा नमूना कहा गया है। जो इमारतें बनाई गईं वे न सिर्फ खुद ही सुन्दर और श्रेष्ठ थीं, बल्कि उनके समाँ में कुछ ऐसा जादू था कि असर दोबाला हो जाता था। उस ज़माने में फ़ारस की सैर करनेवाले यूरोपियन यात्रियों ने इसका बड़ा सुन्दर बयान लिखा है।

फ़ारसी कला के इस सुनहरे युग में शिल्पविद्या, साहित्य, चित्रकारी (दीवारी और काग़ज़ी दोनों तरह की), ख़ूबसूरत क़ालीन, चमकदार मिट्टी के बर्तन और संगमर्मर के जड़ाऊ काम यानी प्रत्येक कला की ख़ूब उन्नति हुई। दीवारों पर खुदी और काग़ज़ों पर बनी कुछ छोटी तसवीरों में आश्चर्यजनक लुनाई है। कला राष्ट्रीय सीमा को नहीं जानती और न जानना ही चाहिए। सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों की इस फ़ारसी कला को परिपूर्ण बनाने में कई प्रभावों का हाथ रहा होगा। कहते हैं, इटली का असर भी दिखाई देता है। पर इन सबके पीछे ईरानी कला की पुरानी परम्परा है, जो २,००० वर्षों से चली आ रही थी। ईरानी सभ्यता का दायरा सिर्फ़ फ़ारस तक ही महदूद न था। वह एक बडे क्षेत्र में फैली, जिसके पश्चिम में तुर्की और पूर्व में हिन्दुस्तान थे। हिन्दुस्तान के मुग़ल दरबार में फ़ारसी भाषा साहित्य और संस्कृति की भाषा मानी जाती थी। और पश्चिमी एशिया में इसको वही इज्जत हासिल थी, जो योरप में फ़्रांसीसी ज़बान को थी। फ़ारसी कला की पुरानी भावना आगरे के ताजमहल में अपनी अमर निशानी छोड़ गई है। इसी तरह इस कला ने कुस्तुनतुनिया तक उस्मानी शिल्प पर असर डाला। वहाँ फ़ारस के इस असर को ज़ाहिर करनेवाली बहुत-सी इमारतें बनीं।

फ़ारस के सफावी बहुत-कुछ हिन्दुस्तान के महान् मुग़ल बादशाहों के समकालिक थे। भारत का पहला मुग़ल बादशाह बाबर समरकन्द के तैमूरी रईसों में से था। जैसे-जैसे फ़ारसियों की ताक़त बढ़ती गई, वे तैमूरियों को हटाते गये। होते-होते अक्षु-पार (ट्रांसएक्ज़ियाना) और अफ़ग़ानिस्तान के सिर्फ़ कुछ हिस्से ही तैमूरी शाह-ज़ादों के हाथ में रह गये। इन फुटकर शाहज़ादों से बाबर को १२ वर्ष की उम्र से ही लड़ना पड़ा था और उसे कामयाबी हासिल हुई। पहले उसने काबुल पर क़ब्ज़ा किया, फिर हिन्दुस्तान में आया। उस ज़माने की श्रेष्ठ तैमूरी सभ्यता का अनुमान बाबर से लगाया जा सकता है, जिसके 'तुज़ुक' (संस्मरणों) से मैंने कुछ फ़िक़रे पिछले ख़त में तुम्हें दिये थे। सबसे बड़ा सफावी शाह अब्बास अकबर और जहाँगीर का समकालिक था। इन दोनों मुल्कों में बराबर बड़ा गहरा ताल्लुक़ रहा होगा, और अफ़ग़ानिस्तान मुग़ल साम्राज्य का एक हिस्सा था इसलिए बहुत अरसे तक दोनों की सरहद एक ही रही होगी।

: १२५ :

ईरान में साम्राज्यवाद और राष्ट्रीयता

२१ जनवरी, १९३३

तुम्हें मुझसे शिकायत करने का हक़ है। इतिहास की मुख़्तलिफ़ दहलीजों में कभी आगे और कभी पीछे दौड़कर मैंने तुम्हें काफ़ी उत्तेजना दी है। बहुतेरे अलग-अलग रास्तों से उन्नीसवीं सदी तक पहुँचकर मैं तुम्हें अचानक कई हज़ार वर्ष पीछे ले गया हूँ और मिस्र से हिन्दुस्तान, चीन और ईरान के आस-पास चक्कर दिलाता रहा हूँ। इससे तुम्हारी झुंझलाहट और परेशानी ज़रूर बढ़ी होगी। मुझे ऐसा लगता है कि शायद तुम अपनी नाराज़गी ज़ाहिर कर रही हो। इसका मेरे पास कोई अच्छा ज़वाब भी नहीं है। परन्तु बात यह है कि श्री रेने ग्राउजे की किताबों को पढ़कर मेरे दिमाग़ में कई विचार-धारायें एकाएक चक्कर काटने लगीं। उनमें से कुछ तुम्हें बताये बिना मुझसे रहा न गया। मुझे यह भी लगा कि इन ख़तों में मैंने ईरान की उपेक्षा की और मुझे इस कमी की थोडी-सी पूर्त्ति करने की ख़्वाहिश हुई। हम ईरान पर विचार तो कर ही रहे हैं। फिर उसके इतिहास को वर्तमान समय तक क्यों न ले आवें ?

मैंने तुम्हें ईरान की परम्पराओं, उसकी ऊँचे दर्जे की संस्कृति और कला के सुनहरे ज़माने की और इसी तरह की दूसरी बातें बताई हैं। उन जुमलों पर फिर से विचार करके देखने से मालूम होता है कि हमारी ज़बान ज़रा रंगीन और गलत हो गई। इससे कोई यहाँतक सोच सकता है कि सचमुच ईरान के लोगों के लिए सुनहरा ज़माना आगया था, उनके दुःख दूर हो गये थे और वे स्वर्ग के सुख भोगने लगे थे। लेकिन, दरअसल ऐसी कोई बात नहीं हुई थी। उन दिनों संस्कृति और कला पर मुट्ठीभर लोगों का क़ब्ज़ा था और बहुत हद तक आज भी है। ग़रीबों और मामूली आदमियों का उनसे कोई वास्ता नहीं था। शुरू से ही आम लोगों की ज़िन्दगी सदा खाने-पीने और दूसरी ज़रूरियात के लिए झगड़ने में बीती है। इनकी और हैवानों की ज़िन्दगी में थोड़ा ही फ़र्क़ रहा है। उन्हें और किसी बात के लिए वक्त या फुर्सत ही नहीं मिली। दिन-रात यही झंझट उनकी जान के लिए काफ़ी थी। ऐसी हालत में वे तहज़ीब या हुनर की क्या तो फ़िक्र करते और क्या क़द्र ? ईरान, चीन, हिन्दुस्तान, इटली और योरप के दूसरे देशों में कला की तरक्क़ी हुई, मगर उससे या तो राजा-रईसों का मनोरंजन होता था या अमीर और निठल्ले लोगों का दिल-बहलाव। हाँ, कला के मज़हबी रूप-रंग का असर आम लोगों की ज़िन्दगी पर कुछ-कुछ ज़रूर पड़ा।

परन्तु किसी राजा के कला-प्रेमी होने का यह मतलब नहीं था कि उसकी हुकूमत भी अच्छी थी। जिन राजाओं को कला और साहित्य के रक्षक होने का फ़ख़्र था, वे अक्सर नालायक और ज़ालिम शासक होते थे। उस ज़माने में ईरान में ही क्या, क़रीब-क़रीब सभी देशों में सारी समाज-व्यवस्था ही एक तरह से सामन्तशाही पर क़ायम थी। ज़ोरदार राजा अपने सामन्तों की छोटी-मोटी लूट-खसोट बन्द करके लोकप्रिय हो जाते थे। किसी वक्त शासन कुछ अच्छा होता था और किसी वक्त बिल्कुल ख़राब।

जिस वक़्त भारत में मुग़ल राज्य आख़िरी सांस ले रहा था, ठीक उसी वक्त, यानी सन् १७२५ ई० के आसपास, सफ़ावी खान्दान का खात्मा हुआ। औरों की तरह इस ख़ानदान का खेल भी ख़त्म हो चुका था। सामन्त-प्रथा धीरे-धीरे टूट रही थी। देश में भारी तब्दीलियाँ हो रही थीं और पुरानी व्यवस्था उलट चुकी थी; टैक्स के भारी बोझ ने और भी बुरी हालत करदी और जनता में असन्तोष फैल गया। अफ़ग़ान लोग सफ़वियों के मातहत थे। उन्होंने बग़ावत करदी। वे न सिर्फ़ अपने मुल्क में ही कामयाब हुए, बल्कि इसफ़हान पर क़ब्ज़ा करके उन्होंने शाह को भी गद्दी से उतार दिया। इस तरह सफ़वियों का अन्त हुआ। परन्तु थोड़े दिनों बाद ही नादिरशाह नामक ईरानी सरदार ने अफ़ग़ानों को निकाल बाहर किया और फिर ख़ुद ही राजा बन बैठा। इसी नादिरशाह ने कमज़ोर मुग़लों के आख़िरी दिनों में हिन्दुस्तान पर हमला किया था; इसीने दिल्ली वालों को मौत के घाट उतारा था और यही शाहजहां का तख़्त-ताऊस और दूसरी बेशुमार दौलत लूटकर ले गया था।

अठारहवीं सदी का ईरानी इतिहास घरेलू लड़ाइयों और बदलते हुए शासन और कुशासन की एक दर्दनाक कहानी है। यूं तो इन राजाओं की बेल-की-बेल ही ख़राब थी, मगर इनमें से एक तो अपनी बेरहमी के कारण इतना बदनाम हो गया था कि उसे 'ख़ून का प्यासा राक्षस' कहा जाता था। मालूम होता है वह सचमुच ऐसा ही था।

उन्नीसवीं सदी के साथ आफ़तें भी नई आईं। योरप के बढ़ते हुए साम्राज्यवाद का दुनिया पर हमला होने लगा। ईरान के साथ भी उसकी टक्कर शुरू हुई। उत्तर में रूस का लगातार दबाव पड़ रहा था और दक्षिण में ईरान की खाड़ी की ओर से अंग्रेज़ बढ़े चले आ रहे थे। ईरान हिन्दुस्तान से दूर न था। दोनों की सरहदें मिलती जा रही थीं और आज तो सचमुच दोनों की सरहद मिली हुई है। हिन्दुस्तान के ख़ुश्की रास्तों से तो ईरान सीधा पड़ता ही था, उसके समुद्री रास्ते से भी लगा हुआ था। अंग्रेज़ों की सारी नीति यह थी कि किसी तरह उनका हिन्दुस्तानी साम्राज्य

और उसके सारे रास्ते महफूज़ रहें। वे यह बात किसी हालत में बर्दाश्त करने को तैयार न थे कि उनका भारी दुश्मन रूस उनका रास्ता रोककर हिन्दुस्तान पर घात लगाये बैठा रहे। इस कारण अंग्रेज़ और रूसी दोनों के ईरान पर दाँत रहे और दोनों ने मिलकर उस ग़रीब को भरपेट सताया। वहाँके शाह बिल्कुल नालायक़ और बेवकूफ़ थे। वे कभी उनसे बेमौक़े भिड़ बैठते या अपनी ही रिआया से लड़ते रहते, और इस तरह सदा रूस और ब्रिटेन के हाथों में खेलते रहते। अगर इन दोनों में लाग-डाँट न होती तो ईरान भी मिस्र की तरह कभी का या तो रूस के कब्ज़े में चला गया होता या इंग्लैण्ड के हाथ में। इनमें कोई भी या तो उसे अपने राज्य में मिला लेता या उसे अपना मातहत-राज्य बना लेता। उन्नीसवीं सदी के बीच में ईरान और रूस में लड़ाई हुई तो रूस को जितनी ज़रूरत थी, उतना मिल गया। ईरान को इंग्लैण्ड से भी लड़ना पड़ा। इसमें इंग्लैण्ड के जी में आया उतना उसने छीन लिया।

बीसवीं सदी के शुरू में एक और कारण से भी ईरान प्रलोभन की चीज़ बन गया। वहाँ मिट्टी का तेल या पैट्रोल मिल गया। मोटर के विस्तार के समय से ही तेल की क़ीमत ख़ास तौर पर बढ़ गई थी। बूढ़े शाह को राज़ी करके ६० वर्ष के लम्बे समय के लिए ईरान के तेल के क्षेत्रों से तेल निकालने का डर्सी नामक अंग्रेज़ को बहुत रिआयती शर्तों पर सन् १९०१ में ठेका दिलाया गया। कुछ साल बाद इस काम के लिए एंग्लोपर्शियन ऑयल कम्पनी नाम से एक ब्रिटिश कम्पनी बन गई, तबसे यही कम्पनी वहाँ काम कर रही है। इसने तेल के व्यवसाय से ख़ूब मुनाफ़ा कमाया है। मुनाफ़े का थोड़ा-सा हिस्सा ईरानी सरकार को मिलता है, लेकिन उसका ज्यादा हिस्सा देश के बाहर कम्पनी के हिस्सेदारों की जेब में ही जाता है। बड़े-से-बड़े हिस्सेदारों में से एक ब्रिटिश सरकार है। ईरान की वर्तमान सरकार बड़ी राष्ट्रवादी है। उसे इस बात पर बड़ा एतराज़ है कि विदेशी ईरान से नाजायज़ फ़ायदा उठायें। उसने अभी दो-तीन महीने पहले, १९०१ में, डर्सी के साथ किया हुआ साठ वर्षवाला वह इक़रारनामा रद कर लिया है जिसके मुताबिक़ एंग्लो-पर्शियन ऑयल कम्पनी काम कर रही थी। उसका कहना था कि वे शर्तें ईरान के लिए अन्यायपूर्ण थीं और बूढ़े शाह को इस तरह देश की दौलत अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति समझकर लुटा देने का कोई हक़ न था। ब्रिटिश सरकार इसपर बड़ी झल्लाई। उसने ईरान की सरकार को धमकियाँ देकर दबाना चाहा। लेकिन वह भूल गई कि वक़्त बदल गया है और अब एशिया वालों पर रौब गाँठना उतना आसान नहीं है। यह झगड़ा फ़ैसले के लिए राष्ट्र-संघ के पास गया है।

मगर मैं तो आगे की बातें करनें लग गया। जब साम्राज्यवाद ईरान के लिए ख़तरा बनने लगा और शाह का दिन-दिन अस्त होता चला गया तो राष्ट्रीयता की अपनेआप बढ़ती होने लगी। एक राष्ट्रीय दल कायम हुआ। इस दल ने विदेशी दस्तन्दाज़ी की मुख़ालफ़त की और शाह की निरंकुशता पर भी उतने ही जोर से एतराज़ किया। उन्होंने लोकसत्तात्मक (जम्हूरी) विधान और आजकल के सुधारों की माँग की। देश में कुशासन था। टैक्सों की भरमार थी। रूसी और अंग्रेज़ बराबर दख़ल दे रहे थे। दक़ियानूसी शाह को इन विदेशी सरकारों से ज्यादा चैन मालूम होता था। उसकी रिआया आज़ादी माँग रही थी। वह उसे बुरी लगती थी। लोकसत्तात्मक विधान की यह माँग ख़ास तौरपर नये मध्यमवर्ग के और पढ़े-लिखे लोग कर रहे थे। सन् १९०४ ई० में जापान की ज़ारशाही रूस पर फतह हुई। इसका ईरानी राष्ट्रवादियों पर असर हुआ और उन्हें उत्तेजना मिली। इसके दो कारण थे। एक तो यह एक यूरोपियन क़ौम पर एशियाई देश की फतह थी। दूसरे ज़ारशाही रूस ईरान के लिए एक तकलीफदेह और ज़ोर-जबरदस्ती करनेवाला पडौसी था। १९०५ ई० में रूसी क्रान्ति हुई तो नाकामयाब और उसे दबा भी दिया गया बुरी तरह से, लेकिन उससे ईरानी राष्ट्रवादियों की हिम्मत और कुछ कर गुज़रने का हौसला बढ़ गया। शाह पर इतने जोर का दबाव पड़ा कि अनिच्छा होते हुए भी उसे १९०६ में लोकसत्तात्मक विधान जारी करना पड़ा। 'मजलिस' नाम से राष्ट्र-परिषद् स्थापित हुई और ऐसा दिखाई देने लगा कि ईरान की क्रान्ति कामयाब हुई।

परन्तु मुसीबत तो आगे आनेवाली थी। शाह अपनेआपको मिटाना नहीं चाहता था और रूसियों और अंग्रेज़ों को लोकसत्तात्मक ईरान से प्रेम न था। वह ताक़तवर बनकर उन्हें तंग कर सकता था। शाह में और मजलिस में झगड़ा हुआ और शाह ने सचमुच अपनी ही पार्लमेण्ट पर गोलाबारी करदी। मगर फौज और जनता मजलिस और राष्ट्रवादियों के साथ थी। शाह को रूसी फौज की सहायता से जान बचाकर भागना पड़ा। असल में शाह की तो अपनी रिआया के सामने कुछ नहीं चल सकती थी, लेकिन असली ख़तरा विदेशी सरकारों की तरफ़ से था। रूस और इंग्लैण्ड किसी-न-किसी बहाने से अपनी प्रजा की हिफ़ाज़त का सवाल खड़ा करके अपनी फौज लाकर रख देते थे। ईरानियों को दबाने के लिए रूसियों के ख़ूंख़ार क़ज़्ज़ाक़ सिपाही और इंग्लैण्ड के हिन्दुस्तानी सिपाही मौजूद थे, हालांकि बेचारे ईरानियों से हम हिन्दुस्तानियों का कोई झगड़ा नहीं था।

ईरान बडी मुसीबतों में था। उसके पास दौलत नहीं थी और लोगों की हालत ख़राब थी। मजलिस ने सुधार की ख़ूब कोशिश की, लेकिन उसकी ज्यादातर कोशिशें

रूसी और ब्रिटिश मुख़ालफ़त की वजह से नाकामयाब होती रहीं। आख़िरकार ईरानियों ने अमेरिका से मदद माँगी और एक क़ाबिल अमेरिकन पूँजीपति को अपनी आर्थिक व्यवस्था सुधारने के लिए नियुक्त किया। इसका नाम मार्गन शुस्टर था। इसने ख़ूब मेहनत की, लेकिन इसे सदा रूसी या ब्रिटिश मुख़ालफ़त की ठोस दीवारों से टक्कर लेनी पड़ती थी। आख़िरकार ग्लानि और निराशा के कारण वह ईरान छोड़कर घर चला गया। बाद में शुस्टर ने एक किताब लिखी और उसमें यह बात लिखी कि रूसी और ब्रिटिश साम्राज्यवाद ईरान की किस तरह जान निकाल रहे हैं। इस किताब का नाम ही ख़ास मतलब रखता और एक कहानी कहता है। वह नाम The Strangling of Persia यानी 'ईरान की फाँसी' है।

ऐसा मालूम होने लगा कि ईरानी राष्ट्र की स्वतन्त्र हस्ती मिटने ही वाली है। इस दिशा में रूस और इंग्लैण्ड पहला क़दम उठा चुके थे। उन्होंने इसको अपने-अपने 'प्रभाव-क्षेत्रों' में बाँट लिया था। महत्वपूर्ण केन्द्रों पर उनकी फ़ौजों का क़ब्ज़ा था। ब्रिटिश कम्पनी उसके तेल के ख़ज़ाने से लाभ उठा रही थी। ईरान की हालत पूरी तरह ख़राब थी। अगर कोई विदेशी ताक़त सीधा अधिकार कर लेती तो भी इससे अच्छी हालत होती, क्योंकि उसकी ज़िम्मेदारी होती। ख़ैर; उसके बाद ही सन् १९१४ में महायुद्ध छिड़ गया।

इस लड़ाई में ईरान ने दोनों तरफ़ से अलग रहने का ऐलान किया, मगर कमज़ोरों के ऐलानों का ताक़तवरों पर क्या असर होता है? ईरान के अलग रहने की किसीने भी परवा न की। अभागी ईरानी सरकार कुछ भी समझे, विदेशी फ़ौजें आ-आकर उसकी ज़मीन पर आपस में लड़ती रहीं। ईरान के चारों तरफ़ लड़नेवाले देश थे। एक तरफ़ इंग्लैण्ड और रूस आपस में दोस्त थे। दूसरी तरफ़ तुर्की जर्मनी का साथी था। इराक़ और अरबस्तान उस वक्त तुर्की के राज्य में थे। १९१८ में महायुद्ध ख़त्म हुआ। इंग्लैण्ड, फ़्रांस और उनके दोस्तों की जीत हुई। उस वक़्त सारे ईरान पर ब्रिटिश फ़ौज का क़ब्ज़ा था। इंग्लैण्ड ईरान पर संरक्षण घोषित करने ही वाला था, जो एक तरह से उसपर क़ब्ज़ा करना ही था। साथ ही भूमध्यसागर से लगाकर बलूचिस्तान और हिन्दुस्तान तक एक विशाल मध्य-पूर्वीय साम्राज्य क़ायम करने के सपने भी देखे जा रहे थे। मगर ये ख़्वाब पूरे नहीं हुए। ब्रिटेन की बदक़िस्मती से रूस में ज़ारशाही का ख़ातमा हो गया था और उसकी जगह सोवियट प्रणाली क़ायम हो चुकी थी। ब्रिटेन की दूसरी बदक़िस्मती यह हुई कि तुर्की में भी उसकी स्कीम कामयाब न हुई और कमालपाशा ने अपने देश को मित्र-राष्ट्रों की दाढ़ों में से बचाकर निकाल लिया।

इन सब घटनाओं से ईरानी देशभक्तों को मदद मिली और, नाम को सही, ईरान की आज़ादी बची रह गई। १९२१ में एक ईरानी सिपाही रिज़ाखाँ एकाएक सामने आया। उसने फ़ौज पर क़ब्ज़ा कर लिया और फिर प्रधानमंत्री बन गया। १९२५ में शाह गद्दी से उतार दिया गया और राष्ट्र-परिषद् की राय से रिज़ाखाँ नया शाह चुन लिया गया। उसने रिज़ाशाह पहलवी का नाम और लक़ब इख़्तियार किया।

रिज़ाशाह शान्त और ज़ाहिरा तौर पर लोकसत्तात्मक उपायों से गद्दी पर पहुँचा है। मजलिस अब भी काम कर रही है और शाह निरंकुश शासक होने का दुस्साहस नहीं करता है। मगर यह स्पष्ट है कि वह एक ज़ोरदार आदमी है और ईरानी सरकार में उसकी चलती है। वह एक क़ाबिल आदमी दिखाई देता है और सब हालात से वह लोकप्रिय भी मालूम होता है। पिछले कुछ वर्षों में ईरान में बड़ी-बड़ी तब्दीलियाँ हुई हैं और रिज़ाशाह कई ऐसे सुधार करने पर तुला हुआ है जिनसे देश नये साँचे में ढल जाय। क़ौम को फिर से उठाने के ख़याल ज़ोर पकड़ चुके हैं। इससे देश में नई जान आ गई है और जहाँ कहीं ईरान में विदेशी स्वार्थों का ताल्लुक़ आता है वहाँ यह क़ौमियत आक्रमणकारी रूप इख़्तियार कर रही है। इस राष्ट्रीयता और बढ़ते हुए स्वावलम्बन के कारण ही ईरानी तेल के सम्बन्ध में झगड़ा खड़ा हुआ है।

यह बड़ी दिलचस्प बात है कि यह क़ौमी बेदारी ईरान की ठेठ दो हज़ार वर्ष पहले की परम्परा के अनुकूल ढंग से हो रही है। उसकी नज़र इस्लाम से पहले के पुराने ईरानी गौरव पर लगी है और उसीसे प्रेरणा भी मिल रही है। रिज़ाशाह ने अपने वंश के लिए जो 'पहलवी' नाम रक्खा है वह भी उस पुराने ज़माने की याद दिलाता है। वैसे ईरान के लोग शिया मुसलमान हैं, मगर जहाँतक उनके देश का सवाल है वहाँतक ज्यादा बड़ी ताक़त क़ौमियत की है। एशियाभर में यही हो रहा है। योरप में ऐसा ही सौ वर्ष पहले यानी उन्नीसवीं सदी में हुआ था। लेकिन आज तो वहां कई लोग राष्ट्रीयता को पुराना धर्म समझने लगे हैं और वे ऐसे नये धर्मों और विश्वासों की तलाश में हैं जो मौजूदा हालत के ज्यादा अनुकूल हों।

: १२६ :

क्रान्तियाँ और ख़ासकर १८४८ की योरप की क्रान्ति

२८ जनवरी, १९३३

ईदुल-फ़ित्र

अब हमें फिर योरप पहुँचकर वहांकी उन्नीसवीं सदी की पेचीदा परिस्थिति और सदा बदलती रहनेवाली तसवीर पर एक नज़र और डालनी चाहिए। दो महीने पहले लिखे हुए कुछ ख़तों में हम पहले भी इस सदी का सिंहावलोकन कर चुके हैं और मैंने इसकी कुछ ख़ास-ख़ास बातें भी बताई थीं। उस वक्त मैंने जिन 'वादों' का ज़िक्र किया था उन सबके याद रखने की तुमसे उम्मीद नहीं की जा सकती। फिर-से कहूँ तो उनमें से कुछ ये थे: उद्योगवाद, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, समाजवाद, राष्ट्र-वाद और अन्तर्राष्ट्रीयता। मैंने तुम्हें लोकसत्ता और विज्ञान का हाल भी सुनाया था और आमदरफ्त के तरीकों की कायापलट, आम लोगों की तालीम और उसके अंजाम और आधुनिक अख़बारों का ज़िक्र किया था। उस वक्त की यूरोपियन सभ्यता इन और ऐसी ही दूसरी कितनी ही चीज़ों से बनी थी। यह अमीरों की सभ्यता थी, जिसमें पूंजीवादी प्रणाली के औद्योगिक साधनों पर नये मध्यमवर्ग का अधिकार था। पूंजीवादी योरप की इस संस्कृति को कामयाबी पर कामयाबी मिलती चली गई। यह एक चोटी से दूसरी चोटी पर चढ़ती गई और सदी का ख़ात्मा होते-होते इसने अपनी ताक़त का सिक्का सारी दुनिया पर जमा लिया था। इतने ही में मुसीबत आगई।

एशिया में भी हम ज़रा तफ़सील से इस सभ्यता को अमली सूरत में देख चुके हैं। अपनें बढ़ते हुए उद्योगवाद की प्रेरणा से योरप ने दूर-दूर देशों में अपने हाथ-पैर फैलाये, उन्हें हड़पने, उनपर क़ब्ज़ा जमाने और आमतौर पर अपने फ़ायदे के लिए उनमें दख़ल देने की कोशिश की। यहाँ योरप से मेरा मतलब ख़ास तौर पर पश्चिमी योरप से है। वहीं उद्योगवाद का ज़ोर था। इन सब पश्चिमी देशों का एक ज़माने तक इंग्लैण्ड एकमात्र नेता रहा। वह औरों से बहुत आगे था और इस अगु-आपन से उसने फ़ायदा भी ख़ूब उठाया।

इंग्लैण्ड और दूसरे पश्चिमी देशों में ये जो बडी तब्दीलियाँ हो रही थीं, वे सदी के शुरू में राजाओं और बादशाहों को दिखाई न पड़ीं। जो नई ताक़तें पैदा हो रही थीं उनके महत्व को उन्होंने नहीं समझा। दूसरे जिन लोगों ने समझा वे भी बहुत थोड़े थे। नेपोलियन का ख़ात्मा हो जानें के बाद योरप के इन राजाओं को सिर्फ़

अपने बचाव और अपने गिरोह को सदा के लिए महफ़ूज़ रखने की फ़िक्र रही । वे दुनिया को मनमानी हुकूमत के लिए महफ़ूज़ कर लेना चाहते थे । फ़्रांस की राज्य-क्रान्ति और नेपोलियन के ज़बर्दस्त ख़ौफ़ का असर अभी उनके दिलों में बाक़ी था और वे कोई नई जोखिम नहीं उठाना चाहते थे । यह तो मैं तुम्हें किसी पिछले ख़त में बता चुका हूँ कि इन लोगों ने आपस में सुलह कर ली थी । वे चाहते थे कि राजाओं का मनमानी करने का 'दैवी अधिकार' महफ़ूज़ रहे और जनता सिर न उठा सके । इस काम के लिए, जैसा पहले भी अक्सर हुआ है, निरंकुश शासन (मनमानी हुकूमत) और मज़हब दोनों मिल बैठे । इन सुलहों में अगुआ था रूस का ज़ार सिकन्दर । उसके देश में उद्योगवाद या नई रोशनी की हवा भी नहीं पहुँच पाई थी और रूस की हालत मध्यकालीन और बहुत पिछडी हुई थी । बडे-बडे शहर बहुत कम थे, तिजारत की बहुत थोडी तरक़्क़ी हुई थी और दस्तकारियाँ भी ऊँचे दर्जे की न थीं । मनमानी हुकूमत का दौरदौरा था। दूसरे यूरोपियन मुल्कों की हालत और ही थी । ज्यों-ज्यों पश्चिम की तरफ़ बढ़ते त्यों-त्यों मध्यमवर्ग ज्यादा-ज्यादा दिखाई देता था । जैसा मैं तुम्हें बता चुका हूँ, इंग्लैण्ड में मनमानी हुकूमत नहीं थी । राजा पर पार्लमेण्ट दबाव रखती थी, मगर ख़ुद पार्लमेण्ट मुट्ठीभर धनवानों के क़ाबू में थी । रूस के स्वेच्छाचारी बादशाहों और इंग्लैण्ड के इस दौलतमंद शासकवर्ग में बड़ा फ़र्क़ था। पर दोनों में एक बात यकसाँ थी। दोनों आम जनता और क्रान्ति से डरते थे।

इस तरह योरपभर में प्रतिक्रिया का बोलबाला था और जिस किसी चीज़ में उदारता या सुधारकपन की ज़रा भी झलक दिखाई देती थी वही बुरी तरह दबा दी जाती थी । सन् १९१५ की वियेना-कॉंग्रेस के फ़ैसले के मुताबिक इटली और पूर्वी योरप की जातियाँ विदेशी हुकूमत के जुए में जोत दी गई थीं । उन्हें ज़ोर-ज़बर्दस्ती से दबाये रखना पड़ता था । लेकिन इस तरह की बातें बहुत दिन तक नहीं चल सकतीं । आगे-पीछे झगड़ा होता ही है । यह ऐसी ही बात है जैसे उबलती हुई पतीली के ढक्कन को पकडे रखने की कोशिश करना । योरप में भी उबाल आरहा था और बार-बार उसकी गरमी फूट पड़ती थी । मैं तुम्हें किसी पिछले ख़त में १८३० की बग़ावतों का ज़िक्र करते हुए बता चुका हूँ कि उस वक्त योरप में कई तब्दीलियाँ हुईं और ख़ास तौर पर फ़्रांस में तो बूर्बन राजघराने का ख़ात्मा ही होगया । इन बग़ावतों से राजा, सम्राट और उनके वज़ीर लोग और भी घबराये और उन्होंने जनता को दबाने में और भी ज्यादा ज़ोर लगा दिया ।

मुख़्तलिफ़ मुल्कों में लड़ाइयों और क्रान्तियों से जो बडी तब्दीलियाँ हुई हैं, इन ख़तों के दौरान में उनका भी अक्सर ज़िक्र आया है । पुराने ज़माने की लड़ाइयाँ

कभी तो मज़हबी होती थीं और कभी राजघरानों की। यानी मुख़्तलिफ़ शाही ख़ानदान अपनी बढ़ती और अख़्तियार के लिए आपस में लड़ते थे। अक्सर एक क़ौम दूसरी क़ौम पर सियासी हमले करती थी। इन सबकी जड़ में आमतौर पर कोई न-कोई आर्थिक कारण भी होता था। इस तरह मध्य-एशियाई जातियों ने योरप और एशिया पर जितने हमले किये उनमें से ज्यादातर हमलों की वजह भूख से तंग आकर पश्चिम की तरफ़ मुँह करना था। माली तरक़्क़ी से भी जातियों या क़ौमों को ताक़त मिलती है और वे दूसरों की बनिस्बत नफ़े में रहती हैं। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि योरप में और दूसरे मुक़ामों पर भी जिन्हें मज़हबी लड़ाई कहा जाता था, उनकी जड़ में भी आर्थिक कारण काम कर रहे थे। जैसे-जैसे हम ज़माना हाल की तरफ़ आते हैं वैसे-वैसे हम देखते हैं कि मज़हबी और ख़ान्दानी लड़ाइयाँ बन्द होती जाती हैं। अलबत्ता सब तरह की लड़ाइयाँ बन्द नहीं होतीं। बदक़िस्मती से उनका ज़हर तो और बढ़ता जाता है। मगर इनके कारण साफ़ तौर पर राजनैतिक और आर्थिक हैं। राजनैतिक कारणों का ताल्लुक़ ख़ासकर क़ौमियत से है। यह संघर्ष या तो एक राष्ट्र यानी क़ौम के दूसरे राष्ट्र को दबाने से होता है या दो बढ़ती हुई और ज़बर्दस्त क़ौमियतों की टक्कर से। यह टक्कर भी ज्यादातर आर्थिक कारणों से यानी, उदाहरण के लिए, उस वक़्त होती है जब मौजूदा उद्योगवादी देश कच्चे माल और बाज़ारों की माँग करते हैं। इस तरह हम देखते हैं, लड़ाई में आर्थिक कारणों का महत्त्व बढ़ता जा रहा है और आज तो दरअसल वे ही सबसे प्रबल कारण हैं।

क्रान्तियों में भी इसी तरह की तब्दीलियाँ हुई हैं। शुरू-शुरू में जो क्रान्तियाँ हुईं वे आमतौर पर राजमहलों में हुईं। राजवंशियों में आपस में साज़िशें और लड़ाइयाँ होतीं और वे एक-दूसरे को क़त्ल कर डालते थे। या कोई रिआया भड़क उठती और ज़ालिम शासक का काम तमाम कर डालती। या कोई मनचला सिपाही फ़ौज की मदद से राजगद्दी पर क़ब्ज़ा जमा बैठता। इन दरबारी क्रान्तियों में से कई सिर्फ़ ऊपर-ऊपर होकर रह जातीं। आम लोगों पर न तो इनका कोई ख़ास असर पड़ता और न वे इनकी बहुत परवा करते। राजा बदल जाता, मगर तरीक़ा वही बना रहता और लोगों की ज़िन्दगी वैसे ही चलती रहती जैसे पहले चलती थी। हाँ, ख़राब राजा बहुत ज़ुल्म करके असह्य बन सकता था और अच्छे राजा को लोग ज्यादा वक़्त तक बर्दाश्त कर सकते थे। मगर राजा अच्छा हो या बुरा, कोरी सियासी तब्दीली से आमतौर पर जनता की सामाजिक और माली हालत में फ़र्क़ नहीं पड़ता। शासकवर्ग हुकूमत करते रहते हैं और दूसरे वर्ग जिस नीची हालत में पहले थे वहीं बने रहते हैं। कोई सामाजिक क्रान्ति नहीं होती।

राष्ट्रीय क्रान्तियों के जरिये ज्यादा बड़ी तब्दीलियाँ होती हैं। जब किसी क़ौम पर दूसरी क़ौम की हुकूमत होती है तो विदेशी शासकवर्ग के हाथ में सारी सत्ता रहती है। इससे कई तरह के नुक़सान होते हैं। फ़ायदा या तो गुलाम मुल्क पर हुकूमत करने पर ग़ैरमुल्क को होता है, या किसी ख़ास विदेशी गिरोह को। गुलाम मुल्क के स्वाभिमान को तो जबर्दस्त ठेस पहुँचती ही है, साथ ही विदेशी शासकवर्ग गुलाम मुल्क के ऊँचे दर्जे के लोगों को ताक़त और हुकूमत के उन ओहदों से दूर रखता है जो उन्हें दूसरी हालत में मिल सकते थे। राष्ट्रीय क्रान्ति के कामयाब होने से कम-से-कम इतना तो होता ही है कि विदेशियों का हाथ नहीं रहता और देश के प्रभावशाली लोग तुरन्त उनकी जगह ले लेते हैं। इस तरह स्वदेशी उच्चवर्ग को तो यह बड़ा फ़ायदा होता है कि विदेशी उच्चवर्ग निकल जाता है और देशभर को यह फ़ायदा होता है कि शासन-कार्य दूसरे देश की भलाई के खयाल से होना बन्द हो जाता है। हाँ, अगर राष्ट्रीय क्रान्ति के साथ-साथ सामाजिक क्रान्ति न हो तो देश के नीचे के वर्गों का बहुत हित नहीं होता।

सामाजिक क्रान्ति इन दूसरी क्रान्तियों से, जिनमें सिर्फ़ ऊपर-ऊपर ही तब्दीली होती है, बिल्कुल मुख़्तलिफ़ चीज है। सामाजिक क्रान्ति में भी राजनैतिक क्रान्ति तो शामिल है ही। साथ-साथ और भी बहुत-सी बातें हो जाती हैं, क्योंकि इससे तो समाज की बनावट ही बदल जाती है। इंग्लैण्ड की राज्य-क्रान्ति सिर्फ़ राजनैतिक क्रान्ति ही न थी; क्योंकि उससे पार्लमेण्ट की ताक़त सबके ऊपर होगई। यह क्रान्ति एक हद तक सामाजिक भी थी; क्योंकि इससे सत्ताधारियों के साथ दौलतमन्द बुर्जुआ या मध्यमवर्ग का रिश्ता क़ायम होगया। इस तरह इस ऊँचे मध्यमवर्ग का दर्जा बढ़ गया और नीचे दर्जे के नागरिक और आम लोग आम तौर पर जहाँ थे वहीं रहे। फ़्रांस की राज्य-क्रान्ति और भी ज्यादा सामाजिक थी। जैसा हम देख चुके हैं, उसने समाज का सारा ढाँचा ही बदल दिया और कुछ वक़्त के लिए आम लोग ऊँचे दर्जे पर पहुँच गये। आख़िरकार यहाँ भी बुजुआ या मध्यमवर्ग की ही जीत हुई। ग़रीबों से क्रान्ति करवा लेने का काम तो निकल ही चुका था। उन्हें फिर पेंदे में बैठा दिया गया। हाँ, ख़ास हक़ और रिआयतों वाले चोटी के उमराव सदा के लिए जाते रहे। यह स्पष्ट है कि ऐसी सामाजिक क्रान्तियों के अंजाम सिर्फ़ सियासी इन्क़लाब से कहीं ज्यादा गहरे और मुकम्मल होते हैं और उनका सामाजिक हालत से गहरा ताल्लुक़ होता है। किसी मनचले आदमी या गिरोह का यह काम नहीं है कि वह सामाजिक क्रान्ति कर डाले, जबतक कि सामाजिक परिस्थिति ही आम जनता को क्रान्ति के लिए तैयार न करदे। तैयार होने से मेरा मतलब यह नहीं है कि लोगों से पहले तैयार होने को

कहा जाय और वे जान-बूझकर तैयारी करें। बल्कि मेरा मतलब यह है कि सामाजिक और आर्थिक स्थिति ऐसी हो जाय जिसमें ज़िन्दगी बोझ बन जाय और बिना इस तरह की तब्दीली के उन्हें न राहत मिलने की सूरत दिखाई दे और न किसी तरह मामला ठीक-ठाक होने की। सच तो यह है कि युग-के-युग बीत गये, मगर बेशुमार इनसानों की ज़िन्दगी उनके लिए बोझ ही बनी हुई है। ताज्जुब यह है कि उन्होंने इसे अबतक बर्दाश्त कैसे किया। कभी-कभी उन्होंने बग़ावतें कर डाली हैं; ख़ास तौर पर किसान लोग भड़क उठे हैं और ग़ुस्से में अन्धे और पागल होकर जो उनके हाथ पड़ गया उसीको तहस-नहस कर दिया है। लेकिन इन लोगों को अपने अन्दर सामाजिक ढाँचा बदल देने की इच्छा होने का पता भी न था। मगर इस अज्ञान के होते हुए भी पुराने ज़मानें में रोम में, योरप में, हिन्दुस्तान में और चीन में बार-बार मौजूदा सामाजिक अवस्था में उथल-पुथल मची है और उसके कारण कितने ही साम्राज्यों का ख़ात्मा होगया है।

पुराने ज़माने में सामाजिक और माली तब्दीलियाँ धीरे-धीरे होती थीं और लम्बे अरसे तक पैदावार के और उसके बँटवारे और ढुलाई के तरीक़े क़रीब-क़रीब वैसे-के-वैसे बने रहते थे। इसलिए लोगों को परिवर्त्तन की क्रिया दिखाई नहीं देती थी और वे समझ लेते थे कि पुरानी समाज-व्यवस्था अमर और अटल है। मज़हब ने इस व्यवस्था और उसके साथ लगे हुए रीति-रिवाज और विश्वासों को दैविक प्रकाश दे दिया था और लोगों को इसपर इतना पक्का विश्वास जम गया था कि जब हालात इस व्यवस्था के बिल्कुल ख़िलाफ़ होगये तब भी वे इसे बदल देने का हर्गिज़ ख़याल नहीं करते थे। सामाजिक क्रान्ति होने और उसके कारण ढुलाई के तरीक़ों में भारी तब्दीली होने के साथ-साथ सामाजिक तब्दीलियाँ भी ज्यादा जल्दी-जल्दी होने लगीं। नये वर्ग सामनें आये और मालदार होगये। कारीगरों और खेती के मज़दूरों से बिलकुल जुदी तरह का मज़दूरों का वर्ग पैदा होगया। इन सब बातों के लिए नई आर्थिक व्यवस्था और राजनैतिक तब्दीलियों की ज़रूरत हुई। पश्चिमी योरप की अजीब और नामुवाफ़िक हालत थी। समझदार समाज जब कभी तब्दीली की ज़रूरत होती है तब ज़रूरी तब्दीलियाँ कर लेता है और इस तरह बदलते हुए हालात का पूरा फ़ायदा उठा लेता है। मगर समाज अक़्लमन्द कहाँ होते हैं और मिलकर कहाँ विचार करते हैं? व्यक्ति अपने ही फ़ायदे की फ़िक्र करते हैं। एकसे स्वार्थ रखनेवाले वर्ग भी ऐसा ही करते हैं। अगर कोई वर्ग समाज के सिर पर बैठा है तो वह वहीं बैठा रहना और नीचेवालों को चूसकर फ़ायदा उठाते रहना चाहता है। अक़्लमन्दी और दूरंदेशी बतलाती है कि अख़ीर में अपना भला करने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि

जिस समाज के हम अंग हैं उस सारे का भला किया जाय। मगर सत्ताधारी मनुष्य या वर्ग तो जो कुछ उसे मिला हुआ है उससे चिपटा रहना चाहता है। इसका सबसे अच्छा तरीक़ा दूसरे वर्गों और लोगों को यह यक़ीन दिलाते रहना है कि समाज के मौजूदा ढाँचे से अच्छा और कोई ढाँचा और तरीक़ा नहीं हो सकता। लोगों के दिलों पर यक़ीन जमाने के लिए मजहब को बीच में घुसेड़ दिया जाता है। तालीम भी यही पाठ पढ़ाने लगती है। बात अचरज की है, मगर होता यहाँतक है कि आख़िर सभी लोगों का विश्वास पक्का हो जाता है और कोई भी इस व्यवस्था को बदलने का विचार नहीं करता। पेंदे में पड़े हुए लोग भी सचमुच यह समझ बैठते हैं कि उनके लिए वहीं पड़े रहना, ठोकरें खाना, बँधे रहना और भूखों मरना ठीक है, भले ही दूसरे लोग ऐश-आराम में रहें।

इस तरह लोग कल्पना कर लेते हैं कि यह समाज-व्यवस्था अटल है और अगर ज्यादातर आदमियों को इसमें दुःख भोगना पड़ता है तो उसमें किसीका क़सूर नहीं है। क़सूर उनका अपना, क़िस्मत का या भाग्य का है, या उनके पुराने गुनाहों की सजा है। समाज हमेशा पुराने विचार का होता है, उसे तब्दीलियाँ नापसन्द होती हैं। एकबार जिस लकीर पर लग जाता है उसीपर चलते रहने में उसे मजा आता है और उसे पक्का विश्वास होजाता है कि वह सदा उसी लकीर पर चलने को बना है। इतना ही नहीं, जो व्यक्ति उसकी हालत सुधारने की ख़्वाहिश से उसे लकीर छोड़कर चलने को कहते हैं उन्हींको समाज ज्यादा सजा देता है।

परन्तु सामाजिक और आर्थिक हालात उन लोगों की मर्जी का इन्तजार नहीं करते जो समाज के बारे में कुछ नहीं सोचते या उससे सन्तुष्ट रहते हैं। हालात आगे बढ़ते हैं, भले ही लोगों के ख़यालात जहाँ-के-तहाँ रहें। इन दक़ियानूसी विचारों और असली स्थिति के बीच का फ़ासला बढ़ता रहता है और यदि इस खाई को पाट-कर दोनों को मिलाने का कुछ भी उपाय नहीं किया जाता है तो व्यवस्था चकनाचूर होकर प्रलय उपस्थित होता है। सच्ची सामाजिक क्रान्तियाँ इसी तरह होती हैं। अगर हालात ऐसे हैं तो क्रान्ति हुए बिना नहीं रह सकती। यह दूसरी बात है कि पुराने ख़यालात की खींचतान के कारण उसमें देर लग जाय। अगर हालात ऐसे नहीं हैं तो कुछ व्यक्तियों से, भले ही वे कितना ही जोर लगावें, क्रान्ति नहीं हो सकती। जब क्रान्ति हो ही जाती है तो फिर असली हालत के बारे में लोगों की आँखों पर पड़ा हुआ पर्दा हट जाता है और वे बहुत जल्दी असलियत को समझ लेते हैं। एक लकीर के बाहर निकले नहीं कि वे सरपट दौड़ते हैं। यही कारण है कि क्रान्ति के जमाने में लोग बड़ी तेजी से आगे बढ़ते हैं। इस तरह क्रान्ति पुरानेपन और पीछे रहने का

लाज़िमी नतीजा है। अगर समाज सदा लकीर छोड़कर चले और कभी इस बेवकूफ़ी और भूल में न फँसे कि अटल समाज-व्यवस्था जैसी भी कोई चीज़ होती है, बल्कि हमेशा बदलते हुए हालात के साथ-साथ चले, तो सामाजिक क्रान्ति होगी ही नहीं। फिर तो लगातार तरक्की होती चली जायगी।

ऐसा पहले तो इरादा नहीं था, मगर मैं क्रांतियों के बारे में ज़रा तफ़सील से लिख गया हूँ। यह मजमून मेरे लिए दिलचस्प है, क्योंकि आज दुनियाभर में बेमेल बातें हो रही हैं और बहुत-से मुक़ामों पर समाज-व्यवस्था टूटती दिखाई दे रही है। पिछली सामाजिक क्रान्तियों के ऐसे ही पूर्व-चिन्ह रहे हैं और इस कारण सहज ही यक़ीन होने लगता है कि हम भी दुनिया में होनेवाली बडी तब्दीलियों के दरवाज़े पर खडे हैं। और सब ग़ुलाम देशों की तरह हिन्दुस्तान में भी क़ौमियत की और विदेशी हुकूमत से छुटकारा पाने की ज़बरदस्त ख़्वाहिश पैदा गई है। मगर क़ौमियत का यह रवैया ज्यादातर ख़ुशहाल लोगों में ही पाया जाता है। किसान-मज़दूर और दूसरे लोगों को, जो हमेशा ज़रूरियात से तंग रहते हैं, राष्ट्रीयता के इन थोथे साधनों से इतनी दिलचस्पी नहीं है जितनी अपने खाली पेट भरने की। यह स्वाभाविक भी है। उनके लिए राष्ट्रीयता या स्वराज्य बेसूद है, अगर उससे उन्हें ज्यादा खाने को न मिले और उनकी हालत सुधर न जाय। इसलिए हिन्दुस्तान में भी आज सवाल सिर्फ़ सियासी नहीं है, सामाजिक ज्यादा है।

क्रान्तियों के बारे में मेरा यह विषयान्तर लम्बा होगया। इसका कारण यह है कि मैं उन्नीसवीं सदी की जिन बग़ावतों और दूसरे झगडों का विचार कर रहा था उनकी तादाद बडी थी। इन बग़ावतों में से बहुत-सी और ख़ासकर उस सदी के पहले आधे हिस्से में होनेवाली विदेशी हुकूमत के ख़िलाफ़ क़ौमी बग़ावतें थीं। इसके साथ-साथ उद्योगवादी मुल्कों में सामाजिक विद्रोह के ख़यालात नये मज़दूरवर्ग में उसके पूंजीवादी मालिकों के साथ कशमकश भी पैदा करने लगे। लोग सामाजिक क्रान्ति के लिए समझ-बूझकर विचार और कार्य करने लगे।

१८४८ ई० का वर्ष योरप में क्रान्तियों का वर्ष कहलाता है। इस वर्ष कितने ही देशों में बलवे हुए। उसमें कुछ कामयाब हुए और ज्यादातर नाकामयाब रहे। पोलैण्ड, इटली, बोहेमिया और हंगरी की बग़ावतों का कारण उनकी दबाई हुई राष्ट्रीयता थी। पोलैण्ड-निवासी प्रशिया के और बोहेमिया और उत्तर-इटली वाले आस्ट्रिया के ख़िलाफ़ खडे हुए थे। उन सबको कुचल दिया गया। इन बग़ावतों में आस्ट्रिया के ख़िलाफ़ हंगरी की बग़ावत सबसे बडी थी। इसका नेता लोजोस कोसूथ था। यह हंगरी के इतिहास में मशहूर देशभक्त और आज़ादी के लिए लड़नेवाला

होगया है। दो वर्ष तक लोहा लेते रहने पर भी यह विद्रोह दबा दिया गया। कुछ साल बाद हंगरी जो चाहता था वह बहुत-कुछ उसे मिल गया। मगर इस बार उसका लड़ाई का तरीक़ा दूसरा था, और नेता भी डीक नाम का एक दूसरा महान् व्यक्ति था। यह मज़े की बात है कि डीक ने सत्याग्रही उपाय इख़्तियार किये थे। सन् १८६७ में हंगरी और आस्ट्रिया क़रीब-क़रीब बराबरी के दर्जे पर मिल गये, दोनों का एक ही राज्य बना और हैप्सबर्ग खानदान का सम्राट फ़्रांसिस जोज़फ़ 'दुहरा शासन' करने लगा। आधी सदी के बाद डीक के इन्हीं सत्याग्रही तरीक़ों की नक़ल आयर्लैण्ड वालों ने अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ की। जब बापू ने १९२० ई० में असहयोग आरम्भ किया तो कुछ लोगों को डीक की लड़ाई याद आई। लेकिन इन दोनों तरीक़ों में बहुत बड़ा फ़र्क़ था।

१८४८ ई० में जर्मनी में भी बग़ावतें हुईं, मगर वे बहुत गहरी नहीं थीं। वे दबा दी गईं और कुछ सुधारों का वादा कर दिया गया। फ़्रांस में बडी तब्दीली हुई। जबसे १८३० ई० में बूर्बन खानदान के राजाओं को निकाल दिया गया था तभीसे लुई फ़िलिप हुकूमत कर रहा था। वह आधा वैध और आधा निरंकुश शासक था। १८४८ ई० तक लोग उससे ऊब चुके थे और उसे गद्दी छोड़नी पडी। फिर प्रजातंत्र क़ायम हुआ। यह दूसरा प्रजातंत्र कहलाया, क्योंकि पहला तो महान् क्रांति के मौक़े पर क़ायम हुआ था। इस गड़बड़ से फ़ायदा उठाकर नेपोलियन का लुई बोनापार्ट नाम का एक भतीजा पैरिस में आया। उसने अपनेको आज़ादी का बड़ा हामी बताकर प्रजातंत्र का अध्यक्ष चुनवा लिया। यह ताक़त हासिल करने का सिर्फ़ एक बहाना था। जब उसकी ताक़त मज़बूत हो गई तो उसने फ़ौज पर भी क़ाबू कर लिया। और १८५१ में एकाएक बडी राजनैतिक चालबाज़ी की। उसने अपने सिपाहियों की मदद से पेरिस को भयभीत कर दिया, बहुत लोगों को गोली से उड़ा दिया और असेम्बली को दबा दिया। अगले साल वह सम्राट् बन बैठा और अपना नाम तीसरा नेपोलियन रख लिया, क्योंकि महान् नेपोलियन का बेटा दूसरा नेपोलियन समझा जाता, उसने राज्य न किया तो क्या हुआ? चार वर्ष से कुछ ज्यादा समय की मुख़्तसर और बेशोहरत ज़िन्दगी बिताने के बाद दूसरे प्रजातंत्र का यह ख़ात्मा हुआ! इस तीसरे नेपोलियन का ज्यादा हाल तुम्हें आगे चलकर बताऊँगा।

इंग्लैण्ड में सन् १८४८ ई० में विद्रोह तो नहीं हुआ, मगर झगडे और उपद्रव ख़ूब रहे। इंग्लैण्ड का यह ढंग है कि जब सचमुच झगड़ा बढ़ने लगता है तो वह उसके सामने झुककर अपनेको बचा लेता है। उसका विधान लचकीला होने के कारण वह भी इसमें मददगार होता है। लम्बे अभ्यास के कारण, जब और कोई रास्ता न दिखाई

दे तो, अंग्रेज कोई-न-कोई समझौता कर लेता है। इस तरीक़े से अंग्रेजों को उन बडी और नागहानी तब्दीलियों का सामना नहीं करना पड़ा है जो ज्यादा सख्त शासन-विधान और जिद्दी रिआया के कारण दूसरे देशों में हुई हैं। १८३२ ई० में इंग्लैण्ड-भर में एक सुधार-क़ानून को लेकर बड़ा भारी आन्दोलन हुआ। इस क़ानून के जरिये थोडे और लोगों को पार्लमेण्ट के सदस्य चुनने का हक़ दिया गया था। आजकल के माप से देखें तो यह क़ानून बहुत नरम और निर्दोष था। थोडे मध्यम वर्ग के लोगों को वोट देने का हक़ और मिला था। मजदूर और ज्यादातर दूसरे प्रजाजनों को उस समय भी राय देने का हक़ नहीं दिया गया। मगर उन दिनों पार्लमेण्ट थोडे-से दौलतमन्दों के हाथों में थी। उन्हें अपने खास हुकूक और नागरिक इलाक़े छिन जाने का डर था। इन इलाक़ों से वे पार्लमेण्ट की आम सभा में आसानी से चुन लिये जाते थे। इस कारण इन लोगों ने अपना जोर लगाकर सुधार-क़ानून की मुखालफ़त की। वे कहते थे कि अगर यह क़ानून पास होगया तो इंग्लैण्ड रसातल को चला जायगा और संसार में प्रलय हो जायगा। इंग्लैण्ड में गृह-युद्ध छिड़ने ही वाला था कि इस क़ानून के पक्ष में सार्वजनिक आन्दोलन का जोर देखकर विरोधी दल घबरा गया और क़ानून पास होगया। कहना न होगा कि इस क़ानून के पास हो जाने पर भी दुनिया क़ायम रही और पहले की तरह पार्लमेण्ट में धनवानों का ही बोलबाला जारी रहा। सिर्फ़ मध्यमवर्ग के हाथ में थोडी ताक़त और आगई।

१८४८ के आसपास इंग्लैण्ड में एक और बडी हलचल हुई। यह अधिकार-आन्दोलन (Chartist Agitation) के नाम से मशहूर हुई, क्योंकि इसमें कई तरह के सुधारों की माँग का सार्वजनिक अधिकार-पत्र एक बडे अर्जनामे की शक्ल में पार्लमेण्ट में पेश करने की तजवीज़ थी। इससे शासकवर्ग बहुत डर गये और आन्दोलन दबा दिया गया। कारखानों के मजदूरों को बहुत तकलीफ़ और असंतोष था। इसी समय मजदूरों के बारे में कुछ कानून बनने लगे और उनसे मजदूरों की हालत ज़रा सुधरी। इंग्लैंड अपने बढ़ते हुए व्यापार से खूब धन कमा रहा था। वह 'संसार का पुतलीघर' बन रहा था। यह मुनाफ़ा ज्यादातर तो कारखानों के मालिकों को मिलता था, पर मजदूरों तक भी उसका थोड़ा-सा हिस्सा पहुँच जाता था। इन सब कारणों से १८४८ ई० में क्रान्ति होने से बच गई। मगर उस वक्त वह नजदीक अवश्य आ गई थी।)

अभी मैंने १८४८ ई० का हाल पूरा नहीं किया है। उस साल रोम में क्या हुआ, यह बताना बाक़ी है। इसे दूसरे खत के लिए रखना पड़ेगा।

इटली संयुक्त और स्वतंत्र राष्ट्र बन जाता है

३० जनवरी, १९३३
वसन्त-पंचमी

अपने १८४८ ई० के बयान में मैंने इटली को अख़ीर में रख लिया था। उस वर्ष की उत्तेजनापूर्ण घटनाओं में सबसे ज्यादा आकर्षक रोम की बहादुराना लड़ाई थी।

नेपोलियन के ज़माने से पहले इटली छोटी-छोटी रियासतों और राजाओं का समूह था। थोड़े अरसे के लिए नेपोलियन ने उन्हें मिलाकर एक किया था। नेपोलियन के बाद उसकी फिर वही या उससे भी कुछ बुरी हालत होगई। विजयी मित्र-राष्ट्रों ने १८१५ ई० की वियेना-कांग्रेस में बड़े लिहाज से काम लेकर इस देश को आपस में बाँट लिया। आस्ट्रिया ने वेनिस और उसके इर्द-गिर्द का बड़ा-सा इलाक़ा लेलिया। आस्ट्रिया के कई राजाओं को बढ़िया-बढ़िया हिस्से दे दिये गये। पोप रोम में लौट आया और उसके आसपास के रजवाडे उसे वापस मिल गये। ये 'पोप के राज्य' (Papal States) कहलाते थे। नेपल्स और दक्षिण इटली को मिलाकर दोनों सिसलियों का एक राज्य एक बूर्बन राजा के मातहत बना दिया गया। फ्रांस की सरहद के पास, उत्तर-पश्चिम में, पीडमॉण्ट और सार्डीनिया का एक राजा हुआ। पीडमॉण्ट को छोड़कर बाकी इन सब छोटे-छोटे राजाओं ने बडी मनमानी हुकूमत की। रिआया पर इनका ज़ुल्म इतना बढ़ गया कि नेपोलियन से पहले इन्होंने या और किसीने इतना ज़ुल्म नहीं किया था, लेकिन नेपोलियन के आने से इटली जाग गया और वहांके नौजवान आज़ाद और संयुक्त इटली के सपने देखने लगे। राजाओं के बावजूद, या शायद उसके कारण, कई छोटे-मोटे बलवे हुए और गुप्त समितियों का जाल बिछ गया।

थोड़े दिनों बाद एक जोशीला नौजवान सामने आया और उसे आज़ादी की लड़ाई का नेता मान लिया गया। यह इटली की क़ौमियत का पैग़म्बर ग्वीसेप मैज़िनी था। १८३१ ई० में उसने 'नौजवान इटली' (Giovane Italia) नाम की संस्था क़ायम की। इटली का प्रजातंत्र इसका ध्येय रक्खा गया। उसने इसके लिए कई वर्ष तक काम किया। उसे निर्वासित यानी जलावतन भी रहना पड़ा और अकसर अपनी जान जोखिम में डालनी पडी। राष्ट्रीय साहित्य में उसकी किताबें ऊँचे दर्जे की मानी जाने लगीं। १८४८ ई० में जब उत्तरी इटली में जगह-जगह बलवे की आग भड़क रही थी, मैज़िनी को मौक़ा मिल गया और वह रोम चला आया।

पोप को निकाल बाहर किया गया और तीन आदमियों की समिति के मातहत प्रजा- तन्त्र-राज्य का ऐलान कर दिया गया। इस त्रिमूर्ति को पुराने रोमन इतिहास से लेकर 'त्रियमवीर' नाम दिया गया। इनमें एक मैज़िनी था। इस नये प्रजातंत्र पर चारों तरफ़ से हमले हुए। आस्ट्रिया वाले, नेपोलियन के भक्त और यहाँतक कि फ्रेंच लोग भी पोप को फिर से गद्दी पर बिठाने के लिए इसपर टूट पड़े। रोम के प्रजातंत्र की तरफ़ से लड़नेवालों का सरदार गैरीबाल्डी था। उसने आस्ट्रियावालों को रोक रक्खा, नेपोलियन के भक्तों को हरा दिया और फ्रांस वालों को भी आगे न बढ़ने दिया। यह सब स्वयंसेवकों की मदद से किया गया और प्रजातन्त्र की रक्षा में रोम के अच्छे-से-अच्छे और बहादुर-से-बहादुर युवकों ने अपनी जान दी। पर आख़िरकार इस बहादुराना लड़ाई के बाद रोम का प्रजातंत्र फ़्रांस वालों से हार गया, और उन लोगों ने पोप को फिर से ला बिठाया।

इस तरह लड़ाई की पहली क़िस्त ख़त्म हुई। मैज़िनी और गैरीबाल्डी अगली लड़ाई की तैयारी और प्रचार का काम मुख़्तलिफ़ तरीक़ों से करते रहे। वे एक-दूसरे से बहुत भिन्न थे। एक विचारक और आदर्शवादी था और दूसरा सिपाही, जिसमें छिपकर लड़ाई करने या छापा मारने की ज़बरदस्त क़ाबलियत थी। दोनों को इटली की आज़ादी और एकता की बड़ी लगन थी। इस मौक़े पर इस बड़े खेल में एक तीसरा खिलाड़ी और प्रकट हुआ। यह पीडमॉण्ट के राजा विक्टर इम्मैनुएल का प्रधानमंत्री कावूर था। उसका असली मक़सद विक्टर इम्मैनुएल को इटली का राजा बनाना था। चूंकि इसके लिए कई छोटे-छोटे राजाओं को दबाने और हटाने की ज़रूरत थी, इसलिए कावूर मैज़िनी और गैरीबाल्डी के कामों का फ़ायदा उठाने को पूरी तरह तैयार था। उसने फ्रांस वालों से साज़िश की और उन्हें अपने दुश्मन आस्ट्रिया वालों के साथ लड़ाई में फँसा दिया। उस वक़्त फ्रांस का राजा तीसरा नेपोलियन था। यह १८५९ ई० की बात है। फ्रांस वालों के हाथों आस्ट्रिया वालों की हार का गैरीबाल्डी ने फ़ायदा उठाया और नैंपल्स और सिसली के राजा पर अपनी तरफ़ से एक असाधारण हमला बोल दिया। गैरीबाल्डी की इस मशहूर फ़ौज में लालकुर्तीवाले एक हज़ार आदमी थे। न उन्होंने तालीम पाई थी और न उनके पास ठीक तरह के हथियार और सामान ही थे। उनके मुक़ाबिले में सुरक्षित और सुसज्जित फ़ौजें थीं। इन एक हज़ार लालकुर्तीवालों के दुश्मनों की तादाद भी उनसे कहीं ज़्यादा थी। लेकिन उनकी हिम्मत और जनता की हमदर्दी के कारण उन्हें फ़तह पर फतह मिलती गई। गैरीबाल्डी की शोहरत चारों तरफ़ होगई। उसके नाम में ऐसा जादू था कि उसके पास पहुँचते ही फ़ौजें ग़ायब हो जाती थीं। फिर भी गैरीबाल्डी

का काम मुश्किल था और कितनी ही बार उसे और उसके स्वयंसेवकों को हार और प्रलय के दर्शन होने लगते थे। किन्तु हार की घड़ियों में भी क़िस्मत उसपर महरबान होजाती। जान झोंककर किये जानेवाले हिम्मत के कामों में अक्सर ऐसा ही होता है और हार भी जीत में बदल जाती है।

गैरीबाल्डी और उसके हज़ार साथी सिसली के किनारे उतरे। वहाँसे वे धीरे-धीरे इटली तक पहुँच गये। दक्षिण इटली के गाँवों में कूच करते-करते वह स्वयंसेवकों की माँग करता जाता। उसके इनाम भी अजीब होते थे। वह कहता—"चले आओ! चले आओ! इस वक्त बुज़दिल ही घर में घुसा रह सकता है। मैं तुम्हें वचन देता हूँ कि मेरे साथ तुम्हें थकान, तकलीफ़ें और लड़ाइयाँ मिलेंगी; परन्तु हम या तो जीतेंगे या जान दे देंगे।" दुनिया कामयाबी की क़द्र करती है। गैरीबाल्डी की शुरू की कामयाबी ने इटली के लोगों के क़ौमियत के ख़याल को वह जोश दिया कि स्वयंसेवकों का ताँता बँध गया और वे गैरीबाल्डी का गीत गाते हुए उत्तर की तरफ़ बढ़े। उस गीत का मतलब यह है:—

> क़बरें उघड़ गई हैं और मुर्दे उठ-उठकर दूर-दूर से चले आ रहे हैं,
> हमारे शहीदों की प्रेतात्मायें युद्ध के लिए जीवित होकर तलवारें हाथों में
> लिये हुए और ख्याति के बिल्ले लगाये हुए तैयार हो रही हैं,
> और मुर्दा दिलों में भी इटली के नाम का जादू चमक रहा है।
> आओ, उनमें मिल जाओ! देश के युवको, आओ, उनका साथ दो!
> आओ, अपना झण्डा फहरा दो और जंग के बाजे बजा दो!
> ठंडे फौलाद का-सा इरादा और आग-जैसा गरम दिल लेकर आजाओ।
> इटली की आकांक्षाओं की ज्वाला जलाकर लेते आओ!
> ऐ विदेशी, इटली से निकल जा; हमारे घर से निकल जा।"

राष्ट्रीय गीत सब जगह कितने मिलते-जुलते होते हैं!

कावूर ने गैरीबाल्डी की कामयाबियों से फ़ायदा उठाया। नतीजा यह हुआ कि १८६१ ई० में पीडमॉण्ट का विक्टर इम्मैन्युएल इटली का राजा होगया। रोम पर उस वक्त भी फ्रांस की फ़ौजों का क़ब्ज़ा था। वेनिस आस्ट्रिया वालों के हाथ में था। इस वर्ष के भीतर वेनिस और रोम बाक़ी इटली में मिल गये और रोम राजधानी बन गया। आख़िर इटली एक संयुक्तराष्ट्र होगया। लेकिन मैजिनी को इससे ख़ुशी नहीं हुई। उसने सारी उम्र प्रजातंत्र के आदर्श के लिए मेहनत की थी और अब इटली सिर्फ पीडमॉण्ट के विक्टर इम्मैन्युएल का राज्य बन गया। यह सत्य है कि नया राज्य वैध राज्य था और विक्टर इम्मैन्युएल के राजा बनते ही टूरिन में इटली की पार्लमेण्ट की फ़ौरन बैठक हुई।

इस तरह इटली राष्ट्र फिर से विदेशी राज्य से आज़ाद होगया। यह तीन आदमियों की करामात थी। मैज़िनी, गैरीबाल्डी और कावूर। इन तीनों में से शायद एक भी न होता तो इस आज़ादी को आने में देर लगती। कई वर्ष बाद अंग्रेज़ कवि और उपन्यासकार जॉर्ज मेरिडिथ ने इसपर एक कविता लिखी थी, जिसका मतलब यों है:—

हमने इटली की प्रसव-पीड़ा देखी है। हमने वह वक्त देखा है जब इटली उठकर खड़ा हुआ कि उसे फिर जमीन पर गिरा दिया गया है। आज वह गेहूँ के हरे-भरे खेत की तरह दिखाई देता है। जहाँ एक दिन हल चलते, वहाँ विपुलता और सौंदर्य का ठाठ है। यह देखकर हमें उन लोगों की याद आ रही है जिन्होंने इटली के शरीर में प्राण फूँके थे। वे तीन आदमी कावूर, मैज़िनी और गैरीबाल्डी थे। एक इटली का दिमाग़ था, दूसरा उसकी आत्मा, और तीसरा उसकी तलवार। इन तीनों का एक ही तेजस्वी ध्येय था। इन तीनों ने नाशकारी फूट से उसका उद्धार किया।

मैंने तुम्हें इटली की आज़ादी की लड़ाई की मोटी-मोटी बातें और मुख़्तसर कहानी सुनादी है। यह छोटा-सा बयान तुम्हें इतिहास के दूसरे मुर्दा हिस्सों की तरह लगेगा। मगर मैं तुम्हें बताता हूँ कि तुम इस कहानी को सजीव कैसे बना सकती हो और अपने दिल को इस लड़ाई की ख़ुशी और दर्द से कैसे भर सकती हो। कम-से-कम मुझे तो बहुत समय पहले, जब मैं स्कूल का विद्यार्थी था, ऐसा ही अनुभव हुआ था। मैंने यह कहानी जी० एम० ट्रेवेलियन की तीन किताबों में पढ़ी थी। वे थीं 'गैरीबाल्डी और रोमन प्रजातंत्र के लिए युद्ध' (Garibaldi and the Fight for the Roman Republic), 'गैरीबाल्डी और उसके हज़ार सिपाही' (Garibaldi and the thousand) और 'गैरीबाल्डी और इटली का निर्माण' (Garibaldi and the making of Italy)।

इटली की आज़ादी की लड़ाई के दिनों में अंग्रेज़ जनता की हमदर्दी गैरीबाल्डी और उसके लालकुर्तीवाले स्वयंसेवकों के साथ थी और कितने ही अंग्रेज़ कवियों ने इस लड़ाई पर जोशीली कवितायें लिखी थीं। यह ताज्जुब की बात है कि जहाँ अंग्रेज़ों का स्वार्थ आड़े नहीं आता वहाँ वे अकसर आज़ादी के लिए लड़नेवाले राष्ट्रों के साथ कितनी हमदर्दी दिखाते हैं! यूनान आज़ादी के लिए लड़ता है तो वे अपने कवि बायरन और दूसरे लोगों को भेज देते हैं। इटली के प्रोत्साहन के लिए उनकी सारी सभ्दावनायें पहुँच जाती हैं। मगर अपने पड़ोसी आयर्लैण्ड या दूर के मिस्र और हिन्दुस्तान वग़ैरा देशों में अंग्रेज़ी दूत बड़ी-से-बड़ी तोपें और सर्वनाश की सामग्री ले जाते हैं। उस वक़्त इटली के बारे में स्विनबर्न, मेरिडिथ और एलीज़ाबेथ बैरेट

ब्रोरिंग ने बड़ी सुन्दर कवितायें लिखी थीं। मेरीडिथ ने तो इस मज़मून पर उपन्यास भी लिखे थे। मैं यहाँ स्विनबर्न की एक कविता का आशय देता हूँ। यह रोम के सामने का पड़ाव (The Halt before Rome) **के नाम से मशहूर है। यह उस वक्त लिखी गई थी जबकि इटली की लड़ाई जारी थी और उसमें कई रुकावटें पेश आ रही थीं और उसके कई देशद्रोही विदेशी प्रभुओं का काम कर रहे थे। स्विनबर्न की कविता का आशय यह है :—**

तुम्हारे मालिक तुम्हें दान दे सकते हैं, मगर स्वतन्त्रता-देवी के पास देने को दान कहाँ है ?

उसके पास देने को न आश्रय है, न स्थान। वह तो भूखों मरती, खून बहाती, जागरण करती हुई अपनी सेनाओं को तेज़ी से आगे बढ़ाती है। वे सेनायें प्राण देकर आज़ादी का बीज बोती हैं, ताकि उसकी खाक से राष्ट्र की फिर रचना हो सके और उसकी आत्मा प्रकाश से फिर तारे की तरह चमक उठे।

: १२८ :

जर्मनी का उत्थान

३१ जनवरी, १९३३

पिछले खत में हम योरप के एक बड़े राष्ट्र का बनना देख चुके हैं। अब हमें मौजूदा समय के दूसरे बड़े राष्ट्र जर्मनी की रचना देखनी है।

एक ज़बान और दूसरे कई समान लक्षण होते हुए भी जर्मन राष्ट्र बहुत-सी छोटी-बड़ी रियासतों में बँटा हुआ था। कई सदियों तक हैप्सबर्ग खानदान के मातहत आस्ट्रिया जर्मनी का सबसे ताक़तवर राज्य था। बाद में प्रशिया आगे आया और इन दोनों ताक़तों में नेतृत्व के लिए बड़ी लाग-डाँट रही। नेपोलियन ने इन दोनों को नीचा दिखाया। उसने जर्मनी को इतना ज्यादा झँझोड़ा कि वहाँ राष्ट्रीयता प्रबल हो गई और वही उसकी आखिरी हार में मददगार हुई। इस तरह इटली और जर्मनी दोनों में नेपोलियन ने अनजान में और बिना चाहे राष्ट्रीय भावना और आज़ादी के विचारों को उत्तेजन दिया। नेपोलियन के जमाने के जर्मन राष्ट्रवादियों में एक खास आदमी फ़िश्टे था, वह दार्शनिक भी था और गहरा देशभक्त भी। उसने अपने देश वालों को जगाने का बहुत काम किया था।

नेपोलियन के पचास वर्ष बाद तक जर्मनी के छोटे-छोटे रजवाड़े बने रहे। उनका संघ बनाने की कई बार कोशिशें हुईं; मगर वे बेकार गईं, क्योंकि आस्ट्रिया और प्रशिया दोनों के राजा और राज्य संघ के मुखिया बनना चाहते थे। इस बीच

में सभी उदार विचारों का खूब दमन हुआ और १८३० और १८४८ ई० में बग़ावतें हुईं। मगर वे दबोच दी गईं। जनता का मुँह बन्द करने के लिए कुछ छोटे-छोटे सुधार भी किये गये।

इंग्लैंड की तरह जर्मनी के कुछ हिस्सों में कोयले और कच्चे लोहे की खानें थीं। इससे वहांकी स्थिति औद्योगिक विकास के लिए अनुकूल थी। जर्मनी दार्शनिकों और वैज्ञानिकों और सिपाहियों के लिए भी (!) मशहूर था। वहाँ कारखाने खड़े होगये और कारख़ाने के मज़दूरों का एक वर्ग पैदा हो गया।

इस मौक़े पर, यानी उन्नीसवीं सदी के बीच में, प्रशिया में एक आदमी उठा, जिसका आगे चलकर बहुत दिनों तक न सिर्फ़ जर्मनी पर बल्कि सारे योरप पर सिक्का रहा। यह आदमी प्रशिया का एक ज़मींदार था और उसका नाम ओटो वॉन बिस्मार्क था। वह वाटरलू की लड़ाई के साल यानी १८१५ ई० में पैदा हुआ था और उसने अलग-अलग दरबारों में कई वर्ष राजदूत का काम किया था। १८६२ ई० में वह प्रशिया का प्रधानमंत्री बना और प्रधानमंत्री बनते ही उसने हाथ-पाँव फैलाने शुरू किये। प्रधानमंत्री बनने के एक हफ़्ते के अन्दर उसने अपने एक भाषण के दौरान में कहा—"इस जमाने के बड़े सवाल तक़रीरों और बहुमत के प्रस्तावों से हल नहीं होंगे। उन्हें तलवार और ख़ून तय करेंगे।"

तलवार और ख़ून ! ये मशहूर होगये। ये शब्द सचमुच उसकी नीति को ज़ाहिर करते थे। उस नीति को उसने दूरंदेशी और मज़बूती के साथ निभाया। उसे लोकसत्ता से नफ़रत थी और वह पार्लमेण्टों और प्रजा-परिषदों के साथ हिक़ारत का बर्ताव करता था। वह पुराने ज़माने की चीज़ मालूम होता था, मगर उसकी क़ाबलियत और पक्का इरादा ऐसा था कि उसने वर्तमान काल को अपनी इच्छा के सामने झुका लिया। वर्तमान जर्मनी का निर्माण उसीने किया और उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में योरप के इतिहास को उसने अपने ही साँचे में ढाला। दार्शनिकों और वैज्ञानिकों का जर्मनी तो पीछे रह गया और ख़ून और तलवार वाला नया जर्मनी अपनी फ़ौजी क़ाबलियत के ज़ोर से योरप पर हावी होने लगा। उस वक़्त के जर्मनी के एक बड़े आदमी ने कहा था, "बिस्मार्क जर्मनी को बड़ा बना रहा है और जर्मनों को छोटा।" जर्मनी को योरप और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में बड़ा राष्ट्र बनाने की उसकी नीति से जर्मन लोग खुश होते थे और राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के बढ़ने से उन्हें जो सन्तोष होता था उसके कारण वे बिस्मार्क के सब तरह के दमन को सह लेते थे।

बिस्मार्क के हाथ जब बागडोर आई तब उसके दिमाग़ में साफ़-साफ़ विचार थे कि उसे क्या-क्या करना है और उसके पास सावधानी से बनाई हुई योजना थी।

वह दृढ़ता के साथ उस योजना पर डटा रहा और उसे खूब कामयाबी मिली। वह जर्मनी का और जर्मनी के ज़रिये प्रशिया का योरप में प्रभुत्व क़ायम करना चाहता था। उस वक़्त तीसरे नेपोलियन के मातहत फ़्रांस योरप में सबसे बलवान राष्ट्र समझा जाता था। आस्ट्रिया भी एक बड़ा जोडीदार था। पुराने ढंग की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और मुसद्दीपन के एक सबक़ की शक्ल में यह देखकर बडी दिलचस्पी होती थी कि बिस्मार्क दूसरे राज्यों को किस तरह खेल खिलाता था और उन्हें बारी-बारी से एक-एक करके कैसे टरकाता था। सबसे पहली बात, जिसके करने का उसने बीड़ा उठाया, जर्मनी के नेतृत्व का सवाल सदा के लिए हल कर डालने की थी। प्रशिया और आस्ट्रिया की लाग-डाँट जारी नहीं रहने दी जा सकती थी। इस सवाल का आख़िरी फ़ैसला प्रशिया के पक्ष में होना चाहिए था और आस्ट्रिया को महसूस कर लेना चाहिए था कि उसका दर्जा दूसरा रहेगा। आस्ट्रिया के पतन के बाद प्रशिया की तरक़्क़ी होनी थी और बाद में फ़्रांस की बारी आनी थी। (यह याद रखना कि जब मैं प्रशिया, आस्ट्रिया और फ़्रांस की बात करता हूँ तब मेरा मतलब वहाँकी सरकारों से है। ये सरकारें थोडी या बहुत मात्रा में निरंकुश थीं और वहाँकी पार्लमेण्टों के हाथ में बहुत कम ताक़त थी।)

इस तरह बिस्मार्क ने चुपचाप अपनी फ़ौजी मशीन को पूरे तौर पर दुरुस्त कर लिया। इसी बीच में तीसरे नेपोलियन ने आस्ट्रिया पर हमला कर उसे हरा दिया। इस हार के कारण गैरीबाल्डी की दक्षिण इटली की लड़ाई शुरू हुई और अख़ीर में इटली को आज़ादी हासिल हुई। ये सब बातें बिस्मार्क के अनुकूल थीं, क्योंकि इनसे आस्ट्रिया की ताक़त घट गई। रूसी पोलैण्ड में क़ौमी बग़ावत हुई तो बिस्मार्क ने सचमुच आगे होकर ज़ार को ज़रूरत होने पर पोलैण्ड वालों को गोली से उड़ा देने तक में मदद देने का प्रस्ताव पास किया। यह बड़ा कमीना प्रस्ताव था, मगर योरप की किसी आनेवाली पेचीदगी में ज़ार की हमदर्दी हासिल करने का उद्देश्य इससे ख़ूब अच्छी तरह पूरा हुआ। फिर बिस्मार्क ने आस्ट्रिया से मिलकर डेनमार्क को हराया और फिर जल्द ही उसने आस्ट्रिया की तरफ़ मुँह किया। हां, उसने बडी होशियारी से फ़्रांस और इटली की मदद हासिल करली थी। १८६६ ई० में थोडेसे वक्त में प्रशिया ने आस्ट्रिया को दबा दिया। जब जर्मन नेतृत्व का सवाल तय होगया और यह बात हो गई कि प्रशिया की प्रभुता रहेगी तो बिस्मार्क ने आस्ट्रिया के साथ अच्छा सलूक करके बडी अक्लमन्दी दिखाई। इससे आस्ट्रिया के दिल में कटुता नहीं रही। अब प्रशिया के नेतृत्व में उत्तर-जर्मनी का संघ बनने का रास्ता साफ होगया (आस्ट्रिया उसमें नहीं था)। बिस्मार्क संघ का प्रधान बना। आजकल हमारे कुछ

राजनीति-विशारद और क़ानूनदां महीनों और वर्षों तक संघों और विधानों के बारे में चर्चा और दलीलें किया करते हैं। उनके लिए दिलचस्पी की बात होगी कि बिस्मार्क ने उत्तर-जर्मनी के संघ का नया विधान पाँच घण्टे में लिखवा दिया था। यही विधान, इधर-उधर की तब्दीलियों के साथ, पचास वर्ष तक जर्मनी का विधान बना रहा। जब १९१८ ई० में योरप का महायुद्ध बन्द हुआ और जर्मनी में प्रजातंत्र क़ायम हुआ तब कहीं दूसरा विधान बना।

बिस्मार्क का पहला बड़ा उद्देश्य पूरा हो चुका था और प्रशिया अब जर्मनी में सबसे ताक़तवर था। दूसरा काम फ़्रांस को नीचा दिखाकर योरप पर हावी होना था। इसकी तैयारी उसने चुपचाप और शोरगुल मचाये बिना की। दूसरे यूरोपीय राष्ट्र यह समझते रहे कि सिर्फ़ जर्मन एकता की कोशिश की जा रही है। उन्हें कुछ भी शुबहा नहीं हुआ। हारे हुए आस्ट्रिया के साथ भी इतना अच्छा सलूक किया गया कि उसकी दुर्भावना प्रायः दूर हो गई। इंग्लैण्ड फ़्रांस का ऐतिहासिक प्रतिद्वन्द्वी ठहरा। वह तीसरे नेपोलियन की महत्त्वाकांक्षा से भरी योजनाओं को बड़े शुबहे की नज़र से देखता था। इस कारण फ़्रांस के साथ किसी भी लड़ाई में इंग्लैण्ड की हमदर्दी हासिल करना बिस्मार्क के लिए मुश्किल नहीं था। जब वह लड़ाई के लिए बिलकुल तैयार होगया तो उसने अपना खेल इतनी होशियारी के साथ खेला कि दरअसल १८७० ई० में तीसरे नेपोलियन ने प्रशिया के ख़िलाफ़ लड़ाई का ऐलान किया। योरप को ऐसा लगा मानों प्रशिया की सरकार हमलावर फ्रांस की बेक़सूर शिकार हुई। पेरिस के लोग 'बर्लिन को ! बर्लिन को !' चिल्लाने लगे और तीसरे नेपोलियन ने यक़ीन के साथ समझ लिया कि वह सचमुच अपनी विजयी फ़ौज का सरदार बनकर जल्द बर्लिन पहुँच जायगा। मगर हुआ कुछ और ही। बिस्मार्क की सधी हुई फौजी ताक़त फ़्रांस की उत्तर-पूर्वी सरहद पर टूट पड़ी और उसके आगे फ़्रांस की फौज सिकुड़कर बेजान होगई। कुछ हफ़्तों में सेदान के मुक़ाम पर खुद सम्राट तीसरा नेपोलियन और उसकी फौज जर्मनों के हाथों क़ैद हुए।

इस तरह नेपोलियन खानदान का दूसरा फ़्रांसीसी साम्राज्य ख़त्म हुआ और उसके बाद फ़ौरन पेरिस में प्रजातंत्र शासन क़ायम हो गया। नेपोलियन के पतन के कई कारण थे। मुख्य कारण यह था कि वह अपनी दमन-नीति की वजह से अपनी रिआया की मुहब्बत बिलकुल खो चुका था। उसने विदेशी लड़ाइयों में जनता का ध्यान बँटाने की कोशिश की। मुसीबतज़दा राजाओं और सरकारों का यही प्यारा तरीक़ा है। नेपोलियन तो कामयाब नहीं हुआ। हां, लड़ाई ने उसकी महत्त्वाकांक्षा का अवश्य सदा के लिए ख़ात्मा कर दिया।

पेरिस में राष्ट्र-रक्षा (National Defence) की सरकार बनी। उसने प्रशिया के साथ सुलह का प्रस्ताव किया, मगर बिस्मार्क की शर्तें इतनी अपमानजनक थीं कि पेरिस वालों के पास कोई फ़ौज न होते हुए भी उन्हें लड़ाई जारी रखने का फ़ैसला करने को मजबूर होना पड़ा। जर्मन फ़ौजें बहुत समय तक वर्साई में और पेरिस के चारों तरफ़ घेरा डाले पड़ी रहीं। अख़ीर में पेरिस ने हथियार डाल दिये और नये प्रजातंत्र ने हार मानकर बिस्मार्क की शर्तें मंजूर करलीं। लड़ाई के हर्जाने की भारी रक़म देना क़बूल किया गया। जिस बात से फ़्रांस को ज्यादा चोट पहुँची वह यह थी कि अलसेस लॉरेन के जो प्रदेश दोसौ से भी ज्यादा साल तक फ्रांस के हिस्से रह चुके थे, उन्हें भी जर्मनी के हवाले कर देना पड़ा।

मगर पेरिस का घेरा उठने से पहले ही वर्साई में एक नये साम्राज्य का जन्म हो गया। १८७० ई० के सितम्बर में तो तीसरे नेपोलियन का फ्रांसीसी साम्राज्य ख़त्म हुआ और १८७१ ई० की जनवरी में वर्साई के सोलहवें लुई के आलीशान दीवानख़ाने में संयुक्त जर्मनी का ऐलान हुआ और प्रशिया का राजा क़ैसर के नाम से सम्राट बना। सारे जर्मनी के राजाओं और नुमाइन्दों ने वहाँ जमा होकर अपने नये सम्राट क़ैसर की मातहती मंजूर की। अब प्रशिया का हायनज़ालर्न ख़ानदान एक शाही ख़ानदान बन गया था।

जहाँ वर्साई में ख़ुशी और जलसा मनाया जा रहा था वहाँ पास ही पेरिस में कष्ट, शोक और बुरी तरह ज़लील होने का ग़म छाया हुआ था। जनता मुसीबत-पर-मुसीबत आने से हक्की-बक्की हो रही थी और कोई दायमी या सुव्यवस्थित शासन नहीं था। राष्ट्रपरिषद में राजावादी बड़ी तादाद में चुनकर आगये थे और ये लोग किसी राजा को फिर से ला बिठाने की साज़िश कर रहे थे। उन्होंने राष्ट्र-रक्षक दल (National Guard) के हथियार छीनकर अपने रास्ते की बाधा दूर करने की कोशिश की, क्योंकि यह दल प्रजातंत्रवादी समझा जाता था। नगर के सब लोकसत्तावादी और क्रान्तिकारी लोगों को ऐसा लगा कि इसका अर्थ फिर पीछे लौटना और दमन का शिकार बनना है। इसलिए १८७१ ई० के मार्च में बग़ावत हुई और पेरिस के पंचायती राज्य (Commune) का ऐलान किया गया। यह एक तरह की म्युनिसिपैलिटी थी और इसे फ़्रांस की बड़ी राज्य-क्रान्ति से प्रेरणा मिली थी। मगर इसमें इससे ज्यादा और भी बहुत कुछ था। अस्पष्ट ही सही, इसमें उन समाजवादी ख़यालात का पुट भी था जो उस वक्त पैदा हो चुके थे। एक मानी में यह रूस की सोवियट प्रणाली की पूर्वज थी।

मगर पेरिस का १८७१ वाला पंचायती राज्य थोड़े ही दिन रहा। राजावादियों

और दौलतमन्दों ने आम जनता की इस बगावत से डरकर पेरिस के उस हिस्से के इर्द-गिर्द घेरा डाल दिया जो पंचायत के क़ब्ज़े में था। पास ही वर्साई में और दूसरी जगहों पर जर्मन फ़ौज यह सब चुपचाप देखती रही। जो फ्रांसीसी सिपाही जर्मनों की क़ैद से छूटकर पेरिस लौटते थे वे अपने पुराने अफ़सरों में शरीक होकर पंचायत के ख़िलाफ़ लड़ते थे। उन्होंने पंचायत वालों पर धावा बोल दिया और १८७१ ई० में मई के अख़ीर में एक दिन उन्हें हराकर पेरिस की सड़कों पर तीस हज़ार स्त्री-पुरुषों को गोली से उड़ा दिया। पंचायत-पक्ष के बहुत लोग पकड़ लिये गये और बाद में उनकी बैठे-बिठाये हत्या कर दी गई। इस तरह पेरिस का पंचायती राज्य भी ख़त्म हुआ। इससे योरप में बडी सनसनी फैली। इस सनसनी का कारण इतना ही नहीं था कि पंचायत का दमन ख़ून-खराबी के साथ कर दिया गया, बल्कि यह भी था कि यह उस वक्त की प्रचलित प्रणाली के ख़िलाफ़ पहली समाजवादी बग़ावत थी। ग़रीबों ने अमीरों के ख़िलाफ़ बग़ावत तो पहले भी कितनी ही बार की थी, लेकिन जिस व्यवस्था के कारण वे ग़रीब थे उसे बदलने का उन्होंने विचार नहीं किया था। यह पंचायत लोकतंत्री भी थी और आर्थिक भी। इस कारण योरप के समाजवादी ख़यालात की तरक्क़ी में इसका ख़ास महत्व है। फ़्रांस में पंचायत के ज़बरदस्ती दबा दिये जाने से समाजवादी ख़याल दिलों में ही रह गये, और वे फिर धीरे-धीरे बाहर आये।

पंचायत तो दबा दी गई, पर फ़्रांस बादशाहत की नई आज़माइशों से बच गया। थोडे समय में ही वह प्रजातंत्रवाद पर स्थिर हो गया और १८७५ ई० की जनवरी में वहाँ एक नये विधान के मातहत तीसरे प्रजातंत्र का ऐलान हुआ। यह प्रजातंत्र उस समय से किसी तरह चला आ रहा है और अब भी है। फ़्रांस में अब भी थोडे-से ऐसे लोग हैं जो राजाओं को चाहते हैं, मगर उनकी तादाद बहुत कम है और ऐसा मालूम होता है कि फ़्रांस की क़िस्मत निश्चित रूप से प्रजातंत्रवाद के साथ बँध गई है। फ्रांस का प्रजातंत्र अमीरों का प्रजातंत्र है और उसमें सम्पन्न मध्यम वर्ग का ज़ोर है।

फ्रांस १८७०-७१ ई० की जर्मन लड़ाई की चोटों से बहाल हुआ और उसने हर्जाने की भारी रक़म भी चुका दी, लेकिन उसे जिस तरह नीचा दिखाया गया था उसपर वहाँके लोगों के दिल ग़ुस्से से जल रहे थे। वे स्वाभिमानी लोग हैं और बहुत दिन तक याद रखते हैं। वे बदले के ख़याल से आगबबूला हो गये। अलसेस और लॉरेन के हाथ से चले जाने का उन्हें ख़ास तौर पर रंज था। बिस्मार्क ने आस्ट्रिया को हराने के बाद उसके साथ अच्छा सलूक करके अक्लमंदी की थी; लेकिन फ़्रांस के साथ सख्त बर्ताव करके न उसने उदारता से काम लिया, न अक्लमंदी से। एक स्वाभिमानी दुश्मन को नीचा दिखानें की क़ीमत उसे यह चुकानी पडी कि दो राष्ट्रों में ख़ौफ़नाक और स्थायी

दुश्मनी क़ायम होगई। मैदान की लड़ाई ख़त्म हो गई थी, मगर युद्ध अभी बन्द नहीं हुआ था कि मशहूर समाजवादी कार्ल मार्क्स ने एक घोषणा-पत्र निकालकर भविष्यवाणी करदी कि अलसेस के लेलेने से दोनों मुल्कों में जानी दुश्मनी होजायगी और लड़ाई थोड़े दिन बन्द रहेगी, मगर स्थायी सुलह क़ायम न होगी। और कई मामलों की तरह इस मामले में भी मार्क्स की बात सच्ची निकली।

पेरिस के प्लेस दि ला कंकोर्ड नामक खूबसूरत भवन में फ़्रांस के बड़े-बड़े शहरों की कई भव्य मूर्तियाँ हैं। इनमें एक अलसेस लॉरेन के ख़ास शहर स्ट्रासवर्ग की भी है। मुझे याद है कि महायुद्ध से पहले अक्सर उस मूर्ति के पास होकर निकलते समय मैंने उसे सदा फूलों से ढकी हुई देखा। यह इस बात की निशानी थी कि फ़्रांस उसके छिन जाने का ग़म मना रहा है। यह फ़्रांस के लोगों को सदा याद दिलाती रहती थी कि उन्हें 'बदला' लेना है। १९१८ ई० में जर्मनी के हार जाने के बाद अलसेस लॉरेन फिर फ़्रांस के हाथ में आगया और अब पेरिस में स्ट्रासबर्ग की मूर्ति पर फूल नहीं डाले जाते।

जर्मनी में अब बिस्मार्क साम्राज्य के प्रधान की हैसियत से सर्वेसर्वा था। 'ख़ून और तलवार' की नीति कायम हो चुकी थी, जर्मनी ने इस नीति को इख़्तियार कर लिया था और उदार विचारों की कोई पूछ नहीं थी। बिस्मार्क की यह कोशिश थी कि ताक़त सम्राट के हाथ में रहे, क्योंकि उसे लोकसत्ता में विश्वास नहीं था। जैसे-जैसे जर्मनी का उद्योग बढ़ता जाता था और मज़दूर-वर्ग ज़ोर पकड़ता जाता रहा था वैसे-वैसे उसकी तरफ से बड़ी-बड़ी माँगें पेश की जा रही थीं और नई-नई उलझनें पैदा हो रही थीं। बिस्मार्क ने इसका दो तरह से उपाय किया। एक तरफ़ वह मज़दूरों की हालत सुधारता गया और दूसरी तरफ़ समाजवाद को कुचलता रहा। उसने सामाजिक उन्नति के क़ानून बनाकर मज़दूरों को रिश्वत दी और इस तरह अपने पक्ष में करने या कम-से-कम उनकी तेज़ी को कम करने की कोशिश की। इस तरह जर्मनी ने मज़दूरों को पेंशन, बीमे और दवा-दारू की रिआयतें देने और उनकी हालत सुधारने के क़ानून सबसे पहले जारी किये, हालांकि इंग्लैण्ड का उद्योग और मज़दूर आन्दोलन जर्मनी से पुराना होते हुए भी वह इस दशा में ज्यादा कुछ नहीं कर पाया था। इस नीति को कुछ कामयाबी तो मिली, फिर भी मज़दूरों का संगठन बढ़ता गया। उनके नेता क़ाबिल थे। उनमें फ़र्डीनेण्ड लैसले बड़ा ज़हीन आदमी था और उन्नीसवीं सदी का सबसे बड़ा वक्ता कहा जाता है। वह द्वन्द्व-युद्ध में बिलकुल छोटी उम्र में ही मर गया। दूसरा नेता विल्हम लीबनेट (Wilhelm Lilbkneckt) बहादुर, पुराना सूरमा और बाग़ी था। वह गोली से मरता-मरता बचा था। उसने अच्छी उम्र पाई। उसके

पुत्र कार्ल ने अबतक आजादी की लड़ाई जारी रक्खी थी, १९१८ में जर्मन प्रजातन्त्र की स्थापना के समय वह क़त्ल कर दिया गया। पर कार्ल मार्क्स के बारे में तो मुझे तुम्हें दूसरे पत्र में लिखना है। हां, मार्क्स की ज्यादातर जिन्दगी जर्मनी से बाहर जलावतनी की हालत में बीती थी।

मजदूरों का संगठन बढ़ा और १८७५ ई० में उन्होंने समाजवादी लोकसत्तात्मक दल बनाया। बिस्मार्क से समाजवाद की यह बढ़ती बर्दाश्त नहीं हो सकी। किसीने सम्राट की जान लेने की कोशिश की। बिस्मार्क को समाजवादियों पर टूट पड़ने का यह अच्छा बहाना मिल गया। १८७८ ई० में समाजवाद-विरोधी क़ानून बनाकर हर तरह के समाजवादी कार्यों का दमन शुरू कर दिया गया। जहाँतक समाज-वादियों का ताल्लुक था, उनके लिए एक तरह का फ़ौजी क़ानून जारी होगया और हजारों को देश-निकाले या क़ैद की सजायें देदी गईं। निर्वासितों में से बहुत लोग अमेरिका चले गये और वहाँ जाकर समाजवाद के प्रथम प्रचारक बने। समाजवादी लोकसत्तात्मक दल को चोट तो जोर की पहुँची, मगर वह जिन्दा बच रहा और आगे चलकर फिर जोर पकड़ गया। बिस्मार्क का आतंकवाद उसे मार न सका, कामयाबी और भी नुक़सानदेह साबित हुई! इस दल की ताक़त बढ़ती गई और इसका संगठन बहुत बड़ा हो गया। इसकी बडी भारी सम्पत्ति बन गई और हजारों वैतनिक कार्यकर्त्ता होगये। जब किसी व्यक्ति या संगठन के पास धन हो जाता है तो फिर वह क्रान्तिकारी नहीं रहता। जर्मनी के समाजवादी लोकसत्तात्मक दल का भी यही हाल हुआ। मगर इसका हाल फिर कहूँगा।

बिस्मार्क की राजनैतिक चालाकी ने अख़ीर तक उसका साथ नहीं छोड़ा और वह अपने जमाने की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ख़ासतौर पर हिस्सा लेता रहा। यह राजनीति उस समय भी थी और अब भी उसी तरह साज़िश, धोखाधडी और मक्कारी का अजीब और पेचीदा जाल है जो छिपकर बिछाया जाता है। अगर यह सब खुले तौरपर हो तो ज्यादा दिन नहीं टिक सकता। इसका नतीजा अक्सर जबर्दस्त जंग होता है। फिर भी ताज्जुब है कि लोग इन खुफिया और ख़ौफ़नाक खेलों को कैसे बर्दाश्त करते हैं! बिस्मार्क ने आस्ट्रिया और इटली को मिलाकर तीन राष्ट्रों का एक मित्रदल (Triple Alliance) बनाया, क्योंकि अब उसे फ़्रांस वालों के बदला लेने का ख़ौफ़ होने लगा था। इस तरह दोनों तरफ़ हथियार जमा करने, साज़िश रचने और एक-दूसरे पर आँखें निकालने का काम जारी रहा।

१८८८ ई० में एक युवक सम्राट विल्हम द्वितीय के नाम से जर्मनी का क़ैसर हुआ। वह अपनेको बहुत जोरदार आदमी समझता था और जल्द ही बिस्मार्क से

लड़ पड़ा। उस जबरदस्त प्रधानमंत्री को बुढ़ापे में बर्ख़ास्त करके घर बिठा दिया गया। यह उसे बहुत बुरा लगा। उसके आँसू पोंछने के लिए उसे 'प्रिंस' यानी 'राजकुमार' का ख़िताब दिया गया, मगर राजाओं के बारे में उसका भ्रम दूर होगया और वह ग्लानि के मारे अपनी जागीर में एकान्तवास में चला गया। उसने एक दोस्त से कहा—'मैंने जब काम सम्हाला था उस वक्त मेरा दिल राजावादी भावनाओं से भरा था और उसमें राजाओं का बड़ा आदर था। लेकिन अब मुझे दुःख के साथ मालूम होगया कि इन भावनाओं का खज़ाना खाली होता जा रहा है। मैंने तीन राजा नंगी सूरत में देख लिये और तीनों ही दृश्य सुहावने नहीं लगे!"

यह बदमिज़ाज बूढ़ा कई वर्ष और जिया और १८९८ ई० में ८३ वर्ष की उम्र में मरा। क़ैसर के हाथों बर्ख़ास्त होजाने और मौत के बाद भी उसकी परछाई जर्मनी पर बनी रही और उसके वारिसों में उसकी भावना क़ायम रही। मगर उसके बाद के आदमी उससे छोटे आदमी थे। आज जर्मनी में प्रजातन्त्र राज्य है, फिर भी वहाँ बिस्मार्क की पुरानी भावना दिखाई देती है।

: १२६ :

कुछ प्रसिद्ध लेखक

१ फ़रवरी, १९३३

कल जर्मनी के उत्थान का हाल लिखते-लिखते मुझे ख़याल आया कि मैंने उन्नीसवीं सदी के शुरू के जर्मनी के सबसे बडे आदमी का कुछ भी हाल तुम्हें नहीं बताया है। यह आदमी गेटे था। यह एक मशहूर लेखक था। कुछ ही महीने पहले इसकी मौत को सौ वर्ष पूरे हुए थे; उस वक्त सारे जर्मनी में इसकी मौत का दिन मनाया गया था। मुझे यह खयाल भी आया कि तुम्हें उस वक़्त के सभी मशहूर यूरोपियन लेखकों का थोड़ा-थोड़ा हाल क्यों न बता दूँ। मगर मेरे लिए यह ख़तरनाक विषय है—ख़तरनाक इसलिए कि इससे मेरा ही अज्ञान प्रकट होगा। सिर्फ़ मशहूर नामों की फेहरिस्त देना तो भद्दी-सी बात रहेगी और कुछ ज्यादा कहना मुश्किल पडेगा। अंग्रेज़ी साहित्य का ही मेरा ज्ञान थोड़ा-सा है, फिर दूसरे यूरोपियन साहित्यों के बारे में तो मेरी जानकारी थोडे-से अनुवादों तक ही महदूद है। तब मैं क्या करता?

इस विषय पर कुछ लिखने का विचार तो मेरे दिल में बैठ चुका था और उससे किसी तरह पिण्ड छूट नहीं सकता था। मुझे ऐसा लगा कि मैं कम-से-कम यह दिशा दिखाभर दूँ, भले ही इस दिलकश दुनिया में बहुत दूर तक मैं तुम्हारा साथ न

दे सकूं। बात यह है कि अक्सर कला और साहित्य से किसी राष्ट्र की आत्मा का जितना पता चलता है, जन-समूह के ऊपरी कार्यों से उतना नहीं चलता। कला और साहित्य हमें शान्त और गंभीर विचार के मैदान में पहुँचा देते हैं, जहाँ समय-विशेष के राग-द्वेष की गुजर ही नहीं होती। मगर आज शायद ही कवि और कलाकार को भविष्य का सन्देशवाहक (पैग़म्बर) समझा जाता है और उनकी इज्जत भी बहुत कम होती है। अगर उनकी कुछ इज्जत होती भी है तो वह आम तौर पर उनके मरने के बाद होती है।

तो मैं तुम्हें सिर्फ़ थोड़े-से नाम बताऊँगा। इनमें से कुछ से तुम पहले ही परिचित होगी। मैं उन्नीसवीं सदी के शुरू के हिस्से को ही लूंगा। यह सिर्फ़ तुम्हारी भूख जगाने के लिए है। याद रखना, योरप के कई देशों के साहित्यों में उन्नीसवीं सदी की बढ़िया रचनाओं के खज़ाने भरे हुए हैं।

असल में तो गेटे अठारहवीं सदी का आदमी था, क्योंकि उसका जन्म १७४९ ई० में हुआ था, मगर उसने ८३ वर्ष की अच्छी लम्बी उम्र पाई थी और इस कारण उसने अगली सदी के तिहाई भाग को भी देखा था। वह यूरोपियन इतिहास के एक बडे ही तूफ़ानी ज़माने में होकर गुज़रा था और उसने अपने देश को नेपोलियन की फ़ौजों से पामाल होते हुए अपनी आँखों देखा था। उसे अपनी ज़िन्दगी में भी बहुत सदमे पहुँचे थे, लेकिन धीरे-धीरे उसने ज़िन्दगी की मुश्किलात पर अन्दरूनी फतह और इतनी अनासक्ति (अलहदगी) और संजीदगी पाली थी कि उसे शान्ति मिल गई। नेपोलियन उससे पहलेपहल उस वक़्त मिला जब उसकी उम्र साठ वर्ष से ऊपर हो चुकी थी। जब वह दरवाज़े में खड़ा था तो उसकी शक्ल-सूरत में कुछ ऐसी निश्चिन्तता और गौरव दिखाई दिया कि नेपोलियन के मुँह से निकल पड़ा : "आदमी तो यह है!" उसने कई चीज़ों में हाथ डाला, और जो-कुछ किया उसीमें चमक उठा। वह दार्शनिक, कवि, नाटककार और कई मुख्तलिफ़ इल्मों में दिलचस्पी रखने-वाला वैज्ञानिक था। इन सबके ऊपर, वह एक छोटे-से जर्मन राजकुमार के दरबार में मंत्री था। हमारे लिए उसकी सबसे ज्यादा शोहरत लेखक के रूप में है और उसकी सबसे मशहूर किताब 'फ़ाउस्ट' है। उसकी ज़िन्दगी में ही उसकी खूब शोहरत होगई थी और साहित्य के क्षेत्र में वह अपने देशवासियों की नज़रों में देवता की तरह माना जाने लगा था।

गेटे के वक़्त में शिलर नाम का एक और जर्मन लेखक था। वह उम्र में उससे कुछ छोटा था, मगर वह भी एक बहुत बड़ा कवि था। उससे कहीं छोटा हीनरिश था। वह भी जर्मन भाषा का महान् और उत्कृष्ट कवि था। उसने बहुत ही सुन्दर

गीति-काव्य लिखे हैं। गेटे, शिलर और हीन—ये तीनों पुराने यूनान की ऊँची संस्कृति में डूबे हुए थे।

जर्मनी बहुत ज़माने से दार्शनिकों यानी फ़िलासफरों का देश करके मशहूर रहा है और मैं भी तुम्हें एक-दो के नाम बता सकता हूँ, गो कि तुम्हें उनमें ज्यादा दिलचस्पी न होगी। जिन लोगों की इस विषय की लगन हो उन्हींको उनके ग्रंथ पढ़ने चाहिएँ, क्योंकि वे बहुत गहन और कठिन हैं। फिर भी इन दार्शनिकों से आनंद और उपदेश मिलता है, क्योंकि उन्होंने विचार का दीपक जलता हुआ रक्खा था और उनके ज़रिये विचारों के विकास का सिलसिला समझ में आ सकता है। अठारहवीं सदी का महान् जर्मन दार्शनिक इम्मैन्युएल काण्ट था। वह सदी के बदलने तक ज़िन्दा रहा। उस वक्त उसकी उम्र ८० वर्ष की थी। इस दिशा में दूसरा बड़ा नाम हेगल का है। वह काण्ट का अनुगामी था और ऐसा माना जाता है कि साम्यवाद के जनक कार्ल मार्क्स पर उसके विचारों का बहुत असर पड़ा था। यह तो दार्शनिकों की बात हुई।

उन्नीसवीं सदी के शुरू के सालों में कवियों का झुण्ड-का-झुण्ड, खास तौर पर इंग्लैण्ड में, पैदा हुआ। रूस का सबसे मशहूर राष्ट्रीय कवि पुश्किन उसी वक्त हुआ। वह द्वन्द्वयुद्ध में जवानी में ही मारा गया। फ़्रांस में भी कई कवि हुए, लेकिन मैं सिर्फ़ दो के ही नामों का जिक्र करूँगा। एक तो विक्टर ह्यूगो था। उसका जन्म १८०२ ई० में हुआ था। उसने भी गेटे की तरह ८३ वर्ष की उम्र पाई और गेटे की तरह वह भी अपने देश में साहित्य-क्षेत्र में देवता की तरह माना गया। लेखक और राजनीतिज्ञ दोनों ही रूप में उसकी ज़िन्दगी बदलती रही। शुरू में वह पक्का राजवादी रहा और निरंकुश शासन-प्रणाली में उसका विश्वास-सा जम गया था। धीरे-धीरे बदलता-बदलता १८४८ ई० में वह प्रजातन्त्रवादी बन गया। जब लुई नेपोलियन दूसरे अल्पजीवी प्रजातन्त्र का अध्यक्ष हुआ, तो विक्टर ह्यूगो को प्रजातन्त्रवादी ख़यालात के कारण जलावतन कर दिया। १८७१ ई० में विक्टर ह्यूगो ने पेरिस के पंचायती राज्य की तरफ़दारी की। एकदम पुराने विचारों से सरकता-सरकता वह धीरे-धीरे पर निश्चित रूप से उग्र समाजवाद तक पहुँच गया। ज्यादातर लोग ढलती हुई उम्र के साथ अनुदार और प्रतिगामी बनते हैं। लेकिन ह्यूगो ने उलटी ही बात की।

मगर हमारा वास्ता तो यहाँ विक्टर ह्यूगो से लेखक के रूप में है। वह कवि, उपन्यास-लेखक और नाट्यकार था। और तुम्हें उसका नाम ज़रूर अच्छी तरह मालूम होगा, क्योंकि उसके एक उपन्यास 'ला मिज़रेबल' ('अभागा')की, मैंने सुना है, सिनेमा-फ़िल्म भी बन गई है।

दूसरा नाम, जिसका मैं तुमसे ज़िक्र करूँगा, ऑरे द बालज़ाक का है। वह विक्टर-ह्यूगो का समकालीन था, मगर उसमें उससे बड़ा फ़र्क़ था। वह ग़ज़ब की शक्ति रखनेवाला उपन्यासकार था और छोटे-से जीवन के भीतर उसने बहुत-से उपन्यास लिख डाले। उसकी कहानियों का एक-दूसरे से ताल्लुक़ है। वे ही पात्र अक्सर उनमें आते हैं। उसका उद्देश्य अपने उपन्यासों में अपने समय की सारी फ़्रांसीसी ज़िन्दगी की तस्वीर दिखा देना था और उसने सारी ग्रन्थमाला का नाम (La Comedie Humaine) यानी 'मानवता का प्रहसन' रक्खा। यह कल्पना तो बड़े हौसले की थी और उसने मेहनत भी ख़ूब ज़बरदस्त और लम्बी की, मगर उसने जो ज़बरदस्त काम उठाया था उसे वह पूरा न कर सका।

उन्नीसवीं सदी के शुरू के सालों में इंग्लैण्ड में तीन प्रतिभाशाली नौजवान कवियों के नाम ख़ास तौर पर सामने आते हैं। वे सब समकालीन थे और तीनों एक-एक करके तीन साल के अन्तर से मर गये। ये तीनों कीट्स, शेली और बायरन थे। कीट्स को ग़रीबी से ख़ूब लड़ना पड़ा और उसका दिल तोड़ने में भी कसर नहीं रक्खी गई और जब १८२१ ई० में २६ वर्ष की उम्र में रोम में उसकी मृत्यु हुई तो उसकी बहुत कम लोगों को ख़बर हुई। फिर भी उसने कुछ कवितायें तो बहुत ही सुन्दर लिखी थीं। कीट्स मध्यमवर्ग का आदमी था, और दिल्लगी तो यह है कि अगर उसके रास्ते में भी धनाभाव या ग़रीबी की रुकावट हुई तो ग़रीबों के लिए कवि और लेखक बनना और भी कितना कठिन होना चाहिए। दरअसल केम्ब्रिज-विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी साहित्य के वर्तमान अध्यापक ने इस बारे में कुछ बातें बहुत ठीक कही हैं। वह कहते हैं:—

"यह निश्चित है कि हमारे साम्राज्य के किसी दोष के कारण इन दिनों ही नहीं, पिछले दो सौ वर्ष में भी निर्धन कवि को इतना भी मौक़ा नहीं मिला है जितना एक कुत्ते को मिल जाता है। मेरी बात पर विश्वास करो, क्योंकि मैंने दस वर्ष का बड़ा भाग कोई तीनसौ बीस प्राइमरी पाठशालाओं के मुआयने में लगाया है। हम लोकसत्ता की बकवास भले ही करें, मगर असल में इंग्लैण्ड में एक ग़रीब बालक को एथेन्स के ग़ुलाम के लड़के से ज़्यादा उम्मीद इस बात की नहीं हो सकती कि जिस दिमाग़ी आज़ादी में महान् ग्रंथों का जन्म होता है उसमें वह भी कभी पहुँच जायगा।"

मैंने यह उद्धरण इसलिए दिया है कि कहीं तुम यह न भूल जायँ कि कविता और सुन्दर लेखन तथा संस्कृति पर आम तौर से सम्पन्नवर्ग का ही एकाधिकार होता है। ग़रीब के झोंपड़े में काव्य और संस्कृति की कहाँ गुंजायश? ये चीज़ें कहीं भूखे पेटवालों के लिए होती हैं? इस तरह हमारी आजकल की सभ्यता धनिक-मानस का

प्रतिबिम्ब (परछाईं) बन जाती है। जब समाज-व्यवस्था बदल जाती है और वह मजूरों के हाथ में आ जाती है तब संस्कृति की सूरत भी बहुत बदल सकती है, क्योंकि उस वक्त उन्हें संस्कृति का शौक़ करने का मौक़ा और अवकाश मिल जाता है। आज कुछ इसी तरह का परिवर्तन सोवियट रूप में हो रहा है और दुनिया उसे दिलचस्पी के साथ देख रही है।

इससे हमारे सामने यह बात साफ़ हो जाती है कि पिछली कुछ पीढ़ियों से हिन्दुस्तान में संस्कृति की जो बड़ी दरिद्रता दिखाई दे रही है उसका कारण हमारी निहायत ग़रीबी है। जिन लोगों के पास खाने को भी नहीं है उनसे संस्कृति की बातें करना उनकी तौहीन करना है। ग़रीबी की यह मार उन थोड़े-से वर्गों पर पड़ती है जो क़िस्मत से औरों के मुक़ाबिले में सम्पन्न हैं और इस तरह बदक़िस्मती से हिन्दुस्तान के इन वर्गों में भी सभ्यता की आज बहुत ज्यादा कमी है। विदेशी राज्य और सामाजिक गिरावट से कैसी बेशुमार बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं! मगर इस चारों तरफ़ फैली ग़रीबी और असभ्यता में भी हिन्दुस्तान गांधी और रवीन्द्रनाथ-ठाकुर जैसी विभूतियाँ और संस्कृति के शानदार नमूने पैदा कर सकता है।

मैं अपने विषय से दूर चला गया।

शेली बड़ा प्रेम करने लायक़ इनसान था। जवानी के शुरू से ही उसके दिल में एक आग भरी थी और वह हर जगह और हर बात में आजादी का हिमायती था। 'नास्तिकता की जरूरत' (The Necessity of Atheism) के ऊपर मजमून लिखने के कारण उसे आक्सफ़ोर्ड-विश्वविद्यालय के कॉलेज से निकाल दिया गया था। जैसा कि कवियों के योग्य समझा जाता है, उसने भी कीट्स की तरह अपनी छोटी-सी जिन्दगी कल्पना और उड़ान में ही बिता दी और दुनियावी मुश्किलात की कुछ भी परवा न की। कीट्स के मरने के एक साल बाद वह भी इटली के समुद्रतट के पास डूबकर मर गया। उसकी मशहूर कवितायें तुम्हें मैं क्या बताऊँ? तुम खुद उन्हें आसानी से ढूंढ निकालोगी। लेकिन उसकी छोटी कविताओं में से एक तुम्हारी नजर करूँगा। यह उसकी उत्तम रचनाओं में से हरगिज नहीं है, लेकिन इससे यह जाहिर होता है कि हमारी मौजूदा सभ्यता में ग़रीब मजदूर की कैसी बुरी हालत होती है। उसका क़रीब-क़रीब वही बुरा हाल है जो पुराने जमाने में ग़ुलामों का होता था। इस कविता को लिखे हुए सौ वर्ष से ज्यादा होगये। मगर यह आज की परिस्थिति पर वैसी ही लागू होती है। यह अराजकता का बुर्क़ा (The Mask of Anarchy) के नाम से मशहूर है।

"स्वतन्त्रता क्या है? तुम यह तो भलीभाँति बता सकते हो कि ग़ुलामी

कैसी चीज़ है, क्योंकि उसके और तुम्हारे नाम की आवाज़ एक-सी निकलती है।

इसका मतलब यह है कि तुम इस तरह और इतनी-सी मज़दूरी लेकर काम करते रहो जिससे तुम्हारे प्राण शरीर में टिके रहें और ज़ालिमों का काम करने के लिए कालकोठरी में पड़े रहें; उनकी रक्षा और पुष्टि के लिए तुम करघे, हल, तलवार और फावड़े का काम देते रहो और इच्छा या अनिच्छा-पूर्वक तुम उनके सामने झुके रहो।

इस गुलामी का यह भी अर्थ है कि तुम्हारे बच्चे कमज़ोर रहें और उनकी मातायें सूखकर काँटा हो जायें और जाड़े की ठंडी हवा चले तो वे ठंड की मारी ठिठुरती रहें। जिस समय मैं बोल रहा हूँ, उस समय वे मर रही हैं।

तुम्हें उस ख़ूराक के लिए तरसते रहना है जो अमीर अपने भोग-विलास में उन्मत्त होकर अपने मोटे-ताज़े कुत्तों को अजीर्ण होने पर भी डाल देते हैं।

तुम्हें तो आत्मा से भी दास बन जाना है, ताकि तुम्हें अपने इरादों पर कोई प्रबल अधिकार न हो और तुम्हें वैसा ही बनना पड़े जैसा कि दूसरे चाहते हैं।

और अन्त में जब तुम दुर्बल और व्यर्थ पुकार करो तो ज़ालिमों के आदमी तुमपर और तुम्हारी स्त्रियों पर हमला करके ओस की तरह घास पर ख़ून ही ख़ून बिछा दें।"

बायरन ने भी स्वतंत्रता की तारीफ़ में उम्दा कवितायें लिखी हैं। मगर यह स्वतंत्रता राष्ट्रीय है, शेली की कविता की तरह आर्थिक नहीं है। जैसा मैं तुम्हें बता चुका हूँ, वह शेली के दो वर्ष बाद तुर्की के ख़िलाफ़ यूनान की क़ौमी आज़ादी की लड़ाई में मारा गया। मुझे इनसान की हैसियत से बायरन से नफ़रत है, मगर मुझे उसके साथ इसलिए हमदर्दी है कि वह मेरे हैरो के स्कूल और केम्ब्रिज के ट्रिनिटी कॉलेज में पढ़ा था। कीट्स और शेली को यह बात नसीब नहीं हुई थी, मगर बायरन की जवानी में ही शोहरत होगई थी। लन्दन के समाज ने उसे सिर पर भी बिठाया और फिर नीचे भी पटक दिया।

इसी ज़माने के आसपास दो और मशहूर कवि होगये। वे दोनों इस युवा त्रिमूर्ति से ज्यादा जिये। वड्‌र्सवर्थ ने १७७० से १८५० तक अस्सी साल की उम्र पाई। उसकी महान् अंग्रेज़ी कवियों में गिनती है। उसे प्रकृति से बड़ा प्रेम था और उसका अधिकांश काव्य निसर्ग-काव्य है। मुझे भय है कि मैं उसके भक्तों में नहीं हूँ। दूसरा कवि कालरिज था। उसकी कुछ कवितायें बहुत अच्छी हैं।

उन्नीसवीं सदी के शुरू में तीन मशहूर उपन्यासकार भी होगये। वॉल्टर स्कॉट इनमें सबसे बड़ा था और उसके वेवर्ली उपन्यास बहुत लोकप्रिय हुए। मैं समझता हूँ तुमने इनमें से कुछ पढ़े हैं। मैं जब लड़का-सा था तब, ऐसा याद पड़ता है कि, ये

उपन्यास मुझे भी पसन्द थे। मगर उम्र के साथ रुचि भी बदलती है और अगर मैं आज उन्हें पढ़ने बैठूँ तो अवश्य ऊब जाऊँगा। थैकरे और डिकेन्स दूसरे दो उपन्यासकार थे। मेरे खयाल से ये दोनों स्कॉट से कहीं ऊँचे दर्जे के हैं। मुझे उम्मीद है तुम्हारी इन दोनों से दोस्ती होगी। थैकरे का जन्म १८११ में कलकत्ते में हुआ था और उसने पांच-छः वर्ष वहीं बिताये थे। उसकी कुछ पुस्तकों में भारतीय नवाबों का हूबहू बयान दिया गया है। ये वे अंग्रेज़ थे जो खूब दौलत जमा करके मोटे और लाल होजाते थे और फिर सुख भोगने के लिए इंग्लैण्ड लौट जाते थे।

उन्नीसवीं सदी के शुरू के लेखकों के बारे में बस इतना ही लिखना चाहता हूँ। एक बडे विषय के लिए यह बहुत थोड़ा है। कोई जानकार आदमी लिखता तो वह इस विषय पर बहुत सुन्दर लिख सकता था। वह तुम्हें उस ज़माने के संगीत और कला की भी अवश्य ही बहुत-सी बातें बता सकता था। इसमें जानने और कहने की ज़रूरत है, मगर यह मेरे बस की बात नहीं है। मेरे लिए तो हवा में न उड़कर ज़मीन पर चलने में ही ख़ैर है।

मैं इस ख़त को गेटे के 'फ़ाउस्ट' नाम के ग्रन्थ में से एक कविता देकर पूरा कर देता हूँ। अलबत्ता यह जर्मन भाषा का अनुवाद है:—

Alas, alas!
Thou hast smitten the world,
Thou hast laid it low,
Shattered, o'er thrown,
Into nothingness hurld
Crushed by a demi-god's blow!

We bear them away,
The shards of the world,
We sing well-a-day
Over the loveliness gone,
Over the beauty slain.
Build it again,
Great child of the Earth,
Build it again
With a finer worth,
In thine own bosom build it on high!
Take up thy life once more:
Run the race again!
High and clear
Let a lovelier strain
Ring out than ever before![1]

१. इसका हिन्दी भावार्थ अगले पृष्ठ पर देखिए:—

: १३० :

डार्विन और विज्ञान की विजय

३ फ़रवरी, १९३३

कवियों से अब वैज्ञानिकों के पास चलें। मुझे भय है कि आज कवियों को निकम्मे जीव समझा जाता है, लेकिन वैज्ञानिक तो आज के जादूगर ठहरे। उनका असर भी है और आदर भी। उन्नीसवीं सदी से पहले यह बात नहीं थी। शुरू की सदियों में वैज्ञानिक की जान योरप में सदा जोखिम में रहती थी और कभी-कभी उसे ज़िन्दा जला दिया जाता था। मैं तुम्हें बता चुका हूं कि रोम के पादरियों ने जाव-र्दानो ब्रूनो को किस तरह जीते जी जला दिया था। सत्रहवीं सदी में थोड़े ही वर्ष बाद गैलीलियो भी फांसी के क़रीब-क़रीब पहुंच गया था, क्योंकि उसने यह कहा था कि ज़मीन सूरज के चारों तरफ़ घूमती है। वह धर्म के ख़िलाफ़ चलने के क़सूर में जला दिये जाने से इसलिए बच गया कि उसने धर्मगुरुओं से माफ़ी मांग ली और अपनी पहले की बात वापस लेली। इस तरह योरप में संगठित मज़हब की विज्ञान के साथ कशमकश होती थी और नये ख़यालात को दबाने की कोशिश होती थी।

अफ़सोस ! अफ़सोस !
तूने दुनिया को पीड़ित कर दिया है;
तूने उसे धूल में गिरा दिया है;
तूने उसे अर्द्धदैवी आघातों से तोड़ दिया है;
और उसे जर्जर करके शून्य में फेंक दिया है।
हम उन्हें बर्दाश्त करके अन्यथा कर रहे हैं—
हम जो संसार के पुष्पपात्र (गमले) के छिद्र की कंकड़िया है।
जो मृदुलता नष्ट हो गई है, और
जिस सौन्दर्य का वध हो चुका है,
उसे हम गाते हैं।
ओ पृथ्वी के महान् पुत्र !
पुनः इसका निर्माण करो।
इस बार सदुपयोग के लिए इसका निर्माण करो
अपने हृदय के अन्दर, ऊँचाई पर, उसका निर्माण करो।
एक बार फिर अपना जीवन धारण करके, और
उच्चता एवं स्पष्टता के साथ मानव जाति को चलाओ।
आज अधिक सुन्दर स्वर का गुंजन होने दो,
ऐसा, जैसा कभी सुनाई नहीं पड़ा है।

क्या योरप में और क्या और कहीं, संगठित मजहब के कई तरह के गढ़े-गढ़ाये कायदे होते हैं, जिन्हें उसके अनुयायियों को चूं-चरा किये बिना मान लेना चाहिए, ऐसा समझा जाता है। विज्ञान का दृष्टिकोण जुदा ही है। वह किसी बात को यूँही नहीं मान लेता और न उसके कोई कट्टर सिद्धान्त होते हैं—कम-से-कम नहीं होने चाहिएँ। वह खुला दिमाग़ रखने की प्रवृत्ति को बढ़ाता है और बार-बार प्रयोग करके सत्य तक पहुँचना चाहता है। धार्मिक दृष्टिकोण से यह दृष्टिकोण साफ़ तौर पर जुदा है और इसलिए इन दोनों में अकसर कशमकश हो जाती थी तो कोई ताज्जुब की बात नहीं थी।

मेरा ख़याल है कि हर युग में अलग-अलग जातियों ने अलग-अलग तरह के प्रयोग किये हैं। कहा जाता है कि प्राचीन भारत में रसायनशास्त्र और जर्राही में काफ़ी प्रगति हुई थी और यह बहुत-से प्रयोगों के बाद ही हो सका होगा। प्राचीन यूनानियों ने भी थोड़े-बहुत प्रयोग किये थे। चीन वालों के बारे में तो कल ही मैंने अजीब हाल पढ़ा है। उसमें २,५०० वर्ष पहले के चीनी लेखकों के उद्धरण देकर यह दिखाया गया है कि उन्हें विकासवाद का सिद्धान्त मालूम था, वे शरीर में खून का दौरा होने की बात जानते थे और चीनी जर्राह बेहोशी की दवा सुंघाते थे। मगर हमें उस जमाने का इतना हाल मालूम नहीं है कि हम कोई ठीक नतीजा निकाल सकें। अगर पुरानी सभ्यता वालों ने ये तरीक़े खोज निकाले थे तो फिर वे आगे चलकर इन्हें क्यों भूल गये? और उन्होंने आगे और तरक्क़ी क्यों नहीं की? या यह बात थी कि वे इस प्रकार की प्रगति को काफ़ी महत्व नहीं देते थे? सवाल तो बहुत-से और दिलचस्प उठते हैं, लेकिन हमारे पास उनका जवाब देने को मसाला नहीं है।

अरबों को भी प्रयोग करने का बहुत शौक़ था और मध्ययुग में योरप उनके पीछे-पीछे चलता था। मगर उनके सारे प्रयोग सच्चे वैज्ञानिक ढंग पर नहीं होते थे। उन्हें हमेशा पारस पत्थर की तलाश रहती थी, जिससे मामूली धातुओं का सोना बन जाने का आम विश्वास था। लोग पेचीदा कीमियागिरी (रासायनिक) के प्रयोग में अपनी जिन्दगी बिता देते थे कि किसी तरह धातुओं को सोने में तब्दील कर देने का गुर हाथ लगे। इसे कीमिया कहते थे। उन्होंने 'अमृत' की खोज भी बड़ी मेहनत के साथ की। यह अमर होने की दवा थी। क़िस्से-कहानियों के बाहर और कहीं इसका उल्लेख नहीं पाया जाता कि किसीको इस अमृत या पारस पत्थर की प्राप्ति में सफलता मिली हो। यह सब असल में एक प्रकार से जादू-टोने का सहारा लेने की-सी बात थी और वह भी इस उम्मीद में कि धन, सत्ता और दीर्घ जीवन मिल सके। इससे विज्ञान की भावना का कोई वास्ता नहीं था। विज्ञान को जादू-टोने आदि से क्या सरोकार?

हाँ, योरप में सचमुच वैज्ञानिक तरीक़ों का धीरे-धीरे विकास हुआ और विज्ञान के इतिहास में जिन बड़े-से-बड़े आदमियों का नाम लिया जाता है उनमें आइज़क न्यूटन नामका अंग्रेज़ भी एक था। यह १६४२ से १७२७ ई० तक ज़िन्दा रहा। न्यूटन ने पृथ्वी का आकर्षण-तत्त्व (क़ूवते कशिश) समझाया, यानी यह बताया कि चीज़ें गिरती क्यों हैं ? इसकी मदद से, और जो दूसरे तत्व मालूम हो चुके थे उनकी मदद से, न्यूटन ने सूर्य और दूसरे ग्रहों (सय्यारों) की चाल का भेद भी समझाया। छोटी-बड़ी सभी चीज़ों का उसके सिद्धान्तों से मेल बैठता हुआ दिखाई देने लगा और न्यूटन की बड़ी इज़्ज़त हुई।

धर्म-संस्था की कट्टरता पर विज्ञान की भावना विजयी हो रही थी। अब उसे दबा सकना या उसके फैलाने वालों को ज़िन्दा जला देना मुमकिन नहीं था। अनेक वैज्ञानिकों ने बड़े धीरज और परिश्रम से प्रयोग का काम जारी रक्खा और सच्ची और नई-नई बातें मालूम करके उन्हें जमा किया। ख़ासतौर पर इंग्लैण्ड और फ्रांस में, और आगे चलकर जर्मनी और अमेरिका में, यह काम अच्छा हुआ। इस प्रकार वैज्ञानिक जानकारी की मात्रा बढ़ती गई। तुम्हें याद होगा कि अठारहवीं सदी में ही योरप के शिक्षितवर्ग में बुद्धिवाद (Rationalism) का प्रचार हुआ था। इसी सदी में रूसो, वॉल्टेयर और कई दूसरे क़ाबिल फ्रांसीसी हुए थे, जिन्होंने तरह-तरह की किताबें लिखकर लोगों के दिमाग़ में उथल-पुथल मचादी। इसी सदी के गर्भ में फ्रांस की महान् राज्य-क्रांति की तैयारी हो रही थी। इस बुद्धिवादी दृष्टिकोण का वैज्ञानिक दृष्टिबिन्दु से मेल बैठ गया और दोनों में एक बात समान थी। वह यह कि दोनों धर्म-संस्था के कट्टर दृष्टिकोण के विरोधी थे।

मैं और बातों के साथ तुम्हें यह भी बता चुका हूँ कि उन्नीसवीं सदी विज्ञान की सदी थी। औद्योगिक क्रान्ति, कलों-सम्बंधी कायापलट और ढुलाई के तरीक़ों में जो ज़बर्दस्त तब्दीलियाँ हुई थीं उन सबका कारण विज्ञान था। बेशुमार कारखानों के उत्पत्ति के साधन बदल गये थे; भाफ से चलनेवाली रेलगाड़ियों और जहाज़ों ने एकाएक दुनिया को छोटा बना दिया था और बिजली का तार तो और भी बड़े ताज्जुब की चीज़ था। इंग्लैण्ड की दूर-दराज़ सल्तनत के कोने-कोने से उसके यहाँ दौलत का दरिया बहने लगा। इससे पुराने ख़यालात को भारी धक्का लगना स्वाभाविक था और मज़हब का असर अपनेआप कम होगया। खेती छोड़-छोड़कर लोग कारख़ानों में काम करने लगे और ज़मीन जोतने-बोने की देहाती ज़िन्दगी के ख़िलाफ़ कारख़ानों की ज़िन्दगी ने लोगों को मजबूर किया कि वे मज़हबी मसलों की बनिस्बत आर्थिक मामलों पर ज़्यादा ग़ौर करें।

उन्नीसवीं सदी के बीच में, यानी १८५९ ई० में, इंग्लैंड में एक किताब छपी, जिससे कट्टरता और वैज्ञानिक दृष्टिकोण की कशमकश ख़ूब बढ़ गई । यह किताब चार्ल्स डार्विन की 'प्राणी-समूहों की उत्पत्ति' (Origin of Species) थी । डार्विन की गिनती बहुत बड़े वैज्ञानिकों में नहीं है । उसने जो कुछ लिखा उसमें कोई बहुत नई बात नहीं है । डार्विन से पहले दूसरे भूगर्भ-विद्या-विशारदों और पदार्थविज्ञानियों ने भी काम किया था और बहुत-सी सामग्री जमा कर रक्खी थी । फिर भी डार्विन का ग्रंथ युग-प्रवर्तक था । इसका गहरा असर पड़ा और किसी दूसरी वैज्ञानिक पुस्तक की बनिस्बत इससे सामाजिक दृष्टिकोण बदलने में ज्यादा मदद मिली । इससे लोगों के दिमाग़ में एक तरह का जलजला आगया और डार्विन मशहूर होगया ।

पदार्थ-विद्या का अध्ययन करते हुए डार्विन दक्षिण अमेरिका और प्रशान्त महासागर में इधर-उधर ख़ूब भटका था और सामग्री और प्रमाण भी उसने बड़ी तादाद में इकट्ठे कर लिये थे । उनका इस्तेमाल करके उसने यह दिखाया कि हरेक पशु-जाति एक-दूसरे में क़ुदरती तौर पर मिलकर किस तरह परिवर्तन और विकास कर चुकी है । उस समय तक बहुत लोगों का यह ख़याल था कि इनसान और दूसरे सब तरह के प्राणियों को ईश्वर ने अलग-अलग बनाया है । और सृष्टि के शुरू से ही वे अलग-अलग रहे हैं और उनमें कोई तब्दीली नहीं हुई है । कहने का मतलब यह है कि एक प्राणी-समूह दूसरा नहीं बन सकता । डार्विन ने ढेर-की-ढेर सच्ची मिसालें देकर साबित कर दिया कि ये समूह आपस में अवश्य बदलते हैं और विकास का यही साधारण ढंग है । ये तब्दीलियाँ क़ुदरती तौर पर एक-दूसरे से मिल जाने की प्रवृत्ति से होती हैं । अगर किसी छोटे-से परिवर्त्तन से किसी समूह को कुछ भी लाभ हो गया या दूसरों के मुक़ाबिले में जीवित रहने से मदद मिल गई तो वह परिवर्त्तन धीरे-धीरे स्थायी हो जायगा, क्योंकि यह ज़ाहिर है कि इस बदले हुए समूह के प्राणी ज्यादा जियेंगे । कुछ समय बाद इस बदले हुए समूह की अधिकता हो जायगी और वह दूसरे समूह का सफ़ाया कर देगा । इस तरीक़े से एक के बाद दूसरे परिवर्तन होते चले जायेंगे और थोड़े समय बाद लगभग नया समूह बन जायगा । समय पाकर क़ुदरती तौर से मिलने के नियम के अनुसार अपेक्षाकृत बलवान समूह जीवित रहते जायेंगे और कमज़ोरों का नाश होता जायगा और इस क्रिया के कारण बहुत-से नये-नये समूह पैदा होते रहेंगे । यह नियम पौधों, जानवरों और आदमियों तक पर लागू होगा । इस उसूल के मुताबिक मुमकिन है जो तरह-तरह के वनस्पति और प्राणी-समूह आज दिखाई दे रहे हैं उन सबका कोई एक ही पुरखा रहा हो ।

कुछ ही वर्ष बाद डार्विन की दूसरी पुस्तक 'मनुष्य का वंश' (The Descent

of Man) के नाम से प्रकाशित हुई। उसमें उसने यही उसूल इनसान पर लागू करके दिखाया। विकास और प्राकृतिक चुनाव का यह विचार अब ज्यादातर लोगों ने मान लिया है, हालांकि ठीक उसी तरह तो नहीं माना है जिस तरह डार्विन और उसके अनुयायियों ने पेश किया है। असल में तो चुनाव के इस उसूल का इस्तेमाल करना लोगों के लिए बिलकुल मामूली बात है। इन्हीं बनावटी उपायों से जानवरों की नस्ल का सुधार किया जाता है। आजकल के बहुत से बढ़िया-से-बढ़िया जानवर और पौधे बनावटी उपायों से पैदा की हुई नई जातियां ही तो हैं। अगर इनसान थोड़े-से वक्त में इस तरह की तब्दीलियां और नई-नई जातियां पैदा कर सकता है तो लाखों और करोड़ों वर्ष के दरमियान क़ुदरत क्या-क्या नहीं कर सकी होगी? लन्दन के दक्षिण केनसिंगटन के संग्रहालय जैसे किसी अजायबघर को देखने से पता चलता है कि किस तरह वनस्पति और प्राणी लगातार अपनेको प्रकृति के अनुकूल बनाते जा रहे हैं।

हमें चूंकि ऐसे विचारों की आदत-सी पड़ गई है, इसलिए हमें कोई प्रमाण देने की जरूरत दिखाई नहीं देती। लेकिन ७० वर्ष पहले ये विचार इतने स्वयं-सिद्ध नहीं थे। उस वक्त ज्यादातर लोगों का यही विश्वास था कि बाइबिल में लिखे मुताबिक दुनिया की उत्पत्ति को ईसामसीह से पहले पूरे चार हज़ार चार वर्ष हुए थे और हरेक पेड़ और जानवर अलग-अलग पैदा किया गया था और सबसे अंत में मनुष्य बनाया गया था। वे मानते थे कि बाढ़ आई थी और नूह की नाव में सारे जानवरों के जोड़े इसलिए रक्खे गये थे कि किसी भी जाति का लोप न हो जाय। ये सब बातें डार्विन के सिद्धान्त से मेल नहीं खातीं। डार्विन और भूगर्भ-विद्या-विशारद लोग जब पृथ्वी की उम्र का ज़िक्र करते थे तो ६,००० वर्ष के अल्पकाल के बजाय लाखों वर्ष की बात करते थे। इस तरह लोगों के दिमाग़ में एक ज़बरदस्त उथल-पुथल मची हुई थी और बहुतसे भले आदमियों को यह नहीं जान पड़ता था कि क्या करें। उनकी पुरानी श्रद्धा उन्हें एक बात मानने को कहती थी और उनकी बुद्धि दूसरी। जब इनसान कुछ उसूलों में अन्ध-विश्वास रखने लग जाते हैं और उन विश्वासों को धक्का लगता है तो वे अपनेआपको दुःखी और असहाय समझ बैठते हैं और खड़े होने को उन्हें कहीं पक्की धरती दिखाई नहीं देती। मगर जिस धक्के से हमें सत्य का ज्ञान हो, वह अच्छा ही है। हम हिन्दुस्तानियों को भी ऐसे धक्के की ज़रूरत है।

यों इंग्लैण्ड और योरप के दूसरे देशों में विज्ञान और धर्म के बीच बड़ी हुज्जत और कशमकश हुई। इसका नतीजा क्या होता, इसमें तो शुबहा ही नहीं हो सकता था। उद्योग और मशीन की नई दुनिया का दारोमदार विज्ञान पर था। इस कारण

विज्ञान तो निकम्मी चीज समझकर फेंका नहीं जा सकता था। विज्ञान की बराबर जीत होती चली गई। प्राणियों के एक-दूसरे में अपने-आप मिल जाने और दूसरों के मुक़ाबिले में योग्यतम जीवों के बच रहने की बातें आम लोगों की जबान पर हो गईं, भले ही वे पूरी तरह यह न समझते हों कि जो लफ़्ज़ वे इस्तेमाल कर रहे हैं उनका क्या अर्थ है। डार्विन ने अपनी 'मनुष्य के वंश' (Descent of Man) नाम की किताब में यह बताया था कि शायद इनसान और कुछ बन्दर जातियों का पूर्वज एक ही हुआ होगा। यह बात विकास-क्रिया की बीच की अलग-अलग मंजिलें दिखाकर कई मिसालों से साबित नहीं की जा सकी। इसीसे बन्दर की शकल के आदमियों को 'खोई हुई कडी' कहकर आम लोगों में मज़ाक़ चल पड़ा। और ताज्जुब की बात तो यह हुई कि शासकवर्ग ने भी डार्विन के उसूल को तोड़-मरोड़कर उससे अपनी सुविधा का अर्थ निकाल लिया। उनका पक्का विश्वास होगया कि इस उसूल से उनके बड़प्पन या उच्चता का एक प्रमाण और मिल गया। यह साबित हो गया कि जिन्दगी की लड़ाई में वे सबसे क़ाबिल थे, इसीलिए बच रहे और इस तरह 'प्राकृतिक चुनाव' से वे ऊपर आगये और शासकवर्ग बन गये! एक वर्ग के दूसरे वर्ग पर और एक जाति के दूसरी जाति पर प्रभुता रखने के पक्ष में यह एक दलील बन गई। साम्राज्यवाद और गोरी जातियों के सबसे ऊँचे होने के अधिकार की यह आख़िरी दलील होगई। और पश्चिम के बहुत लोग सोचने लगे कि वे दूसरों पर जितनी धौंस रक्खेंगे और जितने बेरहम और ताक़तवर बनकर रहेंगे उतनी ही मनुष्य के रूप में उनकी क़ीमत और इज्ज़त बढ़ेगी। यह कोई सुहावना तत्त्वज्ञान नहीं है, मगर इससे एशिया और अफ़रीका में पश्चिम की साम्राज्यवादी क़ौमों ने जैसे शर्मनाक काम किये है उनका अर्थ कुछ-कुछ समझ में आजाता है। डार्विन के उसूल का साम्राज्यवादियों ने जो मतलब किया है उसके मुताबिक तो चंगेज़ख़ाँ को उसके ज़माने की संस्कृति का बढ़िया-से-बढ़िया नमूना मानना होगा, क्योंकि उसने एशिया और योरप को क़ब्ज़े में करके उनका ख़ासा हिस्सा बर्बाद कर दिया था; अथवा यूँ कहो कि अटिला के हूण अनुयायी अपने ज़माने के आदर्श लोग थे! आज भी पश्चिम के कुछ लोग इन मुक़ाबिलों को मानकर उनपर अमल करने को तैयार हैं।

आगे चलकर दूसरे वैज्ञानिकों ने डार्विन के उसूलों की टीका की है, लेकिन उसके सामान्य विचार आज भी माने जाते हैं। उसके उसूलों को आम तौर पर मान लेने का एक नतीजा यह हुआ कि लोगों का प्रगति के विचार में विश्वास होगया। इस विचार का यह अर्थ था कि सारा संसार या मनुष्य और समाज पूर्णता की ओर तेज़ी से बढ़ रहे हैं और दिन-दिन सुधरते जा रहे हैं। प्रगति की यह कल्पना डार्विन

के सिद्धान्त का ही नतीजा था। वैज्ञानिक आविष्कार के सारे प्रवाह और औद्योगिक क्रान्ति के ज़रिये और उसके बाद होनेवाली तब्दीलियों ने लोगों को इसके लिए मन-ही-मन तैयार कर दिया था। डार्विन के उसूल से इस मामले पर सबका ध्यान खिच गया और लोग ऐसी कल्पना करने लगे कि मानवीय पूर्णता का ध्येय कुछ भी हो, मगर वे विजय-पर-विजय हासिल करते हुए ऊँचा सिर करके उसकी तरफ तेज़ी से बढ़ रहे हैं। यह मज़े की बात है कि तरक़्क़ी की यह कल्पना नई थी। गुज़रे हुए ज़माने में योरप, एशिया या पुरानी किसी सभ्यता में भी ऐसी कोई कल्पना नहीं हो, यह नहीं दीखता। योरप में ठेठ औद्योगिक क्रान्ति के वक्त तक लोग भूतकाल को यों ही आदर्श काल समझते थे। बाद के युगों से प्राचीन यूनान और रोम का ज़माना अधिक बढ़िया, उन्नत और सभ्य माना जाता था। जाति दिन-दिन बिगड़ती और नष्ट होती जा रही थी, ऐसा लोगों ने समझ लिया, या, कम-से-कम कोई स्पष्ट परिवर्तन नहीं हुआ।

हिन्दुस्तान में भी बहुत-कुछ यही ख़याल है कि पुराने ज़माने में 'राम-राज' था और फिर बिगड़ते-बिगड़ते आज की हालत होगई है। भारतीय पुराण भी भूगर्भ-विद्या की भांति समय की गिनती लाखों वर्ष के युगों से करते हैं। परन्तु वे हमेशा सत-युग के महान् काल से शुरू करके वर्तमान बुरे ज़माने कलियुग में समाप्त करते हैं।

तो हमने देख लिया कि इनसानी तरक़्क़ी का ख़याल बिलकुल नया ख़याल है। प्राचीन इतिहास का हमें जैसा कुछ ज्ञान है उससे हमें इस ख़याल में यक़ीन होता है। लेकिन हमारा इल्म अभी बहुत महदूद है और मुमकिन है हमारा ज्ञान बढ़ने पर हमारा दृष्टिकोण बदल जाय। उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में इस 'प्रगति' की बाबत जितना उत्साह था उतना तो आज भी नहीं रहा है। अगर प्रगति का नतीजा यही हो कि पिछले महायुद्ध की तरह हम-एक दूसरे को बरबाद करें तब तो ऐसी प्रगति में कोई-न-कोई ख़राबी है। दूसरी बात याद रखने की यह है कि डार्विन के योग्यतमय प्राणी के बच रहने के उसूल का मतलब यही नहीं है कि अच्छे-से-अच्छे जीव ज़िन्दगी की कशमकश में कामयाब होते हैं। ये सब तो पण्डितों के अनुमान की बातें हैं। हमारे ध्यान में रखने की बात सिर्फ़ यह है कि संसार के स्थिर रहने, उसमें कोई तब्दीली न होने या समाज के बिगड़ते जाने का जो पुराना और व्यापक विचार था उसे उन्नीसवीं सदी में आधुनिक विज्ञान ने एक तरफ़ धकेल दिया और उसकी जगह पर यह ख़याल फैल गया कि समाज में तेज़ी की हरकत होती है और वह बराबर बदलता रहता है। समाज बराबर प्रगति कर रहा है, यह ख़याल भी फैल गया।

बेशक इस ज़माने में समाज में तब्दीली भी इतनी होगई है कि पहचान नहीं सकते।

जब मैं तुम्हें प्राणी-समूहों की पैदाइश का डार्विन का उसूल बता रहा हूँ तो तुम्हें यह जानकर भी ख़ुशी होगी कि इस बारे में (एक चीनी ने १,५०० वर्ष पहले क्या लिखा था। उसका नाम सोन-ले था और उसने ईसा के छः सौ वर्ष पहले, बुद्धकाल के आसपास, लिखा था—"सब जीवों की उत्पत्ति एक ही जाति से हुई है। इस अकेली जाति में बहुत-से धीरे-धीरे और लगातार परिवर्तन हुए और फिर अलग-अलग प्रकार के सारे जीव पैदा हुए। इन जीवों में तुरंत भिन्नता नहीं हुई थी, बल्कि इसके ख़िलाफ़ उनमें पीढ़ी-दर-पीढ़ी धीरे-धीरे परिवर्तन होकर भेद हुए थे।") यह सिद्धान्त डार्विन के सिद्धान्त से काफ़ी मिलता-जुलता है और ताज्जुब की बात है कि इस पुराने चीनी जीव-शास्त्री ने ऐसा नतीजा निकाल लिया था जिसकी फिर से खोज करने में संसार को ढाई हज़ार साल लगे।

जैसे-जैसे उन्नीसवीं सदी बीतती गई, वैसे-वैसे तब्दीलियों की रफ्तार भी ख़ूब तेज़ होती गई। विज्ञान ने एक-से-एक हैरतअंगेज बात की और मुख़्तलिफ़ खोजों और ईजादों का कभी ख़तम न होनेवाला सिलसिला देखकर लोगों की आँखों में चकाचौंध होगई। इनमें से तार, टेलिफ़ोन, मोटर और आख़िर हवाई जहाज़ जैसी कितनी ही ईजादों से लोगों की ज़िन्दगी में बड़ी तब्दीली होगई है। विज्ञान ने दूर-से-दूर आकाश, अदृश्य परमाणु और उसके भी छोटे हिस्सों को नापने की हिम्मत की। विज्ञान से मनुष्यों की एक ही तरह की मेहनत में कमी होगई और ज़िन्दगी में लाखों को थोड़ा-बहुत आराम मिलने लग गया। विज्ञान के कारण दुनिया की, ख़ासकर औद्योगिक देशों की, आबादी ख़ूब बढ़ गई। साथ ही, विज्ञान से सम्पूर्ण नाश के साधनों का भी विकास हुआ। मगर इसमें विज्ञान का दोष नहीं था। इसका काम प्रकृति पर मनुष्य की प्रभुता बढ़ाते जाना था। वह काम यह करता रहा। मगर आदमी क़ुदरत पर क़ाबू पाकर अपनेपर क़ाबू रखना भूल गया। इसलिए वह अकसर भूल करता और विज्ञान की देन को बरबाद करता रहा। लेकिन विज्ञान विजयी होकर बराबर तेज़ी से आगे बढ़ता गया और उसने डेढ़सौ साल के भीतर दुनिया की पहले के हज़ारों वर्ष से भी ज्यादा कायापलट कर दी। सचमुच विज्ञान ने दुनिया की ज़िन्दगी की हर दिशा और हर हिस्सों में क्रान्ति करदी है।

अब भी विज्ञान की कूच जारी है और इसकी रफ़्तार दिन-दिन तेज़ दिखाई देती है। इसे कोई चैन नहीं है। एक रेलवे बनती है, मगर जबतक उसके चालू होने का वक़्त आता है तबतक वह पुरानी भी पड़ जाती है! एक मशीन ख़रीद कर खड़ी करते हैं कि एक-दो साल में ही उसी तरह की उससे बढ़िया और ज्यादा काम

देनेवाली दूसरी मशीनें बनने लगती हैं। इस तरह यह पागलों की-सी दौड़ चल रही है। अब हमारे जमाने में तो भाफ़ की जगह बिजली लेती जारही है और इस तरह उतनी ही बड़ी क्रान्ति कर रही है जितनी डेढ़ सदी पहले औद्योगिक क्रान्ति हुई थी।

विज्ञान के बेशुमार राजमार्ग और गली-कूचे होगये हैं और उनमें बेशुमार वैज्ञानिक और विशेषज्ञ बराबर काम कर रहे हैं। आज इनमें सबसे बड़े का नाम एल्बर्ट आइंस्टीन है। इस महापुरुष ने कुछ हदतक न्यूटन के मशहूर उसूल में भी संशोधन कर डाला है।

हाल ही में विज्ञान में इतनी ज़बरदस्त तरक्क़ी हुई है और वैज्ञानिक उसूलों में इतनी ज़बरदस्त तब्दीलियां और सुधार हुए हैं कि खुद वैज्ञानिक भी हैरतज़दा होगये। अपनी बात के पक्की होने का उनका सारा पुराना आत्म-विश्वास और घमण्ड जाता रहा। अब वे अपने नतीजों के बारे में और भविष्य-वाणी करने में हिचकते हैं।

मगर यह बात बीसवीं सदी और हमारे अपने वक्त में पैदा हुई है। उन्नीसवीं सदी में पूरा-पूरा आत्म-विश्वास था। और विज्ञान अपनी असंख्य विजयों के गर्व में लोगों के सिर पर जा बैठा था और उन्होंने इसे देवता समझकर इसके सामने सिर झुका दिया था।

: १३१ :

लोकतंत्र की प्रगति

१० फरवरी, १९३३

पिछले ख़त में मैंने तुम्हें उन्नीसवीं सदी की वैज्ञानिक उन्नति की झलक दिखाने की कोशिश की थी। अब हम इस सदी के दूसरे पहलू—लोकसत्तात्मक विचारों के विकास—को देखें।

तुम्हें याद होगा कि मैं तुम्हें अठारहवीं सदी के फ़्रांस के ख़यालात की कशमकश का हाल बता रहा था। उस वक्त के सबसे बड़े विचारक और लेखक वाल्टेयर और दूसरे फ़्रांसीसी महापुरुषों ने धर्म और समाज के कितने ही पुराने ख़यालात को चुनौती दी थी और साहस के साथ नये उसूलों को साबित किया था। उस वक़्त इस तरह राजनैतिक विचार करने का काम ज्यादातर फ़्रांस में महदूद था। जर्मनी में तत्त्ववेत्ता थे, मगर उनकी दिलचस्पी तत्त्वज्ञान के गहरे सवालों में ज्यादा थी। इंग्लैण्ड में व्यवसाय और व्यापार बढ़ रहा था और ज्यादातर लोगों को परिस्थिति से मजबूर हुए बिना सोचनें का शौक़ नहीं था। हां, अठारहवीं सदी के पिछले हिस्से में इंग्लैण्ड में एक

मार्क्स की किताब जरूर छपी। यह एडम स्मिथ की 'राष्ट्रों की सम्पत्ति' (Wealth of Nations) नाम की किताब थी। यह खालिस राजनैतिक किताब नहीं थी, बल्कि राजनैतिक अर्थशास्त्र की किताब थी। उस वक्त और सब विषयों की तरह इस विषय के साथ भी धर्म और नीति मिले हुए थे और इससे बडी गड़बड़ मची हुई थी। एडम स्मिथ ने इस विषय का खुलासा वैज्ञानिक ढंग से किया। उसने सारी नैतिक पेचीदगियों की उपेक्षा करके अर्थशास्त्र पर असर डालनेवाले कुदरती कायदों को खोजने की कोशिश की। शायद तुम जानती होगी कि अर्थशास्त्र इस बात का विवेचन करता है कि समूचे मानव-समाज या किसी देश के आमद-खर्च का इन्तजाम कैसे किया जाता है, वे क्या पैदा और क्या खर्च करते हैं और उनके आपस में और दूसरे मुल्कों और क़ौमों के साथ क्या ताल्लुक़ात होते हैं। एडम स्मिथ का विश्वास था कि ये सारी पेचीदा बातें कुछ निश्चित कुदरती क़ायदों के मुताबिक़ होती हैं। अपनी किताब में उसने इन्हीं क़ायदों के बारे में लिखा है। उसका यह भी विश्वास था कि उद्योगधंधों की तरक्क़ी के लिए पूरी तरह आजादी होनी चाहिए, जिससे इन नियमों में दस्तंदाजी न हो। 'जैसा हो वैसा होने देने' का उसूल यहींसे चला। इसका कुछ जिक्र मैं तुमसे पहले ही कर चुका हूँ। उस वक्त फ्रांस में जो नये लोकसत्तात्मक ख़याल पैदा हो रहे थे उनसे एडम स्मिथ की किताब का कोई वास्ता न था। परन्तु उसने इनसानों और क़ौमों से ताल्लुक़ रखनेवाली एक बडी महत्वपूर्ण पहेली को वैज्ञानिक ढंग से निरूपण करने की कोशिश जरूर की। इससे जाहिर होता है कि लोग हर चीज को पुरानी मजहबी दृष्टि से देखना छोड़कर एक नई दिशा में जा रहे थे। एडम स्मिथ को अर्थशास्त्र का पिता समझा जाता है और उन्नीसवीं सदी के कितनी ही अंग्रेज अर्थशास्त्रियों को उससे प्रेरणा मिली।

नया अर्थशास्त्र थोडे-से अच्छे पढ़े-लिखे आदमियों और प्रोफ़ेसरों तक महदूद रहा। लेकिन इस बीच में नये लोकसत्तात्मक ख़याल फैल रहे थे और उन्हें अमेरिका और फ्रांस की राज्य-क्रान्तियों से बडी भारी मदद और शोहरत हासिल हुई। अमेरिका की आजादी के ऐलान और फ्रांस के अधिकारों की घोषणा के दिलचस्प लफ़्जों और जुमलों से लोगों के दिलों पर गहरा असर पड़ता था। जो करोडों आदमी कुचले हुए पडे थे और जिनको चूसा जा रहा था उनके दिल इस दिव्यवाणी से फड़क उठे और उन्हें उसमें अपने उद्धार का संदेश मिला। दोनों ऐलानों में आजादी, बराबरी और सबके सुखी रहने के हक़ का जिक्र था। इन क़ीमती हक़ों के जोरदार ऐलान से ही लोगों को ये हक़ नहीं मिल गये। आज इन घोषणाओं के डेढ़सौ वर्ष बाद भी बहुत कम लोगों के लिए कहा जा सकता है कि वे ये अधिकार भोग रहे हैं।

लेकिन इन उसूलों का ऐलान भी एक ग़ैर-मामूली और जीवन देनेवाली बात थी। ऐसी बात पहले कभी नहीं हुई थी।

योरप में, और दूसरे देशों में भी, ईसाई और दूसरे मजहबों के मुताबिक पुरानी कल्पना यह थी कि पाप और दुःख सभी इनसानों की क़िस्मत में लाज़िमी तौर से लिखा है। ऐसा मालूम होता था कि मजहब नें दुनिया में ग़रीबी और मुसीबत को सदा के लिए बरक़रार कर दिया है और इज्जत की जगह पर रख दिया है। धर्म ने जिन पुरस्कारों और अच्छी बातों का वादा किया वे सब किसी दूसरी दुनिया में मिलने वाले थे। इस जन्म में तो हमें क़िस्मत के भरोसे जो हो उसीको बर्दाश्त कर लेनें का और कोई मौलिक तब्दीली न चाहने का ही उपदेश दिया गया। दान-पुण्य यानी ग़रीबों को टुकडे डाल देने की वृत्ति को बढ़ाया गया, मगर ग़रीबी या ग़रीबी को पैदा करनेवाले तरीक़े को मिटाने की कोई कल्पना नहीं थी। बराबरी और आज़ादी के ख़याल ही धर्मसंस्था और समाज के अधिकारवादी दृष्टिकोण के ख़िलाफ़ थे।

लोकसत्ता का यह तो कहना नहीं था कि सब इनसान दरअसल बराबर हैं। वह ऐसा कह भी नहीं सकती थी, क्योंकि इनसान-इनसान में फ़र्क साफ़ दिखाई देता है। शारीरिक असमानता के कारण ही कुछ इनसान दूसरों से ताक़तवर होते हैं। मानसिक भेद का सबूत यह मिलता है कि कुछ इनसान दूसरों से क़ाबिल यानी अक़्लमन्द होते हैं। नैतिक अन्तर चन्द आदमियों को खुदगर्ज़ और दूसरों को खुदगर्ज़ी से दूर रखता है। यह बिलकुल मुमकिन है कि इनमें से बहुतसे भेद अलग-अलग तरह से परवरिश और तालीम होने की वजह से हों या तालीम न मिलने से होते हों। दो बराबर क़ाबलियतवाले लड़कों या लड़कियों में से एक को अच्छी तालीम देदो और दूसरे को बिलकुल न दो तो कुछ वर्ष बाद दोनों में जबर्दस्त फ़र्क़ हो जायगा। या एक को तंदुरुस्ती बढ़ाने वाला खाना दो और दूसरे को ख़राब और नाकाफी ख़ूराक खिलाओ तो पहले का ठीक-ठीक विकास हो जायगा और दूसरा कमज़ोर, रोगी और अविकसित रहेगा। इस तरह परवरिश, वातावरण और तालीम से भारी अन्तर हो जाता है और मुमकिन है कि अगर सबको एक ही तरह की तालीम और सुविधायें मिलें तो असमानता आज से कहीं कम हो जाय। यह असल में बिलकुल मुमकिन है। लेकिन जहाँतक लोकसत्ता का ताल्लुक़ है, वह मानती है कि असल में इनसान असमान होते हैं, और फिर भी वह कहती है कि सबकी बराबर की सामाजिक और राजनैतिक क़ीमत समझकर बर्ताव करना चाहिए। यदि इस लोकसत्तात्मक सिद्धान्त यानी जम्हूरी उसूल को पूरी तरह मान लें तो हम तरह-तरह के क्रान्तिकारी नतीजों पर पहुँच जाते हैं। यहाँ हमें इनकी चर्चा करने की ज़रूरत नहीं, लेकिन इस उसूल का एक

साफ़ नतीजा यह निकला कि शासन-सभा या पार्लमेण्ट के चुनाव में हर शख़्स को राय देने का हक़ होना चाहिए। राय देने का हक़ राजनैतिक ताक़त की निशानी है और यह मान लिया गया है कि अगर हर आदमी को राय देने का हक़ है तो उसे राजनैतिक ताक़त में बराबर का हिस्सा मिल जायगा। सारी १९वीं सदी में लोकसत्ता की एक ख़ास माँग यह थी कि राय देने का हक़ ज्यादा-से-ज्यादा लोगों को दिया जाय। जब हरेक बालिग़ औरत-मर्द को राय देने का हक़ मिल जाता है तो उसे बालिग़-मताधिकार कहते हैं। बहुत ज़माने तक औरतों को राय देने का हक़ नहीं मिला था और बहुत अरसा नहीं हुआ जब ख़ास तौर पर ब्रिटेन में स्त्रियों ने इस बारे में भारी आन्दोलन किया था। ज्यादा-तर सभ्य देशों में आजकल स्त्री और पुरुष दोनों को बालिग़-मताधिकार हासिल हैं।

मगर दिल्लगी क्या हुई कि जब ज्यादातर लोगों को राय देने का हक़ मिल गया, तब उन्हें मालूम हुआ कि इससे हालत में कोई बड़ा फ़र्क नहीं पड़ा। राय देने का हक़ मिल जाने पर भी हुकूमत में उन्हें या तो कुछ भी अधिकार नही मिला या बहुत थोड़ा मिला। भूखे को मताधिकार किस काम का ? सच्ची ताक़त उन लोगों के हाथ में रही जो उसकी भूख से फ़ायदा उठाकर उससे काम ले या अपने फ़ायदे की कोई और बात उससे करा सकते थे। इस तरह राय देने के हक़ से जिस राजनैतिक ताक़त के मिलने का ख़याल था वह बिना असलियत की एक परछाईं साबित हुई। उससे माली ताक़त नहीं मिली और शुरू के लोकसत्तावादियों ने मताधिकार से बराबरी क़ायम करने के जो बढ़-बढ़कर सपने देखे थे वे झूठे साबित हुए।

मगर यह बात तो बहुत आगे चलकर पैदा हुई। शुरू के दिनों में यानी अठारहवीं सदी के अख़ीर और उन्नीसवीं के शुरू में लोकसत्तावादियों में बड़ा जोश था कि लोकसत्ता सबको आज़ाद और समान नागरिक बना देगी और हुकूमत सबके सुख का उपाय करेगी ! अठारहवीं सदी के राजाओं और सरकारों ने जिस मनमानी से काम लिया था और अपनी निरंकुश सत्ता का जैसा बुरा इस्तेमाल किया था उसके ख़िलाफ़ बड़ी प्रतिक्रिया हुई, इससे लोगों को अपनी घोषणाओं में मनुष्यों के अधिकारों का भी ऐलान करना पड़ा। शायद अमेरिका और फ़्रांस की घोषणाओं में मनुष्यों के अधिकारों का इस तरह ज़िक्र करके दूसरी तरफ़ कुछ भूल की गई। आपस में गुंथे हुए समाज में मनुष्यों को अलग करके उन्हें पूरी आज़ादी दे सकना आसान काम नहीं है। ऐसे मनुष्यों और समाज के हित आपस में टक्कर खा सकते हैं और खाते हैं। ख़ैर, कुछ भी हो, लोकसत्ता व्यक्तियों को काफ़ी आज़ादी देने की तरफ़दार है।

इंग्लैण्ड अठारहवीं सदी में तो राजनैतिक ख़यालात में पिछड़ा हुआ था, लेकिन अमेरिका और फ़्रांस की राज्यक्रान्तियों से उसका हिल उठना स्वाभाविक था। उस-

पर पहला असर तो इस भय का हुआ कि कहीं नये लोकसत्तात्मक विचारों से देश में सामाजिक क्रान्ति तो नहीं होजायगी। शासक-वर्ग पहले से भी ज्यादा कट्टर और दक़ियानूसी होगये। फिर भी पढ़े-लिखे लोगों में नये ख़याल फैलते गये। इस समय टामस पेन नामक एक मजेदार अंग्रेज हुआ। आजादी की लड़ाई के वक्त वह अमेरिका में था और उसने अमेरिकावासियों की मदद की थी। अमेरिकन लोगों का ख़याल पूर्ण स्वाधीनता के पक्ष में बदल देने के लिए वह भी कुछ जिम्मेदार मालूम होता है। इंग्लैण्ड लौटने पर उसने फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के समर्थन में 'मनुष्य के अधिकार' (The Rights of Man') नाम की एक किताब लिखी। यह क्रान्ति उस वक्त शुरू हुई ही थी। इस किताब में उसने एकतंत्री शासन-पद्धति पर हमला और लोकसत्ता की हिमायत की थी। इस कारण ब्रिटिश सरकार ने उसे बाग़ी क़रार देदिया और उसे भागकर फ्रांस चले जाना पड़ा। पेरिस में वह बहुत जल्द राष्ट्रपरिषद् का सदस्य बन गया, मगर १७९३ ई० में जैकोबिन सम्प्रदाय वालों ने उसे क़ैद कर दिया, क्योंकि उसने राजा सोलहवें लुई को फांसी देने की मुख़ालफ़त की थी। पेरिस के जेलखाने में उसने 'तर्क-युग' (The Age of Reason) नाम की दूसरी किताब लिखी। इसमें उसने धार्मिक दृष्टिकोण की आलोचना की। रोब्सपियर के मरने के बाद पेरिस-जेल से वह छोड़ दिया गया। इधर पेन अंग्रेजी अदालतों की पहुँच के बाहर था, इसलिए इस किताब को छापने के जुर्म में उसके अंग्रेज प्रकाशक को क़ैद की सजा देदी गई। ऐसी किताब समाज के लिए खतरनाक समझी गई, क्यों-कि ग़रीबों को अपनी जगह पर रखने के लिए धर्म जरूरी माना जाता था। पेन की किताब के कई प्रकाशक जेल भेजे गये। इनमें औरतें भी थीं। यह दिलचस्प बात हुई कि कवि शेली ने जज को इस सजा के विरोध में एक पत्र लिखा था।

उन्नीसवीं सदी के सारे पहले आधे हिस्से में जो लोकसत्तात्मक विचार फैले, योरप में उनको पैदा करनेवाली फ्रांस की राज्य-क्रान्ति थी। असल में हालात जल्दी-जल्दी बदल रहे थे, फिर भी क्रांति के विचार वे ही रहे। ये लोकसत्तात्मक विचार राजाओं और निरंकुश शासन-प्रणाली के ख़िलाफ बौद्धिक प्रतिक्रिया थे। इन विचारों की जड़ उद्योगवाद के पहले की स्थिति में थी। लेकिन भाफ और बड़ी-बड़ी मशीनों का नया उद्योग पुरानी व्यवस्था को पूरी तरह उलट रहा था। फिर भी ताज्जुब की बात यह थी कि शुरू उन्नीसवीं सदी के उग्र सुधारक और लोकसत्तावादी इन तब्दीलियों की परवा न करके क्रान्ति और इनसान के हक़ों के ऐलान की दिलचस्प जबान में ही बात करते रहे। शायद उनके लिए ये तब्दीलियां निरी भौतिक थीं और उनका लोक-सत्ता की आध्यात्मिक, नैतिक और राजनैतिक ऊँची मांगों पर कोई असर नहीं पड़ा।

मगर दुनियावी चीज़ों का कुछ अजीब हाल है कि उनकी अपेक्षा नहीं की जा सकती। यह बडी दिल्लगी की बात है कि लोगों के लिए पुराने ख़यालात छोड़कर नये इख़्तियार करना कितना ग़ैरमामूली तौर पर मुश्किल काम है। वे अपनी आँखें और दिमाग़ बन्द करके देखने से ही इनकार कर देते हैं और पुरानी बातों से नुक़सान होता हो तो भी उनसे चिपटे रहते हैं और उनके लिए लड़ते हैं। वे और सब-कुछ कर लेते हैं, लेकिन नये ख़यालात को मंजूर नहीं करते और हालत के मुताबिक़ नहीं बन जाते। कट्टरता की ताक़त बडी जबरवस्त होती है। उग्र सुधारक भले ही अपनेको बहुत आगे बढ़े हुए समझें, मगर वे भी अकसर पुराने और ग़लत साबित हो चुके विचारों को पकडे रहते हैं और बदलते हुए हालात की तरफ़ आँखें बन्द कर लेते हैं। कोई ताज्जुब नहीं कि प्रगति की चाल धीमी होती है और अकसर असली हालात और लोगों के ख़यालात में बड़ा फ़र्क़ पड़ जाता है, जिसका नतीजा यह होता है कि क्रान्तिकारी परिस्थिति पैदा होजाती है।

इस तरह कई युगों तक लोकसत्ता का काम सिर्फ़ फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के विचारों और परम्पराओं को जारी रखना ही रहा। नई हालतों में अनुकूल न बन सकने के कारण लोकसत्ता कमज़ोर पड़ गई। यह उन्नीसवीं सदी के अख़ीर की बात है, आगे चलकर बीसवीं सदी में तो बहुत लोगों ने लोकसत्ता के ख़यालात ही छोड़ दिये। हिन्दुस्तान में आज भी हमारे बहुत-से आगे बढ़े हुए राजनीतिज्ञ फ्रांस की राज्यक्रान्ति और मनुष्य के अधिकारों की ही बात करते हैं। उस वक्त से अबतक क्या-क्या हो चुका है, इसका उनके लिए कोई महत्त्व नहीं।

शुरू के लोकसत्तावादियों का बुद्धिवादी बन जाना स्वाभाविक था। रीति-रिवाजों और कट्टरता में जकडे हुए धर्म के साथ उनकी विचार और वाणी की आज़ादी की माँग का समझौता होना मुश्किल था। इस तरह लोकसत्ता और विज्ञान ने मिलकर मज़हबी कट्टरता का असर कम किया। लोग, यह समझकर कि बाइबिल मामूली किताब है और शंका किये बिना मान लेने जैसी चीज़ नहीं है, उसकी जाँच करने का साहस करने लगे। बाइबिल की इस आलोचना को वे 'ऊँचे दर्जे की आलोचना' कहते थे। इन आलोचकों ने यह नतीजा निकाला कि बाइबिल को अलग-अलग ज़मानों में अलग-अलग आदमियों ने लिखा है। उनकी यह भी राय हुई कि ईसा का कोई धर्म चलाने का इरादा नहीं था। इस आलोचना से कई पुराने विश्वास हिल गये।

जैसे-जैसे विज्ञान और लोकसत्तात्मक विचारों के कारण पुरानी धर्म की जडें कमज़ोर होती गईं, वैसे-वैसे पुराने धर्म की जगह किसी-न-किसी चीज़ को बिठाने की कोशिशें भी हुईं। ऐसी ही एक कोशिश आगस्टे कॉम्टे नाम के फ़्रांसीसी दार्शनिक

ने की थी। वह १७९८ से १८५७ ई० के बीच में हुआ था। कॉम्टे को ऐसा लगता था कि पुराने कट्टर धर्म का समय चला गया, मगर समाज को किसी-न-किसी धर्म की आवश्यकता जरूर है। इसलिए उसने 'मानव-धर्म' का प्रस्ताव किया और उसका नाम 'वास्तविकतावाद' (Positivism) रक्खा। इसके आधार प्रेम, व्यवस्था और उन्नति रक्खे गये। इसमें कोई बात अलौकिक नहीं थी; जो कुछ था वह विज्ञान के अनुसार था। उन्नीसवीं सदी के और सब प्रचलित विचारों की तरह इस खयाल के पीछे भी मनुष्य-जाति की तरक्क़ी का खयाल था। कॉम्टे का चलाया हुआ धर्म मुट्ठी-भर पढ़े-लिखों के विश्वास की ही चीज़ रहा, मगर योरप के विचारों पर उसका खूब असर पड़ा। उसने, व्यवहार में, समाजशास्त्र के अध्ययन की शुरुआत की। यह शास्त्र मानवीय समाज और संस्कृति से ताल्लुक़ रखता है।

अंग्रेज दार्शनिक और अर्थशास्त्री जॉन स्टुअर्ट मिल (१८०६–१८७३) कॉम्टे का समकालीन था, मगर वह उसके बाद भी बहुत वर्ष जिया। मिल पर कॉम्टे की शिक्षा का भी असर था और समाजवादी विचारों का भी। एडम स्मिथ की शिक्षाओं के कारण अंग्रेज अर्थशास्त्रियों की एक विचार-धारा बन गई थी। मिल ने उसे नई दिशा में लेजाने की कोशिश की और आर्थिक विचारों में थोडे समाजवादी उसूलों का प्रवेश कराया। मगर उसकी सबसे ज्यादा शोहरत 'उपयोगितावाद' (Utilitarianism) के आचार्य के रूप में है। उपयोगितावाद का उसूल नया था। वह इंग्लैण्ड में चल तो पड़ा था कुछ समय पहले ही, मगर उसे महत्व मिला जॉन स्टुअर्ट मिल के कारण। जैसा कि इसके नाम से पता चलता है, इसका खास तत्त्वज्ञान उपयोग था। उपयोगितावादियों का खास उसूल यह था कि ज्यादा-से-ज्यादा लोगों को ज्यादा-से-ज्यादा सुख मिले। भलाई-बुराई की यही कसौटी थी। जो काम जितना ज्यादा सुख बढ़ानेवाला होता वह उतना ही अच्छा कहा जाता और जो जितना दुःख पहुँचाता वह उतना ही बुरा माना जाता। समाज और सरकार का संगठन ज्यादा-से-ज्यादा लोगों को ज्यादा-से-ज्यादा सुख पहुँचाने की दृष्टि से होना चाहिए। यह दृष्टिकोण और सबके बराबर अधिकार का पहलेवाला लोकसत्तात्मक उसूल एक चीज़ नहीं थे। ज्यादा-से-ज्यादा लोगों को ज्यादा-से-ज्यादा सुख पहुँचाने के लिए कुछ लोगों को कुर्बान करने या दुःख देने की जरूरत भी हो सकती है। मैं तुम्हें सिर्फ़ यह फ़र्क़ बता रहा हूँ, उसकी चर्चा करने की यहाँ जरूरत नहीं। इस तरह लोकसत्ता का मतलब ज्यादातर लोगों का अधिकार होगया।

जॉन स्टुअर्ट मिल व्यक्ति की आज़ादी के लोकसत्तात्मक विचार का ज़ोरदार हिमायती था। उसने 'स्वतंत्रता पर' (On Liberty) नाम की एक छोटी-सी किताब

ऱखी। वह मशहूर हो गई। मैं तुम्हारे लिए इस किताब में से बोलने और विचार
ी आजादी पर एक उद्धरण देता हूँ :—

"किसी राय को ज़ाहिर होने से रोक देने में ख़ास बुराई यह है कि उससे मानव जाति वंचित रह जाती है। मौजूदा पीढ़ी ही नहीं, आनेवाली पीढ़ियाँ भी, उस राय को माननेवाले ही नहीं, उनमे भी ज्यादा उसे न माननेवाले उससे वंचित रहते हैं। अगर वह राय ठीक हुई तो असत्य के बदले में सत्य को जान लेने का मौक़ा चला जाता है। वह ग़लत है, तो वे उतना ही बड़ा लाभ यह खो देते हैं कि असत्य के साथ टक्कर खाकर सत्य की जो ज्यादा जानदार छाप पड़ती और उसकी अधिक स्पष्ट कल्पना होती वह नहीं हो पाती। हम जोर देकर कभी नहीं कह सकते कि जिस राय को हम दबा देने की कोशिश कर रहे हैं वह झूठी राय ही है। हमें ऐसा विश्वास हो तो भी उस राय का दबा देना बुराई ही है।"

ऐसे दृष्टिकोण का मजहबी कट्टरता या निरंकुशता से मेल नहीं बैठ सकता
ा। यह तो दार्शनिक का या सत्य की खोज का रवैया था।

मैंने तुम्हें उन्नीसवीं सदी के पश्चिमी योरप के थोडे-से बडे-बडे विचारकों के नाम
सलिए बता दिये हैं कि तुम्हें विचारों के विकास की दिशा और ख़यालात की दुनिया
ो ख़ास-ख़ास मंजिलों का इल्म होजाय। मगर इन लोगों का और आम तौर पर
रू के लोकसत्तावादियों का असर थोड़ा या बहुत पढ़े-लिखे वर्ग पर ही हो पाया
ा। वह असर छन-छनाकर पढ़े-लिखों के ज़रिये और लोगों तक भी थोड़ा-सा पहुँचा।
ा. इस लोकसत्तात्मक विचार-धारा का सीधा असर आम लोगों पर भले ही बहुत
ाड़ा हुआ, लेकिन अप्रत्यक्ष नतीजा खूब हुआ। मताधिकार की माँग जैसे कुछ
ामलों में तो सीधा असर भी बहुत पड़ा।

जैसे-जैसे उन्नीसवीं सदी बीतती गई वैसे-वैसे मजदूर-आन्दोलन और समाजवाद-
से दूसरे आन्दोलन और विचार भी तरक़्क़ी करने लगे। कुछ लोग समाजवाद को
ाकसत्ता का स्थान लेनेवाली अलग चीज समझने लगे और कुछ उसीका एक जरूरी
स्सा। हम देख चुके हैं कि लोकसत्तावादियों के दिमाग़ में आजादी, बराबरी और
ार सबके समान सुख के हक़ के विचार भरे हुए थे। मगर जल्दी ही उनकी आँखें
ल गईं कि सुख को एक मौलिक अधिकार मान लेने से ही वह चला नहीं आता है।
ार बातों को छोड़दें तो भी, एक ख़ास हद तक, शारीरिक सुख जरूर मिलना चाहिए।
ा भूखा मर रहा है वह सुखी नहीं हो सकता। इससे यह ख़याल पैदा हुआ कि सुख
ा बात पर मुनहसर है कि धन का बँटवारा लोगों में ठीक तरह से हो। इससे हम
ाजवाद में चले जाते हैं; पर उसका हाल तो अगले ख़त में ही बताया जा सकता है।

उन्नीसवीं सदी के पहले आधे हिस्से में जहाँ-जहाँ गुलाम क़ौमें आज़ादी के लिए लड़ रही थीं वहाँ-वहाँ लोकसत्ता और राष्ट्रीयता का मेल होगया था। इस तरह के लोकसत्तात्मक देश-प्रेम का एक नमूना इटली का मैज़िनी था। आगे चलकर उसी सदी में राष्ट्रीयता का यह लोकसत्तात्मक रूप धीरे-धीरे जाता रहा और वह ज्यादा-से-ज्यादा आक्रमणकारी और अधिकारवादी बनता गया। राज्य एक ऐसा देवता बनगया जिसकी पूजा करना सबके लिए लाज़िमी होगया।

नये उद्योगों के नेता अंग्रेज़ सौदागर थे। उन्हें ऊँचे-ऊँचे लोकसत्तात्मक उसूलों और आज़ादी के सार्वजनिक अधिकार के साथ बहुत दिलचस्पी नहीं थी। मगर उन्होने देख लिया कि लोगों की ज्यादा आज़ादी तिजारत के लिए अच्छी चीज़ है। इससे मज़दूरों का रहन-सहन ऊँचे दर्जे का होगया, उनमें थोडी-सी आज़ादी मिल जाने का भ्रम फैल गया और वे काम में ज्यादा होशयार होगये। औद्योगिक कामयाबी के लिए भी सार्वजनिक शिक्षा ज़रूरी थी। सौदागरों और कारख़ानों के मालिकों को इन सब बातों का इस्तेमाल मालूम हुआ तो वे बडे परोपकारी बनकर जनता पर इन कृपाओं की वर्षा करने को राज़ी होगये। उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में इंग्लैण्ड और पश्चिमी योरप में एक ख़ास तरह की शिक्षा का तेज़ी से प्रचार हुआ।

पहला खण्ड समाप्त

सस्ता साहित्य मण्डल के

प्रकाशन

१—दिव्य-जीवन ।=)
२—जीवन-साहित्य १)
३—तामिलवेद ॥)
४—शैतान की लकड़ी अर्थात् भारत में व्यसन और व्यभिचार ॥=)
५—सामाजिक कुरीतियाँ (जब्त: अप्राप्य) ॥)
६—भारत के स्त्री-रत्न (तीन भाग) ३)
७—अनोखा (विक्टर ह्यूगो) १।=)
८—ब्रह्मचर्य-विज्ञान ॥=)
९—यूरोप का इतिहास २)
१०—समाज-विज्ञान १॥)
११—खद्दर का सम्पत्ति-शास्त्र ॥≡)
१२—गोरों का प्रभुत्व ॥=)
१३—चीन की आवाज (अप्राप्य) ।-)
१४—दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह १)
१५—विजयी बारडोली २)
१६—अनीति की राह पर ॥=)
१७—सीता की अग्नि-परीक्षा ।-)
१८—कन्या-शिक्षा ।)
१९—कर्मयोग ।=)
२०—कलवार की करतूत =)
२१—व्यावहारिक सभ्यता ॥)
२२—अँधेरे में उजाला ॥)
२३—स्वामीजी का बलिदान (अप्राप्य) ।-)
२४—हमारे ज़माने की गुलामी (जब्त : अप्राप्य) ।)
२५—स्त्री और पुरुष ॥)
२६—घरों की सफ़ाई ।=)
२७—क्या करें ? (दो भाग) १॥=)
२८—हाथ की कताई-बुनाई (अप्राप्य) ॥=)
२९—आत्मोपदेश ।)
३०—यथार्थ आदर्श जीवन (अप्राप्य) ॥-)
३१—जब अंग्रेज़ नहीं आये थे- ।)
३२—गंगा गोविन्दसिंह (अप्राप्य) ॥=)
३३—श्रीरामचरित्र १।)
३४—आश्रम-हरिणी ।)
३५—हिन्दी-मराठी-कोष २)
३६—स्वाधीनता के सिद्धान्त ॥)
३७—महान् मातृत्व की ओर ॥=)
३८—शिवाजी की योग्यता ।=)
३९—तरंगित हृदय ॥)
४०—नरमेध १॥)
४१—दुखी दुनिया ॥)
४२—ज़िन्दा लाश ॥)
४३—आत्म-कथा (गांधीजी) १॥)
४४—जब अंग्रेज़ आये (जब्त) १।=)
४५—जीवन-विकास १) १॥)
४६—किसानों का बिगुल (जब्त) =)
४७—फाँसी ! ।=)
४८—अनासक्तियोग तथा गीता-बोध (श्लोक-सहित) ।=)
अनासक्तियोग =)
गीताबोध -)॥
४९—स्वर्ग-विहान (जब्त) ।=)
५०—मराठों का उत्थान-पतन २॥)

५१—भाई के पत्र १॥) २)

५२—स्वगत ।=)

५३—युग-धर्म (ज़ब्त : अप्राप्य) १=)

५४—स्त्री-समस्या १॥।)

५५—विदेशी कपड़े का मुक़ाबिला ॥=)

५६—चित्रपट ।=)

५७—राष्ट्रवाणी (अप्राप्य) ॥=)

५८—इंग्लैण्ड में महात्माजी १)

५९—रोटी का सवाल १)

६०—दैवी सम्पद् ।=)

६१—जीवन-सूत्र ॥।)

६२—हमारा कलंक ॥=)

६३—बुद्बुद ॥)

६४—संघर्ष या सहयोग ? १॥)

६५—गांधी-विचार-दोहन ॥।)

६६—एशिया की क्रान्ति (ज़ब्त) १॥।)

६७—हमारे राष्ट्र-निर्माता २॥)

६८—स्वतंत्रता की ओर— १॥)

६९—आगे बढ़ो ! ॥)

७०—बुद्ध-वाणी ॥=)

७१—कांग्रेस का इतिहास २॥)

७२—हमारे राष्ट्रपति १)

७३—मेरी कहानी (ज० नेहरू) ४)

७४—विश्व-इतिहास की झलक ,, ८)

७५—हमारे किसानों का सवाल ।)

७६—सन्तवाणी (छपरही हैं) ॥।)

७७—जबसे अंग्रेज़ आये ,, ॥)

७८—गीता-मन्थन ,, १॥)

७९—गांधीवाद : समाजवाद ,, १)

८०—नया शासन विधान और मंत्रियों के अधिकार ,, १)

८१—हत्या या शांति ? ,, ॥।)

सस्ता साहित्य मण्डल, नया बाज़ार, दिल्ली